

उपन्यास

मृत्युंजय

शिवाजी सावन्त



सूर्यपुत्र महारथी कर्ण की अद्भुत जीवन-गाथा

JOIN TELEGRAM GROUP @REQUESTBOOKPDF

उपन्यास

मृत्युंजय

शिवाजी सावन्त



सूर्यपुत्र महारथी कर्ण की अद्भुत जीवन-गाथा

JOIN TELEGRAM GROUP @REQUESTBOOKPDF



शिवाजी सावन्त

पूरा नाम : शिवाजी गोविन्दराव सावन्त।

जन्म : 31 अगस्त, 1940 को आजरा, जिला कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में।

लेखन-प्रारम्भ कविता से, किन्तु परिणति गद्य-लेखन में। वर्षों के चिन्तन-मनन के उपरान्त 27 वर्ष की अवस्था में ही प्रथम मराठी उपन्यास 'मृत्युंजय' का प्रकाशन। यह उपन्यास उनकी लोकप्रियता का प्रतिमान बना। इसका अनुवाद अंग्रेजी एवं हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं में हो चुका है। 'छावा' (मूल मराठी में, 1989) के अतिरिक्त 'मृत्युंजय' और 'छावा' की कथावस्तु को ही लेकर दो नाटकों की रचना। अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं-'लढत' (जीवनी), 'शेलका साज' (ललित निबन्ध), 'अशी मने असे नमुने' (रेखा-चित्र), 'मोरावळा' (रेखा-चित्र)। अभी हाल में युगपुरुष श्रीकृष्ण के जीवन पर केन्द्रित उनका एक बृहत् उपन्यास 'युगन्धर' प्रकाशित है।

उनके उपन्यास 'मृत्युंजय', 'छावा', 'युगन्धर' और नाटक 'संघर्ष' के हिन्दी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हैं।

गुजरात राज्य सरकार का साहित्य अकादेमी पुरस्कार' (1982), भारतीय ज्ञानपीठ का 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' (1995), 'आचार्य अत्रे प्रतिष्ठान पुरस्कार', पुणे (1999) सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

18 सितम्बर 2002 को मडगाँव (गोवा) में देहावसान।

मृत्युंजय

मराठी के यशस्वी उपन्यासकार शिवाजी सावन्त का सांस्कृतिक उपन्यास 'मृत्युंजय' आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य में निस्सन्देह एक विरल चमत्कार है। 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' सहित कई राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित और अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनूदित यह कालजयी उपन्यास अपने लाखों पाठकों की सराहना पाकर इस समय भारतीय साहित्य-जगत् में लोकप्रियता के शिखर पर प्रतिष्ठित है।

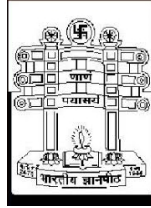
'मृत्युंजय' उपन्यास महारथी दानवीर कर्ण के विराट् व्यक्तित्व पर केन्द्रित है। महाभारत के कई मुख्य पात्रों के बीच-जहाँ स्वयं कृष्ण भी हैं-कर्ण की ओजस्वी, उदार, दिव्य और सर्वांगीण छवि प्रस्तुत करते हुए श्री सावन्त ने जीवन की सार्थकता, उसकी नियति और मूल-चेतना तथा मानव-सम्बन्धों की स्थिति एवं संस्कारशीलता की मार्मिक और कलात्मक अभिव्यक्ति की है। 'मृत्युंजय' में पौराणिक कथ्य और सनातन सांस्कृतिक चेतना के अन्तःसम्बन्धों को पुरी गरिमा के साथ उजागर किया गया है। उपन्यास को महाकाव्य का धरातल देकर चरित्र की इतनी सूक्ष्म पकड़, शैली का इतना सुन्दर निखार और भावनाओं की अभिव्यक्ति में इतना मार्मिक रसोद्रेक-सब-कुछ इस उपन्यास में अनूठा है।

प्रस्तुत है 'मृत्युंजय' का यह नवीनतम संस्करण।

मृत्युंजय

शिवाजी सावन्त

अनुवाद
ओम शिवराज



भारतीय ज्ञानपीठ

मातृभूमि की रक्षा के लिए युद्ध-भूमि में
धराशायी होनेवाले वीरों को ...

आमुख

[प्रथम संस्करण से]

भारतीय ज्ञानपीठ की प्रकाशन योजनाओं को क्रियान्वित करते समय जिस सांस्कृतिक दृष्टि को प्रमुखता दी जाती है, उसका एक अंग यह भी है कि प्राचीन और पारम्परिक कथानकों को आधुनिक शैली-शिल्प में ढालकर उनके शाश्वत मूल्य वाले पक्षों का, आज के सन्दर्भ में नवीनीकरण किया जाये। रामायण और महाभारत के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों का प्रामाणिक सम्पादन पुराण और चरित रूप में हुआ ही है, इधर ज्ञानपीठ ने कई ऐसे काव्य और उपन्यास प्रकाशित किये हैं जिनमें प्राचीन कथानकों की कथावस्तु को आधुनिक रूप दिया गया है।

जीवन का सतत प्रवाह काल के तटों से टकराता, उन्हें ढहाता और पुनर्निर्माण करता बहता चला आ रहा है। हर घाट की अलग छटा है, किन्तु प्रवाह का जल तात्त्विक रूप से सदा जल ही है। माटी की गन्ध, प्रकृति का परिवेश और उस परिवेश का मानवीय सृष्टि द्वारा रूपान्तर-ये सब कारण जल के रूप, रस, गन्ध, वर्ण को प्रभावित करते हैं। मानवीय भावनाओं और संवेगों की मूल प्रकृति सदा और सब कहीं एक-सी है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल परिवेश एवं मानवीय सम्पर्कों की नयी भावभूमि दृष्टि और अभिव्यक्ति के नये चमत्कार पैदा करती रहती है। तब हम राम और कृष्ण के नये रूपों का दर्शन करते हैं; हमें एक नयी उर्मिला के कोमल-करुण अन्तरंग की झाँकी मिलती है; एक नया नचिकेता और पाँच नयी द्रौपदियाँ साहित्य में अवतरित होती हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के प्रकाशनों को ही उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करें-

मुक्तिदूत (उपन्यास)

-वीरेन्द्रकुमार जैन

अंजना और पवनंजय का कथानक

आत्मजयी (खण्ड काव्य)

-कुँवर नारायण

नचिकेता की कथा

एक और नचिकेता

-गोविन्द शंकर कुरुप

मलयालम काव्य का हिन्दी अनुवाद

कनुप्रिया (खण्ड काव्य)

-धर्मवीर भारती

राधा का भाव-जगत्

महाश्रमण सुनें (उपन्यास)

व्यासपर्व (ललित निबन्ध)

पूर्णवतार (उपन्यास)

रत्नावली (खण्ड-काव्य)

भूमिजा (नाटक)

प्राचीना (काव्य-रूपक)

-उमाशंकर जोशी

पौराणिक पात्रों का चरित्र

गुजराती से हिन्दी अनुवाद

-'भिक्षु'

-दुर्गा भागवत

महाभारत के पात्रों का अध्ययन-विवेचन

मराठी से अनूदित

-प्रमथनाथ विशी

कृष्ण-कथा

बांग्ला से अनूदित

-हरिप्रसाद 'हरि'

तुलसी-प्रिया का कथानक

-सर्वदानन्द

सीता की कथा-आदि-आदि ।

इसी शृंखला में अब यह उपन्यास 'मृत्युंजय'। मूल उपन्यास मराठी में रचित । उपन्यासकार हैं शिवाजी सावन्त ।

विचित्र है कथा इस उपन्यास रचना की। 14 वर्ष की अवस्था में एक किशोर ने सहपाठियों के साथ एक नाटक खेला जिसमें उसने कृष्ण की भूमिका निभायी। स्कूल के मंच पर नाटक होते ही रहते हैं। नाटककार और नाटक और अभिनेता सब अपने-अपने रास्ते लगे। लेकिन इस लड़के के मन में कर्ण आकर ऐसे विराजे कि आसन से उठने का नाम ही न लें। मन की उर्वरा भूमि में सृजन का बीज पड़ गया। धीरे-धीरे जमीन तैयार होती रही। जब 23-24 वर्ष की आयु में शिवाजी सावन्त ने कर्ण के चरित्र को कागज पर उतारने का प्रयत्न किया तो एक नाटक की रेखाएँ उभरकर आने लगीं, किन्तु चित्र नहीं बन पाया । और तब शिवाजी सावन्त की अन्तःप्रेरणा ने कथानायक को समुचित विधा की भूमिका दे दी। यह उपन्यास आकार लेने लगा। महाभारत का पारायण तो मूल आधार था ही, लेकिन दिनकर की कृति 'रश्मिरथी' और केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का खण्डकाव्य 'कर्ण' ने बीज को ऐसे सींच दिया कि अंकुर फूट आये। अंकुर फूटने से लेकर वृक्ष के पल्लवित, पुष्पित और फलित होने तक की कथा सदा ही धरा की व्यथा-कथा भी रही है और पुलक-गाथा भी ।

जब 1967 में मराठी में इस उपन्यास का 3000 का प्रथम संस्करण छपा तो पाठक पढ़कर स्तब्ध रह गये। महाभारत के कई मुख्य पात्रों के बीच कर्ण को रखकर-जहाँ स्वयं कृष्ण भी हैं -कर्ण की इतनी ओजस्वी, उदार, दिव्य और सर्वांगीण छवि इससे पहले अंकित

ही नहीं की जा सकी थी। उपन्यास को महाकाव्य का धरातल देकर चरित्र की इतनी सूक्ष्म पकड़, शैली का इतना सुन्दर निखार और भावनाओं की अभिव्यक्ति में इतना मार्मिक रसोद्रेक अभी तक देखा नहीं गया था। कर्ण, कुन्ती, दुर्योधन, वृषाली (कर्ण-पत्नी), शोण और कृष्ण के मार्मिक आत्म-कथ्यों की शृंखला को रूपायित करने वाला यह उपन्यास पाठकों में इतना लोकप्रिय हुआ कि चार-पाँच वर्षों में इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके, प्रतियों की संख्या पचास हजार में। समीक्षकों और कृती साहित्यकारों की प्रशंसा का यह हाल कि महाराष्ट्र सरकार का साहित्य पुरस्कार इस कृति को प्राप्त हुआ; केलकर पुरस्कार, महाराष्ट्र साहित्य परिषद् एवं 'ललित' पत्रिका पुरस्कार आदि द्वारा भी यह कृति और यह कृतिकार अभिनन्दित हुए। उपन्यास का गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। आकाशवाणी पूना से इसका रेडियो रूपान्तर भी प्रसारित हुआ है।

हिन्दी पाठकों के हाथों यह उपन्यास समर्पित करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ को हर्ष है। इस कृति का परिचय उपन्यास के हिन्दी अनुवादक श्री ओम शिवराज के द्वारा मुझे प्राप्त हुआ। ज्ञानपीठ की सांस्कृतिक रुचि और परिष्कृति से वह प्रभावित रहे हैं, ऐसा उनका कहना है। श्री शिवाजी सावन्त, श्री ओम शिवराज और भारतीय ज्ञानपीठ का त्रिविक्रम पाठकों को पुलकित करे, यह हमारी कामना है।

-लक्ष्मीचन्द्र जैन

दिल्ली

मार्च, 1974

पृष्ठभूमि

जब-जब मैं महाभारतीय कथानायक कर्ण की जीवनी पर आधारित इस उपन्यास 'मृत्युंजय' का विचार करता हूँ, तब-तब अनगिनत खयाल मन में डोल उठते हैं। मराठी की यह मूल कथा 1967 में मराठी में ख्यातनाम संस्था 'कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित हुई थी। उसके सात साल पहले से इस कथावस्तु की पाण्डुलिपि सिद्ध करने में जुटा रहा। मन्त्रविभोर थे वे सात साल। मैं अपना लौकिकी दैनन्दिन जीवन जैसे भूल ही गया था।

आज इस 'मृत्युंजय' नामक कर्णकथा के प्रेरणास्रोत का मूल ढूँढ़ने का जब मैं प्रयत्न करता हूँ तब यह संशोधन का विचार मुझे सीधे मेरी किशोरावस्था की जिन्दगी में खींच ले जाता है। उन दिनों मैं माध्यमिक शाला का छात्र था। कक्षा होगी कोई आठवीं या नौवीं। साल होगा 1956 या '57 | हम-कुछ विशेष नया करना चाहने वाले छात्रों के एक ग्रुप ने स्कूल के सम्मेलन के अवसर पर एक नाटिका का मंचन किया। उसका नाम था 'अंगराज कर्ण'। यह नाटिका मराठी में थी। उस नाटिका में, उस किशोरावस्था में मैंने रोल किया था श्रीकृष्ण का। मुझे आज भी पूरी तरह याद है कि अपने रथ के पहिये को उखाड़ने वाले कर्ण का रोल करनेवाले छात्र-मित्र ने जो संवाद किया था वह श्रीकृष्ण होकर भी मेरे हृदय को बींध गया था। कुछ-कुछ संवादांश मुझे आज भी स्मरण हैं, जैसे कि-'ठहरो पार्थ, तुम क्षत्रिय हो और यह मैं रणभूमि में गड़े रथचक्र को निकाल रहा हूँ-निःशस्त्र हूँ ! युद्धधर्म व राजधर्म को न भूल जाओ !"

नाटिका खेले जाने के बहुत साल बाद भी उन कर्ण-संवादों को भूल नहीं सका था। आज 'मृत्युंजय' के लेखक के नाते मुझे इस कर्णकथा का कथाबीज वह नाटिका और वह युवा कर्ण ही लगता है। मेरे सुप्त मन में ठीक अपनी जगह पकड़कर वे संवाद और वह कर्ण जमकर बैठ चुके थे ।

आगे चलकर मैं अपना गाँव आजरा और अपनी शाला 'व्यंकटराव हाईस्कूल' छोड़कर महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए इस कलानगरी कोल्हापुर में आ गया। माध्यमिक शाला के शिक्षा-काल में ही मैंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली थीं-विशेष गुणवत्ता के साथ । खासकर उन परीक्षाओं के लिए निरन्तर अभ्यास करते रहने से हिन्दी काव्य से एक विशेष लगाव-सा हो गया था। इसलिए महाविद्यालयीन पढ़ाई में मैंने 'हिन्दी' भी एक विषय ले लिया। संयोग की बात है कि एफ. वॉय. बी. ए. में हिन्दी के पाठ्यक्रम में जाने-माने कविश्रेष्ठ केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का 'कर्ण' नामक खण्डकाव्य अध्ययन के लिए लिया गया।

केदारनाथ जी का यह 'कर्ण' खण्डकाव्य हिन्दी साहित्य-जगत् का एकमात्र अनमोल गहना है। केदारनाथ जी की काव्यभाषा अलंकृत होकर भी सदा सहज सुन्दर रही है। इस खण्डकाव्य में पाठक को झकझोर देनेवाली कई काव्य कल्पनाएँ हैं। मैं कविश्रेष्ठ के एक ही शब्द पर कई-कई महीनों तक विचार करता रहा। 'कर्ण' खण्डकाव्य के काव्यान्त में केदारनाथ जी ने बड़ी ही सहजता से दो सूक्तियाँ लिखी हैं। वे हैं-

"किन्तु कर्ण तो पहुँच चुके थे पास पिता के अपने
छोड़ तड़पते मिट्टी में मिट्टी के सारे सपने।"

इन पंक्तियों में केदारनाथ जी ने खण्डकाव्य के कथानायक को सम्बोधन कर 'थे' यह आदरवाचक क्रियापद दिया है। मैं उस आदरार्थी क्रियापद पर ही थम गया। हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न और जाने-माने इस कवि ने कर्ण के सन्दर्भ में 'थे' यह आदरवाचक क्रियापद क्यों लिखा होगा ? वैसे तो मूल महाभारत की संहिता में गीता प्रदान करनेवाले श्रीकृष्ण को सम्बोधन करते समय एकवचनी शब्द आ चुके हैं।

इसी खण्डकाव्य में काव्यलय को प्रवाहित करनेवाली कितनी ही पंक्तियाँ आयी हैं। जैसे कि,

"दुःसाहस था कि वह
पहुँचा राजरंगशाला में,
चमके जैसा कमल चमकता
कनक किरणमाला में।"

कर्ण के सुवर्ण का इतना बेजोड़ वर्णन और क्या हो सकता है ! इसलिए मैंने केदारनाथ जी का यह 'कर्ण' खण्डकाव्य सौ सौ बार रटा। सुप्त मन में किशोरावस्था में सोये पड़े 'अंगराज कर्ण' खड़े होकर मेरे जागृत मन पर छा गये थे। बार बार मेरा अन्तर्जगत् झकझोरने लगा, 'तुझे लिखना ही होगा-दानवीर, दिग्विजयी, अशरण, अंगराज कर्ण पर।' पहले-पहल मन मराठी में खण्डकाव्य की ही रचना करने का हुआ। कुछ चिन्तन के उपरान्त प्रत्यक्ष आ चुका-इस सूर्यपुत्र, कुन्तिपुत्र और सार्थ अर्थ से ज्येष्ठ पाण्डव को काव्य के सीमित क्षेत्र में बाँधना कठिन है। मन फिर इसी विषय में नाटक की सोचने लगा। जल्दी ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नाटक उससे भी अधूरा साहित्य प्रकार है जो इस महान् नायक को आत्मसात् कर सके। अन्त में विवरणात्मक विशाल उपन्यास लेखन के लिए मनःस्थिति दृढ़ हुई।

उपन्यास को मनःचक्षु के सामने रखकर पहले अध्ययन शुरू हुआ महाभारत का। उसमें भी अधिकतर द्रोणपर्व और कर्णपर्व पर। इस अध्ययन में मराठी के श्रेष्ठ महाभारत-भाष्यकार श्री चि. वि. वैद्य मेरे अधिक उपयुक्त मार्गदर्शक रहे। महाभारत के अधिकृत

संशोधन के कारण ही वैद्यजी को मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष के नाते अविरोध चुना गया था। खासकर वैद्यजी ने महाभारतीय युद्ध का कालखण्ड एक नये ढंग से निश्चित किया है। महाभारत की संहिता में जो आकाशस्थ नक्षत्रों के वर्णन आते हैं उनका सजग, गहरी दृष्टि से अध्ययन करके वैद्यजी ने यह कालखण्ड ई. पूर्व 2500 से लेकर 3000 तक निश्चित किया है। वैद्यजी का यह गम्भीर शोध मेरे लेखक-मन को और भी प्रभावित कर गया।

कर्ण के जीवन-सन्दर्भ में हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी में लिखे गये नाटक, काव्य, उपन्यास, शोध पर भाष्य मैंने पढ़ने शुरू किये। साथ-ही-साथ, बड़ी लगन से टिप्पणियाँ लेना शुरू कर दिया। इसमें एक लक्षणीय बात मुझे नजर आयी। महाराष्ट्र व अखिल भारतवर्ष में प्रसिद्ध 'दि केसरी' वृत्तपत्र के सम्पादक व मराठी के जाने-माने शैलीकार श्री शि. म. परांजपे जी ने कर्ण पर मराठी में एक नाटक लिखा है। बहुत सोच-विचारकर उस नाटक का नाम उन्होंने 'पहला पाण्डव' रखा है। बड़े चाव से मैंने वह नाटक पढ़ा। अब अडिग, अशरण, दानवीर, दिग्विजयी, राधेय, कौन्तेय और सार्थ अर्थ से ज्येष्ठ व सर्वश्रेष्ठ वह पाण्डव मेरे लेखक-मन पर पूरे-पूरे छा गये।

महाभारतीय युद्ध का समय जब नजदीक आता है तब तत्त्वज्ञान व राजकाज की अनमोल पूँजी साथ लेकर श्रीकृष्णजी शिष्टाई के लिए हस्तिनापुर आते हैं। अपना सब बुद्धिवैभव प्रण पर लगाकर समझौते का प्रस्ताव कौरवों की राजसभा में रखते हैं। युवराज दुर्योधन अपने गलत अभिमान से उस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। महाभारतीय युद्ध अटल हो जाता है। हस्तिनापुर की राजसभा से श्रीकृष्णजी वापस जाने के लिए निकलते हैं। उन्हें विदा करने के लिए आये महारथी वीरों में से वे सिर्फ कर्ण को हाथ थामकर अपने रथ पर चढ़ा लेते हैं। दोनों महावीर योद्धा राजनगर की सीमा पर एक विशाल व घने वटवृक्ष के तले पहुँचते हैं। श्रीकृष्ण जी बड़े ही संयम से, बड़ी कुशलता से कर्ण के जन्मरहस्य का स्फोट करते हैं और अर्जुन को गीता प्रदान करनेवाला अपना वही सुमधुर भाषा-वैभव फिर से प्रण पर लगाकर कर्ण को पाण्डव-पक्ष में आने के लिए आह्वान करते हैं। कर्ण मात्र अपना स्नेहभाव, दुर्योधन को दिया वचन मन में जगा रखते हुए अडिग रहते हैं और बड़ी नम्रता से श्रीकृष्णजी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं। मूल महाभारत में श्रीकृष्ण-कर्ण की इस भेंट का जो वर्णन आता है वह हृदयग्राही व बेजोड़ होने के कारण निर्लेप मन से पढ़ने लायक है।

ठीक ऐसी ही है युद्धभूमि पर प्रस्थापित अपने शिविर से अर्घ्यदान के लिए गंगातट पर आये कर्ण-कुन्ती भेंट की घटना। समस्त विश्व के मानवीय माता पुत्र रिश्ते-सम्बन्ध में इतना गहरा व बेमिसाल कथाभाग अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। माता-पुत्र की यह भेंट परस्पर सही रिश्ते जानने के बाद पहली बार होती है। उस सत्य को जानने के लिए कर्ण को लगभग पचहत्तर साल घुटते हुए राह देखनी पड़ी। महाकवि व्यास जी ने बड़ी ही रोचकता

से इस भेंट की योजना लोकमाता गंगा के किनारे की है। यहाँ केवल तीन ही महान् व्यक्ति रेखाएँ उपस्थित हैं—कर्ण, कुन्ती और गंगामाता। पूरा गंगातट निर्जन है। स्वयं व्यास जी चौथी महान् व्यक्ति-रेखा बनकर सर्वसाक्षी सवितु-सूरज के रूप में गगन में खड़े हैं। कितना लुभावना है साहित्य की भूमि पर उतरता हुआ पाठक की आँखों के सामने आने वाला यह चित्र !

इस भेंट में पहला ही क्षणचित्र कितना आशयसम्पन्न है ! कर्ण कदम्ब वृक्ष की एक डाली पर अपना अधरीय प्रतिदिन की तरह रखकर स्नान व अर्घ्य के लिए गंगाजल में उतरते हैं। इतने में वृद्ध राजमाता कुन्ती आकर उस अधरीय की छाँव में खड़ी हो जाती हैं। कितना हृदयस्पर्शी है यह विरोधाभास ! वास्तव में माता के आँचल की छाँव में पुत्र को जीवन-धूप से बचने के लिए खड़ा होना चाहिए। यहाँ उलटा हो गया। माता ही पुत्र के वस्त्र की छाया में खड़ी है, धूप से बचने के लिए। मानो वह कर्णपिता सूर्य से मुँह छुपा रही है।

हर रोज की तरह, स्नान-अर्घ्यदान के बाद कर्ण 'है कोई याचक ?' पुकारते हुए गंगातट पर टहलते हैं। कोई भी नहीं—यह जानकर कदम्ब-तले अपने अधरीय के पास आते हैं, अधरीय को डाली से खींचते हैं। उसके पीछे अपनी जन्मदात्री कुन्ती को देखकर उनका स्वाभिमान हिलोर उठता है। दोनों का निर्जन गंगातट पर, पाठक के तन पर रोंगटे खड़े करने वाला, संवाद हो जाता है। मानो दो विलक्षण सुवर्णी राजपात्र आपस में टकरा रहे हों। कर्ण अपने त्याग के लिए कुन्ती को दोषी ठहराकर उसकी निर्भर्त्सना करते हैं। कुन्ती अपनी विवशता मर्मभेदी शब्दों में बताती है। अन्त में कर्ण कुन्ती को माता के रूप में स्वीकार करते हैं। पहली बार उसे 'माँ' कहकर पुकारते हैं।

प्रारम्भ में संघर्ष से शुरू हुआ यह कथाभाग अन्त में पाठक का हृदय हिलाकर समाप्त हो जाता है। यह 'कर्ण-कुन्ती भेंट' व इसके पहले घटी 'श्रीकृष्ण-कर्ण भेंट' एक लेखक के नाते मुझे चुनौती-सी लगी। इन दोनों घटनाओं में, मूल महाभारतीय संहिता में रह गयी कुछ त्रुटियाँ मुझे महसूस होने लगीं, बेचैन करने लगीं। कई दिनों तक मैंने इस पर चिन्तन किया। कर्ण-कुन्ती-श्रीकृष्ण इन व्यक्तिरेखाओं ने मुझे रात-दिन घेर रखा। अकथनीय ढंग से मुझे वे सताने लगे।

एक दिन स्नानादि दैनिक कर्म के बाद मैं पूजा करने बैठा। भावपूर्ण मन से मैंने—'ओम् भूर्भुवः स्वः' इस सवितु मन्त्र का उच्चारण किया। ठानकर लिखने बैठा। आत्मनिवेदनपरक शैली का मुझे ही-चौंकानेवाला आविष्करण आप ही आप होने लगा। पहले ही प्रकरण में कर्ण बोलने लगे—'आज मुझे अपनी कहानी सबको सुनानी है।' बस्स, मैं लिखता ही चला गया। पहला प्रकरण पूर्ण हुआ। अवर्णनीय आनन्द की लहरों से मेरा मन भर उठा। निर्मिति का आनन्द केवल कलाकार ही जान सकते हैं। झट ही दूसरा प्रकरण-कर्ण को पालने वाले

अधिरथ व राधा के पुत्र 'शोण' के आत्मनिवेदन से पूर्ण हुआ। वे दिन मन्त्रभारित थे। सृजन का काल कला-जगत् में हमेशा ही मन्त्रभारित रहता है।

इन दो प्रकरणों के बाद मुझे तीव्रता से महसूस होने लगा कि 'भाई, यह कोई ठीक बात नहीं। जिस कुरुक्षेत्र की भूमि पर यह महासंग्रह हुआ, उस कथा विषय को निन्दा करने वाली भूमि देखे बिना लिखना निरा झूठापन है।' मुझे कुरुक्षेत्र व इर्द गिर्द का परिसर आँखों से देखना ही होगा। अब मन इसी एक बात पर अड़ गया।

उन दिनों मैं कोल्हापुर के राजाराम हाईस्कूल में माध्यमिक शिक्षक के नाते सेवा करता था। सबसे पहला सवाल था सैर के लिए ज़रूरी दो-तीन महीनों की छुट्टी का। उसके बाद सवाल था सैर के लिए आवश्यक पैसों का। हर तरह की कोशिश के बाद मैंने इन समस्याओं को हल किया। और एक शुभ दिन मैं अकेला ही निकला कोल्हापुर से कुरुक्षेत्र तक सैर करने के लिए। साथ में था एक अच्छे लेन्सवाला कैमरा। और, मन में थी कुरुक्षेत्र भूमि पैदल ही घूमने की अदम्य इच्छा, मैं केवल इतना ही जानता था कि कुरुक्षेत्र भूमि दिल्ली के कहीं आसपास है। कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी के इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री बुद्धप्रकाश जी से मैंने पत्रव्यवहार किया। उनका सानन्द जवाब आया 'अवश्य आ जाइए। ज़रूर सहायता मिलेगी।'

मैं जब दिल्ली पहुँचा तब जाड़े के दिन थे। वह 1965 का अक्टूबर महीना था। करोलबाग में स्थित 'पूना गेस्ट हाऊस' में अपना सामान रखकर मैं दिल्ली से कुरुक्षेत्र जा पहुँचा। कुरुक्षेत्र के 'गीता हाईस्कूल' के प्रमुख अध्यापक श्री विश्वनाथ जी के घर उनके परिवार का ही एक सदस्य बनकर मैं रहा। अब मेरा कुरुक्षेत्र पर्यटन शुरू हुआ। हर रोज बड़े सवेरे छः बजे उठकर मैं स्नान-नाश्ता करने के बाद पैदल ही चल पड़ता। सबसे पहले मैंने देखा वह स्थान जिसे 'कर्ण का टीला' कहते हैं। यह स्थल महाभारतीय युद्ध में सेनापति कर्ण का सेना पर नजर रखने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस टीले पर मैं आधा घण्टा तक आँखें भींचे घास पर लेटा रहा। वहाँ से बहने वाले मन्द वायु के झोंके मुझसे अबोध भाषा में बातें कर रहे थे। वह अनुभूति अवर्णनीय थी।

सैर का दूसरा चरण शुरू हुआ। अब मैंने कुरुक्षेत्र पर स्थित जलपूर्ण सरोवर एक के बाद एक देखे। पहले देखा 'सूर्य सरोवर'। इस सरोवर का वर्णन महाभारत में आता है। उसके बाद 'ज्योति सर' यानी 'ज्योति सरोवर'। यह वह स्थान है जहाँ पर श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को गीता का हितोपदेश दिया था। आज वहाँ पर संगमर्मर का रथ और उसमें स्थित अर्जुन को उपदेश देने वाले श्रीकृष्ण जी की मूर्ति है। संगमर्मर का एक गीता-मन्दिर भी है। इसके बाद सुयोग आया नदी दृशद्विती देखने का। यह वह नदी है जिसमें युधिष्ठिर ने युद्ध में हत सभी योद्धाओं के लिए तर्पण दिया था। श्रीकृष्ण जी के कहने से पहला तर्पण कर्ण को दिया था।

अब सैर का तीसरा चरण आ गया। जहाँ कर्ण के रथ का पहिया युद्धभूमि में फँस गया था, वह 'अमीन पहाड़ी' में देख रहा था। मेरे मन में कई सम्मिश्र भावनाओं की खलबली मची हुई थी।

इसके बाद मैं हरियाणा में उतरा। कर्ण के नाम पर मशहूर 'करनाल' नामक शहर देखा। वहाँ से मैं मेरठ के नजदीक सदियों से विख्यात हस्तिनापुर आ गया। वहाँ आज भी कर्ण की निशानी बताने वाला एक कर्ण मन्दिर है। समस्त भारतवर्ष में शायद यह एक ही मन्दिर होगा जिसमें किसी भी प्रकार की मूर्ति नहीं है। उस मन्दिर के स्थान पर खड़ा रहकर कर्ण याचकों को दान दिया करते थे। इस स्थान पर मैं विचारों में खोया खड़ा रहा। इसी जगह पर कवच-कुण्डल दान की विश्वविख्यात घटना घटी थी।

यहाँ से मैं दिल्ली वापस लौटा, जो कभी 'इन्द्रप्रस्थ' थी। यहाँ मैंने पाण्डव बावड़ी नाम की जगह देखी।

वापस लौटते समय मैंने मथुरा, श्रीकृष्ण का जन्मस्थल, वृन्दावन-गोवर्धन व गोकुल देखा। बाणों से ठसाठस भरे हुए तरकस की तरह विचार मन में लेकर मैं कोल्हापुर लौटा। अब मुझसे लिखे बिना रहना मुश्किल था। एक के बाद एक प्रकरण सिद्ध होने लगे। जैसे कि दुर्योधन, कुन्ती, फिर से कर्ण-शोण व सरताज जैसा अन्तिम प्रकरण-श्रीकृष्ण। मुझे यह आग्रह से कहना है कि महाभारत न केवल पुराण-कथा है बल्कि इस भारतवर्ष का प्रागैतिहासिक काल का सबसे पुराना उपलब्ध इतिहास है।

कर्ण के समस्त जीवन को स्पर्श करने वाला उपन्यास 'मृत्युंजय' सिद्ध हो गया। यह पाण्डुलिपि अठारह सौ पृष्ठों की बन गयी। सौभाग्यवश इस उपन्यास को मराठी के 'कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन' के अनुभवी प्रकाशक श्री अनन्तरावजी कुलकर्णी मिल गये। साथ-साथ विख्यात चित्रकार श्री दीनानाथ जी दलाल सजावट के लिए प्राप्त हो गये। 1967 में गणेश-जन्म के शुभ अवसर पर मराठी के महाकवि गजानन माडगुलकरजी के मांगलिक हाथों से प्रकाशन हुआ। मराठी व हिन्दी पाठकों ने इस कर्णकथा 'मृत्युंजय' का खुले दिल से स्वागत किया। 'मृत्युंजय' अब मेरा नहीं रहा, वह समस्त पाठकों का हो चुका है। भारतीय ज्ञानपीठ के रत्नपारखी संचालक श्रीमान् लक्ष्मीचन्द्र जैन ने मृत्युंजय का 1974 में हिन्दी अनुवाद कराया, अनुवाद के इस कार्य को माण्ट (मथुरा) के एस. व्ही. ए. कॉलेज के प्राध्यापक श्री ओम शिवराज जी ने बड़ी सामर्थ्य से निभाया है। सन् 1975 में ही प्रथम प्रयोग से मराठी रंगमंच पर खेला गया इसी नाम का नाटक आज भी खेला जा रहा है।

मैं अब भी जब मृत्युंजय का विचार करता हूँ, मुझे तीव्रता से लगता है कि यह सारे जग को उजाला देने वाले आकाश के स्वामी सवितु यानी सूर्यदेव की ही इच्छा थी। बड़ी नम्रता से मैं हमेशा कहता आया और कहता रहूँगा कि मैं बस एक निमित्तमात्र हूँ।

आज इस नये संस्करण के प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं अपने सभी पाठकों की ओर से एवं व्यक्तिगत श्रद्धाभाव से यह नूतन 'अर्घ्यदान' उस अशरण, महादानी सूर्यपुत्र 'कर्ण' के ही चरणों में अर्पित करता हूँ।

शिवाजी सावन्त

भूल-सुधार

इस उपन्यास में कुछेक जगहों पर भूल से सोमवंश के स्थान पर सूर्यवंश लिखा गया है। जैसे हस्तिनापुर के राजा हस्ती सोमवंशी थे, न कि सूर्यवंशी। पाठकों से निवेदन है कि कृपया इसे सुधार कर पढ़ें।

-प्रकाशक

मृत्युंजय

कर्ण

□

आज मैं कुछ कहना चाहता हूँ ! मेरी बात को सुनकर कुछ लोग चौकेंगे ! कहेंगे, जो काल के मुख में जा चुके, वे कैसे बोलने लगे ? लेकिन एक समय ऐसा भी आता है, जब ऐसे लोगों को भी बोलना पड़ता है ! जब-जब हाड़-मांस के जीवित पुतले मृतकों की तरह आचरण करने लगते हैं, तब-तब मृतकों को जीवित होकर बोलना ही पड़ता है ! आह, आज मैं औरों के लिए कुछ कहने नहीं जा रहा हूँ, क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस तरह की बात करने वाला मैं कोई बहुत बड़ा दार्शनिक नहीं हूँ । संसार मेरे सामने एक युद्ध-क्षेत्र के रूप में ही उपस्थित हुआ ! और मेरा जीवन भी क्या है ! उस युद्ध क्षेत्र में बाणों का केवल एक तरकश ! अनेक प्रकार की, अनेक आकारों की विविध घटनाओं के बाण जिसमें ठसाठस भरे हुए हैं—बस ऐसा ही केवल एक तरकश !!

आज अपने जीवन के उस तरकश को मैं सबके सामने अच्छी तरह खोलकर दिखा देना चाहता हूँ ! उसमें रखे हुए विविध घटनाओं के बाणों को बिलकुल एक-सी सभी घटनाओं के बाणों को-मैं मुक्त मन से अपने ही हाथों से सबको दिखा देना चाहता हूँ। अपने दिव्य फलकों से चमचमाते हुए, अपने परुष और आकर्षक आकार के कारण तत्क्षण मन को मोह लेने वाले, साथ ही टूटे हुए पुच्छ के कारण दयनीय दिखाई देने वाले तथा जहाँ तहाँ टूटे हुए फलकों के कारण अटपटे और अजीब से प्रतीत होनेवाले इन सभी बाणों को—और वे भी जैसे हैं वैसा ही—मैं आज सबको दिखाना चाहता हूँ ! विश्व की श्रेष्ठ वीरता की तुला पर मैं उनकी अच्छी तरह परख कराना चाहता हूँ। धरणीतल के समस्त मातृत्व के द्वारा आज मैं उनका वास्तविक मूल्य निश्चित कराना चाहता हूँ। पृथ्वीतल के एक-एक की गुरुता द्वारा मैं उनका वास्तविक स्थान निर्धारित कराना चाहता हूँ। प्राणों की बाज़ी लगा देनेवाली मित्रता के द्वारा मैं आज उनकी परीक्षा कराना चाहता हूँ। हार्दिक फुहारों से भीग जानेवाले बन्धुत्व के द्वारा मैं उनका वास्तविक मूल्यांकन कराना चाहता हूँ।

भीतर से—मेरे मन के एकदम गहन-गम्भीर अन्तरतम से एक आवाज बार-बार मुझको सुनाई देने लगी है। दृढ़ निश्चय के साथ जैसे-जैसे मैं मन ही मन उस आवाज़ को रोकने का प्रयत्न करता हूँ, वैसे-ही-वैसे हवा के तीव्र झोंकों से अग्नि की ज्वाला जैसे बुझने के बजाये पहले की अपेक्षा और अधिक जोर से भड़क उठती है, वैसे ही वह आवाज़ बार बार गरजकर मुझसे कहती है, "कहो कर्ण ! अपनी जीवन-कथा आज सबको बता दो। वह कथा तुम ऐसी भाषा में कहो कि सब समझ सकें, क्योंकि आज परिस्थिति ही ऐसी है।

सारा संसार कह रहा है, 'कर्ण, तेरा जीवन तो चिथड़े के समान था !' कहो, गरजकर सबसे कहो कि वह चिथड़ा नहीं था, बल्कि वह तो गोटा किनारवाला एक अतलसी राजवस्त्र था। केवल-परिस्थितियों के निर्दय कँटीले बाड़े में उलझने से ही उसके सहस्रों चिथड़े हो गये थे। जिस किसी के हाथ में वे पड़े, उसने मनमाने ढंग से उनका प्रचार किया। और फिर भी तुमको उस राजवस्त्र पर इतना अभिमान क्यों है ?"

वस्तुओं के किसी ढेर में सुन्दर सन्दूक की तह में पड़े हुए नये निकोर और अखण्ड राजवस्त्र की अपेक्षा, भयंकर ताण्डव करनेवाले काल के झंझावात से अकेले जूझते हुए चीर-चीर होनेवाला तेरा वह राजवस्त्र क्या कम मूल्यवान् था, यह आज सबको आँखें खोलकर अच्छी तरह देख लेने दे ! कान खोलकर अच्छी तरह सुन लेने दे ! वीरों की कहानियाँ सदैव ही दड़ी रुचि से सुननेवाले तथा दूसरे ही क्षण—एकदम दूसरे ही क्षण उतनी ही सरलता और निश्चिन्तता से बिलकुल ही भूल जानेवाले इस पागल संसार को तेरी यह कहानी क्या कभी ज़ोर से झकझोर सकेगी? क्या उसमें इतनी प्रचण्ड शक्ति है? विश्व की चरम सत्यता पर जिनका अखण्ड विश्वास है, जो लोग मृत्यु को एक खिलौना समझते हैं, सिंह की-सी छातीवाले जिन वीरों का इस धराधाम पर अस्तित्व है, वे सभी लोग आज तुम्हारी इस कहानी को सुनना चाहेंगे। आह ! यह क्या केवल कहानी है ? यह तो एक महान् सत्य है। और सत्य देखनेवालों की और सुननेवालों की इच्छा का विचार कभी नहीं किया जाता। वह सदैव जिस रूप में होता है, उसी रूप में सामने आया करता है उदित होते हुए सूर्यदेव की तरह ।

कथा कोई भी हो, उसको सुनते समय श्रोता यह आशा करते हैं कि उसमें मदिरा के मधुर चषक होंगे, नर्तकियों के नादमय पदन्यास होंगे और होंगे स्त्री-पुरुषों के आवेगपूर्ण आलिंगन ! वे उसमें एक ऐसा नशा चाहते हैं जो क्षणभंगुर जीवन की प्रतीति को एकदम भुला दे। जो कहानी मैं कहने जा रहा हूँ, मेरी उस जीवन-गाथा में मदिरा के ऐसे चषक नहीं हैं। मन को धीरे से गुदगुदानेवाले नर्तकियों के पदन्यास भी नहीं हैं। उसमें है केवल संग्राम ! भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को कँपा देनेवाला संग्राम !

मैं तो तन-मन से लड़नेवाला केवल एक असभ्य सैनिक हूँ। मैं अपनी कहानी आज अपने—केवल अपने ही समाधान के लिए कह रहा हूँ। मनुष्य अपने मन की बात जबतक कहीं कह नहीं लेता, तबतक उसका मन हलका ही नहीं होता। इसीलिए मैं अपनी यह कहानी मुक्त मन से कहने जा रहा हूँ।

लेकिन अब मेरे सामने वास्तविक कठिनाई तो यह है कि अपनी इस संग्राम-कथा को मैं कालक्रमानुसार कैसे कहूँ ? क्योंकि, कड़कड़ाती हुई बिजली की कानों के परदे फाड़ डालनेवाली मर्मभेदी आवाज सुनकर वन्य घोड़ों के झुण्ड के अनेक घोड़े जैसे जिधर रास्ता मिलता है, उधर ही दौड़ने लगते हैं; वैसे ही अनेक घटनाएँ इस समय मेरी आँखों के सामने

कालक्रम को छोड़कर इधर-उधर मनचाही दौड़ लगा रही हैं। उनको कालक्रमानुसार कैसे जोहूँ, यह स्वयं मुझे भी नहीं सूझ रहा है। पता नहीं क्यों, लेकिन इस समय बार-बार मेरी आँखों के सामने जो खड़ी हो रही है, वह है गंगामाता के पवित्र और रमणीय तीर पर बसी हुई चम्पानगरी। चम्पानगरी मेरी जीवन-सरिता का वह सुन्दर मोड़ है, जो मुझको बहुत ही प्रिय लगता है।

उस नगरी के केवल स्मरण मात्र के साथ ही मेरी स्मृतियों के अरण्य में एकदम खलबली मच जाती है और घटनाओं के हरिणों के झुण्ड के झुण्ड छलाँगें मारते हुए दौड़ने लगते हैं। कोई कहता है कि स्मृतियाँ मयूरपंख-जैसी होती हैं, तो किसी का कहना है, वे बकुल के फूल की तरह होती हैं, जो अपनी सुगन्ध को पीछे छोड़ जाते हैं। लेकिन मैं यह कभी स्वीकार नहीं कर सका ! स्मृतियाँ सदैव ही हाथी के पैरों-जैसी होती हैं ! वे मन की आर्द्र भूमि पर अपना गहरा चिह्न पीछे छोड़ ही जाती हैं। कम से कम मेरी तो सभी स्मृतियाँ ऐसी ही हैं। चम्पानगरी मेरे जीवन की मरुभूमि पर कालरूपी गजराज द्वारा अंकित ऐसा ही एक गहरा और स्पष्ट चिह्न है। मेरी जीवनयात्रा में वह सबसे अधिक शान्त और स्पृहणीय लगनेवाला आश्रय-स्थल है। कुछ लोग जीवन को मन्दिर कहते हैं। मैं अच्छी तरह जानता मेरा जीवन इस प्रकार का कोई मन्दिर कदापि नहीं है और यदि वह मन्दिर है भी तो चम्पानगरी उस मन्दिर की एकमात्र मधुर घण्टी है।

गंगामाता के विशाल और रमणीय किनारे पर बसा हुआ वह एक छोटा-सा गाँव है। कैसा है वह ?

दो

लता वृक्षों से और पशु पक्षियों से भरी हुई प्रकृति देवी की गोद में लेटा हुआ मेरा छोटा-सा गाँव था चम्पानगर ! चातक, चकोर, कोकिल, भारद्वाज, सारंग आदि असंख्य पक्षियों की मधुर चहचहाहट से प्रत्यूषा में जगनेवाला, गायों के रँभाने के साथ ही प्रातःकाल नित्यप्रति के कामों में लगनेवाला, चिलचिलाती दोपहरी में कदम्ब की घनी शीतल छाया में शान्ति से विश्राम करनेवाला, घण्टियों की तालबद्ध आवाज के साथ गायों के साथ सायं समय धूल के बादल उड़ाते हुए लौटनेवाला और रात को गंगामाता के तीर पर से आनेवाली शीतल मन्द । समीरण की लहरों को देह पर ओढ़कर एक निरपराध बालक की तरह चुपचाप सो जानेवाला मेरा वह सुन्दर बचपन यहाँ-इस चम्पानगरी में ही बीता ! हाँ, यहीं व्यतीत हुआ। एक बार धनुष से छूटे हुए बाण की तरह वह फिर कभी लौटकर मेरे पास नहीं आया।

परन्तु उसके स्मरण मात्र से ही क्षितिज तक फैला गंगामाता का विस्तृत पात्र मेरी आँखों के सम्मुख खड़ा हो गया है। शुभ्र-नीले जल का क्षितिज तक फैला हुआ वह विशाल साम्राज्य ! उस जल की एक-एक बूँद मुझको अच्छी तरह जानती है और मैं भी उसकी एक-एक बूँद से अच्छी तरह परिचित हूँ। इसी गंगामाता के किनारे फैली हुई कोमल आर्द्र बालू की छाती पर दौड़ते समय मेरे छोटे-छोटे निःस्पृह पैरों के चिह्न अंकित हुए हैं। यहीं पर नटखट वायु के झोंकों ने मेरी देह पर लिपटे हुए मेरे उत्तरीय को छेड़खानी कर अनेक बार उड़ाया है। और इसीलिए, चम्पानगरी की स्मृति के साथ ही बचपन में देखी हुई इस ओर से उस छोर तक फैली हुई गंगामाता मेरी आँखों के सम्मुख खड़ी हो जाती है। बचपन आखिर है क्या ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर अच्छी तरह क्या कोई दे सकता है ? अनेक लोगों ने अनेक प्रकार उसका वर्णन किया है, परन्तु यदि मुझसे पूछा जाये तो मुझको तो वह सदैव रथ की तरह लगता आया है। एक ऐसा स्वच्छन्द रथ, जिसमें मुक्त और अनिर्बन्ध कल्पनाओं के घोड़े जुते हुए हैं। दूर तक दिखाई देनेवाला गंगा का पानी सचमुच ही कहीं नील गगन का स्पर्श कर रहा है क्या, यह देखने के लिए वह रथ उसकी असंख्य लहरों पर चक्कर लगाकर क्षण-भर में क्षितिज तक दौड़ लगा आता। तो कभी-कभी वह रथ, आकाश में झिलमिलानेवाले असंख्य तारे किसमें ऐसे जड़े हुए हैं, जो कि वे नीली छत से निकलकर झन्न से पृथ्वीतल पर नहीं गिर पड़ते हैं, यह देखने के लिए अन्तरिक्ष में बड़ी ऊँचाई तक छलाँग मार आता।

तीन

मैं और मेरा छोटा भाई शोण-हमारा वह छोटा-सा संसार ! शोण ! हाँ, शोण ही! उसका मूल नाम था शत्रुन्तप। लेकिन सब लोग उसे शोण ही कहते थे। शोण मेरा छोटा भाई था। यों तो वृकरथ नामक मेरा एक और भी भाई था, लेकिन वह बचपन में ही विकटों के राज्य में अपनी मौसी के पास चला गया था। शोण और मैं-हम दो ही रह गये थे। मेरे बचपन का संसार मेरी और उसकी स्मृतियों से ही भरा हुआ था। चम्पानगरी की विशुद्ध हवा में पलनेवाले दो भोले भाले प्राणों का अद्भुत कल्पनाओं से भरा हुआ छोटा-सा संसार था वह। वहाँ झूठी प्रतिष्ठा के बनावटी दिखावे नहीं थे या अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे को फूटी आँख से भी न देख सकनेवाली असूया नहीं थी। वह केवल दो भाइयों का निःस्वार्थ विश्व था और उस विश्व के केवल दो ही द्वारपाल थे। एक हमारी माता-राधा और दूसरे हमारे पिता-अधिरथ ! आज भी उन दोनों की स्मृतियाँ मेरे हृदय के एक अत्यन्त कोमल तार को झंकृत कर देती हैं और अनजाने ही कृतज्ञता से कुछ बोझिल-से तथा ममता से कुछ

रससिक्त-से दो अश्रुबिन्दु तत्क्षण मेरी आँखों में छलक आते हैं। लेकिन क्षण-भर के लिए ही ! तुरन्त ही मैं उनको पोंछ लेता हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि आँसू दुर्बल मन का प्रतीक है। संसार के किसी भी दुख की आग अश्रु के जल से कभी बुझा नहीं करती। लेकिन फिर भी, जबतक आँसू की ये दो बूंदें छलक नहीं पड़तीं, तबतक मुझको कभी यह प्रतीत ही नहीं होता कि मेरा मन हलका हो गया है ! क्योंकि आँसू की इन दो बूंदों के अतिरिक्त, अपने जीवन में मैं उनको ऐसा कुछ भी दे नहीं सका, जो बहुत अधिक मूल्यवान् हों ! और इनकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् कोई अन्य वस्तु है, जो माता-पिता के प्रति प्रेम के प्रतीकस्वरूप दी जा सकती है—ऐसा मैं समझता भी नहीं। मेरे माता-पिता ने कभी किसी प्रकार की आशा मुझसे नहीं की थी। उन्होंने मुझको जो कुछ दिया था, वह निरा प्रेम ही था। इसीलिए उनके स्मरण से मेरी आँखों में कृतज्ञता से कुछ बोझिल से तथा ममता से कुछ रससिक्त-से केवल दो अश्रु-बिन्दु ही भर आते हैं।

चार

मेरी माँ तो ममता का विशाल समुद्र ही थी। मुझको बचपन में सभी नगरजन वसुसेन कहते थे। मेरा छोटा भाई शोण, मुझको सदैव 'वसुभैया' कहता था। माँ तो मुझको दिन में सैकड़ों बार 'वसु वसु' कहकर बुलाती थी। उसने मुझको केवल अपना दूध ही नहीं पिलाया था, बल्कि उसके विशुद्ध प्रेम का अमृत भी मैं अब तक जी भरकर पीता आया था। सबको समान भाव से प्रेम करने के लिए ही मानो उसका जन्म हुआ था। सारा चम्पानगर उसको 'राधामाता' कहता था। सबके लिए असीम कष्ट सहने की शक्ति और हृदय में अमित ममता होने के कारण उसकी बात कभी व्यर्थ नहीं जाती थी। मेरे कानों में दो जन्मजात कुण्डल थे। उनकी चर्चा वह नगर के लोगों से प्रायः करती ही रहती थी। मैं क्षण भर के लिए भी आँखों से ओझल हो जाता था, तो वह घबरा जाती थी। अत्यन्त व्याकुल हो जाती थी। पड़ोसियों के यहाँ जाकर वह मुझको ढूँढ़ने का प्रयत्न करती। मुझको अपने सामने बैठाकर वह घण्टों अकारण ही मेरे कानों के कुण्डलों की ओर टकटकी बाँधकर देखती रहती। देखते-देखते वह अपनी सुध-बुध को खो देती। बार-बार मेरे सिर पर हाथ फिराकर वह प्रेम से मुझसे कहती, "वसु ! गंगा की ओर भूलकर भी मत जाना, अच्छा !"

"क्यों नहीं जाऊँ ?" मैं पूछता ।

"देखो, बड़े लोगों का कहना मानते हैं। जब जाने को मना किया जाये, तो नहीं जाना चाहिए !"

"तू सचमुच बहुत डरपोक है, माँ ! अरी, चले जायेंगे तो क्या हो जायेगा?"

"नहीं रे वसु !" मुझको एकदम पास खींचकर मेरे बालों में अपनी लम्बी उँगलियाँ फिराती हुई वह मुझसे पूछती, "वसु, मैं तुझको अच्छी लगती हूँ या नहीं?"

"आँ हाँ !" कहकर मैं सिर हिलाता। मेरे कानों में लय के साथ हिलनेवाले कुण्डलों की ओर विस्मय से देखती हुई वह कहती, "तो फिर मेरा आदेश समझकर कभी गंगा की ओर मत जाना।" वह मुझको कसकर जकड़ती हुई कहती। उस समय उसकी आँखों में एक अजाना भय तैरने लगता था।

उसका मन रखने के लिए मैं कहता, "तू कहती है तो नहीं जाऊँगा। बस, अब तो ठीक ?"

यह सुनते ही वात्सल्य से अभिभूत होकर वह मुझको एकदम पास खींच लेती और आलिंगन में कस लेती। मेरे सिर को और कानों को पटापट चूमती। उस समय मेरी इच्छा होती कि मैं इसी तरह गोद में समा जाऊँ।

उसकी गोद में पड़े-पड़े ही मैं विचार करता। माँ गंगामाता के जल से भला इतना क्यों घबराती है ? और मुझको तो गंगामाता के प्रति अद्भुत आकर्षण था। उसकी लपलपाती हुई असंख्य लहरों से घण्टों तक बैठे बैठे बातें करते रहना मेरा सर्वाधिक प्रिय छन्द था। माँ को यदि वह ज्ञात हो जाता तब ? निश्चय ही मुझको ढूँढ़ती हुई यह सीधी गंगा के किनारे तक आ पहुँचती ! नहीं जी, कुछ भी हो जाये, मैं सदैव नदी के किनारे पर जाता हूँ। हाँ, यह बात माँ को कभी ज्ञात नहीं होनी चाहिए। मैं निश्चय कर लेता और फिर अपनी इस बात को गुप्त रखने के लिए रंगीन सीपियाँ और बकुल के खिले हुए पीले फल मुट्ठी भर-भरकर शोण को दिया करता।

पाँच

मेरे पिता कौरवराज धृतराष्ट्र के रथ के राजसारथी थे। वे अधिकतर कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर में ही रहा करते थे। वह नगर तो बहुत दूर था। कभी-कभी वे वहाँ से एक बड़ा रथ लेकर चम्पानगरी में आते थे। उस समय मेरे और शोण के उत्साह का रूप कुछ और ही होता था। जैसे ही पर्णकुटी के द्वार पर रथ खड़ा होता था, शोण उसमें कूद पड़ता और घोड़ों की वल्गाएँ पिताजी के हाथों से हठात् अपने हाथों में लेकर जोर से मुझको पुकारता, "वसु भैया, अरे जल्दी आ। चलो, हम गंगा के किनारे से सीप ले आयें।" उसकी पुकार सुनकर मैं अपूप खाना वैसे ही छोड़कर पर्णकुटी से बाहर आता।

फिर हम दोनों मिलकर पिताजी के रथ में बैठकर वायुवेग से नगर के बाहर गंगा के किनारे की ओर जाते। हलके पीले रंग के वे पाँच घोड़े अपने पुष्ट पूँछों के बालों को

फुलाकर, कान खड़े कर स्वच्छन्द उछलते जाते । उनको संयत करते-करते बालक शोण एकदम किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता। ऊपर के दाँतों से नीचे का होंठ ज़ोर से चबाता हुआ वह उनको संयत कर रास्ते के मोड़ों पर सफ़ाई से निकालने का व्यर्थ प्रयत्न करता और अन्त में थककर सहायता के लिए मुझको बुलाता। उसके हाथों पर वल्गाओं के चिह्न अंकित हो जाते। उस समय उसकी आवाज़ इतनी मृदु हो जाती कि मुझको उससे विलक्षण प्रेम होने लगता। फिर मैं उसके हाथ से बल्गाएँ अपने हाथ में ले लेता। वह प्रतोद का दण्ड उलटा कर घोड़ों के अयाल तितर-बितर कर देता। 'हा SS हा SS' कहकर उनको दौड़ाने के लिए प्रतोद के डण्डे से जब वह मारता तब घोड़े चेतकर पहले की अपेक्षा और अधिक तेज़ दौड़ने लगते। अपने मन की सी हो गयी है, यह देखकर शोण आनन्दातिरेक से तालियाँ बजाकर मुझको उत्साहित करता। और फिर बातों ही बातों में हम दोनों लगभग आधा योजन की दूरी पार कर गंगामाता के किनारे पर आकर रुकते । शोण झट से रथ से कूदकर हरिण की तरह चौकड़ी भरता हुआ किनारे की ओर दौड़ जाता। उसके छोटे-छोटे पैरों की एक लम्बी पंक्ति किनारे की आर्द्र बालू में अंकित दिखाई पड़ने लगती। लेकिन मैं उसी तरह बैठा रहता, जैसे मेरे हाथ-पैर सुन्न हो गये हों, और मैं रथ से एकटक उस पानी की ओर देखता रहता। अकारण ही मुझको ऐसा लगता कि अवश्य ही इस पानी से मेरा कुछ सम्बन्ध है, जो कहा नहीं जा सकता ! उसी क्षण दूसरा विचार आता। छिः, भला पानी से मनुष्य का क्या नाता हो सकता है ? प्यास से व्याकुल प्राणी को क्षण-भर की तृप्ति प्रदान करनेवाला एक साधन मात्र है वह। हाथ से छूटकर वल्गाएँ न जाने कब नीचे गिर पड़तीं ! अपनी छोटी-छोटी आँखों से मैं उस पात्र को यथाशक्ति गटागट पी लेता। उस समय मेरी इच्छा होती कि यदि मेरे सम्पूर्ण शरीर में आँखें होती, तो कितना अच्छा होता !

मैं अपनी तन्द्रा से तब जाग्रत् होता जब शोण प्रश्न करने लगता। अनेक रंग की सीपियाँ मिल जाने के कारण उसके पैर धरती पर नहीं रहते। वह मुझपर प्रश्नों की बौछार कर देता : "भैया, ये सीपियाँ क्या पानी से ही बनती हैं रे?"

"हाँ !"

इतने से उसका समाधान न होता। वह फिर पूछता, "फिर तो इनपर ये सारे रंग पानी ने ही किये होंगे ?"

"हाँ!"

"तो फिर पानी में ये रंग क्यों नहीं दिखाई पड़ते ?"

उसके प्रश्न का उत्तर देना कभी-कभी मैं टाल देता था। क्योंकि मैं जानता था कि एक प्रश्न के बाद दूसरा प्रश्न उसके पास अवश्य तैयार होगा। और सच पूछो तो कभी-कभी उसके प्रश्न का उत्तर मुझे भी ज्ञात नहीं होता था।

"चल, हम लोगों को बहुत देर हो गयी है।" यह कहकर मैं उसके मस्तिष्क से उन प्रश्नों को दूर करने का प्रयत्न करता। फिर हम दोनों लौट आते। आते समय सन्ध्या हो जाने के कारण श्येन, कोकिल, कपोत, भारद्वाज, पत्ररथ, क्रौंच आदि अनेक पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड चित्र-विचित आवाजें करते हुए, धूम मचाते नीड़ों की ओर लौटते हुए हमको दिखाई देते। रथनीड़ से बाहर झाँककर उन झुण्डों की ओर एकटक देखता हुआ शोण मुझसे अनेक प्रश्न पूछता। लेकिन उस समय मेरा ध्यान उसकी ओर बिलकुल नहीं होता था। उस समय सूर्यदेव पश्चिम की ओर स्थित दो अत्युच्च पर्वतों के पीछे प्रवेश कर रहे होते थे। दिन-भर अविरत दौड़ने पर भी उनके रथ के घोड़े ज़रा भी थके हुए नहीं होते थे। वे दो पर्वत मुझको उनके प्रासाद के विशाल द्वार पर खड़े हुए दो द्वारपाल-से लगते थे ! उस तेजपुंज बिम्ब की ओर देखने पर मेरे हृदय में न जाने क्यों एक अजीब-सी व्याकुलता उठने लगती। अब क्षण-भर में ही वह तेजपुंज हमारी दृष्टि की ओट में हो जायेगा, इस कल्पना से ही वियोग की एक प्रचण्ड लहर अकारण ही मेरी नस-नस में फैल जाती। मैं एकटक उस बिम्ब की ओर देखता रहता। शोण मुझको ज़ोर से झकझोरकर आकाश में शोर मचाता जाता हुआ गरुड़ पक्षियों का झुण्ड दिखाता । मैं क्षण-भर उन विशालकाय वन्य पक्षियों की ओर देखता। अन्य समस्त पक्षियों की अपेक्षा ये बहुत अधिक ऊँचाई पर उड़ते हुए जाते थे। शोण पूछता, "भैया, ये कौन से पक्षी हैं रे ?"

"गरुड़ ! सभी पक्षियों के राजा !"

"भैया, तू जायेगा क्या रे इन गरुड़ों की तरह....खूब-खूब ऊँचा ?" वह अनर्गल प्रश्न पूछता।

"पगले ! मैं क्या पक्षी हूँ जो ऊँचा जाऊँगा ?"

"न सही पक्षी....अभी थोड़ी देर पहले इतने तेज़ दौड़ते हुए घोड़े कैसे सँभाल लिये थे तूने ?"

"अच्छा भाई, मैं जाऊँगा गरुड़ की तरह खूब ऊँचा। इतना ऊँचा कि तू कभी देख नहीं पायेगा। बस, अब ठीक है न ?" इस उत्तर से वह सन्तुष्ट हो जाता। मेरे प्रति आदर का एक स्निग्ध भाव उसकी आँखों में स्पष्ट झलकने लगता।

मैं पुनः पश्चिमीय क्षितिज की ओर देखने लगता और अन्त में मैं ही उससे एक प्रश्न पूछता, "शोण, वह सूर्य-बिम्ब देख रहे हो ? उस बिम्ब की ओर देखने पर क्या अनुभव कर रहे हो तुम ?"

मुझे लगता कि वह क्षण-भर ध्यान से उस बिम्ब की ओर देखेगा, जैसा मुझको लगता है, उसी तरह की कोई बात अपने शब्दों में कहेगा। लेकिन जैसे ही वह सूर्य-बिम्ब की ओर देखने लगता, उसकी नन्ही-नन्ही आँखें उस तेज से एकदम मिनच जातीं और फिर थोड़ी देर

बाद आँखें मीड़ता हुआ मेरे कानों की ओर देखकर वह जल्दी-जल्दी कहता, “तेरे चेहरे जैसा लगता है वह, वसु भैया !”

मैं अपने कानों से हाथ लगाता। दो मांसल कुण्डल हाथ में आ जाते। कहते हैं कि ये मेरे जन्म से ही हैं !

शोण की शिकायत शुरू हो जाती, "तुझपर ही माँ का प्यार अधिक है, भैया ! देख ले, इसीलिए उसने तुझको ही ये कुण्डल दिये हैं ! मेरे पास कहाँ हैं कुण्डल ?"

उसके उन उद्गारों से मैं थोड़ी देर के लिए विचारमग्न हो जाता। पश्चिम की ओर आँखों से ओझल होते हुए उस तेजस्वी बिम्ब की ओर मैं फिर एक बार ध्यानपूर्वक देखता। मेरे छोटे-से मन में भावों का तूफान-सा आ जाता। एक हाथ से घोड़ों की वल्गाएँ सँभालता हुआ, शोण की दृष्टि बचाकर, आँखों से ओझल होनेवाले उस तेज को मैं दूसरे हाथ से विदाई देता। मन में एक और ही तरह की व्याकुलता होने लगती। ऐसा लगने लगता जैसे अपने पास से कोई वस्तु अब दूर-दूर जा रही हो। आवेश में मैं हाथ में लगे प्रतोद का प्रहार घोड़ों की पीठ पर करने लगता। अपने खुर उछालकर रास्ते पर धूल उड़ाते हुए वे हिनहिनाते हुए वायुवेग से दौड़ने लगते। पास बैठा हुआ शोण, दौड़ते हुए घोड़े, पीछे छूटते जाते अशोक, ताल, किंशुक, मधूक, पाटल, तमाल, कदम्ब, शाल, सप्तपर्ण आदि के ऊँचे-ऊँचे घने पत्तोंवाले वृक्ष—इनमें से किसी का भी मुझको भान नहीं रहता। केवल सामने का पीछे भागता हुआ मार्ग और उसके मोड़-बस यही दिखाई देते। मेरे मन में एक विचार कौंध जाता-पीछे छूटते हुए इस रास्ते के साथ-साथ मैं प्रकाश के साम्राज्य से किसी अन्धकारमय भयानक समुद्र की ओर खिंचा चला जा रहा हूँ।

ऐसा लगता कि अब रात के बारह घण्टे ऐसे ही एकाकीपन में बीतेंगे।

पर्णकुटी में आते ही शोण अपनी रंग-बिरंगी सीपियों की कमाई को बड़े उत्साह से माँ को दिखाता। उसकी सराहना करती हुई माँ मुझसे पूछती, "वसू, तू क्या लाया है रे?" पहले तो मैं एकदम घबरा जाता, तत्क्षण कोई उत्तर ही न सूझता; क्योंकि मैं तो 'कुछ लाता ही नहीं था ! फिर जैसे-तैसे अपने को सँभालकर मैं कहता, "मैं शोण को वापस लाया हूँ, यही बहुत समझो, माँ ! अरी, नहीं तो यह रात-भर सीपियाँ इकट्ठी करता हुआ वहीं बैठा रहता।"

"वाह-वाह, तू लाया है मुझको ? अरी, मैं ही लाया हूँ इसे लौटाकर, नहीं तो यही वहाँ बैठा रह जाता, प्रातःकाल तक उस सूर्य-बिम्ब की राह देखता हुआ।" शोण अपना सिर हिलाकर अपना पक्ष प्रस्तुत करता। माँ मेरी ओर बड़े ध्यान से देखने लगती। मेरे चेहरे की ओर वह इतने ध्यान से क्यों देखती थी, यह मेरी समझ में नहीं आता था। मैं वहाँ से एकदम बाहर चला जाता।

छह

हमारी पर्णकुटी में पिताजी के लाये हुए अनेक प्रकार के और अनेक आकारों के धनुष थे। पता नहीं क्यों, लेकिन जब मैंने पहली पहली बार उनमें से एक धनुष देखा था, और उसके प्रति मुझको जो आकर्षण लगा था, वह अद्भुत था। उसकी कपोत की ग्रीवा की तरह मुड़ी हुई कमान और नखमात्र से छेड़ देने पर ही टंकार करनेवाली प्रत्यंचा मुझको बहुत अच्छी लगी थी। पिताजी के हाथ से मैंने वह लगभग छीन ही लिया था। हाथ में उसको नचाता हुआ उछलता-कूदता मैं तुरन्त ही आँगन में घोड़े की पूँछ से क्रीड़ा करते हुए शोण के पास आया। वह घोड़े की पूँछ के गुच्छे से चमकीले लम्बे बाल निकालने में लगा हुआ था। कुछ गुनगुना भी रहा था। उसको वह धनुष दिखाते हुए मैं बोला, "शोण, यह देख अपना खिलौना। अब घोड़े के बाल उखाड़ना छोड़ दे। आज से हमारा नया खेल प्रारम्भ होगा।"

उसने हाथ में लिये बाल तत्काल फेंक दिये, "देखू, देखू" कहता हुआ बड़ी उत्सुकता से नाचता हुआ वह मेरे पास आया। मेरे हाथ से धनुष अपने हाथ में लेकर आँखें बड़ी-बड़ी कर बोला, "यह तो बड़ा भारी है रे?"

"चल हट ! यह क्या भारी है ? ला मुझे दे और भीतर से एक बाण ले आ।" मैंने उसको बाण लाने के लिए भेज दिया। "भैया के लिए बाण दो। भैया के लिए बाण ।" यह चिल्लाता हुआ वह भीतर भाग गया। मैंने अपने उत्तरीय से धनुष के दण्ड पर जमी हुई धूल धीरे-धीरे पोंछी। हाथ में उसको तौलकर देखा, इतने में ही शोण एक बाण लेकर उछलता-कूदता बाहर आया। बाण मेरे हाथ में देकर सामने स्थित वट-वृक्ष की ओर उँगली दिखाता हुआ बोला, "भैया, उस पेड़ में यह बाण मार तो।"

मैंने झटपट डोरी चढ़ायी और बाण चढ़ाकर शक्ति से उसको खींचा। एक स्थान पर हाथ स्थिर कर बायीं आँख मींचकर डोरी छोड़ दी। बाज़ की झपट की तरह वह बाण सरल रेखा में आगे गया और कच् से आगे खड़े वट-वृक्ष में घुस गया। क्षण-भर में ही, जहाँ बाण घुसा था, वहाँ से दूध-जैसा रस निकलने लगा। शोण तालियाँ बजाकर उछलने-कूदने लगा। मेरा वेध उसको पसन्द आया था ।

उस दिन से मेरा और शोण का यह जैसे नियमित खेल ही बन गया। आकाश में चक्कर लगानेवाले श्येन को बाण का अचूक निशाना बनाना, हवा के झोंकों के साथ फुनगी पर इधर-उधर हिलनेवाले आम के डण्ठल तोड़ना, एक ही साथ दो बाण छोड़कर दो भिन्न-भिन्न लक्ष्यों का वेध करना, आदि अनेक खेल हम घण्टों खेलते रहते। इन सब खेलों के पंच थे हमारे पिताजी ! वे जो कुछ कहते, उसका पालन हम सिर झुकाकर कर रहे थे। लेकिन मेरे मन में सदा एक ही विचार आता। मैं हर प्रकार से बाण चलाना सीखना चाहता था। लक्ष्य

को न देखते हुए केवल आवाज़ की दिशा में बाण चलाना सीखना चाहता था। जिस प्रकार साही नामक जन्तु अपनी रक्षा के लिए अपनी देह से सौ-दो सौ नलिकाएँ एक साथ छोड़ सकता है, उसी तरह मैं भी असंख्य बाण एक साथ छोड़ना सीखना चाहता था।

सात

स्वप्न का क्या अर्थ होता है, यह कोई भी ठीक-ठाक बता सकता है क्या ? मुझको तो वे अतृप्त मन की इच्छा पूरी करनेवाले कल्पवृक्ष की तरह लगते हैं। क्योंकि उस रात मेरे स्वप्न में अनेक धनुषों ने क्रीड़ा की थी। फूलों से सजे हुए, घुमावदार आकारवाले, परुष किन्तु लचीली डण्डी के बहुत से धनुषों को मैं एक-एक कर हाथ में ले रहा था। जो भी वस्तु दिखाई पड़ जाती थी, उसी पर मैं एक के बाद एक अचूक बाण फेंक रहा था। अपने लक्ष्य-वेध पर स्वयं ही प्रसन्न होकर आनन्द से तालियाँ बचाता हुआ ही मैं जग पड़ा था।

एक दिन प्रातःकाल मैं और शोण नगर के अरण्य में रथ में लगनेवाली कीकर वृक्ष की कठिन और टिकाऊ लकड़ी लेने गये थे। शोण तो उस दिन बहुत ही आनन्दित था। अरण्य में घूमने का अवसर मिलना उसकी दृष्टि में बड़े ही भाग्य की बात थी। वहाँ अनेक पक्षियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की मंजुल आवाजें, वृक्षों की डालों की आपस में रगड़ने से होनेवाली करकर, झरनों की मधुर कलकल, भीमकाय वृक्षों का अवलम्ब लेकर ऊपर चढ़नेवाली लताओं की अविरत सरसर-इन सब बातों के प्रति उसका अद्भुत आकर्षण था। उनका वर्णन वह बिना थके घण्टों तक करता रहता। लेकिन मुझको अरण्य में जाना उतना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वहाँ सूर्यदेव की झलक तक दिखाई नहीं देती। और तब मेरा मन अकारण ही क्षुब्ध हो जाता। अकारण ही वहाँ घुटन-सी प्रतीत होने लगती। शीघ्रातिशीघ्र मैं वहाँ से बाहर निकलने का प्रयत्न करता। जब खुले पठार पर आ जाता, तभी मेरा मन कुछ हलकापन अनुभव करता। भगवान् आदित्य के दर्शन कर लेने पर तो मेरी सारी श्रान्ति न जाने कहाँ चली जाती।

उस दिन कीकर की लकड़ी लेकर हम नियमानुसार लौट आये। अरण्य से शीघ्र बाहर निकलने के लिए मैं जल्दी-जल्दी पैर रखने लगा। शोण मेरे पीछे-पीछे बाहर आ ही रहा था। समीप ही एक खुले पठार पर पहुँचकर मैं रुक गया। शोण भी तुरन्त ही मेरे पीछे-पीछे आ गया। कन्धे पर रखी हुई लकड़ी को एक वृक्ष के तने के सहारे रखकर उसने मुँह पर का स्वेद पोंछा। सामने इतस्ततः सरकण्डे उगे हुए थे। उन्हीं सरकण्डों के कछार में गाय-भैसों का श्वेत-श्याम रंग का एक झुण्ड चर रहा था। उसी में एक हृष्ट-पुष्ट बारहसिंगा भी मिल गया था। अपने शानदार सींग खड़े कर वह हमारी ओर देखने लगा। प्रश्न पूछने के लिए शोण को

इतना कारण पर्याप्त था। उसने उसी क्षण मुझसे पूछा, "भैया, यह बारहसिंगा अकेला ही इस झुण्ड में कैसे आ गया रे ?" मैं भी भला उसको क्या उत्तर देता ! कुछ न कुछ कहना है, यह सोचकर मैं बोला, "रास्ता भूल गया होगा वह। या फिर इसके झुण्ड के अन्य साथी इसको भूल गये होंगे। लेकिन इस सारे समूह में वह कितना आकर्षक और सुन्दर दिखाई पड़ रहा है, है न ?" लेकिन अपने साथियों को छोड़कर अकेला ही वह क्यों घूम रहा होगा, इसका कारण बहुत देर तक विचार करने पर भी मुझको जल्दी नहीं मिल सका।

उस बारहसिंगे की ओर देखते हुए हम आगे बढ़े। मुझको उस बारहसिंगा के शानदार सींग बहुत ही अच्छे लगे थे। मैंने चलते-चलते सहज ही कानों से हाथ लगाया। मांसल कुण्डलों पर हाथ पड़ा। अपने इन कुण्डलों के कारण क्या मैं भी उस प्रभावशाली बारहसिंगे-सा दिखाई देता हूँगा ? यह विचार मेरे मन में कौंध गया।

वैसे कुण्डलों के सम्बन्ध में मैंने कई बार माँ से खोद-खोदकर पूछा था परन्तु वह उनके सम्बन्ध में कभी भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकी। एक बार तो मैंने उससे साफ़-साफ़ पूछा था, "शोण और मैं दोनों सगे भाई हैं न, फिर उसके क्यों नहीं हैं कुण्डल ?" भयभीत दृष्टि से मेरे कुण्डलों की ओर देखती हुई वह क्षण-भर चुप रही, फिर सचेत होकर बोली, "मुझसे मत पूछो यह ! अपने पिताजी से पूछो।" यह कहते समय उसके चेहरे पर बहुत घबराहट थी।

मैं उस समय पिताजी के पास गया, उनसे भी मैंने वह प्रश्न पूछा। लेकिन उन्होंने बड़ा ही विचित्र उत्तर दिया। वे बोले, "गंगामाता से पूछ इसका कारण ! कभी दिया तो इस प्रश्न का उत्तर वही तुझको देगी !" मैं विचारमग्न हो गया। गंगामाता इसका उत्तर भला कैसे दे देगी ! क्या नदी कभी बोल सकेगी ? ओह, ये बड़े लोग कैसा व्यवहार करते हैं। छोटों से वे इस तरह की बातें क्यों करते हैं ?

उस दिन सायं सबकी दृष्टि से बचकर मैं अकेला ही गंगामाता के तट पर जाकर बैठ गया। उसकी लहर-लहर से मैंने प्रश्न पूछा, "केवल मेरे ही कानों में कुण्डल क्यों हैं ?" परन्तु एक भी लहर मेरे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकी। उस दिन मुझको संसार के सभी बड़े लोग कपटी लगे। छोटों को अज्ञान के अन्धकार में रखने का काम ही वे करते हैं, नहीं तो फिर इतनी बड़ी गंगामाता चुप क्यों रही ?

दूसरे दिन सायं समय धनुष से खेलते हुए मैंने वही प्रश्न शोण से पूछा, "शोण ! सच बता, तुझको कुण्डल क्यों नहीं मिले ?" उसके उत्तर को सुनकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह बोला, "मैं भी तो यह बात नहीं जानता हूँ। लेकिन इतना अवश्य है कि तुम्हारे कुण्डल मुझको बहुत ही अच्छे लगते हैं। रात को जब तुम सो जाते हो, ये तारों की तरह अविरत जगमगाते रहते हैं। उनका नीला-सा प्रकाश तुम्हारे लाल गालों पर बिखरा रहता है।"

मैं अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। वह झूठ नहीं बोल रहा था और मुझसे तो झूठ बोलने की सम्भावना बिलकुल ही नहीं थी। मेरे मन में एकदम अनेक प्रश्न उमड़ आये। जो अन्य किसी के पास नहीं थे, ऐसे दो मांसल कुण्डल मेरे कानों में थे। इतना ही नहीं, वे चमकते भी थे। मुझको ही ये क्यों मिले ? कौन हूँ मैं ? शोण के दोनों कन्धों को झकझोरते हुए मैंने तड़पकर उससे पूछा, "शोण, मैं कौन हूँ ?"

"मेरे हिलते हुए कुण्डलों की ओर चुपचाप जी भरकर देखता हुआ वह निश्चल भाव से बोला, "मेरा बड़ा भाई वसु भैया !"

तत्क्षण मैंने उसके कन्धे छोड़ दिये, उसके उत्तर से मेरा समाधान नहीं हुआ था । मैंने सामने देखा, सूर्यनारायण अपनी असंख्य तूलिकाओं से गगनमण्डल को नानाविध रंगों से रँगते हुए अदृश्य हो रहे थे और मेरे मन में कुण्डलों का कौतूहल घनीभूत हो रहा था।

आठ

उस रात प्रयत्न करने पर भी मुझको नींद नहीं आयी। कौतूहल चंचल अश्व की तरह होता है। विचारों की वल्गा चाहे जितनी खींचो, लेकिन वह दौड़ता ही जाता है। मैं रात-भर करवटें ही बदलता रहा। एक ही प्रश्न रात-भर बार-बार मेरी आँखों के आगे नाचता रहा : "ये कुण्डल मेरे ही कानों में क्यों हैं ?" सुनते हैं कि रात में ये चमकते हैं। कैसे चमकते होंगे ये ? क्यों चमकते हैं ? मैं झटपट उठकर बिस्तर पर बैठ गया। आँखों की पुतलियों को कान तक ले जाकर यह देखने का व्यर्थ प्रयत्न करने लगा कि कुण्डल सचमुच ही चमकते हैं क्या ? लेकिन कान आँखों की कक्षा में किसी तरह आ ही नहीं रहे थे। मैं अधीर हो उठा, अपने कान किस प्रकार दिखाई दे सकेंगे; बहुत देर तक यही सोचता रहा। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। एक बार इच्छा हुई कि शोण को जगा हूँ और उससे पूछूँ कि 'मेरे कुण्डल चमक रहे हैं क्या, देखो तो !' लेकिन वह शान्तिपूर्वक माँ की गोद में सो रहा था। यदि उसको जगाता तो माँ भी जग जाती। पिताजी तो हस्तिनापुर में थे। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ ? इतने में ही मुझको पिताजी के शब्द याद आये, "गंगामाता ही कभी तुझको तेरे प्रश्न का उत्तर देगी।" मैं धीरे से तल्य पर से उठा । अचक से मैंने पर्णकुटी का द्वार खोला और गंगामाता की ओर चल दिया। आकाश श्वेत-शुभ्र झिलमिलाते तारों से खचाखच भरा हुआ था। शोण ने कहा था, 'तेरे कुण्डल तारों की तरह चमकते हैं।' इसलिए बीच-बीच में तारे कैसे चमकते हैं, यह ध्यान से देखने लगा। लेकिन इससे मुझको सन्तोष ही नहीं होता था। मज़ीरे निरन्तर किर-किर कर रहे थे। सारा चम्पानगर मन्दिर के गर्भगृह की तरह निश्चल और शान्त था। कभी-कभी किसी की अश्वशाला के घोड़ों की हिनहिनाहट सुनाई पड़ जाती

थी। तारों के धुंधले और अस्पष्ट प्रकाश में सामने का मार्ग साफ़ दिखाई नहीं पड़ रहा था। मैं जल्दी-जल्दी पैर रखता हुआ चलने लगा। ठण्डी हवा के झोंके बार-बार शरीर से टकरा रहे थे। उत्तरीय ओढ़ना भी मैं भूल गया था। बहुत देर तक चलने के बाद मैं नदी के किनारे पर आया। दिन में उछलते हुए पानी का वह विशाल पात्र अब रात्रि में बहुत ही गम्भीर और शान्त लग रहा था। दिन में जो विशाल-पात्र क्षितिज को छूता हुआ-सा प्रतीत होता था, वही अब अन्धकार के साम्राज्य में एकदम लीन-सा हो गया था। केवल किनारे के पत्थरों पर और बालू पर टकराने वाली लहरों की अविरत छलछल ध्वनि मात्र सुनाई देने लगी। उस ध्वनि से वहाँ की शान्ति बहुत ही गम्भीर बन गयी थी। मैं ज्यों का त्यों खड़ा रहकर, कान लगाकर, उस शान्ति की आहट लेने लगा। क्षण-भर के लिए तो मैं यह बिलकुल ही भूल गया कि मैं यहाँ कुछ पूछने आया हूँ। विचारों की तन्द्रा में उसी तरह गंगामाता के पात्र में उतर गया। आकाश के तारों का स्वच्छ प्रतिबिम्ब उस शान्त जल में पड़ रहा था। उनमें दो तारों का प्रतिबिम्ब तो सबसे अधिक स्पष्ट और सुन्दर दिखाई पड़ रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर बाद एकाध लहर आ जाती और वह प्रतिबिम्ब ज़ोर से हिलता हुआ लम्बा हो जाता। अंजलि में पानी लेने के लिए मैं नीचे झुका। वे दो तारे और अधिक चमचमाने लगे। मैं अपने मुँह को पानी के एकदम समीप ले गया। वे दो तारे मेरे कान के दोनों कुण्डल ही थे। नीचे गंगा के पानी के दर्पण में वे मन्द-मन्द चमक रहे थे। बीच-बीच में लहरों के साथ लम्बा आकार धारण कर रहे थे। मैं अपनी मुखाकृति को पानी में एकटक देखने लगा। वे दोनों कुण्डल नीले प्रकाश के दोनों ओर वलय फेंक रहे थे। वह मेरी मुखाकृति का अस्पष्ट रूप था। मेरे कुण्डल रात में चमकते हैं, यह रहस्य गंगामाता ने मुझको बताया। लेकिन चमकनेवाले ये कुण्डल अकेले मुझको ही क्यों मिले ? कौन हूँ मैं ? कौन ?

मैं उसी स्थिति में पानी में खड़ा रहा। मेरे मन की एक शंका दूर हो गयी थी। लेकिन दूसरी ज्यों की त्यों थी, “ये चमकनेवाले कुण्डल मुझको ही क्यों मिले ?” तीन-चार घण्टों तक मैं पानी में उसी तरह खड़ा रहा। प्रातःकाल किसी ने किनारे पर स्थित मन्दिर का घण्टा बजाया और मुझे एकदम पर्णकुटी की याद आयी। मुझे न देखकर माँ घबरा गयी होगी। जल्दी लौटने का विचार कर सामने देखा तो पूर्व दिशा में धीरे-धीरे अन्धकार दूर होने लगा था। अन्धकार के साम्राज्य में लीन गंगामाता का पात्र पुनः नीले आकाश के हाथ में हाथ दिये खड़ा था। वर्षा की पहली ही झड़ी के बाद धरतीमाता की गोद से धीरे से जैसे कोई अंकुर झाँकने लगता है, वैसे ही दूर गंगामाता के गर्भ से सूर्यदेव ऊपर आ रहे थे। मैंने उनकी ओर देखा। मेरा मन शान्त हो गया था। अनजाने ही अंजलि में पानी भर लिया। आँखें मूंदकर उस पानी का अर्घ्य धीरे-धीरे मैंने सूर्यदेव को दिया और लौट आया।

रात में अस्पष्ट दिखाई देनेवाला मार्ग अब प्रकाशित होता जा रहा था। रात में मन्दिर के गर्भगृह-सा प्रतीत होनेवाला चम्पानगर अब मन्दिर के शिखर " फहरानेवाले ध्वज की तरह

चेतन प्रतीत होने लगा था। लौटकर पहुँचते ही माँ ने मुझसे पूछा, “कहाँ गया था ?” वह घबरा गयी थी।

“गंगामाता के तट पर ! तुमने तो बताया नहीं, लेकिन गंगामाता ने यह दिखा दिया कि मेरे कानों के कुण्डल किस तरह चमकते हैं !”

अत्यन्त भयभीत दृष्टि से माँ ने मेरी ओर देखा। जब-तब वह मेरी ओर ऐसी ही विचित्र दृष्टि से देखा करती थी। वह मुझसे कुछ और भी पूछना चाहती थी। उसको टालने के लिए मैं तुरन्त ही बाहर आ गया।

नौ

हमारी पर्णकुटी के सामने एक बड़ा वट वृक्ष था। वृक्ष क्या, अनेक रंगों और अनेक प्रकार की बोली बोलने वाले पक्षी जिस पर रहते थे, ऐसा छोटा-सा एक पक्षि-नगर ही था। गरमियों में जब वह वृक्ष छोटे-छोटे लाल रंगों के फलों से लद जाता, तब वह ऐसा लगता, जैसे टिमटिमानेवाले असंख्य तारों से खचाखच भरा हुआ आकाश हो! इस समय उसपर रहनेवाले पक्षी बड़े ही आनन्दित होते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियाँ बोलकर वे अपना आनन्द शायद एक-दूसरे को बताकर प्रकट करते थे। उनकी उस चहचहाहट को मैं अपने आपको भूलकर घण्टों कान लगाकर सुनता रहता था। मेरी इच्छा होती कि मैं भी इस वृक्ष जैसा ही बनूँ। मुझपर लगने वाले सभी फलों का ये पक्षी भोग करें। कभी किसी वृक्ष पर न बैठनेवाला सर्वश्रेष्ठ पक्षिराज गरुड़ भी मेरे पास आये। सरसर करते हुए जीवित सर्प के अतिरिक्त कुछ भी न खानेवाला वह पक्षिराज पहले बड़ी शान से मुझसे कहे कि छिः ! ऐसे पिलपिले फल खाने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। और मैं अपने हरे-भरे पत्तों के हाथ जोड़कर नमस्कार कर, उससे कहूँ, ‘फल मत खाओ पक्षिराज, लेकिन विश्राम करने के लिए तो थोड़ी देर रुको ।’ वा थोड़ी देर रुके और फिर सर से ऊँची उड़ान भरने से पहले जाते-जाते मुझपर लगे हुए एक फल को धीरे से तोड़ ले। पक्षिराज की इस पराजय पर आनन्दित होकर मैं अपने पत्तों के असंख्य हाथों से तालियाँ बजाऊँ। देह पर लिपटी हुई लताओं के उत्तरीय बनाकर आनन्दातिरेक से उनको अन्तरिक्ष में उड़ाऊँ।

मैं उस वृक्ष की ओर देख रहा था। उसका आकार गदा की तरह था। ऊपर शाखाओं का गोलाकार घेरा और नीचे सुदृढ़ तना। इतने में ही अजीब-सी 'खाड़' आवाज़ हुई, इसलिए मैंने उस ओर देखा। हमारे पड़ोस में रहनेवाला भगदत्त नामक सारथी अपने हाथ में लगे हुए प्रतोद को फटकार रहा था। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा। हाथ में लगे प्रतोद को गरदन के चारों ओर लपेटता हुआ वह बोला, “क्यों वसू, क्या देख रहे हो ?”

"कुछ नहीं, वह पक्षी देख रहा हूँ।" मैंने उत्तर दिया।

"इस वटवृक्ष पर क्या पक्षी देखते हो, पक्षी देखने हों तो अरण्य में अशोक-वृक्ष के पास जाकर देखो। इस वटवृक्ष पर अधिकतर कौए ही रहते हैं। सड़े पके फलों को खाने के लिए वे ही आते हैं।" हाथ में लगे प्रतोद के डण्डे से नीचे पड़े हुए फलों को फेंकता हुआ वह बोला।

"कौए ?"

"हाँ ! भारद्वाज, श्येन, कोकिल आदि पक्षी भूले-भटके भले ही आ जायें यहाँ। एकाध कोकिल आ जाता है, वह भी कोकिला की धूर्तता से।"

"धूर्तता कैसी ?" मैंने उत्सुकता से उससे पूछा।

"अरे, कोकिला अपना अण्डा मादा कौआ कि अनुपस्थिति में चुपचाप उसके घोंसले में लाकर रख देती है। अण्डे का रंग और आकार बिलकुल मादा कौआ के अण्डे-जैसा ही होता है। इसलिए मादा कौआ को यह सन्देह ही नहीं होता कि अपने घर में किसी और का अण्डा रखा है। फिर मादा कौआ कोकिला के अण्डे को सेती है। उसके बाद सप्तस्वर में तान लेकर आस-पास के वातावरण को मुग्ध कर देने वाली कोकिल मादा कौआ के नीड़ में बड़ा होने लगता है।" उसने प्रतोद को कण्ठ के चारों ओर लपेट लिया।

"कोकिल और वह मादा कौआ के घोंसले में ?" मैं विचार करने लगा। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? भगदत्त की बात असत्य न होगी, इसका क्या प्रमाण है ? और थोड़ी देर के लिए यदि यह सत्य मान भी लिया जाये तो क्या हानि है। हो सकता है कि मादा कौआ के घर में कोकिल पलता हो। लेकिन वह कौआ बनकर थोड़े ही पलता है। वसन्त ऋतु का अवसर आते ही उसकी सप्तस्वरों की तान पक्षियों से स्पष्ट कह ही देती है कि, "मैं कोकिल हूँ। मैं कोकिल हूँ।"

दस

एक दिन नगर के सभी बालक इकट्ठे होकर नगर के बाहर पठार पर खेल रहे थे। किसी ने राजसभा का खेल खेलने की कल्पना निकाली थी। सचमुच बालक प्रतिसृष्टि निर्माण करनेवाले ऋषि ही नहीं होते हैं क्या ? उस दिन सबने राजसभा का दृश्य उपस्थित कर रखा था। जो हट्टे-कट्टे थे, उन्होंने सभा के कोशपाल, अश्वपाल, सेनापति, अमात्य, सचिव आदि सामान्य पदों पर अपना अधिकार कर रखा था। सभा की जानकारी उन्होंने कहां से प्राप्त कर ली थी, यह बड़े आश्चर्य की बात थी।

बीच में एक गड़ा हुआ पाषाण खड़ा था। उसे उन्होंने राजसिंहासन बना लिया था। शोण उनमें सेनापति बना हुआ था। मैं उसको बुलाने जा रहा था, क्योंकि उसी समय पिताजी हस्तिनापुर से गाँव आये थे। आते ही उन्होंने मुझको एक बड़ी ही आनन्ददायक बात बतायी। वापस जाते समय वे मुझको अपने साथ हस्तिनापुर ले जानेवाले थे। उन्होंने मुझको बताया कि वहाँ द्रोण नामक अत्यन्त युद्ध-कुशल और विद्वान् गुरुदेव हैं। पिताजी मुझको भी युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी देख-रेख में रखना चाहते थे। उस समाचार को सुनते ही मुझको एकदम शोण की याद आ गयी, लेकिन वह पर्णकुटी में नहीं था। मैंने निश्चय किया कि उसको समझा-बुझाकर यह समाचार बताऊँगा। क्योंकि भय था कि उस समाचार को सुनकर कहीं वह भी हस्तिनापुर चलने के लिए माता जी और पिताजी से हठ न कर बैठे ! उसको समझाना हम सबके ही लिए टेढ़ी खीर थी।

मैं जैसे ही पठार पर आया, सब बालकों ने एकदम ज़ोर से कोलाहल मचाया, “वसु को बुलाओ, वसु को बुलाओ !” शोण ने तो आनन्द से हाथ उठाकर मुझको ज़ोर से पुकारा, “वसु, भैया, जल्दी, आ।” मैं झटपट उनके पास गया। जैसे ही मैं वहाँ पहुँचा, सब मुझको घेरकर खड़े हो गये। सबके सब बहुत ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे, इसलिए मैं तत्क्षण यह समझ ही नहीं पाया कि वे क्या कह रहे हैं ? “राजा...वसु...कुण्डल...सेनापति” आदि विचित्र शब्द गूँजते हुए कानों से टकराने लगे। दोनों हाथ उठाकर अन्त में मैं ही ज़ोर से चिल्लाया; “पहले सब चुप तो हो जाओ !” उसके बाद शीघ्र ही सब शान्त हो गये।

“हम सबने राजसभा तैयार की है। केवल योग्य राजा ही हमको नहीं मिल रहा था। तेरे कुण्डलों के कारण हमने तुझी को राजा बनाने का निश्चय किया है।” सबकी ओर से ब्रह्मदत्त बोला। सबने एक साथ चिल्लाकर उसका समर्थन किया।

“अरे, लेकिन मैं तो शोण को बुलाने के लिए आया हूँ।” मैं बोला।

“ऊँहूँ, शोण नहीं, सेनापति ! और सेनापति को बुलाने के लिए महाराज नहीं जाया करते हैं। हम-जैसे सेवकों को आज्ञा दी जाती है।” नटखट बाहुकेतु धूर्तता से बोला।

“और आप हैं सेनापति ! आपको महाराज को इस प्रकार नाम लेकर बुलाना उचित है क्या ? कह रहे थे, ‘अरे वसू इधर आ !’ सेनापति ही अनुशासन-भंग करने लगेंगे तो फिर सेना क्या करेगी ?” अमात्य बने हुए ब्रह्मदत्त ने शोण को चेतावनी दी।

मैं टालमटोल कर ही रहा था कि उन्होंने मेरी बाँह पकड़कर मुझको एकदम उस काले पत्थर के सिंहासन पर ले जाकर बैठा दिया। अत्यन्त आदर से झुकता हुआ ब्रह्मदत्त बोला, “चम्पानगराधिपति वसुसेन महाराज की...”

सबने अत्यन्त आनन्द से उसके प्रत्युत्तर में कहा, “जय हो !” सब नीचे बैठ गये। अब मेरा छुटकारा होना असम्भव था, इसलिए मैं भी राजा की शान से बोला, “अमात्य, सभा

का काम-काज सभा के सम्मुख प्रस्तुत करने की अनुज्ञा दी जाती है।"

इस प्रकार हमारी बातें हो ही रही थीं कि पास में चरते हुए जानवरों में से एक विशालकाय वृषभ जय-जयकार की चिल्लाहट से बिदक गया। अपनी झुब्बेदार पूँछ एकदम ऊँची खड़ी कर ली। आवाज जिस ओर से आ रही थी, उस ओर कान लगाये, फुफकारते हुए, नथुने फुलाये और सींगों को आगे किये हुए वह कान उठाकर सीधा उस ओर दौड़ने लगा, जिस ओर हम सब बैठे हुए थे। ब्रह्मदत्त ने उसका वह भयंकर रूप देखा और जान बचाकर जिधर अवसर मिला उधर भागता हुआ, वह हाथ ऊँचा कर चिल्लाया, "सेनापति...महाराज... भागिए-भागिए... राज्य पर...संकट...!"

वर्षा का पानी धरती पर पड़ते ही जैसे क्षण-भर में ही, सब ओर फैल जाता है, . वैसे ही सबके सब क्षण-भर में नौ-दो-ग्यारह हो गये। शोण मेरे पास आकर भाग जाने के लिए मेरा हाथ पकड़कर खींचने लगा। मैं झटपट उसी पाषाण पर तनकर खड़ा हो गया। शोण को ऊपर चढ़ाकर उसको अपने पीछे खड़ा कर लिया। झंझावात की तरह वह वृषभ हमारी ओर आने लगा। उसकी आँखें आग उगल रही थीं। सामने जो कोई वस्तु दिखाई दे, उसी को ठोकर मारकर उसकी धज्जी उड़ाने के लिए उसके मस्तक की नस-नस शायद व्याकुल हो उठी थी। उसके मुख से निरन्तर लार टपक रही थी। यदा-कदा वह किरणों में चमक उठती थी। पाषाण के सम्मुख आते ही वह क्षण भर रुका। अगले पैरों के खुरों से उसने खर-खर मिट्टी खोदी और सींग गड़ाकर वह सूची बाण की तरह एकदम उछला। मैंने क्षण-भर आकाश की ओर देखा। सूर्यदेव अपने रथ के असंख्य घोड़ों को केवल अपने दो हाथों से ही सरलता से सँभाल रहे थे। कुछ समझ में आये, इसके पहले ही मैंने शोण को पीछे धकेल दिया और दूसरे ही क्षण मेरे हाथों की दृढ़ पकड़ वृषभ के सींगों के चारों ओर कस गयी। शोण ने 'भैऽयाऽऽ' कहकर जो चीत्कार किया वह मुझको अस्पष्ट-सा सुनाई दिया। इसके बाद क्या हुआ, यह मुझको अच्छी तरह याद नहीं रहा। लेकिन मुझको उठाकर फेंकने के लिए उस जानवर ने जैसे-जैसे ज़ोरदार झटके मारे थे, वैसे ही वैसे मेरे दोनों हाथ उसकी सींगों के चारों ओर कसकर लिपटते गये थे। मुझको ऐसा लगा, जैसे कि मेरा शरीर रथचक्र की तप्त लौह-हाल की तरह प्रखर हो गया हो। इसके बाद वसु कौन था, कहाँ था, इसका कुछ भी पता मुझको नहीं चला।

जिस समय मेरी आँख खुली, मैं उसी पठार पर था; लेकिन मेरा सिर माँ की गोद में था। समीप ही पिताजी खड़े थे। उन्होंने हाथ में उस वृषभ की नाथ पकड़ रखी थी। थोड़ी देर पहले आँखें लाल किये उछलनेवाला वृषभ अब थककर हाँफता हुआ खड़ा था। उसके मुँह से शायद झाग निकल रहा था। मेरे सिर के पास शोण खड़ा था। वह टकटकी बाँधकर मेरी ओर देखने लगा। मुझको आँखें खोलते देखकर उसके मुँह पर हँसी की एक लहर-सी चमक गयी। मैंने इधर-उधर देखा। थोड़ी देर पहले खेल करनेवाले ब्रह्मदत्त, वीरबाहु और उसके

साथी फिर आसपास इकट्ठे हो गये थे। मुझको एक राजसभा की याद आयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि क्षण-भर पहले मेरे शरीर में जैसे कोई अद्भुत तप्त शक्ति उतर आयी हो। क्षण-भर में ही वह शक्ति न जाने कहाँ चली गयी थी ? मैं बहुत ही थका-थका-सा अनुभव कर रहा था। लेकिन मेरे शरीर में कहीं भी पीड़ा नहीं हो रही थी। मैं झटपट उठकर बैठ गया। कहीं-न-कहीं मुझको चोट आ गयी होगी, यह सोचकर मैंने अपने शरीर की ओर देखा। देह पर कहीं भी ज़रा-सी खरोंच तक नहीं थी। मैं उठकर खड़ा हो गया। पिताजी के पास जाकर उनके हाथ से नाथ अपने हाथ में ले ली। उस हाँफते हुए वृषभ की पीठ पर कसकर थाप मारी। उसकी त्वचा भय से क्षण-भर को सिहर उठी। अपनी पूँछ अन्दर की ओर करता हुआ वह तत्क्षण मुझसे दूर हट गया। पास ही उस वृषभ का गोपाल खड़ा था। मैंने उस वृषभ की नाथ उसके हाथ में दे दी। वह गोपाल आँखें फाड़कर मेरी ओर देखता हुआ अपना वृषभ लेकर चला गया। राजसभा भी समाप्त हो गयी।

ग्यारह

जो कुछ हुआ था, उसका पूरा हाल शाम को सुना। शोण ने बताया कि उस वृषभ ने मुझको परास्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे, लेकिन मेरे आगे उसकी एक न चली। लगभग दो घण्टों तक वह उछल-उछलकर अपने सिर को झटकता रहा था। उसने अपने शरीर को बहुत-से विचित्र झटके दिये। बीच-बीच में वह जोर से कूदता, पैरों के खुरों से जमीन कुरेदता; लेकिन अन्त में वह थक गया और चुपचाप खड़ा हो गया। उसके मुँह से झाग निकलने लगा। वह लगातार 'पूँ-' कर रहा था। इतने में ही शोण भागता हुआ गया और पिताजी को बुला लाया। उन्होंने ही उसके नाथ डाली, लेकिन मेरे हाथों की पकड़ छुड़ाते समय उन्हें बहुत ही परेशानी हुई। सुनते हैं कि मेरी देह के हाथ लगाते ही ऐसी जलन होती थी, जैसे कि आग को छू लिया हो।

मैं विचारमग्न हो गया। दो घण्टे तक एक जंगली पशु से जूझते रहने पर भी मेरे शरीर पर कोई खरोंच तक नहीं आयी ! क्यों ? मेरा शरीर इतना कैसे तप्त हो गया कि छूते ही छाला पड़ जाता था ?

मैंने उत्सुकतावश शोण से पूछा, “शोण, खेलते समय कभी तुझे चोट लगी है क्या?”

वह बोला, "अनेक बार। एक बार तो मैंने गंगा के पानी में सिर के बल गहरा गोता लगाया। पानी में नुकीली शिला थी। मेरा सिर एकदम उसी से जा टकराया। तत्क्षण आँखों के सामने तारे चमकने लगे। पानी के बाहर निकला तो पानी का रंग एकदम लाल। मेरे सिर में चोट लग गयी थी। ब्रह्मदत्त ने मुझको पानी से बाहर निकाला था। न जाने किस ओषधि के पत्ते पत्थर से पीसकर उसका रस मेरे सिर पर निचोड़ा था ! माँ क्रुद्ध होगी, यह सोचकर

मैंने उसको यह बात आज तक नहीं बतायी है। तुम भी मत कहना !" मेरे सामने सिर झुकाकर उसने चोट का निशान मुझको दिखाया ।

शोण को चोट लगती है। उसकी देह से रक्त बहता है। तो फिर मेरी देह से भी वह बहना ही चाहिए। मैं झटपट उठा और सीधा पर्णकुटी में गया। वहाँ अनेक धनुष-बाण पंक्ति-बद्ध रखे हुए थे। सर्र से उनमें से एक बाण मैंने खींच लिया। उसका तीक्ष्ण फलक चन्द्र-रेखा की तरह चमक उठा। निश्चय कर हाथ के उस बाण को मैंने सिर से ऊँचा उठाया। हाँ, अब उसकी तीक्ष्ण नोक ठीक पैर के पंजे पर आयेगी, इस तरह उस बाण को पकड़कर हाथ से छोड़ दिया। अब वह कच् से मेरे पैर में घुस जायेगा, यह सोच सिहरकर मैंने तत्क्षण आँखें मीच लीं। आँखों के सम्मुख शुभ्र तेजस्वी प्रकाशवलय तैरने लगे। बाण पैर पर पड़ा, लेकिन मुझको केवल इतना ही लगा जैसे कि घास की सींक सी चुभ गयी हो ! बाण की नोक मेरे पैर की खाल में घुसी नहीं थी। मुझे लगा कि मैंने बाण छोड़ने में ही भूल कर दी है, इसलिए मैंने बार-बार उसको अपने पैर पर गिराया। लेकिन एक बार भी उसकी नोक मेरे पैर की त्वचा में नहीं घुस पायी। मैंने गौर से अपने पैर की ओर देखा। वहाँ छोटा-सा कोई घाव तक नहीं हुआ था। उत्सुकता और सन्देह का राक्षस मेरे सामने अनेक प्रश्नों की लटें बिखराकर नाचने लगा। मैं अपने हाथ में लगे बाण की नोक को विक्षिप्त की तरह जंघा में, बाँहों में, छाती में, पेट में - जहाँ जगह मिली वहीं पूरी शक्ति से घुसाने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन कहीं भी वह शरीर के भीतर तिल-भर भी नहीं घुस सका। क्यों नहीं घुस सका वह ? क्या मेरे शरीर की त्वचा अभेद्य है ? मन के आकाश में सन्देह की एक बिजली इस ओर से उस छोर तक चमक गयी। हाँ ! निश्चय ही मेरी सम्पूर्ण देह पर किसी से भी न टूट सकनेवाला अभेद्य कवच होना चाहिए। अभेद्य कवच ! वाह, दौड़ते हुए रथ में से भी यदि मैं कूद पड़ू तो मुझको कभी चोट नहीं लगेगी ! पत्थर, कंकड़ या किसी शस्त्र से भी मैं कभी घायल नहीं हो सकूँगा। घायल नहीं हो सकूँगा— इसका अर्थ ही यह है कि मैं कभी मरूँगा नहीं। कभी नहीं मरूँगा। मेरी यह सुवर्ण रंगी त्वचा सदैव इसी तरह चमकती रहेगी। मैं अमर रहूँगा। मेरी त्वचा अभेद्य है, तभी तो आज उस उन्मत्त वृषभ से लड़ते समय मुझको कहीं चोट नहीं लगी। मुझको कवच मिला है। मेरे कानों में जगमगाते हुए कुण्डल हैं। शोण मेरा सगा भाई है। लेकिन फिर भी उसके पास न कवच है, न कुण्डल हैं। अकेले मुझको ही ये क्यों मिले हैं ? मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? सन्देह की टिटहरी मेरे मन के आकाश में कर्कश स्वर में किकियाने लगी। उलटे-सुलटे विचारों की अग्नि आँच देने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मैं इन सबसे अलग कोई हूँ, इनमें और मुझमें बहुत बड़ा अन्तर है। लेकिन इन विचारों से स्वयं मुझको बहुत दुख होने लगा। जिस राधामाता का मैंने दूध पिया था, जिसके रक्त-मांस का उत्तराधिकार पाकर मैं बड़ा हुआ था, जिसने मेरे लिए कठिन परिश्रम के पर्वत को धारण किया था, उसके प्रेम से—उपर्युक्त विचारों द्वारा क्या मैं कृतघ्न नहीं हो रहा था ? “वसुभैया, वसुभैया” कहकर जिसने भोले भाव से अहर्निश मेरे नाम का जप किया था, अपने उस

स्नेही भाई की क्या यह प्रतारणा नहीं थी ? मेरा मन विद्रोह कर उठा और कठोर शब्दों में मुझको चेतावनी देने लगा, 'मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ?'-यह पागलों की तरह मत चिल्ला ! ध्यान रख कि तू तात अधिरथ और राधामाता का पुत्र है ! सूतपुत्र कर्ण है ! शोण का बड़ा भाई कर्ण है ! सारथियों के कुल का एक सारथी है ! एक सारथी !"

बारह

दूसरे दिन पिताजी ने मुझको हस्तिनापुर चलने के लिए तैयार रहने को कहा । मैं उनकी आज्ञानुसार आवश्यक एक-एक वस्तु एकत्रित करने लगा। मन में अनेक विचारों का जमघट लगा हुआ था। अब चम्पानगर छोड़ना पड़ेगा। यहाँ के आकाश से स्पर्धा करनेवाले किंशुक, सप्तपर्ण, डण्डणी, मधूक, पाटल और खदिर के वृक्ष अब मुझसे अलग होनेवाले थे। यहाँ के पत्ररथ, श्येन, कोकिल क्रौंच, कपोत आदि पक्षियों से अब मैं बहुत दूर जानेवाला था। यहाँ के ब्रह्मदत्त, वीरमित्र, बाहुकेतु आदि मित्रों से बिछुड़कर मैं दूर जानेवाला था । वटवृक्ष की घनी छाया में स्थित तथा विगत चौदह वर्षों से अपने प्रेम से मुझे तृप्त करनेवाली उस सुन्दर पर्णकुटी से मैं अब बिछुड़नेवाला था। जिसने मुझको प्राणों से अधिक स्नेह किया था, गाय के बछड़े की तरह पाला था, हरिणी के शावक की तरह सँभाला था, उस राधामाता को छोड़कर मैं अब दूर न जाने कहाँ जानेवाला था ! जिसके दूध की बूंदें मेरे अधरों पर अब भी नहीं सूखी थीं, अपनी उस प्रिय माता को मैं आँसू के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिये जा रहा था। 'वसु भैया, वसु भैया' यह नाम रटते-रटते जिसके होंठ कभी थके नहीं थे, उस चौकन्ने निरपराध और भोले-भाले शोण से अब मैं अलग होनेवाला था और सबसे बड़ी बात जो मेरे मन में निरन्तर चुभ रही थी, वह यह थी कि यहाँ गंगामाता के विशाल सलिल पर ऊपर उठते हुए, मेरे लिए उत्साह का प्रचण्ड प्रवाह लेकर आनेवाले सूर्यदेव को पुनः उसी रूप में मैं यहाँ पर न देख सकूँगा। मैं हस्तिनापुर जानेवाला था। कैसा होगा वह हस्तिनापुर! सुनते हैं, वहाँ बड़े-बड़े प्रासाद हैं। प्रचण्ड व्यायामशालाएँ, अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरी हुई शस्त्रशालाएँ, हिनहिनाते हुए विशालकाय घोड़ों की पंक्तियों से भरी हुई अश्वशालाएँ, सप्तपर्ण वृक्ष की तरह आकाश के गर्भ में जिनके कलश विराजमान हैं, ऐसे भव्य मन्दिर वहाँ हैं। और द्वार की किवाड़ों की तरह जिनके वक्षस्थल हैं, जिनकी भुजाएँ और जंघाएँ शक्तिशाली हैं, ऐसे असंख्य योद्धाओं से वह हस्तिनापुर भरा हुआ है। सुनते हैं कि वह कुरुकुल के राजाओं की राजधानी है ! किस दिशा में होगा वह ?

विचारों में लीन मैं, जो वस्तु हाथ में आ जाती थी उसी को लाकर झटपट रथ के पास रखता जा रहा था। इसी समय बाहर से शोण आ गया। वह भी मेरी सहायता करने लगा। उसको अब भी यह पता नहीं था कि आज मैं भी जा रहा था। वह बोला, “वसु भैया, पिताजी हर बार रथ लेकर यहाँ आया करें तो कितना अच्छा हो, है न ? फिर तो हम लोग रथ में खूब घूमा करें।” मैंने कुछ भी न कहा। ‘आज मैं तुझको छोड़कर जाऊँगा’ यह बात उससे कैसे कहूँ, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। अन्त में जाने के लिए पिताजी रथ में घोड़े जोड़ने लगे। शोण स्वयं उनको एक-एक घोड़ा लाकर देने लगा। द्वार में खड़ी हुई माता को मैंने झुककर वन्दन किया। मुझको ऊपर उठाते हुए उसने देर तक मेरे मस्तक का आघ्राण किया। मुझको हृदय से लगाकर शोक से अवसन्न हो बोली, “एक बात ध्यान रखना वसु ! गंगा के पानी में कभी गहराई में मत जाना !” उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी। उनमें से दो आँसू की बूंदें मेरे सिर पर पड़ीं। मेरी समस्त देह रोमांचित हो गयी। वायु की गति से मेरे शरीर का रक्त अभिसरण करने लगा। मेरे रक्त की एक-एक बूँद उन आँसुओं से अत्यन्त प्रेम से कह रही थी, “मात ! तुम्हारे इस उपदेश का मूल्य मैं कैसे सँभालकर रखूँ ? केवल इतना ही कहता हूँ कि साक्षात् मृत्यु के आने पर भी तेरा वसु सत्य से तिल-भर भी कभी विचलित नहीं होगा !”

उसे कुछ याद आ गया, पुनः पर्णकुटी में गयी, तुरन्त ही बाहर आकर उसने मेरे हाथ पर एक चाँदी की छोटी-सी पेटी रख दी। अत्यन्त दुख-भरे स्वर में वह बोली, “वसू, जब-जब तुझको मेरी याद आये, तब-तब तू इस पेटी का दर्शन किया करना। मेरे स्थान पर इसी को देखना ! यह तुम्हारी माँ ही है, यह समझकर इसको सँभालकर रखना !”

मैंने पेटी उत्तरीय में अच्छी तरह बाँध ली। माता को फिर एक बार वन्दन किया। उसने काँपते हाथ से दही की कुछ बूंदें मेरी हथेली पर डालीं। मैंने उनको ग्रहण किया। एक बार उस सम्पूर्ण पर्णकुटी पर दृष्टि डालकर मैंने उसको आँखों में भर लिया। फिर मुड़ा। रथ तैयार था ही। शोण पिताजी से कुछ पूछ रहा था। पिताजी ने मुझसे रथ में बैठने को कहा।

जैसे ही मैं रथ में बैठा, शोण ने पिताजी से पूछा, “भैया कहाँ जा रहा है ?” अबतक उसकी आँखों में आकुलता थी। वे अब रुआंसी हो गयी थीं।

“मेरे साथ हस्तिनापुर जा रहा है। तू भीतर जा।” पिताजी ने घोड़ों की वल्गाएँ अपने हाथ में लेकर एकदम उनकी पीठ पर ज़ोर से कशाघात करते हुए कहा। घोड़े एकदम उछले और तेज़ी से दौड़ने लगे। शोण हाथ उठाकर “भैया रुक जा ! भैया रुक जा SS-” कहता हुआ रथ के पीछे दौड़ने लगा। माँ ने आगे बढ़कर तत्क्षण उसको पकड़ लिया। मैंने सन्तोष की साँस ली। रथ आगे दौड़ने लगा। लेकिन शोण फिर माँ के हाथों से छूट गया था। दूर अन्तर पर उसकी छोटी-सी आकृति आगे बढ़ती हुई दिखाई दे रही थी। उत्तरीय सँवारता हुआ एक हाथ उठाये वह अब भी दौड़ रहा था। हम लोग नगरी की सीमा तक आ पहुँचे । मैंने सोचा

था कि शोण हारकर अन्त में वापस लौट जायेगा। लेकिन हाथ उठाकर वह अब भी दौड़ रहा था। मैंने पिताजी से रथ रोकने को कहा। हमको रुकते देखकर वह और ज़ोर से दौड़ने लगा। परन्तु भोले-भाले बालक-जैसे लगनेवाले शोण में भी कितना बड़ा साहस था ! वह मेरे साथ आना चाहता था, इसलिए वह सब कुछ भूलकर दौड़ रहा था। कितना हठी था वह ! हठी क्यों, कितना स्वाभाविक और निश्छल प्रेम था उसका मुझपर ! थोड़ी देर में ही वह हाँफता हुआ हमारे पास आ गया। उसकी किशोर मुखाकृति स्वेद से तर हो गयी थी। वह बहुत थक गया था, लेकिन उस स्थिति में भी तत्क्षण आगे बढ़कर वह तेज़ी से उछलकर रथ में कूद पड़ा। रुआँसा होकर, हाँफने के कारण टूटे-फूटे शब्दों में, वह बोला, “मुझको छोड़कर जा रहा है ? क्यों रे भैया? तू जायेगा तो...तो मैं भी तेरे साथ ही चलूँगा; वापस नहीं जाऊँगा मैं!” मैंने पिताजी की ओर देखा। क्षण-भर में ही कुछ निश्चय कर बोले, “ठीक है; तू भी चल !” शोण आनन्द-विभोर होकर एकदम मुझसे लिपट गया। मैंने उत्तरीय से उसके मुख पर से स्वेद-बिन्दु पोंछे। सचमुच कितना भाग्यशाली था मैं ? मुझको शोण जैसा स्नेही भाई मिला था।

नगरी के आस-पास के परिचित स्थल पीछे छूटने लगे। अगल-बगल की घनी वनराजि में चम्पानगरी अदृश्य होने लगी। मेरा बचपन भी अदृश्य होने लगा। आस-पास की वह हरियाली, जिस पर मेरे बचपन के चिह्न अंकित थे, क्षण प्रतिक्षण मेरी आँखों से ओझल होने लगी। बकुल, खदिर, डण्डणी के वृक्ष छूटने लगे। चम्पानगरी की हमारे पड़ोसियों की कुकुरमुत्तों की तरह दिखाई देनेवाली पर्णकुटियाँ पीछे छूटने लगीं। दो दिन पहले जिस पठार पर हमने राजसभा का खेल रचा था, नगरी के बाहर का वह पठार सामने आया। उसपर मध्य भाग में वह काला पाषाण एकाकी खड़ा-खड़ा तप रहा था। मुझको राजा के रूप में मान देनेवाला पाषाण का वह कल्पित सिंहासन —महाराज वसुसेन का वह सिंहासन—मुझको मौन भाषा में विदा करने लगा। हाथ उठाकर मैंने उसको और चम्पानगरी को वन्दन किया। मेरा जीवन बचपन की हरियाली छोड़कर दौड़ने लगा-चम्पानगरी से हस्तिनापुर की ओर !

तेरह

हस्तिनापुर ! कुरु राजाओं की समर्थ और समृद्ध राजनगरी ! महापराक्रमी योद्धाओं की नगरी ! अनेकविध कलाकारों की नगरी ! जिस नगरी के मैंने मन ही मन अनेक चित्र खींचे थे, जिस नगरी के सम्बन्ध में पिता के मुख से आज तक मैं केवल सुनता ही आया था, वह हस्तिनापुर नगरी एक महीने बाद दृष्टि-गोचर होने लगी। प्रासादों और मन्दिरों के कलश

आकाश के उदर में प्रविष्ट-से खड़े थे। नगर को अपने रुपहले पानी का आलिंगन देती गंगा मन्द-मन्द बह रही थी। उसके तट पर असंख्य पक्षी कलरव करते हुए विहार कर रहे थे। दायें बायें दो-तीन योजनाओं तक केवल ऊँचे-ऊँचे प्रासाद, गोशाला, अश्वशाला, मन्दिर और व्यायामशालाओं की ही पंक्तियाँ थीं। महाप्रतापी पुण्यात्मा कौरवराज धृतराष्ट्र के नगर में हमारा रथ प्रवेश कर रहा था। मेरी आयुष्य के रथ को अब इस नगर के मार्ग पर ही दौड़ना था। चम्पानगरी में गंगामाता ने मुझको अपनी जो संगति दी थी, क्या वही संगति वह यहाँ भी देगी ? मैंने स्वयं से ही पूछा । मार्ग में धूल उड़ाता हुआ रथ नगर की सीमा में प्रविष्ट हुआ। अश्वपाल घोड़ों को पानी पिलाने ले जा रहे थे, गायों की घण्टियों की ताल पर गोपाल लौट रहे थे, स्त्रियों कलश लेकर जल लेने गंगा की ओर जा रही थीं, खेत में परिश्रम कर कन्धे पर हल रखे कृषकगण लौट रहे थे—वहाँ के एक-एक दृश्य को मेरी आँखें हृदय-पटल पर अंकित करती चली जा रही थीं। पश्चिमी क्षितिज पर सूर्यदेव श्रान्त होकर नगर से विदा ले रहे थे। उनकी फेंकी हुई किरणों ने क्षितिज पर बादलों को गुलाबी, केसरिया, रुपहला आदि अनेक रंगों में रंग दिया था। अपनी किरणों से ऐसा मनोहर जादू दिखानेवाले सूर्यदेव की ओर मैं आदर से देखने लगा। अपनी कोई मूल्यवान वस्तु दूसरे के हाथ में देते समय किसी कुल-ललना के मुख पर वियोग का जो भाव दृष्टिगत होता है, वैसा ही एक विचित्र भाव मुझको उनके उस स्वरूप में दिखाई पड़ रहा था। उनके पास ही एक काला बादल था। शायद उसके कारण ही मुझको वैसा आभास हुआ होगा । अपनी अस्त होती हुई किरणों की असंख्य लम्बी उँगलियों को हस्तिनापुर के मुख पर फेरते हुए मानो वे उससे कह रहे थे, “अब हम लोग कल मिलेंगे !”

हमारा रथ राजप्रासाद के महाद्वार से भीतर प्रविष्ट हुआ। द्वारपालों ने आदर से झुककर पिताजी को अभिवादन किया। रथ अश्वशाला के पास रुका। सदैव की भाँति शोण झट से कूदकर नीचे उतरा । मैं रथ में से ही राजमहल देखने लगा। वह नवजात शिशु की तरह सुन्दर लग रहा था। वह सम्पूर्ण राजप्रासाद श्वेत संगमरमर का बना हुआ था। उसकी परिधि इतनी विशाल थी कि सारी चम्पानगरी सहज ही उसकी सीमा में समा सकती थी। उसकी परिधि का प्राचीर गढ़े हुए काले पत्थरों से बनाया गया था। काले प्राचीर में स्थित वह धवल राजप्रासाद ऐसा लगता था जैसे मिट्टी के काले घड़े में मुँह तक भरा हुआ लोनी का गोला रखा हो ! भीतर अनेक दुहरे दालान थे। मध्य में पानी का एक गोलाकार तालाब था। उसमें अस्त होते हुए सूर्य की असंख्य किरणें स्वच्छन्द विहार कर रही थीं। अनेक रंग की मछलियाँ और शुभ्र तथा उन्नतग्रीव राजहंस किलोल कर रहे थे। श्वेत और नीले रंग के कमल हवा के झोंकों के साथ इधर-उधर हिल रहे थे। उस तालाब के चारों कोनों पर शुभ्र पाषाण में उत्कीर्ण चार सिंहमूर्तियाँ स्थित थीं। सामने ही राजप्रासाद में जाने के लिए ऊपर चढ़ती हुई असंख्य सीढ़ियाँ थीं। यों ही मेरे मन में आया और मैं उनको गिनने लगा। एक सौ पाँच थीं वे ! एकाध सीढ़ी कहीं छूट तो नहीं गयी, इस सन्देहवश मैं उनको पुनः गिनने लगा।

एक, दो, चार, दस, बीस, पचास, सौ, एक सौ एक, दो, चार, पाँच और एक सौ छह ! अरे ! पिछली बार जब गिनी थीं, तब एक सौ पाँच थीं। अब एक सौ छह कैसे हो गयीं ? मैं विचार करने लगा। 'एक सौ पाँच हों या एक सौ छह ! मुझे क्या करना है !' यह सोचता हुआ अपना उत्तरीय सँभालता मैं हस्तिनापुर की उस वैभवशालिनी और पवित्र भूमि पर पैर रखने ही वाला था कि इतने में ही सात काले घोड़ों का रथ एकदम वायु की गति से, घड़-घड़ की ध्वनि करता हुआ महाद्वार से भीतर प्रविष्ट हुआ। किसी प्रतिहारी ने पुकार लगा दी, "हस्तिनापुराधिपति महाराज धृतराष्ट्रपुत्र युवराज शिरोमणि दुर्योधनऽऽ !" समस्त सेवक और द्वारपाल एकदम सावधान होकर खड़े हो गये। पिताजी ने भी रथ की ओर झुककर अभिवादन किया ।

"कहिए चाचाजी, चम्पानगरी से कब आये ?" युवराज ने रथ से उतरते हुए हँसकर पूछा।

"अभी-अभी ही आया हूँ, युवराज !" पिताजी ने सविनय उत्तर दिया ।

मैं रथ में से ही युवराज दुर्योधन की ओर देखने लगा। वह चौदह-पन्द्रह वर्ष का होगा। उसने वीर-वेष धारण कर रखा था। उस वेष में वह विष्णु की तरह सुशोभित हो रहा था। हाथ में लगी गुम्बदवाली गदा के कारण तो वह बहुत ही प्रभावशाली दिखाई पड़ रहा था। एक ही झटके में कूदकर वह नीचे उतर गया और पिताजी के पास आया। उसकी गति ऐसी गर्वीली और मोहक थी, जो अन्यत्र दुर्लभ होती है। उसका प्रत्येक चरण मत्त हाथी के चरण की तरह दृढ़ता से पृथ्वी पर पड़ रहा था। भुजदण्ड पर से बार-बार फिसलते उत्तरीय को सँभालते हुए वह अपने हाथों को सगर्व झटके दे रहा था। उसकी कंजी आँखें बड़ी भेदक और पानीदार थीं। नाक भाले के फलक की तरह सीधी और पैनी थी। लेकिन न जाने क्यों, उसकी केवल एक बात मुझको अच्छी नहीं लगी, वह यह कि सारे संसार को किसी अजगर की तरह अपनी कुण्डली में कस लेने की इच्छा करनेवाली उसकी भौहें बड़ी ही मोटी और कुटिल थीं।

मेरी ओर देखते हुए उसने पिताजी से पूछा, "चाचाजी ! यह कौन है ?"

"यह मेरा पुत्र कर्ण है, युवराज !" पिताजी ने उत्तर दिया।

"कर्ण ! बहुत अच्छा। लेकिन इसको आज किस लिए लाये हैं ?"

"आपकी राजनगरी दिखाने के लिए।"

"ठीक है। अमात्य से मिल लीजिए। वे इसको सारा नगर दिखा देंगे।"

झंझावात की तरह वह जैसे आया था, वैसे ही मुड़ा और बिजली की तेज़ी से राजप्रासाद की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। लगभग समस्त सीढ़ियाँ वह चढ़ चुका था। केवल एक सीढ़ी शेष रही थी। लेकिन वहीं रुककर वह पुनः पीछे मुड़ा और वर्षा की धारा की तरह क्षण-भर

में उन समस्त सीढ़ियों को उतरकर वह फिर हमारे पास आया । मेरे पास आकर मेरे कुण्डलों की ओर एकटक देखते हुए वह बोला, "तुम्हारे ये कुण्डल जन्मजात हैं क्या ?"

"हाँ।" मैंने उसकी कंजी आँखों में गहराई से झाँकते हुए उत्तर दिया। "इन कुण्डलों के कारण तू बहुत ही सुन्दर लगता है। इतना सुन्दर कि 'तू इन चाचाजी का पुत्र है' इस बात पर किसी को भी विश्वास नहीं होगा। क्यों चाचाजी ?" मेरे कन्धे पर हाथ रखकर उसने मुड़कर खिलखिलाकर हँसते हुए पिताजी से प्रश्न किया। वे शायद असमंजस में पड़ गये थे। कोई उत्तर न देकर वे चुपचाप ज्यों के त्यों खड़े रहे।

थोड़ी देर पहले जो स्याह काला बादल था, उसने सम्भवतः सूर्यदेव को ढक लिया था। क्योंकि श्वेत शुभ्र पाषाणों का वह सम्पूर्ण राजप्रासाद क्षण-भर में ही धूमिल धूसरित-सा दिखाई देने लगा था। इस कारण मुझे थोड़ी-सी घुटन का अनुभव हुआ। युवराज दुर्योधन जैसे आया था, वैसे ही फिर तेज़ी से पैर रखता हुआ चला गया। हम दोनों उसकी ओर देखते ही रह गये। उसकी आकृति धीरे-धीरे अदृश्य होती गयी।

थोड़ी देर पहले आवृत आकाश अब शायद फिर निरभ्र हो गया था। क्योंकि अस्पष्ट दिखाई देनेवाली सीढ़ियाँ पुनः स्पष्ट दिखाई देने लगी थीं।

पिताजी रथशाला में रथ पहुँचा आये। सीढ़ियों पर चढ़ने का कष्ट न हो इसलिए शोण को वे अपने कक्ष में पहुँचा आये। महाराज धृतराष्ट्र से मिलने के लिए हम उस भव्य राजप्रासाद की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। उन सीढ़ियों पर चढ़ते समय मेरे मन-मन्दिर में स्मृतियों का घण्टा घनघनाने लगा। किसी समय पिताजी ने यों ही कुरुवंश के पराक्रमी पूर्वजों की कहानियाँ सुनायी थीं, वे कहानियाँ मन की अथाह गहराई से अचानक उफनकर ऊपर आने लगीं। मेरा मन भय, कौतूहल, आदर, संकोच, श्रद्धा आदि अनेक विचित्र भावों से भर आया।

सूर्यवंश के पराक्रमी महाराज हस्ती ने ही यह नगर, यहाँ गंगा का विपुल और स्वच्छ जल देखकर बहुत बरसों पहले बसाया था। उनके प्रपौत्र महाराज कुरु इतने पराक्रमी निकले कि प्रजाजन उनके नाम से ही पहले के सूर्यवंश को कुरुवंश के रूप में जानने लगे। उनके वंशजों को वे कौरव कहने लगे। महापराक्रमी उन महाराज कुरु ने ही यह प्रासाद बनवाया था।

जिस सूर्यवंश में बुद्धिमान् मनु, पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवा, इन्द्र को भी शरण में आने को विवश करनेवाले नहुष, अपनी दिग्विजय से समस्त आर्यावर्त को कँपा देनेवाले ययाति, उनके पराक्रमी पुत्र यदु और पुरु, जनमेजय, अहंयाती, देवातिथि, दुष्यन्त, भरत, हस्ति और अजमीढ़-जैसे प्रतापी महाराज हो गये थे, उस सूर्यवंश को अपने कर्तृत्व से प्रजाजनों से विस्मृत करा देनेवाले महाराज कुरु भला कितने पराक्रमी और गुणसम्पन्न होंगे ! कैसे थे वे महाराज कुरु ? लेकिन महाराज कुरु ही क्यों ? उनके पश्चात् भी इस राजप्रासाद में क्या कम पराक्रमी लोग रहे थे ? विदूरथ, अनश्वन, परीक्षित, भीमसेन, परिश्रवस् आदि एक से

एक बढ़कर पराक्रमी महाराजाओं की एक माला ही इस 'कुरु' वंश में तैयार हो गयी थी। महाराज परीक्षित तो सचमुच ही कुरुकुलावतंस थे। एक मत्स्य-कन्या से विवाह करनेवाले परिश्रवस् महाराज पुत्र शान्तनु ने तो कुरुवंश में एक नया ही आदर्श स्थापित कर दिया था। इतने विशाल राज्यवैभव को तृण के समान त्याग देनेवाले उनके भाई महाराज देवापी तो कुरुवंश-परम्परा के साक्षात् चरम उत्कर्ष ही थे।

भिन्न-भिन्न प्रकार की विजयों के आनन्दोल्लास में डूबे हुए न जाने कितने दिन इस राजमन्दिर ने देखे होंगे।

एक-एक प्रासाद को पीछे छोड़ते हुए हम चलने लगे। मेरी आँखें चलते-चलते जितना सम्भव था, उतना अच्छी तरह देख लेने लगीं। विशाल राजमन्दिर अनेक प्रासादों से सुशोभित दिखाई पड़ रहा था। प्रासादों के प्रत्येक पाषाण स्तम्भ पर सुन्दर कलाकृतियाँ खुदी हुई थीं। प्रत्येक स्तम्भ अखण्ड पाषाण से काटकर बनाया गया था। प्रासादों की भित्तियों पर कुरुवंश के पूर्वजों के जीवन की घटनाओं पर सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाये गये थे। प्रत्येक प्रासाद के द्वार पर दास-दासियाँ विनम्र भाव से खड़ी थीं। उनके कार्य-कलाप बड़ी तत्परता से हो रहे थे। स्थान-स्थान पर योद्धाओं की सुन्दर चिकनी मूर्तियाँ मल्लयुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में खड़ी थीं। स्थान-स्थान पर लकड़ी के पिंजड़ों में मयूर, कोकिल, कपोत, भारद्वाज आदि पक्षी बन्द थे। वे विचित्र ध्वनियाँ निकाल रहे थे। कौरवों के पराक्रम का जीवित शिल्प था वह।

हम महाराज के प्रासाद में आये। समस्त उत्सुकता आँखों में भरकर मैं देखने लगा। सुवर्णमण्डित एक ऊँचे आसन पर महाराज धृतराष्ट्र बैठे हुए थे। आसन पर सुन्दर पच्चीकारी थी। महाराज के सिर पर सोने का मुकुट था, जिस पर चित्र-विचित्र काम हो रहा था। उनकी देह पर जो राजवस्त्र थे, वे रह-रहकर चमकते थे। गले में माणिक, मोती और वैदूर्य की बड़ी-बड़ी मालाएँ थीं। उनसे निःसृत होनेवाले प्रकाश के नीलवर्ण वलय उनके पुष्ट कण्ठ के आसपास घिरे हुए थे। विशाल वक्षःस्थलवाले महाराज घनी लम्बी श्वेत दाढ़ी के कारण बड़े प्रभावशाली लग रहे थे, लेकिन उनकी आँखों के चारों ओर काले घेरे थे। उनकी आँखें बन्द प्रतीत होती थीं। उनके दायें हाथ पर—लेकिन कुछ नीचे—एक सादे लकड़ी के आसन पर एक सौम्य और तेजस्वी आकृतिवाले सज्जन बैठे हुए थे। शुभ्र उत्तरीय का एक छोर उन्होंने बायें कन्धे पर से पीछे डाल रखा था। उसमें से खुले हुए गौर पुष्ट दण्ड केले के पेड़ के दण्ड की तरह चमक रहे थे। मुखाकृति कुम्भ की तरह गोल थी। आँखें शान्त और गम्भीर थीं। मस्तक पर चन्दन का एक बड़ा तिलक था। महाराज की बायीं ओर एक लम्बा-तडंगा व्यक्ति हाथ में सुवर्ण-दण्ड लिये खड़ा था।

अत्यन्त आदर से झुककर पिताजी ने महाराज को अभिवादन किया। उन्होंने संकेत से मुझको भी वैसा ही करने को कहा। मैंने भी झुककर प्रणाम किया।

"मैं आपका सेवक सूतराज अधिरथ आपको वन्दन कर रहा हूँ, सम्राट् ! मेरा पुत्र यह कर्ण भी अत्यन्त आदरपूर्वक आपको वन्दन कर रहा है, महाराज !" पिताजी ने झुके हुए ही कहा।

"आओ ! सूतराज अधिरथ, तुम्हारी चम्पानगरी के क्या हाल-चाल हैं ? और तुम्हारे साथ तुम्हारा वही पुत्र है क्या, जो कवच-कुण्डलों से युक्त है ? उसके उन कवच कुण्डलों के विषय में हमने बहुत कुछ सुना है।"

"हाँ, महाराज ! वही कर्ण है यह।

"अच्छा, वत्स कर्ण ! पास आ।" उन्होंने ठीक मेरी ओर हाथ बढ़ाया।

पिताजी ने मुझको पास जाने का संकेत किया। मैं तत्क्षण आगे बढ़ा। महाराज ने टटोलकर मेरा हाथ अपने हाथ में लिया। मैंने उनके मुख की आर देखा। उनकी दोनों सुकोमल और कुछ-कुछ लाल-सी आँखों के किनारे आर्द्र हो गये थे। पलकों के पास के स्नायु पलकों को खोलने के लिए बड़े अधीर होकर हरकत करने लगे। परन्तु पलकों के खुलने के बजाय आँखों के छोरों पर जो जल एकत्रित हो गया था, वह ररकता हुआ गालों पर शुभ्र दाढ़ी में मिल रहा था। मैंने झुककर उनके चरणों को स्पर्श किया। उन्होंने बाँह पकड़कर मुझको तुरन्त ऊपर उठाया। अपने काँपते हुए दोनों हाथों से उन्होंने मेरे मुख को पकड़ लिया। उँगलियों से कान के कुण्डल टटोलकर देखे। उनके उस थर-थर कम्पित स्पर्श में एक अदभुत आकर्षण था। भौंहों को ऊँची कर, दायीं ओर मुड़कर वे बोले, "विदुर, सचमुच ही आश्चर्य की बात है। इसके ये मांसल कुण्डल तो एक असाधारण घटना है।"

"हाँ महाराज ! और इसकी देह पर हिरण्यवर्ण का कवच भी है।" विदुर ने पिताजी की ओर देखते हुए पूछा, "अधिरथ, तुम तो श्यामवर्णी हो, फिर तुम्हारा यह पुत्र हिरण्यवर्णी कैसे है ?"

"वह मातृवर्णी है गुरुदेव !" पिताजी ने हाथ जोड़कर महाराज से कहा, "एक प्रार्थना है महाराज !"

"कहो अधिरथ ! क्या चाहते हो ?"

"राजकुमारों के साथ मेरे इस पुत्र को भी यदि युद्ध-शास्त्र का कुछ शिक्षण मिल सके तो..."

"अवश्य । अधिरथ, अभी जाओ और गुरु द्रोणजी से मिलकर इसका नाम उनकी युद्धशाला में आज ही लिखवा दो।"

बायीं ओर खड़े हुए लम्बे व्यक्ति से महाराज बोले, "वृषवर्मा, इनकी आवश्यक सहायता करो।"

“जो आज्ञा महाराज !” राजदण्ड को तनिक भी न झुकाते हुए अमात्य वृषवर्मा ने अभिवादन किया।

महाराज को अभिवादन कर हम लोग बाहर आये। चलने से पहले मैंने विदुर की ओर देखा। उनके भव्य ललाट पर मुझको एक क्षीण सलवट-सी पड़ी हुई दिखाई दी। जब कहीं दूर वर्षा हो रही होती है, तब कभी-कभी निरभ्र आकाश में भी केवल बिजली चमक जाती है वह सलवट मुझको ऐसी ही लगी।

चौदह

हम नगर से युद्धशाला की ओर चले। मैंने पिताजी से पूछा, “महाराज की आँखों को क्या हो गया है ?”

“वे अन्धे हैं, वत्स । और इसीलिए उनकी पत्नी राजमाता गान्धारी देवी भी समदुःखी होने के लिए आँखों पर पट्टी बाँधकर रहती हैं, जिससे कि यह संसार दिखाई न दे।”

“राजमाता गान्धारी देवी ?”

“हाँ ! युवराज दुर्योधन की माता। उनके निन्यानबे पुत्र और हैं। युद्धशाला में उन सबको तुम अभी देखोगे ही। महाराज पाण्डु के पुत्र पाण्डव भी तुमको इस समय देखने को मिलेंगे।”

“पाण्डव ?”

“हाँ ! इस राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी कौरवराज महाराज पाण्डु थे लेकिन उनकी अकाल मृत्यु हो जाने के कारण यह राज्य उनके भाई महाराज धृतराष्ट्र को मिला । उन महाराज पाण्डु के पाँच पुत्र हैं, उन्हीं को नगरजन पाण्डव कहते हैं।”

“इसका अर्थ यह है कि कुरुवंश में कुल एक सौ पाँच युवराज हैं। पाँच पाण्डव और सौ धार्तराष्ट्र ।” मेरे मन में यह उत्सुकता जाग्रत हुई कि इतने युवराज आपस में कैसा व्यवहार करते होंगे !

“और दो महाराज और एक पितामह—पितामह भीष्म ।” पिताजी बोले ।

“दो महाराज ? कौन-से ?”

“एक महाराज धृतराष्ट्र और दूसरे विदुर ।”

“विदुर महाराज कैसे हुए ? थोड़ी देर पहले तो आपने उनसे गुरुदेव कहा था ?”

"हाँ वत्स, गुरुदेव विदुर महाराज धृतराष्ट्र के भाई हैं, लेकिन उन्होंने राजसंन्यास ग्रहण कर लिया है।"

"संन्यास ! संन्यास क्या होता है ?"

"संन्यास का अर्थ यह है कि इन्होंने सबका त्याग कर दिया है। यह राज्य, यह राजप्रासाद, यह वैभव-किसी पर भी उन्होंने अपना अधिकार नहीं जताया।"

"फिर वे यहाँ क्यों रहते हैं ?"

"अपने अन्धे भाई की राज्य-व्यवस्था लँगड़ी न हो जाये, इसलिए। उनके प्रत्येक शब्द का यहाँ सम्मान होता है। उसी प्रकार पाण्डवों की माता-राजमाता कुन्तीदेवी का भी मान है।"

"राजमाता कुन्तीदेवी !" मैं कुछ प्रश्न करने जा ही रहा था कि इतने में ही पास के कुंज से एक कोकिल ज़ोर से कुहू-कुहू करता हुआ अशोक के वृक्ष पर से सर्र से उड़ा और हमारे सिर के ऊपर से गुज़र गया। मैंने उसकी ओर देखा। मुझको भगदत्त की याद आयी। उसने एक बार कहा था कि, "सप्तस्वरो में तान लेनेवाला कोकिल मादा कौआ के घोंसले में पलता रहता है, क्योंकि उसकी माँ ही उसको जन्म देकर मादा कौआ के घोंसले में रख आती है।" कितना पागल है भगदत्त ! अरे, कोकिल कहाँ पलता है, यह जानकर क्या करना है ? उचित समय आते ही चतुर्दिक् वातावरण को मुग्ध कर देनेवाली उसकी आवाज़ सुनाई देती है, यही पर्याप्त है।

चलते-चलते हम एक भव्य मन्दिर के पास आये। वह मन्दिर भगवान् विष्णु का था। उसका कलश सोने का था। आकाश की नीली पृष्ठभूमि पर अस्त होती हुई किरणों से वह चमचमा रहा था। सुवर्ण किरणें परावर्तित हो रही थीं।

"महाराज ने ही वह कलश लगवाया है।" उस कलश की ओर उँगली करते हुए पिताजी ने कहा।

मैं विचार करने लगा। इस मन्दिर पर सोने का कलश लगवानेवाला यहाँ का राजा अन्धा है। यह विराट् वैभव उसी का है, लेकिन वह उसको आँखों से अच्छी तरह देख नहीं सकता है। अन्धे राजा को इतना वैभव दिया पर देखने की शक्ति छीन ली-यह क्रूर व्यवस्था करनेवाला दैव अन्धा नहीं था क्या ? सौ पुत्र और इस अमित राज्य-वैभव के स्वामी इस राजा को भाग्यवान् कहा जाये या....क्योंकि यह सब देखने के लिए आँखें नहीं हैं इसलिए उसे अभाग्यवादी कहा जाये ? अपने सौ पुत्रों को यह अन्धा पिता कैसे पहचानता होगा ? और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि आँखें न होने पर भी इतने विशाल साम्राज्य पर ये शासन कैसे करते होंगे ? छिः, कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं कि उनका उत्तर ही नहीं दिया जा सकता।

"वत्स, पहुँचने पर तुरन्त ही गुरुदेव को अभिवादन करना ।" पिताजी ने चलते-चलते मुझको सूचना दी ।

"पिताजी, गुरुदेव कैसे दिखाई देते हैं ?" मैंने उत्सुक होकर पूछा।

“अब मैं कैसे बताऊँ ? तुम अब उनको देख ही लोगे।"

हम लोग जल्दी-जल्दी चलने लगे। नगर के रास्तों पर नगरजनों की अपार भीड़ थी। दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे प्रासाद खड़े थे। मन्दिर के कलश आकाश के उदर में प्रविष्ट थे। वहाँ के घण्टों से वातावरण गूँज रहा था। मार्ग में अश्वपाल घोड़े लेकर और स्त्रियाँ घड़े लेकर पानी के लिए गंगा की ओर जा रही थीं। पण्यवीथियाँ खचाखच भरी हुई थीं।

बहुत देर तक चलने के बाद हम एक विशाल लौह-महाद्वार के पास आये। उसके दोनों ओर काले रंग के पाषाणों के प्राचीर दूर तक संकुचित होते चले गये थे। महाद्वार की भव्य कमान पर त्रिकोणी भगवा ध्वज फड़फड़ा रहा था। द्वारपालों ने हमको देखते ही अभिवादन किया। हम झुककर भीतर गये। वह कुरुओं की युद्धशाला थी।

भीतर चारों ओर बड़े-बड़े कक्ष थे और बीचोंबीच एक योजन घेरे का एक विशाल अखाड़ा था। उसके अनेक खण्ड कर दिये गये थे। एक ओर मल्ली के लिए अखाड़ा था। यहाँ लाल रंग की बारीक मिट्टी गोलाकार फैली हुई थी। उसमें अनेक मल्ल-युवकों की जोड़ियाँ एक-दूसरे पर दाँव-प्रति-दाँव चलाती हुई लड़ रही थीं। उस अखाड़े के मध्य भाग में हृष्ट-पुष्ट गौरवर्णी युवक ताल ठोंकता हुआ गोलाकार नाचता दिखाई दिया। उसके पास जाने का साहस किसी में नहीं था। हाथ उठाकर वह सारे अखाड़े में थय-थय नाच रहा था।

“कर्ण, उस युवराज भीम को देख ! वह अखाड़े में सबको चुनौती देता हुआ घूम रहा है।" उसकी ओर उँगली से संकेत करते हुए पिताजी बोले ।

दूसरी ओर अश्वारोहण के लिए स्थान रिक्त छोड़ दिया गया था। घोड़े पंक्ति में दौड़ सकें, इसलिए उस स्थान में रेखाएँ खींची हुई थीं। दौड़ते समय बार-बार रुकावट डालने के लिए स्थान-स्थान पर पर खन्दकें खुदी हुई थीं। कुछ खन्दकें पानी से भरी हुई थीं। स्थान-स्थान पर ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी की गयी थीं। अनेक युवक उन सब रुकावटों को खेल-खेल में पार करके अश्वों को अभ्यास कराते हुए दिखाई दिये। पूर्व की ओर खड्गों का अभ्यास करने के लिए एक क्रीड़ा क्षेत्र बनाया गया था। उसके किनारे पर छड़ें लगी थीं। उस छड़ों पर विविध आकर के कवच और छोटी-बड़ी ढालें टँगी हुई थीं। अनेक योद्धा खड्गों से अभ्यास कर रहे थे। क्रोध से तमतमाते हुए एक-दूसरे पर टूट रहे थे। खड्गों की झनझनाहट गूँज रही थी। पश्चिम की ओर वैसे ही आकार का एक गोलाकार क्रीडांगण था। उसमें कुछ युवक गदाएँ घुमाकर उनका अभ्यास कर रहे थे। गर्जना करते हुए चक्कर काट रहे थे। उस विशाल स्थान पर शूल, तोमर, शतघ्नी आदि के लिए छोटे-बड़े बहुत से क्रीड़ा-क्षेत्र बनाये

गये थे। चारों ओर पाषाण-निर्मित कक्ष अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरे हुए थे। उस अखाड़े में एक ऊँचा और लम्बा-चौड़ा लक्ष्यभेद करने का चबूतरा था। वह चबूतरा ऐसा था कि उसको कहीं से भी देखो, वह अखाड़े के ठीक बीच में दिखाई देता था। उस चबूतरे पर पुष्पों से सज्जित भिन्न-भिन्न आकारों के धनुष रखे हुए थे। एक ओर बाणों के असंख्य तूणीर रखे हुए थे। सामने की ओर अनेक लक्ष्य रखे हुए थे। उस चबूतरे पर साँवले रंग का एक युवक वीरासन लगाकर दायें पैर के पंजे पर शरीर का ज़ोर दिये हुए बैठा था। हाथ में लगे धनुष की प्रत्यंचा उसने कान तक खींच ली थी। एक आँख बन्द कर दूसरी आँख की पुतली उसने बाण की नोंक की सीध में स्थिर कर रखी थी। उसके पास ही ढीले-ढाले वस्त्र पहने हुए, शुभ्र दाढ़ीवाले, सिर के बालों को एकत्र बाँधे हुए एक लम्बे वृद्ध खड़े थे। उनकी मुद्रा नदी की तह की तरह शान्त थी। उस साँवले युवक के प्रत्यंचा पर रखे हाथ को उन्होंने सीधा किया। वे उसको कुछ समझाने लगे। युवक ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुन रहा था।

पिताजी ने उस युवक की ओर उँगली से संकेत कर कहा, “वत्स, यही है वह पाण्डुपुत्र धनुर्धर युवराज अर्जुन ! और उसको जो सूचनाएँ दे रहे हैं, वे ही हैं पूजनीय गुरुदेव द्रोण !”

धनुर्धर अर्जुन ! भले ही जो हो—लेकिन क्या वह इससे अधिक प्रभावशाली वीरासन नहीं कर सकता है ? यह विचार मेरे मन में कौंध गया।

गुरुदेव द्रोण वास्तव में अशोक वृक्ष की तरह भव्य लग रहे थे। उनकी देह पर शुभ्र वस्त्र उनके लम्बे शरीर के अनुरूप ही शोभित हो रहे थे।

हम अखाड़े के रास्ते चबूतरे की ओर चलने लगे। मुझको ऐसा अनुभव होने लगा जैसे आस-पास के क्रीडाक्षेत्रों को देखकर मेरे शरीर की उष्णता यों ही अपने-आप बढ़ने लगी हो। मेरी इच्छा हुई कि मैं भी भीतर उतरूँ और चक्कर काटता हुआ तेज़ी से गदा और खड्ग के प्रहार प्रतिपक्षी पर करूँ। इन उच्छृंखल घोड़ों को झुकाकर इतना पिदाऊँ कि ये मुँह से झाग निकाल पड़ें। हाथी की सूँड़ पकड़कर उसे नचाऊँ और फिर उसको थकाकर अन्त में उसकी पीठ पर चढ़ जाऊँ। चबूतरे पर बैठे हुए उस युवक को उसकी भुजा पकड़कर उठाऊँ और प्रभावशाली वीरासन कैसे लगाया जाता है, यह एक बार अच्छी तरह उसको बता दूँ। कुश्ती के अखाड़े में जंगली भैंसे की तरह यों ही चक्कर काटनेवाले उस उद्दण्ड भीम से कुश्ती लड़कर उसका मद भी दूर कर दूँ।

हम धुनिर्विद्या के उस ऊँचे चबूतरे के पास आये। ऊपर बैठे हुए युवराज अर्जुन ने एक बाण छोड़ा। सामने दूरस्थित लकड़ी के लक्ष्य में वह सर्र से घुस गया। गुरुवर्य द्रोण ने उसकी पीठ पर एकदम थाप मारी और वे आनन्द से गरज उठे, “साधुवाद अर्जुन ! लेकिन पास जाकर यह देखो कि तुम्हारा वह सूचीपर्ण बाण लक्ष्य में कितना घुसा है ?” युवराज अर्जुन आज्ञाकारी की भाँति उठा और दृढ़ता से पैर रखता हुआ लक्ष्य की दिशा में चला गया। इतने में ही पिताजी आगे बढ़े। चबूतरे के नीचे ही खड़े रहकर उन्होंने गुरुवर्य द्रोण को अभिवादन

किया। मैंने गुरुवर्य द्रोण की ओर देखा। वे पश्चिम की ओर अभिमुख होकर खड़े थे। सायंकालीन अस्त होती हुई किरणें उनकी घनी शुभ्र दाढ़ी पर पड़ रही थीं, जिससे वे रुपहले रंग में चमक रही थीं। घनी दाढ़ी के लम्बे बाल-सीधे उदर तक पहुँच रहे थे। उसकी कुछ लटें हवा के कारण इधर-उधर लहरा रही थीं। मस्तक पर, भुजाओं पर और खुले उदर पर भस्म की पट्टियाँ खिंची हुई थीं। भव्य भाल पर वृद्धावस्था के कारण झुर्रियों का जाल फैला हुआ था। नासिका सरल और तीक्ष्ण थी। उनकी भौहें भी श्वेत-शुभ्र थीं। उनके नीचे जो आँखें थीं, उनमें आत्मविश्वास की अद्भुत चमक थी। फिर भी उनमें शान्ति थी। बड़े आदर से झुककर मैंने उनको अभिवादन किया। पिताजी की इच्छा थी कि उन गुरुवर्य की देखरेख में ही मेरा युद्ध-शास्त्र का अध्ययन हो।

"यह मेरा पुत्र कर्ण है।" पिताजी ने उनसे निवेदन किया।

मुझको पूरा विश्वास था कि अब वे मुझसे मेरे कानों के कुण्डलों के सम्बन्ध में कुछ अवश्य पूछेंगे, लेकिन निर्विकार-भाव से उन्होंने केवल इतना कहा, "तुम्हारा पुत्र, अधिरथ ? फिर इसको आज युद्धशाला में कैसे लाये हो ?"

"आपके चरणों में डालने के लिए।"

"मेरे चरणों में किस लिए ?"

"युवराजों के साथ यदि इसको भी थोड़ी-सी युद्धविद्या की शिक्षा मिल जाये तो..

"युवराजों के साथ ? अधिरथ, युद्धविद्या केवल क्षत्रियों का कर्तव्य है। तुम चाहो तो अपने पुत्र को इस युद्धशाला में भरती कर दो, लेकिन वह युवराजों के साथ शिक्षा कैसे पा सकता है ?"

पिताजी का चेहरा क्षण-भर को निस्तेज हो गया। क्या कहें, यह थोड़ी देर तक उनकी समझ में ही नहीं आया, अन्त में वे जैसे-तैसे बोले, "गुरुदेव की जैसी आज्ञा।

गुरुदेव को पुनः अभिवादन कर हम लोग लौटने लगे। मार्ग में युवराज अर्जुन लक्ष्य में से बाण निकालकर लौटता हुआ हमें मिला। मैंने उसको ध्यान से देखा। उसका वर्ण आकाश की तरह नीला था। हनु भाले की नोक की तरह सिकुड़ती हुई थी। उसकी तेजस्वी आँखें दोनों कनपटियों की ओर संकुचित होती गयी थीं। उसकी नाक ऋजु और तीक्ष्ण थी। मस्तक थाल की तरह भव्य था। भौहें सुन्दर थीं। उसका पूरा चेहरा ही विलक्षण सुन्दर था। घण्टे की तरह मधुर ध्वनि में उसने पिताजी से पूछा, "क्यों काका, चम्पानगरी से आज ही आये हो क्या ?"

"हाँ। अपने इस पुत्र कर्ण को लेकर आया हूँ।"

अर्जुन ने मेरी ओर देखा। मेरी आँखों की अपेक्षा वह शायद मेरे कानों के कुण्डलों को ही अधिक आश्चर्य से देख रहा था। वह मुझसे कुछ पूछने ही जा रहा था कि इतने में ही

आकाश से एक कुण्डली-सी हम दोनों के बीच में आकर सर्प से गिरी। हम सब लोग चौंककर दो पग पीछे हट गये। सबने कुछ भय से और अत्यधिक कुतूहल से ऊपर की ओर देखा। ऊपर मटमैले रंग का एक गरुड़ अपने विशाल पंखों को फड़फड़ाता हुआ आकाश में इधर-उधर चक्कर लगा रहा था। बीच-बीच में अपनी पुष्ट गरदन को मोड़कर तिरछी दृष्टि से नीचे धरती की ओर देख रहा था। एक काले रंग का साँप एकदम निश्चेष्ट पड़ा था। उसको पुनः उठाने के लिए ही शायद वह गरुड़ आकाश में चक्कर लगा रहा था। आकाश से गिरने के कारण सुन्न होकर वह सर्प थोड़ी देर तक वैसा ही पड़ा रहा। लेकिन क्षण-भर बाद ही उसने अंगड़ाई लेते हुए हाथ के पंजे की तरह फन निकाल लिया; दो-तीन बार फुफकारकर उसने अपना गर्वीला फन इधर-उधर हिलाया और फिर तो भयभीत होकर प्राणों के डर से टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता हुआ जिधर अवसर मिला उधर ही दौड़ने लगा। विद्युत्-गति से युवराज अर्जुन ने हाथ में लगा बाण धनुष पर चढ़ा लिया और वह द्रुतगति से दौड़ते हुए सर्प पर निशाना लगाने लगा। इतने में ही चबूतरे पर से कोई चिल्लाया, "अर्जुन ! हाथ नीचे कर !" उस आवाज़ में अद्भुत शक्ति थी। युवराज अर्जुन ने एकदम हाथ नीचे कर लिया, मानो अग्नि का चटका लग गया हो। तीर की गति से भागता हुआ वह सर्प क्षण-भर में ही अखाड़े के पाषाण-प्राचीर में कहीं अदृश्य हो गया। चबूतरे पर से पुनः आवाज़ गूँजी, "युवराज, उस तुच्छ सर्प को मारने से पहले अपने भीतर के सर्प को मार डालो। क्रोध का सर्प बड़ा भयानक होता है। दुर्बल पर हाथ मत उठाओ।"

हमने चबूतरे की ओर देखा-वे गुरुदेव द्रोण थे।

एक युवक बड़ी शीघ्रता से अर्जुन के पास आया। वह कुछ लम्बा था और उसकी मुखाकृति सौम्य थी। अर्जुन की पीठ पर हाथ रखकर उसने अत्यन्त मधुर स्वर में पूछा, "एकदम ही धनुष कैसे उठा लिया, पार्थ ?"

अर्जुन चुप खड़ा रहा। मैंने आँखों ही आँखों में उस लम्बे युवक के सम्बन्ध में पिताजी से पूछा। उन्होंने धीरे से मेरे कान में कहा, "युवराज युधिष्ठिर !"

क्षण-भर में ही उस भव्य अखाड़े के सभी शिष्य अर्जुन के चारों ओर इकट्ठे हो गये। सबके सब एकदम उससे पूछने लगे, "क्या हुआ ? क्या हुआ ?" मैं उस भीड़ से बाहर आया। चारों ओर अखाड़े को ध्यान से देखने लगा। क्योंकि कल से मुझको यहाँ शिक्षा प्राप्त करनी थी। लेकिन एक ही प्रश्न बार-बार मेरे मन में चक्कर काट रहा था। मैं युवराजों के साथ क्यों नहीं शिक्षा प्राप्त कर सकता ? थोड़ी देर पहले गुरुदेव ने कहा था कि युद्धविद्या केवल क्षत्रियों का कर्तव्य है। क्षत्रिय का अर्थ आखिर क्या है ? मैं क्या क्षत्रिय नहीं हूँ ? और यदि नहीं तो क्या हो नहीं सकता हूँ?

अपना और शोण का नाम शाला में लिखवाकर हम उस भव्य महाद्वार से बाहर आये। पिताजी एकदम चुप थे। आखिर मैंने उनसे पूछा, "पिताजी, मैं क्यों नहीं राजकुमारों के

साथ शिक्षा प्राप्त कर सकता ?"

"क्योंकि तुम क्षत्रिय नहीं हो, वत्स !" वे बोले ।

'क्षत्रिय ! क्षत्रिय का क्या अर्थ है ?"

"जो राजकुल में जन्म लेता है, वह क्षत्रिय । तुमने एक सूतकुल में जन्म लिया है, वत्स !" समझाने के लिए उन्होंने धीरे से मेरा कन्धा थपथपाया ।

"कुल ! राजकुल में जन्म लेनेवालों के क्या सहस्र हाथ होते हैं ? उन्हीं को इतना महत्त्व क्यों ?"

"यह तुम नहीं समझ पाओगे। कल से नियमित रूप से इस शाला में आया करना। जो-जो शिक्षा दी जाये, वह ग्रहण करना।"

उनके उत्तर से मेरा समाधान नहीं हुआ। मेरा मन पागलों की तरह महाराज धृतराष्ट्र और गुरुदेव द्रोण की तुलना करने लगा। अत्यन्त स्नेह से मेरे मुख को अपने हाथों के सम्पुट में लेकर अपनी अन्धी आँखों से मेरे कुण्डलों को देखने का प्रयत्न करनेवाले इस हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र कहाँ और मेरे सुन्दर कुण्डलों का साधारण उल्लेख तक न करनेवाले ये गुरुवर्य द्रोण कहाँ ? वास्तव में उन महाराज से ये गुरुदेव बहुत ही भिन्न लगते हैं। कह रहे थे कि दुर्बल पर हाथ मत उठाओ। सर्प को दुर्बल कहनेवाले कौरवों के ये गुरुदेव चतुर हैं या व्यवहार-शून्य हैं ? क्या वे यह नहीं जानते थे कि वह काला सर्प क्षण-भर में ही युवराज अर्जुन को काला-नीला कर सकता था ? युवराज अर्जुन के और मेरे बीच एक सर्प आकर गिर पड़ा, यह घटना अशुभ नहीं थी क्या ? छिः, मन भी कितना विचित्र होता है !

वह तो केवल एक संयोग था। लेकिन गरुड़ को देखते ही मुझको शोण का वह नियत प्रश्न ज्यों का त्यों याद आ जाता था, "भैया, तुम भी जाओगे क्या गरुड़ पक्षी की तरह ऊँचे....और ऊँचे ?" पागल शोण, मैंने साक्षात् देखा है कि कभी-कभी उस गरुड़ को अपने भोजन की खोज में कौए की तरह इस धरती के आस-पास ही भटकना पड़ता है। नहीं तो निश्चय ही वह आकाश में सदैव ऊँचाई पर स्थित रहता ।

हम लोग राजप्रासाद लौटे। शोण उसी तरह कक्ष में बैठा हुआ हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। उसके पास ही अमात्य वृषवर्मा खड़े थे। सन्ध्याकाल की धूमिल छटा सम्पूर्ण राजभवन पर पड़ रही थी। इससे वह आकाश की तरह भव्य लेकिन उदास लग रहा था। मैं, अमात्य, पिताजी और शोण राजभवन के दक्षिण दिशा में एक कक्ष में गये । पिताजी उसी कक्ष में रहते थे। उस कक्ष में पूर्व की ओर एक गवाक्ष था। मैंने उसमें से बाहर सिर निकालकर देखा। दूर स्थित युद्धशाला के भव्य अखाड़े के चारों ओर पाषाणनिर्मित घेरा अस्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। उसका चक्कर लगाकर गंगा का प्रवाह शान्ति से बह रहा था। सारा हस्तिनापुर धीरे-धीरे ऐसा शान्त हो रहा था, जैसे दिन-भर खेलने से थका हुआ कोई छोटा बालक सो

रहा हो। एक सेवक भीतर आया। उसने अपने हाथ में लगे पलीते से कोने में रखी हुई पत्थर की बड़ी समई प्रज्वलित की। समई में इंगुदी का तेल भरा हुआ था। अमात्य, पिताजी और शोण के धुंधले चेहरे एकदम स्पष्ट हो गये।

"सूतराज, क्या हुआ ? तुम्हारे पुत्र का नाम लिख गया न ?" अमात्य ने विश्वास के साथ पूछा।

"हाँ।" पिताजी ने इतना ही उत्तर दिया। उनका मन किसी गहन विचार में उलझा हुआ था शायद।

"ठीक है। जिस किसी वस्तु की आपको आवश्यकता हो, उसकी सूचना बाहर के सेवक को दे दीजिएगा। मैं जाता हूँ अब।" अमात्य चले गये।

पाकशाला से एक सेवक हमारा भोजन लेकर आया। भोजन करके हम लोग वार्तालाप करने लगे। अपनी प्रकृति के अनुसार शोण अनेक प्रश्न पूछ रहा था। लेकिन उसके प्रश्नों की ओर मेरा बिलकुल ध्यान नहीं था। पलँग पर बैठा-बैठा मैं कोने में रखी पत्थर की समई की छोटी-सी लौ की ओर देख रहा था। जो कुछ प्रकाशयुक्त था, उसके प्रति मुझमें ऐसा ही अद्भुत आकर्षण था। उस लौ की ओर देखते-देखते ही घटित घटनाएँ एक के बाद एक आँखों के आगे खड़ी होने लगीं। उन सबकी एक विचित्र माला गूँथने का प्रयत्न मेरा मन करने लगा। अपने दोनों हाथ उठाकर मेरे साथ आने के लिए रथ के पीछे-पीछे रुआँसा होकर दौड़नेवाला शोण....सहसा अपना निर्णय न बदलनेवाले, लेकिन शोण की वह दशा देखकर द्रवित होनेवाले पिताजी....इस हस्तिनापुर के राजभवन के महाद्वार को जैसे ही हमने पार किया था वैसे ही झंझावात की तरह बाहर से आकर हमारे सामने सर्वप्रथम खड़ा होनेवाला युवराज दुर्योधन,.... और उसकी वह गर्वीली चाल ! कुरुवंश का वह पहला वीर था, जिसको मैं सर्वप्रथम देख रहा था। कितने स्नेह से उसने मेरे कुण्डलों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे ! मेरे कन्धे पर हाथ रखकर वह कितनी आत्मीयता से मेरी ओर देख रहा था ! बस, राजकुमार हो तो दुर्योधन-जैसा प्रभावशाली हो ! मेरे मुख को अपने हाथों में लेकर हाथ से छूकर देखने वाले उसके पिता महाराज धृतराष्ट्र ! राजभवन के सामनेवाले तालाब के कमल-जैसे दिखाई देनेवाले विदुर ! अपनी ही धुन में पागलों की तरह कुश्ती के अखाड़े में एक पैर उठाकर चक्कर लगानेवाला भीम ! नौसिखिये की तरह वीरासन लगाकर धनुर्धर का रूप धारण करनेवाला अर्जुन ! जिनके मन की कोई थाह ही नहीं मिलती थी, ऐसे सागर-जैसे गुरुवर्य द्रोण ! बाल्यावस्था में ही प्रौढ़ की तरह बातें करनेवाला युधिष्ठिर !

मेरा मन यों ही अभ्यासवश युवराज दुर्योधन और अर्जुन, महाराज धृतराष्ट्र और गुरुदेव द्रोण, विदुर और युधिष्ठिर-इनकी तुलना करने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन उनमें से किसी की भी एक-दूसरे से तुलना नहीं हो रही थी। सबों का अपना स्वतन्त्र और एकदम भिन्न

अस्तित्व दिखा। इस संसार में कितने प्रकार के और कैसे-कैसे स्वभाव के लोग हैं, भगवान् जानें ! किसकी कल्पना से उनका निर्माण होता है ? किस लिए उनका निर्माण होता है ? इस जगत् का वह चतुर कारीगर अन्ततः है कौन ? उसने इतने सारे नमूने किस उद्देश्य से बनाये हैं ? क्योंकि यहाँ एक-जैसा दूसरा दिखाई नहीं देता है, और दिखाई दे भी जाये तो वह उस-जैसा होता नहीं है। छिः, इन प्रश्नों का तर्कसंगत उत्तर शायद कोई कभी नहीं दे पायेगा।

सामने रखी पत्थर की समई में इंगुदी का तेल अब समाप्त हो रहा था। उसकी ज्योति मन्द होती जा रही थी। शोण कब का सो चुका था। दिन-भर की यात्रा से और राजनगरी में पैदल घूमने से थके हुए पिताजी भी निद्राधीन हो गये थे। मैं धीरे से उठा और बुझती हुई उस लौ में मैंने धीरे से फूँक मारी। उस बुझी हुई बत्ती के तेल का अधजला धुआँ मेरी नाक में घुस गया। मैं आकर पलँग पर लेट गया। हस्तिनापुर में वह मेरा पहला दिन था। स्मृतियाँ शायद अतिथि की तरह मनमौजी होती हैं। वे चाहे जब मन के द्वार में आकर खड़ी हो सकती हैं। मुझको एकदम राधामाता की याद आयी। चम्पानगरी में हमारी पर्णकुटी में वह आज अकेली ही होगी, यह सोचकर मैं व्याकुल हो गया। सारी पर्णकुटी दिन-भर उसको काटने को दौड़ती रही होगी। मैं वहाँ नहीं हूँ, यह भूलकर उसने सदैव की भाँति 'वसु ! वसु !' कहकर अनेक बार मुझको पुकारा होगा। सचमुच, माँ का प्रेम त्रिभुवन के समस्त प्रेम का आगार नहीं है क्या ? आते समय उसने स्मृतिचिह्न के रूप में मुझको चाँदी की एक पेटिका दी थी। सब कुछ छोड़कर उसने अपने लाड़ले पुत्र को यह विचित्र वस्तु क्यों दी थी ? उसने कहा था कि "जब-जब तुझको मेरी याद आये, तब-तब तू इस पेटिका के दर्शन करना। अपनी माँ के स्थान पर इसको मानना।" वास्तव में उसका मन कितना सरल है ! एक निर्जीव पेटिका माँ के स्थान की पूर्ति कैसे कर सकती है, यह उसने सोचा भी न होगा। माँ ! दूध की प्यास कभी छाछ से दूर हुई है क्या ? लेकिन कुछ भी हो, तेरी भावनाओं का मुझको ध्यान रखना चाहिए। कुछ भी क्यों न हो, तेरी स्मृति को मैं जीवन के अन्तिम क्षण तक ऐसे ही सँभालकर रखूँगा। उत्तरीय में बँधी हुई वह पेटिका मैंने हलके हाथों से खोली। हार्दिक श्रद्धा से मैंने उसको मस्तक से लगाया और फिर पलँग पर एक कोने में धीरे से उसको रख दिया। संसार के तीन व्यक्तियों से मुझको अत्यन्त प्रेम था । एक अपनी माँ से, दूसरा पिताजी से और तीसरा शोण से। उसी तरह तीन बातों के प्रति मुझमें आकर्षण था। एक थी अपनी असंख्य लहरों के असंख्य मुखों से मुझसे घण्टों बात करनेवाली गंगामाता, दूसरे थे मेरे लिए सदैव उत्साह का प्रचण्ड प्रवाह लेकर आनेवाले आदित्यनारायण और तीसरी यह माँ की दी हुई एक छोटी-सी निशानी चाँदी की पेटिका । इस पेटिका के कारण मुझको चम्पानगरी की याद आयी। मेरे मन का बछड़ा मातृभूमि के थनों पर आघात लगाने लगा। उनसे स्मृतियों की अनेक मधुर दुग्धधाराएँ बहने लगीं उनकी मधुरता चखते-चखते मैं न जाने कब सो गया।

पन्द्रह

प्रत्यूषा में पक्षियों की चहचहाहट से मैं जागा। गवाक्ष खोलकर बाहर देखा। क्षितिज की रेखाओं से अन्धकार हटने लगा था। गंगा के रुपहले बहाव ने कोहरे का अंशुक पहन रखा था। समस्त हस्तिनापुर धीरे-धीरे जाग्रत हो रहा था। दूसरा एक सूखा उत्तरीय लेकर मैं कक्ष बाहर निकला। इस समय वहाँ कोई न होगा, अतः गंगा के पानी में जी-भर स्नान कर आऊँ, यह सोचकर मैं घाट की ओर चलने लगा। आस-पास सारी सृष्टि कोहरे की चादर को अब भी हटाने को तैयार नहीं थी। सारे मार्ग और राजभवन धुंधले और अस्पष्ट कुहरे में बड़े ही मनोहर लग रहे थे। गंगा के तट पर स्थित मन्दिर में एक घण्टी बज रही थी। उस नीरव शान्ति में बस वही एक ध्वनि स्पष्टतः सुनाई दे रही थी। उस ध्वनि की ओर मैं चल पड़ा। माता ने मुझको जो चेतावनी दी वह याद आयी, “गंगा के पानी में मत घुसना।” मैं मन ही मन हँस पड़ा। माँ कितनी डरपोक है ! वह क्या मुझको दूधपीता बालक समझती है ? अब तो पूरे सोलह वर्ष का किशोर हूँ मैं। उस पानी से मुझको कैसा डर ? विचारों में डूबा हुआ ही मैं घाट पर आ गया। अपने साथ जो उत्तरीय लाया था, उसे एक सीढ़ी पर रख दिया। जिस अधरीय को मैं पहने हुए था, उसको कसकर बाँधा और सामने देखा। दस-बारह हाथ तक पात्र स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। और सब कुछ सफ़ेद कोहरे से ढंका हुआ था। मैंने उस पात्र को आदरपूर्वक नमस्कार किया और फिर दोनों हाथ आगे कर सिर के बल मैं पानी में कूद पड़ा। पानी का स्पर्श गरम लगा। लगभग घण्टा-भर तक मैं उस पानी में मनमानी डुबकियाँ लगाता रहा। घड़ी-भर बाद कोहरा छंटा। मैं पानी में से घाट की ओर पानी काटता हुआ आया। भीगा हुआ अधरीय बदला। भीगा वस्त्र पानी में डुबाकर, फिर निचोड़कर मैंने सीढ़ी पर रख दिया। सामने देखा। दूर आकाश में सूर्यदेव धीरे-धीरे ऊपर उठ रहे थे। उनकी कोमल किरणें गंगा के पानी को गुदगुदाकर जगा रही थीं। अंजलि में पानी भरकर भक्तिभाव से उसका अर्घ्य मैंने सूर्यदेव को दिया। कितना भव्य रमणीय रूप था उनका ! मुझको प्रतिदिन उनका जो रूप दिखाई पड़ता था, उसमें सदैव ही एक नूतन प्रभा दिखाई पड़ती थी। प्रतिदिन निराला आविष्कार, प्रतिदिन निराले दीप्तिवलय। एक दिन की दर्शनीय शोभा दूसरे दिन वैसे ही नहीं होती थी। उस शोभा में दूसरे दिन एक निराला ही आकर्षण पैदा हो जाता था। उसको देखते ही मुझमें उत्साह का उफान-सा आ जाता था। हज़ारों योजन दूर स्थित उस तेज में और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है, ऐसा प्रतीत होता। मुझे लगता जैसे मेरा शरीर कुछ हलका हो गया हो। मेरे हाथ अपने-आप जुड़ जाते। आँखें अपने-आप ही बन्द हो जातीं। मैं मन ही मन उस तेज का चिन्तन करने लगता। लक्ष-लक्ष योजनों तक मुझको केवल प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देने लगता। अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश। तेजस्वी लेकिन शीतल और स्पृहणीय लगनेवाला प्रकाश। अकारण ही ऐसा अनुभव होता

जैसे उस तेज से अपना कोई सम्बन्ध हो। विश्व के सम्पूर्ण अन्धकार को दूर करनेवाला वह अखण्ड महादीप मुझसे जैसे कुछ अज्ञात धागों से जुड़ा हुआ हो। मैं अपने-आपको भूल जाता और उन धागों के सहारे दूर-दूर ऊँचा और ऊँचा जाने लगता।

आज तो उस तेज का रूप अत्यन्त ही मनोहारी था। मैंने शान्तिपूर्वक हाथ जोड़े और आँखें बन्द कर लीं। मैं प्रकाश के असीम समुद्र की केवल एक लहर बन गया। उस लहर का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था ही नहीं। और वह लहर शायद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती भी नहीं थी। उस असीम सागर की अनेक लहरों में से केवल एक लहर थी वह।

शायद किसी ने मेरे कन्धों को स्पर्श किया। पहले-पहल तो उसकी स्पष्ट जानकारी ही नहीं हुई। लेकिन कोई मेरे कन्धों को ज़ोर से हिला रहा था। मैंने धीरे से आँखें खोली और मुड़कर देखा। अत्यन्त शान्त मुखाकृतिवाले एक वृद्ध मेरी ओर देख रहे थे। उनकी दाढ़ी के, सिर के और भौंहों के सभी केश सफ़ेद बादल की तरह श्वेत-शुभ्र थे। भव्य मस्तक पर भस्म की लम्बी रेखाएँ थीं। उनका हाथ मेरे कन्धे पर अब भी ज्यों का त्यों था। वह हाथ मुझको बड़ा भारी और सशक्त लगा। कौन हैं ये वृद्ध ? तत्क्षण में प्रश्नों के बाण मन के धनुष पर चढ़ाने लगा। लेकिन नहीं, मैंने इनको कहीं नहीं देखा।

अत्यन्त स्नेहसिक्त, स्वर में उन्होंने मुझसे पूछा, “वत्स, तुम कौन हो ?”

“मैं सूतपुत्र कर्ण।

“सूतपुत्र ! कौन-से सूत के पुत्र हो तुम ?”

“चम्पानगरी के अधिरथजी का।

“अधिरथ का ?”

“जी। लेकिन आप ?” मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

“मैं भीष्म हूँ !” उनकी दाढ़ी के बाल हवा के झोंकों से लहरा रहे थे।

भीष्म ! पितामह भीष्म ! कौरव-पाण्डवों के वन्दनीय भीष्म ! गंगा-पुत्र भीष्म ! कुरुवंश के मन्दिर के कलश भीष्म ! योद्धाओं के राज्य के ध्वज भीष्म ! क्षण-भर मेरा मन विमूढ़ हो गया। कुरुवंश का साक्षात् पराक्रम मेरे सामने गंगा के किनारे खड़ा था।

एक विशाल वटवृक्ष के सम्मुख घास के छोटे-से तृण की तरह मैं खड़ा था। क्या करूँ, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। तुरन्त ही जैसे-तैसे अपने को सँभालकर मैंने झुककर उनको अभिवादन किया। उन्होंने तत्क्षण मुझको ऊपर उठाया। अत्यन्त मृदु स्वर में वे बोले, “तुम अपनी पूजा में लीन थे। मैंने तुमको जगा दिया, इसलिए तुम क्षुब्ध तो नहीं हो गये ?”

“नहीं।” मैं बोला।

“सचमुच वत्स, तुमको जगाने की इच्छा मैं रोक नहीं सका।”

मैं आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगा। थोड़ी देर बाद वे बोले, “आज तीन दशाब्दियाँ हो गयीं। प्रतिदिन नियमित रूप से मैं इस समय गंगा के घाट पर आता हूँ, लेकिन इस हस्तिनापुर का एक भी व्यक्ति कभी मुझसे पहले यहाँ नहीं आया, मैंने किसी को नहीं देखा। तुम वह पहले व्यक्ति हो, जिसको मैं आज देख रहा हूँ।”

“मैं ?” मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आगे क्या कहूँ।

“हाँ ! और इसीलिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद अन्त में तुमको जगाया। मेरे कानों के कुण्डलों की ओर देखते हुए वे बोले, “इन कुण्डलों के कारण तुम बहुत ही अच्छे लग रहे हो।”

“ये जन्मजात हैं।” मैंने कहा।

“इनका सदैव ध्यान रखना।” धीरे-धीरे पैर रखते हुए वे घाट की सीढ़ियों पर उतरने लगे। पर्वत की तरह भव्य दिखाई देनेवाला उनका वह लम्बा शरीर ओझल होने लगा। गले तक पानी में जाकर वे खड़े हो गये। उनके सिर के बाल पानी की लहरों के साथ तैरने लगे। शुभ्र केशों से आच्छादित उनका मस्तक गंगा के जल के ऊपर शुभ्र कमल की तरह सुशोभित हो रहा था। मैं जहाँ खड़ा था, वहीं से मैंने उनको वन्दन किया। आर्द्र उत्तरीय कन्धे पर डालकर मैं राजभवन की ओर लौटा। पितामह भीष्म के दर्शनों से हस्तिनापुर में मेरे प्रथम प्रभात का प्रारम्भ हो गया था।

उस विचित्र संयोग पर मुझे आश्चर्य हुआ। जिन पितामह भीष्म को देखने के लिए मैं कल दिन-भर विचार करता रहा था, वे स्वयं ही आज मुझको मिल गये थे—वे भी अकेले, गंगा के इस घाट पर और प्रातःकाल की इस रमणीय वेला। कितने मधुर हैं उनके स्वर ! मन्दिर के गर्भगृह की तरह उनकी मुखाकृति कितनी शान्त और पवित्र है ! मुझ-जैसे एक साधारण सूतपुत्र की कोई बात उनको अच्छी लगती है ! कौरवों के ज्येष्ठ महाराज मुझ-जैसे सूतपुत्र के कन्धे पर हाथ रखकर स्नेह से पूछताछ करते हैं ! सचमुच ही वीर पुरुष यदि अभिमानरहित हो, तो वह कितना महान् लगने लगता है ! जिस कुरुकुल में पितामह जैसे वीर और गर्वरहित श्रेष्ठ पुरुष ने जन्म लिया है, वह कुल निश्चय ही धन्य है। मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ, जो ऐसे राजभवन में रहने का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ है। अब तो बार-बार इन पुरुष श्रेष्ठ के दर्शन मुझको हुआ ही करेंगे। वे दो शान्त और तेजस्वी आँखें मुझपर भी कृपा-दृष्टि रखेंगी। अपने जीवन में जिन तीन व्यक्तियों पर मेरा प्रेम था, उनमें एक व्यक्ति और बढ़ गया था ! पितामह भीष्म !

सोलह

जैसे ही मैं राजभवन पहुँचा, पिताजी ने मुझको तैयार रहने को कहा। क्योंकि युद्धशाला में जाना था, इसलिए मैं तुरन्त ही तैयार हो गया। शोण तो जाने के लिए तैयार होकर बड़ी देर से मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। माँ ने जो पेटिका दी थी, वह मैंने एक आले में सँभालकर रख दी थी। उस पर पारिजात के चार पुष्प चढ़ाये। उसको वन्दन कर मैं धीरे से बोला, "माँ ! मुझको आशीर्वाद दो। तुम्हारा वसू जीवन के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आज ले रहा है। युद्धशाला में जाने का आज उसका पहला दिन है।" पिताजी ने बाहर से ही पुकारा, "कर्ण ! शोण ! जल्दी चलो।" मैंने गवाक्ष से बाहर झाँककर देखा। सूर्यदेव हँसते हुए पूर्व क्षितिज के सम्पूर्ण प्रदेश को प्रकाशवान् कर रहे थे। उनका प्रतिबिम्ब गंगा के जल में पड़ने के कारण उनके दो रूप दूर स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे। एक आकाश के सूर्यदेव और एक पृथ्वी के सूर्यदेव। मैंने शोण का हाथ अपने हाथ में लिया और कक्ष से बाहर निकला।

हम तीनों युद्धशाला में आये। कल की अपेक्षा आज तो वहाँ बहुत अधिक युवक एकत्रित थे। वे सभी मध्य में स्थित उस चबूतरे के चारों ओर शान्तिपूर्वक बैठे हुए थे। सबके सम्मिलित शान्त और गम्भीर स्वर सुनाई पड़ रहे थे। शायद प्रातःकाल की प्रार्थना हो रही थी।

“ॐ ईशावास्यम् इदम् सर्वम्”...। प्रार्थना बहुत देर तक चलती रही। मैंने पिताजी को वापस जाने को कहा।

“अनुशासन रखना।” यह कहकर वे लौट गये।

मैंने उस भव्य अखाड़े पर दृष्टि डाली। वह सम्पूर्ण क्रीडांगण शान्त था। लेकिन क्षण-भर बाद ही पुरवैया घटाओं की गर्जना की तरह वातावरण बदलने वाला था। विभिन्न प्रकार के शस्त्रों की आवाजें आपस में मिलकर एक विचित्र ध्वनि पैदा होनेवाली थी। फिर समस्त युवकों की उत्साहवर्धक किलकारियों से तो वह ध्वनि और अधिक तीव्र होनेवाली थी।

प्रार्थना समाप्त हुई। बीच में बैठे हुए गुरुदेव द्रोण शान्तिपूर्वक उठकर खड़े हो गये। उन्होंने अपने दोनों हाथ उठाकर अपने सभी शिष्यों को आशीर्वाद दिया। मैं शोण को लेकर आगे बढ़ा। हम दोनों ने झुककर गुरुदेव को प्रणाम किया। मुझको आशा थी कि अपना हाथ उठाकर वे हमको भी आशीर्वाद देंगे। लेकिन इतने में ही अर्जुन उनके सामने आ गया और वे अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखकर उससे कुछ बातें करते हुए वहाँ से चले गये। हमारी ओर देखने तक का समय गुरुदेव को नहीं मिला। उस युद्धशाला में वह मेरा पहला ही दिन था। किसी ने मुझसे यह कहा था कि गुरु के आशीर्वाद बिना विद्या सफल नहीं होती है। इसलिए कौरवों के उन महान् गुरु का आशीर्वाद लेने के लिए मैंने उनको प्रणाम किया, परन्तु उसी समय यह युवराज अर्जुन बीच में कहाँ से आ टपका ? यहाँ आने के लिए उसको कोई और समय नहीं मिला ? या गुरुदेव केवल उसके ही थे ? या जैसा कि गुरुदेव ने कल कहा था, उसके अनुसार उनका आशीर्वाद भी केवल क्षत्रियों के लिए ही था ? यदि यह सच है तो

फिर मुझ-जैसे सूतपुत्र को वह कैसे मिल सकता है ? और यदि मिल भी जाये तो उससे मैं क्षत्रिय थोड़े ही हो जाऊँगा ? और क्षत्रिय होकर अन्ततः मुझको करना भी क्या है ? केवल इन गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए मैं क्षत्रिय होना क्यों स्वीकार करूँ ? आशीर्वाद न भी मिले तो कोई बात नहीं, लेकिन मैं रहूँगा सूतपुत्र ही। पिता अधिरथ और राधामाता का सूतपुत्र कर्ण ही रहूँगा। इन गुरु का आशीर्वाद क्षत्रियों के लिए है, इन गुरु का ज्ञान क्षत्रियों के लिए है, ये गुरु ही क्षत्रियों के लिए हैं। वे हमें कैसे मिल सकते हैं ? तो फिर आज पहले दिन किसको गुरु बनाया जाये ? किसके आशीर्वाद से विद्या प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ा आये ? इस संसार में इस सूतपुत्र का गुरु बनने के लिए कौन तैयार होगा ? कोई नहीं। अर्जुन ठीक इसी समय क्यों आया ? ये गुरुदेव द्रोण उसको इतना क्यों मानते हैं ? वे दोनों गुरु और शिष्य हैं। मेरा मन खिन्न हो गया, सिर झुकाकर मैं विचार करने लगा। राजकुल में मेरा जन्म नहीं हुआ, यह क्या मेरा दोष है ? क्या जन्म लेनेवाले को अपनी इच्छानुसार कभी जन्म मिला है ? जन्म सम्बन्धी इस ऊँचता-नीचता का किसने निर्माण किया है, मानव किस बात से श्रेष्ठ बनता है ? अपने श्रेष्ठ गुणों से ही न ? लेकिन मेरी बात यहाँ कौन मानेगा। मेरा आज का यह दिन यों ही व्यर्थ जायेगा क्या ? मैं तो कब से धनुष के बाणों के अचूक प्रक्षेपण के लिए उतावला हो रहा हूँ...। छिः, कुछ दिन शायद मनुष्य की परीक्षा लेने के लिए ही आते हैं ! क्या करना चाहिए ? क्या करना चाहिए ?

निराश मन से मैं पत्थर के उस चबूतरे के चारों ओर पागल की तरह चक्कर लगाने लगा। कभी इच्छा होती कि गुरुदेव द्रोण जहाँ हैं, वहाँ दौड़ता हुआ जाऊँ और उनसे साफ़-साफ़ कहूँ, “गुरु वह होता है, जो शिष्यों के मन को जानता है। फिर क्या बात है कि एक शिष्य आपके आशीर्वाद के लिए पानी से बाहर निकाली हुई मछली की तरह तड़प रहा है, लेकिन आपको अब भी पता नहीं है ? आप उस अर्जुन को ही इतना महत्त्व क्यों देते हैं ? उसमें ऐसी क्या विशेषता है ? मेरी ओर देखिए, मेरे कानों में चमकने वाले कुण्डल हैं। कदली की तरह एकदम पीली मेरी त्वचा अभेद्य है।”

दूसरे ही क्षण पिताजी का वह कथन याद आया-‘अनुशासन में रहना !’ कैसे रहूँ अनुशासन में ? या गुरुदेव द्रोण ने मेरी ओर देखा तक नहीं है इसलिए रोता हुआ वापस चला जाऊँ ? क्या करूँ ...क्या करूँ।

मैंने सदैव की तरह पूर्व दिशा में आकाश की ओर देखा। तप्त लाल लोहे के गोले की तरह सूर्यदेव आकाश की नीली छत को जला रहे थे। मेरी निराशा क्षण-भर में नौ-दो ग्यारह हो गयी। बस, महासामर्थ्यशाली इस तेज के अतिरिक्त अधिक योग्य गुरु इस त्रिभुवन में दूसरा कौन होगा ? किसी अन्य के आशीर्वाद की भीख माँगने की आवश्यकता ही क्या है ? आज से मेरे वास्तविक गुरु ये ही हैं। आज से बस इन्हीं की पूजा, आज से इन्हीं की आज्ञा। तत्क्षण मैं पत्थर के उस चबूतरे पर चढ़ गया। वहाँ पुष्पों से सजा हुआ धनुष रखा था। वह

मैंने हाथ में उठा लिया और जितना ऊँचा उठा सकता था, उतना ऊँचा उठाकर मैं बोला, "संसार के समस्त अन्धकार को नष्ट करनेवाले सूर्यदेव ! आज से मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझको आशीर्वाद दो। मुझको मार्ग दिखाओ। उस धनुष को मस्तक से लगाकर मैंने झुककर उस तेज को प्रणाम किया। शोण न जाने कब मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया था। मैंने उससे भी कहा, "शोण ! सूर्यदेव को नमस्कार कर। उनसे आशीर्वाद माँग। उसने भी विनम्रता से हाथ जोड़ लिये। थोड़ी देर बाद मैंने धनुष नीचे रख दिया ।

चबूतरे की सीढ़ियों पर उतरने लगे। मेरा मन अब शान्त हो गया था। सामने गुरुदेव द्रोण और युवराज अर्जुन चबूतरे की ओर आ रहे थे। अर्जुन मेरी ओर देखकर हँसा, लेकिन मुझको हँसी नहीं आयी। मुझको ऐसा लगा जैसे उसके हँसने में भी एक प्रकार का व्यंग्य हो।

मुझको पितामह भीष्म की याद आयी। इस अर्जुन के पितामह थे वे। लेकिन दोनों में कहीं समता नहीं थी। दोनों के स्वभाव और व्यवहार में कितना अन्तर था ! जाते-जाते कुछ पूछने के विचार से अर्जुन ने मुझसे पूछा, "यह कौन है ?"

"मेरा छोटा भाई !" मैंने अभिमानपूर्वक कहा ।

"यह भी इस शाला में आयेगा क्या ?" गुरुवर्य द्रोण ने पूछा ।

"जी हाँ।" मैंने उत्तर दिया।

"जाओ, उस ओर कृप हैं, उनके पथक में सम्मिलित हो जाओ।

मैंने कुछ भी न कहा। उनको नमस्कार करने की भी मेरी इच्छा न हुई। जाते-जाते मैंने अर्जुन की ओर मुड़कर देखा। वह तो आश्चर्य से मेरे कानों के कुण्डलों की ओर एकटक देख रहा था।

हम कृपाचार्य के पथक में आये । कृपाचार्य द्रोणाचार्य जी के साले थे। उनकी देख-रेख में अनेक युवक धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। क्षण-भर के लिए मेरे मन में यह विचार आया कि ये ढेर सारे राजकुमार क्यों जहाँ-तहाँ अपनी अकड़ दिखा रहे हैं ? उस दुर्योधन का-सा रोब एक में भी है क्या ? एक भी ऐसा है क्या, जिसकी चाल दुर्योधन की चाल की तरह शानदार हो ? है कोई ऐसा माई का लाल जिसकी दृष्टि उसकी दृष्टि की तरह भेदक हो ? इतने में युवराज दुर्योधन ही सामने से आता हुआ मुझको दिखाई दिया। उसके पास जायेंगे तो वह निश्चय ही हमारी कुशल-क्षेम पूछेगा—यह सोचकर मैं उसकी ओर चलने लगा। उसके पास भी गया, लेकिन युवराज दुर्योधन नहीं था। उसमें और दुर्योधन में अद्भुत समता थी। राजहंस के दो बच्चों को जैसे अलग-अलग पहचाना नहीं जा सकता है, वैसे ही वे दोनों नहीं पहचाने जाते थे। यह कौन होगा ? मैं विचार करने लगा। उसकी देह पर जो वस्त्र थे, उनसे यह तो निश्चित था कि वह युवराज था। लेकिन यह युवराज किनमें से था

? कौरवों में से या पाण्डवों में से ! चूँकि दुर्योधन में और इसमें बड़ी समता है, इसलिए यह कौरवों में से ही होगा, लेकिन कौरवों में से यह कौन है ? इतने में ही कृपाचार्य ने उसको पुकारा, “दुःशासन !” वह भी जल्दी-जल्दी उनकी ओर चला गया। ! तो वह दुःशासन था ? अहा, दुर्योधन में और उसमें कितनी समानता थी ! एक को छिपाइए और दूसरे को दिखाइए। युवराज दुर्योधन और युवराज दुःशासन। दोनों की चाल में वही शान थी। दोनों की दृष्टि में वही भेदकता थी। कहीं दुःशासन दुर्योधन की प्रतिच्छाया ही तो नहीं था ?

सत्रह

पहले पन्द्रह दिन तक मैं युद्धशाला के शस्त्रों का केवल परिचय प्राप्त करता रहा। क्योंकि मैं कुछ सीखने की स्थिति में ही नहीं था। गुरुवर्य द्रोण ने पहले ही दिन मेरे साथ जो विचित्र व्यवहार किया था, उससे मेरा मन किसी बात में रम नहीं रहा था। कभी मन में आता कि युवराजों के इस कबाड़खाने में केवल सूतपुत्र के रूप में उपेक्षित होने से तो अच्छा है कि एकदम चम्पानगरी का मार्ग पकड़ लिया जाये। युद्ध विद्या की शिक्षा लेकर आखिर मुझको क्या करना है ? अब कौन-सा महायुद्ध होनेवाला है ? और हो भी तो उसमें मेरा उपयोग ही क्या है ? केवल एक सारथी के रूप में ही न ? तो फिर सारथी को इस युद्ध-विद्या की शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? उसको तो घोड़ों की परीक्षा करनी चाहिए और उसकी उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना सीखना चाहिए। क्या यह काम मैं चम्पानगरी में रहकर नहीं कर सकता ? दूसरे ही क्षण फिर यह विचार आता कि ऐसा करने से कैसे काम चलेगा ? युद्ध-विद्या क्या केवल युद्ध के लिए ही सीखी जाती है ? जिसकी भुजाओं में शक्ति होती है, वह सदैव श्रेष्ठ माना जाता है ? इस युद्धशाला में मैं शक्तिशाली बन सकूँगा। इस युवराज अर्जुन भी दिखा दूँगा कि संसार में वही अकेला धनुर्धर नहीं है। लेकिन उस बेचारे ने ही अन्ततः मेरा क्या बिगाड़ा है ! उससे यह स्पर्धा मैं क्यों करूँ ! स्पर्धा सदैव व्यक्ति को अन्धा बना देती है। गुरुवर्य उससे स्नेह करते हैं, तो इसमें उसका क्या दोष है ! मेरी ही तरह वह भी एक युवक है। गुरु प्रेम करें यह कौन शिष्य नहीं चाहेगा ! और कौन ऐसा गुरु है जो भली-भाँति परीक्षा लिये बिना शिष्य को इतने समीप कर लेगा ! यदि यही बात है, तो गुरुदेव ! मैं भी आपकी कसौटी पर खरा उतरूँगा। केवल एक धनुर्धर होने के कारण ही यदि आप उस अर्जुन को इतना स्नेह करते हैं, तो मैं उससे भी श्रेष्ठ धनुर्धर बनूँगा। परन्तु मैं यदि धनुर्धर हो भी जाऊँ तो उसका क्या उपयोग ! आप तो मुझको कभी अपना शिष्य मानेंगे ही नहीं। आपका हाथ मेरी पीठ पर स्नेहपूर्वक कभी नहीं फिर सकेगा-क्योंकि मैं सूतपुत्र हूँ और अर्जुन क्षत्रिय-पुत्र है। क्षत्रिय-कुल में ऐसी क्या विशेषता होती है ? कुल की

यह कसौटी किस लिए ? क्या आवश्यकता है इसकी ? परन्तु यह बात भी कैसे कही जा सकती है ? जिस कुल के पूर्वजों ने अपने पराक्रम से शत्रुओं का निकन्दन कर इस कुरुकुल की और राज्य की कीर्ति फैलायी, वह कुल श्रेष्ठ तो है ही। मेरे कुल के पूर्वजों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी घोड़ों की मालिश की है और उनकी वल्गाएँ पकड़ी हैं। हमारी और क्षत्रियों की तुलना कैसे हो सकती है ! वास्तव में यदि मैंने किसी राजकुल में जन्म लिया होता तो कितना अच्छा होता ! लेकिन यह कैसे सम्भव था ? वटवृक्ष पर रहनेवाले कौए को राजभवन के कलश पर बैठनेवाले कपोत के स्वप्न नहीं देखने चाहिए। छोड़ो भी। जिसको बदलना मनुष्य के हाथ में नहीं होता है, उसका मनुष्य को इतना विचार नहीं करना चाहिए। और कुछ का कुछ समझकर किसी के सम्बन्ध में अनादर-भावना कभी नहीं रखनी चाहिए। सच तो यह था कि यदि युवराज अर्जुन गुरुवर्य का इतना लाड़ला था, तो इसका बुरा उसके भाई मान सकते थे, बात मुझको क्यों लगती है ? मेरा और युवराज अर्जुन का ऐसा क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी तो नहीं है। मैं एक सूतपुत्र हूँ। वह एक युवराज है। उसका मार्ग दूसरा है और मेरा दूसरा। जीवन के मार्ग पर चलने वाले हम दोनों ऐसे यात्री हैं जो एक-दूसरे से एकदम भिन्न हैं। जाओ, युवराज अर्जुन ! खूब बड़े बनो। अजेय धनुर्धर बनो, यदि कभी अवसर आया तो यह सूतपुत्र कर्ण तुम्हारे रथ के घोड़ों को सँभालने के लिए सारथ्य करेगा। मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि अर्जुन हो या कोई और हो, मैं किसी के प्रति भी विद्वेष नहीं रलूँगा। यहाँ के सभी युवराजों के और मेरे मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जन्म ने ही उनका निर्धारण कर दिया है। चूँकि मेरी बड़ी इच्छा है, केवल इसीलिए मैं धनुर्विद्या सीलूँगा। मेरी भी इच्छा होती है कि केवल ध्वनि की दिशा में कहीं पर भी बाण छोड़ूँ, एक ही समय असंख्य बाण दसों दिशाओं में छोड़ूँ। गुरु कौन हैं, इस बात का महत्त्व ही क्या है ? महत्त्व की बात तो वास्तव में यह है। कि विद्या के प्रति शिष्य में कितनी लगन है ! मैं तन-मन एक कर दूँगा। विद्या के लिए विद्या ग्रहण करूँगा। मैंने पक्का निश्चय कर लिया।

अठारह

मेरा युद्धशाला का कार्यक्रम निश्चित हो गया था। एक महीने के भीतर ही मैंने शूल, तोमर, परिघ, प्रास, शतघ्नी, खड्ग, पट्टिश, भुशुण्डि, गदा, चक्र आदि अनेक शस्त्रों का परिचय प्राप्त कर लिया। धनुष की ओर मेरी विशेष रुचि होने के कारण धनुर्विद्या से सम्बन्धित सभी शस्त्रों का मैंने ध्यानपूर्वक अभ्यास किया। केवल बाण ही अनेक प्रकार के थे। कर्णी बाण में दो शूलाग्र होते थे। वह जब पेट में घुस जाता था, तब बाहर निकलते समय आँतें भी बाहर निकल आती थीं। नालीक बाण का फलक मोटा होता था तथा उसमें टेढ़े दाँते होते

थे। इसलिए शरीर में घुसने पर जब वह बाण बाहर निकाला जाता था तब अपने आस-पास की शिराओं को तोड़कर ही वह बाहर निकलता था। लिप्त बाण के अग्रभाग में विषैली वनस्पति का रस लगा होने के कारण वह बड़ा दाहक होता था। बस्तिक बाण शरीर में घुस जाता था। लेकिन बाहर खींचने पर उसका केवल दण्ड ही हाथ में आता था और समस्त फलक ज्यों का त्यों लक्ष्य के शरीर में रह जाता था। सूची बाण का अग्रभाग सूच्याकार और नुकीला होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म लक्ष्य भी उससे अचूक भेदा जा सकता था। विशेष रूप से आँख की पुतली को इस बाण से अचूक भेदा जा सकता था। जिह्म बाण जाता तो टेढ़ा-मेढ़ा था, लेकिन लक्ष्य में बिलकुल ठीक घुसता था। इनके अतिरिक्त गवास्थी अर्थात् बैल के हाड़ का, गजास्थी अर्थात् हाथी के हाड़ का, कपिश अर्थात् काले रंग का, पूती अर्थात् उग्र गन्धवाला, कंकमुख, सुवर्णपंख, नाराच, अश्वस्थी, आंजलिक, सन्नतपर्व, सर्पमुखी आदि बाणों के अनेक प्रकार थे। इन सब बाणों को लक्ष्य पर छोड़ने की शिक्षा मैं मनोयोग से ग्रहण करनेवाला था। अपनी शिष्यावस्था का एक-एक क्षण मुझको इसी कार्य में लगाना था। पहले तीन वस्तुओं पर मेरा प्रेम था। गंगामाता, सूर्यदेव और माता ने-राधामाता ने- —अत्यन्त प्रेम से जो दी थी वह चाँदी की पेटिका; परन्तु युद्धशाला में आने के बाद उसमें एक वस्तु और सम्मिलित हो गयी। वह वस्तु थी धनुष और बाण!

उन्नीस

महाराज के रथ का सारथ्य बाबा ने अनेक वर्षों तक बड़े उत्तम ढंग से किया था। परन्तु आजकल वृद्धावस्था के कारण उनमें पहले-जैसी स्फूर्ति नहीं रही थी। उनकी सहायता लिए महाराज ने गवल्गण नामक सारथी के एक निपुण पुत्र को भी अपनी निजी सेवा के लिए नियुक्त कर रखा था। कभी-कभी महाराज उनको पुकारते थे, उसको सुनकर हम भी यह जान गये थे कि उनका नाम संजय है। लेकिन उनके बड़े होने के कारण हम उनको संजय काका कहने लगे। उनके और आचार्य विदुरजी के मुख में बड़ा ही साम्य था। उनका संजय नाम मुझको बहुत ही अच्छा लगा। उनका सारथी होना तो मुझको उससे भी अधिक अच्छा लगा। यों ही कुछ न कुछ निमित्त बनाकर मैं उनसे बातें करने का प्रयत्न करता।

रथशाला में वे और पिताजी उत्तम जाति के घोड़े, रथ का सबसे अधिक उपयोगी औंगने का तेल चक्र के लिए कौन-सी लकड़ी टिकाऊ रहती है, रथचक्रों के आरों की संख्या कम होनी चाहिए या अधिक, उनका गति पर क्या परिणाम होता है—आदि आदि अनेक मनोरंजक विषयों पर चर्चा किया करते थे। मुझसे तो वे सदैव कहते, “कर्ण, तू सूतपुत्र है। तू सदैव यह याद रखना कि उत्तम जाति का घोड़ा कभी धरती पर नहीं बैठता है रात में नींद

के लिए भी। और कुलीन सारथी कभी रथनीड़ नहीं छोड़ता है प्राण जाने पर भी। एक बार जिस जगह पर बैठ गये, वहाँ से फिर हटना नहीं !"

"क्या कहते हैं काका ! घोड़ा कभी धरती पर नहीं बैठता है ?" मैं आश्चर्य से पूछता।

"हाँ। इतना ही नहीं, बल्कि खड़े-खड़े नींद लेनेवाला घोड़ा जब चार खुरों में से एक खुर उठाकर नींद लेने का प्रयत्न करे, तब यह समझ लेना चाहिए कि दीर्घ यात्रा के लिए वह निकम्मा हो चुका है। ध्यान रखो, घोड़ा सब प्राणियों में उत्तम प्राणी है।"

"उत्तम !" मैं यों ही पूछता, क्योंकि मेरी इच्छा होती थी कि वे निरन्तर बोलते ही रहें। भारद्वाज पक्षी-जैसी उनकी वाणी भी ऐसी मधुर थी, उनको सतत सुनते रहने की इच्छा होती।

"केवल उत्तम ही नहीं, प्रत्युत बुद्धिमान भी। कर्ण, घोड़े पर बैठकर कभी घने जंगल में जाना पड़े और फिर बाहर आने के लिए मार्ग न मिले तो निश्चिन्त होकर हाथ से वल्गा छोड़ दो। यह बुद्धिमान प्राणी तुझको ठीक उसी स्थान पर वापस ले आयेगा, जहाँ से तू चला होगा।" घोड़ों की प्रकृति की ऐसी बहुत-सी बातें काका बातें करते समय बता जाते।

उनके मुख से घोड़ों की विविध प्रकृतियाँ, व्याधियाँ और चालें—इस सब बातों का वर्णन सुनते हुए हमारा समय आनन्द से व्यतीत होने लगा । सारथियों के कर्तव्य कर्म, धार्मिक विधियाँ, सभागृह के नियम आदि की भी वे हमको सूक्ष्म जानकारी देने लगे। अकला, अकूर आदि घोड़ों के खुरों के रोगों पर किस-किस ओषधि का प्रयोग किया जाता है, यह उन्होंने व्याधिग्रस्त घोड़ों पर साक्षात् प्रयोग करके हमको दिखा दिया ।

संजय काका राजभवन के सभी सारथियों के नायक थे । महाराज धृतराष्ट्र, पितामह, महामन्त्री विदुर, राजमाता और अमात्य वृषवर्मा-ये सभी लोग सभागृह में भी उनका सम्मान करते थे। ऐसे सबको प्रिय लगनेवाले संजय काका मुझसे घण्टों गप्पें हाँकने में तल्लीन हो जाते थे। सारथ्य-कर्म की निपुणता की बारीकियाँ बताया करते थे। कभी-कभी मालाओं और घण्टों से सुशोभित अपने रथ में मुझको और शोण को राजनगर में घुमा लाते थे।

बीस

एक दिन मैं और शोण यों ही नगर में घूमने गये थे। सदैव की भाँति घूमघामकर हम लोग लौटने लगे। राजप्रासाद के समीप हम आ चुके थे। इतने में ही सामने से आता हुआ एक राजरथ हमको दिखाई दिया। उस रथ के चारों ओर झिलमिलाते हुए वस्त्रों के परदे लगे हुए

थे। रथ के घोड़े श्वेत-शुभ्र थे। मुझको उनका रंग बहुत ही अच्छा लगा। वे पाँच पुष्ट शरीरयष्टिवाले श्वेत घोड़े दौड़ते हुए सामने से आ रहे थे। मैं उन घोड़ों की ओर मुग्ध होकर देख रहा था। उनमें से एक घोड़ा जब-तब अपने सिर का एक झटका देता था। बड़ी सरलता से वे उस रथ को आगे ला रहे थे।

इतने में ही शोण अकस्मात् मेरे हाथ में से अपना हाथ छुड़ाकर उस रथ की ओर ही दौड़ने लगा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि वह पागल की तरह उस रथ की ओर क्यों दौड़ रहा था ? क्षण-भर में वह रथ के सामने पहुँच गया। मुझको उसकी मूर्खता पर क्रोध आ गया। मैं उसके पास पहुँच पाऊँगा, उससे पहले ही वह रथ के नीचे आ जायेगा। क्या किया जाये ? भय से शरीर रोमांचित हो गया। क्षण-भर में यदि वह वहाँ से नहीं हटा तो रथ के नीचे अवश्य आ जायेगा, यह सोचकर प्राणों के भय से अपनी पूरी शक्ति एकत्रित कर मैं जोर से चिल्लाया, “शोणऽऽ रुक जा !” इतने में ही झटपट झुककर उसने बड़ी फुरती से काले रंग की कोई वस्तु उठायी। शोण को देखकर सारथी ने अत्यन्त कुशलता से सभी घोड़ों को रोका। बड़ी कठिनाई से वे शोण के निकट आकर जैसे-तैसे रुके। एक घोड़े के मुँह का झाग तो सीधा शोण के सिर पर पड़ रहा था। लेकिन उसका इन बातों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं था। हाथ में लगी काली वस्तु को वह प्रेम से सहला रहा था। मैं हाँफता हुआ उसके पास गया। मुझको देखते ही हाथ की वस्तु मुझको दिखाता हुआ वह व्याकुल होकर बोला, “भैया, यह देखो। यह अभी रथ के नीचे आ जाता !” मैंने देखा-उसके हाथों में बिल्ली का बच्चा था। अपनी छोटी-छोटी आँखों को रह-रहकर बन्द करता हुआ वह अत्यन्त करुण स्वर में चिल्लाने लगा। मेरी समझ में ही नहीं आया कि शोण से अब कहूँ तो क्या कहूँ ? उस पर क्रोध भी नहीं किया जा सकता था। मैं कुछ आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा। यह क्या वही शोण है जो हमारे रथ के पीछे रोता हुआ दौड़ता आया था?

वह बिल्ली के बच्चे की पीठ पर प्रेम से हाथ फिराने लगा। वह इतना प्रसन्न था मानो स्वर्ग मिल गया हो। उसका उत्तरीय कन्धे पर से सरककर नीचे धूल में गिर पड़ा था, इसका भी उसे भान नहीं था। इतने में ही उस बच्चे की माँ कर्कश शब्द करती हुई कहीं से चिल्लाती आयी। अपने छोटे बच्चे को वह इधर-उधर ढूँढ़ने लगी। गूँ-गूँ करती हुई वह हमारे पैरों पर लोटने लगी। मैंने शोण से बच्चा नीचे रख देने को कहा।

जैसे ही शोण ने बच्चा नीचे रखा, खप् से उसकी गरदन अपने मुँह में पकड़कर गुंर-गुंर करती हुई बिल्ली क्षण-भर में ही जाने कहाँ अदृश्य हो गयी। अपने बच्चे को अकेला छोड़कर वह अब तक कहाँ भटक रही थी ? इस समय यदि शोण ने साहस न किया होता, तो उसका वह कोमल सुकुमार शिशु क्या राजमार्ग की धूल में न मिल गया होता ? क्या उसकी वह करुण ध्वनि किसी को सुनाई पड़ सकती थी ?

इस समस्त घटना ने मुझको एकदम राधामाता की याद दिला दी। उसकी स्नेहमयी मूर्ति आँखों के सम्मुख खड़ी हो गयी। आज तक उसने मेरा कितना ध्यान रखा था ! माता हो तो राधामाता-जैसी हो ! मैं चम्पानगरी की स्मृतियों में खो गया। इतने में ही उस राजरथ के रथनीड़ पर बैठे हुए सारथी ने कहा, “जल्दी कीजिए, झटपट अलग हटिए। रथ में राजमाता कुन्तीदेवी हैं !”

"राजमाता कुन्तीदेवी !"

मैंने शोण की बाँह पकड़कर उसको झट से एक ओर खींच लिया। रथ घड़-घड़ आवाज़ करता हुआ, धूल उड़ाता हुआ दौड़ने लगा। मैंने उसमें जुते श्वेत शुभ्र घोड़ों की ओर पुनः उत्सुकता से देखा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस रथ में छह घोड़े जोड़ने की भली-भाँति व्यवस्था होने पर भी केवल पाँच ही घोड़े जोड़े गये थे। एक घोड़े का स्थान यों ही रिक्त छोड़ दिया गया था।

“राजप्रासाद में घोड़े नहीं रहे हैं क्या ?” मैंने मन ही मन कहा। रथ चला गया। शोण का उत्तरीय रथचक्र के नीचे आ गया था। वह उसने उठा लिया। उसकी धूल झाड़कर उसको उसने फिर से कन्धे पर लपेट लिया। हम अपने आवासीय कक्ष की ओर चलने लगे। मेरा हाथ शोण के कन्धे पर था। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था।

इक्कीस

हस्तिनापुर में मेरे दिन बड़े आनन्द से व्यतीत होने लगे। पहले कुछ दिन तक तो चम्पानगरी की बहुत याद आयी थी। धीरे-धीरे, वह बिना किसी कारण के, कम होती गयी। परन्तु मेरे पास जो पेटिका थी, उसके कारण मुझको माता का प्रेमपूर्ण मुख सदैव अपनी आँखों के सामने दिखाई देता था। वह इस समय दूर थी, इसीलिए उसकी वास्तविक महत्ता का ज्ञान मुझको अब हुआ था। मैं प्रतिदिन सोते समय कहता था, “माता, ममता के धागे से बँधे हुए जीव भले ही कितनी दूर हों, लेकिन वे निकट ही रहते हैं। तू इस पेटिका में ही है। नहीं तू दो पेटिकाओं में है। एक तो अपनी दी हुई पेटिका में और दूसरी मेरे मन की पेटिका में।”

स्मृतियाँ झंझावात की तरह होती हैं। वे चाहे जहाँ से और चाहे जैसे आ सकती हैं, इतना ही नहीं बल्कि कभी-कभी तो वे मन के शान्त सरोवर में उफान भर देती हैं। कभी-कभी चम्पानगरी की बड़ी तीव्रता से याद आती, मन उदास हो जाता और फिर किसी में न रमता। ऐसे अवसर पर मैं शोण को लेकर नगर में चक्कर लगा आता। उससे सारी उदासीनता दूर हो जाती। अनेक बार इस तरह चक्कर लगाने के कारण अब सारा नगर हमको चिरपरिचित-सा लगने लगा था। कौन-से मार्ग कहाँ जाते हैं, किस देवता का मन्दिर कहाँ है,

सरोवर कहाँ है, अश्वशाला कहाँ है, धान्यागार कहाँ है, शस्त्रागार कहाँ है, यह सब अब हमको अच्छी तरह ज्ञात हो गया था। हस्तिनापुर ऐसा लगता था जैसे भिन्न-भिन्न आकार के और रंगों के पुष्पों से भरा हुआ कोई उद्यान हो। कितने प्रकार के मनुष्य इस नगर में रहते थे। गायक, नर्तक, योद्धा, व्यापारी, कृषक, कलाकार, पण्डित और इनके अतिरिक्त चर्मकार, कुम्भकार, सम्मार्जक आदि श्रमजीवी भी यहाँ थे। चाहे जिस समय जाओ, नगर में सदैव भीड़-भाड़ दिखाई देती थी। इस नगर को देखते समय मेरा मन कभी नहीं ऊबा। कभी-कभी तो यह इच्छा होती थी कि युद्धशाला में जाना छोड़कर नगर में ही घूमने चला जाऊँ। लेकिन यह सम्भव नहीं था। क्योंकि मैं यहाँ घूमने नहीं आया था, शिक्षा प्राप्त करने आया था।

बाईस

हस्तिनापुर में मेरा कार्यक्रम निश्चित-सा था। मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठा करता था। नियमपूर्वक गंगा के किनारे पर जाता था। कोई व्याघात न डाले इसलिए घाट पर कभी नहीं जाता था। मैंने अपने लिए एक अन्य अच्छा-सा और शान्त स्थान चुन लिया था। वहाँ किसी के आने की सम्भावना नहीं थी। वहाँ जाकर मैं जी भरकर डुबकियाँ लगाता था। तदुपरान्त कमर तक पानी में खड़ा हो जाता था। छोटी-छोटी मछलियाँ आकर मेरे पैरों को नोंचने का प्रयत्न करती थीं। परन्तु मैं जानता था कि इससे उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ेगा। मेरी अभेद्य त्वचा को काटते-काटते वे थक जातीं और फिर हारकर चली जातीं। बाद में तो उन्होंने मेरे आस-पास आना ही छोड़ दिया। शायद उन्होंने यह समझ लिया होगा कि मेरे पैर तो पानी में पड़े रहनेवाले दो परिचित पत्थर-जैसे हैं।

मैं अंजलि में पानी भरकर सूर्यदेव की प्रतीक्षा करता। दूर गंगा के जल के ऊपर धीरे से सिर उठाते उनकी किरणों से ऐसा लगता मानो गंगा की असंख्य लघु लहरें सिर पर सुनहरे रंग का वस्त्र रखकर नाच रही हों। कभी-कभी कोई कारण्डव पक्षी हम दोनों के मध्य चक्कर लगाने लगता। उस पक्षी के सूर्य के सामने पड़ने से उस तेज का उतना स्थान छिप जाता था। मैं मन ही मन कहता, "इस छोटे-से पक्षी में भी कुछ शक्ति है। अपने अस्तित्व में वह सूर्यविम्ब को भी ढकना चाहता है।" वह पक्षी जब दूर चला जाता तो विम्ब पुनः चमकने लगता।

हाथ के जल का अर्घ्य मैं उस तेज को देता और कहता, "आपका शिष्य, यह सूतपुत्र कर्ण, आपके आशीर्वाद का अभिलाषी है, मुझपर अनुग्रह करो, गुरुदेव!" उसके बाद मैं एकटक उस तेज की ओर देखता। चमचमाते हुए असंख्य तेजस्वी कण मुझको दिखाई

देते। प्रचण्ड वेग से घूमनेवाले तेज के कण ! विश्व का अन्धकार दूर करनेवाले तेज के कण ! संसार में उत्साह की सहस्र धाराएँ, बहानेवाले अमर तेज के कण ! यदि एक दिन ही ये कण जग की अपना मुख न दिखलायें तो क्या हो जायेगा ? यह हस्तिनापुर, यहाँ के ये राजप्रासाद और मन्दिर, गर्व से छाती आगे निकालकर चलनेवाले ये योद्धागण-वह अर्जुन, वह भीम, वे द्रोण, क्या होगा इन सबका ? अहा, कितने कर्तव्यदक्ष हैं, ये तेज के कण ! मैं मन ही मन कहता, "यह कर्ण भी उस तेज के कणों में से एक कण बन जाता तो कितना अच्छा होता ! तब वह भी स्वयं को जलाकर संसार के समस्त अन्धकार को दूर कर देता।" परन्तु वह सम्भव न था।

मैं स्वयं को भूल जाता। देह का कवच, कानों के कुण्डल—किसी का भी मुझको ध्यान नहीं रहता। आँखों को अपलक खोलकर मैं उस तेज को यथाशक्ति आँखों से पी लेता। लेकिन पी-पीकर भी मैं कभी तृप्त नहीं हो पाता।

इसी तरह अनेक घण्टे बीत जाते। वह तेज मेरे सिर पर होता हुआ पीछे चला जाता। अब उसको देखना सम्भव ही नहीं होता। मेरी गरदन थक जाती। और तब मैं शान्तिपूर्वक आँखें बन्द कर लेता। आँखों के आगे तेज के वलय ही वलय गिरने लगते। मुझको ऐसा लगता जैसे मेरे शरीर के रक्त की एक-एक बूँद उस तेज के कण की तरह फिर रही हो। बड़ी देर बाद मैं आँखें खोलता। मेरी पीठ अधिक सन्तप्त हो जाती थी। किनारे की बालू भी तप्त हो जाती थी। मैं जल्दी-जल्दी पानी से बाहर निकलता और वस्त्र बदलकर लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ राजभवन की ओर चल देता।

तेईस

राजभवन पर आते ही युद्धशाला में पहने जानेवाले वस्त्रों को पहनता और शोण को लेकर मैं युद्धशाला की ओर जाता। वहाँ हमारा सारा दिन भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों का अभ्यास करने में व्यतीत होता। कभी चक्कर लगाते हुए गदा फिराते, कभी खड्ग के हाथ दिखाते, कभी शूल फेंकते। जो भी शस्त्र हाथ में आता उसको कौशलपूर्वक जबतक चला नहीं लेता था, तबतक मुझको सन्तोष न होता था। विशेष रूप से धनुष के अभ्यास के लिए तो मैंने घण्टों तक तपस्या की थी। क्योंकि कोई भी विद्या हो, वह पौधे की तरह होती है। उसमें निष्ठा का खाद और मन की एकाग्रता का पानी जब पड़ता है, तभी वह बढ़ती है। इनके अभाव में उसके मरने की सम्भावना रहती है। पूरे दिन मैं इस निष्ठा की और मन की एकाग्रता की पराकाष्ठा कर देता। जो कठिन होता था, उसे ही पहले सीखने की मेरी इच्छा होती थी। मैं उसको सीख लेता। सन्ध्या समय सभी लोग गुरुवर्य द्रोण की आज्ञा होते ही

हाथ में लगे शस्त्र नीचे रखकर अपने-अपने निवासस्थान की ओर चले जाते। मैं शोण को वहीं रुकने के लिए कहकर झटपट गंगा के किनारे चला जाता। युद्धशाला के पीछे से ही बहती हुई वह आगे नगर में गयी थी। वहाँ खड़ा होकर मैं पश्चिम की ओर देखता। हस्तिनापुर से विदाई लेनेवाले सूर्यदेव को मैं वन्दन करता। मेरी देह पर अपनी सुनहली अँगुलियाँ फिराते हुए वे मानो कहते, “अब हम कल मिलेंगे।” दिन-भर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों का अभ्यास करने से जो श्रान्ति आ जाती थी, वह क्षण-भर से दूर हो जाती।

रात को बिस्तर पर लेटते ही दिन-भर के परिश्रम के कारण मुझको तत्क्षण नींद आ जाती। लेकिन कभी-कभी वह बालक की तरह रुष्ट भी हो जाती। तब गुरुवर्य द्रोण के वे शब्द याद आते, “यह राजकुमारों के साथ कैसे शिक्षा पा सकता है ?” मैं अपने मन को समझाने का प्रयत्न करता — उनके कथन में कोई त्रुटि नहीं है। हम युवराज नहीं हैं। हम उनके साथ नहीं पढ़ सकते हैं। पर मन यह बात मानने को तैयार नहीं होता था। मैं व्याकुल होकर करवटें बदलता रहता। अपनी इस व्याकुलता पर मुझको स्वयं ही आश्चर्य होता था। नगर में ऐसे असंख्य युवक थे, जो युवराजों के साथ शिक्षा नहीं पा सके थे। वे सबके सब युद्धशाला में आते। वे भी क्या मेरी तरह विचार किया करते हैं ? फिर मुझको ही यह बात इतनी क्यों अखर रही है ? परेशान होकर मैं बाहर आ जाता। राजभवन के सामने एक सरोवर था, उस सरोवर के किनारे पर आकर बैठ जाता। उसके स्वच्छ पानी में आकाश का प्रतिबिम्ब झलकता था। चन्द्रमा की कोर तो आकाश की निर्जीव तारिकाओं के साथ खेलना छोड़कर उस सरोवर की चपल मछलियों के साथ खेलने के लिए आकाश का इतना ऊँचा सोपान चुपचाप उतरकर आ बैठती थी। सरोवर की निर्भीक मछलियाँ उस कोर के साथ सतत मनोहर आँखमिचौली खेलती रहतीं। बड़ी तक मैं मछलियों की उस मनोहर चपल दौड़-धूप को देखता रहता। सरोवर के चारों ओर तटबन्दी की दीवार में कहीं-कहीं कबूतर रहते थे। उनमें से कोई कबूतर भूले-भटके आवाज़ कर उठता और फिर शान्त हो जाता। चन्द्रकोर की ओर देखता हुआ मैं सीढ़ियाँ चढ़कर फिर से कक्ष में लौट आता तथा शान्तिपूर्वक सो जाता।

चौबीस

राजप्रासाद से युद्धशाला बहुत दूर थी, इसलिए हम कुछ दिन बाद युद्धशाला में ही रहने लगे। अब राजप्रासाद से हमारा सम्बन्ध टूट गया था। वर्ष में एक बार शारदोत्सव के लिए हम राजभवन जाया करते। वह भी युवराज दुर्योधन के आग्रह के कारण। उसने और अमात्य वृषवर्मा ने हमारी अत्यधिक सहायता की थी। उसके निन्यानबे भाई थे। लेकिन

अकेले दुर्योधन को छोड़कर और किसी ने कभी मेरा हालचाल नहीं पूछा था। मुझको भी औरों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। उन सबके नाम कितने विचित्र थे। दुर्मर्ष, दुर्मुख, अन्त्यनार। यों तो मुझको एक और व्यक्ति भी अच्छा लगा था। वह था अश्वत्थामा। गुरु द्रोण का पुत्र। कितना सरल और ऋजु स्वभाव था उसका ! इतनी छोटी-सी अवस्था में ही धर्म, आत्मा, पराक्रम, कर्तव्य, प्रेम आदि विषयों पर वह कितने अधिकार से बोलता था ! अपना समस्त अतिरिक्त समय मैं उसके साथ चर्चा करने में बिताता था। उसको मेरा केवल कर्ण नाम ही विदित था। मैं कौन हूँ, कहाँ का हूँ, यहाँ किस लिए आया हूँ, इस सम्बन्ध में उसने मुझसे कभी पूछताछ नहीं की थी। इसीलिए वह मुझको सबसे अधिक अच्छा लगा था।

एक दिन मैंने सहज ही उससे पूछा, “तुम्हारा नाम अश्वत्थामा तनिक विचित्र-सा है, तुमको नहीं लगता ?”

छोटे बालक की तरह खेलखिलाकर हँसता हुआ वह बोला, “तुम ठीक कह रहे हो। यह नाम मुझे भी खटकता है। लेकिन जब मैं अपने नाम के सम्बन्ध में लोगों से पूछता हूँ, तब वे क्या कहते हैं, जानते हो ?”

“और क्या कहेंगे ? तुम घोड़े की तरह रोबीले दिखाई पड़ते हो, ऐसा ही कुछ कहते होंगे।”

“नहीं। ये लोग कहते हैं कि जन्म लेते ही मैं घोड़े की तरह हिनहिनाया था। और इसीलिए मेरा नाम अश्वत्थामा रखा गया है। लेकिन मुझे नहीं जँचती यह बात। कोई छोटा शिशु घोड़े की तरह हिनहिनाये—यह भी कभी सम्भव है क्या ? परन्तु सच बात तो यह है कि मुझको अपना नाम अच्छा लगता है। क्योंकि मेरे पिताजी मुझको 'अशू' कहते हैं। लेकिन जब मैं अकेला होता हूँ तभी कहते हैं। सबके सामने तो वे मुझको अश्वत्थामा ही कहते हैं।”

मुझको भी उसका 'अशू' नाम बहुत अच्छा लगा।

उसकी संगति में मेरे दिन बड़े मजे में बीत रहे थे। वह मेरे कानों के कुण्डलों को छूकर कहता, “कर्ण, तुम्हारे ये कुण्डल दिन-ब-दिन और अधिक सुनहले रंग के होते जा रहे हैं। नगर के किस सुवर्णकार के पास जाकर इनपर यह सुनहला वर्क चढ़वाते हो ?”

“मेरे इन कुण्डलों को रँगनेवाला सुवर्णकार कौन है, यह मुझे भी भला कहाँ मालूम है ! नहीं तो मैं उससे अवश्य कहता कि मेरे मित्र अश्वत्थामा को भी सुनहले कुण्डलों की एक जोड़ी दे दो। बड़ा अच्छा है यह।

वह हँसकर कहता, “नहीं भाई, अपने कुण्डलों को तुम अपने ही पास रखो। कानों में सुनहले कुण्डल देखकर कोई चोर मुझ-जैसे पर्णकुटी में सोनेवाले ऋषिकुमार का कान काटकर ले जायेगा। फिर तो न कुण्डल रहेंगे न कान।” हम दोनों खेलखिलाकर हँस पड़ते

और अपने-आपको भूल जाते। मैं सदैव मन में सोचा करता कि गुरु द्रोण का यह पुत्र कितना निष्पाप और निराग । उसमें और शोण में क्या अन्तर है ? परन्तु उसके पिता कितने गम्भीर और शान्त हैं। उनके मन की चाह ही नहीं मिलती है। या कि उत्तरदायित्व मनुष्य को प्रौढ़ बना देता है ? या कि कुछ लोग जन्म से ही प्रौढ़ होते हैं ? वह युधिष्ठिर नहीं है क्या-सदैव गम्भीर । क्या मजाल जो कभी भूलकर भी हँसे ? परन्तु इस शाला के सभी शिष्य उसका कितना सम्मान करते हैं ! और उसका भाई अर्जुन तो जैसे सबका प्राण ही है। जहाँ देखो वहीं अर्जुन । इस अश्वत्थामा पर भी उतना प्रेम नहीं होगा जितना कि गुरु द्रोण उस अर्जुन पर करते हैं। अर्जुन को वे इतना क्यों मानते हैं ? वैसे देखा जाये तो अश्वत्थामा के बराबर श्रेष्ठ युवक युद्धशाला में कोई और नहीं था। लेकिन उस अर्जुन के अतिरिक्त यहाँ और किसी का सम्मान नहीं था। किसी व्यक्ति का इतना महत्त्व बढ़ा देना कहाँ तक उचित है ! इससे वह व्यक्ति क्या उन्मत्त नहीं हो जायेगा ? वह कौन-सी कसौटी है, जिसपर खरा उतरने के कारण अर्जुन को गुरुदेव ने अपने इतने समीप कर लिया है ? अनेक बार मेरे मन में यह इच्छा हुई थी कि अश्वत्थामा से यह प्रश्न पूछूँ, लेकिन बड़े संयम से मैंने वह बात टाल दी थी। कहीं इसमें वह अपने पिता का अपमान न समझ ले। इसलिए वह प्रश्न मैं उससे कभी नहीं पूछ सकता था। परन्तु एक मित्र के रूप में अश्वत्थामा मुझको युद्धशाला के अन्य सभी शिष्यों की अपेक्षा अपने अधिक समीप ' लगता था; अधिक अच्छा लगता था ।

पचीस

बीच में एक बार मैं माता से मिलने के लिए चम्पानगरी गया था। आठ दिन बाद जब लौटा तब अश्वत्थामा से मुझे यह पता चला कि गुरु द्रोण ने अपने सभी शिष्यों की परीक्षा ली थी। उन्होंने एक अशोक वृक्ष की ऊँची डाल पर एक मरा हुआ पक्षी, जिसमें भुस भरा हुआ था, टँगवा दिया था। उस पक्षी की बायीं आँख को ही अचूक भेदनेवाले को उनका प्रशंसात्मक साधुवाद मिलना था। उन्होंने सभी शिष्यों को एकत्र किया और एक-एक करके प्रत्येक को उस पत्थर के चबूतरे पर बुलाकर, उसके हाथ में धनुष देकर उससे निशाना लगाने को कहा। प्रत्येक व्यक्ति आता, धनुष उठाता, प्रत्यंचा चढ़ाता, इतने में ही गुरुवर्य उससे पूछते, “बाण छोड़ने से पहले तुझको क्या-क्या दिखाई दे रहा है ?”

अनेक जनों ने अनेक प्रकार के उत्तर दिये। उस मूर्ख भीम ने तो यह कहा कि, "मुझे परली ओर के हरे पहाड़ दिखाई पड़ रहे हैं।" कोई कहता कि बादल दिखाई पड़ रहे हैं, कोई कहता कि पेड़ के हरे पत्ते दिखाई दे रहे हैं, कोई कहता कि वह पक्षी दिखाई दे रहा है।

इससे गुरुदेव को सन्तोष नहीं होता। वे उस व्यक्ति को धनुष नीचे रखकर वापस जाने को कहते। सबके अन्त में अर्जुन आया। गुरुवर्य ने उससे पूछा, “अर्जुन, तुझे क्या-क्या दिखाई दे रहा है ?”

अर्जुन बोला, “मुझे केवल उस पक्षी की आँख ही दिखाई दे रही है।” गुरुवर्य प्रसन्न हो गये। उन्होंने उसकी पीठ पर थाप मारी और कहा, “बहुत अच्छे ! तो कर उस आँख का भेदन !” उसने तत्क्षण बाण छोड़कर उस आँख को भेद दिया। गुरुवर्य ने फिर उसकी पीठ पर थाप मारी।

यह समस्त घटना मुझको अश्वत्थामा ने, अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को बीच-बीच में और बड़ी करते हुए, बतायी। अन्त में उसने मुझसे सहसा ही पूछा, “कर्ण, यदि तू उस समय उपस्थित होता, तो तू पिताजी को क्या उत्तर देता ?”

मैं थोड़ी देर चुप रहा। मन ही मन मैंने स्वयं को उस पत्थर के चबूतरे पर समझकर वीरासन लगाया और आँखों के सामने उस पक्षी की आँख पर दृष्टि स्थिर कर दी तथा उससे कहा, “अश्वत्थामा ! यदि मैं होता तो मैंने कहा होता, “मुझको कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। क्योंकि लक्ष्य सामने होने पर कर्ण फिर कर्ण रहता ही नहीं है। उसका सम्पूर्ण शरीर बाण बन जाता है। केवल बाण ही नहीं, बल्कि बाण की नोक और लक्ष्य-भेद का बिन्दु। मैंने कहा होता, मेरे नुकीले शरीर को एक तिल की जितनी जगह सामने दिखाई दे रही है।”

मेरे इस उत्तर से आनन्दित होकर अश्वत्थामा ने मुझको अंक में भर लिया। वह बोला, “कर्ण, तू सबमें श्रेष्ठ धनुर्धर होगा।” उसके बन्धन से अपने को छुड़ाता हुआ मैं मन ही मन निश्चय कर रहा था कि जिस युवराज अर्जुन की, उस पक्षी की आँख का भेद करने के कारण, गुरुवर्य ने इतनी प्रशंसा की थी; वही लक्ष्यभेद आज मैं करूँगा। यह करने पर गुरु द्रोण फिर कभी न कभी मुझको भी अपने निकट कर लेंगे। मेरी भी पीठ थपथपायेंगे।

उस दिन सन्ध्या समय मैं नगर में गया। मरे हुए पक्षियों में भुस भरकर बेचनेवाले एक व्यक्ति से भुस भरा हुआ एक पक्षी लिया और लौट आया। रात को चारों ओर स्तब्धता होते ही मैंने शोण को जगाया। हम दोनों अपने कक्ष से बाहर निकले। मेरे हाथ में वह पक्षी था। सम्पूर्ण युद्धशाला शान्त थी। दिन-भर शस्त्रों की झनकार से कम्पित रहनेवाला वह स्थान इस समय निस्तब्ध था। स्थान-स्थान पर इंगुदी के पलीते जलते हुए उस भव्य क्रीडांगण को धैर्य बाँधा रहे थे। उनमें से एक पलीता मैंने हाथ में ले लिया और बीच के धनुर्वेद के पत्थर के चबूतरे पर चढ़ गया। सामने ही वह विशाल अशोक वृक्ष था। उसकी ओर अँगुलि से संकेत कर अपने हाथ से लगा पक्षी शोण के हाथ में देता हुआ मैं बोला, “इस पक्षी को उस वृक्ष पर किसी ऊँचे स्थान पर बाँध दो और तुम पलीता लेकर वहीं रुके रहो।

“किस लिए ?” उसने आश्चर्य से पूछा।

"वह बाद में बताऊंगा। जल्दी जाओ।"

मेरे हाथ से पलीता और पक्षी लेकर वह वृक्ष की ओर गया। सरसर गिलहरी की तरह सरकता हुआ वह क्षण-भर में ही ऊपर चढ़ गया। थोड़ी देर बाद वह बोला, "भैया, यहाँ एक शाखा से एक धागा बाँधा हुआ दिखाई देता है। यहीं बाँध दूँ क्या?"

"जितना सम्भव हो सके उतना ऊँचा जाओ अभी।" मैं नीचे से चिल्लाया। वह वहाँ से और ऊँचा गया। इससे अधिक ऊँचाई पर वह अब जा ही नहीं सकता था। उसने हाथ में पकड़ा पक्षी एक डाल से बाँध दिया। वह एक अन्य शाखा पर बैठ गया। मैंने चिल्लाकर उससे कहा, "उस पलीते को इस तरह पकड़ो कि वह पक्षी मुझको दिखाई दे। तनिक भी हिलो-डुलो मत।" उसने पलीता अच्छी तरह पकड़ लिया। मैंने धनुष उठाया और वीरासन लगाया। उस चबूतरे पर खड़े होकर ही मैंने सूर्यदेव का शिष्यत्व स्वीकार किया था। मेरा मन मुझसे कह रहा था, "याद रख, युवराज अर्जुन ने लक्ष्य की दिखाई देनेवाली एक आँख फोड़ी थी। तुझको दोनों आँखें फोड़नी हैं। दिखाई देनेवाली और दिखाई न देनेवाली। कैसे? पहला बाण लगते ही वह पक्षी घूमेगा। उसका दूसरी ओर का हिस्सा सामने आ जायेगा। इतने में ही दूसरा बाण उसकी दूसरी आँख में घुसना चाहिए। ये दोनों बाण एक ही समय छोड़ने हैं और वे भी पलीते के इस धूमिल प्रकाश में।"

मैंने वृक्ष की ओर देखा। पलीते की फड़फड़ाती हुई ज्योति से हवा का अनुमान किया। समीप रखे तरकश में से दो सूची बाण झट से खींचकर हाथ में लिये। धनुष को सन्तुलित किया और वे दोनों बाण उसपर चढ़ा दिये। प्रत्यंचा खींची। अब मैं....मैं नहीं रहा था। मेरा शरीर, मन, दृष्टि, श्वास, बाणों की दोनों नोक और पक्षी की दोनों आँखें-सब एक हो गये। खींची हुई प्रत्यंचा पर दोनों अँगुलियाँ स्थिर हो गयीं। दोनों अँगुलियों पर दो भिन्न-भिन्न प्रभाव थे। उनमें से एक बाण थोड़ा-सा आगे जाना चाहिए था और दूसरा तुरन्त ही उसके पीछे। क्षण-भर स्थिरता रही और फिर दोनों बाण सूँ SSS करते हुए एक के बाद एक धनुष से छूटे। पहला आघात लगा और वह पक्षी एकदम घूमा। इतने में ही दूसरे बाण का एक और आघात उसको लगा तथा गड़बड़ी में शोण द्वारा जैसे-तैसे बाँधा गया वह पक्षी धागा टूट जाने के कारण धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। हाथ में लगा धनुष फेंककर, चबूतरे की चार-चार सीढ़ियाँ एकदम उतरकर, मैं दौड़ता हुआ उस वृक्ष के नीचे गया। पक्षी हाथ में लेकर एक ओर लगे पलीते के पास ले जाकर मैंने देखा। उसकी दोनों आँखों की पुतलियों में दो बाण घुसे हुए थे। सफलता के आनन्द से मेरी आँखें चमकने लगीं। शोण वृक्ष से उतरकर नीचे आया। दूर कहीं रात में पहरा देनेवाले पहरेदार ने मध्यरात्रि की घटकाओं के टोले लौहपट्टिका पर मारे। हम लौटकर कक्ष में सोने चले गये।

उस दिन से लक्ष्य-भेद के कठिन-कठिन प्रकारों को हम दोनों गुप्तरूप से रात में करने लगे, जब अखाड़े में कोई नहीं होता था। क्योंकि नीरव निस्तब्ध रात में मन को बड़ी अच्छी

तरह एकाग्र किया जा सकता था, कोई व्याघात नहीं डाल सकता था।

इसी प्रकार अभ्यास करते हुए एक के बाद एक अनेक वर्ष कैसे बीत गये, इसका न मुझको पता चला, न शोण को। मल्लविद्या के हाथ सीखने के कारण मेरा शरीर सुदृढ़ हो गया। भुजदण्ड के स्नायुओं पर ज़ोर से मुष्टि-प्रहार करता हुआ अश्वत्थामा मुझसे कहता, “कर्ण, यह मांस है या लोहा ?”

छब्बीस

एक बार अश्वत्थामा के साथ मैं यों ही राजभवन पर गया। राजभवन के सामने सरोवर के किनारे, दुर्योधन के मामा शकुनि बैठे हुए थे, उनके हाथ में एक श्वेत-शुभ्र राजहंस था। उस श्वेत पक्षी के प्रति मेरे मन में बड़ा आकर्षण था। पानी में अपने पैरों की डौंड चलाता हुआ गरदन को कितने शानदार झटके देता हुआ घूमता रहता है वह ! मानो जल-साम्राज्य का वह अकेला ही सम्राट् हो। हम दोनों शकुनि मामा के पास गये। वे लगभग महाराज धृतराष्ट्र-जैसे ही दिखाई पड़ते थे। लेकिन उनको एक आदत थी। बातें करते समय वे सदैव भौंहों को हिलाते रहते थे। उनसे बातें करने वाले का ध्यान बार-बार उनकी छोटी-छोटी आँखों के ऊपर स्थित मोटी भौंहों की ओर जाता। हाथ में पकड़े राजहंस को सहलाते हुए उन्होंने अश्वत्थामा से पूछा, “क्यों अश्वत्थामा, सभी राजकुमार युद्धशास्त्र में कहाँ तक बढ़े ?”

“अर्जुन धनुष में, दुर्योधन गदा में, भीम मल्लविद्या में, नकुल खड्ग में, दुःशासन मुष्टियुद्ध में, सहदेव चक्र में और युधिष्ठिर युद्धनीति में अत्यन्त निपुण हो गये हैं।” अश्वत्थामा ने उत्तर दिया।

“तब तो फिर जल्दी ही एक बार सबकी परीक्षा लेनी चाहिए।”

“जी हाँ, यही विचार पिताजी भी कर रहे हैं।” अश्वत्थामा ने कहा। इतने में ही एक सेवक पाषाण के पात्र में दूध ले आया। उसने वह पात्र तालाब के किनारे रख दिया। शकुनि मामा ने राजहंस अश्वत्थामा के हाथ में देकर झुकते हुए सरोवर में से अंजलि भरकर पानी लिया और उस पाषाण-पात्र में डाल दिया।

“मामाजी, यह क्या दूध की बचत की जा रही है ?” अश्वत्थामा ने पूछा

“नहीं। यह राजहंस है। इस पात्र में चाहे जितना पानी डाल दो परन्तु फिर भी यह पानी नहीं पीयेगा।” उत्तरीय से हाथ पोंछते हुए शकुनि मामा ने भौहें ऊँची करते हुए कहा।

“सो कैसे ?”

"अब साक्षात् देख ही लो।" यह कहकर मामा ने राजहंस को धीरे से अश्वत्थामा के हाथ से लिया और उस पत्थर के पास बैठा दिया। तुरन्त ही उस पक्षी ने अपनी शानदार गरदन उस पत्थर के पात्र में डाल दी। चुर-चुर आवाज करता हुआ वह दूध पीने लगा। थोड़ी देर बाद उसने गरदन बाहर निकाली। उसने गरदन को एक बार झटका दिया। उसकी चोंच में अटके हुए दूध के चार कण निकल गये। हम सबने उत्सुक होकर झाँककर उस पत्थर के पात्र में देखा। उसमें अंजलि-भर पानी ज्यों का त्यों बच रहा था। केवल शुद्ध पानी। शकुनि मामा ने उसको फिर तालाब में डाल दिया। और भौंहों को हिलाया।

उस समस्त घटना पर मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ। विचारों के घोड़े मेरे मन के रथ को खींचने लगे। मनुष्य भी इस राजहंस की तरह ही नहीं होता है क्या ? उसको जिसकी आवश्यकता होती है, उसको ही ग्रहण करता है और शेष छोड़ देता है। मैंने भी ऐसा ही नहीं किया था क्या ? युवराज दुर्योधन और अश्वत्थामा इन दो को छोड़कर उस विशाल राजनगरी के अन्य किस व्यक्ति को मैं अपने निकट लाया था ? औरों के प्रति मेरे मन में अपनत्व क्यों नहीं था ? इसका उत्तर कैसे दिया जा सकता था ! वह राजहंस क्या कभी यह बता सकेगा कि उसने पानी छोड़कर ठीक दूध ही कैसे चुन लिया ? लेकिन इसमें मेरा भी क्या दोष है ! युवराज दुर्योधन ने स्नेह से मेरी पूछ-ताछ की इसीलिए मैं भी उससे प्रेम करता हूँ ? मनुष्य का प्रेम धरती की तरह होता है। पहले एक दाना बोना पड़ता है। तभी धरती अनेक दानों से भरी हुई बालियाँ देती है। मनुष्य भी ऐसा ही होता है। प्रेम का एक शब्द मिलने पर वह उसके लिए मुक्त मन से प्रेम की शब्दगंगा बहाने को तैयार रहता है। इसीलिए दुर्योधन के प्रति मेरे मन में प्रेम था। अश्वत्थामा तो बड़ा भोला-भाला और निश्छल था। उसमें और शोण में मुझको कभी कोई अन्तर ही नहीं प्रतीत हुआ। अन्य किसी से मेरा परिचय ही नहीं था। सबसे परिचय करना सम्भव भी नहीं था, क्योंकि उतना समय मेरे पास कहाँ !

वह भीम तो हमेशा अपनी शक्ति के घमण्ड में चूर हुआ उस अखाड़े की मिट्टी में ही लोट मारता रहता था। जब वह अखाड़े के बाहर होता, तब कुछ न कुछ खाता ही रहता। उसके स्वर कितने भोंड़े थे। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी टपकोड़े-सी थीं और जब वह सोता था तब आँधी की तरह खरटि भरता था। वह युवराज युधिष्ठिर तो घण्टों तक अश्वत्थामा से युद्ध, नीति, कर्तव्य आदि गूढ़ विषयों पर बातें करता रहता । नकुल और सहदेव के बारे में तो मुझको यह भी मालूम नहीं था ये कैसे हैं तथा क्या करते हैं ? युवराज दुर्योधन और दुःशासन को छोड़कर और सब व्यक्ति तो मुझको व्यर्थ ही फैली हुई अमरबेल-जैसे लगते थे। क्या करना था उनसे परिचय करके ! मनुष्य को उस राजहंस की तरह होना चाहिए। जो अपने मन को अच्छा लगे, वही लेना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। मुझको अबतक ऐसा ही लगता आया था।

मैं और अश्वत्थामा दोनों राजभवन से लौटे। आते समय अश्वत्थामा को कोई बात याद आ गयी। वह बीच में ही बोला, “कर्ण, मैंने मामा से तुम्हारे बारे में कुछ नहीं कहा।”

"उन्होंने तुमसे राजकुमारों की तैयारी पूछी थी। युद्धशाला के सभी शिष्यों की नहीं।"

"लेकिन फिर भी तुम्हारे बारे में मैं बहुत कुछ कह सकता था।"

“क्या-क्या कहते तुम मेरे बारे में ? इन कुण्डलों और कवच के बारे में ही न ? इनके विषय में अब नगर के सभी लोग जान गये हैं।"

"नहीं। मैंने कहा होता कि अर्जुन धनुष में, दुर्योधन गदा में, भीम मल्लविद्या में, नकुल खड्ग में, दुःशासन मुष्टियुद्ध में, सहदेव चक्र में, युधिष्ठिर युद्धनीति में और...और कर्ण इन सबके सब प्रकारों में अत्यन्त प्रवीण हो गया है।"

वह मेरी स्तुति कर रहा था या सत्य कह रहा था—वह जानना कठिन था। क्योंकि प्रेम मनुष्य को अन्धा कर देता है। मैं उसका मित्र था। उसका मित्र—प्रेम क्या उसको अन्धा नहीं कर सकता था ? इसलिए मैंने कुछ भी न कहा।

सत्ताईस

छह वर्षों का समय तो ऐसे उड़ गया जैसे पक्षियों का झुण्ड उड़ जाता है। उसका पता भी न चला। युद्धशास्त्र में कुछ भी सीखना शेष नहीं बचा। बल्कि मैंने और शोण ने रात में जो अतिरिक्त अभ्यास किया था, उसके कारण हमने प्रत्येक शास्त्र के कुछ ऐसे विशिष्ट कौशल सीख लिये थे जो केवल हम ही जानते थे। कुश्ती के अखाड़े में मैंने केवल लगातार परिश्रम ही नहीं किया, बल्कि एक ही समय चार-चार मल्लयुवकों के साथ मैंने कुश्ती भी लड़ी थी। न जाने क्यों व्यायाम करते समय मुझको थकावट कभी नहीं मालूम पड़ती थी। इसके विपरीत जैसे-जैसे मैं व्यायाम करता जाता वैसे ही वैसे मेरा शरीर तप्त होता जाता। कभी-कभी वह इतना तप्त हो जाता था कि मेरे साथ कुश्ती लड़नेवाले जोड़ीदार कहते, “कर्ण, सीधा जा और दो-चार घड़ी गंगा के पानी में अच्छी तरह डुबकी लगाकर पहले अपना शरीर थोड़ा ठण्डा कर उसके बाद ही हमको अपने साथ कुश्ती लड़ने के लिए बुला। यह तेरा शरीर है या रथ की प्रखर तप्त हाल ?"

मेरे बाहुकण्ठक दावँ से तो वे इतने घबराते कि उस दावँ को चलाने के लिए मैं जैसे ही चपलतापूर्वक अपने शरीर को सक्रिय करने लगता, वे अपने-आप एकदम चित हो जाते। इस दावँ की एक विशेषता थी। प्रतिद्वन्द्वी की गरदन इस दावँ में जकड़ ली जाती थी। शरीर की सारी शक्ति हाथ में एकत्रित कर उसका दबाव धीरे-धीरे बढ़ाते जाने पर प्रतिद्वन्द्वी का

दम घुटने लगता था और वह मर जाता था। उस समय उसके हाथ और पैर पीठ पर गट्टर की तरह ऐसे बँध जाते थे कि गरदन पर रखे हाथ को हटाने की शक्ति उसमें होने पर भी वह उसको हटा नहीं पाता था। यह मेरा विशेष सुरक्षित दाव था। और युद्धशास्त्र के नियम के अनुसार वह केवल द्वन्द्वयुद्ध के समय ही इतनी क्रूरता से प्रयोग में लाया जा सकता था। द्वन्द्व का अर्थ एक ही था। उसमें अथवा मरण। कोई योद्धा जब मरने के डर से शरण में आ ही जाता था, तो उसको ली योद्धाओं में से एक ही बचता था। इस युद्ध का परिणाम एक ही होता था—विजय जीवनदान मिलता था। परन्तु वह जीवनदान विधवा स्त्री के जीवन की तरह होता था। योद्धाओं के राज्य में इस प्रकार जीवनदान माँगनेवाले का मूल्य तिनके के बराबर भी नहीं होता है। ऐसे द्वन्द्वयुद्ध में काम आनेवाले सभी दावों मैंने सीख लिये थे। परन्तु मेरा सबसे अधिक विश्वास एक ही दावों पर था—बाहुकण्टक पर ।

अट्टाईस

काल की वायु के साथ ही ऐसे दिन और रात के अनेक सूखे-हरे पत्ते उड़ गये। प्रतिदिन प्रत्यूषा में उठना, गंगा में जी भरकर डुबकियाँ लगाना, प्रातःकाल से दोपहर तक, जबतक पीठ अच्छी तरह गरम न हो जाये, गंगा में रहकर ही सूर्यदेव की आराधना करना, दिन-भर युद्धशाला में शूल, तोमर, शतघ्नी, प्रास, भुशुण्डी, खड्ग, गदा, पट्टिश आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्र फिराना, समय अपर्याप्त लगने पर रात में शोण को लेकर पलीते के धूमिल प्रकाश में अचूक लक्ष्य-भेद करना और अन्त में सारे दिन की घटनाओं का चिन्तन करते हुए, कभी-कभी चम्पानगरी की स्मृतियाँ मन ही मन दुहराते हुए, सो जाना। इसी लीक पर चलते हुए छह वर्ष बीत गये। बचपन का वसु अब मन के प्रांगण में दौड़ नहीं लगाता था। चम्पानगरी का स्थान अब हस्तिनापुर ने ले लिया था। कौतूहल और सन्देह का स्थान अब संयम और पुरुषार्थ ने ले लिया था। चम्पानगरी में गंगा के किनारे बालू में अंकित होनेवाले छोटे-छोटे पैर अब हस्तिनापुर की भूमि पर दृढ़ता से पड़ने लगे थे। काल का अजगर छह वर्ष निगल चुका था। छह वर्ष ! इन छह वर्षों में क्या हुआ और क्या नहीं हुआ, यह सब कहा जाये तो वह अलग ही कहानी बन जायेगी। इन छह वर्षों में मैं तो युद्धशाला का एक शिष्य मात्र था। यहाँ कभी किसी ने मेरे साथ शिष्य का-सा व्यवहार नहीं किया। द्रोणाचार्य की देख-रेख में कृपाचार्य के पथक में मेरा नाम था। उस पथक में हस्तिनापुर के सभी साधारण शिष्य थे। उन साधारण शिष्यों में मैं सबसे अधिक साधारण था। शिष्यों की भीड़ में कृपाचार्य अथवा द्रोणाचार्य ने कभी मुझसे पूछ-ताछ नहीं की थी। और सच पूछो तो वे मुझसे कुछ पूछे, मेरी पीठ पर अपना हाथ फेरें, यह इच्छा मेरे मन में भी कभी नहीं हुई।

जब-जब शास्त्र का कोई कठिन दावें मेरी समझ में न आता, तब-तब क्षण-भर आँखें बन्द कर अपने गुरु का—सूर्यदेव का स्मरण करता और पल-भर उस दावे को समझकर अलग हट जाता, जैसे यक्षिणी ने जादू की छड़ी घुमा दी हो। श्रद्धा में बड़ी शक्ति होती है। किसी न किसी पर श्रद्धा रखे बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता। शिष्यावस्था में मेरी सारी श्रद्धा अपने गुरु पर थी। भय से मेरा लेशमात्र भी परिचय नहीं था। परन्तु कभी-कभी मेरा मन केवल इसी बात के लिए विद्रोह कर उठता था कि शाला के ये दोनों गुरुदेव कभी मुझसे बात क्यों नहीं करते ? कर्ण को वे पत्थर का एक पुतला समझते हैं क्या ? प्यासे व्यक्ति को समुद्र में रहते हुए भी एक बूंद पानी पीने को नहीं मिले, मेरी दशा भी ऐसी ही हो जाती। अपने इन विचारों को मैं यदि किसी से प्रकट भी करता तो शोण के अतिरिक्त और था ही कौन मेरे पास ! मेरा मन घुटता जा रहा था। बड़े लोग छोटों को अपने पास बुलाकर उनके दोष दिखायें तब तो ठीक है। लेकिन यदि उनकी उपेक्षा करें तो ?....तो उनके मन का अंकुर घुटने लगता है। फिर जहाँ उसको रास्ता मिलता है वहीं से वह बाहर निकलता है। इन छह वर्षों में मुझको क्या प्राप्त हुआ था? घोर असह्य उपेक्षा । ज्वलन्त तिरस्कार । कर्ण नामक कोई एक शिष्य इस युद्धशाला में है, यह किसी को मालूम भी नहीं था। चाटुवाद करने की मुझको आदत नहीं थी। इसलिए मेरा और शोण का एक निराला संसार हस्तिनापुर की युद्धशाला में भी अपने-आप ही बन गया । कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के प्रति आदर होने के बजाय शंका आ पैठी। मुझे ऐसा लगता कि वे मेरे नाममात्र के लिए गुरु हैं। जो शिष्यों के मन नहीं जानते हैं, वे कैसे गुरु ? जो प्रेम की फूंक से शिष्यों के मन की कली प्रफुल्लित नहीं करते, वे कैसे गुरु ? मेरा मन गुरु-प्रेम के लिए तरसता था। इसीलिए मैं प्रतिदिन अपने गुरु का हाथ अपनी पीठ पर तबतक फिरवाता था, जबतक कि पीठ गर्म नहीं हो जाती थी। हाँ, तबतक सूर्यदेव को अर्घ्य देता रहता। नित्य इसी प्रकार तप्त होने के कारण मेरी पीठ प्रखर हो गयी थी।

शाला के अन्य युवराज-शिष्यों की स्थिति इसके विपरीत थी। कृपाचार्य और द्रोणाचार्य दोनों का अत्यन्त लाडला था युवराज अर्जुन। वह अकेला ही क्यों प्रिय है, इसलिए युवराज दुर्योधन जान-बूझकर कोई अन्य कारण ढूँढ़कर अपना पक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता। उसका पर्यवसान झगड़े में होता। अपने भाई को छेड़ने के कारण भीम को क्रोध आता। अपने क्रोध को वह कभी नहीं रोक पाता था। क्रोध से होंठ चबाता हुआ वह जो मिलता उसी पर टूट पड़ता। द्रोणाचार्य के भय से झगड़े की शिकायत कोई उन तक नहीं पहुँचाता था।

एक बार तो यह सुना गया कि वे सब लोग मिलकर वनविहार के लिए नगर के बाहर गये थे। वहाँ जब भीम सो रहा था, तब दुर्योधन ने दुःशासन की सहायता से वनलताओं से

उसके हाथ-पैर कसकर बाँधे और फिर उसको एक सरोवर में फेंक दिया था। परन्तु भीम को कुछ नहीं हुआ। कहा जाता है कि उसको जल-देवताओं ने मुक्त कर दिया था।

मुझको इस बात पर कभी विश्वास नहीं हुआ। क्योंकि एक तो भीम को उन्होंने यदि इस प्रकार सरोवर में फेंक दिया होता, तो निश्चय ही वह जीवित न रहा होता; क्योंकि सरोवर में जलदेवता नहीं होते हैं, वहाँ विशाल जबड़ोंवाले मत्स्य और क्रूर मगर होते हैं। और दूसरी बात यह कि सरोवर से बाहर आने पर तो भीम को यह पता चल ही जाता कि उसको जान से मारने का षड्यन्त्र रचा गया है। यह कार्य दुर्योधन के अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं हो सकता है, यह जानकर उसने बाहर आते ही सबसे पहले अपनी गदा से उसका काम तमाम कर दिया होता। वह इसलिए कि भीम अपने क्रोध को कभी वश में नहीं कर पाता था। कोई कितना भी समझाता, वह उसको नहीं मानता और कोई कितनी ही सान्त्वना देता, उससे वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता था।

युवराजों के झगड़े निपटाते समय और उनके पुरुषार्थ का वर्णन करने में आकाश-पाताल एक करते समय भला सारथी के दो लड़कों की ओर ध्यान देने के लिए किसके पास अवकाश होता ! इस प्रकार ये छह वर्ष बीत गये। सोलह वर्ष के किशोर का बाईस वर्ष के तरुण में रूपान्तर हो गया। इच्छा होने लगी कि साहस-भरे और चुनौती देनेवाले प्रत्येक कार्य को स्वीकार किया जाये।

तारुण्य ! ज्वलन्त धमनियों का अविरत स्पन्दन। प्रकृति द्वारा मानव को प्रदत्त सबसे श्रेष्ठ वरदान। जीवन के नगर का एकमात्र राजपथ। प्रकृति के साम्राज्य का वसन्त, मन-मयूर के पूर्ण फैले हुए पंख, विकसित शरीर-भुजंग का सुन्दर चितकबरा फन, भावनाओं के उद्यान का सुगन्धित केवड़ा, विश्वकर्ता के अविरत दौड़नेवाले रथ में सबसे शानदार घोड़ा, मनुष्य का गर्व से सिर उठाकर चलने का समय, कुछ न कुछ अर्जन करने का समय, शक्ति का और स्फूर्ति का काल, कुछ न कुछ करना चाहिए, इस भावना को सच्चे अर्थों में प्रतीत करानेवाला काल।

बचपन की सभी वस्तुओं का रंग हरा होता है। युवावस्था की सभी वस्तुओं का रंग गुलाबी और केसरिया होता है। युवक की दृष्टि की उड़ान क्षितिज को छूनेवाले आकाश को भी पार कर जाती है। प्रत्येक गतिमान् और प्रकाशवान् वस्तु की ओर उसका सहज सुन्दर खिंचाव होता है। जहाँ-जहाँ जो कुछ असम्भव होता है उसको सम्भव करने की अंगभूत तरंग उसमें होती है।

आजकल मुझको अपनी ही, बचपन की और किशोरावस्था की, कुछ बातों पर हँसी आती थी। गंगा को गंगामाता कहनेवाला कर्ण, उसके किनारे पर उत्तरीय में सीपियाँ इकट्ठी करनेवाला कर्ण, गरुड़ की तरह आकाश में उड़ने की बात करनेवाला कर्ण, बालकों के आग्रह को स्वीकार कर राजा के रूप में पत्थर के सिंहासन पर बैठनेवाला कर्ण, अपने

कुण्डल कैसे चमकते हैं—यह गंगा के पानी में निहारनेवाला कर्ण ! कितनी प्रवंचना थी उस समय के आनन्द में! कितनी अन्धी थी उस समय की श्रद्धा! कितना सन्देह ! कितना अज्ञान !

यह सब धुंधला होता गया। काल के प्रहार ने सब कुछ ध्वस्त कर दिया। जीवन के रथ की वल्गाए युवावस्था के सारथी ने अपने हाथ में ले ली। इस रथ में पाँच घोड़े होते हैं। पुरुषार्थ, महत्त्वाकांक्षा, निर्भयता, अभिमान और औदार्य।

जो सामर्थ्यशाली होता है, वही है यौवन । प्रकाश कभी काला होता है क्या ? ऐसा सामर्थ्यशाली यौवन ही अपने साथ औरों का मान बढ़ाता है।

महत्त्वाकांक्षा तो युवक का स्थायी भाव है। मैं महान् बनूँगा। परिस्थिति के मस्तक पर पैर रखकर मैं उसको झुका दूँगा, यह विचारधारा ही तरुण को ऊँचा उठाती है।

निर्भयता तरुण के जीवन-संगीत का सबसे ऊँचा स्वर है। इस स्वर की भग्न और बिखरी हुई ध्वनि है भय। फटे बाँस की-सी ध्वनि भी कभी कभी किसी को अच्छी लगती है। जग ऊँचे स्वर की तान सुनने को उत्सुक होता है, फटी हुई आवाज़ नहीं।

अभिमान है युवावस्था का आत्मा । जिस मनुष्य में श्रद्धा नहीं है, वह मनुष्य नहीं है। और जिस तरुण में अभिमान नहीं है, वह तरुण नहीं है। तरुण मनुष्य अपनी श्रद्धाओं पर सदैव अभिमान करता है। समय आने पर उनके लिए प्राण तक देने को वह तैयार रहा करता है।

और उदारता है यौवन का अलंकार। अपनी शक्ति का अन्य दुर्बलों के संरक्षण के लिए किया गया उपयोग। स्वयं जीवित रहकर दूसरों को जीने देने का अमूल्य साधन।

ऐसी होती है यह तरुणाई। जहाँ यह होती है वहाँ अपमान से व्यक्ति चिढ़ता है। जहाँ यह होती है वहाँ अपने न्यायपूर्ण अधिकार पर किसी के आक्रमण से व्यक्ति क्रुद्ध हो उठता है। जहाँ यह होती है वहाँ यह अन्याय के पक्ष का उन्मूलन कर देती है। जहाँ यह होती है वहीं वास्तव में विजय होती है, वहीं प्रकाश होता है। प्रकाश न हो तो फिर अन्धकार ! अपमान का आलिंगन करने वाला अन्धकार ! पराजय के विष को अमृत समझकर पचा जानेवाला अन्धकार ! अन्याय का समर्थन करनेवाला अन्धकार ! आक्रमण से भयभीत होनेवाला अन्धकार !!

उनतीस

अश्वत्थामा पर मेरा जो प्रेम था, उसका रूपान्तर अब प्रगाढ़ स्नेह में हो गया था। समस्त हस्तिनापुर में वही एकमात्र मेरा प्राणप्रिय मित्र बन गया था।

एक बार हम दोनों गंगा के किनारे बैठे बातें कर रहे थे। अकस्मात् सहज रूप में उसने कहा, “कर्ण, तुम मुझको अच्छे लगते हो, इसका कारण केवल तुम्हारा स्वभाव ही नहीं है, बल्कि तुम्हारा सुन्दर शरीर भी उसका एक कारण है।”

“तो क्या मैं इतना सुन्दर दिखाई देता हूँ?”

“हाँ। तुमने यह स्वप्न में भी न सोचा होगा, लेकिन प्रतिदिन तुम जिस समय स्नान करके खूब धूप चढ़ने पर गंगा से लौटा करते हो, उस समय सारे समाज के बन्धनों को ताक पर रखकर इस नगर की स्त्रियाँ कुछ न कुछ कारण निकालकर भवनों के गवाक्ष खोलती हैं। केवल तुमको देखने के लिए।”

“तुम यह क्या कह रहे हो अश्वत्थामा ? यदि यह सच है तो फिर आज से मुझको गंगा का मार्ग बदलना पड़ेगा।”

“यह सच है कर्ण ! वृषभ-जैसे तेरे पुष्ट कन्धे, गुड़हल के फूल-जैसे लाल गाल, उन गालों पर तेरे कानों के कुण्डलों के पड़नेवाले नीले-से दीप्त-वलय, खड़ग की धार की तरह सरल और नोकदार नासिका, धनुष के दण्ड की तरह वक्र और सुन्दर भौंहें, कटेरी के फूल-जैसे नीलवर्ण नयन, थाली-जैसा भव्य कपाल, गरदन पर होते हुए कन्धे पर झूलनेवाले, महाराजों के मुकुट के स्वर्ण को भी लजानेवाले तुम्हारे सुनहले घने धुंधराले बाल और रथ के खम्भे-जैसे शरीर के कसे हुए सबल स्नायु-यह समस्त स्वर्गीय वैभव होने के कारण तुम भला किसे अच्छे नहीं लगोगे ?”

“अश्वत्थामा , मुझको विश्वास है कि सच बात कहने पर तुम क्रुद्ध नहीं होगे।”

“कहो, कर्ण !”

“तुम्हारे पिताजी को क्यों इनमें से कोई बात कभी अच्छी नहीं लगी ? इन छह वर्षों में उनको और उनके लाड़ले अर्जुन को क्या यह मालूम है कि कर्ण कौन है, कहाँ है?”

“यह सत्य है, कर्ण ! लेकिन ऐसे तुम अकेले ही नहीं हो। शस्त्र-विद्या सीखने के उद्देश्य से निषध पर्वत पर से सैकड़ों योजन पार करके आये हुए निषादराज हिरण्यधनु के पुत्र का—एकलव्य का भी दुख यही है। तुम्हारे मन की बात सुनने के लिए कम से कम मैं तो हूँ यहाँ। परन्तु उस एकलव्य की मेरे पिताजी के बारे में क्या धारणा होगी, मैं सोच भी नहीं सकता। पिताजी ने क्यों ऐसा व्यवहार किया, यह मैं कैसे बताऊँ ? सभी पुत्र अपने पिता के अन्तरतम को नहीं जान सकते, वसु !”

उसका उत्तर सहज सत्य था और इसीलिए वह मुझको अत्यन्त अच्छा लगा। अधिरथ पिताजी के मन में क्या-क्या कल्पनाएँ हैं, यह बात क्या मैं कभी जान सकता था?

अश्वत्थामा ने मुझको एकलव्य का स्मरण करा दिया, इससे कभी न देखे हुए लेकिन एक समदुखी के रूप में एकलव्य के प्रति मेरे मन में अनजाने ही एक प्रकार का अननुभूत आदर उत्पन्न हो गया।

तीस

एक बार मैं और अश्वत्थामा दोनों खड्ग के अखाड़े के पास खड़े थे। उस अखाड़े के चारों ओर सब्बल-जैसी मोटी-मोटी लोहे की छड़ों की चहारदीवारी थी। उस चहारदीवारी की एक छड़ की नोक को किसी ने झुकाकर धरती पर टेक दिया था। वह उसी स्थिति में थी। वही एकमात्र छड़ उस चहारदीवारी से बाहर निकली होने के कारण अच्छी नहीं लग रही थी। उसको सीधी करने के विचार से मैंने उसको हाथ लगाया। उस समय बड़ी शीघ्रता से अश्वत्थामा बोला, “रहने दो कर्ण ! सभी इस पर प्रयोग कर चुके हैं। एक दिन क्रोध के आवेश में भीम ने इसको झुका दिया था। अन्य कोई इसको सीधी कर ही नहीं सका। वही कभी इसको सीधी करेगा।”

“अच्छा ! तो फिर मैं इसको सीधी करूँ क्या ?” मैंने उसकी आँखों में झाँकते हुए कहा।

“यह तुमसे हो नहीं सकेगी।”

“अच्छा ?” मैंने पैरों से पदत्राण उतारकर अलग रख दिये। उत्तरीय कटि से लपेटा और उससे बोला, “इस छड़ को बायें हाथ से सीधी कर, जैसी यह थी वैसी ही इसको चहारदीवारी में लगा दूँगा। तुम देखते रहो।”

मैं उस छड़ के पास गया। एक बार आकाश की ओर देखा। गुरुदेव चमक रहे थे। बायें हाथ में सारी शक्ति एकत्रित की। आँख मींचकर पूरी शक्ति से मैंने वह छड़ हाथ से झटके के साथ ऊपर खींची। पहले झटके में ही वह कमर के बराबर ऊँची हो गयी। उसका ऊपर आया हुआ सिरा कन्धे पर लेकर बायें हाथ के पंजे से धीरे-धीरे मैंने उसको चहारदीवारी के घेरे में वैसे ही लगा दिया, जैसे वह लगी हुई थी। अश्वत्थामा अवाक् हो गया। मेरी पीठ पर थाप मारने के लिए उसने अपना हाथ मेरी पीठ पर रखा। पर फिर तुरन्त ही उसने ऊपर ही ऊपर से अपना हाथ उठा लिया।

“क्या हुआ अश्वत्थामन् ?” मैंने आश्चर्य से उससे पूछा।

“अरे, तुम्हारी देह तो अग्नि की तरह जल रही है !” भेदक दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उसने उत्तर दिया।

उसके बाद भीम ने वह सीधी की हुई छड़ कभी देखी होगी। वह प्रतिदिन एक छड़ टेढ़ी कर जाता था। मैं प्रतिदिन रात में उसकी टेढ़ी की हुई छड़ को बायें हाथ से सीधी कर दिया करता ।

इकतीस

प्रत्येक वर्ष के अन्त में युद्धशाला में एक विशाल यज्ञ हुआ करता था। उस यज्ञ के लिए गुरु द्रोणाचार्य ने एक विचित्र प्रथा चला रखी थी। युद्धशाला के प्रत्येक शिष्य को यज्ञ में बलि देने के लिए एक-एक जीवित प्राणी अरण्य से पकड़कर लाकर अर्पण करना पड़ता था। किसी ने उनसे उस प्रथा के सम्बन्ध में पूछा था। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि इससे विद्यार्थी स्वावलम्बी और साहसी बनता है।

एक बार वार्षिक यज्ञ के समय एक अविस्मरणीय घटना घटी। हम सभी लोग जीवित प्राणी लाने के लिए राजनगर से अरण्य की ओर चले। अरण्य प्रारम्भ होते ही सभी लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैल गये। मैंने पूर्व दिशा को पकड़ा। चलते-चलते मन में विचार आया कि इससे पहले हरिण, साँभर, वन्य शूकर आदि प्राणी मैं अर्पण कर चुका हूँ। इस वर्ष इनसे बलवान् कोई प्राणी मुझको अर्पण करना चाहिए। इनसे अधिक बलवान् प्राणी कौन-सा है ? हाथी ? छिः, लकड़ियाँ तोड़नेवाला भारी-भरकम और कुडौल प्राणी है वह तो ! अश्व ? नहीं जी, अश्व को पकड़ा तो जा सकेगा, लेकिन पकड़ने में दो-चार दिन तो लग ही जायेंगे। तबतक तो यज्ञ हो भी चुकेगा । फिर कौन-सा प्राणी ? चित्रमृग, वृक, तरस ? छिः, सबसे अधिक सामर्थ्यवान् प्राणी कौन-सा है ? बाघ ! बस, इस वर्ष मैं बाघ ही अर्पण करूँगा। उसके लिए घोर अरण्य में जाना पड़ेगा। कोई चिन्ता नहीं । अवश्य जाऊँगा। सीमा पार करते हुए ही मैंने निश्चय किया।

लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ, चौकन्नी दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ मैं आगे बढ़ने लगा। दिन-भर घनघोर अरण्य में भटका। अनेक प्राणी मिले, परन्तु बाघ दिखाई ही नहीं दिया। दिन-भर भटकने के कारण प्यास बड़ी ज़ोर की लग रही थी। सन्ध्या घिरती, आ रही थी। विहग नीड़ों की ओर लौट रहे थे। मुँह का पसीना पोंछता हुआ मैं बहुदा नदी के किनारे पर आया। वहाँ खड़े होकर मैंने सूर्यदेव को वन्दन किया और मन ही मन कहा, "आज आपके शिष्य का संकल्प व्यर्थ हो रहा है।"

एक काले पत्थर पर बैठकर मैंने अंजलि में पानी लिया। उस पानी को मुँह से लगाने ही जा रहा था कि एक प्रचण्ड भारी-भरकम पशु पीछे से मेरे ऊपर आ गिरा। मेरा सन्तुलन बिगड़ गया और मैं आगे बहुदा नदी के पानी में गिर पड़ा। मेरे साथ ही वह पशु पानी में आ

गिरा। बहुदा का जल खबीला हो गया। मैंने उस पशु की ओर देखा। श्वेत और काले धब्बोंवाला वह एक चीता था। सन्ध्या होने के कारण वह पानी पीने के लिए घाट पर आया था। उसका मुख कुम्हड़ा-जैसा गोलमटोल था। उसकी आँखें गुंजा की तरह लाल थीं।

मेरी आँखें आनन्द से चमकने लगीं। मैं पानी में हूँ, मेरे वस्त्र भीग गये हैं—इन बातों का मुझको बिलकुल भान नहीं रहा। मुझको मारने के लिए उसने अपना पंजा उठाया, उसे मैंने अपने हाथ से ऊपर का ऊपर पकड़ लिया और उसको खींचता हुआ एकदम पानी के बाहर ले आया। परन्तु पानी के बाहर आते ही चीते को और अधिक आवेश आ गया। मेरे हाथ से झटका देकर उसने अपना पंजा छुड़ा लिया। जल के स्पर्श से तथा मेरे विरोध से वह बौखला गया था। उसकी क्रुद्ध आँखों से आग बरसने लगी। ज़ोर-ज़ोर से गर्जना करता हुआ वह बार-बार मुझपर भयानक आक्रमण करने लगा। कभी-कभी वह पाँच-छह हाथ ऊँची छलाँग लगाता। उसकी रक्तवर्ण जीभ मेरा रक्त पीने के लिए निरन्तर लपलपाने लगी। जबड़ा फाड़कर वह मेरे ऊपर झपटा। मैं उसके आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने लगा। आधी घड़ी तक मैं अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता रहा। लेकिन मैं उसको रोक नहीं पा रहा था। मैंने अपनी देह की ओर देखा। उस क्रूर वन्य पशु ने सैकड़ों बार झपट्टे मारे होंगे, परन्तु फिर भी उसके तीक्ष्ण दाँतों की अथवा नाखूनों की ज़रा-सी नोंक भी मेरी देह में घुसी नहीं थी। मेरी त्वचा अभेद्य है। यह अकेला ही क्या, ऐसे दस चीते मुझको नींद में भी नहीं खा सकते। विद्युत् की एक तरंग-सी मेरी देह में सनसनाती चली गयी। क्षण-भर में ही मेरा शरीर रथ की तप्त हाल की तरह जलने लगा। मेरी सम्पूर्ण त्वचा अभेद्य है—केवल इस प्रतीति मात्र से ही मेरा शरीर अंगारे की तरह फूल उठा। अकस्मात् मैंने उस क्रूर पशु के मुँह पर कसकर तमाचा मारा।

वह तड़पकर दूर हट गया। अब मैंने उसपर भयंकर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। एक के बाद एक। बँधी हुई मुट्ठी के सशक्त प्रहार उसकी पीठ पर, पेट पर, गरदन पर, जहाँ स्थान मिला वहीं पर करने लगा। वह अब पहले से अधिक बौखलाया हुआ-सा मुझपर आक्रमण करने लगा। लगभग दो घड़ी तक हम दोनों में द्वन्द्व होता रहा। अन्त में वह थक गया। मेरे रक्त की एक बूंद तक उसकी जीभ को प्राप्त नहीं हो सकी थी। थोड़ी देर पहले गरजनेवाला वह चीता अब भीतर ही भीतर गुराने लगा। भय से उसने अपनी पूँछ दोनों पैरों के बीच कर ली थी। मैं उसकी छाती पर बैठ गया। आस-पास पन्द्रह बीस हाथ के घेरे में घास बुरी तरह कुचल गयी थी। पास की झाड़ी से एक वन्य लता मेरे पैरों तक आ गयी थी। एक हाथ से मैंने उसको खींच लिया। ज़ोर से एक झटका मारते ही पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी वह दृढ़ लता जड़ से उखड़कर मेरे हाथ में आ गयी। उस लता से मैंने उस चीते के दो-दो पैर एक जगह कसकर बाँध दिये। हाड़-मांस की सफ़ेद-काली एक भारी गठरी तैयार हो गयी।

अन्धकार घिरने लगा था। उस विशाल प्राणी को कन्धे पर रखकर चन्द्रकला के धूमिल प्रकाश में मैं नगर की ओर मुड़ा। नगर में मैं जिस समय पहुँचा उस समय अर्धरात्रि हो गयी थी। अत्यन्त शीतल पवन शरीर को सुन्न किये दे रहा था। अपने उत्तरीय को मैं बहुदा नदी के पानी में ही भूल आया था। देह पर भीगे वस्त्र धूल से लथपथ हो गये थे। सम्पूर्ण नगर निद्राधीन था। केवल बादलों की गड़गड़ाह-सी चीते के गुराने की आवाज़ ही आ रही थी। युद्धशाला में आया। अन्य समस्त शिष्य वन-वन भटककर जिन प्राणियों को लाये थे, वे सब लकड़ी के एक घर में बन्द कर दिये गये थे। उन्हीं में मैंने अपने कन्धे पर रखा हुआ वह चीता फेंक दिया जो अपनी मूँछों के बालों से मेरी गरदन पर अबतक गुदगुदी करता रहा था। उस घर के सभी प्राणी भय से किकियाने लगे। मैं जल्दी-जल्दी अपने कक्ष में गया और वस्त्र बदलकर सोने चला गया।

प्रातःकाल विधिवत् यज्ञ प्रारम्भ हुआ। अन्त में वेदी पर बलि देने का अवसर आया। बलि लाने के लिए सभी लकड़ी के घर की ओर दौड़े। उनमें से एक शिष्य भीतर जाकर, घबराकर, उलटे पैरों लौटकर यज्ञकुण्ड के पास आया। उसने गुरु द्रोण से कहा, “गुरुदेव, बलि के लिए कोई चीता ले आया है।”

“चीता ! चलो देखें।” आश्चर्य से उनकी सफेद भौहें तन गयीं। गुरु द्रोणाचार्य के साथ हम सब लोग उस घर के पास आये। मुझको आशा थी कि उस चीते को देखते ही गुरुदेव पूछताछ करेंगे और मेरी पीठ ठोकेँगे। परन्तु मस्तक को अत्यधिक संकुचित करते हुए वे बोले, “इस चीते को कोई क्यों लाया है ? अरे, यज्ञ तो शान्ति के लिए किया जाता है। यज्ञ में चीते की बलि देना निषिद्ध माना गया है। छोड़ दो इस चीते को।”

परन्तु उसको छोड़ने के लिए कोई आगे ही नहीं बढ़ रहा था। अन्त में अकेला भीम आगे आया। मेरी बाँधी हुई बेलें उसने खोलीं। जो कुछ हुआ था, उससे वह चीता अत्यन्त भयभीत हो गया था। अपने प्राणों के डर से वह लकड़ी के घर की चहारदीवारी पर बहुच ऊँची छलाँग लगाकर क्षण-भर में अदृश्य हो गया।

मेरी आशा खण्ड-खण्ड हो गयी। उसका दुख तो मुझको हुआ ही। परन्तु सच पूछो तो मुझे गुरुदेव द्रोण के उस निकम्मे जीवन-दर्शन से चिढ़-सी लगी। यज्ञ में क्रूर और हिंस्र पशुओं की बलि क्यों न दी जाये ? निरपराध बकरे की अपेक्षा वास्तव में चीते-जैसे पशुओं की बलि ही दी जानी चाहिए ।

बत्तीस

बहुत दिन हो गये थे। मैं जब से हस्तिनापुर आया था, तब से केवल एक बार ही चम्पानगरी गया था। वह भी उस समय जब गुरुदेव द्रोण ने अपने शिष्यों की परीक्षा ली थी। उसके बाद पाँच वर्ष बीत गये थे। इच्छा होने पर भी इन पाँच वर्षों में मैं एक भी बार चम्पानगरी को नहीं जा पाया था। क्योंकि यहाँ मैं एक विद्यार्थी के रूप में आया था।

सौभाग्य से मुझको अपने गुरु बहुत अच्छे मिले थे। जिनको गुरुओं का गुरु कहा जाता है, ऐसे ही थे वे। साक्षात् सूर्यदेव मेरे गुरु थे। हस्तिनापुर के अखाड़े में पत्थर के चबूतरे पर खड़े होकर मन ही मन निश्चय कर मैंने उनका शिष्यत्व अंगीकार किया था। उन्होंने भी अबतक मेरे साथ अपने प्रिय शिष्य का-सा व्यवहार किया था। छह वर्षों के इस कालखण्ड में उन्होंने कितने दुर्लभ रहस्य मुझको बताये थे, वे किस भाषा में बताते थे, यह तो मैं कह नहीं सकता। परन्तु उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा था, वह मैंने तुरन्त ही ग्रहण कर लिया था। क्या नहीं सिखाया था उन्होंने मुझको ! बाणों के दुष्कर प्रक्षेप, द्वन्द्व के कठिन हाथ; घोड़ा, हाथी और ऊँटों की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को वश करने की कलाएँ। सब बातें उन्होंने मेरे कानों में कही थीं। चुपचाप ! मौन-भाषा में।

प्रतिदिन प्रातः अपनी कोमल किरणों से असंख्य कलियों के मुँदे पलक खोलते हुए वे मुझसे कहते थे, “कर्ण, तुझको भी ऐसा ही बनना चाहिए। अपना सर्वस्व मुक्त हस्त से जो कोई माँगे उसको देकर अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों का जीवन तुमको ऐसे ही खिलाना चाहिए।”

कितने श्रेष्ठ थे मेरे गुरु ! संसार के किसी गुरु ने अपने शिष्य को इतनी छोटी-छोटी बातों से इतना उदात्त उपदेश कभी क्या दिया है ? अब एक बार चम्पानगरी में जाकर उन गुरु के चरण गंगा के स्वच्छ जल से अवश्य धोने चाहिए। अब मैं गंगामाता नहीं कहता हूँ. गंगा कहता हूँ। क्योंकि शैशवावस्था की श्रद्धा व्यावहारिकता के पाषाण से भोंथरी हो गयी थी। माँ एक ही होती है। जो जन्म देती है और पालन-पोषण करती है वह। नदी तो नदी है। वह माता कैसे हो सकती है ? मेरी माता एक ही थी—राधामाता ! उससे मिले भी बहुत दिन हो गये थे। वह अब मुझको देखेगी तो क्या सोचेगी, मुझको पूरा विश्वास था कि मेरे जाने पर वह सबसे पहले मुझसे यही पूछेगी, “कितना लट गया है रे वसू तू ? और तू गंगा के पानी में तो नहीं गया न कभी ?” क्योंकि पुत्र कितना भी बड़ा क्यों न हो जाये, माता की दृष्टि में वह सदैव बालक ही रहता है। माता ही विश्व में एकमात्र ऐसा व्यक्ति है, जिसके प्रेम को व्यवहार की तुला का बिल्कुल ज्ञान ही नहीं होता। वह जानती है अपने पुत्र पर केवल वास्तविक प्रेम करना।

मैंने शोण को बुलाकर कहा, “शोण ! यात्रा की तैयारी करो। कल चम्पानगरी चलना है।” उसका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। शाल वृक्ष की तरह लम्बे-तडंगे होकर अनेक वर्षों के बाद, पहली बार हम चम्पानगरी की ओर जा रहे थे। अपनी जन्मभूमि की ओर।

तैंतीस

दूसरे दिन ही मैं और शोण दोनों हस्तिनापुर से चल दिये । यात्रा बहुत लम्बी थी इसलिए हमने दो श्वेत घोड़े लिये। हम दोनों को ही अब वारोहण का अच्छा अभ्यास हो गया था। मुझे तो सब प्राणियों में अश्व बहुत ही अच्छा लगता था। वह कभी नीचे नहीं बैठता है। सोते समय भी वह खड़े-खड़े ही एक पैर के खुर को मोड़कर नींद ले लेता है। अश्वों के सभी स्वभाव का मैंने बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण किया था। कितना ही उच्छृंखल क्यों न हो, उसको वश में कैसे किया जाता है, यह मैं अब अच्छी तरह जान गया था। और फिर वह हमारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आता हुआ व्यवसाय था। 'प्रत्येक को अपने व्यवसाय में प्रवीण होना ही चाहिए'—संजय काका ने सारथी के रूप में यह जो उपदेश दिया था, उसको मैं कैसे भूल सकता था !

हम लोग हस्तिनापुर की सीमा से बाहर निकले । वसन्त ऋतु के दिन थे वे। चारों ओर भिन्न-भिन्न रंगों के फूल सुशोभित थे। बावा के वृक्ष छोटे-छोटे पीले फूलों से लदे हुए थे। खैर के वृक्ष हलके लाल फूलों से भरे हुए थे। अंजनी के वृक्षों पर नील कुसुम सुशोभित हो रहे थे। उन समस्त वृक्षों पर प्रकृति-देवता की इतनी कृपादृष्टि देखकर पलाश शायद अत्यधिक क्रुद्ध हो उठा था। उसका सम्पूर्ण शरीर रक्तवर्णी लाल सुमनों से आच्छादित था। यही कारण था कि सभी वृक्षों में वह अकेला ही अत्यधिक आकर्षक दिख रहा था।

उन समस्त पुष्पों की एक सम्मिश्रित सुगन्ध वातावरण में तैर रही थी। श्येन, क्रौंच, भारद्वाज, कोकिल, कपोत आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्षियों के सम्मेलन का तो यह समय था ही। अपने अपने गीत वे पंचम स्वर में गा रहे थे। वसन्त ! वसन्त का अर्थ है—प्रकृति-देवता की स्वच्छन्द रंगपंचमी ! वसन्त अर्थात् एक-दूसरे का हाथ पकड़े खड़े हुए सप्तस्वरों के खिलाड़ियों का कबड्डी-संघ! वसन्त है—काल के बाड़े में अटका हुआ निसर्ग देवता के अतलसी वस्त्र का एक सुन्दर धागा। अथवा वर्षाऋतु में चंचल वर्षा ने अपनी निरन्तर गिरती धाराओं की उँगलियों से वर्षाऋतु को जो गुदगुदी की थी, उससे हँसी आने के कारण इधर-उधर पैर पटकते समय नीचे गिरा हुआ उसके पैर का सुन्दर नूपुर ! छिः, किसी तरह भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वसन्त तो बस वसन्त ही है !

निसर्ग देवता के मनोहर रूपों को देखते हुए हम अपनी यात्रा कर रहे थे। रात होने पर समीप ही किसी नगर में ठहर जाते थे। इसी प्रकार आठ दिन बीत गये। अनेक नदियाँ और पर्वत पार कर हम नौवें दिन प्रयाग पहुँचे। प्रयाग ! यहाँ गंगा , यमुना और सरस्वती इन तीन नदियों का संगम था । यहाँ से चम्पानगरी अब केवल पचीस योजन दूर रह गयी थी।

संगम पर जाकर तीन नदियों का मिलन एक बार देखने की इच्छा से हमने नगर में प्रवेश करते ही अपने घोड़ों को संगम की ओर मोड़ दिया। सन्ध्या का समय था । हम संगम पर आये। मथुरा की ओर से यमुना आ रही थी, काम्पिल्य नगर की ओर से गंगा प्रवेश कर रही थी और अयोध्या की ओर से सरस्वती दौड़ रही थी। तीनों के जल के तीन भिन्न-भिन्न प्रवाह स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे। गंगा का जल एकदम श्वेत शुभ्र, यमुना का कुछ काला-सा और सरस्वती का कुछ लाल-सा । उन तीनों के मनोभाव भिन्न-भिन्न थे, लेकिन फिर भी वे तीनों एक-दूसरे के हाथ पकड़कर सागर से हिलने जा रही थीं; वह भी आगे केवल एक ही सुन्दर नाम-गंगा-धारण कर। उस त्रिवेणी संगम को देखते हुए मेरे मन में एक विचित्र विचार कौंध गया। जो बात प्रकृति ने इन नदियों को सिखा दी थी, उसको मनुष्य को सिखाना वह कैसे भूल गयी ? मनुष्य जाति के तथा ऊँच-नीच के झूठे विचारों के प्रवाह एक-दूसरे के विरुद्ध क्यों बहाता है ? ये प्रवाह किस समुद्र में जाकर मिलेंगे ? भेद के इस विशाल छिद्र से आखिर क्या निकलेगा ? विनाश ही तो ? एक-दूसरे को समझ-समझाकर मनुष्य भी हाथ में हाथ लेकर अपने सभी बहावों का प्रवाह एक कर दे तो ? परन्तु यह सम्भव नहीं है। क्योंकि नदियाँ नदियाँ होती हैं और मनुष्य मनुष्य होते हैं। शायद मानव ही इस संसार में एकमात्र ऐसा है जो अपनी मूर्खता से अपने ही विनाश के गड्ढे खोदा करता है।

मैंने उन तीन नदियों के इकट्ठे जल में से अंजलि भरी और उसका सूर्यदेव को अर्घ्य देता हुआ मन ही मन बोला, “देव ! जो सहनशक्ति इन तीन नदियों में है, वही मुझको दीजिए। मुझको ऐसी बुद्धि दीजिए जिससे मैं अन्य जनों को अच्छी तरह समझ सकूँ। मेरे मन को अहंकार कभी स्पर्श भी न कर सके।”

अश्वों को पानी पिलाकर हम नगर में जाने के लिए मुड़े। घोड़ों की रश्मियाँ हाथ में लिये हम चल थे। कुछ स्त्रियाँ पानी लेकर नगर की ओर लौट रही थीं। मैं पश्चिमीय क्षितिज की ओर देखता हुआ चल रहा था। इतने में ही शोण के अश्व ने पानी लेकर लौटती हुई एक स्त्री की गरदन में पीछे से अपने फड़कते हुए होंठ लगा दिये। उसके शीतल स्पर्श से वह स्त्री घबरा गयी। चीख मारकर उसने सिर पर रखा हुआ घड़ा एकदम फेंक दिया। वह घड़ा मेरे पैरों पर आकर गिरा और फूट गया। मेरा उत्तरीय भीग गया। वह स्त्री घबरा गयी थी। मेरी ओर देखकर तो उसकी घबराहट और अधिक बढ़ गयी। क्षण-भर उसने अपने पलक जल्दी-जल्दी झपकाये। उसका पलक झपकाना मुझको बड़ा अच्छा लगा। फिर वह अपने पैर के अंगूठे से धरती कुरेदती हुई सिर झुकाकर चुपचाप खड़ी रही। घड़े का पानी उसके शरीर पर भी फैल गया था। इससे उसका वस्त्र जगह-जगह उसकी देह से चिपट गया था। संगम की ओर से आनेवाले हवा के झोके के साथ उसके केशों की बिखरी हुई चार-पाँच लटें इधर-उधर उड़ रही थीं। बहुत-से केश पानी से भीगकर गालों से चिपट गये थे। उसका रंग केवड़े की तरह एकदम पीला था। मैं पहली बार ऐसी सुन्दर स्त्री को देख रहा था। अपने

अंगों को सिकोड़कर वह ऐसे खड़ी थी जैसे आँधी में अपने घोंसले में अपने पंखों को समेटकर कोई पक्षिणी बैठी हुई हो।

मैं शोण से कुछ कहने जा रहा था कि इतने में उसकी एक सखी आगे बढ़कर झुककर बोली, “महाराज, क्षमा कीजिए। इसकी असावधानी के कारण आपके वस्त्र भीग गये हैं।

“मैं महाराज हूँ, यह किसने कहा ? मैं कर्ण हूँ ! मेरे भाई की—इस शोण की लापरवाही के कारण आपका घड़ा फूटा है इसलिए मुझी को आपसे क्षमा माँगनी चाहिए।” मैंने कहा।

“नहीं...परन्तु आप तो महाराज-जैसे दिखाई पड़ते हैं !” वह घबराकर बोली।

“नहीं । मैं सूतपुत्र कर्ण हूँ ! चम्पानगरी के अधिरथजी का ज्येष्ठ पुत्र ।”

“सूतपुत्र ? तब तो फिर यह भी सूतकन्या है।” वह उस सुन्दर स्त्री को बाँह पकड़कर आगे खींचती हुई बोली।”

“सूतकन्या ?” मैंने आश्चर्य से पूछा, क्योंकि ऐसा सौन्दर्य हमारे कुल में कैसे सम्भव हो सकता था !

“जी हाँ। प्रयाग के सर्वश्रेष्ठ सारथी सत्यसेन की बहन वृषाली !”

मैंने उसी ओर देखा। उसने अभी तक अपना मुँह ऊपर उठाया ही नहीं था। रात-दिन युद्धशाला में शिक्षण प्राप्त करनेवाला मुझ-जैसा जंगली व्यक्ति, स्त्री के सम्बन्ध में भला क्या कह सकता था, परन्तु उसको देखते ही मुझको बड़ी तीव्रता से यह अनुभूति हुई कि स्त्री विश्वकर्मा का अपनी पहली सुखनिद्रा में धीरे से छोड़ा हुआ निःश्वास है। सूर्यदेव ने आकाश में जैसे गुलाबी रंग का घड़ा ही फोड़ दिया था। किस लिए इतने आनन्दित हुए थे वे ? मुक्तहस्त होकर बिखरे गये उस गुलाबी रंग को देखते हुए मैंने शोण से कहा, “शोण, चल देर हो रही है।”

चलने से पहले यों ही मन बहलाने के लिए मैंने उस फूटे हुए घड़े के खपरे का एक टुकड़ा उठा लिया।

चौतीस

दूसरे दिन हमारे अश्वों ने चम्पानगरी की सीमा में प्रवेश किया। नगर के बाहर का वह विशाल पठार आया। उसके दर्शन से मेरे मन की बामी में से स्मृतियों की चींटियाँ इधर-उधर नाचने लगीं। छह वर्ष पहले इसी पठार पर एक उन्मत्त वृषभ से मेरी टक्कर हो गयी थी। उस समय मैं मूर्छित हो गया था। यदि वैसा ही कोई वृषभ इस समय मेरे सामने आकर खड़ा

हो जाता, तो मुझको पूरा विश्वास था कि मेरी पुष्ट भुजाएँ उसको इस तरह रोक लेतीं कि वह तिल-भर भी इधर-उधर न हिलने पाता।

हम लोग पर्णकुटी के द्वार पर आये। घोड़ों की टापों की आवाज़ सुनकर राधामाता पर्णकुटी से बाहर आयी। हम लोगों को देखते ही प्रसन्नता से उसका मुख-कमल खिल उठा। उसके सभी क्रिया-कलाप हड़बड़ी में होने लगे। वह झटपट भीतर गयी और एक थाल में जलते हुए कुछ अंगारे रख लायी। मैंने देहली पर खड़े-खड़े ही उससे पूछा, "जाते समय तो एक चाँदी की पेटिका दी थी। अब ये अंगारे किसलिए लायी हो?" कुछ न कहकर उसने मुट्ठी में लगी मिरचें उन अंगारों पर डाल दीं। थाली हमारे चारों ओर फिरायी। मिर्च की उग्र गन्ध से शोण को खाँसी आ गयी। वह उस थाली को बाहर ले जाकर दूर पलट आयी। पाँच वर्ष बाद मैंने अपनी पर्णकुटी में पैर रखा, परन्तु भीतर जाते समय दरवाज़े चौखट से मस्तक धड़ाकू से टकराया।

"कितना ऊँचा हो गया है रे कर्ण?" राधामाता आश्चर्य से बोली।

"ऊँहूँ, कर्ण नहीं वसू!" मैंने उसके चरण छूते हुए कहा। उसने झटपट उठाकर मुझको छाती से लगा लिया। कानों के कुण्डलों को वह बार-बार हाथ से टटोलकर देखने लगी। उसकी आँखों में अश्रु तैर उठे। अन्त में अंशुक के छोर को अपनी आँखों से लगाते हुए उसने मुझसे पूछ ही लिया, "गंगा के पानी में तो कभी नहीं गया था न?"

"यह सब अब शोण से ही पूछ लेना!" मैंने उसके चरणों पर सिर रख दिया। मेरे जीवन का वही एकमात्र पवित्र प्रयाग था। वही मेरी गंगा, यमुना और सरस्वती थी। मेरी पर्णकुटी ही मेरा मन्दिर था।

पैंतीस

पन्द्रह दिन चम्पानगरी में रहकर हम लोग हस्तिनापुर को लौटे। परन्तु युद्धशाला में एक चिड़िया तक नहीं थी। चारों ओर शान्ति थी, लेकिन सब कुछ उजड़ा हुआ-सा लग रहा था। वास्तव में इस समय तो यहाँ युद्धशाला में शस्त्रों की झनझनाहट होनी चाहिए थी। फिर आज ही यहाँ ऐसा क्यों है? राजनगरी में कोई अशुभ घटना तो नहीं घटी है? सन्देह का कछुआ बार-बार अपनी गरदन बाहर निकालने लगा। हमने युद्धशाला में घोड़े बाँध दिये। मैं विचार कर रहा था कि राजभवन गये बिना इस साम-सूम का रहस्य समझ में नहीं आयेगा। इतने में ही महाद्वार से भीतर आता हुआ अश्वत्थामा मुझको दिखाई दिया। जैसे ही वह हमारे पास आया, मैंने उससे पहला प्रश्न किया, 'अश्वत्थामन्! आज यह सम्पूर्ण युद्धशाला इस तरह सुनसान क्यों है?"

"समस्त योद्धा नगर से बाहर गये हुए हैं।" उसने उत्तर दिया ।

"किस लिए ?"

"स्पर्धा का अखाड़ा तैयार करने के लिए।"

"स्पर्धा ? कैसी स्पर्धा ?"

"सभी योद्धाओं की ! सभी शस्त्रों की ! यहाँ की शिक्षा की अन्तिम कसौटी । इसमें जो सर्वश्रेष्ठ होगा उसको सारा हस्तिनापुर वीर का सम्मान देगा। राजमाता उसको कुंकुम-तिलक लगायेंगी। नगरजन हाथी पर उसका जुलूस निकालेंगे।"

"कब होंगी ये स्पर्धाएँ ?" मैंने उत्सुक होकर पूछा ।

"आगामी वसन्त पौर्णिमा को। आज ही अमात्य वृषवर्मा ने सभी देशों के राजाओं को आमन्त्रण भेजे हैं। युद्धशाला का यह अखाड़ा तो बहुत छोटा रहता इसलिए नगर के बाहर एक भव्य अखाड़ा तैयार किया जा रहा है। विगत पन्द्रह दिनों से सब वहीं हैं। अहर्निश अथक परिश्रम कर रहे हैं।"

स्पर्धा ! केवल आठ दिन बाद ! गुण-अवगुणों की खरी कसौटी तो अब मिलेगी। स्पर्धा अर्थात् गुण-अवगुणों का मूल्यांकन करनेवाली तुला ! ठीक है। अब यह हस्तिनापुर जान जायेगा कि कौन-कौन किस-किस विद्या में निपुण हैं। अब गुरु द्रोण के उस लाडले शिष्य का-अर्जुन का कृत्रिम प्रतिष्ठा का घड़ा उस अखाड़े में धड़ाम से फूटेगा। गुरु द्रोण के अतिरिक्त इस जगत् में और भी कुछ है, इसका तो शायद उसको पता ही नहीं है। स्पर्धा का निष्पक्ष न्यायाधीश ही उसकी योग्यता का प्रमाणपत्र उसको दे देगा।

प्रत्येक स्थान पर अपना ही ढिंढोरा पीटनेवाले अहंकारी अर्जुन ! अब तुझे पता चल जायेगा कि लोकप्रियता की जिस भूमि पर तू खड़ा है, वह कितनी पोपली है। गुरु द्रोण की छाया में पले हुए कुकुरमुत्ते, अब तुझे ज्ञान हो जायेगा कि तेरे गुरु से मेरे गुरु सहस्रगुणा श्रेष्ठ हैं। मेरा मन विचारों का जाल बुनने लगा। युद्धशाला में आज तक जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उनका काला धागा मन के हाथ में था।

यह स्पर्धा अवश्य होनी चाहिए । वे आठ दिन मुझको आठ युगों की तरह लगने लगे। क्योंकि विगत छह वर्षों से उस अर्जुन ने मेरा मार्ग अवरुद्ध कर रखा था। मुझ अकेले का ही नहीं, बल्कि सभी का। इसीलिए तो गुरु द्रोण को किसी अन्य की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं मिला था। एक-दो नहीं, पूरे छह वर्षों तक उन्होंने उपेक्षा की अग्नि में मेरे कोमल मन के अंकुरों को जलाकर राख कर दिया था। मेरे स्थान पर यदि कोई और होता तो इस हस्तिनापुर को तथा हस्तिनापुर की आत्मप्रशंसा के संचित इन समस्त पोखरों को ठुकराकर वह उद्वेग के मारे कब का चलता बना होता। बड़े कष्टों से इस उफान को मैंने आज तक दबाकर रखा था। मैं जानता था कि संसार में भीख माँगने से कुछ नहीं मिला

करता। मुझे बिलकुल ही भुला देनेवाले उन गुरु-शिष्यों को मैं दिखा दूँगा कि हस्तिनापुर में कर्ण अभी जीवित है। गुरु द्रोण अब जान जायेंगे कि हीरा समझकर उन्होंने जिसको छाती से लगाया था, वह अर्जुन केवल चकमक का एक पत्थर है।

क्योंकि मैं भी शिष्य था, मेरी भी इच्छा होती थी कि कोई मेरी पीठ पर हाथ फिराकर मुझको शिक्षा दे। मेरी भी इच्छा होती थी कि कोई मेरे कौशल का भी वर्णन करे। परन्तु यह मुझको मिला नहीं था। मुझको मिली थी केवल घोर उपेक्षा। किन्तु कभी-कभी बुराई से ही अच्छाई निकलती है, इस नियमानुसार एक बात अवश्य बहुत अच्छी हो गयी थी। इस उपेक्षा से ही मुझको तेजस्वी गुरु की प्राप्ति हुई थी। साक्षात् सूर्यदेव को मैंने गुरु बनाया था। विगत छह वर्षों से प्रातःकाल चार-चार घड़ी तक मैं एकटक उनकी ओर देखता रहा था। विगत छह वर्षों से वे बड़ी ममता से अपनी सुनहली उँगलियाँ मेरी पीठ पर निरन्तर फेरते आ रहे थे। जीवन का तेजस्वी तत्त्वज्ञान उन्होंने चुपचाप बता दिया था। मेरे हृदय के कुम्भ को अपने दिव्य तेज से उन्होंने आकण्ठ भर दिया था।

गुरुदेव ! इस स्पर्धा में यदि मैं यशस्वी हो गया तो गुरुदक्षिणा के रूप में मैं आपको क्या दूँगा ? इस विश्व के एक-एक कोने को प्रकाशवान् करनेवाले आप-जैसे तेज के धाम को मैं दे ही क्या सकता हूँ ! देने योग्य अपना कुछ मेरे पास है तो बस यह शरीर ही है। और वह मैंने उसी दिन आपके अधीन कर दिया था जिस दिन मैं आपका शिष्य बना था। अब आप अपने शिष्य की गुरुदक्षिणा किससे माँगेंगे ?

शोण को लेकर मैं और अश्वत्थामा नगर के बाहर स्पर्धा के उस अखाड़े में पहुंचे। सभी शिष्य-योद्धा उस अखाड़े को सुसज्जित करने के लिए अविराम परिश्रम कर रहे थे। अब लगभग सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं। कितना भव्य था वह अखाड़ा ! उसने गोलाकार एक योजन स्थान घेर रखा था। मध्यभाग में प्रत्येक शस्त्र विभाग के लिए अलग-अलग एक-एक अखाड़ा था। उन उपअखाड़ों की संख्या तेरह थी और वे सभी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे। पूर्वीय, महाद्वार की ओर गदा, खड्ग, भाला, चक्र और प्रास—इनके पाँच अखाड़े थे। पश्चिम की ओर शतघ्नी, भुशुण्डी, तोमर, पट्टिश और शूल के पाँच अखाड़े थे। दक्षिण की ओर अश्वारोहण और गजारोहण के लिए विशाल मैदान था। उत्तर की ओर मल्लों के लिए तथा द्वन्द्व युद्ध के लिए एक अखाड़ा था। उसमें तक्र और चन्दन के तेल में सनी हुई विशेष लाल मिट्टी डाली गयी थी, जो मगधों के राज्य से लायी गयी थी। धनुर्विद्या का भव्य उप-अखाड़ा ऐसे स्थान पर बनाया गया था कि अखाड़े में से कहीं से खड़े होकर उसको देखो, वह ठीक मध्य में दिखाई पड़ता था। उस अखाड़े में धनुर्धर के लिए बीस हाथ ऊँचा और बीस हाथ लम्बा संगमरमर का एक चबूतरा था। उसके लिए पत्थर निषधों के राज्य से मँगाये गये थे। उस चबूतरे पर कौरवों का त्रिकोणी भगवा ध्वज नीले आकाश को चुनौती देता हुआ फहरा रहा था। पत्थर के इस चबूतरे पर गुरुवर्य द्रोण निर्णायक के रूप में स्पर्धा

समाप्त होने तक खड़े रहेंगे। इसी स्पर्धा में जो सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगा, उसके कण्ठ में वे सुवर्ण धागों से गूँथी गयी नील कमलों की सम्मानसूचक माला डालेंगे। सारा नगर सजे हुए हाथी पर अम्बारी में बैठाकर उसका जुलूस निकालेगा। राजमाता उसको केसर का तिलक लगाकर आदर से उसकी आरती उतारेंगी। हस्तिनापुर के सर्वश्रेष्ठ वीर के रूप में वह समस्त आर्यावर्त में गौरव पायेगा। आदर प्राप्त करेगा।

उन सब अखाड़ों के चारों ओर प्रेक्षकों के लिए गोलाकार स्थान था। पूर्व की ओर राजकुल के लोगों के लिए ऊँचे स्थान पर प्रशस्त आसन तैयार किये गये थे। उनके मध्य में पितामह भीष्म का आसन स्थित था। उसके दायें विदुर का और बायें हाथ महाराज धृतराष्ट्र का आसन था। उन सब आसनों की बायीं ओर एक प्रशस्त तम्बू ताना गया था। उसमें झिलमिलाते हुए वस्त्रों के परदे लगाये गये थे। उसमें राजस्त्रियों के बैठने की व्यवस्था थी।

उस अखाड़े को देखने के लिए नगर के लोग अपने दैनिक कार्यों को छोड़-छोड़कर आ रहे थे। उस भव्य अखाड़े को देखकर वे सभी दाँतों तले उँगली दबा रहे थे। वे लोग आपस में चर्चा करते, “कुरुवंश के किसी भी राजा के राज्यकाल में इतना विशाल अखाड़ा बनाये जाने की बात सुनी नहीं गयी है। सर्वश्रेष्ठ वीर होने का सम्मान कौन प्राप्त करेगा ? भीम, अर्जुन, दुर्योधन या दुःशासन ?”

हम लोग लौटने ही वाले थे, क्योंकि सौ योजनाओं की यात्रा कर अभी चम्पानगरी से आये थे, लेकिन अश्वत्थामा बोला, “कर्ण, सभी शिष्य योद्धाओं ने यह क्रीडांगण सजित करने में कुछ न कुछ योगदान किया है। तुम दोनों ने क्या किया ?”

“तुम बताओ, क्या करें ?” आश्रमकुमार होने के कारण कार्य का समविभाजन करने का दायित्व उसके ऊपर था। वह मुझको यों ही छोड़नेवाला नहीं था।

वह विचार करने लगा, क्योंकि हमारे करने योग्य कोई कार्य बचा ही नहीं था। एक सेवक एक अतलसी वस्त्र को लपेटकर बगल में दबाये सामने से भीतर जा रहा था। अश्वत्थामा ने उसको बुलाकर पूछा, “क्यों रे, तेरी बगल में यह क्या है ? इधर ला। इन दोनों को कुछ तो काम दें।”

उसकी बगल से वह पोटली अश्वत्थामा ने खींच ली। उसके दोनों छोर हाथ में पकड़कर उसको सीधा किया। वह कौरवों का राजचिह्न था। एक बहुमूल्य अतलसी वस्त्र पर सुनहले ज़री के धागों द्वारा बुनी हुई सूर्यदेव की आकृति थी वह। आनन्द से मेरी आँखें चमकने लगीं। उस राजचिह्न को मेरे हाथ में देता हुआ अश्वत्थामा बोला, “कर्ण जाओ ! मध्य में स्थित उस पत्थर के चबूतरे पर खड़े हुए लकड़ी के आसन में इसको लगा आओ।”

उस राजचिह्न को हाथ में लेकर मैं पत्थर के चबूतरे पर आया। लकड़ी के आसन में पूर्वाभिमुख कर मैंने उसको लगाया। मेरे लगाये हुए उस गौरवशाली राजचिह्न को शोण ने

फूलों की एक माला पहना दी।

छत्तीस

अन्त में वासन्तिक पौर्णिमा का वह निर्धारित दिन भी आ गया। सम्पूर्ण हस्तिनापुर आमन्त्रितों से खचाखच भर गया। वह दिन सभी योद्धाओं की कसौटी का दिन था। स्पर्धा में भाग लेनेवाले प्रत्येक शिष्य-योद्धा को अपने गुरु का आशीर्वाद लेकर ही अखाड़े में उतरना चाहिए था। लेकिन.... लेकिन मैं क्या कर सकता था ! क्योंकि उस दिन आकाश प्रातःकाल से ही अकस्मात् भूरे रंग के बादलों से आच्छादित हो गया था। इससे मेरा मन नितान्त खिन्न हो गया। उस दिन ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर मैं दो घड़ी तक गंगा के पानी में अपने दिव्य गुरु के केवल एक बार दर्शन पाने की आशा से साँस रोके खड़ा रहा था। परन्तु उनके और मेरे बीच दुष्ट बादलों की घनीभूत पट्टी बड़ी निर्दयता से खड़ी हो गयी थी। सचमुच ही, जैसा कि बचपन में मैं शोण से कहा करता था, यदि मैं गरुड़ होता तो क्षण-भर में ही अपने प्रबल पंखों की सहायता से एक बहुत ऊँची उड़ान भरता और अपने तीक्ष्ण नोंकवाले नखों से उन निर्दय बादलों के पेट फाड़ देता। उस फटन में से गुरु का एक हाथ तो बाहर आ ही जाता। वे बड़े प्रेम से उसको मेरी पीठ पर फेरते। लेकिन यह सम्भव नहीं था। कभी-कभी मनुष्य पशु-पक्षियों से भी अधिक विवश और असहाय हो जाता है।

प्रातःकाल की तीन घड़ियाँ बीत गयीं। आकाश ज्यों का त्यों था। गंगा के किनारे बालू में खड़ा हुआ शोण मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मैं पानी में खड़ा था। वह भूलकर भी मुझको पुकार नहीं सकता था। मैं यदि दिन-भर पानी में खड़ा रहता तो वह भी दिन-भर उसी तरह किनारे पर खड़ा रहता। मैं अब अधिक देर तक नहीं रुक सकता था। अन्त में विवश होकर मैंने आँखें बन्द कर ली। प्रयत्न करने पर भी सदैव की भाँति परिचित तेज के कण आँखों के आगे उपस्थित नहीं हुए। ऐसा क्यों हुआ था? से भी अधिक विवश और असहाय हो जाता है। यह कोई अशुभ लक्षण तो नहीं था ? छिः, मन तो पागल होता है। वह सदैव है। अनचाही शंका-कुशंकाएँ करता रहता है। मैंने नित्य की भाँति हाथ जोड़े और मन ही मन कहा, "देव ! ठीक आज ही आप मेरे ऊपर इतने क्रुद्ध क्यों हैं ? आज मुझको आशीर्वाद दीजिए। आज आप देखेंगे कि लोग नगर के सर्वश्रेष्ठ वीर के रूप में मेरा गौरव करेंगे।" एक अंजलि का अर्घ्य उनको अर्पण किया और मैं मुड़ा। मन में एक अजीब-सी बेचैनी थी। किनारे पर 'शोण मेरी ही प्रतीक्षा कर रहा था। अखाड़े की ओर जाने के लिए वह अत्यधिक उतावला हो रहा था। परन्तु....परन्तु मेरी ओर देखते ही उसके भाल पर एक क्षीण-सी सिकुड़न पड़ गयी। मुझको वह तत्क्षण खटकी। इसलिए मैंने उससे पूछा, "क्या हुआ शोण

? तेरे माथे पर आज सिकुड़न क्यों है ?" वह चुप रहा। लेकिन उसका मौन मुझसे सहन नहीं हुआ। उसके पुष्ट कन्धों को दोनों हाथों से पकड़कर झकझोरता हुआ मैं चिल्लाया, "शोण ! अरे तू इस तरह चुप क्यों है ?" वह कोई उत्तर न देकर आँखें फाड़कर मेरे कानों की ओर केवल देखता रहा। दूसरे ही क्षण उसकी आँखें निस्तेज दिखाई देने लगीं। उसका इस प्रकार विचित्र दृष्टि से देखना मुझसे सहन नहीं हुआ। उसके मुख को दोनों हाथों में पकड़कर उसकी आँखों में गहराई से झाँकते हुए मैंने अत्यन्त व्याकुल होकर उससे पूछा, "शोण ! अपने भाई की इतनी-सी बात भी तू नहीं मानेगा ? कह दे शोण, ऐसा सौन-सा प्राणघाती रहस्य है जिसको तू आज मुझसे भी छिपाना चाहता है ?"

वह द्रवित हुआ। अपने गालों पर रखे हुए मेरे हाथों को अपने काँपते हाथों से कसकर पकड़ता हुआ वह बोला, "भैया ! आज तुम अखाड़े की ओर मत जाओ। तुम्हारे गुरु ने तुमको दर्शन नहीं दिये हैं। तुम लौट चलो।"

"पागल ! मेरे गुरु क्या मुझको नित्य दर्शन देते हैं ? बरसात में तो चार-चार महीने तक वे न जाने कहाँ छिपे रहते हैं ?"

"लेकिन अब तो बरसात के दिन नहीं हैं। यह तो वसन्त ऋतु का समय है। वे आज ही इस तरह मुख छिपा लें, इसका तो कोई कारण नहीं है।"

"न सही। मेरे गुरु का आशीर्वाद मुझको मिल गया है। यह मैं जानता हूँ। तू चल।" उसके हाथ को पकड़कर मैंने उसको आगे धकेला ।

"नहीं भैया ! मैं तुमको नहीं जाने दूँगा।" उसके स्वर में भय था ।

"क्यों ? आज हस्तिनापुर के सर्वश्रेष्ठ वीर का चुनाव होगा, यह तुझे मालूम नहीं है क्या ? आज तो मुझको जाना ही चाहिए।"

"नहीं, नहीं ! आज मत जाओ।" उसने मेरे हाथ और कसकर पकड़ लिये। उसकी पकड़ थरथरा रही थी।

"शोण ! बचपन की बाल-हठ अब छोड़ दे। अवस्था के साथ-साथ थोड़ा बदलना सीख अब। ध्यान रख, तू कर्ण का भाई है।" मैंने जीवन में पहली ही बार उसको इतने कठोर शब्दों में चेतावनी दी।

अपना मुख मेरी अंजलि से उसने निकाल लिया। चार चरण दूर हटकर सिर झुकाकर वह बोला, "मैं तुम्हारा भाई हूँ, यह बात मैं कभी नहीं भूला हूँ और न भूलूँगा । इसीलिए मेरा मन मुझसे कह रहा है कि तुम आज अखाड़े की ओर मत जाओ, क्योंकि....क्योंकि तुम्हारे कानों के कुण्डल आज निस्तेज हो गये हैं। उनके चारों ओर काले-काले वलय घिर आये हैं।"

उसके वे उद्गार पिघले शीशे की भाँति मेरे कानों में घुसे। उस कथन को सुनकर मैं उदास हो गया। सन्देह की असंख्य चींटियाँ मनरूपी घायल भुजंग को चारों ओर से काटने लगीं।

"मेरे कुण्डल आज काले क्यों पड़ गये हैं ? आकाश आज मेघाच्छादित क्यों है ? किस महान् विनाश की पूर्वसूचना है यह ? किस विष-वृक्ष का बीज आज बोया जायेगा ? इस कर्ण का क्या होगा ? किस लिए मिले हैं ये कुण्डल ? क्या उपयोग होगा इनका ? मैं भी इतनी अकड़ क्यों दिखा रहा हूँ ?" असंख्य प्रश्नों के जुगनू आँखों के आगे चमकने लगे। अन्त में भीतर से एक ध्वनि आयी। उसने मुझको धैर्य दिया। मैंने निश्चय कर लिया कि शोण का कहना ही ठीक है। लेकिन अखाड़े की ओर केवल जाने में क्या हानि है ? मैंने खिन्न होकर उससे कहा, "ठीक है, शोण ! मैं अखाड़े में नहीं उतरूँगा। लेकिन एक ही शर्त पर । मैं अखाड़े के बाहर महाद्वार में खड़ा रहूँगा। मेरे गुरु मुझको दर्शन दे देंगे, तभी मैं अखाड़े से उतरूँगा।"

शोण ने प्रसन्न होकर सिर हिलाकर सहमति प्रकट की। बालू रौंदते हुए हम लोग चलने लगे।

राजनगरी के सभी मार्ग सुनसान थे। छोटे बच्चों से लेकर वृद्ध तक सभी अखाड़े की ओर चले गये थे। उस समय बाहर का कोई यात्री यदि आ जाता तो बताये जाने पर भी वह विश्वास न करता कि यह कौरवों की राजनगरी हस्तिनापुर है। क्योंकि नगर में एक भी व्यक्ति नहीं बचा था। मेघाच्छादित आकाश के कारण हस्तिनापुर ऐसा लग रहा था जैसा कि बलि देने से पहले झोंपड़ी में बन्द मुर्गा दिखाई देता है।

हम लोग अखाड़े के पास आये। नगरजनों की तालियाँ और पुकारें सुनाई देने लगीं। उनको सुनते ही मेरे शरीर का रक्त स्वयं ही वेग से गरम होने लगा, परन्तु, उसका कोई उपयोग नहीं था। शोण को दिये गये वचन के अनुसार मैं अखाड़े के बाहर खड़ा रहने को विवश था। हम लोग अखाड़े के प्रवेश-द्वार के पास आये। स्पर्धा बहुत पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। भीतर किसी ने प्रतिस्पर्धी पर शायद प्रेक्षणीय आक्रमण कर दिया था। निरन्तर तालियाँ बज रही थीं। मेरे पराक्रमोत्सुक मन की अवस्था पिंजड़े में बन्द बाघ-जैसी हो गयी। देहरूपी पिंजड़े को तोड़ने के लिए वह चारों ओर से आघात करने लगा। जिसने गाय को तो देख लिया है, लेकिन जिसके गले में कण्ठवा पड़ा हुआ है—ऐसे बछड़े की तरह वह तड़पने लगा। बड़े कष्ट से स्वयं को रोकत हुए मैंने शोण से कहा, "तुम भीतर जाओ। मैं यहीं रुकता हूँ।" वह एकदम रुक गया। उसने सोचा होगा कि उसके पीछे-पीछे मैं भी तुरन्त ही भीतर पहुँच जाऊँगा। उसके कंधे पर हाथ रखकर मैंने उससे कहा, "शोण, विश्वास करो। मैं भीतर नहीं जाऊँगा। यह कर्ण का कथन है। जाओ।" वह मेरे कानों की ओर देखता हुआ चला गया।

मेरे मन के छत्ते से निकलकर विचारों की असंख्य लाल मधुमक्खियाँ इधर उधर नाचने लगीं। इन कुण्डलों के कारण ही यदि मेरी यह दशा हुई हो तो इनको काटकर धूल में फेंककर कटे हुए कानों से ही भीतर जाया जाये परन्तु यह भी सम्भव नहीं था क्योंकि कान

काटने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न किया जाता, पर उनका कटना सम्भव नहीं था। क्यों मिले हैं मुझको ये कवच कुण्डल ? क्या उपयोग है इनका ? मैं भी इतनी अकड़ क्यों दिखा रहा हूँ ?" मेरे मस्तक की बामी में विचारों के असंख्य सर्प कुलबुलाते हुए इधर-उधर रेंगने लगे। अखाड़े का तो मुझको कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। प्रवेश-द्वार के पास खड़े हुए प्रेक्षकों के कुछ अस्पष्ट संवाद केवल सुनाई दे रहे थे, वे भी अत्यल्प मात्रा में। इतने में ही कोलाहल की एक प्रचण्ड लहर उठी। उससे मन उफनते हुए दूध की तरह भर आया। कानों में प्राण डालकर मैं सुनने लगा। टूटे-फूटे शब्द कानों में एकत्रित हो रहे थे।

"दुःशासन को भीम ने नीचे गिरा दिया है। उसको सिर के बराबर ऊँचा ले जाकर फिर एकदम नीचे पटककर भीम उसकी छाती पर बैठ गया है। अपने जोरदार मुष्टिप्रहारों से उसकी खूब पिटाई कर रहा है।"

मेरे भुजदण्ड उत्तेजित होकर फूल उठे। हृदय की धड़कन कानों में स्पष्ट सुनाई देने लगी। मेरा रक्त तेज़ी से चक्कर काटता हुआ मुझसे कहने लगा, "कर्ण ! उठ। भीतर जा। पुरुषार्थ के सुवर्ण को स्पर्धा की कसौटी पर परख ले। आज ही यह अवसर है।"

आँखों की पुतलियों में प्राण संचित कर मैंने आकाश की ओर देखा। उन निर्दय बादलों की घटा अब भी ज्यों की त्यों थी। टूटे पंखवाले असहाय पक्षी की तरह मेरा मन तड़पने लगा। प्रवेश-द्वार के पास मैं व्याकुल होकर निरन्तर इधर से उधर चक्कर काटने लगा। मेरा मन क्रन्दन करता हुआ चिल्लाने लगा, "सूर्यदेव ! केवल एक बार दर्शन दे दीजिए। आज का दिन तो एकमात्र ऐसा दिन है, जिसको हस्तिनापुर का प्रत्येक शक्तिशाली युवक अपने प्राणों का मूल्य चुकाकर भी जीतना चाहेगा। केवल एक बार अपने इस लाइले शिष्य पर अपने सहस्र तेजस्वी नेत्र खोलकर कृपादृष्टि डालिए। केवल एक बार ही।"

फिर तालियों की गड़गड़ाहट हुई। मेरे कान अपने-आप ही खड़े हो गये।

"वाह ! वाह ! नकुल कितना चपल है ! वह एक ही समय दो-दो गतिमान् घोड़ों की पीठ पर एक-एक पैर रखकर उनको बड़ी कुशलता से एक ही गति से भगा रहा है। साधुवाद ! पाण्डुपुत्र धन्य हो।"

मेरा मन घोड़े से भी अधिक तीव्रगति से दौड़ने लगा। उसके खुरों से विचारों की धूल उड़ने लगी। प्रवेश-द्वार की देहरी के पास मैं तड़पता हुआ चक्कर काट रहा था। क्षण-भर लगता कि कैसा वचन और कैसी प्रतिज्ञा ? तत्क्षण भीतर चला जाये लेकिन अब भी एक आवाज मुझसे कह रही थी, "कर्ण ! वचन सदैव पालन करने के लिए ही दिया जाता है। जो अपने दिये गये शब्द का पालन नहीं कर सकता, वह मनुष्य नहीं पशु है।" मैं देहरी पर से फिर पीछे हट गया।

फिर तालियों की और चीख-पुकारों की आवाज़ आयी। और उसके बाद ही असम्बद्ध संवाद सुनाई देने लगे :

"वाह-वाह भीम ! गदायुद्ध में अजेय दुर्योधन को भी तुमने कितनी सरलता से आज जीत लिया है। कितने प्रबल हैं तेरे प्रहार ! आँखें तृप्त हो गयीं-वायुपुत्र ! धन्य!"

मेरा मन गदावीर की तरह चक्कर काटने लगा। मैंने देह पर पड़ा उत्तरीय विवशता में पहुँचे पर कसकर लपेट लिया। शरीर का कण-कण तप्त होकर खौलने लगा था। मैंने आकाश की ओर देखा। बादलों में हलचल होने लगी थी। परन्तु केवल हलचल। क्षण-भर इच्छा हुई कि वहाँ से यथाशक्ति तीव्र गति से गंगा की ओर दौड़ा जाऊँ और इस तप्त शरीर की हाल को उसमें डालकर एकदम ठण्डी कर लूँ। यह सोचकर मैंने कलाई पर से उत्तरीय खोला और उसको कन्धे पर डालकर गंगा की ओर अपने पैर भी बढ़ा दिये।

"भैया, ठहरो !" पीछे से शोण ने पुकारा।

मैंने पीछे मुड़कर देखा प्रवेश-द्वार की देहरी पर खड़ा होकर अपना हाथ उठाकर वह मुझसे रुकने को कह रहा था। पीछे मुड़ा। आकाश की ओर बार-बार देखने से गरदन थक गयी थी।

अब तो निरन्तर तालियों की वर्षा हो रही थी। केवल तालियाँ। घुड़दौड़ जैसी। मूसलाधार वर्षा की धाराओं-जैसी।

"भैया, अब अर्जुन अखाड़े में उतरा है।"

अर्जुन ! अर्जुन ! अर्जुन ! क्यों मानते हैं उसको इतना ? क्या पराक्रम करेगा वह?

मेरे कानों में चारों ओर से शब्दों के बाण घुसने लगे। भीतर अखाड़े में क्षण-प्रतिक्षण कोलाहल बढ़ता जा रहा था। घोषणाओं के शब्द-पुष्पों की बौछारें हो रही थीं।

"वह देखो, अर्जुन घोड़े की पीठ पर से हाथी पर और हाथी पर से फिर घोड़े की पीठ पर दौड़ता पराक्रम कर रहा है।"

"दो खड्गों को एक साथ लेकर वह दोनों हाथों से सामने खड़े बलवान् प्रतिद्वन्दी पर उनको चला रहा है। क्षण भर में ही उसने प्रतिद्वन्दी के खड्ग उसके हाथ से दूर फेंकवा दिये हैं। वह प्रतिद्वन्दी सिर झुकाकर अखाड़े से बाहर जा रहा है। अर्जुन जैसा खड्ग-वीर कोई नहीं है।"

"वह देखो, वह अर्जुन कब का चक्र के अखाड़े में पहुँच चुका है। उस भव्य चक्र को वह थाली के समान सरलता से फिरा रहा है। बीच-बीच में वह क्रीड़ा के लिए उसको आकाश में ऊँचा फेंक देता है और फिर उसको केवल एक बाण की नोक पर झेल लेता है।"

"अब वह कुशती के अखाड़े में उतर रहा है। कितना कसा हुआ है उसका शरीर ! छाती कैसी अखाड़े के महाद्वार जैसी भव्य है ! भुजदण्ड और पिण्डलियाँ इन्द्रायण की लता की तरह ऐंठनदार हैं। अखाड़े की लाल मिट्टी पर उसका नीला शरीर अत्यन्त सुशोभित हो रहा है। अरे वाह ! क्षण-भर में ही उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को-उस दुर्मुख को-रजपृष्ठ पर लम्बा सुला दिया।"

"यह अर्जुन कब इन अखाड़ों को बदल देता है और कब भिन्न-भिन्न पराक्रमों को कर दिखाता है, यही समझ में नहीं आता है। यहाँ एक अर्जुन है या तेरह अर्जुन हैं ? अब वह धनुर्धर का वेष धारण कर धनुर्विद्या के अखाड़े की ओर जा रहा है। विष्णु की तरह ! धन्य अर्जुन ! धन्य पाण्डुपुत्र ! तेरे-जैसा धनुर्धर ढूँढ़ने पर भी अखण्ड आर्यावर्त में नहीं मिलेगा। आज तू ही हस्तिनापुर का सर्वश्रेष्ठ अजेय वीर सिद्ध होगा।"

तालियाँ ! अविरत तालियाँ ! वर्षा की धाराओं को भी लज्जित करनेवाली तालियाँ ! पुकारें ! शोर ! कोलाहल ! अर्जुन ! अर्जुन ! खौलता हुआ रक्त ! धनुर्धर ! घिरे हुए बादल ! काले पड़े हुए निस्तेज कुण्डल ! सर्वश्रेष्ठ वीर ! नील कमलों की माला ! शोभायात्रा ! राजमाता....

"शोण ! यह क्या हो रहा है मुझको ? मुझको गंगा की ओर जाने दे, नहीं तो मैं जलकर राख हो जाऊँगा।" कुण्डलों के वलय कान में लगाकर उनपर असह्यता से हथेली दबाकर सिर ऊपर करता हुआ मैं बड़ी ज़ोर से चिल्लाया। मेरे शरीर का कण-कण सन्तप्त हो गया था। विवशता से मैंने शोण के कन्धे पर सन्तप्त मस्तक रख दिया। मेरे शरीर से अत्युष्ण स्वेद की धाराएँ बहने लगीं। उस खौलते जल से शोण के कन्धे की चमड़ी जलने लगी। शब्दों की चिनगारियों से मेरा मन झुलसने लगा। लेकिन भीतर कोलाहल मच रहा था। मेरी आँखों से विवशता के जलते हुए गरम आँसू बह रहे थे।

"वह देखो, अर्जुन एक ही समय असंख्य बाण असंख्य लक्ष्यों में मार रहा है।"

"आकाश में फेंके हुए फलों को ऊपर ही ऊपर भेद रहा है और ऊपर ही ऊपर दो के चार, चार के आठ-इस प्रकार उनके असंख्य टुकड़े कर रहा है। ऊपर आकाश में फेंका हुआ फल टुकड़े टुकड़े होकर ही नीचे गिरता है।"

"वह देखो, उसने जिह्मबाण छोड़ा है। वह बाण टेढ़ा-मेढ़ा जाता हुआ मध्यस्थ अनेक अवरोधों को बचाकर ठीक लक्ष्य में घुस गया है।"

"आकाश में असंख्य बाण छोड़कर वह वर्षा का दृश्य दिखा रहा है। बीच में ही एकाध जिह्मबाण टेढ़ा-मेढ़ा छोड़कर वह बिजली का दृश्य उपस्थित कर रहा है।"

"आज हमारी आँखें धन्य हो गयीं। इस अर्जुन-जैसा वीर हस्तिनापुर में ही क्या सम्पूर्ण आर्यावर्त में नहीं मिलेगा।"

"अब वह अन्तिम हाथ दिखा रहा है। केवल आवाज़ सुनकर वह लक्ष्य भेद करेगा। उसकी आँखें वस्त्र से बाँध दी गयी हैं। एक सूचीबाण हाथ में लेकर उसको होंठों से लगाकर उसने आँखें बन्द कर ली हैं। वह अपने गुरु का स्मरण कर रहा है। उसके गुरु द्रोण के समान-अन्य कोई गुरु त्रिभुवन में नहीं मिलेंगे।"

"धन्य अर्जुन ! वाह रे पाण्डुपुत्र ! कोई समझ पाये उससे पहले ही उसने केवल ध्वनि सुनकर वह सूचीबाण पीठ पीछे भोंकनेवाले कुत्ते के मुँह में अचूक मार दिया। कुत्ते का मुँह उसने बन्द कर दिया। धन्य हो सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर !"

"वह देखो, गुरु द्रोण कुत्ते के मुँह से वह बाण निकालकर सबको दिखा रहे हैं।"

"किसी ने नील कमलों की वह मानसूचक माला उनके हाथ में दे दी है।"

नील कमलों की माला ! अजेय धनुर्धर ! मेघ संकुल आकाश ! एक ही क्षण ! कीर्ति और मान का एक ही क्षण ! क्या करूँ ? क्या करूँ ?

मेरा मन चारों ओर अग्निदाह से घिरे पक्षी की तरह तड़पने लगा। शरीररूपी कुम्भ तप्त हो-होकर अब तड़क जायेगा क्या ?

मेरे नेत्रों के अधीर पक्षी बादलों की घटाओं पर टपाटप चोंच मारने लगे। उस आघात से आवाज़ आने लगी, "एक ही क्षण ! कर्ण के जीवन का यह एक ही क्षण है ! केवल एक ही क्षण !" कितने प्रचण्ड वेग से ये समस्त मेघ गतिमान हो रहे हैं ? आकाशरूपी समुद्र आज इन सबका मन्थन करना चाहता है क्या ? शोण के कन्धे ज़ोर से हिलाता हुआ मैं आनन्द से चिल्लाया, "शोण ! वह देख, आकाश के सम्राट मेरे गुरु मेरी लाज रखने के लिए बादलों के समूह को भेड़ों के झुण्ड की तरह खदेड़ रहे हैं।"

वह भी प्रसन्न हो कसकर मेरा आलिंगन कर चिल्लाया, "भैया ! जाओ, भीतर जाओ। तुम्हारे कुण्डल फिर से चमकने लगे हैं। प्रतिदिन की तरह वे केवल नीला प्रकाश ही नहीं फेंक रहे हैं, अपितु इस समय वे लाल हो गये हैं ?"

"तुम क्या कह रहे शोण ! मेरे कुण्डल फिर चमकने लगे हैं ?"

"हाँ, भैया ! और वह देखो, तुम्हारे गुरुदेव आकाशरूपी नीली छत को दग्ध करते हुए खड़े हैं।" उसने भावाभिभूत होकर दोनों हाथ आकाश की ओर उठा दिये।

मैंने ऊपर देखा। तेज के वे ही असंख्य कण खड़े-खड़े हँस रहे थे। अपने रथ के हज़ारों धोड़ों को मितेरे गुरुदेव मुझको आशीर्वाद दे रहे थे।

प्रातःकाल से कोठरी में बन्द मुर्गे की तरह दिखाई पड़नेवाला हस्तिनापुर का वातावरण अब बाँग लगानेवाले मुर्गे की तरह चेतन दिखाई देने लगा। वृक्षों के पत्तों में कम्पन जगा। दूरस्थ गंगा का पात्र चमचमाने लगा। पक्षी प्रफुल्ल होकर एकदम चहचहाने लगे। दूर अब

भी एक बादल धीरे-धीरे जा रहा था। उसकी छाया में कुरुओं का वह वैभव-सम्पन्न प्राचीन राजप्रासाद रोगी की तरह निस्तेज दिखाई पड़ रहा था।

भीतर कोलाहल मचा। गगनभेदी कोलाहल।

"वह देखो, सूर्य भी अर्जुन का स्वागत करने के लिए बादलों के परदे अलग हटाकर उपस्थित हो गया है। धन्य है अर्जुन ! वह देखो, गुरु द्रोण उस भव्य चबूतरे की सीढ़ियों पर चढ़ रहे हैं। सूर्य को साक्षी बनाकर वे नील कमलों की, उस माला को अर्जुन के गले में डालेंगे। युवराज अर्जुन की ऽऽऽऽ विजय हो !!" प्रचण्ड जयघोष से वातावरण का कण-कण थर्रा गया।

कन्धे पर से उत्तरीय हटाकर मैंने शोण के ऊपर फेंक दिया। उस समय मैं कौन था, यह बात शायद मैं भी नहीं बता पाता। शोण का भाई ? अश्वत्थामा का मित्र ? या सारथी का पुत्र ? छिः, मैं इनमें से कोई नहीं था। मैं था लोहे का प्रखर तप्त द्रव्य ! मैं था कड़कड़ाती बिजली का प्रहार ! मैं था सहस्र अश्वों का बल धारण करनेवाला प्रतिसूर्य !!

उस प्रवेश-द्वार में विवश भिखारी की तरह खड़ा होने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ था। जो कोई सामने आये उसको जला डालने के लिए मेरे शरीर के कण-कण की मशाल प्रज्वलित हो रही थी। कभी न सुना हुआ एक महासामर्थ्यशाली घोष मुझसे कहने लगा. "चल कर्ण, तत्क्षण भीतर चल। यह जीवन मरण का क्षण है।" मैं एकदम से भीतर घुसा। मैंने देखा कि गुरु द्रोण ने माला अपने हाथ में ऊँची उठा रखी थी। दोनों हाथ उठाकर अपनी सारी शक्ति एकत्रित कर मैं ज़ोर से चिल्लाया, "ठहरोऽऽ!"

वह आवाज़ अखाड़े के हृदय में ऐसे घुस गयी जैसे लक्ष्य के हृदय में चीरता हुआ बाण भीतर घुस जाता है। वह इतनी जोरदार थी कि बिजली की कड़क भी लज्जित हो जाये। सहस्रों नेत्र प्रवेश-द्वार की ओर मुड़ गये। गुरु द्रोण के काँपते हाथों से माला तत्क्षण भूमि पर गिर पड़ी। चारों ओर शान्ति छा गयी। मैंने अपनी सशक्त हथेली बायें भुजदण्ड पर ज़ोर से मारकर ज़ोरदार ताल ठोंकी। उसकी ध्वनि वातावरण को कम्पित करती हुई गूँज उठी।

मेरे तप्त अंग से धधकती हुई लहरें बाहर निकलने लगीं। नगरजन मुझको स्वयं ही मार्ग देने लगे। जो नहीं दे रहे थे, वे आग से जल रहे थे। क्षण-भर में ही मैं उस पत्थर के चबूतरे के नीचे पहुँच गया। वहाँ कृपाचार्य खड़े थे। केवल औपचारिकता निभाने तथा वृद्धत्व का मान रखने के लिए मैंने जैसे-तैसे उनको प्रणाम किया और एकदम चार-चार सीढ़ियाँ कूदकर पार करता हुआ क्षण-भर में चबूतरे पर चढ़कर खड़ा हो गया। चमत्कृत दृष्टि से गुरु द्रोण मेरी ओर देख रहे थे। छह वर्ष बाद केवल आज पहली बार ही मैं उनके आगे इस प्रकार तनकर खड़ा हुआ था। अप्रसन्नता के जाल में उनके चेहरे की मक्खी फँस गयी थी। माथे की सलवटों को ऊँचा करते हुए उन्होंने पूछा, "कौन है तू ?"

एक बार आकाश की ओर देखकर, उनकी अवस्था का मान रखने के लिए उनको नमस्कार कर, उन्नतग्रीव होकर मैंने कहा, "कर्ण !"

दोनों हाथ उठाकर नगरजनों को लक्ष्य कर मण्डलाकर फिरकर ज़ोर से चिल्लाकर मैंने कहा, "पुरुषार्थ की पूजा करनेवाले इस हस्तिनापुर के न्यायप्रिय नगरवासियो ! मैं कर्ण उन सब पराक्रमों को करने को तैयार हूँ, जो इस समय यहाँ युवराज अर्जुन ने कर दिखाये हैं। आप लोग क्या मुझको अवसर देंगे ?"

अखाड़े के सभी नगरजन एकदम उठकर खड़े हो गये। सभी लोग हाथ उठाकर उत्तरीय फहराते हुए पुकार करने लगे, "उसको अवसर दो ! उसको अवसर दो ! युवराज अर्जुन को निर्विवाद अजेय सिद्ध होने दो !"

पुकारें सुनकर महाराज धृतराष्ट्र खड़े हो गये। उन्होंने बगल में बैठे हुए पितामह भीष्म से कुछ पूछा। जैसे ही उन्होंने हस्तस्थ राजदण्ड ऊँचा किया, सम्पूर्ण क्रीडांगण शान्त हो गया। घनगम्भीर आवाज़ में महाराज ज़ोर से बोले, "यह अखाड़ा पुरुषार्थ की कसौटी है। यहाँ हस्तिनापुर का कोई भी वीर अपना पुरुषार्थ प्रकट कर सकता है। गुरुदेव, उस साहसी तरुण को अवसर दो !"

चारों ओर से तालियों और उद्घोषों से उस भाषण का उत्स्फूर्त स्वागत हुआ। उफनते हुए दूध की तरह पूरा अखाड़ा प्रतिक्षण आत्यन्तिक उत्सुकता से फूलने लगा। उठे हुए प्रेक्षक पुनः ताल ठोंककर नीचे बैठ गये। गुरुदेव द्रोण, कृपाचार्य और अर्जुन चबूतरे से हटकर खड़े हो गये।

मैंने राजकुल के लोगों की ओर एक बार देखा। वहाँ विदुर, महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, शकुनि मामा, अमात्य वृषवर्मा तथा आमन्त्रित राजागण बैठे हुए थे। उनके पैरों के पास सभी राजकुमार बैठे हुए थे। उनमें दुर्योधन दुःशासन, दुर्मुख, दुष्कर, विकर्ण, भीम, नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर थे। युवराजों के साथ बीच में अश्वत्थामा बैठा था। उन सबमें केवल चार जनों के ही मुख प्रसन्नता से चमक रहे थे। वे थे-महाराज धृतराष्ट्र, युवराज दुर्योधन, दुःशासन और मेरा मित्र अश्वत्थामा। अश्वत्थामा ने हाथ ऊँचा किया। मैंने वहीं से उसके प्रेम को मौन रूप में स्वीकार किया। ऐसे निर्णायक अवसर पर एक विचार मेरे मन में कौंध गया, "इन गुरु द्रोण का पुत्र है अश्वत्थामा। परन्तु दोनों में कितना अन्तर है ! एक है कलकल करता हुआ निर्मल जल झरना तो दूसरा है घनगम्भीर प्रतीत होनेवाला महासागर ! खारा और अन्तहीन ! जो बाहर से आनेवाले जल को अपने अन्तर में समा लेने के लिए तैयार नहीं है।

मैंने राजस्त्रियों के मण्डप की ओर देखा। लेकिन वहाँ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। केवल एक परदा पड़ा हुआ था। झिलमिलता हुआ रेशमी परदा।

घुटने टेककर मैंने चबूतरे पर से ही पितामह भीष्म और महाराज धृतराष्ट्र को वन्दन किया। उस झिलमिलाते परदे को वन्दन किया ।

अब इतनी शान्ति छा गयी थी कि एक दूसरे के श्वासोच्छवास भी सुनाई पड़ रहे थे।

जिस क्षण के लिए यह कर्ण छह वर्षों से तड़प रहा था, जिस क्षण के लिए उसने दिन-रात एक कर दिये थे, जिस क्षण की प्रतीक्षा करते-करते उसके धैर्य के सभी बन्ध टूट गिरे थे, वह यही क्षण था। उपेक्षा की भट्टी में छह वर्षों तक तपकर निकला हुआ क्षण ! अनुल्लेख की वड़वाग्नि में छह वर्षों तक झुलसते रहने के बाद आया हुआ क्षण! भेदाभेद के द्वन्द्व में आज तक जो पैरों-तले रौंदा गया था, वह क्षण ! कर्तृत्व को कुन्द बना देनेवाला क्षण ! आज तक पुरुषार्थ का क्रूर तिरस्कार करनेवाला यह क्षण !

आज या तो यह कर्ण नील कमलों की उस माला को कण्ठ में डालकर विजयी वीर के रूप में लौटेगा या फिर नगरजन ही पराजित कर्ण के शव को पैरों तले रौंदते हुए लौटेंगे। अन्य कुछ नहीं होगा। इस स्पर्धा का अन्त यही होगा। पूर्ण विजय अथवा मरण। मेरे गुरु ने छह वर्षों ज्ञान-साधना में मुझको यही सिखाया था-"विजय अथवा मरण !"

आशीर्वाद लेने के लिए हाथ जोड़कर मैंने आकाश की ओर देखा। टकटकी बाँधकर उस तेज को मैं गटागट पीने लगा। एक अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश-किरण मेरे सर्वांग में संक्रान्त कर गयी। अब कर्ण, कर्ण नहीं था। वह लोहे का तप्त द्रव्य नहीं था, विद्युत् का प्रवाह नहीं था, वह शोण का भाई नहीं था, अश्वत्थामा का मित्र नहीं था, किसी का पुत्र नहीं था; इस स्पर्धा में भाग लेनेवाला वह हस्तिनापुर का एक वीर भी नहीं था तथा अर्जुन और गुरु द्रोण को अपना पराक्रम दिखाने का अवसर ढूँढ़नेवाला अतृप्त शिष्य भी वह नहीं था। उसको यही पता नहीं था कि वह था कहाँ पर ? यह जानने की उसकी इच्छा भी नहीं थी, क्योंकि अब वह सूर्यदेव का एक प्रकाशवान् किरण था। गतिमान् और तप्त किरण ! धरती को चीरनेवाली किरण ! अब उसको सामने स्थित हजारों लोग दिखाई नहीं दे रहे थे। उसके कानों को कोई आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी। अब उसको तालियों की वर्षा सुनाई नहीं दे रही थी। अपने शरीर की भयंकर उष्णता से वह व्याकुल नहीं हो रहा था। क्योंकि वह तो केवल प्रकाश की एक किरण था। असीम, अमित और अनन्त प्रकाश से संयुक्त किरण। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था ऐसी किरण । त्रिभुवन में स्वच्छन्द विचरण करनेवाली किरण। संसार की आँखों को चकाचौंध से भर देनेवाली किरण। अन्धकार का पेट चीरनेवाली किरण ! केवल किरण ! प्रकाश की किरण !

चबूतरे पर से कूदकर मैं तत्क्षण नीचे उतरा। मेरे शरीर में रंचमात्र भी धमक नहीं लगी थी। क्षण-भर में अश्वारोहण के प्रांगण में पहुँचा। सात श्वेत अश्व एक स्थान पर बँधे हुए थे। उनमें से बीच के एक घोड़े की पीठ पर मैं खड़ा हो गया। उस घोड़े पर से ही मैं सभी घोड़ों को भगाने लगा। मेरे संकेत पर रुके हुए वे सातों घोड़े आगे के खुर उठाकर ज़ोर से

हिनहिनाने लगे। रास का बन्धन अब उनके लिए नहीं रहा। मेरे हाथ में लगी रस्सी पर नाचनेवाले वे सात खिलौने थे। उन दौड़ते हुए घोड़ों पर से मैं सहज ही हाथी पर चढ़ गया। उसके दोनों दाँतों पर अपने दोनों पैर रखकर खड़ा हो गया। उस विशाल प्राणी को बिना अंकुश के ही मनचाहा नचाने लगा।

उसके बाद चक्र के अखाड़े में आया। उस विशाल चक्र को हाथ में लेकर सहज ही थाली की तरह गरगर फिराया। बीच में ही उसको आकाश में ऊँचा उछाल दिया। नीचे गिरते हुए उस चक्र को कनिष्ठिका अँगुली पर झेल दिया। फिर उस चक्र को पैरों के नीचे डाल दिया। पैरों के अँगूठों से ही उसको गोल-गोल फिराया और फेंक दिया।

वहाँ से खड्ग के अखाड़े में आया। मेरे पहले ही वहाँ दो योद्धा हाथों में दो-दो खड्ग लिये खड़े थे। मेरे हाथ जैसे-तैसे एक ही खड्ग लग पाया। उसी से खनखनाहट शुरू हो गयी। मेरे एक-एक भारी प्रहार के साथ ही उनके हाथों से खड्ग छूटकर दूर गिर पड़े। वे अपने कन्धे ऐसे सहलाने लगे जैसे भुजाएँ कन्धे से उखड़ गयी हों। कन्धे सहलाते हुए वे अखाड़े से बाहर चले गये।

तदुपरान्त मैं भाले के अखाड़े में आया। पाँच भिन्न-भिन्न भाले एक ही हाथ में लेकर, दूर से दौड़ते हुए आकर सामने स्थित पाँच लक्ष्यों में मैंने एक ही समय में वे अचूक मारे। फिर दौड़ता हुआ आया और पाँच भाले पहले घुसे हुए भालों के लकड़ी के पुच्छ भागों में फिर मारे। भालों के फेंकने से वहाँ भालों का ढेर तैयार होने लगा। मैं राजस्त्रियों के मण्डप के सामने बने हुए कुश्ती के अखाड़े में आया। उस अखाड़े में तीन प्रतिद्वन्द्वी खड़े थे। लेकिन वे तीनों ही मुझको मिट्टी के ढेर-से लगे। जैसे ही मैंने देह पर ओढ़ा हुआ लाल वस्त्र दूर फेंका, उस ढेर में से ढेरों ने मेरे पके हुए नीबू से एकदम पीले शरीर को देखकर बिना खेले ही हाथ उठाकर अपनी पराजय स्वीकार कर ली। हाँ, एक ने अवश्य मुझको द्वन्द्वयुद्ध के लिए खुली चुनौती दी। द्वन्द्व ! विजय अथवा मरण ! वह दाँत किटकिटाकर मुझपर टूट पड़ा, परन्तु क्षण-भर में ही मेरे बाहुकण्टक दावँ ने उसके गले को दबा दिया। हाथ-पैर पटकता हुआ वह तड़पकर महाराज से प्राणदान माँगने लगा। राजस्त्रियों के मण्डप का परदा यों ही क्षण-भर को थरथराया। महाराज ने राजदण्ड उठाया। उसको जीवनदान मिल गया।

अन्त में धनुर्धर का वेष धारण कर मैं उस बीच के चबूतरे की ओर जाने लगा। मेरी देह पर पीला वस्त्र था। कन्धे पर नीला उत्तरीय था। धीरे-धीरे पैर रखता हुआ मैं चबूतरे की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

सेही के शरीर से सैकड़ों नुकीली नलिकाएँ जैसे एक ही समय में बाहर छूटती हैं, वैसे ही अनेक बाण वेग से मेरे धनुष से छूटने लगे। वे लक्ष्य में ऐसे घुसने लगे जैसे बाँबी में नाग घुसते हैं।

मैंने एक जिह्मबाण छोड़ा। मध्यस्थित अनेक अवरोधों को पार करके टेढ़ा-मेढ़ा जाता हुआ वह सामने के लक्ष्य में अचूक घुस गया।

असंख्य बाण छोड़कर आकाश से बरसनेवाली वर्षा का दृश्य उपस्थित किया। उन काले बाणों के बीच असंख्य सुनहरे जिह्मबाण छोड़कर बिजली का दृश्य निर्माण किया।

आकाश में फेंके हुए फलों के मेरे बाणों द्वारा असंख्य टुकड़े होने लगे। इतने बारीक कि ऊपर जाते समय फल दिखाई पड़ता था, लेकिन नीचे गिरता था केवल चूर्ण।

अब मुझको अन्तिम हाथ दिखाना था। ध्वनि का लक्ष्य-भेद ! केवल ध्वनि सुनकर लक्ष्य-भेद करना था। यह महत्त्वपूर्ण लक्ष्य-भेद था। सारा वातावरण शान्त था। लक्ष्य-भेद से पहले वस्त्र से मेरी आँखें बाँध दी गयीं। एक सूचीबाण हाथ में लेकर मैंने उसको होंठों से लगाया। इस समय गुरु का स्मरण करने की भी मेरी इच्छा नहीं हुई क्योंकि मैं कौन था, यह स्वयं मैं ही नहीं जान रहा था। प्रकाश की किरण का भला कौन गुरु और कैसा आशीर्वाद ?

वह कुत्ता मेरे पीछे बाँध दिया गया। कुत्ते को भौंकाने के लिए एक सेवक दूर से तीक्ष्ण भाले की नोक उसको चुभानेवाला था। लेकिन चुभानेवाला कुत्ता, भाला-इनमें से किसी का भी मुझको विचार नहीं करना था। अब केवल ध्वनि का लक्ष्य-भेद ! मुख से निकलकर कानों से टकरानेवाली ध्वनि-लहरों पर मन केन्द्रित !

मेरा रोम-रोम जैसे कान बन गया। सावधान होने का संकेत मुझको मिला। मेरी कान-रूपी आँखें ध्वनि के लक्ष्य को ढूँढ़ने लगीं। अब कानों से टकरानेवाली ध्वनि की पहली ही तरंग को तत्क्षण भेदना था। चारों ओर श्मशान-जैसी शान्ति थी। साँसें भी रोक ली गयी थीं। इतनी नीरवता, इतनी निश्चल शान्ति कि एक-दूसरे के हृदय की धड़कन भी सुनाई दे जाये। एक मंजुल ध्वनि मेरे कानों से टकरायी। बाण धनुष से छूटा ही था कि कुत्ते का भौंकना सुनाई दिया। सब कुछ क्षण मात्र में हो गया। बाण धनुष से छूट चुका था। मैंने अधीर होकर आँखों पर से वस्त्र हटाकर कुत्ते की ओर देखा। वह अब भी भौंक रहा था। वह बाण कुत्ते के मुख में नहीं लगा था। मेरा लक्ष्यवेध चूक गया था। जीवन भटक गया था।

शरीर से तेज का वह पुंज जाने कहाँ चला गया ! मुझको एकदम बड़ी थकावट-सी लगने लगी। ग्लानि होने लगी। चारों ओर उद्धोष की वर्षा होने लगी थी। "युवराज अर्जुन की SS विजय हो ! गुरुवर्य द्रोण SS की विजय हो !" लाखों होंठों से निःसृत होनेवाली लक्ष लक्ष मर्मभेदी घोषणाएँ !

यह कैसे हो गया ? ध्वनि का लक्ष्यभेद कैसे चूक गया ? वह मंजुल ध्वनि कैसी थी ? कुत्ते ने अपना स्वर बदल दिया था क्या ? फिर मेरा बाण कहाँ चला गया ? मेरे मनरूपी मेघ-संकुल आकाश में असंख्य प्रश्नों की बिजलियाँ चमकने लगीं। मुझको ऐसा लगने लगा जैसे पैरों के नीचे से चबूतरा खिसक रहा हो। मैं कहाँ था ? पृथ्वी पर ? स्वर्ग में ? या नरक में ?

युवराज अर्जुन का जयजयकार करनेवाले ये नरक के भूत हैं क्या ? समस्त अखाड़ा मेरे चारों ओर चक्कर काटने लगा। मैंने तत्क्षण नीचे बैठकर दोनों घुटनों में सिर दबा लिया। मेरे पैरों के नीचे नीलकमलों की वह माला पड़ी थी। मान की माला ! उसके हज़ारों टुकड़े कर चारों ओर बिखेर देने के विचार से मैंने वह माला उठा ली। इतने में ही गुरु द्रोण और अर्जुन चबूतरे पर आ गये। मैं जैसे-तैसे उठकर खड़ा हुआ। मेरे हाथों से माला गुरु द्रोण ने अपने हाथों में ले ली। अर्जुन का अभिनन्दन करने के लिए भीम, युधिष्ठिर आदि सब चबूतरे की ओर चिल्लाते हुए दौड़े।

कर्ण योद्धाओं के राज्य का भिखारी निकला। कर्ण पुरुषार्थ के जग का कीट निकला। क्योंकि वह ध्वनि का लक्ष्यभेद नहीं कर सका। संसार को थर्रा देनेवाला अचूक बाण उसके पास नहीं है। जिसके पास यह बाण है, जगत् में उसी की पूछ है। जगत् पुरुषार्थ की पूजा करता है, पुरुषार्थ के पैर धोता है। संसार में यदि सम्मान के साथ रहना है, तो....तो ध्वनि का लक्ष्यभेद सीखना ही पड़ेगा। जहाँ मिले वहीं जाकर वह विद्या ग्रहण करनी चाहिए। तभी संसार उसकी मान्यता देगा, अन्यथा वह उपेक्षित ही रहेगा। वंचित ही रहेगा। चबूतरे पर से यदि मैं मुँह के बल कूद पड़ता, तब भी तो मेरा माथा न फूटता। मेरा विवश मन क्रन्दन करने लगा। क्या करूँ ? क्या करूँ? मेरी बार-बार इच्छा हुई कि चबूतरे पर से मुँह के बल कूद पड़ूँ और अपनी कपाल-क्रिया कर लूँ। परन्तु सत्य बड़ा क्रूर होता है। कभी कभी वह मनुष्य को सरलता से मरने भी नहीं देता। क्योंकि मेरा शरीर अभेद्य था। इन उन्मत्त लोगों के राज्य में इस कर्ण को अब कौन सहारा देगा ? केवल उसका भाई शोण ! मेरी आँखें चक्कर काटती हुई शोण को खोजने लगीं। महाद्वार के पास खड़ा-खड़ा वह उत्तरीय अपनी आँखें पोंछ रहा था। उसके भाई की यह प्राणान्तक मर्मभेदी पराजय उसके भावुक हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर रही थी। उसको समझाना चाहिए। मैं सावधानी से चबूतरे की सीढ़ियाँ उतरने लगा।

गुरु द्रोण ने नील कमलों की माला अर्जुन के गले में डालने के लिए हाथ ऊपर उठाया। चारों ओर शोर का ठिकाना न रहा। "युवराज अर्जुन की \$\$\$ जय हो\$\$!" "गुरुवर्य द्रोणाचार्य की \$\$\$ जय हो \$\$!" इतने में ही महाराज धृतराष्ट्र के हाथ का राजदण्ड अपने हाथ में लेकर उसको आकाश में ऊँचा उठाकर पितामह भीष्म काँपती हुई आवाज़ में ज़ोर से चिल्लाये, "ठहरो !" लेकिन कोलाहल के उस सागर में उनकी आवाज़ किसी को भी अच्छी तरह सुनाई नहीं दी। गुरु द्रोण ने नील कमलों की माला अर्जुन के गले में डाल दी। तालियों की प्रचण्ड गड़गड़ाहट हुई। एक-एक व्यक्ति चबूतरे से नीचे उतरने लगा। मैं इतना भ्रान्त हो गया था कि मुझको यही नहीं पता चल पा रहा था कि मैं जीवित हूँ या मृत ?

पितामह भीष्म थर-थर काँप रहे थे। उनके हाथ में लगा हुआ कुरुवंश का सुनहला राजदण्ड डगमगा रहा था। हस्तस्थ राजदण्ड को ऊँचा उठाकर निरन्तर हिलाते हुए वे नगरजनों को संकेत करने लगे। युवराज अर्जुन ने यह देखा। उसने शीघ्रता से हाथ उठाकर

सबको रुकने का संकेत किया। तत्क्षण सारा अखाड़ा शान्त हो गया। पितामह भीष्म का काँपता हुआ परन्तु तीक्ष्ण स्वर उस शान्ति का हृदय विदीर्ण करने लगा, "गुरु द्रोण तथा हस्तिनापुर के नगर-निवासियो, मैं गंगापुत्र ज्येष्ठ कौरव भीष्म कह रहा है कि अर्जुन आज का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं है।"

सबके हृदय फिर धड़कने लगे। कौतूहल का घना जाल सारे अखाड़े पर फैल गया। नगरजन कानाफूसी करने लगे। कोई ज़ोर से चिल्लाया, "तो फिर पितामह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कौन है ? आप ही बताइए !"

"कर्ण !" पितामह का घन-गम्भीर स्वर सबके कानों में तीर की तरह घुसा। मैं और शोण महाद्वार से बाहर जाने ही वाले थे कि उस स्वर को सुनते ही लौट पड़े।

"सो कैसे ?" गुरु द्रोण ने तुरन्त उनसे पूछा।

"गुरु द्रोण ! अर्जुन के प्रेम ने आपको अन्धा बना दिया है। केवल अन्धा ही नहीं, बहरा भी। प्रेम-जब वह आवश्यकता से अधिक हो जाता है, तब वह भी दुर्गुण बन जाता है।

"कहिए पितामह, क्या हुआ ?" चारों ओर से आवाजें आयीं।

"शब्द का लक्ष्य-भेद जानने की पात्रता इस अखाड़े में केवल चार व्यक्तियों में ही है। एक कर्ण, दूसरे द्रोण, तीसरा अर्जुन और....और चौथा मैं।" हाथ उठाकर पितामह बोले।

अब अखाड़े में लोग केवल पितामह भीष्म की ओर ही देखने लगे। कुरुकुल का वह निर्मल सत्य अपनी तीक्ष्ण जिह्वा से लोगों के खण्ड-खण्ड करने लगा। दाढ़ी के श्वेतशुभ्र केश हिलने लगे।

"इन चारों में कर्ण अर्जुन की तरह प्रतियोगी था। आँखों पर पट्टी बँधी होने के कारण अपना बाण वह स्वयं ही नहीं देख सका। रह गये अर्जुन, मैं और द्रोण । लेकिन अर्जुन और द्रोण का ध्यान केवल कुत्ते के भौंकने की ओर रहा। उन्होंने और कुछ भी नहीं सुना । परन्तु मैं कहता हूँ कि कुत्ते के भौंकने से पहले एक मंजुल आवाज़ आयी थी। इस वीर कर्ण ने उस आवाज़ को अचूक भेदा है। इसलिए कुरुकुल की भूषणस्वरूप वह माला आज कर्ण के गले में पड़नी चाहिए थी।"

"कैसी आवाज़ पितामह ?" चारों ओर से प्रश्नों की बौछार हुई, "कैसी आवाज़ ? कैसी आवाज़ ?"

मुझको वह घटना याद आयी जब मैं गंगा के किनारे पहली पहली बार उनसे मिला था। उस समय उन्होंने कहा था, "इस गंगा पर मुझसे पहले आनेवाले तुम पहले व्यक्ति हो ।" मेरा मन भर आया। वह भीतर से मुझसे कहने लगा, "पितामह ! इस हस्तिनापुर में मुझको आप पहले गर्वरहित और सत्यवचनी पुरुषश्रेष्ठ दिखाई दिये हैं। आपकी सत्य-निष्ठा धन्य है।"

अपनी आवाज़ स्थिर कर ऊँचे स्वर में बोले, "कुत्ते के भौंकने से पहले सामने के नमोल वृक्ष पर एक पत्ररथ पक्षिणी, अपने बच्चे की चोंच में चारा डालकर चिचियायी थी। । कर्ण ने वह आवाज़ कान में पड़ते ही तत्क्षण उसको अचूक भेद दिया है। अब भी सामने के वृक्ष पर वह पक्षिणी उसी सूचीबाण को ज्यों का त्यों अपने मुँह में रखे ली हुई है। मुझको वह यहाँ से साफ़ दिखाई पड़ रही है। यह लक्ष्य-भेद अर्जुन के लक्ष्य-भेद की अपेक्षा अत्यन्त सरस और श्रेष्ठ है। कर्ण आज का सर्वश्रेष्ठ वीर है।" एक तमाल के वृक्ष की ओर उन्होंने उँगली उठायी। उनकी उँगली की दिशा में हज़ारों आँखें तत्क्षण उठ गयीं।

एक उत्सुक पारधी उस वृक्ष की ओर दौड़ा। कोलाहल की ध्वनि से घबरायी हुई एक पक्षिणी को वह बड़ी कुशलता से पकड़ लाया। वह पक्षिणी उसने पितामह के हाथ में दे दी। उन्होंने उसकी चोंच में लगे हुए मेरे सूचीबाण को निकाला। फिर उसने वही कोमल मंजुल ध्वनि की। उसको सुनते ही सारी घटना मेरी समझ में आ गयी। उन्होंने उसको आकाश में छोड़ दिया। चिचियाती वह अपने घोंसले की ओर पंख पड़फड़ाती चली गयी। चारों ओर तालियों की गड़गड़ाहट हुई। शोण ने आनन्दित होकर महाद्वार में मुझको आलिंगन में कस लिया। चारों ओर उद्घोष की वर्षा होने लगी। “वीर कर्ण की SS जय हो S ! पितामह भीष्म की SS जय हो SS!” वातावरण का कण-कण गंगा के जल-बिन्दु की तरह थिरकने लगा। कहीं किसी अशोक पर एक कोकिल तान पर तान लेने लगा। मेरे मन में अनेक परस्परविरोधी भावनाओं का अजीब-सा मिश्रण हो गया। कभी तो मन क्षण-भर में पितामह भीष्म के प्रति आदर से भर जाता, तो दूसरे ही क्षण शीघ्रतापूर्वक अर्जुन के गले में अजेय पद को सम्मान्य माला डालनेवाले गुरु द्रोण के प्रति तिरस्कार से प्रचलित होने लगता। एक क्षण में मेरा मन मेरे लिए आँसू पोंछनेवाले अपने स्नेहमय भाई के विशुद्ध प्रेम से लबालब भर जाता, तो दूसरे ही क्षण वह अपने गले में उस माला को पहननेवाले युवराज अर्जुन पर क्रुद्ध होकर थर-थर काँपने लगता। मन क्या रंग बदलनेवाला गिरगिट होता है.? भगवान् जानें। ऐसी विविध भावनाओं के समय एक ही भावना श्रेष्ठ मानी जाती है और वह होती है क्रोध की। क्रोध ! क्रोध अग्नि की तरह होता है। अन्यथा सम्भावना की हवा लगने पर वह और अधिक भड़क उठता है। उस महाग्नि में अन्य कोमल भावनाएँ जलकर राख हो जाती हैं। और जब यह महाग्नि एक बार धधक उठती है तब फिर उसका रोकना बड़ा कठिन हो जाता है। क्रोध से मेरे होंठ काँपने लगे। कानों के कुण्डल लाल हो गये । जब मैं सर्वश्रेष्ठ वीर था तो फिर नील कमलों की माला अर्जुन के गले में क्यों थी ? पितामह भीष्म-जैसे सत्यवादी और निष्पक्ष पंच के निर्णय का यहाँ क्या मूल्य है ?

मेरे कानों में शब्दों के आघात होने लगे। “आज हम धन्य हो गये। निखिल आर्यावर्त में कर्ण-जैसा धनुर्धर नहीं मिलेगा। लेकिन बेचारे का यथोचित स्वागत नहीं हुआ।”

समाज भी कितना ढोंगी होता है ! वह कभी किसी को तो कभी किसी ऐरे-गैरे को ही सिर पर उठाकर नाचने को तैयार रहता है।

“आज हमारी आँखें सफल हो गयीं। ऐसा लक्ष्य-भेद हमने न तो देखा था और न सुना ही था। लेकिन वह माला कर्ण के गले में पड़नी चाहिए थी।”

उनकी थोथी सहानुभूति मेरी क्रोधाग्नि में घी डालने लगी।

मेरे शरीर का रक्त वेग से दौड़ता हुआ गरज-गरज कर मुझसे कहने लगा, "संसार की सहानुभूति पर जीवित रहने के लिए तेरा जन्म नहीं हुआ है, कर्ण ! उठ और अपनी अखण्ड विजय सिद्ध कर।"

कन्धे पर पड़ा हुआ उत्तरीय मैंने फिर शोण के ऊपर फेंक दिया और मैं चबूतरे की दिशा में नगरजनों की भीड़ में घुस गया। जैसे ही मैं चबूतरे पर चढ़ा, सबने अपने उत्तरीय उन्मत्त होकर हवा में फहराने शुरू कर दिये। अब अखाड़ा एक उत्सव के रूप में बदल गया था। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य क्या है, यह बात अखाड़े के बहुत-से लोगों की समझ में ही नहीं आयी। मैंने हाथ उठाकर जैसे ही रुकने का संकेत किया मेरे प्रति प्रेम से भावाभिभूत विशाल जन समुदाय नीचे बैठ गया। मेरी बात सुनने के लिए हजारों कान मेरी ओर लग गये। हाथ उठाकर ऊँचे स्वर में मैंने कहा, “मेरे गले में नील-कमलों की माला नहीं पड़ी है, इसलिए मेरी विजय कलंकित है, ऐसा यदि किसी को अब भी लगता हो, तो मैं....तो मैं कर्ण हस्तिनापुर के इस चबूतरे पर खड़ा होकर युवराज अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिए स्पष्ट चुनौती देता हूँ। द्वन्द्व-युद्ध ही यह निर्णय कर देगा कि सर्वश्रेष्ठ कौन है !”

मुझको किसी की भिक्षा नहीं चाहिए थी।

सब लोग फिर उठ खड़े हुए। वे घोषणा करने लगे, "ठीक है, ठीक है।" महाराज धृतराष्ट्र क्या निर्णय करते हैं, इस ओर सबके कान खड़े हो गये। चारों ओर शान्ति छा गयी। इतने में कृपाचार्य बीच में ही अपने आसन से उठे और जल्दी-जल्दी चबूतरे पर चढ़ आये। उपेक्षा-भरी भेदक दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखकर, महाराज को अभिवादन कर वे बोले, “महाराज, मैं कर्ण के पथक का गुरुदेव कृपाचार्य बोल रहा हूँ। वैसे यह कर्ण मेरा शिष्य है। लेकिन उसका कुल मुझको विदित नहीं है। उसने भी कभी किसी को वह नहीं बताया है। युवराज अर्जुन क्षत्रिय कुलोत्पन्न है। युद्ध-शास्त्र की और धर्म की नीति के अनुसार केवल समान कुल के योद्धाओं में ही द्वन्द्व हो सकता है। इस हस्तिनापुर के सभी नगरजनों को कर्ण पहले अपने उस दिव्य, तेजस्वी कुल का नाम बताये; उसके बाद अर्जुन उससे चाहे जब द्वन्द्व युद्ध करेगा। क्योंकि द्वन्द्व का परिणाम एक ही होता है, विजय अथवा मरण।”

उनके वे शब्द भाले की नोक की तरह मुझको विद्ध करने लगे। पुरुषार्थ की कसौटी प्रस्तुत करनेवाले हस्तिनापुर के उस चबूतरे पर खड़ा होकर मैं किस कुल का नाम बताऊँ ?

सूर्यवंश के इन तेजस्वी पुरुष-श्रेष्ठों के सम्मुख मैं यह कैसे कहूँ कि मैं एक सारथी का पुत्र हूँ? क्षण-भर मेरा मन विचारों के जाल में उलझा रहा। सिर झुकाकर मैं विचार करने लगा। मन में दो प्रबल विचारों का द्वन्द्व शुरू हो गया। एक मन चिल्लाकर कह रहा था, "कह दे कर्ण, अपनी खुली छाती गर्व से उन्नत कर कह दे कि मैं तात अधिरथ और राधामाता का सूतपुत्र कर्ण हूँ। मैं शोण का भाई कर्ण हूँ। मैं सारथी कर्ण हूँ।" लेकिन दूसरा मन कह रहा था, "यहाँ सभी संकुचित बुद्धि के लोग बैठे हैं। ये किन शब्दों में तेरे कुल का स्वागत करेंगे? सबके सब तुच्छता से कहेंगे-क्या सारथी का पुत्र? तो फिर यहाँ क्यों आया है? अश्वशाला में भेज दो उसको।"

मेरे मन का पौधा विचारों की आँधी में इधर-उधर हिलने लगा। वर्षा से आहत, टूटे हुए डण्ठलवाले कमल पुष्प की तरह मेरी ग्रीवा अपने-आप झुक गयी। कोई चबूतरे पर चढ़ रहा था। मैंने अधीर होकर सिर उठाकर देखा। वह युवराज दुर्योधन था। वही गर्वीली चाल। वही तीक्ष्ण नासिका। वे भेदक कंजी आँखें। वह आगे बढ़ा और कशाघात की तरह कठोर शब्दों में, हाथ की मुट्टियों को दृढ़ता से बाँधकर, अपनी कंजी आँखें सबपर गरगर फिराता और चक्कर लगाता हुआ वह बोला, "गुरुदेव कृपाचार्य पराक्रम की क्रूर अवहेलना कर रहे हैं। क्षत्रिय! क्षत्रिय होने के लिए कर्ण में क्या कमी है? धर्मशास्त्र के अनुसार क्षत्रिय किसको कहते हैं? जिसकी भुजाओं में प्रचण्ड शक्ति होती है-उसको, जो अपना निजी राज्य धारण करता है उसको, और जो राजकुल में जन्म लेता है उसको। इस कर्ण ने अपना पुरुषार्थ इस स्थान पर प्रकट करके यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि वह क्षत्रिय है। इतने में भी यदि किसी का समाधान न होता हो तो मैं-दुर्योधन-इसी स्थान पर यह सिद्ध करता हूँ कि यह कर्ण एक क्षत्रिय ही है और यह द्वन्द्व युद्ध होना ही चाहिए। मैं युवराज दुर्योधन घोषणा करता हूँ कि इसी समय इसी चबूतरे पर मैं सबके सामने इस वीर, तेजस्वी और पराक्रमी कर्ण को अंगदेश का राजा बनाता हूँ। मगध देश के पास स्थित अंगदेश, जो अबतक कौरवों के आधिपत्य में था, इस क्षण के बाद कर्ण का हो जायेगा। कर्ण अंगराज होगा।"

उसने अपनी पुष्ट गरदन चारों ओर घुमायी और सबकी स्वीकृति ली। चारों ओर निस्तब्धता थी। अपनी वक्र और मोटी भौहों को और अधिक वक्र करते हुए उसने सेवक को बुलाने के लिए ताली बजायी। तत्क्षण अनेक सेवक चबूतरे पर इकट्ठे हो गये! उसने सबको यथोचित आज्ञाएँ दीं, "सिंहासन लाओ! अभिषेक का जल लाओ! पुरोहित को बुला लाओ?"

थोड़ी ही देर में चबूतरे पर एक सोने का सिंहासन आ गया। उसके पीछे-पीछे अभिषेक का जल और राजवस्त्र आ गये। उनके ऊपर एक स्वर्णकिरीट और एक रुपहला खड्ग था। पीछे-पीछे दो वृद्ध ब्राह्मण आये। सभी लोगों को पुष्प बाँट दिये गये। चारों ओर चन्दन और कस्तूरी के तेलों की सुगन्ध महकने लगी। दुन्दुभी और नगाड़े बजने लगे। सारे अखाड़े का

रूप एक मंगल कार्यरूप में रूपान्तर हो गया। क्या हो रहा है, यही समझ में नहीं आ रहा था।

लोग फुसफुसाने लगे, “महाराज मनु से लेकर महाराज धृतराष्ट्र तक के समय में इस हस्तिनापुर में ऐसा राज्याभिषेक कभी हुआ है, हमने तो सुना नहीं है।”

“ठीक हुआ। उस वीर पुरुष का अब यथोचित सत्कार हो रहा है।”

“लेकिन इस राज्याभिषेक के बाद फिर क्या ? द्वन्द्व में क्या होगा ?”

सब प्रकार की तैयारी होते ही युवराज दुर्योधन ने मेरी बाँह पकड़कर मुझको उस सिंहासन पर बैठाया। वृद्ध ब्राह्मणों ने सुर सहित आवाज़ में पवित्र मन्त्र उच्चरित करना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर पहले जहाँ पुकारें, तालियाँ और तर्क वितर्क हो रहे थे, वहीं अब मन्त्रों की ध्वनि गूँजने लगी। मेरे मस्तक पर आर्यावर्त की गंगा, यमुना, सरस्वती सिन्धु, गोमती आदि समस्त नदियों का पवित्र जल छिड़का जाने लगा। एक ओर उस जल से मेरा मस्तक भीग रहा था, दूसरी ओर युवराज दुर्योधन के विशुद्ध प्रेम की गंगा में मेरा मन भीग रहा था। उसका मन कितना विशाल और कितना तत्पर था ! आज यदि वह आगे न आया होता तो? इस विचार-मात्र से मेरा सारा शरीर सिहर उठा। कर्ण ने अपने जीवन में कुछ गिने-चुने व्यक्तियों से ही प्रेम किया था। एक उसके माता-पिता और भाई, दूसरा अश्वत्थामा, तीसरे पितामह भीष्म और अब युवराज दुर्योधन । लेकिन अब इन सबकी अपेक्षा युवराज दुर्योधन की बात कुछ और है। क्योंकि उसने अपमान के गर्त में पड़े हुए मुझको अपने हाथ का सहारा देकर उठाया था। एक साधारण व्यक्ति को क्षण भर में उसने राजा बना दिया था। इस कर्ण के मन का एक कोना आज से केवल युवराज दुर्योधन के लिए ही रहेगा। मैंने मन ही मन निश्चय किया-सिंहासन पर बैठे-बैठे ही।

उसने एक स्वर्ण-किरीट मेरे सुनहले बालों पर रखा। कन्धे पर राजवस्त्र डाले और फिर हाथ में रुपहला खड्ग लेकर, उसको यथेष्ट ऊँचा उठाकर, मण्डलाकार फिराता हुआ वह ज़ोर से चिल्लाया, “अंगराज कर्ण की SS !” सबने प्रचण्ड आवाज़ में उसका साथ दिया, “जय हो SS!”

मेरा मन दुर्योधन के इस अनपेक्षित साहस से श्रद्धानवत हो गया। उसकी कंजी आँखों में एक अकथनीय आनन्द चमक रहा था। मेरी इच्छा हुई कि उसको कसकर आलिंगन में बाँध लूँ। समस्त नगरजन अंगराज कर्ण का जय-जयकार कर रहे थे। सारथी का पुत्र आज सम्राट् हो गया। छह वर्षों में जो गुरु द्रोण नहीं कर सके, कृपाचार्य नहीं कर सके, शायद आगे जीवन-भर भी कभी वे नहीं कर पाते, वह एक पल में दुर्योधन ने आज कर दिखाया। गदावीर दुर्योधन! युवराज दुर्योधन! अन्याय को ठोकर मारनेवाला दुर्योधन ! पराक्रम की परख करनेवाला दुर्योधन ! छिः, मित्र दुर्योधन , प्राणप्रिय साथी दुर्योधन ! मेरी आँखों में अत्यन्त कृतज्ञता के दो आँसू आ गये। वे मानो उससे कह रहे थे, “युवराज दुर्योधन। धूल में

पड़ा हुआ कमलपुष्प तुमने आज राजमुकुट में लगाया है। धूल में पड़े हुए रत्न को तुमने गले लगाया है। अपमान के समय मुझे सहारा दिया है। अब मेरा समस्त जीवन तेरे लिए है। केवल तेरे लिए।"

नगरजनों ने चारों ओर से मुझपर पुष्पवर्षा की। मेरा मन उनके प्रेम से आकण्ठ भर गया। अब यदि द्वन्द्व हो और मैं उसमें काम भी आ जाऊँ तो क्या हानि है ! इसकी अपेक्षा सम्मान्य मृत्यु दूसरी कौन-सी होगी ! सबने जिसपर पुष्पवर्षा की ऐसी मृत्यु ! सिंहासन के ऊपर की मृत्यु ! आज इस युवराज दुर्योधन के लिए मैं प्राणपण से द्वन्द्व-युद्ध करूँगा। अपने छह वर्ष का हिसाब-किताब भी साफ़ कर लूँगा। मैंने रात-दिन द्वन्द्व-युद्ध का जो अभ्यास किया है, उसकी कसौटी आज होगी। आज मेरे बाहुकण्टक की कसौटी होगी। अर्जुन विगतप्राण होगा। इस समय एक और आशीर्वाद की मुझको आवश्यकता थी। अपनी माता के आशीर्वाद की। आज वह इस अखाड़े में होती तो ! मुझको विश्वास है कि वह दौड़ती हुई आती और इस समय मुझको अपनी छाती से लगा लेती। सबके सामने वह मेरे मस्तक को और कुण्डल को बार-बार चूमती, जैसे कि बचपन में चूमा करती थी। कौन ऐसी माता है जो अपने साधारण पुत्र को सम्राट् बना हुआ देखकर अपना आनन्द रोक सके ! परन्तु-परन्तु आज वह यहाँ नहीं थी। केवल पिताजी हस्तिनापुर में थे, लेकिन वे भी इस जनसमूह में कहाँ थे, यह दिखाई नहीं पड़ रहा था।

मेरी आँखें पूरे अखाड़े पर घूमने लगीं। बहुत दूर अखाड़े के महाद्वार पर पिताजी खड़े थे। कितने परिश्रान्त थे वे ! छह वर्षों में उनके सिर के सारे बाल श्वेत हो गये थे। पीठ झुक गयी थी। ग्रीवा वृद्धावस्था के कारण हिलने लगी थी। हाथ में लगी लकड़ी के सहारे वे जैसे-तैसे खड़े थे। अपने पुत्र के जय-जयकार की ध्वनि सुनकर उनको कैसा लग रहा होगा ? यहाँ आने के लिए उनका मन कितना अधीर हो गया होगा ! यहाँ, कौन उनको सँभालकर यहाँ तक लायेगा ? मैंने शोण की ओर देखा। मेरी आँखों की भाषा को उसने शायद अचूक पढ़ लिया। झटपट वह चबूतरे की सीढ़ियाँ उतरकर समूह में अदृश्य हो गया। दोनों हाथों से लोगों को दूर हटाता हुआ वह पिताजी के पास पहुँचा। एक हाथ से उनको पकड़कर और दूसरे हाथ से लोगों को दूर करता हुआ वह हमारी ओर आने लगा। मैं उठकर खड़ा हो गया। लोगों ने समझा कि मैं अब द्वन्द्व की घोषणा करूँगा। लेकिन मेरा मन पिताजी से मिलने को आतुर हो उठा था। मुझको उनके आशीर्वाद की आवश्यकता थी।

थोड़ी ही देर में शोण उनको लेकर सीधा चबूतरे पर आ गया।

मेरे सिर पर स्वर्णमुकुट देखते ही उनकी गरदन और अधिक हिलने लगी। हाथ में लगी छड़ी डगमगाने लगी। उनकी आँखें भर आयीं। मैंने झुककर अपना मुकुटमण्डित मस्तक उनके चरणों पर रख दिया। उनकी आँखों से निकले हुए दो अश्रुबिन्दु मेरे मस्तक पर पड़े। मैं धन्य हो गया। जिस मस्तक पर गंगा, यमुना, सरस्वती आदि का पवित्र अभिषेक-जल

पड़ा था, उसी मस्तक पर मेरे पिता के ममता-भरे दो अश्रुबिन्दु भी पड़े थे। अब मुझ अंगराज का अभिषेक वास्तव में पूर्ण हो गया था। इन दो अश्रुबिन्दुओं से अधिक पवित्र जल कौन-सा होगा ! उन्होंने मेरे लिए जो अनगिनत कष्ट सहे थे, उनका स्मरण कर मेरा कण्ठ गद्गद हो गया।

मुझको ऊपर उठाते हुए भर्रायी आवाज़ में वे बोले, "कर्ण !"

मेरे मुख से भी उतनी ही सहजता से उद्गार निकला, "पिताजी !"

उन्होंने मुझको एकदम अपनी भुजाओं में भर लिया। उनके हाथ से छड़ी छूटकर नीचे गिर पड़ी। पूरा अखाड़ा श्वास रोककर हमारा आलिंगन देखने लगा। क्षण-भर तो किसी की समझ में यह आया ही नहीं कि चबूतरे पर क्या हो रहा है। चारों ओर द्वन्द को देखने के लिए अद्भुत शान्ति थी।

पिताजी को पुकारते हुए और उनके चरणस्पर्श करते हुए मुझको कृपाचार्य ने देख लिया। तत्क्षण आगे बढ़कर हाथ उठाकर वे चिल्लाये, "कर्ण एक सारथी का पुत्र है, उसका और युवराज अर्जुन का द्वन्द्व युद्ध कभी नहीं हो सकता है। महाराज के सारथी अधिरथ का पुत्र है कर्ण।"

यह घोषणा सुनकर युवराजों की पंक्ति में बैठा हुआ भीम अपना विशाल शरीर सँभालता हुआ उठ खड़ा हुआ। हाथ की उँगलियाँ तिरस्कारपूर्वक मेरी ओर फड़काता हुआ वह बोला, "क्या कहा ? सारथी का पुत्र ? फिर वह वीरों के इस अखाड़े में क्यों आया ? उससे कहो कि अपने कुल के अनुरूप प्रतोद हाथ में ले ले। जा, यहाँ से चला जा। अश्वशाला में जाकर घोड़ों की मालिश कर और उनका लीद फेंक। यहाँ कुरुवंश के इस पराक्रमी चबूतरे पर वह क्यों चढ़ा है ? इतना साहस कैसे किया उसने?"

सभी युवराज कुत्सा से खिलखिलाकर हँस पड़े। चारों ओर शोर-गुल बढ़ने लगा। सभी एक-दूसरे के कान में फुसफुसाने लगे, "सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !" मेरा मन तड़पने लगा, क्रन्दन करने लगा-सिंहासन पर ही।

उन शब्दों की एक से एक बढ़कर आवाजें तप्त शलाकाओं की तरह मेरे कानों में घुसने लगी : "सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !"

दस-बीस-सौ-हज़ार मुखों से शब्दों के बाण बाहर से छूटने लगे-"सारथी का पुत्र! सारथी का पुत्र !"

आज क्या हस्तिनापुर का सत्यासत्य का विवेक सचमुच ही समाप्त हो गया है ? किसी में इतनी शक्ति नहीं है जो इस कर्ण के भग्न हृदय की चीत्कार को सुन सके। क्या आज हस्तिनापुर में न्याय-अन्याय की लौ बुझ गयी है ? इस हस्तिनापुर में क्या किसी में इतनी शक्ति नहीं है जो इस कर्ण के तड़पते हुए मन को पहचान सके। महाराज मनु का यह

हस्तिनापुर, पराक्रमी नहुष का हस्तिनापुर, दिग्विजयी ययाति का हस्तिनापुर, शान्तनु, दुष्यन्त और भरत का हस्तिनापुर-और जिनकी स्मृति को नगरजन अभी तक नहीं भूले हैं, जिनका प्रस्थान अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है, उन गुरु का हस्तिनापुर आज इतना ठण्डा और विवश-सा क्यों है ? आज अन्याय को ठोकर मारने के लिए वह धैर्यपूर्वक छाती ठोक कर खड़ा क्यों नहीं होता? इस कर्ण पर अन्याय! पराक्रम के इस चबूतरे पर एक वीर का अपमान ! दम्भ के यज्ञ में असत्य की वेदी पर आज यहाँ प्रतिक्षण सत्य की निष्ठुर बलि दी जा रही है और धर्म का अवलम्बन करनेवाले विदुर, महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म उसको सिर झुकाकर सहन कर रहे हैं ? कब बोलेंगे वे ? क्या बोलेंगे वे ? वे चुप क्यों हैं ? उनके प्रति आदर की समस्त भावनाओं को क्षण-भर के लिए अलग रखकर मैं कहूँगा कि केवल स्वर्णमुकुट धारण कर ऊँचे आसन प्राप्त करने के लिए ही आपका जन्म हुआ है क्या ? इस हस्तिनापुर के मार्गों पर गर्वीले और वेगवान् घोड़ोंवाले विशाल रथ दौड़ाने के लिए ही आपका जन्म हुआ है क्या ? आज चुप क्यों हैं आप ? अपनी कण्ठध्वनि से कर्ण पर हो रहे इस अन्याय को क्यों नहीं रोकते ? प्रजा आशा से राजा की ओर नहीं देखेगी तो फिर किसकी ओर देखेगी ? मैं आँखों में प्राण समाकर राजकुल के लोगों की ओर बारम्बार देख रहा था। वे चुप थे। चारों ओर से आवाजें आ रही थीं—“सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !!” नैर्ऋत्य की ओर तो मुट्टियाँ बाँधे उन्मत्त लोग चिल्ला रहे थे-“सारथी का पुत्र ! घोड़े की मालिश !”

संसार भी कितना पागल है ! क्षण-भर पहले जिस कर्ण को उन्होंने गौरव के शिखर पर पहुँचाया था, ऊँचे स्वर में जिसका जय-जयकार किया था, अब उसी की वे धज्जियाँ उड़ा रहे थे। मेरा सिर चक्कर खाने लगा। इच्छा कि सिर पर रखा हुआ मुकुट हस्तिनापुर की धूल में फेंक दूँ। कुण्डलों के गोलों को कान में ठूसकर दोनों हथेलियों से कान दबाकर मैंने असहाय होकर गरदन ऊपर उठायी। आकाश में गुरुदेव खड़े थे। चारों ओर से ठोकर खाया हुआ मेरा मन उनकी किरणरूपी असंख्य उँगलियों को पकड़कर उनको ज़ोर से हिलाता हुआ उनसे लिपटकर कहने लगा, “गुरुदेव, आप ऊपर दहक रहे हैं। आपके होते हुए भी आज मैं घोर अपमान सहन कर रहा हूँ। किस लिए हुआ मैं सारथी ? सारथी हुआ हूँ तो यह क्या मेरा अपराध है ? जन्म लेनेवाले को अपनी इच्छानुसार कभी जन्म मिला है क्या ? इस हस्तिनापुर के नगरजन आज गुरु के सामने शिष्य की भर्त्सना कर रहे हैं। क्या करूँ मैं ? सब मुझको ठोकरें मार रहे हैं। मैं कहाँ जाऊँ ?” मैंने लज्जित होकर दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लिया। मरणप्राय यातना से। इच्छा हुई कि चबूतरा फट जाये और पृथ्वी मुझको उदरसात् कर ले।

कहीं बड़े जोर का कोलाहल हुआ इसलिए मैंने सिर ऊपर उठाया। सारे सेवक राजस्त्रियों के मण्डप की ओर दौड़ रहे थे। एक सेवक दौड़ता हुआ चबूतरे पर आया उसने साँस

रोककर नील कमलों की माला पहने हुए नीले अर्जुन के कान में कहा, “युवराज, राजमाता कुन्तीदेवी मूर्च्छित हो गयी हैं।” गले से माला फेंककर अर्जुन चबूतरे से उतरकर उस मण्डप की ओर दौड़ने लगा। लोग उस समय भी चिल्ला रहे थे-“सारथी का पुत्र !”

सिर पर रखा हुआ मुकुट फेंककर पिताजी को साथ लेकर वहाँ से चले जाने का विचार कर मैंने मुकुट को हाथ लगाया। इतने में ही मेरी पीठ पर किसी ने हाथ फिराया। वह दुर्योधन था। बायाँ हाथ मेरी पीठ पर फिराता हुआ दायें हाथ की दृढ़ मुट्ठी ऊपर कर वह बोला, “ध्यान रखो ! कर्ण अंगराज है। दुर्योधन के मित्र हैं। उनको सारथी का पुत्र कहकर उनकी हँसी उड़नेवाले गर्वोन्मत्त मस्तकों को मैं पैरों तले रौंद दूंगा। कर्ण 'कर्ण' नहीं है, अंगराज कर्ण हैं। युवराज दुर्योधन के मित्र हैं।” उसकी कंजी आँखें आग बरसाने लगीं। ऊँची आवाज़ में वह पुनः बोला, “यह कुरुवंश के पराक्रमी वीरों का अखाड़ा है। यहाँ यदि किसी वीर का अपमान किया जायेगा तो वह कदापि सहन नहीं किया जायेगा। आज की स्पर्धाएँ समाप्त हो गयी हैं। नगरजन वापस जा सकते हैं।” गुरु द्रोण की ओर न देखते हुए उसने स्पर्धा की समाप्ति कर दी।

नगरजन उठकर वापस जाने लगे। उनके पैरों तले नील कमलों की वह माला धूल में मिलने लगी। अजेय पद की माला धूल में।

मेरा मन भावाभिभूत हो गया। आवेग में मैंने युवराज दुर्योधन को बाँहों में भर लिया। आज से कर्ण युवराज दुर्योधन का मित्र है। उसका पुरुषार्थ, शरीर, मन, शस्त्र-विद्या सब कुछ युवराज दुर्योधन के लिए ही है। उसके हाथ को अपने हाथ में लेकर प्रेम से उसको थपथपाते हुए मैंने कहा, “राजन्, मैं अंगराज कर्ण, नहीं, केवल कर्ण तुमको वचन देता हूँ कि जिस मेरु पर्वत-जैसे धैर्य से आज तुमने मुझको सहारा दिया है, उसी धैर्य से मैं आजन्म तुम्हारी पीठ के पीछे रहूँगा। प्राण भले ही चले जायें, लेकिन मैं पीछे नहीं हटूँगा।”

वह क्षण-भर मेरे कुण्डलों की ओर देखता रहा। समस्त नगरजन कब के जा चुके थे। अखाड़ा सुनसान था। मैं, शोण, दुर्योधन और पिताजी चबूतरे से उतरने लगे। पश्चिम की ओर अस्त होते हुए सूर्यदेव को अन्तिम नमस्कार करने के विचार से मैंने उधर देखा। उनके ऊपर एक काला बादल आ गया था। धूसरित प्रकाश में अखाड़े के सभी उप-अखाड़े डरावने दिखाई पड़ रहे थे। अश्वारोहण के अखाड़े के घोड़े यों ही इधर-उधर चक्कर काट रहे थे। शोण ने कौरवों के राजचिह्न को जो माला पहनायी थी, वहीं थी। लेकिन अब वह सूख गयी थी। और कौरवों का भगवाध्वज अब फहरा नहीं रहा था, शान्त था।

सैंतीस

रात को मुझको और दिनों की तरह नींद नहीं आयी। प्रातःकाल से जो घटनाएं घटी थी। वे बार-बार आंखों के आगे नाचने लगीं। इस एक दिन में ही कितनी उथल-पुथल मच गई थी? मैं सारथी हूं, इस बात का दुख आज मुझको क्यों हुआ? आखिर काल क्या है ? एक सारथी ही नहीं है क्या ? मानवरूपी घोड़ों की पीठ पर अपने संकेतों के कशाघात करता हुआ वह कभी-कभी इन घोड़ों को कितने वेग से भगाता है! आज अखाड़े में जो कुछ वटित हुआ था, उसकी भविष्यवाणी कल यदि किसी ज्योतिषी ने की होती, तो मैंने उसपर कदापि विश्वास न किया होता। लेकिन वह सब आज प्रत्यक्ष हो गया था। पहले क्षण लोगों ने वीर कर्ण का जय-जयकार किया था और दूसरे ही क्षण 'सारथी का पुत्र' कहकर उसको अपमानित भी किया था। जिसको सबने सारथी कहा था, उसको दुर्योधन ने मित्र कहा था। दुर्योधन ! महाधैर्यशाली ! आज मुझपर जो अन्याय हुआ था, उसका प्रतिकार करने की इच्छा केवल उसके मन में ही क्यों हुई थी ? मेरे प्रति प्रेम के कारण या अर्जुन से द्वेष के कारण ? कहीं भीम के ऊपर क्रोध के कारण तो नहीं ? मेरे मन के विवर से सन्देह की दीमक बाहर निकलने लगी। शय्या पर मैं रात-भर करवटें ही बदलता रहा। नींद नहीं आ रही थी। धमाके की आवाज़ से भड़के हुए गाय के बछड़े की तरह वह उछल-कूद कर रही थी। बार-बार पुकारने पर भी नेत्रों के गोष्ठ की ओर वह नहीं आ रही थी।

युद्धशाला के अपने कक्ष से मैं बाहर आया। बाहर पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र अपना रुपहला कुम्भ धरती के चरणों पर उँडेल रहा था। दूर अरुन्धती तारिका अपनी मिचमिचाती आँखों से पृथ्वी पर की गयी चन्द्र की उस मुक्त कृपा को क्रोध से देख रही थी। मेरे मन से संशय के बादल छंट गये। गंगा की ठण्डी-ठण्डी लहरें मेरे कन्धों को झकझोरती हुई कहने लगीं, "चल, हमारी असंख्य कन्याएँ सिर पर रुपहले वस्त्र धारण कर कैसी नाच रही हैं, यह देखने चल !"

मैंने देह पर उत्तरीय लपेटा और युद्धशाला की चहारदीवारी से बाहर निकला । अखाड़े के पीछे ही गंगा बह रही थी। जब-तब किसी अशोक वृक्ष पर कोई क्रौंच पक्षी अपने पंख फड़फड़ा उठता । मैं गंगा के शान्त किनारे पर आया। कितना विशाल था उसका पात्र ! कुरुवंश की अनेक पीढ़ियाँ उसने देखी थीं। महान् परिवर्तनों के प्रतिबिम्ब अपनी देह पर सहन किये थे। फिर भी वह शान्त थी। एक काले पाषाण-खण्ड पर बैठकर मैं उसका रुपहला मनोहर सुन्दर पात्र देखने लगा। दूर कहीं से बुड-बुड आवाज़ आयी। गंगा के पानी पर झुकी हुई एक मनुष्याकृति मुझको दिखाई दी। रात में पानी लेने के लिए यहाँ कौन आया है ? मैंने ज़ोर से आवाज़ देकर पूछा, "कौन है?"

एक कन्धे पर घड़ा रखे हुए वह आकृति धीरे-धीरे आगे सरकने लगी। मेरा कौतूहल और अधिक बढ़ गया। थोड़ी ही देर में एक लम्बा-तगड़ा व्यक्ति मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

कन्धे पर घड़े के कारण उसकी गरदन कुछ झुक गयी थी। दोनों हाथों से उसने घड़ा थाम रखा था। मेरे सामने आते ही वह बोला, "मैं सत्यसेन हूँ।"

"सत्यसेन !" मेरा मन स्मृतियों का वस्त्र उधेड़ने लगा। कहीं का एक धागा हाथ आ तो रहा था परन्तु निश्चित रूप से उसकी पहचान नहीं हो रही थी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सत्यसेन का नाम कहीं सुना अवश्य है। मैंने फिर उससे पूछा, "सत्यसेन कौन?"

"मैं प्रयाग का सारथी सत्यसेन ।"

प्रयाग ! गंगा-यमुना का संगम ! मेरा कौतूहल और अधिक बढ़ गया। मैंने फिर उससे पूछा, "इस समय रात में हस्तिनापुर गंगा के किनारे पर कैसे ?"

"कौरव महाराज धृतराष्ट्र की कीर्ति सुनी थी। हस्तिनापुर में अपने सारथ्य की समादर होगा—यह सोचकर आया हूँ। मेरी बहन वृषाली और मेरी माता भी मेरे साथ आयीं हैं।"

"वृषाली !" मेरे मुख से सहज ही उद्गार बाहर निकला।

"जी हाँ ! हमें आशा थी कि हम लोग दिन में ही हस्तिनापुर पहुँच जायेंगे। परन्तु काम्पिल्य नगर के घने अरण्य में हमारे एक घोड़े के पैर में मोच आ जाने के कारण हमको धीरे-धीरे आना पड़ा। इस नगर में हम अभी-अभी आये हैं।"

"तो फिर हस्तिनापुर के अतिथि सत्कार का स्तर क्या इतना गिर गया है, जो उन्होंने पानी लेने के लिए तुम्हें इस कुसमय में यहाँ भेजा है ?"

"यह बात नहीं है। हम किसी के यहाँ नहीं ठहरे हैं। क्योंकि मेरा यहाँ किसी से परिचय नहीं है। माता और बहन दोनों को विष्णु मन्दिर के प्रांगण में बैठा आया हूँ । यात्रा में माता को प्यास लग आयी थी, इसीलिए मैं जल लेने आया हूँ। लेकिन महाराज आप कौन हैं ?"

"मैं महाराज नहीं हूँ। मैं कर्ण हूँ।" मैंने उसका भ्रम दूर किया ।

"कर्ण ? तो क्या चम्पानगरी के अधिरथ काका के...." वह मेरे कुण्डलों की ओर देखता हुआ बोला।

"हाँ, मैं उन्हीं का पुत्र हूँ।" वह मेरे कुण्डलों की ओर बार-बार देखने लगा। कन्धे पर घड़ा रखा होने के कारण उसको कठिनाई हो रही थी। मैंने कहा, "जाओ तुम । यदि हो सके तो कल उस ओर बनी युद्धशाला में आकर मुझसे मिलना।"

घड़ा सँभालता हुआ वह चला गया। उसके पैरों के नीचे बालू चुरचुर करने लगी। ठण्डी हवा के झोंके मेरे शरीर से टकरा रहे थे। कन्धे से सरकता हुआ उत्तरीय सँवारने के लिए मैंने एक छोर को हवा में उछालकर दायें कन्धे पर डालता हुआ पीछे फेंका। लेकिन मेरी पीठ पर खट से कुछ टकराया। क्या है, यह देखने के लिए मैंने उत्तरीय का छोर वापस खींचकर हाथ में पकड़ लिया। एक गाँठ में कुछ बँधा हुआ था। उत्सुकतावश झटपट मैंने वह गाँठ खोली।

वह फूटे घड़े का एक टुकड़ा था। कक्ष से बाहर निकलते समय जल्दी में मैं पुराना उत्तरीय ही पहन आया था। क्षण-भर को इच्छा हुई कि उस टुकड़े को नीचे बालू में फेंक दूं, लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। उसको हाथ में में उछालता हुआ मैं लौट पड़ा। मेरे पैरों के नीचे बालू चुरचुर करने लगी।

अड़तीस

दूसरे दिन मैंने सत्यसेन की राह देखी। परन्तु वह नहीं आया। वह क्यों नहीं आया, यह जानने के लिए तथा उसकी कुशल-क्षेम पूछने के लिए मैंने शोण को विष्णु-मन्दिर की ओर भेजा।

उसने लौटकर जो वृत्तान्त बताया वह बड़ा हृदय-विदारक था। रात को सत्यसेन गंगा तट से जब मन्दिर को लौटा, तो आधी घड़ी के बाद ही उसकी वृद्धा माता को यात्रा की थकावट के कारण रक्त की उलटियाँ होने लगी थीं। उस वृद्धा ने अपना शरीर विष्णु मन्दिर के पवित्र प्रांगण में मृत्यु के अधीन कर दिया था। अपने दो बालक उसने विष्णु के चरणों पर अर्पण कर दिये थे।

सत्यसेन को वास्तव में किसी की सहायता की नितान्त आवश्यकता थी। मैंने शोण को फिर उसके पास दौड़ाया और समझा दिया कि सत्यसेन को साथ लेकर ही लौटे। विशाल हस्तिनापुर में वह अकेला था। वह केवल संयोग था कि रात को गंगा के किनारे हम दोनों मिल गये थे। वैसे भी, सदैव संयोग ही मनुष्य के जीवन का निर्माण किया करते हैं। मनुष्य केवल उनका श्रेय प्राप्त किया करता है।

कुन्ती

□

यह धात्री पूछ रही है, “महारानीजी, आप इतनी उदास क्यों हैं ?” किन शब्दों में मैं उसको अपनी उदासी का कारण बतलाऊँ ? कितने तूफानी मोड़ आये हैं मेरे जीवन में! क्या उद्देश्य है इन मोड़ों का ? मनुष्य को इस लोक पर कौन घुमाता है ? ये समस्त सूत्र किसके हाथ में होते हैं ? नियति ने अपने संकेतों की शृंखला में जिसको बाँध रखा है, क्या मनुष्य ऐसा एक पशु ही नहीं है ?

मैं राजप्रासाद के इस भवन पर खड़ी हूँ। मेरे चारों ओर वैभव से भरा हुआ राजप्रासाद है। मेरे प्रत्येक शब्द का पालन करने के लिए पग-पग पर तत्पर दास-दासियाँ खड़ी हैं। सारा हस्तिनापुर मुझको ‘राजमाता-राजमाता’ कहकर मेरे चरणों पर आदर से मस्तक झुकाता है। युधिष्ठिर-जैसा सज्जन, भीम-जैसा बलवान् और अर्जुन जैसा लोकप्रिय पुत्र होने पर भी दुख का कारण क्या है ? कोई भी स्त्री जीवन में इससे अधिक और क्या आशा करेगी ? ऐसे जीवन पर किसको अभिमान नहीं होगा ! संसार की दृष्टि में मैं आज वैभव के शिखर पर ही नहीं हूँ क्या ? जिसको सुख कहते हैं, वह इससे अधिक और क्या होता है !

लेकिन यह बात नहीं है। केवल इन्हीं बाह्य बातों पर सुख अवलम्बित हो, ऐसा नहीं है। मन स्वस्थ होने पर प्राण सन्तुष्ट रहते हैं। तभी जीवन सुखी होता है। इस विशाल वैभव में राजमाता के रूप में रहने पर भी मन स्वस्थ नहीं है। केवल एक ही अपरिहार्य घटना के विद्रूप-चूहे ने मेरे जीवन के राजवस्त्र को विगत अनेक रातों में कुतर डाला है।

जब-जब मैं इस भवन पर इस प्रकार खड़ी होकर राजप्रासाद के सामने उस भव्य महाद्वार को देखती हूँ, तब-तब मेरा मन आँधी में उड़ते हुए सूखे पत्ते की तरह भटकता हुआ दूर न जाने कहाँ उड़ जाता है। फिर विगत पचास वर्षों की यात्रा का भ्रमण करने के बाद ही वह देह के पिंजड़े में लौटता है। विगत पचास वर्षों का काल ! पचास वर्षों के इस लम्बे समय में कुन्ती ने कुन्ती के रूप में कितने दिन बिताये हैं ? एक दिन भी नहीं। पचास वर्षों का इतना दीर्घ समय, लेकिन कितना कृपण और कितना शिथिल ! इन पचास वर्षों में काल ने कुन्ती को—कुन्ती के रूप में जीवन बिताने के लिए—कभी एक दिन भी नहीं दिया है। विगत पचास वर्षों से मेरे गले में विविध रंगों की भिन्न-भिन्न आकर्षक नामों की पट्टियाँ डालकर काल ने मुझको केवल गरगर फिराया है, इच्छानुसार! जिस ओर चाहा-उस ओर।

मेरे मन के सघन आकाश से विगत जीवन की स्मृतियों की वर्षा अनेक धाराओं में होने लगती है। कभी-कभी तो वह ऐसी मूसलाधार होती है कि उसके निरन्तर आघातों से मेरा

यह शरीर कहीं चलनी-चलनी न हो जाये, यह सन्देह मुझको होने लगता है।

क्या-क्या घटित हुआ है इन पचास वर्षों में ? छिः ! ऐसा उल्लेखनीय है ही क्या? मुझ-जैसी क्षत्राणी को तो उनकी चर्चा करने की हार्दिक इच्छा ही कभी नहीं होती है। परन्तु मन विचित्र होता है। उसे जितना बाँधने का प्रयत्न किया जाये, वह उतना ही स्वच्छन्द होता जाता है।

इन पचास वर्षों में मैंने तीन भिन्न-भिन्न कुन्तियों का भिन्न-भिन्न जीवन बिताया है। एक की दूसरी से कहीं तनिक भी तुलना नहीं होती। एक की दूसरी से तनिक भी समता नहीं। ये तीन कुन्तियाँ भिन्न हैं। कभी-कभी वे एक दूसरी की ओर टकटकी बाँधकर देखती हैं और अपरिचित-सी आपस में प्रश्न करती हैं, “तू कौन है ? कौन है तू ? अरी तू कौन है ?”

इस भवन पर खड़े होने पर दूर गंगा दिखाई पड़ती है। उसका घुमावदार पात्र देखते ही मुझको मथुरा की याद आ जाती है। अपना बचपन याद आ जाता है। वहाँ मथुरा में यमुना किनारे मेरा बचपन रेंग गया। ...हाँ, फिर मुँह से निकले हुए शब्द की तरह वह कभी लौटकर मेरे पास नहीं आया। लेकिन उसकी समृतियाँ अब भी मेरे मन पर ज्यों की त्यों अंकित हैं।

बचपन का अर्थ है गोल और मोहक चक्कर। बचपन माने ऊँची-ऊँची तरंगें। बचपन माने स्फटिक-जैसे शुभ्र धवल रंग ! वहाँ झूठी प्रतिष्ठा के मुखौटे नहीं होते हैं। वहाँ एक-दूसरे से ईर्ष्या करने वाली असूया नहीं होती। बचपन शीतल जल का एक चषक होता है, जिसको प्रकृति भावी जीवन के रेगिस्तान को पार करते समय आहत होनेवाले प्राणी के लिए पहले से ही निर्माण कर रखती है।

आज भी जब मुझे अपने मथुरा का बचपन याद आ जाता है, तो मैं सोचती हूँ कि मैं क्यों बड़ी हुई ? महाराज शत्रुघ्न के उस पुण्य-पावन नगर से क्यों बाहर निकली मैं ?

मथुरा में राजप्रासाद के सामने स्थित उद्यान में तितलियों के पीछे दौड़नेवाली पृथा, यमुना के जल से क्रीड़ा करनेवाली पृथा, सूर्यदेव को अर्पण करने के लिए बकुल के पुष्पों की माला गूँथनेवाली पृथा, कितनी निर्मल और निरागस थी वह पृथा ! पृथा ? हाँ, पृथा ही। बचपन में मैं मथुरा में पृथा के रूप में बड़ी हुई। अपने स्नेहमय पिता की-मथुरा के राजा शूरसेन की-ममता की छाया में कष्ट अथवा दुख मुझे छू तक नहीं पाया। नाम के अनुरूप ही वे शूर थे। बाहुबल था और उनके मन में दृढ़ निश्चय। यादवकुलावतंस थे वे। उनपर मुझको सदैव अभिमान रहेगा। उनका स्मरण करते ही राजप्रासाद की चहारदीवारी-जैसी उनकी भव्य मूर्ति आँखों के आगे खड़ी हो जाती है।

उन्होंने मेरी कौन-सी हठ पूरी नहीं की थी ? मुझको अच्छी तरह याद है कि एक बार मैंने उनसे विचित्र आग्रह किया था—मुझको एक धनुष दो ! उनको आश्चर्य हुआ था। उन्होंने

कहा था, “धनुष, लड़की के किस काम का पृथे ? लड़कियों को चाहिए कि फूल माँगें, स्वर्ण-आभूषण माँगें।

लेकिन मैंने उनकी एक न सुनी । अन्त में विवश होकर उन्होंने मुझको एक धनुष ला दिया। उस समय यदि कोई गगन के टिमटिमानेवाले तारों को भी करंजवा का फल कहकर मेरे हाथ पर रख देता, तब भी मैं अपना धनुष उसको न देती। उसको हाथ में लेते ही मैं उछलती-कूदती राजप्रासाद के सामने स्थित उद्यान में गयी। बहुत देर तक मैं कभी इस वृक्ष पर तो कभी उस वृक्ष पर यों ही बाण फेंकती रही। बकुल के वृक्ष पर बैठी हुई एक पत्ररथ पक्षिणी मुझको बहुत परेशान कर रही थी। वह निरन्तर चिल्ला रही थी। इसमें मेरा ध्यान उसके चिल्लाने की ओर चला जाता था। बाण अच्छी तरह नहीं छूटते थे। मुझको उस पर बड़ा क्रोध आया था। उस समय एक बड़ा रोचक विचार मेरे मन में कौंध गया था। यदि मैं मनचाहा अचूक बाण छोड़ना जानती होती तो सबसे पहले एक बाण उस पत्ररथ पक्षिणी की चोंच में मारकर उसकी चीं-ची बन्द कर देती।

दो

एक दिन सायं समय सदैव की भाँति मैं राजप्रासाद के सामने उद्यान में खेल रही थी। चन्द्रिका नामक एक दासी निकट ही पूजा के लिए खिले हुए फूल चुन रही थी। अपने रंग-बिरंगे नन्हे-नन्हे पंखों को फड़फड़ाती हुई इच्छानुसार मोहक चक्कर लगाती हुई एक तितली के पीछे मैं हाथ उठाकर दौड़ रही थी। इतने में ही चन्द्रिका ने मुझको पुकारा। कितनी ज़ोर से चिल्लायी थी वह !

"राजकुमारी, अजी जल्दी यहाँ आओ। कैसा मनोरंजक दृश्य है, जरा देखो तो सही।"

मैंने तितली के पीछे दौड़ना एकदम बन्द कर दिया और उसकी ओर दौड़ी। एक विशाल अशोक वृक्ष के नीचे अंजलि में कुछ अच्छी तरह छिपाये वह आतुर होकर मेरे आने की प्रतीक्षा कर रही थी। मैं उछलती-कूदती उसके पास पहुँची। उसके हाथ में क्या था -यह देखने के लिए मैं बहुत उतावली हो गयी थी। जैसे ही मैं उसके पास पहुँची, उसने अपनी अंजलि मेरे सामने कर दी और धीरे से उँगलियाँ हटायीं। क्या था उसके हाथ में ? चण्डोल पक्षी को एक सद्यःजात शिशु । अपनी छोटी-सी लाल सुकोमल चोंच खोलकर वह किसी को अपनी सहायता के लिए बुला रहा था। उसकी छोटी-छोटी आँखें भयभीत थीं। आँखों के ऊपर गुलाबी पलकें थीं। उन पलकों से वह बार-बार आँखों को ढक लेता था। काँपती हुई गरदन बार-बार ऊपर कर वह अवश्य किसी की प्रतीक्षा कर रहा था। उसकी समस्त हलचलों में अद्भुत करुणा थी।

मैंने चन्द्रिका से पूछा, “कहाँ से लायी है इसे ? कितनी दुष्ट है तू ! इसकी माँ इसको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती आखिर थक जायेगी न ? यह मुझको तनिक भी अच्छा नहीं लगता है । जा, छोड़ आ इसे।”

अकस्मात् मेरी फटकार सुनकर उसका सारा उत्साह क्षण-भर में ठण्डा पड़ गया। वह घबरा गयी। झिझकते-झिझकते उसने सब बातें स्पष्ट की : “मैं SS? मैं जान-बूझकर इसको नहीं लायी राजकुमारी ! यह अपने-आप हरियाली पर पड़ा हुआ था। इस अशोक पर ही इसका घोंसला होगा।”

मैं घने पत्तों में से ही उसका घोंसला देखने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु घोंसले का कोई पता नहीं चला। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाये ! वह शिशु बार-बार अपनी ग्रीवा ऊँची कर रहा था। मुझको एकदम पिताजी का ध्यान आया । मैं तत्क्षण मुड़ी और भवन की ओर दौड़ पड़ी। मुझको अच्छी तरह याद है कि उस समय भवन की तीन-तीन सीढ़ियाँ मैंने एक बार में लाँघी थीं। पिताजी उसी समय भोजपुर नगरी से लौटे थे। देह के वस्त्र भी उन्होंने नहीं बदले थे। उनके समीप ही कोई अतिथि खड़े थे। वे मेरी ओर टकटकी बाँधकर देखने लगे। उनके देखने से मेरा उत्साह थोड़ा मन्द पड़ गया। लेकिन उन्होंने यह जान ही लिया कि मैं कुछ कहना चाहती हूँ। वे बोले, “पृथे ! शरमाओ मत। मैं कोई पराया नहीं हूँ। मैं कुन्तिभोज हूँ। तेरे पिता का फुफेरा भाई। अरी, तेरा चाचा।”

मुझमें थोड़ा-सा साहस आया। आगे बढ़कर पिताजी की उँगलियाँ पकड़कर उनको खींचती हुई मैं बोली, “तात ! मेरे साथ उद्यान में चलें तो। मुझको तुमसे एक काम है।”

उन्होंने समझा कि मेरा कोई महत्त्वपूर्ण काम है। वे मेरे कन्धे पर हाथ रखकर अतिथि की ओर देखते हुए बोले, “चलो कुन्तिभोज, यह क्या चाहती है, चलकर देखें।”

हम तीनों को अपनी ओर आते देखकर चन्द्रिका के तो होश उड़ गये। हाथ में फूलों की टोकरी और अंजलि में वह विहग-शिशु होने के कारण उत्तरीय कैसे सँभाला जाये, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। वह अपराधी की भाँति सिर झुकाकर जैसी की तैसी चुपचाप खड़ी रही।

हम लोग उस अशोक के नीचे आये। मैंने चन्द्रिका के हाथ से वह शिशु अपने हाथों में ले लिया। उसका वह उष्ण स्पर्श अब भी मुझको याद है। तात को वह दिखाते हुए मैंने कहा, “इसका घोंसला इस पेड़ पर है, लेकिन भूल से यह नीचे गिर पड़ा है। इसकी माँ इसको अपने घोंसले में ढूँढ़ रही होगी। इसको इसी समय इसके घोंसले में रख दीजिए।”

मेरी और कौतुक से देखते हुए वे बोले, “माँ को बच्चे की चिन्ता नहीं होनी चाहिए क्या ? बच्चे को अकेला छोड़कर उसको दूर जाना ही नहीं चाहिए।”

“वह इसके लिए चारा लाने गयी होगी।” मैं बोली।

वे मेरी और देखकर हँस पड़े। वे आस-पास किसी सेवक को देखने लगे। उद्यान में कोई भी नहीं था। इस समय धीरे-धीरे अँधेरा घिरने लगा था। मेरे हाथ में वह शिशु निरन्तर कुलबुला रहा था। किसी के पंखों की गरमाहट में जाने के लिए वह बहुत बेचैन लगता था। मुझसे वह देखा न गया। मैं रुआंसी होकर बोली, “तात, जल्दी कीजिए न ! देखो तो यह कैसा कर रहा है....।”

मेरे रुआँसे स्वर को उन्होंने पहचान लिया। वे बोले, “इधर लाओ उसको। प्रातःकाल उसको हम उसके घोंसले में पहुँचा देंगे।”

“प्रातःकाल ! प्रातःकाल तक वह अपनी माँ के बिना कैसे जीयेगा ? अभी पहुँचा दीजिए न उसको !”

मेरे पास आकर समझाने के स्वर में वे बोले, “पागलों की तरह यह क्या कह रही हो पृथु ? इस समय यहाँ एक भी सेवक नहीं है। इसी समय उसको घोंसले में कैसे पहुँचायें ? आज की रात तुम इसको अपनी सुकोमल शय्या के भीतर रखना । दाना-पानी देना। प्रातः हम इसको इसके घोंसले में रख देंगे, अच्छा S !”

“जब आप यहाँ पर हैं ही, तो फिर सेवक किस लिए चाहिए, तात ? इसको यदि इसी समय घोंसले में नहीं पहुँचाया तो फिर मैं भी भवन में नहीं जाऊँगी। इसको लेकर रात-भर यहीं बैठी रहूँगी।”

तात ने कुन्तिभोज से कहा, “कैसे समझायें इस लड़की को ? बहुत ही ज़िद्दी है।”

वे बोले, “शूरसेन, तुम भले ही मथुरा के राजा हो, लेकिन इस सरल बालिका को उससे क्या ! वह तो तुम्हारे सामने इसी प्रकार हठ करेगी।” मेरे पास आते हुए वे मुझसे बोले, “ला बेटी उस बच्चे को, मैं पहुँचाता हूँ उसको उसकी माँ के पास। फिर तो ठीक है न?”

वे मेरे हाथ से बच्चा लेने लगे, इसी समय पिताजी आगे बढ़े। वे उस बच्चे को हौले से मेरे हाथ से अपने हाथ में लेते हुए बोले, “कुन्तिभोज ! तुम अभ्यागत बनकर आये हो। यहाँ पर मेरे होते हुए तुम पेड़ पर चढ़ोगे ? फिर मुझको मथुरा का राजा कौन कहेगा ? पृथू का पिता कौन कहेगा ?”

पिताजी ने उत्तरीय और पादत्राण उतारकर हरियाली पर रख दिये। झटपट पैर बढ़ाते हुए वे अशोक के तने के पास गये। गिलहरी की तरह वे ऊपर चढ़े। थोड़ी देर बाद वे ऊपर से चिल्लाये, “मिल गया बेटी, घोंसला मिल गया।” बच्चे को घोंसले में रखकर वे नीचे उतरने लगे। मैं प्रसन्न होकर तालियाँ बजाने लगी। उस दिन मुझको अपने पिता पर कितना अभिमान हुआ था ! मैंने निश्चय कर लिया कि पिताजी जो कुछ कहगे, उसका कभी उल्लंघन नहीं करूँगी।

अन्त में एकदम नीचे आते ही वे झट से कूद पड़े। उसी समय मेरे मन में भी सन्देह की एक मेढकी कूद पड़ी। आगे बढ़कर मैंने उनका हाथ पकड़कर जल्दी-जल्दी उनसे पूछा, “परन्तु पिताजी, वह उसी बच्चे का घोंसला था न ?”

मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए वे बोले, “पगली, क्या मैं इतना भी नहीं समझता हूँ ? उस घोंसले में ऐसे ही पाँच बच्चे और भी थे।”

धूमिल सान्ध्य प्रकाश में हम राजभवन लौटे।

“शूरसेन, बड़ी प्यारी लड़की है तुम्हारी।” भोजपुर नगर से अभ्यागत के रूप में आये हुए महाराज कुन्तिभोज ने स्नेह से मेरे मस्तक पर हाथ फेरते हुए पिताजी से कहा।

उस रात स्वप्न में मुझको वह विहग-शिशु बार-बार दिखाई देता रहा ।

तीन

दूसरे दिन पिताजी और महाराज कुन्तिभोज वापस भोजपुर नगरी को जाने के लिए रथ में बैठे। आते समय नील कमल लेते आना—पिताजी से यह कहने के लिए जब मैं गयी तब वे बोले, “चलो पृथे, तुमको भी भोजपुर चलना है।” मैं आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगी, क्योंकि मथुरा छोड़कर मैं कभी कहीं बाहर गयी ही नहीं थी। आज पहली बार पिताजी मुझसे अपने साथ चलने के लिए कह रहे थे। भोजपुर नगरी कहाँ है, कैसी है, यह मैं जानती तक नहीं थी। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ी रही। पिताजी ने आज तक कभी नहीं डाँटा था, आज ज़रा डाँटकर बोले, “पृथे, सुना नहीं क्या ? जल्दी चलो।”

सिर झुकाकर मैं चुपचाप रथ में जा बैठी। मैं माताजी से मिल भी न सकी। मैं माता से पूछने जा रही थी, पर पिताजी ने मुझको रोक लिया। मैं जब लौटकर आऊँगी तब माता क्या कहेगी?

मैंने मन ही मन कहा, “मारिषामात ! मुझको क्षमा करना। मैं तुम्हारे दर्शन किये बिना, आशीर्वाद लिये बिना इस राजभवन से बाहर जा रही हूँ। मथुरा के बाहर जा रही हूँ। यमुना को छोड़ रही हूँ।

उद्यान में फूल के पौधों को पानी से सींचती हुई चन्द्रिका ने हाथ उठाकर मुझको विदा दी। 'राजकुमारी, कहाँ जा रही हो ?' वह यह पूछना चाहती थी, लेकिन वह दासी थी। अपने महाराज के सामने नहीं आ सकती थी।

चार

दस दिन बाद सान्ध्य-वेला में हम भोजपुर पहुंचे। नगर था तो छोटा-सा ही, परन्तु सुन्दर था। मुझको वह अच्छा लगा।

मैंने सोचा था कि राजप्रासाद के महाद्वार में राजस्त्रियाँ आरती उतारकर हमारा स्वागत करेंगी। क्योंकि मथुरा में हमारे यहाँ ऐसी ही प्रथा थीं। परन्तु भोजपुर में साधारण दासी ने ही हमारी आरती उतारी। मुझको वह थोड़ा विचित्र-सा लगा।

हमने महाद्वार से भीतर प्रवेश किया। राजभवन के सामने जो प्रशस्त भव्य खुली जगह थी, वह मुझको अच्छी लगी। केवल एक कोने में एक छोटा-सा उद्यान था, शेष सारी जगह खाली थी। भवन भी अच्छा था। उसका मुख पूर्व की ओर था। सुनते हैं कि यह खुली जगह सैन्य-संचालन के लिए रख छोड़ी थी।

भोजपुर नगर में आठ दिन चुटकियों में बीत गये। मेरा मन वापस मथुरा की ओर दौड़ने लगा। मारिषामात की याद बार-बार आने लगी। नौवें दिन पिताजी ने मथुरा लौटने के लिए रथ तैयार करने का आदेश दिया। मेरा मन मथुरा की स्मृतियों में उलझ गया। लेकिन....लेकिन उसके बाद मैं फिर कभी मथुरा न जा सकी। इच्छा होते हुए भी मैं कभी वैसा नहीं कर सकी।

उस दिन रथ में बैठने से पहले पिताजी ने मुझको पास बुलाया। महाराज कुन्तिभोज वहीं थे। उनकी ओर संकेत करते हुए वे बोले, "पृथे, अब तुमको यहीं रहना है। ये ही तुम्हारे माता-पिता हैं।"

मैं उनके कथन का अर्थ ठीक से नहीं समझ पायी।

कोई किसी सोते हुए बालक को भयानक अरण्य में ले जाकर छोड़ दे, उस समय उसको जैसा लगेगा वैसा ही मुझको लगने लगा। यहाँ मेरा किसी से परिचय नहीं था। इस भोजपुर में खड़े होकर किसी ने यदि मुझसे यह पूछा होता कि मथुरा किस ओर है, तो वह भी मैं अच्छी तरह नहीं बता पाती, और पिताजी स्पष्ट कह रहे थे कि, 'तुमको यहीं रहना है।'

कहीं वे मेरा उपहास तो नहीं कर रहे हैं ? मेरा बाल-मन क्षण-भर में भय और सन्देह से भर गया। मैं क्यों यहाँ रहूँ ? यदि मैं उनको अच्छी नहीं लगती हूँ तो वे मुझको मथुरा में ले जाकर चाहे जहाँ छोड़ दें। मैं वहाँ रह लूँगी। लेकिन यहाँ, इस नगर में मैं अकेली कैसे रहूँगी ? गुरुजनवृन्द भी कभी-कभी इतने निष्ठुर हो जाते हैं क्या ? मेरे लिए धनुष लानेवाले, मुझको 'पृथू-पृथू' कहकर प्रेम से सदा अपने पास बैठानेवाले, मेरे कहने पर गिलहरी की तरह वृक्ष पर चढ़नेवाले पिताजी छली और झूठे थे क्या ? या मैं हठी हूँ इसलिए मुझको दण्ड देने के लिए उन्होंने यह विचित्र ढंग अपनाया है ? मैंने रुआँसे स्वर में उनसे पूछा, "क्यों

तात ! मैं यहाँ क्यों रहूँ ? किस लिए रहूँ ? मैं आपको अच्छी नहीं लगती हूँ क्या ? यदि यही बात है तो मुझको मथुरा ले जाकर जहाँ चाहे छोड़ देना। मैं फिर कभी भूलकर भी हठ नहीं करूँगी।"

"यह बात नहीं है पृथू, तुम मुझको बहुत अच्छी लगती हो। परन्तु...परन्तु इस कुन्तिभोज को.... अपने फुफेरे भाई को मैंने वचन दिया है....उनकी आवाज़ भारी हो गयी थी। वे मेरा कन्धा थपथपाते हुए कह रहे थे, उनका अवरुद्ध कण्ठ आज मैं पहली बार देख रही थी।

शंका-कुशंकाओं से मेरा बाल-मन घायल हो गया। अब और क्या सुनना शेष है ? वचन ! कैसा वचन ? किसको दिया है पिताजी ने वचन ? क्यों दिया है ? और वचन कहते किसे हैं ? मैंने उलझन में पड़कर पूछा, "कैसा वचन ?"

"सुनो," भर्षाणी हुई आवाज़ में वे बोले, "बारह वर्ष पहले एक बार मैं और कुन्तिभोज इस भोजपुर के पास अरण्य में मृगया के लिए गये थे। उस दिन निषध पर्वत के अरण्य में हम बहुत भटके, लेकिन मृगया के लिए कुछ भी न मिला। अन्त में थककर वैसे ही लौट पड़े। नगर के बाहर अश्व सहित नदी पर पानी पीकर हम उसके किनारे पर खड़े घने और फैले हुए विशाल शालवृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठ गये। उस दिन कुन्तिभोज अत्यधिक उदास था। मैंने समझा कि मृगया न मिलने के कारण वह उदास होगा। इसलिए मैंने उससे पूछा भी कि कुन्तिभोज, तुम इतने उदास क्यों हो ? वह मेरी ओर केवल देखता रहा। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर प्रेम से उससे कहा कि राजन्, बताओ, कहने से ही मन का दुःख हलका होता है। इसपर वह बोला, "शूरसेन, आज हम लोग मृगया लिए बाहर निकले थे। परन्तु मनुष्य क्या दैव की मृगया ही नहीं है ? आह, मेरा यह निस्सन्तान जीवन मेरे लिए भार बन गया है। पुत्र के बिना वैभव ऐसा ही है जैसे सूर्य के बिना आकाश ! मेरी तो इच्छा होती है कि भोजों का यह समृद्ध राज्य सेनापति को सौंपकर दूर हिमालय पर चला जाऊँ।"

अपने हाथ में लगा हुआ उसका हाथ दबाकर मैं बोला, "बस इतनी-सी बात है न ? राजा कुन्तिभोज, मैं शूरसेन—मथुरा का यादवराज—तुमसे कहता हूँ कि अपनी पहली सन्तान में तुमको सौंप दूंगा। लेकिन क्षत्रिय को राज्य छोड़कर जाने की बात कभी सोचनी भी नहीं चाहिए।"

उस समय आनन्दित होकर वह मुझसे लिपट गया। हम लोग अश्व सहित नदी-तट से उठकर नगर में आये। फिर कुछ दिन इस नगर में रहकर मैं मथुरा चला गया। उसी वर्ष तुम्हारा जन्म हुआ। पृथे, यह राजा कुन्तिभोज मेरा वही फुफेरा भाई है। बेटी, मुझको अपनी बात निभानी चाहिए और तुमको अपना कर्तव्य।"

मैं अपनी अधखुली आँखों से उन दोनों की ओर देख रही थी। मुझको उनके कथन में 'वचन' शब्द कहीं सुनाई ही नहीं दिया, इसलिए मैंने पूछा, "तात, वचन किसे कहते हैं ?"

तत्क्षण मुड़कर वे बोले, “वचन का अर्थ है कही हुई बात का पालन करना। बेटी, मैं तुमको दूँगा, यह बात मैं कुन्तिभोज से कह चुका हूँ।” उनकी आँखें भर आयी थीं। लगता था जैसे द्रवित हो रहा हो।

मेरे लिए अशोक वृक्ष पर सरसर चढ़नेवाले पिता आज वचनपूर्ति करते हुए आँखों से अश्रु बहा रहे थे। उस दिन अशोक वृक्ष के नीचे मैंने निश्चय कर लिया था कि कभी उनकी किसी बात का उल्लंघन नहीं करूँगी। मेरे लिए वे रुआंसे हो जायें ? अपने को सँभालकर मैं आगे बढ़कर बोली, “तात, आप कहते हैं तो मैं यहीं रहूँगी, लेकिन आप रोइए मत ! शोक मत कीजिए।”

आगे बढ़कर उन्होंने मुझको हृदय से लगा लिया। उनका विशाल शरीर पीपल के वृक्ष की तरह काँप रहा था। महाराज कुन्तिभोज से उन्होंने कहा, “राजन्, जिस पर प्राणों से भी अधिक प्यार किया था, उस उपहार को सँभाल लो। मैं इसको लेकर सीधा यहाँ आ रहा हूँ, यह बात इसकी माता को भी मालूम नहीं है। यदि पहले से इसका पता चल जाता तो उसने इसको मथुरा से आने ही न दिया होता।”

मारिषामात को याद कर मेरा मन भर आया।

मुझको उसी अवस्था में छोड़कर उन्होंने कमर का खड्ग म्यान में से निकाला। उसकी तेज़ धारवाला फल तत्क्षण चमक उठा। अपने सीधे हाथ के पुष्ट अँगूठे के उन्होंने उस धार पर फेरा। रक्त की एक नितान्त लाल रेखा क्षण-भर में उनके स्वस्थ अँगूठे पर दिखाई पड़ी। वह उन्होंने मेरे भाल पर लगा दी। उसका वह उष्ण स्पर्श मुझको अब भी याद है। खड्ग म्यान में रखकर दोनों हथेलियों में मेरा मुख लेकर वे बोले, “याद रखना पृथे, तुम एक क्षत्रिय राजा की पुत्री हो। यह कभी भूलना मत। भूलोगी तो नहीं बेटी ?” झुककर उन्होंने मेरे मस्तक का दीर्घ अवघ्राण किया। उन्होंने रक्त का जो टीका लगाया था, वह उन्हीं के होंठों से पुछ गया। उनकी आँखों से आँसू फिसलकर दाढ़ी में समा गये।

वे तत्क्षण मुड़े और जल्दी-जल्दी चलते हुए रथ में चढ़े। उन्होंने हाथ के प्रतोद को घोड़ों पर हवा में फटकारा। रथ चल पड़ा। धूल उड़ने लगी। मेरा नन्हा मन व्याकुल हो उठा। हाथ उठाकर आगे बढ़ती हुई मैं चिल्लायी, “पिताजी, ठहरो SS !” महाराज कुन्तिभोज ने आगे बढ़कर मुझको रोका। वे बोले, “बेटी, क्षत्रिय जब एक बार चल देते हैं, तो फिर कभी मुड़कर नहीं देखते।

मैंने सिर झुकाकर कहा, “मैं उनको इसलिए नहीं रोक रही थी कि मुझको साथ ले चलें। अपनी माता के लिए अपनी यह यादगार उनको दे देना चाहती थी, मैं तो माता से मिलने भी नहीं पायी थी।” हाथ में ली हुई अँगूठी मैंने उनकी ओर बढ़ा दी।

उसको देखते ही वे चुप हो गये। थोड़ी देर बाद बोले, "बेटी, वह अँगूठी ला। मैं पहुँचाता हूँ इसको। केवल अँगूठी ही नहीं, तुझको भी। राजा शूरसेन ने अपना। वचन पूरा कर दिया है। लेकिन उसने कदाचित आज मेरी परीक्षा लेने की ठान ली है। मैं भी उसको दिखा दूंगा कि भोजपुर का कुन्तिभोज इतना निर्दय नहीं है कि....।" उनकी आँखों में एक विचित्र तेज आ गया। उनके ताली बजाते ही एक सेवक सामने आया। अब वे दूसरे रथ से मुझको ले जाकर पिताजी को पकड़ना चाहते थे। क्षण-भर में ही मुझको न जाने क्या हो गया, कन्धे पर पड़ा उत्तरीय मैंने सिर पर रखा और आगे बढ़कर उनको झुककर नमस्कार करती हुई बोली, "आपकी मानसकन्या पृथा आपको अभिवादन करती है, तात!"

उन्होंने तत्क्षण मुझको ऊपर उठाया। मेरी ओर देखते हुए वे भरे हुए कण्ठ से बोले 'धन्य है वह राजा शूरसेन, जिसने तुम-जैसी संयमशीला कन्या को जन्म दिया है लेकिन बेटी, तुम्हारा मन यहाँ कभी लग ही नहीं सकता। भले ही मेरे कोई बालक नहीं है, लेकिन बालकों के मन को मैं जानता हूँ। इन्द्रधनु के रंगों को जानने के लिए आकाश बनना आवश्यक नहीं होता, बेटी।"

"नहीं तात, अब यही मेरा जन्मस्थान है और यही अब मेरी मथुरा है।" मैंने साहस के साथ कहा ! भगवान जानें वह कौन था जो धैर्यपूर्वक मेरे मुख से बोल रहा था.. लेकिन वह तितलियों के पीछे दौड़नेवाली पृथा निश्चय ही नहीं थी, धनुष से खलनेवाली पृथा निश्चय ही नहीं थी।

"धन्य हो बेटी! क्षत्रिय भले ही टूट जाता है पर झुकता कभी नहीं ! शूरसेन की कन्या को ऐसा ही होना चाहिए। लेकिन तुम यहाँ मत रहो, क्योंकि...."

"क्यों"

'क्योंकि इस राजप्रसाद में एक भी स्त्री नहीं है। सारे राजभवन का उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर आ जाएगा। तुम-जैसी अल्हड़ लड़की इस सुकुमार अवस्था में इतना भार न उठा सकेगी।'

"मैं उठा लूंगी यह भार आज से यह राजभवन मेरा है। यहाँ के लोग मेरे हैं।"

"फिर भी जब मैं तुमको पृथा कहकर बुलाया करूँगा, तुम बेचैन हो जाया करोगी। तुमको नित्य मथुरा की याद आती रहेगी। इस विशाल भवन के एकान्त में तुम सदैव दुखी होगी, इसलिए मैंने निश्चय किया था कि....."

वे कुछ कहने जा रहे थे लेकिन फिर उन्होंने कुशलता से टाल दिया ।

"क्या निश्चय किया था आपने?" मैंने उत्सुक होकर पूछा।

"तुमको पृथा न कहकर..." वे फिर रुक गये।

"पृथा न कहकर आप मुझे क्या कहना चाहते थे, तात ?"

"कुन्ती....कुन्ती कहना चाहता था मैं; अपने नाम के आधार पर। लेकिन वह शायद तुमको अच्छा नहीं लगेगा। जाओ, तुम भीतर जाओ।"

मैं तत्क्षण आगे बढ़कर झुककर उनको प्रणाम करती हुई बोली, "आपकी कन्या कुन्ती आपको प्रणाम करती है, तात !"

मेरे उस अनपेक्षित कथन से वे भावाभिभूत हो गये। उन्होंने मुझको ऊपर उठाया और जैसे पिताजी ने छाती से लगाया था, वैसे ही मुझको छाती से लगाकर वे बोले,

"कुन्ती, बेटी, मन को तनिक भी उदास मत करो। तुमको यहाँ अपने पिता की याद भी नहीं आयेगी, लेकिन तुम यहाँ नहीं रहोगी तो इस राजभवन के बुरे दिन आ जायेंगे। पिछले चौदह वर्षों से मैं तुम्हारी राह देख रहा हूँ, यह भवन राजस्त्री की राह देख रहा है।"

"नहीं, मैं यहाँ से कभी नहीं जाऊँगी।" मैंने उनसे लिपटते हुए, आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय के साथ कहा।

उन्होंने मेरी पीठ थपथपायी। मुझको उठाकर राजभवन में ले जाते समय उनकी आँखों में आँसू तैरने लगे थे। इस कृत को भोजपुर के महाद्वार के अतिरिक्त और कोई क्या जानेगा !

पाँच

मनुष्य को नखशिखान्त बदलने की किसी-किसी घटना में कितनी तीव्र शक्ति होती है। उस दिन से एक अल्हड़ कुमारिका एक मितभाषी और गम्भीर किशोरी में बदल गयी। उस एक ही घटना ने अनजाने ही पृथा की अवस्था बढ़ा दी। उस एक ही घटना ने मुझमें आमूल परिवर्तन कर दिया। जिस अवस्था में बालहठ की जाती है, ठीक उसी अवस्था में मुझपर समस्त राजभवन का उत्तरदायित्व आ गया। अपनी लड़की का क्या हुआ है, यह देखने के लिए पिता ने मुड़कर भी नहीं देखा था। अपनी पुत्री को एक बकरी की तरह भोजपुर में वचन के खूटे से बाँधकर वे चले गये थे। मैं भी उन्हीं की लड़की थी। मैंने भी निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो जाये, अब मथुरा नहीं जाऊँगी। एक के बाद एक दिन बीतने लगे। मुझको बार-बार मथुरा की याद आती; लेकिन दृढ़ मन से मैं उसको पोंछ देती। क्योंकि यहाँ मैं पृथा नहीं थी, कुन्ती थी। एक मान्यवर राजा की इकलौती कन्या। भोजपुर के राजभवन में एकमात्र राजस्त्री थी। फिर पृथा कौन थी ? पृथा कुन्ती के जीवन की एक स्वच्छन्द तितली थी। पृथा कुन्ती के जीवन में वायु की एक लहर थी। पृथा कुन्ती के जीवन की हरियाली थी। पृथा कुन्ती के जीवन की एक पुष्पशय्या थी। पृथा कुन्ती के जीवन की सुगन्धित पात्र थी। पृथा कुन्ती के जीवन का एक स्वप्न मात्र थी। केवल स्वप्न। कभी-कभी

स्वप्न की बातें भी मन को आनन्दित करती हैं। पृथा की स्मृति भी मुझको उसी तरह आनन्दित करने लगी। उसकी अल्हड़, भोली-भाली स्मृति के अतिरिक्त आनन्ददायक मेरे पास आज और कुछ था भी तो नहीं।

छह

भोजपुर में सभी लोग राजकुमारी कुन्ती कहकर मेरा सम्मान करने लगे। मुझको किसी बात की कमी न रहे, पिताजी इसका बड़ा ध्यान रखने लगे। रीतिरिवाज की कुछ बातें मैं जल्दी नहीं समझ पाती थी। भवन में एक वृद्ध दासी थी, वह मुझको सब बातें समझाती। वह मेरा बड़ा ध्यान रखती थी। मुझको एक नया जीवन प्रारम्भ करना पड़ा था। यहाँ पीठ पर प्रेम से फिरनेवाला माता का हाथ नहीं था। फिर भी बड़े निश्चय और लगन से मैं सब सीख रही थी। कभी-कभी एकदम मथुरा की याद आती जैसे कोई टिटहरी एकदम चीख पड़ती हो। बड़े कष्ट से मैं उसको दबाती। दिन-दिन मैं अधिक समझदार होती जा रही थी।"

इसी तरह मेरे वहाँ दो वर्ष बीत गये। राजभवन की अब मैं अभ्यस्त हो गयी थी। भोजपुर के प्रति एक नया ही आकर्षण जाग उठा था। उस वृद्धा दासी के साथ मैं कभी-कभी नदी-किनारे जाया करती थी। एक बार मैंने उससे पूछा, "इस नदी का नाम अश्वनदी बड़ा विचित्र है, यह क्यों ? क्या अश्व की गति से यह दौड़ती इसलिए इसका यह नाम रखा गया है ?"

"नहीं राजकुमारी, यह बात नहीं है। इस भोजपुर के छोड़े इस नदी के अतिरिक्त और कहीं का पानी पीते ही नहीं है, इसीलिए इसको अश्वनदी कहते हैं।"

वह वृद्धा दासी बड़ी चतुर थी। उसका नाम था धात्री। वह धात्री का व्यवसाय करती थी, इसलिए उसका नाम भी धात्री पड़ गया था। छोटी-बड़ी सभी बातों का उसको ज्ञान था। किस रोग पर कौन-सी औषधि काट करती है, पूर्व की ओर निषधों के राज्य में राक्षसों की टोलियाँ किस प्रकार विद्रोह करती हैं—आदि-आदि, वह बातें मुझको बताती रहती थी।

एक बार मैंने उससे पूछा, "ऐसे निषधों के पड़ोस में जब हम लोग रहते हैं तो हमें उनसे निरन्तर भय बना ही रहेगा। संकट के समय राजस्त्रियों की सुरक्षा का राजभवन में क्या प्रबन्ध है ?"

इधर-उधर देखकर वह धीरे से बोली, "प्रबन्ध है, लेकिन यह बात केवल मुझको और महाराज को ही मालूम है।"

"क्या प्रबन्ध है ?" मैंने उत्सुक होकर पूछा ।

"मेरे साथ चलिए, आपको दिखाऊँगी।"

मैं उसके साथ राजभवन के एक कक्ष में गयी। इधर-उधर देखकर उसने निश्चय कर लिया कि आस-पास कोई नहीं है। फिर उसने कोने में लगी एक पत्थर की खूँटी दायीं ओर घुमायी। उस कोने का तीन हाथ ऊँचा एक भाग अलग हट गया। भीतर से धूमिल प्रकाश की किरणें बाहर निकलीं। वह एक सुरंग थी।

“कहाँ जाती है यह सुरंग ?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“अश्वनदी पर !” उसने उत्तर दिया।

मैंने उस सुरंग में झाँककर देखा। इतने में ही एक चमगादड़ तीखी आवाज़ करती हुई भीतर फड़फड़ायी। बाहर जाने के लिए वह पंख फड़फड़ा रही थी, लेकिन उसको मार्ग नहीं मिल रहा था। सुरंग की दीवार पर अपने पंख फड़फड़ाती हुई वह तीन-चार बार टकरायी और फिर ऊपर प्रकाश के लिए बनाये गये छिद्र से निकल गयी। उसकी वह फड़फड़ाहट देखकर मेरे मन में एक विचित्र विचार आया कि जीवन भी विश्व की भयानक सुरंग से बाहर निकलने के लिए फड़फड़ानेवाला पक्षी है। तत्क्षण मैंने वह पत्थर की खूँटी बायीं ओर घुमा दी। वह भाग पूर्ववत् बन्द हो गया। सुरंग अदृश्य हो गयी। मेरा मन शान्त हो गया।

सात

एक बार भवन में मैं, धात्री और पिताजी बैठे हुए बातें कर रहे थे। इतने में ही एक सैनिक दूत दौड़ता हुआ महल में आया। जैसे-तैसे साँस रोककर वह बोला, “महाराज, पूर्व की ओर से निषधों का सैन्य आक्रमण कर रहा है। वह अपने भोजपुर पर चढ़ता चला आ रहा है।”

“क्या कह रहा है ? सीधा जा और सेनापतियों से रणभेरी और शंख बजाने को कह दे। चर्मण्वती के उस किनारे पर ही उनको रोक देना चाहिए। इस भोजपुर में जबतक कुन्तिभोज है, तबतक यह राज्य स्वतन्त्र ही रहेगा। जाओ।” पिताजी तत्क्षण उठे और शस्त्रागार की ओर चले गये। उनकी चाल सिंह की तरह गर्वीली थी। शरीर में भोजकुल का अपराजेय रक्त था।

थोड़ी ही देर बाद योद्धा का वेष धारण कर वे लौटे। नगर में चारों ओर शंख, दुन्दुभी और रणभेरी बज उठीं। पिताजी के मुख पर एक निराला ही तेज चमकने लगा। भोजपुर की सेना तैयार हो गयी। चारों ओर भोजों के राज्य का जय-जयकार गूँजने लगा। वीर सैनिक स्वतन्त्रता के लिए मरने को तैयार हो गये।

मैंने धात्री से पंचारती तैयार करने को कहा। युद्ध में जाने से पहले राजा की आरती उतारी जाती है। धात्री आरती लेकर आयी। परन्तु पिताजी उससे पहले ही बाहर निकल

गये। राजभवन के द्वार में से मैं बोली, "पिताजी, ठहरिए। मैं आरती उतारूंगी।"

पीछे न मुड़ते हुए वे बोले, "एक बार मुँह फेर लेने पर क्षत्रिय फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखते हैं, लड़की ! जब तेरे पिता विजयी होकर आयें तब उनकी आरती उतारना। उस समय तक के लिए आरती को मन्दिर में कुलदेवता के सम्मुख प्रज्वलित रखो।" उन्होंने गरुड़चिह्नांकित राजध्वज हाथ में लिया। आगे का पैर आगे ही रखते हुए महाद्वार में गये और रथ में बैठकर क्षण-भर में ही अदृश्य हो गये।

"महाराज कुन्तिभोज कीsss विजय हो !" आदि घोषणाएँ गूँजने लगीं। भोजों की सेना निषधों का पतन करने के लिए धधकते मन से दौड़ने लगी। धूल का एक बादल दूर तक उड़ता चला गया। अश्वनदी के पात्र की ओर थोड़ी देर बाद यह विलीन हो गया।

आठ

नित्य तरह-तरह के समाचार सुनाई देते थे। चर्मण्वती नदी के सामने दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई थी। कभी निषध जीतते मालूम पड़ते, कभी हम। हमारी विजय हो रही है, यह देखते ही निषधों की सेना क्षण-भर में घने अरण्य में जाकर छिप जाती थी, परन्तु भोजपुर की सहनशील सेना के आगे उनकी एक न चली। दस दिन तक उन्होंने प्रतीक्षा की, उसके बाद वे जैसे आये थे वैसे ही विन्ध्याचल की ओर वापस लौट गये।

पिताजी सफल हो गये।

एक दूत वार्ता लेकर आया, "निषधों को भगाकर महाराज कुन्तिभोज वापस आ रहे हैं।

सारे नगर में उत्साह छा गया। अपने वीर राजा का आदरपूर्ण स्वागत करने के लिए नगरवासी उत्सुक हो उठे। स्त्रियों ने आँगन लीपे। द्वारों पर बन्दनवार लगाये गये। आक्रमणकारियों को भगानेवाले किस वीर राजा पर जनता अभिमान नहीं करेगी ! ऐसे 'राजा का भला कौन स्वागत नहीं करेगा ! कौन उसपर सुवर्ण पुष्पों की वर्षा नहीं करेगा!

पन्द्रह दिन बाद पिताजी विजयी होकर लौट रहे थे। पन्द्रह दिनों तक कुलदेवता के सम्मुख इंगुदी का तेल डालकर प्रज्वलित रखी गयी पंचारती हाथ में लेकर मैं राजभवन के महाद्वार में खड़ी हो गयी।

नगर की सीमा पर से नगाड़े की आवाज़ आ रही थी। नगरनिवासी नारे लगा रहे थे। फूल बरसा रहे थे। अन्त में हमारी विजयी सेना राजभवन के समीप आयी। सेना के आगे एक हाथी की अम्बारी में पिताजी बैठे हुए थे। महावत ने हाथी को नीचे बैठाया। पिताजी

महाद्वार में खड़े हो गये। उनके विजयी नेत्रों से आनन्द की किरणें बाहर निकल रही थीं। उनका सिर उन्नत था ।

महाद्वार में मैंने उनकी आरती उतारी। उन्होंने पीठ पर लगे तरकश में से झट से एक बाण खींचकर हाथ में पकड़ लिया। उसकी पैनी नोक को दायें अँगूठे से लगाया, पुष्ट अँगूठे पर रक्त की बूँद दिखाई पड़ने लगी। उसका तिलक मेरे मस्तक पर लगाते हुए वे बोले, “वीरों को विजय की मस्ती में जीना चाहिए और वीर कन्याओं को शील के लिए मरना चाहिए।”

अमृततुल्य वचन थे वे।

मैं भावाभिभूत हो गयी। मुझको पिताजी पर अभिमान हुआ। मैंने मन ही मन दुहराया, “वीर कन्याओं को शील के लिए मरना चाहिए और वीरों को विजय की मस्ती में जीना चाहिए।”

समस्त नगरजनों ने विजयोन्माद में नारे लगाये--“महाराज कुन्तिभोज की ऽऽऽजय हो !”

“राजकुमारी कुन्तीदेवी कीऽऽऽ जय हो !”

अभिमान से छाती फुलाकर, पिताजी ने महाद्वार में पैर रखा। इतने में ही एक तीक्ष्ण आवाज़ सबके हृदय को भेदती हुई भवन के प्रांगण में गूँज उठी, बिजली की कड़कड़ाहट-जैसी। प्राचीरों के पाषाण भी भय से रोमांचित हो जायें—ऐसी आवाज ।

“राजन, विजय के आनन्द में इतने उन्मत्त हो गये हो क्या कि तुम्हारे महल के सामने कौन अतिथि खड़ा है, इसका भी तुम्हें कुछ पता नहीं है ?”

समस्त नगरवासियों की दृष्टि उस आवाज ने अपनी ओर खींच ली। सारा वातावरण भय से एकबारगी सिहर उठा।

हमने आवाज़ की ओर देखा। बहुत लम्बी दाढ़ी से युक्त, जटाधारी, कृशकाय और लम्बे एक ऋषि थे वे । उनका रंग कुछ लाल-सा था। उनकी दृष्टि में सारा संसार मानो घास का एक ढेर था, जिसको हाथ में लगे बिल्ववृक्ष के दण्ड से सहज ही पलटा जा सकता था। अपनी वक्र भौंहों से उन्होंने सारे ब्रह्माण्ड को एक जबरदस्त कुण्डली में बाँध लिया था। हाथ में लगे चमकते हुए कमण्डल को हवा में नचाते हुए वे आँखों से अग्नि-वर्षा कर रहे थे।

नगरजन कानाफूसी करने लगे। पिताजी शीघ्रता से आगे बढ़े और एकदम उन ऋषि के चरणों पर लेट गये।

वे ऋषि पुनः गरजे, “कुन्तिभोज, ये रणभेरी कैसी है ? तुरही की इन फूँकनियों को क्यों बजवा रहे हो ?”

“गुरुदेव, क्षमा करें। युद्ध से अभी लौटकर आ रहा हूँ। आपके आगमन की कोई सूचना नहीं थी, नहीं तो....” पिताजी उनके चरणों पर मस्तक रखकर गिड़गिड़ाकर कहने लगे।

कुछ देर पहले तक अशोक वृक्ष की तरह तने हुए पिताजी क्षण-भर में ही घास के पत्ते की तरह कुम्हला गये। क्षण-भर पहले भुजंग की तरह लहरानेवाले पिताजी गिलहरी की तरह दीन बन गये।

"तुमने क्या मुझको अपना दास माण्डलिक समझ रखा है जो मैं तुमको अपने आगमन की सूचना देता ? इस पृथ्वी की पीठ पर चाहे जहाँ मुक्तमन से स्वच्छन्द विचरण करनेवाला एक मुक्त ऋषि हूँ मैं, यह भूल गये क्या? या यह सारी धरती तुम्हारे पैरों की दासी हो गयी है ?" वे ऋषि भौंहे तानते हुए फिर गरजे ।

सबको ऐसा लगा जैसे सिर पर वज्र टूट पड़ा है।

"क्षमा करें। आपके आगमन का पहले पता चल जाता तो...." शरीर सँभालकर खड़े होते हुए पिताजी बोले।

"स्वागत और मानापमान तुम-जैसे राजाओं के लिए होता है। मुझको उसकी आवश्यकता नहीं।"

"क्षमा करें।" हाथ जोड़कर पिताजी ने नम्र स्वर में कहा ।

"ठीक है। राजन्, चलो।"

सभी लोगों ने छुटकारे की साँस ली।

धात्री ने मुझसे आगे बढ़कर नमस्कार करने के लिए कहा। मैं धीरे से आगे बढ़ गयी और झुककर उन ऋषि को नमस्कार किया ।

"यह कौन है, राजन् ?" उन्होंने पिताजी से प्रश्न किया ।

"यह मेरी कन्या कुन्ती है।"

"तुम्हारी कन्या ? राजन्, तुम किससे बातें कर रहे हो, इसका अच्छी तरह ध्यान है तुमको ?" अपनी आँखें गरगर फिराते हुए ऋषि ने चुभता हुआ प्रश्न किया ।

"नहीं, गुरुदेव, क्षमा करें। यह राजा शूरसेन की कन्या पृथा है। मेरी मानस कन्या कुन्ती !" आज पिताजी को क्या हो गया था ? वर्षाघात से आहत नागरमोथे की तरह वे सिर झुकाकर प्रतिक्षण उन दाढ़ीवाले ऋषि को नमस्कार क्यों कर रहे थे ?

"राजन्, यहाँ मैं भोग-विलास करने नहीं आया हूँ। मुझको एक महायज्ञ करना है। यहाँ इस भोजपुर में और तुम्हारे इस भवन में। मेरी अन्तरात्मा ने मुझको यही आदेश दिया है।"

"सेवक सेवा के लिए तैयार है।" पिताजी झुककर बोले ।

"यह महायज्ञ सरल नहीं है, राजन् ! इस यज्ञ से, जिन पाँच मूल तत्त्वों से इस जग का निर्माण हुआ है उन पंचमहाभूतों को मैं अपने चरणों का दास बनाऊँगा। जिन शक्तियों के

बल पर यह सारा संसार चल रहा है, उन सभी शक्तियों को इस यज्ञ से मैं दास बनाऊँगा, समझे ! इस यज्ञ में यदि कुछ कमी रह गयी तो...." उन्होंने आँखें घुमायीं।

"नहीं गुरुदेव ! मैं और कुन्ती-हम दोनों किसी बात की कमी नहीं होने देंगे।"

"ध्यान रखो कुन्तिभोज, समस्त आर्यावर्त में यह यज्ञ पहली बार ही किया जा रहा है। इसके लिए विगत चालीस वर्षों से हिमालय में घोर तपस्या कर मैं मन की दिव्य शक्ति प्राप्त करके आया हूँ।"

"गुरुदेव, आज मैं धन्य हो गया। आप राजभवन में चलें।"

"राजभवन में किस लिए ? जहाँ वैभव का विलास होता है वहाँ आत्मा का विनाश होता है। मैं पर्णकुटी में रहूँगा। तुम्हारे भवन के सामने पर्णकुटी में।"

"जो आज्ञा । यह कुन्ती आपकी सेवा करेगी।"

उन ऋषि ने राजभवन के महाद्वार के भीतर पैर रखा। सभी लोगों ने उद्घोष किया-
"महर्षि दुर्वासा की जय हो !"

तत्क्षण मुड़कर दुर्वासा ऋषि जोर से चिल्लाये, "किसकी जय-जयकार करते हो ? यहाँ चिल्लाने से अच्छा तो यह है कि खेत में जाकर चिल्लाओ। इससे अन्न खानेवाले पक्षी तो उड़ जायेंगे। चलो, यहाँ से दूर हटो। राजन्, ऐसी गड़बड़ मैं बिलकुल सहन नहीं करूँगा। मुझको पूर्ण एकान्त चाहिए।"

ये थे दुर्वासा ऋषि। महर्षि अत्रि के पुत्र । महासती अनसूया के पुत्र । योगिराज दत्तात्रेय के भाई। आर्यावर्त के समस्त क्रोधी ऋषियों का कोप जिनके कमण्डल में आसानी से समा सकता था- ऐसे दुर्वासा ।"

नौ

तत्काल ही भवन के सम्मुख एक पर्णकुटी का निर्माण किया गया। एक विचित्र दृश्य दिखाई देने लगा। एक वैभव-सम्पन्न राजभवन के सम्मुख घास की एक पर्णकुटी खड़ी थी। भवन में आनेवाले सभी अभ्यागत आश्चर्य से उस पर्णकुटी की ओर देखने लगे। जहाँ सैनिक संचरण करते थे वहाँ दुर्वासा ऋषि का गम्भीर मन्त्रोच्चार गूँजने लगा, "ॐ भूर्भुवः स्वः.... ।" ब्राह्ममुहूर्त में उठकर महर्षि दुर्वासा अश्वनदी में स्नान कर आते और फिर मन्त्र-साधन के लिए पूर्व की ओर अभिमुख होकर बैठ जाते। सामने यज्ञकुण्ड में भिन्न-भिन्न प्रकार की समिधा डालते। उनके धुएँ से राजभवन के लोगों की आँखों में पानी आने लगा।

महर्षि दुर्वासा ! कितना विक्षिप्त और हठीला था उनका व्यवहार । जिसने विश्व का निर्माण किया था उस दिव्य शक्ति पर वे विजय प्राप्त करना चाहते थे। पंच महाभूतों को वे दास बनाना चाहते थे। उनकी मनोदशा का वर्णन कोई नहीं कर सकता था। क्षण-भर में एक छोटे बालक की तरह वे मुझसे दूध की हठ करने लगते तो कभी-कभी दो-दो दिन तक वे कुछ भी न खाते । क्षण-भर में वे किसी दुर्लभ वृक्ष की समिधा माँगते, तो कभी प्रस्तुत समिधा को फेंक देते। कभी-कभी वे मुझपर निरन्तर चिल्लाते ही रहते, तो कभी-कभी दो-दो दिन तक एक शब्द भी न बोलते ।

ऐसे दुर्वासा ऋषि की सेवा करने का भार पिताजी ने मेरे ऊपर डाल दिया था । उन्होंने मुझको सावधान कर दिया था कि 'दुर्वासा ऋषि चाहे जितना चिल्लायें, तुम उनको उलटा उत्तर मत देना। मुख पर आलस्य मत आने देना। उनकी सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि मत होने देना ।' कभी-कभी ऋषि का व्यवहार असह्य हो जाता था। कभी-कभी वे मुझको अपने पैर धोने का भी आदेश देते। उनके बड़े बड़े और विचित्र इतने काम करने पड़ते कि शरीर थककर चूर-चूर हो जाता, मन मुरझा जाता; परन्तु पिताजी के सन्तोष के लिए मैं सब कुछ सह रही थी। धोये हुए पैर फिर धोने पड़ते । मेरी इच्छा होती कि उस सारी पर्णकुटी को जलाकर राख कर दूँ और फिर स्वयं सीधी मथुरा को चलती बनूँ। मुझको भय होने लगा कि इस विक्षिप्त व्यक्ति के साथ अधिक दिन रहने पर कहीं मैं भी पागल न हो जाऊँ?

एक-दो नहीं, पूरे दस महीनों तक उनके इस समस्त विचित्रतापूर्ण व्यवहार को मैंने सहन किया। प्रतिदिन रात को मैं आधी नींद से ही उठकर बैठ जाती। क्योंकि प्रत्यूषा में ऋषि की पूजा की तैयारी करनी पड़ती थी। नींद पूरी न होने के कारण मेरी आँखें लाल दिखाई देने लगती। मैं दुर्बल होती गयी। मेरी यह दशा देखकर धात्री दुर्वासा को कोसने लगी।

अन्तिम दिनों में महर्षि दुर्वासा ने पर्णकुटी से बाहर निकलना भी बन्द कर दिया । अन्तिम दो महीने तो वे बिलकुल ही नहीं बोले। केवल दूध और फल ही उनका आहार था। रात में बिना सोये वे रात-भर निरन्तर मन्त्र बुदबुदाते रहते। उनके इस जागरण से मुझको भय लगने लगा। यह ऋषि उन शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के बजाय कहीं उन शक्तियों में ही विलीन न हो जाये ? क्या निष्पन्न होगा इस यज्ञ से ? उन महाभूतों को दास बनाकर ये ऋषि क्या करेंगे ? मानव उस तेज को कभी सहन कर सकेगा क्या ? असंख्य प्रश्नों से मेरा मन दिन-भर व्याकुल रहता। किसी के पास जरा इधर-उधर जाना भी सम्भव नहीं होता था, क्योंकि वे पर्णकुटी से कब आवाज देने लगेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं था। कब क्या माँगेंगे यह भी कहा नहीं जा सकता था।

एक बार पौर्णमासी के दिन उनके सम्बन्ध में विचार करते-करते ही मुझको नींद आ गयी। उस दिन मुझको बड़ी गहरी नींद आयी थी। प्रातःकाल एक तेज आवाज सुनकर मेरी आँख खुली। पर्णकुटी से दुर्वासा ऋषि निरन्तर चिल्ला रहे थे। केवल दूध पीकर और फल

खाकर भी उनकी आवाज़ इतनी तेज़ थी कि बिजली की गड़गड़ाहट लज्जित हो जाये। वे प्रसन्न होकर ज़ोर-ज़ोर से पुकार रहे थे:

"कुन्तिभो ऽऽ ज, ओ कुन्तिभो ऽऽ ज !"

मैं घबराकर उठी और भीतर गयी। उन्होंने अपने नेत्र खोले। मुझसे उनके नेत्रों की ओर देखा नहीं जा रहा था। वे अत्यन्त देदीप्यमान तेज के दो गोलक थे। मुझको देखते ही हँसी की एक अस्पष्ट-सी रेखा उनके मुख पर खिंच गयी। घनगम्भीर स्वर में वे बोले, "कुन्ती, मेरी सेवा करने का फल आज तुझे मिलेगा। सारा संसार आज से तुझे वीरों की जननी के रूप में जानेगा। आ, यहाँ बैठ।" मैं उसी तरह खड़ी रही। वे गरजे, "बैठ।"

मैं यज्ञ की वेदी के पास बैठ गयी। उनके कथन का कुछ भी अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

वे बोले, "कुन्ती, इस विश्व के पंच महाभूत आज अपने मन्त्रों के धागे से मैंने रथ के अश्वों की तरह कसकर बाँध डाले हैं। मेरा प्रयोग सफल हो गया है। यह आचमन का पानी ले।"

"लेकिन मैं....?" मेरा मन भय से सिहर उठा।

"कुन्ती, तू किसके सामने खड़ी है, यह जानती है ?" उनकी आँखें आग बरसाने लगीं। वे मुझको जला देना चाहती थीं क्या ?

मैंने चुपचाप आचमन का पानी लिया। वे धड़ाधड़ मन्त्र पढ़ने लगे। वे शब्द मैंने पहले कभी नहीं सुने थे, लेकिन फिर भी कानों के रास्ते वे मेरे मन के परदे पर स्पष्टतः अंकित होने लगे। उन शब्दों को सुनते समय मुझको अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। वे शब्द मानो अमृत की तरंगें थीं। मेरे शरीर का कण-कण हलका हो गया। क्षण-भर तो मुझको ऐसा आभास हुआ मानो मैं शब्द ही हूँ। आँखों के आगे उज्ज्वल ज्योतिवलय घनीभूत हो उठे।

मन्त्रों का उच्चारण समाप्त होने पर विजयी वीर की तरह दुर्वासा उठे। मेरे सिर पर हाथ रखकर वे बोले, "कुन्ती ! इस आर्यावर्त में तेरे समान और कोई स्त्री नहीं होगी ! जिस-जिस शक्ति का स्मरण कर तू ये मन्त्र पढ़ेगी, वही शक्ति मानव के रूप में क्षण-भर में तेरे सामने दास की तरह आकर खड़ी हो जायेगी और तेरे उदर में अपने जैसा ही तेजस्वी पुत्र निर्माण कर चली जायेगी। यह दुर्वासा की वाणी है, ध्यान रखना। जा।"

मेरे किसी भी उत्तर की प्रतीक्षा न करते हुए या पिताजी से मिलने के लिए न रुकते हुए वे जैसे आये थे, वैसे ही कमण्डल नचाते हुए मस्त हाथी की तरह पर्णकुटी से बाहर निकले। क्षण-भर में ही वे अदृश्य हो गये और राजप्रासाद की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उत्तर की ओर चले गये।

यज्ञकुण्ड की राख हवा के झोंको के साथ पर्णकुटी में फैलने लगी। हवा के एक झोंके से वह व्याघ्रचर्म भी, जिस पर दुर्वासा बैठते थे, उलट-पलट हो गया।

दस

महर्षि दुर्वासा चले गये। राजभवन फिर राजभवन की तरह शोभित होने लगा। धात्री ने छुटकारे की साँस ली। पिताजी की छाती पर से भार हट गया। जाते समय महर्षि दुर्वासा मुझको अभिचार सह देवाहुति मन्त्र दे गये हैं, यह बात किसी को भी ज्ञात नहीं थी।

भवन के सेवक ऋषि दुर्वासा को भूल भी गये। दुर्वासा ऋषि मानो भोजपुर के राजभवन पर क्षण-भर को छाये हुए एक बादल थे। लेकिन उनके शब्द मेरे कानों में सदैव गूँजते रहते थे, "तू वीरों की जननी होगी।" मेरा मन उन शब्दों से लज्जित हो जाया करता। कभी-कभी मैं दिन-भर एक शब्द भी न बोलती। मन्त्र के शब्द मेरे कानों में सपष्ट रूप से सुनाई देने लगते। उनको बोलने की प्रबल इच्छा होने लगती। परन्तु बड़े संयम से मैं उसको रोकती। जैसे कुक्कुरमाखी निरन्तर कुत्ते का पीछा करती है, वैसे ही वे शब्द मेरे मन का पीछा करते थे। अपने मन के इस भीतरी संघर्ष के कारण बाहर के दैनन्दिन व्यवहार में कभी-कभी बड़ी मनोरंजक भूलें हो जाया करतीं। दास-दासियों को मैं एकदम 'अजी' कहकर आदर से बुलाने लगती। सब मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगते। तुरन्त ही मैं अपने को सँभाल भी लेती। इसी प्रकार एक-एक करके दिन बीतते गये। नगर पर वसन्त ऋतु की कृपादृष्टि पड़ी। भोजपुर चारों ओर से भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों से सुशोभित हो उठा। उनकी सुगन्ध वातावरण में महकने लगी।

वसन्त ! वसन्त है वर्षा ऋतु के आखिरी इन्द्रधनुष का पृथ्वी पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ! बसन्त है भिन्न-भिन्न पक्षियों के रूप में सप्तस्वरो की बाँसुरियाँ लेकर पृथ्वी पर अवतरित होनेवाले आकाश के सप्तर्षि ! हाल ही में नटखट वर्षा ऋतु ने अपनी धारारूपी असंख्य अँगुलियों से जो गुदगुदी की थी, उससे पृथ्वीरूपी बालक के गाल पर बना हुआ मधुर गड्ढा है—वसन्त ! तरुणावस्था में पदार्पण करनेवाले मन में ऐसे वसन्त के प्रति सदैव ही बड़ा आकर्षण रहता है। मैं नित्यप्रति प्रासाद के सौध पर खड़ी होकर विविध पुष्पों से सज्जित आस-पास के प्रकृति के सौन्दर्य को देखा करती थी।

एक बार प्रातःकाल मैं इसी तरह सौध पर खड़ी थी। रविवार का दिन था वह। मन्द-मन्द पवन अश्वनदी का कल-कल संगीत मुझको सुना रहा था। सारा नगर धीरे-धीरे आँखें खोल रहा था। गायों के कण्ठों में बँधी घण्टियों की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। पक्षी चहचहा रहे थे। इतने में ही पूर्व दिशा प्रकाशित होने लगी। सूर्यदेव पूर्व क्षितिज पर धीरे-धीरे ऊपर आने

लगे। उनके स्पर्श से प्रत्येक वस्तु में चेतना जाग्रत होने लगी। मेरे शरीर में एक स्पृहणीय सिहरन सी दौड़ गयी। शनैः-शनैः वह तेज पूर्णाकार होकर पूर्व दिशा में खड़ा हो गया। कितना तेजस्वी दिखाई दे रहा था वह ! उस तेज के असंख्य कण पृथ्वी के कण-कण को प्रकाशित कर रहे थे। मेरे मन में एक विचित्र विचार दौड़ गया। मैं भी यदि इस धरती की तरह विशाल होती तो इस तेज के सभी कण मेरे सम्पूर्ण शरीर का स्पर्श अवश्य करते। खौलता हुआ पानी जैसे ऊपर-नीचे चक्कर लगाता है, वैसे ही मन्त्र के शब्द मेरे मन में चक्कर लगाने लगे। मुझको ऐसा लगने लगा जैसे मेरा सम्पूर्ण शरीर ही उन मन्त्रों के शब्दों से मन्त्रमय हो गया हो। कौतूहल का बछड़ा गले में बँधी संयम की रस्सी को झटके देने लगा। इन मन्त्रों से क्या मिलेगा ? इन सूर्यदेव का चिन्तन करने पर ये यहाँ आयेंगे क्या ? यह कैसे सम्भव हो सकता है ? देखें तो सही कि इन मन्त्रों में क्या शक्ति है ? दुर्वासा ऋषि साधना-साधना कहते रहते थे, उस साधना की शक्ति तो देखें। मैंने आँखें बन्द कर लीं। क्षण-भर को उस तेजस्वी शक्ति का स्मरण किया। हाथ जोड़कर मैं धड़ाधड़ मन्त्रोच्चारण करने लगी। उनके एक-एक शब्द के साथ मेरा शरीर हलका होता जा रहा था। मन की संज्ञा नष्ट होती गयी। मन्त्र के शब्द अधिकाधिक तीव्र तीव्रतर आवाज़ में मेरे मुख से निकलने लगे। शरीर का ज्ञान नष्ट होने लगा। मन ! वह भी शेष नहीं रहा। सभी वस्तुएं अदृश्य हो गयीं। मैं कुन्ती हूँ, मैं सौध पर खड़ी हूँ, मैं मन्त्र पढ़ रही हूँ, इस समस्त ज्ञान के दृढ़-बन्धन तडातड़ टूटकर गिर पड़े। मैं केवल तेज की एक ज्योति हो गयी। उस ज्योति को और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। पूर्व की ओर से एक अतिशय तेजस्वी कान्ति का देदीप्यमान पुरुष आ रहा था। उसके कानों में प्रकाशवलय फेकनेवाले दिव्य कुण्डल थे। सुनहरे रंग के उसके केश चमक रहे थे। आँखों से तेजस्विनी प्रकाश-किरण बाहर निकल रही थीं। उसके रूप के चारों ओर तेज की आभा फैली हुई थी। अपनी गर्वीली चाल से अन्धकार के राज्य को जलाता हुआ वह सौध की ओर आने लगा, दसों दिशाओं में असह्य किरण-शलाकाएँ फेंकता हुआ। उस देदीप्यमान पुरुष ने मेरी शरीररूपी ज्योति को स्पर्श किया। ज्योति थरथरायी। विरोध करने के लिए सिर हिलाकर वह काँपी। दोनों में एक अज्ञात भाषा में वार्तालाप हुआ। परन्तु ज्योति की एक न चली। वह आकाशपुरुष ज्योति को भेदकर पार निकल गया। एक महान् तेज का संक्रमण हो गया।

मेरे शरीर का कण-कण तप्त होकर सन-सन कर रहा था। मैं शनैः-शनैः चेतना के जगत् में लौट रही थी। परन्तु तप्त होने के कारण मुझको अपना ही शरीर असह्य हो गया था। आँखों के आगे ज्योतिवलय गरगर फिर थे। पैरों की सारी शक्ति जैसे लुप्त हो गयी थी। यदि मैं खड़ी रही तो सौध पर से धड़ाम से नीचे गिर पड़ूंगी। इस भय से मैं तत्क्षण नीचे बैठ गयी। मेरी पीठ पर किसी ने हाथ रखा। हाथ रखा और रखते ही पुनः उठा लिया। मैंने मुड़कर देखा वह धात्री थी। चमत्कृत दृष्टि से वह मेरी ओर देख रही थी। आँखें फाड़कर वह बोली, “राजकुमारी, ज्वर से जल रहा है तुम्हारा शरीर ! चलो पहले तुमको औषध दूँ।”

मैं सौध से नीचे उतरने लगी। उन सीढ़ियों पर उतरते-उतरते मुझको ऐसा आभास हुआ जैसे मैं ऊँचे गगन के स्वर्ग से पृथ्वी पर या पृथ्वी के भी नीचे पाताल में जा रही होऊँ।

ग्यारह

उस दिन से मुझको जो कुछ अनुभव होने लगा, वह सबका सब कल्पना से परे था। मैं ऐसा व्यवहार क्यों करने लगी थी, इसपर स्वयं मुझको भी आश्चर्य होता था। किसी से एक शब्द भी बोलने की मेरी इच्छा नहीं होती थी। मेरी आँखों के आगे सदैव तेज के वलय फिरते रहते थे। मैं बार-बार ऋषि दुर्वासा की उस पर्णकुटी में जाकर अकारण ही बैठी रहती थी।

भवन के दास-दासियों के लिए मेरा व्यवहार रहस्यमय हो उठा। वे सब मेरे सामने आकर अनेक प्रकार से मेरा मन बहलाने का प्रयत्न किया करते। लेकिन मेरा मन सदैव आकाश में ऊँची-ऊँची उड़ाने भरता रहता। अकारण ही बाहर प्रकाश में बैठने की इच्छा होती। मैं सदैव सौध पर खड़ी होकर सूर्यदेव की ओर देखा करती। वे सिर पर हो जाती, तबतक मैं उठने का नाम ही न लेती। प्रतिदिन तीन-तीन घटिकाओं तक यही होता रहता। रात को मैं अपने भवन से आकाश की ओर देखती। आकाश में अगणित तारे टिमटिमा रहे थे। उन तारों के फूलों को तोड़ने की मेरी इच्छा होती। जो कुछ प्रकाशवान् था, उस सबकी ओर मेरा आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया था। मेरी देह सुनहली दिखाई देने लगी थी।

मन की इस विचित्र दशा में बहुत दिन बीत गये। मेरे सम्पूर्ण शरीर में आमूल परिवर्तन हो रहा था। एक बार मैं यों ही भवन में घूम रही थी। किसी दासी ने सुवर्ण चम्पा का पुष्प लाकर दे दिया; मैं उसको सूँघ रही थी। इतने में ही धात्री भवन में आयी। उससे कुछ समय बातें करते समय वह फूल मेरे हाथ से छूटकर नीचे गिर पड़ा। उसको उठाने के लिए मैं नीचे झुकी। मुझको ऐसा लगा जैसे कि मेरा सारा शरीर भारी हो गया हो। बड़ी कठिनाई से उस पुष्प को उठाकर मैं फिर सूँघने लगी।

धात्री मेरी ओर विचित्र दृष्टि से देख रही थी। वृद्धावस्था के कारण उसका मस्तक पहले ही झुर्रियों से भरा हुआ था। उसपर एक सलवट और बढ़ गयी। मुझको ऐसा लगा जैसे वह अपनी तीक्ष्ण अनुभवी आँखों से मेरे सारे शरीर का निरीक्षण कर रही हो। अपनी भौंहों के जीर्ण चर्म को ऊँचा करती हुई वह बोली, “राजकुमारी, मेरी अवस्था मुझको धोखा नहीं दे सकती। मैं एक बात पूछू क्या ?”

“धात्री ! पूछने के लिए तुमने मुझसे आज तक कभी अनुमति माँगी है क्या ?” मैंने उलटे उससे पूछा।

“नहीं, लेकिन राजकुमारी, यह प्रश्न आपको कभी अच्छा नहीं लग सकता। आप तत्क्षण आज्ञा दे देंगी कि यह वृद्धा पागल हो गयी है, इसकी पीठ पर कशाघात करके इसको विन्ध्यारण्य में छोड़ आओ।”

“धात्री, तुम भवन में सबसे अधिक वृद्ध और सबसे अधिक विश्वसनीय दासी हो, यह बात अभी भूली नहीं हूँ मैं। पूछो तुम, जो कुछ पूछना चाहती हो, अच्छी तरह पूछ लो।”

एक बार फिर उसकी वृद्ध दृष्टि मेरे सारे शरीर पर से फिर गयी। काँपती हुई गरदन से उसने पूछा, “राजकुमारी, आप माता बननेवाली हैं....?”

“धात्री ! तुम किससे बात कर रही हो, यह जानती हो न ?” मैं ज़ोर से चीखी। मेरी देह पर जैसे साँप रेंग गया।

“राजकुमारी, मेरे बाल पक गये हैं। इस भवन की तीन राजपीढ़ियाँ मैंने देखी हैं। अपने शरीर को सामने लगे दर्पण में ध्यान से देखिए।” अपनी गरदन और अधिक हिलाती हुई वह भवन से बाहर जाने लगी।

माता ! इन दो अक्षरों के योद्धाओं ने निर्दय होकर मेरे मन को मुक्के मारना प्रारम्भ कर दिया। मुझको ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे सारा भवन मेरे चारों ओर घूम रहा हो। धरती फट जाती और मैं उसमें समा जाती तो कितना अच्छा होता ! मेरा मन सुरंग के उस पक्षी की तरह देह की दीवार से बार-बार टकराने लगा—असहाय होकर ।

मैं माता बननेवाली थी। कौमार्यावस्था में माता। मातृत्व स्त्री को मिला हुआ सर्वश्रेष्ठ वरदान है। परन्तु मुझको मिलनेवाला यह वरदान क्या शाप-तुल्य ही नहीं था? दुर्वासा ऋषि का वह कथन मेरे कानों में गूँजने लगा, “तू वीरों की जननी होगी।” उनके मन्त्र के संक्षिप्त शब्द मेरे कानों में प्रतिध्वनित होने लगे, “ॐSSSS ।” दूसरे ही क्षण मेरे मन के गुम्बद में पिताजी के वे शब्द गूँजने लगे, “वीरों को विजय की मस्ती में जीना चाहिए और वीर कन्याओं को शील के लिए मरना चाहिए।” शील ! स्त्रियों का अमूल्य रत्न । शील अर्थात् आर्यावर्त की स्त्री का श्वासोच्छवास।

इसी समय उद्यान में चण्डोल पक्षी का बच्चा चोंच फाड़कर चिल्लाने लगा-चिर्रर, चिर्रर ।

मथुरा से लाकर मुझको यहाँ छोड़कर जाते समय पिताजी ने जो बात कही थी वह शतगुणित होकर मेरी आँखों के सामने चक्कर लगाती हुई नाचने लगी।

“तुम एक क्षत्रिय राजा की लड़की हो, यह कभी मत भूलना।”

क्षत्रिय कन्या !....शील !....शब्दों की घनघोर वर्षा होने लगी। स्वर नृत्य करने लगे। शील !.... क्षत्रिय-कन्या !....कानों पर हाथ रखकर मैं आँखें बन्द कर चिल्लायी, “धात्री, ठहरो।”

वह लौटकर आयी। जैसे ही वह मेरे सामने आयी, मैंने आँखें बन्द किये ही उससे कहा, “धात्री ! मैं राजकुमारी कुन्ती तुमसे कहती हूँ कि संसार में जो सबसे अधिक दाहक विष

हो, वह सन्ध्या होने से पूर्व ही मेरे हाथ में आ जाना चाहिए।"

मेरे लिए अन्य कोई सुरक्षित मार्ग नहीं था ।

"राजकुमारी...." वीणा के तार की तरह उसकी आवाज़ काँप उठी ।

"जाओ, यह राजकुमारी की आज्ञा है।" मैंने कठोर स्वर में कहा ।

"परन्तु...."

"धात्री ! दासी का काम आज्ञा-पालन करना है। उपदेश देना नहीं। जाओ।" सिर झुकाकर वह भवन से बाहर चली गयी।

बारह

उसके बाद धात्री मेरे भवन में कभी आयी ही नहीं। अपनी राजकुमारी को विष लाकर देने का साहस उसके वृद्ध हृदय में नहीं था। मैंने उसके पास अनेक सन्देश भेजे, लेकिन उसने काम का बहाना बनाकर उनको टाल दिया। मुझको ऐसा लगता था जैसे काल प्रतिक्षण अपनी सहस्रों जिह्वाओं को लपलपाता हुआ मुझको खाने चला आ रहा हो। भवन के बाहर जाना मैंने छोड़ दिया था।

मेरे मन में एक ही विचार दृढ़ होता जा रहा था...मृत्यु ! तड़पते हुए प्राणों की वेदना को सदैव के लिए शान्त करने के लिए मेरे सामने मृत्यु के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था। मृत्यु ! मरणतुल्य मानसिक कष्टों का अन्त करनेवाली मृत्यु ! प्रतिष्ठा की श्रृंखला में बँधे हुए प्राणी को अज्ञात के अनन्त प्रदेश की ओर ले जाने वाली मृत्यु ! संसार के सभी काले दृश्यों को अपनी काली जीभ से सरलता से पचा जानेवाली मृत्यु ! मन की ऐसी घुटन-भरी दशा में मृत्यु के अतिरिक्त कौन-सा सहारा हो सकता था ! यह सच है कि राजकुमारी कुन्ती का सभी लोग सम्मान करते थे, उसके प्रत्येक शब्द को शिरोधार्य करते थे, परन्तु...परन्तु कल माता बनी हुई कुन्ती को वे क्या कहेंगे ? कुलटा कहकर वे उसके मुँह पर थूकेंगे। वे उसपर पत्थर फेंकेंगे तथा उसका सार्वजनिक अपमान करेंगे। वास्तव में लोग भी कितने विचित्र होते हैं। मातृत्व का गुणगान करते-करते वे थकते नहीं। संसार के सभी पराक्रम स्त्रियों की कोख से ही जन्म लेते हैं, इसलिए वे उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। परन्तु इसी पराक्रम पर वे कभी-कभी पाप की राजमुद्रा अंकित कर देते हैं। इसी मातृत्व को वे सामाजिक रूढ़ियों के सहस्रों शूलों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं। मैं कुमारी थी और अब माता बनने वाली थी। समाज इस मातृत्व का कैसा स्वागत करेगा ? मुझको मन्त्र द्वारा पुत्र-प्राप्ति हुई है- इस ज्वलन्त सत्य पर वे कभी विश्वास करेंगे क्या ? स्वयं दुर्वासा भी आकर यदि नगर के चौक में

खड़े होकर अपने मुख से यह कहें, तब भी किसी को विश्वास नहीं होगा !...क्यों आये थे दुर्वासा इस नगर में ? मेरे जीवन के साथ इतना भयंकर द्यूत खेलकर उन्होंने क्या पाया ? उनके उस भयानक प्रयोग से मेरा क्या सम्बन्ध था? लेकिन यह कहने से ही अब मुझको छुटकारा कहाँ मिल सकता है ! संसार में सभी घटनाओं की संगति कहाँ बैठती है ! निरपराध लोगों को किसी दूसरे के अपराध का फल भोगना नहीं पड़ता है क्या ? मैं भी क्या उन्हीं में से एक नहीं ? प्रश्नों की असंख्य मैनाएँ मेरे मस्तिष्क की आहत नागिन को बार-बार चोंच मारने लगीं। वह असहाय होकर तिलमिलाकर फूटकार कर रही थी। मृत्यु ! मृत्यु !!

मैं तत्क्षण उठी और ज़ोर से ताली बजायी। एक दासी तत्परता से भीतर आयी। उससे मैंने कहा, “जैसी है वैसी ही जा, और नगर से राजवैद्य को बुला ला, जिस अवस्था में हों-उसी में।”

वह चली गयी। आधी घड़ी के भीतर ही राजवैद्य मेरे भवन में प्रविष्ट हुए। झुककर अभिवादन कर वे बोले, “राजकुमारी, क्या आज्ञा है ?”

“वैद्यराज ! महर्षि दुर्वासा के यज्ञ का उपसंहार करना है। उसमें अन्तिम आहुति के रूप में संसार के सर्वाधिक प्रभावशाली विष का प्रयोग करना है। इस दासी के साथ वह शीघ्र ही भिजवा दीजिए।”

दुर्वासा ऋषि का नाम लेते ही वैद्यराज चुप हो गये। उन्होंने फिर कोई प्रश्न नहीं किया। क्योंकि वे जानते थे कि दुर्वासा ऋषि किसी भी दुर्लभ वस्तु को चाहे जब मांग बैठते थे।

“जो आज्ञा !” कहकर वे भवन से बाहर चले गये।

थोड़ी ही देर में वह दासी एक शीशी में विष ले आयी। मैंने मुक्ति की सांस ली। अब मुझको हृदय को दग्ध करनेवाली किसी भी कुत्सित दृष्टि का सामना नहीं करना पड़ेगा। वह शीशी मैंने सँभालकर एक कोने में रख दी। उसी शीशी से मरणतुल्य यातनाओं का अन्त होना था।

तेरह

उस रात चारों ओर सुनसान होते ही मैं धीरे से पलंग पर से उठी। कोने में रखी हुई वह विष की शीशी हाथ में ले ली। मथुरा के पिताजी का स्मरण कर मैंने उन्हें प्रणाम किया और आँखें बन्द कर धीरे से बोली, “पिताजी, आपकी पृथा एक क्षत्रिय राजा की कन्या है, यह बात वह कभी नहीं भूलेगी। मेरा यह निर्णय आपको निश्चय ही अच्छा लगेगा।” इसके बाद भोजपुर के पिताजी का स्मरण कर मैंने उनको भी प्रणाम किया और कहा, “क्षत्रिय-

कन्याओं को शील के लिए मरना चाहिए, यह सत्य मैं आज सिद्ध करने जा रही हूँ। तात, मुझको आशीर्वाद और धैर्य दीजिए।"

क्षण-भर के लिए मैंने आँखें खोलीं। चारों ओर श्मशान शान्ति थी। थोड़ी देर बाद मैं भी इसी तरह शान्त हो जाऊँगी। यह निर्दय लेकिन फिर भी स्पृहणीय लगने वाला संसार मैं फिर नहीं देख पाऊँगी-यह सोचकर मेरा मन भर आया, डगमगाने लगा लेकिन मैंने उसको सावधान किया। माता का स्मरण कर मैं बोली, "माता, तुम्हारी पृथा का जन्म लाखों कष्ट सहने के लिए ही हुआ है—आज इस दुख का अन्त हो जायेगा। मुझको आशीर्वाद दो।"

आँखें बन्द कर मैंने वह शीशी मुँह में उलट ली और देह पलंग पर डाल दी। अब प्रातःकाल नगर में हाहाकार मच जायेगा।

चौदह

मैंने विष की वह शीशी पी ली थी किन्तु...किन्तु उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। मृत्यु भी अपनी कृपादृष्टि इच्छित समय में करने को तैयार नहीं होती है। मेरा विचार था कि अब मेरे उदर में भयानक अग्निदाह उठेगा, परन्तु गले में थोड़ी जलन होने के अतिरिक्त, मुझको और कुछ न हुआ। आधी घटिका तक मैं पलंग पर पड़ी रही, लेकिन मुझको कुछ नहीं हुआ था। अत्यन्त मानसिक वेदना से आलस्य अवश्य आ रहा था। झट से उठ बैठी। भय से मेरा शरीर सिहर उठा। मैं कौन थी ? विष से भी न मरने वाली ? एकदम हाल की तरह तप्त होनेवाली ?

शंकाओं ने मन को ग्रस लिया। जीवन मेरे लिए असह्य हो गया था, मरण मेरे लिए असम्भवं था। विष का भी मेरे शरीर पर कोई प्रभाव नहीं था। मैं कौन थी ?

द्वार खोलकर मैं भवन से बाहर निकली। दासियों के कक्ष में आयी। वहाँ अनेक दासियाँ सो रही थीं। एक कोने में धात्री भी शरीर गुड़मुड़ाये सो रही थी। मैंने ज़ोर-ज़ोर से हिलाकर उसको जगाया।

मुझको देखते ही वह चौंक पड़ी। हाथ पकड़कर उसी दशा में उसको खींचती हुई मैं अपने महल में लायी। किसी की सहायता की मुझको नितान्त आवश्यकता थी। महल में आते ही मैंने सब घटनाएँ उसको बतायीं। उसके कन्धे झकझोर व्याकुल होकर मैंने पूछा, "धात्री, अब तुम्हीं बताओ, मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? मैं मर नहीं सकती!"

मेरी पीठ पर अपने खुरदरे हाथ को प्रेम से फेरती हुई वह बोली, "राजकुमारी, धीरज रखिए। लेकिन भूलकर भी इस महल के बाहर मत जाना, जैसे अभी गयी थीं। आपको इस

स्थिति में कोई भी देखने न पाये।"

पन्द्रह

उस दिन के बाद धात्री मेरे महल में ही रहने लगी। वह किसी को भी महल में नहीं आने देती थी। दिन के बाद दिन बीतते जा रहे थे। पौर्णिमा के चन्द्र की तरह मेरा शरीर पूर्ण प्रफुल्लित होता जा रहा था। लेकिन मन ग्रहण के चन्द्रमा की तरह चिन्ताग्रस्त हो गया था। एक-एक दिन मुझको एक-एक युग की तरह लग रहा था।

हाल में ही शरद् ऋतु समाप्त हुई थी, लेकिन फिर भी एक रात आकाश पूरा घिर गया। तूफानी पवन शोर करता हुआ चारों ओर से राजभवन पर टकराने लगा। मूसलाधार वर्षा होने लगी।

आधी रात के समय एकदम मेरे पेट में दर्द होने लगा। मैं पलंग पर असह्य पीड़ा से तड़पने लगी। मसले जाने से पंखों के उपधानों की दुर्दशा होने लगी। वेदनाओं की असंख्य सुइयों से मेरे शरीररूपी वस्त्र के टाँके उधेड़े जाने लगे। धात्री के वृद्ध नेत्रों में भी भय की भयानक छाया तैर गयी। बाहर बिजली की कड़कड़ाहट और पवन का शोर मच ही रहा था। प्रसव की असह्य पीड़ा से मैं कराह रही थी।

एक घड़ी के उपरान्त एक नन्हे शिशु का चीखना प्रारम्भ हो गया। लगभग साठ वर्ष बाद उस भवन में यह रोने की आवाज़ सुनाई दी थी। लेकिन बाहर गड़गड़ाहट होने के कारण वह किसी को सुनाई नहीं दे रही थी। मैं माता बन गयी थी। मातृत्व ! स्त्री का श्रेष्ठतम आभूषण ! प्रसव-वेदना की भट्टी में तपकर निकला हुआ सोना ! प्रकृति का सबसे शुभ 'वरदान ! मैंने अत्यधिक उत्सुकता से उस नन्हे शिशु की ओर देखा, आनन्द के मयूरपंख धीरे-धीरे अपनी अंगुलियाँ मेरे मन पर फेरने लगे। कितना दर्शनीय था उसका रूप—उदित होते हुए सूर्य की तरह !

मुझको देखते ही उसने रोना बन्द कर दिया। अपनी नन्ही-नन्ही' आँखों से वह टक-टक मेरी ओर देखने लगा। उसके कानों में हलका नीला प्रकाश फेंकनेवाले दो मांसल कुण्डल थे। कौतूहलवश मैंने उनको छूकर देखा। गुड़हल की एकदम लाल कलियों जैसे थे वे। उसका अत्यन्त कोमल सुन्दर शरीर सुनहले रंग का था। उसके घने धुंधराले सुनहले बालों की लटें हवा के झोंके से हिल उठती थीं। कुम्भ-जैसे गोल मुख के चारों ओर तेज की आभा थी। वह अपने दायें पैर का अँगूठा चूस रहा था। अपनी नीली-नीली नन्ही आँखें खोलता-बन्द करता हुआ वह बार-बार मेरी ओर देख रहा था। इसी बीच हवा का एक झोंका आया, उसके साथ ही वह किलकारी मार उठा। उसके बाल हिल उठे। एक सुन्दर गड्ढा गाल पर

पड़ गया। उसको देखते ही मैं राजकुमारी हूँ, एक क्षत्रिय-कन्या हूँ, यह मेरी कौमार्यवस्था का बालक है—यह सब भूल गयी मैं। धात्री के हाथ से मैंने उसको अपने हाथ में लिया। आवेग से ! और बार-बार उसको चूमा । मेरा स्पर्श पाते ही वह मुझसे चिपट गया। मैं धन्य हो गयी; इस अनुभव से मेरा शरीर रोमांचित हो गया। क्षण-भर के लिए ऐसा लगा जैसे मातृत्व ही स्त्री की मुक्ति हो।

उसके मांसल स्पर्श से मेरे आँचल में दूध भर आया। दूध पिलाने के लिए मैंने उसको गोद में लिटाया । आँचल से मैंने उसको जैसे ही ढका, धात्री ने मेरा हाथ पकड़ लिया। वह दबी आवाज़ में मेरे कान में बोली, “राजकुमारी, समय बहुत कम है। जबतक बिजली कड़क रही है, तबतक हमको बाहर निकल जाना चाहिए।”

"कहाँ ? और क्यों ?" मैंने घबराकर पूछा ।

"इसको साथ लेकर तुम कभी नहीं जी सकोगी।"

"तो फिर क्या किया जाये ?"

"इसका....इसका आपको त्याग करना चाहिए।"

“तुम क्या कह रही हो धात्री ! एक माता को अपने सद्योजात शिशु का त्याग करने के लिए कह रही हो ? अरी, इसकी ओर देख तो सही। इस निष्पाप जीव ने क्या अपराध किया है ?”

"राजकुमारी, मैं तो सब कुछ जानती हूँ, लेकिन नगर के लोगों को तुम यह समझा सकोगी क्या ?"

"नहीं धात्री ! चाहे प्राण चले जायें पर मैं इसको नहीं छोड़ूंगी। मैं किसी की राजकुमारी नहीं हूँ, किसी की कन्या नहीं हूँ। अपने इस लाडले की माता हूँ, बस ! मैं केवल एक माता हूँ।"

“राजकुमारी, पुत्रजन्म के आनन्दातिरेक से विवेक मत खोइए। कल महाराज को जब यह पता चलेगा, तब क्या होगा ? मुझसे कहा नहीं जाता। शायद...शायद..",

"शायद क्या ?"

"वे तुमको महल से बाहर निकाल दें। लोग तुमको कुलटा-कलंकिनी कहकर नोच-नोच खायें। मथुरा का द्वार भी तुम्हारे लिए कभी नहीं खुलेगा।"

"तो फिर मैं क्या करूँ ? धात्री, मैं कहाँ जाऊँ ?" मैं विवश होकर सिसकने लगी।

"राजकुमारी, धैर्य रखिए। इसका त्याग करने के अतिरिक्त आपके सामने और कोई चारा नहीं है। इसी में आप दोनों का कल्याण है !"

“त्याग ! कैसे करूँ ? माता होकर हत्यारिन बनूँ ?”

"जल्दी कीजिए, इसका रोना किसी के कानों तक पहुँचे, उससे पहले ही हमको भवन से बाहर निकल जाना चाहिए।"

"धात्री ! कितनी निर्दय हो तुम ! एक माता को पुत्र का गला घोटने को कह रही हो ?" मुझको उससे घृणा हुई।

"राजकुमारी, मुझको एक राजकुमारी का गला बचाना है। आपको मेरी बात इतनी बुरी लगती हो तो आप बैठी-बैठी विचार करती रहिए। मैं जाती हूँ लेकिन महाराज ने एक बार इसको देख लिया तो..." वह बाहर जाने लगी।

मेरा मन प्रेम और व्यवहार, भावना और कर्तव्य, ममता और यथार्थता के द्वन्द्व में फँस गया। क्या करना चाहिए ? क्षण-भर मेरी इच्छा हुई कि उस बालक को लेकर अकेली ही कहीं दूर चली जाऊँ। लेकिन मैं कहाँ जा सकती थी ! कौन देता मुझको आश्रय ! संसार के प्रलय में एक स्त्री छोटे बालक को लेकर कहाँ मारी-मारी फिरती ? और यदि वह मारी-मारी फिरती भी तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न था ही। अपने नन्हे-मुन्ने का त्याग भी वह कैसे कर सकती थी ! किन हाथों से वह उसको दूर धकेल सकती थी ! समाज ! कैसे लोगों से भरा हुआ है यह समाज ? किसने दिये हैं उसको ये सब। अधिकार ? ये अधिकार यथार्थ की पीठ पर उगी हुई अमरबेल ही नहीं हैं क्या ? वह जिसको पाप कहता है, उस पाप की और पुण्य की उसकी कल्पना सापेक्ष नहीं है क्या ? आज तक न जाने कितनी अबलाओं ने समाज की इन निर्दय रूढ़ियों से त्रस्त होकर कुओं और नदियों की शरण ली होगी ! मैं भी यही करूँ क्या ? नहीं, नहीं... इस बालक का रूप असाधारण है। इसे जीवित रहना चाहिए। जैसे भी हो, इसको बचाना ही चाहिए। क्या किया जाये ? क्या किया जाये ?...

मैंने धात्री को पुकारा, "धात्री, जाओ मत। नहीं तो मैं मूर्च्छित हो जाऊँगी।" मैं शारीरिक और मानसिक घुटन में तड़पने लगी।

वह लौटकर आयी और मेरी पीठ पर हाथ फेरकर बोली, "राजकुमारी, क्षत्रिय-कन्या के अनुरूप यही एक निर्णय है। इधर दीजिए उसको।" उसने आगे बढ़कर मेरी गोद से उसको ले लिया। अपनी छोटी-सी मुट्ठी में उसने मेरा आँचल कसकर पकड़ लिया था। कठोरता से उसने छुड़ाया। मेरा मन हाहाकार कर उठा, उसको लेकर वह बाहर चली गयी।

थोड़ी देर बाद ही कन्धे पर एक लकड़ी की पेटिका रखे वह फिर महल में आयी। उसने उसको पलंग पर रख दिया। उसके हाथ में बच्चा नहीं था। मैंने घबराकर उससे पूछा, "बच्चे को कहाँ रख दिया है, धात्री ?" उत्तर देने के बजाय उसने पेटिका का ढक्कन खोल दिया। उसमें एक मृदु शय्या पर बालक शान्त सो रहा था। उसके आस-पास उसने बहुत-से बहुमूल्य आभूषण रख दिये थे। लेकिन उसका रंग उन आभूषणों को भी लज्जित करनेवाला था। पेटिका के सन्धिस्थल मोम से बन्द कर दिये थे। ऊपर के ढक्कन में एक

छोटा-सा छिद्र था। लेकिन उसने उसको उस पेटिका में क्यों रखा था ? घबराकर मैंने उससे पूछा, “धात्री ! उसको पेटिका में क्यों रखा है ? यह सब क्या करना चाहती हो तुम ?”

“राजकुमारी, पौ फटने से पहले ही यह पेटिका अश्वनदी की गोद में चली जानी चाहिए। उसके सिवा और किसी का मन आज इतना विशाल नहीं है जो इसको अपने पास रख सके।”

“धात्री....धात्री ! मैं राजकुमारी हूँ या चुडैल हूँ ? पुत्र का प्रेम कैसा होता है, तुमको यह सिखाना भगवान् भूल गये क्या ?”

“राजकुमारी, इस महल में मेरे आठ पुत्र दिन-रात आपकी सेवा कर रहे हैं। मन दुर्बल मत होने दीजिए। जल्दी कीजिए।”

उसके शब्द तीर की तरह मेरे हृदय में घुस रहे थे। परन्तु....परन्तु प्रातःकाल मेरा भविष्य क्या होगा ? राजभवन या फिर कूड़े का ढेर। बलि देने से पहले यज्ञ के पशु को जैसे कसकर बाँध देते हैं, वैसे ही मेरा मन उलटे-सीधे विचारों से कसकर बाँध दिया गया। इच्छा होती थी कि पुत्र को उठा लूं और धात्री को ठोकर मारकर जिधर रास्ता मिले उधर ही चलती बनूँ, लेकिन उसका भी आखिर क्या दोष था ! एक स्त्री होकर भी अपनी राजकुमारी के लिए वह कितना बड़ा साहस कर रही थी ! यह सब करते हुए उसे क्या प्रसन्नता हो रही थी ! फिर किसका दोष था ? मेरा ? दुर्वासा का ? जन्म लेनेवाले उस अबोध बालक का या मानवों को घोड़े की तरह खदेड़नेवाले काल का ? परिस्थिति का ? समाज का ?....

मुझको ऐसा लगने लगा कि विचार करते-करते कहीं मेरा मस्तिष्क फट न जाये। अपने असहाय जीवन से मुझको बहुत चिढ़ लगने लगी। आज विधाता एक राजकुमारी को अबला बनाना चाहता है क्या ? आज परिस्थिति माता को हत्यारिन बना देगी क्या ? विवश होकर मैं अपना सिर महल की दीवार पर धड़ाधड़ पटकने लगी। मेरे मस्तक से रक्त की एक फुहार छूटी। धात्री ने आगे बढ़कर बलपूर्वक मुझको पीछे खींचा । अपने अंशुक से मेरा मस्तक पोंछती हुई वह बोली, “राजकुमारी, यह रक्त दीवारें रँगने के लिए नहीं है। इस रक्त से वीरों का निर्माण होना चाहिए। इस रक्त की शपथ है आपको। अब एक शब्द भी मत बोलिए और धैर्यपूर्वक मेरे साथ चलिए।”

मुँह में आँचल ठूसकर मैं रोने लगी। धात्री पेटिका उठाकर आगे-आगे चलने लगी। सारा महल प्रातःकाल की मधुर निद्रा में लीन था। बाहर झंझावात अब कुछ ठहर गया था।

वह सुरंग के कक्ष के पास आयी। पत्थर की खूटी उसने दायीं ओर घुमायी । सुरंग का द्वार एकदम खुल गया। वह सीढ़ियों पर उतरने लगी। मुझको उस दिन इस सुरंग में फड़फड़ानेवाली चमगादड़ की याद आयी। मेरा मन क्रन्दन करने लगा। जीवन एक भयंकर सुरंग है। जीवन एक भयंकर सुरंग है !....मुझको भी आज उस सुरंग में पैर रखना पड़ रहा

था। राजस्त्रियों की सुरक्षा के लिए बनायी गयी सुरंग ! आज मैं अपनी सुरक्षा के लिए उसका उपयोग कर रही थी, लेकिन कितने भिन्न अर्थ में, कितने भयंकर अर्थ में !

सुरंग से हम लोग अश्वनदी पर निकले । हाल में ही हुई वर्षा के कारण अश्वनदी का पात्र कलकल शोर करता हुआ बह रहा था। उस मैले लाल पानी को देखते ही मेरा हृदय टूक-टूक होने लगा। इन गरजती हुई लहरों में मैं अपने सुकुमार शिशु को छोड़ दूँ ? जो भूख लगने पर रोने के अतिरिक्त संसार की और कोई बात नहीं जानता, उसको इस गरजते पानी के आवर्ती में धकेल दूँ ? और वह पेटिका यदि डूब गयी तो? इस जल के गर्भ में क्या क्या होगा ? विशाल जबड़ेवाले मच्छ, क्रूर मगर...

धात्री ने आगे बढ़कर पेटिका पानी के प्रवाह में छोड़ दी। लहरों पर हिचकोले खाती हुई वह दूर जाने लगी। मातृत्व के उद्रेक से मेरे मन का बाँध टूट गया, "मेरे लाल ! मेरे लाल !!" कहती हुई मैं एकदम पानी में घुसने लगी। धात्री ने आगे बढ़कर मुझको रोका। मैं उसके हाथों से छूटने के लिए छटपटाने लगी, परन्तु उसके हाथों में उस समय इतनी शक्ति न जाने कहाँ से आ गयी थी ! अपने शरीर की परवा न करके उसने मुझको सँभाला। वह गोह की तरह मुझसे चिपट गयी थी और उसने मुझको कसकर पकड़ लिया था। पेटिका हिचकोले खाती हुई दूर चली गयी। घायल होकर धात्री के कन्धे पर सिर रखकर मैं सिसकने लगी। वह मेरी पीठ थपथपा रही थी। मुझको सँभालकर महल में ले जाने के लिए उसने आगे पैर बढ़ाया ।

नदी-किनारे एक शुभ्र गाय बछड़े के साथ पानी पी रही थी। उसको देखते ही मैंने आँखें बन्द कर ली।

वह वात्सल्य मेरे हृदय को खोखला बनाने लगा।

आज मातृत्व ने परिस्थिति के सम्मुख सिर झुका दिया था। आज कुन्ती के जीवन को नित्य खोखला करनेवाला एक सत्य तैयार हो गया था। आज से कुन्ती जीवित होती हुई भी मृतवत् थी।

महल में आते ही मैंने पलँग पर अपना शरीर पटक दिया। अत्यन्त क्षीण आवाज़ में मैंने धात्री से कहा, “नगर के चतुर मछुए को बुलवाओ और वह पेटिका किसको मिलती है, इसका पता लगवाओ। मुझको अकेली छोड़कर तुम इसी क्षण यहाँ से जाओ चलती बनो। मैं एकान्त चाहती हूँ।” मैंने अपना मुख पंखों के उपधान में छिपा लिया। गरम होते हुए भी उस बिस्तर का स्पर्श मुझको बर्फ-जैसा ठण्डा लगने लगा-अश्वनदी की लहरों जैसा। सिसक-सिसककर रोते समय रहस्य के प्रकट होने के भय से मैं आवाज़ भी नहीं निकाल सकती थी। मेरी घुटती हुई साँस में निर्दोष पृथा हाथ-पैर पटकती हुई तड़पने लगी। वर्षा हो जाने के कारण राजभवन के चारों ओर कदम्ब वृक्ष पर मजीरे दिन होने पर भी निरन्तर चिल्ला रहे थे। चीत्कार कर रहे थे-किर्रर किर्रर \$\$\$।

सोलह

उस दिन मैं रोती ही रही। पक्षी के बच्चे को घोंसले में पहुँचाने की हठ करनेवाली भावुक पृथा ने अपने ही नन्हे शिशु को आज अपने हाथों से दूर धकेल दिया था। वह बालक कहाँ जायेगा ? किसके हाथ पड़ेगा ? या बहता-बहता सीधा सागर में जा मिलेगा ? यदि यही हुआ तो ? अनेक शंकाओं से मेरा मन व्याकुल हो गया। सिर उठाने तक की इच्छा नहीं होती थी। किसी को मुख दिखाने का साहस नहीं होता था।

रात को कोई महल में आकर समई जला गया। थोड़ी देर बाद कोई भीतर आया। उसने धीरे से मेरी पीठ पर हाथ फेरा। मैंने समझा कि वह धात्री है, इसलिए मैं उस पर चिल्लायी, “धात्री, तू जा यहाँ से।” मैं उसका स्पर्श तक नहीं चाहती थी।

“बेटी, ऊपर देख ।” मैं चौंक पड़ी। वे पिताजी थे। समई के धुंधले प्रकाश में वे खड़े थे। महल में धात्री का पहरा न होने के कारण वे सीधे भीतर आ गये थे। मैंने आँखें पोंछकर उनकी ओर देखा। भय से मेरा मन सुन्न-सा हो गया। क्या सब कुछ जान गये ये ? धात्री एक दिन का भी धैर्य नहीं रख सकी क्या ? अब न जाने क्या-क्या सुनना पड़ेगा ? इतना निर्मम कार्य करने पर भी क्या मेरा भविष्य अन्धकार ही होगा?

मेरा कन्धा थपथपाते हुए वे शान्तिपूर्वक बोले, “कुन्ती, मथुरा से तुम्हारे पिता का आज ही पत्र आया है। उन्होंने तुम्हारे स्वयंवर का आयोजन करने का विचार किया है। उनकी बड़ी उत्कट इच्छा मालूम पड़ती है।”

मैंने मुक्ति की सांस ली। कुछ बोलना चाहिए, यह सोचकर मैंने कहा, “जैसी उनकी इच्छा और आपकी आज्ञा ।”

“मैं जानता हूँ, तुम्हें मथुरा की याद दुख देती थी। अब वह कुछ हलका हो जायेगा। तुम जल्दी ही अपने माता-पिता को देख सकोगी। आँखें पोंछो । दुखी मत हो।”

उनको कुछ भी पता नहीं था। वे क्या कह रहे थे, यह मेरी भी समझ में नहीं आ रहा था।

सत्रह

स्वयंवर की तैयारी प्रारम्भ हो गयी। पिताजी से मैंने यह कहा था—‘जैसी आपकी आज्ञा ।’ इससे वे यही मानकर चले कि मेरी सहमति है और वे आगे की सभी तैयारियाँ करने लगे। मेरा मन इधर-उधर भटकने लगा। जैसे कोई शिकारी मृगी का पीछा करता है, वैसे ही अनेक विचित्र विचार मेरा निरन्तर पीछा करने लगे।

जिस समय मैं स्वयंवर की माला हाथ में लेकर खड़ी होऊँगी, सम्भवतः उसी समय कोई भुजंग ऊपर के छिद्र से उस पेटिका में घुसकर मेरे लाल के गले को कुण्डली में कसकर बैठा रहे ! जिस समय मैं विवाह की वेदी पर खड़ी होऊँगी, ठीक उसी समय कहीं वह पेटिका नदी-तल के कीचड़ में न फँस जाये ! जिस समय वाद्यों के संगीत में मेरे सिर पर मंगल अक्षत पड़ रहे होंगे, कहीं उसी समय किसी पत्थर से टकराकर उस पेटिका का ढक्कन न खुल जाये ! कहीं अब तक खुले दिखाई पड़नेवाले मेरे लाल के तेजस्वी सुनहरे दीप को बुझाने के लिए आकाश में फिरनेवाले चील और गृध्रों ने झपट्टा मार-मारकर उसके सिर को लहू-लुहान न कर दिया हो ! मैं विवाह के मंगलसूचक वाद्य सुन रही होऊँगी, उधर मेरा लाल अट्टहास करती हुई लहरों का कर्कश मृत्यु-गीत सुन रहा होगा ! मेरा मन मछरे के जाल में फँसी हुई मछली की तरह छटपटाने लगा। मैं जितना अधिक विचार करती, वह उतना ही अधिक उलझता जाता। पलंग पर उपधान में मुँह छिपाकर मैं सिसकने लगी। उसका गोल मनोहर चेहरा, धुंधराले सुनहले बाल और कानों के सुकुमार कुण्डल दिन-भर लगातार मेरी आँखों के आगे नाचते रहते। प्राणों का हाहकार सुनकर मैं अपनी आँखें कसकर बन्द कर लेती।

अठारह

मेरे स्वयंवर का आमन्त्रण आस-पास के सभी मान्यवर राजाओं को भेज दिया गया। समस्त नगर में यही चर्चा हो रही थी। मुझको अपने भाग्य पर तरस आ रहा था। पृथा से मैं कुन्ती बनी थी, कुन्ती से माता बनी थी और अब फिर कुमारी बनकर मैं स्वयंवर के लिए तत्पर होनेवाली थी। संसार की किस स्त्री को विधाता ने मेरी तरह, निर्दयतापूर्वक मनचाहा नाच नचाया होगा ? लेकिन मेरे शब्दों का प्रत्युत्तर देनेवाला यहां कोई था क्या ? यह स्वयंवर मुझको नहीं चाहिए-यदि मैं चीखकर सबसे यह कह देती, तो अनवरत प्रश्नों की मार से सबने मुझको अधमरा कर दिया होता। स्त्री मानो समाज की पशुशाला में सामाजिक रूढ़ियों की रस्सी से बँधी हुई कोई गाय होती है। अनेक बातें उसकी इच्छा के विपरीत होती हैं, लेकिन वह मुक्त मन से कभी उनका उल्लेख नहीं कर पाती। मानो कोटि-कोटि दुखों को आकाश की तरह शान्त रहकर चुपचाप सहन करने के लिए ही उसका जन्म होता है।

स्वयंवर का दिन निकट आने लगा। सभी नगरजनों के उत्साह-समुद्र में जैसे ज्वार आ गया उनकी राजकुमारी का स्वयंवर था। विविध प्रकार के वैभव का प्रदर्शन उनको देखने को मिलनेवाला था। लेकिन मेरा अकेला मन देह के अँधेरे कक्ष में आँस बहाता रहता। मैं अपने लाल को एक बार भी तो दूध नहीं पिला सकी थी। अब कुन्ती दो जीवन बिताने लगी

—एक भीतर की कुन्ती का और एक बाहर की कुन्ती का। एक राजकुमारी का और एक भग्नहृदया माता का। इन दो कुन्तियों के बीच मेरे दयनीय प्राणों की दुर्दशा होने लगी। राजस्त्रियों के दुख भी राजभवन की तरह ही विशाल होते हैं और उनको कुल और प्रतिष्ठा की प्राचीरें सदैव घेरे रहती हैं।

उन्नीस

स्वप्न शायद स्मृति की सन्तान होती है। नित्य रात को मैं चित्र-विचित्र स्वप्न देखती। कभी स्वप्न में चण्डोल पक्षी का वह बच्चा अपनी चोंच फाड़कर दीन स्वर में चिल्लाता, तो कभी नदी किनारे देखी हुई वह सवत्सा गाय रँभाने लगती। उसका पुष्ट बछड़ा उसके पीछे झब्बेदार पूँछ उठाकर उछलता-कूदता दिखाई देता।

एक दिन तो स्वप्न में मैंने बड़ा भयानक दृश्य देखा। पानी में हिचकोले खाती हुई वह पेटिका नदी में एक पाषाणखड्ड में अटक गयी थी। भीतर बालक भूख से चीख रहा था। आगे बढ़कर स्नेह से उसको कोई उठा नहीं रहा था। लहरों से जब वह पेटिका हिलती तो बालक समझता कि कोई उसको उठाने के लिए आ गया है। हाथ-पैर मारकर किसी की गोद में जाने के लिए वह उत्कण्ठित हो जाता। लेकिन किसी ने भी उसको गोद में नहीं लिया। चिल्ला-चिल्लाकर वह थक गया। अन्त में भूख से व्याकुल होकर अपने नन्हे हाथ-पैर पटकते-पटकते उसको एक भयानक हिचकी आयी और वह सदा के लिए शान्त हो गया।...लेकिन वह शान्त नहीं हुआ था। थोड़ी देर बात उसका मृत शरीर धीरे-धीरे हिलने लगा-विचित्र ढंग से। क्षण प्रतिक्षण उसकी सुनहला अंग और अधिक सुनहला होता हुआ फूलने लगा। पेटिका का ढक्कन खटाक से उसने पैर से खोल दिया। बढ़ते-बढ़ते वह उस आकाश-पुरुष-जैसा विशाल हो गया। उसकी मुखमुद्रा क्रोध से तमतमा रही थी। कान के कुण्डल सन्तप्त हो गये थे। उसकी नीली आँखें क्रोध से लाल हो गयी थीं। अश्वनदी के विस्तृत जल पर अजस्र अपने पैर बढ़ाता हुआ वह दनादन मेरी ओर दौड़ता आ रहा था। अपनी मुट्ठी बाँधकर, क्रोध से होंठ चबाता हुआ वह कह रहा था, "माता के पवित्र नाते को पैरों तले रौंदनेवाली राक्षसी ! प्रतिष्ठा के रेशमी आवरण में छिपकर बैठनेवाली डाइन, ठहर!" उसने अपनी शक्तिशाली मुट्ठी मेरे सिर पर मारने के लिए ऊपर उठायी। मैं चीख उठी...."धात्री-!दौड़।"

धात्री शायद भवन के बाहर खड़ी थी। मेरी भयंकर चीख सुनकर वह दौड़ती हुई भीतर आयी। मेरे मुख का स्वेद पोंछती हुई वह घबराकर बोली, "राजकुमारी, कितनी डर गयी हैं आप ? कोई स्वप्न-वप्न देखा था क्या ?"

"धात्री, मेरा लाल...?" मैं कुछ भी नहीं कह सकी। यह दासी मेरी व्यथा कैसे जान पायेगी ?

"राजकुमारी, आपका लाल सुरक्षित है। आपके जागने की ही प्रतीक्षा कर रही थी।" मेरी पीठ पर हाथ फेरती हुई वह दबे हुए स्वर में बोली ।

मैं झटपट उठी और उसके कन्धे पकड़कर झकझोरती हुई आनन्द से चिल्लायी, "कहाँ है ? किसको मिल गया है वह ?"

उसने बाहर खड़े एक मछरे को भीतर बुलवाया। झुककर वह भवन में आया । मैंने उससे एकदम तीन-चार प्रश्न किये, "कहाँ गयी वह पेटिका ? किसको मिली ? जिसको मिली उसने शिशु को गोद में उठाया या नहीं ?"

"राजकुमारी, वह पेटिका अश्वनदी से चर्मण्वती में गयी। चर्मण्वती नदी से कनकपुर के पास वह यमुना में गयी। यमुना से प्रयाग के पास वह गंगा में गयी। फिर प्रयाग से पचास योजन दूर काशी राज्य के पास वह अंग देश की चम्पानगरी के पास पहुँची।"

"किसको मिली वह ?"

"दैवयोग बलवान् था। एक सारथी ने उसे जल से बाहर निकाला। तीन सौ योजनों की यात्रा करके पहुँची थी वह पेटिका ।"

"सारथी ?"

"जी हाँ, राजकुमारी ! उस सारथी की स्त्री ने उस बालक को गोद में ले लिया।उसको देखते ही उस स्त्री के आँचल में दूध आ गया। वह बालक सारथी की पर्णकुटी में सुरक्षित है । क्षमा करें राजकुमारी, लेकिन वह बालक किसका है ? किस पाषाण-हृदया माता ने उसको इस प्रकार मृत्यु के मुख में धेकल दिया था ?"

"वह बालक दुर्वासा ऋषि के महायज्ञ का है।" उसकी ओर अपने गले का मोतियों का हार फेंकती हुई मैं बोली, "किसी से कुछ भी मत कहना ।"

"गुरुदेव दुर्वासा !" भयभीत होकर अस्पष्ट-सा उद्गार निकालकर वह जल्दी-जल्दी हार लेकर चला गया।

मेरा मन शान्त हो गया। प्रसन्न होकर मैंने धात्री को आलिंगन में भर लिया। मेरी आँखों से बहनेवाली आँसुओं की धार उसकी कंचुकी भिगोने लगी। उसमें एक राजकुमारी की विवशता के, दुख के आँसू थे। उसमें अपने पुत्र की सुरक्षा के लिए छटपटानेवाली एक माता के आनन्द के आँसू थे।

कहीं भी हो, वह सुरक्षित था।

बीस

स्वयंवर का दिन आया। नगर आमन्त्रितों से भर गया। राजभवन के सामने खुले प्रांगण में एक विशाल मण्डप सजाया गया। पिताजी छोटे बालक की तरह उत्साह से यह देखते हुए कि कहाँ किस वस्तु की आवश्यकता है, पूरे मण्डप में घूमने लगे। नगरजन आकर भवन की सजावट करने लगे। नगाड़े, तन्तुवीणा, तुरई आदि बजने लगी। मगध, कोशल, मद्र, चेदि, विदेह, काशी आदि सभी देशों के राजेश्वर स्वयंवर के लिए आये। मथुरा से माताजी और पिताजी कन्यादान करने के लिए आये। भाई वसुदेव और श्रुतश्रवा नामक बहन आयी। मेरे मथुरा छोड़ आने के बाद माता-पिता ने वसुदेव को पुत्र मान लिया था। श्रुतश्रवा को मैं पहली बार ही देख रही थी। राजभवन में बहुत वर्षों बाद स्वयंवर का यह समारोह हो रहा था, इसलिए चारों ओर उत्साह ही उत्साह छाया हुआ था।

विवाह ! स्त्री की जीवन-सरिता एक सबल और पराक्रमी पुरुष के समुद्र से मिलती है, वह संस्मरणीय मोड़ ! एक स्त्री के खिले हुए सुगन्धित जीवन-पुष्प का ससुराल विविध-व्यक्तियों की माला में मधुर गुम्फन ! स्त्री के जीवन का पहला ही मंगलमय संस्कार ! आर्य स्त्री का पुनर्जन्म ।

स्वयंवर का समय हो गया । मण्डप नगरजन एवं आमन्त्रितों से खचाखच भर गया। पिताजी ने उठकर सबको सम्बोधित कर कहा, “आर्यावर्त के पराक्रमी राजराजेश्वरगण ! मथुरा के यादवराज शूरसेन की औरस कन्या पृथा, मेरी लड़की कुन्ती अब मण्डप में वरमाला लेकर आयेगी। आमन्त्रित जनों में से अनुरूप वर के गले में वह स्वेच्छा से वरमाला डालेगी। आप सब लोग इस स्वयंवर में आये हैं। यह देखकर मेरा मन हर्ष से फूला नहीं समा रहा है। एक भोजवंशीय राजा के रूप में मैं आपका स्वागत करता हूँ। इस स्वयंवर में कोई प्रण नहीं रखा गया है। मेरी कन्या की.....कुन्ती की स्वीकृति ही इस स्वयंवर का प्रण है।”

सबने खड़े होकर आदरपूर्वक पिताजी को अभिवादन किया। मण्डप में चारों ओर शान्ति छा गयी। हाथों में शुभ्र पुष्पों की वरमाला लेकर मैंने अमात्य के पीछे-पीछे मण्डप में प्रवेश किया। किसी ने पुकारकर कहा, “यादव कुलोत्पन्न मथुरादेशीय रूपसम्राज्ञीऽऽ राजकुमारी कुन्ती देवी !” सभी राजेश्वर उठकर क्षण-भर खड़े रहे। पिताजी ने हाथ ऊँचा किया। वे पुनः बैठ गये। मेरे सारे शरीर में विद्युत् की लहर-सी दौड़ गयी। आज मुझको अपने भावी जीवन-यात्रा के लिए एक योग्य सहयात्री चुनना था। मेरा आज का चुनाव ही मेरे भविष्य का निर्माता था ! अचानक कानों में हृदय की धड़कन सुनाई पड़ने लगी। वरमाला सँभालती हुई मैं अमात्य के पीछे-पीछे धीरे-धीरे पैर रखती हुई मण्डल में घूमने लगी। अमात्य प्रत्येक राजेश्वर का वर्णन सुना रहे थे। जितने विशेषण उनको ज्ञात थे, उन सबका प्रयोग वे कर रहे थे। मैं तिरछे कटाक्ष से प्रत्येक राजेश्वर को देखती जा रही थी। अस्वीकार करती हुई आगे

बढ़ रही थी। एक-एक करके बैठे हुए सभी राजेश्वरों के आसन समाप्त होने को आये। अन्त में एक ही नाम शेष रहा गया। मगध देश के शत्रुतापन महाराज दीर्घ ! अमात्य ने परिचय दिया । मैं अस्वीकृति की मुद्रा में आगे बढ़ गयी। सभी लोग कानाफूसी करने लगे। सन्ध्याकालीन लम्बी सुनहली किरणें मण्डप में फैलने लगीं। अमात्य ने भयभीत स्वर में मेरे कानों में कहा, “राजकुमारी, अब यह मण्डप युद्धक्षेत्र बन जायेगा। आपको किसी न किसी का चयन अवश्य कर लेना था। यह क्या किया ?”

कुछ कहने के लिए पिताजी खड़े हुए। इतने में ही मण्डप के पश्चिमी भाग में कुछ कोलाहल-सा हुआ। नगरजन झटपट एक ओर हटने लगे। उनके पीछे हजारों अश्वारोही भवन के महाद्वार से भीतर घुसे। किसी ने पुकारकर कहा, “हस्तिनापुराधिपति कौरवराज महाराज पाण्डुऽऽ !” हाथ की माला सँभालकर मैं पश्चिम की ओर देखने लगी। एक लम्बी, गौरवर्ण, हृष्ट-पुष्ट आकृति मण्डप में आगे बढ़ती आ रही थी। अस्त होते हुए सूर्यदेव की किरणें पीछे से उस आकृति पर पड़ रही थीं। आकृति का चेहरा भरा हुआ एवं गोल था। मानो सूर्यदेव ही स्वयंवर में कुन्ती की लाज रखने के लिए आ रहे थे। उस आकृति ने जैसे ही मण्डप में प्रवेश किया, मैं आगे बढ़ी। अपने हाथों की वरमाला मैंने उस पुरुष श्रेष्ठ के गले में डाल दी। चारों ओर तालियाँ बज उठीं। कोई आनन्द से चिल्लाया, “हस्तिनापुर कौरव कुलभूषण महारानी कुन्तीदेवी की ऽऽऽ।” सभी ने उसका उत्तर दिया, “जय हो !”

मैं राजकुमारी कुन्ती से महारानी कुन्ती हो गयी। मेरा मन आनन्द-सिन्धु में डुबकी लगाने लगा। समस्त आर्यावर्त पर जिसके पराक्रम की पताका फहरा रही थी, ऐसे कुरुकुल की मैं महारानी बन गयी। महाराज के साथ मैंने आशीर्वाद लेने के लिए पिताजी को नमस्कार किया। उन्होंने हर्षाभिभूत होकर आशीर्वाद दिया, “कुरुकुल की दिगन्तव्यापी कीर्ति तुम्हारे कारण स्वर्गलोक तक पहुँचे।” आज तक जो अनपेक्षित घटनाएँ घटी थीं, उन सबमें यही एक घटना ऐसी थी जो मुझको धीर बँधा सकती थी, मेरी इच्छानुसार घटी थी।

मैं निश्चिन्त हो गयी।

इक्कीस

आठ दिन बाद महाराज के साथ हस्तिनापुर जाने के लिए मैं रथ में बैठी। सभी नगरजन मुझको विदाई देने आये थे। पिताजी उत्तरीय से आँखें पोंछ रहे थे। मैंने वसुदेव से तथा अन्य सबसे विदा ली। महारानी कुन्ती के रूप में हस्तिनापुर चल दी। नगर की एक ही महत्त्वपूर्ण स्त्री मैंने अपने साथ ली थी और वह थी धात्री। मेरा मन अनेक प्रकार की मिश्रित भावनाओं से भर आया। मेरी स्मृतियों की अल्पना से अपनी देह को सजानेवाले उस नगर

को अभिवादन कर मैंने उससे विदा ली। रथ हस्तिनापुर की ओर दौड़ने लगा। नगर की सीमाएँ पीछे छूटने लगीं। अन्त में अश्वनदी का पात्र आया। उस पात्र को देखते ही विवाह के पूर्व की स्मृतियाँ मेरे मन में धधक उठीं। जैसे आग की एक चिनगारी से भीषण आग धधक उठती है। उसकी लहर-लहर पर मुझको वे दो सुनहले कुण्डल दिखाई पड़ने लगे। दो सुकुमार हाथ दिखाई देने लगे। जिन हाथों को राजदण्ड पकड़ना था, वे ही अब प्रतोद और घोड़े की वल्गा पकड़ेंगे। विधाता भी कितना क्रूर है ! वह मुझको मथुरा से इस नगर में ले आया था। इन नगर में रहते हुए मेरे जीवन में कोई दुख नहीं था, यह उससे देखा नहीं गया। उसने हिमालय से दुर्वासा को यहाँ भेज दिया। अब मैं हस्तिनापुर जा रही थी। लेकिन मेरा वह तेजस्वी लाल चम्पानगरी में था। एक सारथी की पर्णकुटी में। उसकी स्मृति के रूप में मैंने अश्वनदी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। राजकुमारी कुन्ती कौरवों की महारानी बनकर जा रही थी। स्त्री का जीवन अर्थात् अनेक उलट-फेर। कभी वह किसी की कन्या, किसी की पत्नी, किसी की माता होती है तो कभी वह किसी की बहू, किसी की भाभी होती है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कभी होता ही नहीं। होता भी है तो वह दिखाया नहीं जा सकता।

बाईस

हम हस्तिनापुर आये। यह महारानी शकुन्तला, सुवर्णा, यशोधरा, तपती, शुभांगी, सम्प्रिया, अमृता, सुयशा, सत्यवती आदि महारानियों का नगर था। एक से एक सरस महारानियों ने कुरुकुल की कीर्ति आर्यावर्त में फैलायी थी। नगर में प्रवेश करते ही मैं अवाक् हो गयी। हजारों नगरजन अपनी महारानी का स्वागत करने के लिए गंगा के पवित्र तीर पर एकत्रित थे। आनन्द से मत्त होकर वे नारे लगा रहे थे। फूल बरसा रहे थे। बाजे बजा रहे थे। गंगा की हर लहर आनन्द से नृत्य करती हुई कुरुवंश की वधू का स्वागत कर रही थी। यही गंगा चम्पानगरी में मेरे पुत्र का लालन-पालन करनेवाली थी। इसलिए मैंने उसको झुककर प्रणाम किया।

धूमधाम से हम लोग राजभवन पहुँचे। महाद्वार पर राजमाता ने मेरी आरती उतारी। समीप ही पितृतुल्य पूज्य महाराज भीष्म और धृतराष्ट्र खड़े थे। श्रद्धापूर्वक मैंने उन सबको प्रणाम किया। मुझको आशीर्वाद देते हुए विदुर बोले, “बेटी, आज राजा शूरसेन से इस कुल का नाता जुड़ गया, भविष्य की दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ।” कौरवों के अतुल पुरुषार्थ की साक्षी देनेवाले उस राजभवन में केवल बीस वर्ष की अवस्था में मैंने महारानी बनकर

पदार्पण किया। मन पंख की तरह हलका हो गया, सुख के अमृतघन मेरे सिर पर असंख्य धाराएँ बरसाने लगे।

तेईस

हस्तिनापुर में मेरे दिन बड़े आनन्द से बीत रहे थे। दिन कब निकलता था और कब अस्त होता था, इसका भी मुझको पता नहीं चलता था। धात्री प्रतिदिन पराक्रमी पूर्वजों की भिन्न-भिन्न कथाएँ सुनाती थी। बचपन में तितली के पीछे दौड़नेवाली पृथा मेरे मानस-पटल से अदृश्य होने लगी। भोजपुर में दीवार पर सिर पटकनेवाली विवश कुन्ती अदृश्य होने लगी। सचमुच विस्मृति मनुष्य के जीवन की कितनी प्रभावशाली शक्ति है ! दैनिक जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटा करती हैं, जो सबकी सब मनुष्य के मन में यदि बची रहें तो उनका परस्पर सम्बन्ध जोड़ते-जोड़ते मनुष्य का मस्तिष्क फट जायेगा। वह पागल हो जायेगा। शायद इसीलिए प्रकृति ने विस्मृति की यह अमूल्य निधि मनुष्य को दी है।

मेरी समस्त पूर्व-स्मृतियाँ अब धीरे-धीरे अदृश्य होने लगीं। मेरा मन धीरे-धीरे मनोरथ की सुइयों से महारानी कुन्ती के जीवन का राजवस्त्र सीने लगा । मैं अपने भाग्य से स्वयं ही सन्तुष्ट होने लगी। अब मेरे लिए किस वस्तु की कमी थी ! मान-सम्मान, सम्पत्ति, कीर्ति, प्रतिष्ठा सब कुछ मेरे पैरों पर लोट रहा था। महाराज-जैसा प्रेमी, पराक्रमी और सुन्दर पति था। प्रतिदिन दर्पण में देखकर केश-भूषा करवाते समय मैं अपने ही प्रतिबिम्ब से कहती, "कौन है, तू ? महारानी कुन्ती की ओर इस प्रकार टकटकी बाँधकर क्या देख रही है ? तेरी दृष्टि लग न जाये उसको।" फिर भी वह हँसती हुई मेरी ओर ही देखती रहती। बनावटी क्रोध से मैं शीशी में रखा मुखचूर्ण उस बिम्ब पर फेंकती ! चूर्ण सारे दर्पण पर फैल जाता । प्रतिबिम्ब अदृश्य हो जाता। मैं एक गोल चक्कर लगाती और महल के गवाक्ष में जाकर खड़ी हो जाती। वहाँ से गंगा का विशाल पात्र दिखाई देता। गंगा पर असंख्य कारण्डव पक्षियों को स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ते देखकर मेरे मन में विचार आता कि जीवन भी मधुर हिचकोले देनेवाला एक झूला जैसा ही है।

एक बार मैं गंगा की ओर एकटक देखती हुई खड़ी थी। पीछे से आकर किसी ने एकदम मेरी आँखें बन्द कर दीं। मैं चौंक पड़ी। आँखों पर हाथों की पकड़ और अधिक कसती गयी। वे महाराज थे। मैं लज्जा से लाल हो गयी। मुझको पास खींचते हुए वे बोले, "कुन्ती, पुरुष जब पराक्रम करने लगते हैं, तो पराक्रम की एक माला ही तैयार हो जाती है। मैंने तुमको पाया अवश्य लेकिन राजा की दो स्त्रियाँ होती हैं। एक उसकी पत्नी और दूसरी उसकी जीती हुई धरती। धरती के बिना राजा ऐसा ही है, जैसा कि अयालों के बिना सिंह।"

मैं सिर झुकाकर सुन रही थी। उनके उस एक ही हलके-से स्पर्श में कैसा जादू था। मेरे शरीर का मयूर पंख फैलाकर नाचने लगा। अपनी उँगलियों से मेरी हनु ऊपर उठाते हुए वे प्रेमपूर्वक मुझसे बोले, “यह राज्य पूर्वजों का है। मैं स्वयं जीते हुए राज्य से इसको और समृद्ध करूँगा। कल ही मैं दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ।”

दिग्विजय ! दिग्विजय का अर्थ है—निरन्तर युद्ध। एक के बाद एक नये सशक्त राज्य से युद्ध । जीवन-मरण का खेल । अपने हाथों में मैंने उनका हाथ कसकर पकड़ लिया। उससे उन्होंने मेरे भय का अनुमान लगा लिया । मेरी आँखों में झाँकते हुए वे बोले, “कुन्ती, घबराओ मत । यह कुरुओं का रक्त है। इसका पराजय से परिचय नहीं है। मैं जल्दी ही लौटकर आऊँगा।” उनकी आँखों से आत्मविश्वास की चिनगारियाँ बाहर निकलने लगीं। अपनी सशक्त भुजाओं से उन्होंने मुझको अपने और समीप खींच लिया। अपने उत्तप्त होंठ उन्होंने मेरे अधरों पर रख दिये। गंगा से आनेवाले ठण्डी हवा के झोके दो प्रेमियों के तप्त शरीरों को शीतल करने का असफल प्रयत्न करने लगे।

चौबीस

दूसरे दिन कुरुओं की विशाल निर्भीक सेना दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने हेतु सज्जित हो गयी। महाराज लौहत्राण धारण कर, योद्धा का वेष पहन, समस्त सेना के आगे खड़े होने के लिए राजभवन से बाहर निकलने लगे। सभी गुरुजनों ने उनको शुभाशीर्वाद दिये। अन्त में राजमाता ने उनको आशीर्वाद देते हुए कहा, “पाण्डु, समय-समय पर दूत द्वारा अपना कुशल-समाचार भिजवाते रहना। सँभलकर जाना ।”

मैंने आगे बढ़कर उनके भाल पर केशर-तिलक लगाया। झुककर उनके चरण स्पर्श करती हुई मैं धीरे से बोली, “आते समय एकाध अच्छी पत्नी भी लाना ।

मेरे ऊपर उठते ही उन्होंने आश्चर्य से पूछा, “पत्नी ?”

“हाँ, राजा की दो स्त्रियाँ होती हैं। एक उसकी पत्नी और दूसरी उसकी प्राप्त की हुई धरती।”

“ठीक है।” कहते हुए वे मुड़े और सेना के अग्रभाग में खड़े हुए एक श्वेतशुभ्र अश्व पर आरूढ़ हो गये। उनके संकेत करते ही कुरुओं की सेना चल पड़ी। त्रिकोणी भगवाध्वज कपोत के पंखों की तरह लहराता हुआ पूर्व दिशा की ओर चला गया। मेरा मन अभिमान से भर उठा।

पचीस

दूत प्रतिदिन सन्देश लेकर आ रहा था। एक के बाद एक राज्य जीतती हुई कौरवों की विजयी सेना रत्न, मोती, मणि, सोना, वैदूर्य, माणिक्य, रूप्य, गाय, घोड़े आदि करस्वरूप प्राप्त करती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। दशार्ण, मगध, मिथिला, विदेह, काशी, सुह्य, पुण्ड्र आदि सभी देश कौरवों के आगे पराजय स्वीकार कर रहे थे। सेना को बाहर निकले अब चार मास हो चुके थे। ये चार मास मुझको चार युगों की तरह लगे। युद्ध में जानेवाले विजयी वीर की पत्नी की मनोदशा क्या होती है, यह वीर की पत्नी ही जान सकती है।

चार मास बाद सन्देश आया कि सर्वत्र यशस्वी होकर महाराज लौट रहे हैं। सारे नगर में उत्सुकता व्याप्त हो गयी। महाराज भरत के उपरान्त दीर्घकाल तक ऐसी दिग्विजय किसी ने नहीं की थी। मेरा मस्तक अभिमान से उन्नत हो गया। पिताजी ने एक बार कहा था, “वीरों को विजय की मस्ती में जीना चाहिए।” मेरा मन मुझसे कहने लगा-यह मस्ती सांसारिक होती है। कभी-कभी वह वीर-पत्नी पर भी चढ़ती है। अब मैं दिग्विजयी महाराज पाण्डु की लाड़ली पत्नी कुन्ती थी। महारानियों की महारानी। किसी ने सच ही कहा है कि मनुष्य के भाग्य का समुद्र कभी-कभी ऐसा फेनिल हो उठता है मानो ज्वार आ गया हो।

कर-भार से लदी हुई सैकड़ों गाड़ियाँ एक के बाद एक आकर राजभवन के सामने खड़ी होने लगीं। उनके पीछे विजयी कौरव सेना नगर में घुसी। अन्त में अम्बारी में बैठकर महाराज आये। उनकी छाती उन्नत थी। परन्तु....परन्तु उनकी बायीं ओर एक सुन्दर स्त्री बैठी हुई थी। कौन थी वह ? महाराज के पास बैठने का साहस उसने कैसे किया ? शंका की जोंक मेरे स्त्री-मन में आ चिपकी।

अम्बारी महाद्वार पर आयी। सदैव की भाँति मैं आगे बढ़ी, लेकिन मेरा सारा ध्यान उस स्त्री की ओर था। वह सुन्दर थी। महाराज की ओर देखकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। मेरे संयम के बाँध टूटने लगे। अन्त में स्वयं महाराज ही बोले, “कुन्ती, जाते समय तुमने पत्नी लाने के लिए कहा था न ? यह शल्य की भगिनी माद्री है। देखो तो तुमसे कितनी अधिक सुन्दर है !”

आह, तो महाराज ने मेरे शब्दों से मुझे ही बाँध दिया। पुरुष कोई बहाना मिलते ही कब मनमानी कर लेंगे, यह कोई स्त्री नहीं बता सकती। और इस राजभवन की तो यह परम्परा ही थी।

रात को सेनापति ने मुझको बताया कि मद्रदेश के महाराज शल्य, पितामह की सहमति से, अपनी बहन के लिए विजयी महाराज से पहले ही मिल चुके थे। वैभवशाली कुरुवंश से अपना रक्त-सम्बन्ध स्थापित करने के विचार से महाराज से उन्होंने अपनी बहन माद्री के

विषय में स्वीकृति चाही। महाराज ने भी माद्री के सौन्दर्य को देखकर अपनी स्वीकृति दे दी। आते समय वे उसको साथ ही ले आये।

अब नगर में दो महारानियाँ हो गयी थीं-एक कुन्ती और दूसरी माद्री ।

उस रात सोते समय मैंने विचार किया कि अति सुख भी अच्छा नहीं होता। कोई छोटा बालक अतिशय सुन्दर होता है तो समझदार माताएँ उसके गाल पर डिठौना लगा देती हैं। सुख के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसमें भी कोई न कोई भागीदार अवश्य होना चाहिए। कहीं डिठौना होना ही चाहिए। अच्छा हुआ जो महारानी माद्री आ गयी। अब यह कुन्ती मात्र स्त्री के रूप में भी जीने के लिए कुछ अवकाश पा सकेगी। महारानी के कर्तव्यों की आधी धुरी अब माद्री सँभालेगी। मुझसे भी अधिक सुन्दर होने के कारण महाराज को प्रसन्न रखेगी।

आखिर जीवन भी तो एक समझौता ही है।

छब्बीस

महारानी माद्री मेरी सौत बनकर आयी अवश्य, लेकिन हमने आपस में एक-दूसरे से द्वेष कभी नहीं किया। क्योंकि द्वेष दुधारी तलवार-जैसा होता है। वह करनेवाले के लिए और जिससे किया जाता है उसके लिए दोनों के लिए ही संहारक होता है। हम आपस में प्रेमपूर्ण व्यावहार करने लगी, क्योंकि प्रेम मनुष्य के मन का एकमात्र ऐसा आविष्कार है जो सबको सर्वाधिक अच्छा लगता है। एक-दूसरे को समझकर हम अपना जीवन बिताने लगीं।

जिस प्रेम से सबने मेरा स्वागत किया था, उसी प्रेम से सबने माद्री का भी स्वागत किया। दो महारानियों के बीच महाराज ऐसे दिखाई देने लगे जैसे दो तारिकाओं के बीच चन्द्र। मुझको भी सुख-दुख की बातें करने के लिए एक अच्छी सखी मिल गयीं। जीवन कभी-कभी मनुष्य से सुख की होली खेलता है। वह इतने रंग बिखेरता है कि उससे प्राण घबरा जाते हैं। हाथ उठाकर यह कहने की इच्छा होती है कि सुख बहुत बिखर चुका है, उसको अब मत उलीचो। मेरी भी यही दशा हो गयी थी। महाराज की अनुपस्थिति में घण्टों मैं माद्री से गप्पें मारती रहती। उसकी बातें सुनने योग्य होतीं। उसकी आवाज़ इतनी मधुर थी जैसे बाँसुरी के मंजुल स्वर हों।

हम दोनों एक बार बातों में डूबी हुई थीं। वह अपने भाई शल्य के प्रभावशाली वाक्चातुर्य के सम्बन्ध में मुझको बता रही थी। अपनी वाक् प्रतिभा से उसने महाराज का मन तत्क्षण कैसे मोह लिया था, यह कहती हुई वह सिर झुकाये मन ही मन हँस रही थी। महाराज हमारे पीछे आकर कब खड़े हो गये थे, इसका हमको पता भी नहीं चला था। धीरे से आगे बढ़कर

हमारे कन्धों पर हाथ रखते हुए वे हँसकर बोले, “तो यह भी सच है कि कभी-कभी एक ही म्यान में दो तलवारें भी रहती हैं !”

हम लोग सँभलकर उठीं। मैं धीरे से बोली, “स्त्री तलवार होती है यह किसने कहा है ?” माद्री ने भी मेरा समर्थन किया। वह बोली, “और पुरुष म्यान होता है, यह भी कहाँ सच है !”

महाराज को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, “दोनों मिलकर फिर हमको बताओ न कि स्त्री क्या है और पुरुष क्या है ?”

मैं बोली, “पुरुष एक देह है और....”

“और स्त्री है उसकी छाया। कभी-कभी दोनों ओर से जब प्रकाश आता है, तब-तब देह की दो-दो परछाइयाँ पड़ती हैं। हम दोनों आपकी वैसी ही परछाइयाँ हैं। माद्री ने मेरा अधूरा वाक्य पूरा किया। मैं विस्मय से उसकी ओर देखती रही।

माद्री के उत्तर से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों हाथों से हम दोनों को एकदम छाती के पास खींच लिया। प्रसन्नता से हँसते हुए वे बोले, “जब मैं इस नगर का राजा हुआ, या जब दिग्विजयी सम्राट् हुआ तब भी, मुझको इतना आनन्द नहीं हुआ था, - जितना कि आज हुआ है। और राजा जब आनन्दित होता है, तब क्या करता है-जानती हैं आप दोनों ?”

“दीन-दुर्बलों को धन देता है।” मैं बोली।

“नगर में एकाध धर्मशाला बनवाता है। या कोई मार्ग तैयार करवाता है।” माद्री बोली।

“नहीं जी, राजा सन्तुष्ट होने पर एक ही काम करता है-मृगया। आज हम वारणावत के अरण्य में मृगया करने जायेंगे।”

उन्होंने एक सेवक द्वारा सेनापति को सन्देश भी भिजवा दिया। मृगया की तैयारी होने लगी। महाराज जल्दी-जल्दी महल से बाहर जाने लगे। द्वार से बाहर निकलते समय उनके सिर पर रखा हुआ सुवर्ण मुकुट द्वार पर टँगे हुए परदे के एक रेशमी धागे में अटक गया और नीचे गिर पड़ा। मेरे मन में भय की छिपकली चुकचुक कर उठी। आगे बढ़कर तत्परता से मुकुट उठाती हुई मैं बोली, “महाराज, आज न जायें-क्या ऐसा नहीं हो सकता ?”

“कुन्ती ! 'भीति' स्त्रियों का स्वभाव है, लेकिन 'निश्चय' पुरुषों का स्वभाव। मैं अवश्य जाऊँगा। घबराओ मत। मैं युद्ध के लिए नहीं जा रहा हूँ। केवल मृगया करने ही तो जा रहा हूँ।”

मस्तक पर मुकुट रखकर जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए वे चले गये।

सत्ताईस

दो दिन बाद ही महाराज वारणावत से लौट आये। वे अपने साथ मृगया करके कुछ भी नहीं लाये थे। इसके विपरीत उनकी सदा प्रसन्न रहनेवाली मुद्रा उदास और मलिन हो रही थी। हो सकता है कि अरण्य में भटकने के कारण ऐसी हो गयी हो। हमको देखते ही वे प्रसन्न हो जायेंगे, यह सोचकर मैं और माद्री-हम दोनों हँसती हुई उनके सामने गयीं। लेकिन उन्होंने हमारी ओर देखा तक नहीं। सिर झुकाये हुए वे सीधे अपने भवन की ओर गये। उन्होंने तुरन्त ही भवन का द्वार भीतर से बन्द कर लिया। बिना कुछ खाये-पीये चार दिन तक वे उसके भीतर ही रहे। बार-बार खटखटाने पर भी महल का द्वार खुलता ही न था। सन्देह के अनेक बिच्छू हम दोनों के मन को डंक मारने लगे। अन्त में विवश होकर हम राजमाता के पास गयीं। यह सब सुनकर उनकी मुद्रा भी चिन्ताग्रस्त हो गयी। तत्क्षण वे हमारे साथ आयीं। उन्होंने बाहर से द्वार खटखटाया। भीतर से कुछ कठोर और चिड़चिड़े स्वर आये, “कौन है यह ?”

“मैं अम्बालिका हूँ। तुम्हारी माता। द्वार तो खोलो।” राजमाता ने दृढ़ स्वर कहा।

तत्क्षण भवन का द्वार खुला। इन चार दिनों में ही महाराज कितने बदल गये थे ! उन्होंने देह पर से राजवस्त्र उतारकर रख दिया था। सारी देह पर वे केवल श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे। सिर पर मुकुट नहीं था। आकाश में उड़ान भरनेवाली उनकी सशक्त दृष्टि धरती पर केन्द्रित थी। मेरे सामने दिग्विजयी सम्राट् खड़ा था या एक भिक्षु-यही मेरी समझ में नहीं आया।

राजमाता ने पूछा, “पाण्डु, सुनते हैं तुमने चार दिनों से कुछ नहीं खाया। राजा होने का क्या यह अर्थ है कि जैसा चाहे आचरण करो ? इन दो लड़कियों का विचार किया होता ?”

आगे बढ़कर माता को झुककर नमस्कार करते हुए महाराज बोले, “राजा होने के कारण मैं मनमाना आचरण करूँगा, तुम भी यही समझती हो क्या ? अब भविष्य में मुझको जो जीवन बिताना है, उसका अभ्यास कर रहा हूँ मैं। उसी के अनुरूप आचरण कर रहा हूँ।”

“कैसा जीवन ?”

“संन्यासी का ।” सिर झुकाते हुए वे बोले ।

“पाण्डु, होश में तो हो न ? तुम कुरुवंश के सुपुत्र हो। दिग्विजयी सम्राट् हो-पर्णकुटी में रहनेवाले भिक्षुक नहीं। यह शिक्षा किसने दी है तुमको ?” राजमाता ऐसे चिल्लायाँ मानो बिजली गिरी हो।

मुझपर तो जैसे आकाश टूट पड़ा।

"भाग्य ने, माता ! अब मैं कुरुकुल का सूर्यपुत्र नहीं हूँ। दिग्विजयी सम्राट् नहीं हूँ। किसी का न पति हूँ, न बन्धु । मैं केवल भाग्य के हाथ का एक खिलौना हूँ।" उन्होंने दोनों हाथों से अपना मुँह ढक लिया। जो अधर सेवकों को आज्ञा दिया करते थे, वे बुरी तरह काँपने लगे।

"भाग्य की तुमको आज ही इतनी याद क्यों आ रही है ? भाग्य की ढाल आगे करके कायर की तरह अपना बचाव मत करो, पाण्डु ! जब तुमको यही करना था तो तुमने इन दो सुन्दर लड़कियों से विवाह क्यों किया ? स्त्री को क्या तुमने जूती समझ लिया है, कि जी चाहे जब पहन ली और चाहे जब उताकर फेंक दी ?" कचछ कठोर किन्तु भीतर ही भीतर चिन्तित स्वर में राजमाता बोलीं।

"नहीं, माता ! जननी होकर भी तुम पाण्डु को पहचान नहीं सकी हो। एक महाभयानक शाप की अग्नि में मेरे जीवन का उत्साह-उमंग भरा सुकोमल अंकुर जलकर राख हो गया है।"

"शाप !"

वे दो शब्द हमारे कानों में ऐसे घुसे जैसे बाँबी में विषधर नाग घुसते हैं। मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। माद्री तो धम से नीचे बैठ गयी।

राजमाता ने आगे बढ़कर महाराज के कन्धे झकझोरते हुए व्याकुल होकर पूछा, "शाप ? कैसा शाप, पाण्डु ! कैसा शाप ? किसका ? किसने दिया ?"

निर्विकार भाव से शान्त स्वर में महाराज कहने लगे, "परसीं वारणावत के अरण्य में मैं मृगया के लिए गया था, लेकिन दैव ने उलटी मेरी ही क्रूर मृगया कर ली। हरिणी के साथ क्रीड़ा करते हुए एक मृग पर मैंने बाण छोड़ा। बाण मर्मस्थल पर लगने के कारण वह मृग नीचे गिर पड़ा। लेकिन वह मृग की तरह चीत्कार नहीं कर रहा था। मानव की तरह छटपटा रहा था। हमारे पास पहुँचने पर वह अपने पैर ज़ोर से पटकने लगा। अपने तप की शक्ति से एक मृग का रूप धारण कर अपनी प्रेयसी के साथ उस रमणीय वन में रमण करनेवाला वह 'किंदम' ऋषि था। अपनी मृग-देह छोड़ते समय उसने व्याकुल होकर आक्रोश करते हुए मुझको शाप दिया, "उन्मत्त होकर आज तूने एक प्रणयमग्न प्रेमी को अपनी प्रेयसी से अलग कर मृत्यु के जबड़ों में धकेल दिया है, इसलिए मैं किंदम ऋषि तुझको शाप देता हूँ कि तू भी प्रणयाराधन की आशा से जब अपनी स्त्री को आलिंगन-पाश में बाँधेगा, तब मेरी तरह ही तत्काल तड़प-तड़पकर मर जायेगा।"

दोनों हाथों में मुँह छिपाकर कुरुओं का दिग्विजयी सम्राट् बालक की तरह सिसकने लगे। उन्होंने तत्क्षण भवन का द्वार बन्द कर लिया। राजमाता द्वार को हाथ से पीटती हुई सिसकियाँ भरने लगीं। माद्री घुटनों में सिर छिपाकर अश्रु बहाने लगी। मैं पत्थर की मूर्ति जैसी जड़ हो गयी। खेद, दुख, यातना—इन सबसे परे-सुन्न !

अट्टाईस

रात को महाराज ने मुझको बुलवाया।

गवाक्ष से गंगा के शान्त जल की ओर एकटक देखते हुए वे कहने लगे, “कुन्ती ! मैं अब राजभवन छोड़ दूंगा। जहाँ वैभव क्रीड़ा करता है, वहाँ संयम का निवास नहीं होता। मनुष्य को सबसे अधिक प्रिय अपना जीवन होता है। यहाँ रहकर मैं निश्चय ही संयम का पालन नहीं कर पाऊँगा। न जीवन का रक्षण ही कर पाऊँगा। इसलिए मैं कल राजभवन छोड़कर नागशत पर्वत पर जा रहा हूँ।”

“लेकिन महाराज....” मेरा हृदय काँप उठा।

“कुन्ती ! मैं जानता हूँ कि तुमको मैं कुछ भी नहीं दे सका। सुख के हिमालय से विधाता ने आज तुमको वास्तविकता की गहरी खाई में धकेल दिया है। तुम यहाँ रहकर मेरी स्मृति में आँसू बहाती रहो, यह मुझको बिलकुल अच्छा नहीं लगेगा। तुम अपने पीहर लौट जाओ। माद्री से भी यही समझाकर कह दो।”

“महाराज, मैं जो कहना चाहती हूँ....वह तो सुन लीजिए....।”

“कुन्ती, विशाल वृक्ष पर निश्चिन्त होकर आश्रित रहनेवाली लताएँ बिजली के एक ही धक्के से धड़ाम से नीचे गिर पड़ती हैं। इस क्रूर शाप से तुम दोनों की भी यही दशा हो गयी है। मनुष्य के सम्बन्ध में विधि का विधान चूहे के साथ क्रूर खेल खेलनेवाली निर्दयी बिल्ली जैसा है। अब जाओ।”

“महाराज, मैं क्या कह रही हूँ, यह आपको सुनना ही पड़ेगा। देह को छोड़कर छाया दूर नहीं रह सकती। पति के बिना आर्यस्त्रियाँ क्षण-भर भी जीवित नहीं रह सकतीं। हम दोनों ने कल रात ही आपके साथ चलने का निर्णय कर लिया है।”

“दैव के साथ द्यूत खेलने का असफल प्रयत्न मत करो, कुन्ती ! विषयों के सम्बन्ध में मन पर संयम रखना उतना ही असम्भव है जितना कि आकाश के असीम खोखलेपन को सिन्दूर की डिबिया में भरने का प्रयत्न करना।”

“महाराज, सम्बन्धों के जाल में हमारी मछली फँसती है या नहीं यह सोचकर ही यदि काल हमपर घात लगाये बैठा है, तो मैं भी उसको यह दिखा दूंगी कि मथुरा के राजा शूरसेन की कन्या हूँ मैं! मैं, कुन्ती प्रतिज्ञा करती हूँ कि...आज से आप मेरे पति न होकर पुत्र....पुत्र है ! इसके अतिरिक्त अन्य किसी सम्बन्ध को मैं मन में आने ही न दूंगी ! लेकिन पुत्र के बिना भी तो माता जीवित नहीं रह सकती है। आपको मुझको तो अपने साथ लेना ही पड़ेगा । मैं रुक नहीं सकती।”

"कुन्ती, भावुक मत बनी।"

"यदि यह भी नहीं हो सकता हो तो...तो फिर आप मुझको गंगा में धकेलकर ही जा सकेंगे।"

"कुन्ती....कुन्ती, सचमुच तुम्हारे मन के सामने आकाश भी लज्जित हो जायेगा, परन्तु काल ने तुम जैसा रत्न इस अभागे पांडु के शापभ्रष्ट मुकुट में क्यों जड़ दिया है, भगवान ही जानें !" ये थर थर काँपते हुए सिसकने लगे।

"कुरुकुल के सुपुत्र को रोना शोभा नहीं देता महाराज ! उसके पैर इतने मूल्यवान हैं कि साक्षात् देव भी उनका स्पर्श कर धन्य हो जायेगा।" मैंने दृढ़तापूर्वक उनसे कहा ।

सम्भवतः उनका शोक कुछ कम हुआ ।

उस भयानक शाप ने समस्त राजभवन की शोभा को क्षण-भर में नष्ट कर दिया था।

चार दिन तक भली प्रकार विचार करने के बाद ही महाराज ने राजभवन छोड़ने का निर्णय किया था। यह उचित था या नहीं, यह बताना कठिन है। वह एक ही बात कहते थे। वैभव-सम्पन्न राजभवन में सदैव भीतर ही भीतर कुढ़ते रहने और जलते रहने से अरण्य में रहना क्या बुरा है ? इसके अतिरिक्त, वैभव मनुष्य को भोगी बनाता है। मनुष्य सम्पत्ति, कीर्ति, प्रतिष्ठा-सबसे एक बार द्यूत खेल सकता है, परन्तु अपने प्राणों से वह कभी भी द्यूत नहीं खेल सकता।

संयम के लिए उनको वनवास ही उचित लगा। इससे मैं भी सहमत थी। वैभव की फिसलन-भरी कामभूमि पर किसी का भी पैर फिसल सकता है। संयम के लिए जिस गम्भीरता की आवश्यकता होती है, वह हमको वन में ही मिल सकती थी। हम तीनों ने ही वन जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

उन्तीस

हमने राजवस्त्र उतार दिये। देह पर जो आभूषण थे, वे राजमाता को दे दिये। हम जा रहे हैं—यह बात न जाने कैसे हवा की तरह नगर में पहुँच गयी। लोग राजभवन के द्वार पर भीड़ लगाने लगे। हम जायेंगे-इस विचार मात्र से ही महाराज भीष्म और धृतराष्ट्र दुख के समुद्र में डूब गये। उन पराक्रमी पुरुषों की निग्रही आँखों में भी आँसू छलछला आये। देवर विदुरजी अनेक प्रकार से महाराज को समझाने लगे। परन्तु महाराज का उनको एक ही उत्तर था—राजभवन और वैराग्य, ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। हाल में ही दिग्विजय का डंका बजाकर आनेवाला सबका प्रिय राजा योगी होकर वन में रहने चल दिया। जिन हाथों को

कौरवों का राजदण्ड पकड़ना था, उन्हीं हाथों से अब कमण्डलु पकड़ना था ! जिस मुख ने विजयी सेना को 'मारो-काटो' के उत्साहवर्द्धक शब्द सुनाये थे, उसी मुख, को अब जीवन-भर प्राणों की मुक्ति के लिए श्लोकों का पाठ करना था। आश्चर्य के आघात लगाने की जितनी शक्ति भाग्य में होती है, उतनी किसी में नहीं होती!

अन्त में चलते समय धुला हुआ एक सादा वस्त्र पहने हुए महाराज ने सबको झुककर नमस्कार किया। महाराज भीष्म बोले, “पाण्डु, पहले मेरे पिता के-राजा शान्तनु के भाई ने भी इसी तरह इस राज्य का त्याग किया था। उनका नाम था देवापी। लेकिन उन्होंने अपनी इच्छा से वनवास स्वीकार किया था। आज तुमको पराक्रम के सिंहासन पर से उठकर वैराग्य के व्याघ्र-चर्म पर बैठना पड़ रहा है-इसका एक मात्र कारण दुर्भाग्य है ! वन में राजा देवापी की ब्रह्मलीन आत्मा तुमको धैर्य और मानसिक शान्ति प्रदान करेगी। जाओ ! जिस कारणवश तुम यह राज्य छोड़ रहे हो, उस कारण का प्राण-पण से ध्यान रखना। मन पर संयम रखना। जबतक यह भीष्म है तबतक कौरवों का डंका आर्यावर्त में इसी तरह बजता रहेगा। यहाँ की चिन्ता तनिक भी मत करना।

हम तीनों सबसे विदा ली और राजभवन छोड़ दिया। हमारे साथ नगर का एक ही व्यक्ति चलनेवाला था। वह थी धात्री ! मानो विधाता ने उसको कुन्ती के जीवन पर मृत्यु पर्यन्त छाया करने के लिए ही भेजा था। उसको कोई नहीं समझा सका। हम चारों नगर से पैदल नंगे पाँव चल दिये। इस नगर में मैं महारानी बनकर आयी थी और अब संन्यासिनी वनकर जा रही थी। नगरजन आकर लगातार हमारे चरणों पर लोट रहे थे। विलाप करते हुए वे कह रहे थे, “महाराज महारानीजी, हमको छोड़कर मत जाइए। हस्तिनापुर को अनाथ करके मत जाइए।” लेकिन हमको जैसे कुछ भी सुनाई नहीं पड़ रहा था। हमारे कान सुन्न हो गये थे। मन बहरा हो गया था। पीछे मुड़कर देखा नहीं जाता था, आगे कुछ दिखाई नहीं देता था।

नगर के बाहर हम लोग गंगा के किनारे आये। उसको देखते ही मेरा मन भर आया। मुझको मथुरा की याद आयी। यमुना के किनारे मथुरा में मेरा बचपन बीता था। निरागस और भोला-भाला ! बचपन की पृथा ने इस समय कुन्ती को देखा होता, तो भला क्या कहती ? “पृथे, पागलों की तरह श्वेत वस्त्र पहनकर कहाँ जा रही है तू? गोल चक्कर लगाती हुई तितली पकड़ने चल मेरे साथ !” मैं क्षण-भर वहीं खड़ी रही। वहाँ एक पग भी आगे बढ़ाने की मेरी इच्छा नहीं हो रही थी। इस गंगा ने आज तक कौरवों की न जाने कितनी पीढ़ियाँ देखी होंगी ! कितनी विजयें देखी होंगी ! लेकिन आज की घटना उसके मन में पत्थर की लकीर बनकर रह जायेगी। ऐसा दृश्य उसने आज तक एक बार भी न देखा होगा। मेरे धैर्य की दीवार ढहने लगी। मैंने दोनों हाथों में मुँह छिपा लिया। अचानक ही उँगलियाँ कान के मोतियों के कुण्डली से जा लगी। उनको उतारने का ध्यान ही नहीं रहा था। मैंने वे उतारे और गंगा के पानी में डाल दिये। पानी का एक गोल वर्तुल विशालतर होता

गया। मेरे मानस-सरोवर में स्मृतियों का एक वलय उठा। वर्ष-भर पहले ही मैंने दो जीवित सुनहले कुण्डल इसी तरह अश्वनदी को अर्पण किये थे ! और आज राजमाता के अन्तिम स्मृति चिह्न के रूप में बचे हुए मोतियों के कुण्डल गंगा को अर्पित किये जा रहे थे ! अब कुन्ती मुक्त थी। बाहर से और भीतर से भी ! अब उसके पैर पति के पीछे-पीछे, जहाँ वे ले जायें, वहाँ जानेवाले थे; कहीं रुकनेवाले नहीं थे। स्त्री का जन्म कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं होता, सब कुछ समर्पित करने के लिए ही होता है।

तीस

हस्तिनापुर से हम लोग नागशत पर्वत पर आये। उत्तर दिशा में स्थित इस पर्वत पर हाथियों के झुण्ड बहुत थे। राजभवन के अभ्यास के कारण अरण्य में कोलाहल मचानेवाला पवन हमको जैसे खाने को दौड़ता था। उस पवन से हाथियों के झुण्ड बिदक जाते। ची ss ची ss करते हुए वे एकदम हमारे पास होते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते। उस पर्वत पर जैसे-तैसे हमने एक मास व्यतीत किया। इसके बाद आगे बढ़े। अब हमारी कोई निश्चित दिशा नहीं थी। हम जो निश्चित करें, वही हमारी दिशा थी। पूर्वजन्म के ऋणानुबन्ध से एक सूत्र में बँधे हुए चार प्राणी थे हम। महाराज को दूर जाते देखकर माद्री ज़ोर-ज़ोर से रोने लगती। मैं अपने को सँभालकर उसको भी सँभालती।

नागशत पर्वत छोड़कर हम लोग चैत्ररथ पर्वत पर आये। चैत्ररथ पर थोड़े दिन बिताकर गन्धमादन पर्वत की ओर मुड़े। मार्ग में हिमालय पड़ा। उसके दर्शन से मुझको थोड़ी शान्ति मिली। चारों ओर श्वेत-शुभ्र बर्फ ही बर्फ फैली हुई थी। भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों में रंगे हुए इस स्वाँगिया संसार को विधाता उस पर्वत के रूप में जैसे अपने श्वेत-शुभ्र दाँत दिखाता हुआ अट्टहास कर रहा था ! हिमालय में हमको महर्षि व्यास मिले। वे घोर तपस्या करके फिर हस्तिनापुर को ही लौट रहे थे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा, “अरे पाण्डु, तुम यहाँ कैसे ?” महाराज ने जो कुछ घटित हुआ था, वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मैंने उनको प्रणाम किया। मुझको आशीर्वाद देते हुए वे बोले, “कुन्ती, दुर्वासा का कथन सत्य होगा। तुम वीरों की माता बनोगी !” महाराज ने आश्चर्यचकित होकर उनकी ओर देखा। महाराज को लक्ष्य कर वे बोले, “पाण्डु, कुन्ती कौन है, यह तुम नहीं जानते ! संसार में कोई भी यह बात नहीं जान पायेगा ! अच्छा, जाओ तुम लोग !” वे चले गये। मन्द-मन्द गति से हवा के एक हलके झोंके की तरह।

व्यासजी का कथन सुनकर महाराज कुछ अवश्य पूछेंगे, यह सोचकर मैं सशंक हो उठी। परन्तु भगवान् की कृपा से उन्होंने उस विषय में उस समय कुछ नहीं पूछा।

हिमालय से हम गन्धमादन पर्वत पर आये। वहाँ इन्द्रद्युम्न सरोवर के किनारे कुछ दिन रहे। वहाँ से हंसकूट पर्वत पार करते हुए अन्त में शतशृंग पर्वत पर आ गये। इस पर्वत पर सुनील सरोवर थे। हरी-भरी वनस्पतियाँ थीं। अनेक प्रकार के फलवृक्ष थे। हिरनों और खरगोशों के झुण्ड थे। यह शतशृंग पर्वत मानो प्रकृति-देवता के हरे वस्त्र का नीला आँचल था।

उस पर्वत पर एक सरोवर के किनारे हमने पर्णकुटी बनायी। हम लोग इतनी लम्बी यात्रा कर चुके थे कि अब यही पता नहीं था कि हस्तिनापुर किस ओर है ! उस समस्त अरण्य में मानव बस्ती का एकमात्र यही चिह्न था—पर्णकुटी ! कौरवों का दिग्विजयी राजा अपनी दो लाडली पत्नियों के साथ इस पर्णकुटी में रहने लगा। नील आकाश उस पर्णकुटी पर छत्र धारण किये खड़ा था। अरण्य के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष उसपर पंखा झलने लगे। अनेक प्रकार के कन्दमूलोंवाले लताकुंज और फलवृक्ष उनके भोजन का पात्र भरने लगे। वन्य घास की शय्या उनको अपने अंक में सुलाने लगी।

इकतीस

प्रातःकाल पूजा कर महाराज कन्द-मूल-फल लेने के लिए वन में चले जाते, दिन-भर वहीं रहते। शाम को लौटते। हम लोग सरोवर से पानी लाकर पर्णकुटी की लिपाई-पुताई, पूजा की तैयारी आदि करने लगीं। एक-एक कर दिन बीतने लगे। हस्तिनापुर की स्मृति भी धीरे-धीरे कम होने लगी। —हस्तिनापुर छोड़े वर्ष बीत गये थे।

महाराज कुछ कृश दिखाई देने लगे थे। बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण उनकी अवस्था अधिक लगने लगी थी। वे सदा ऐसा व्यवहार करने लगे मानो किसी गम्भीर विचार में लीन हों। उनके मन की थाह पाना कठिन था। आवश्यकता से अधिक वे एक शब्द भी न बोलते थे। भूलकर भी हँसते न थे। एक दिन हिरन का एक बड़ा प्यारा छौना उनके पैरों के पास आया और अपनी खुरदरी जिह्वा से उनके पैर चाटने लगा। मेरा अनुमान था कि वे धीरे से उसको दूर कर देंगे। लेकिन उन्होंने नीचे बैठकर बड़े स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसको अपनी गोद में लेकर बार-बार चूमते हुए किसी छोटे बालक की तरह सिसकने लगे। मेरे मन में एक बड़ा भयानक विचार कौंध गया। अत्यधिक मानसिक कष्टों से क्या महाराज विक्षिप्त हो गये हैं ? घबराकर मैंने पूछा, “यह क्या करते हो ?” मेरी ओर न देखते हुए उस छौने के चर्म पर अपना गाल रगड़ते हुए वे बोले, “कुन्ती, कैसे बताऊँ ? सन्तानहीन को जब इस लोक में ही कोई स्थान नहीं है तो स्वर्ग में भला क्या स्थान मिलेगा ! उसकी मृत्यु होते ही

संसार उसको भूल नहीं जायेगा क्या ? मैं दिग्विजयी सम्राट् नहीं बल्कि विधाता के राज्य का भिखारी हूँ ! मेरे साथ ही मेरा नाम समाप्त हो जायेगा।"

"इसीलिए क्या आप दुखी हैं ? यदि यह बात है तो महर्षि दुर्वासा के मन्त्र से मैं आपके नाम के लिए पुत्र निर्माण करूँगी। महर्षि दुर्वासा ने मुझको देवहुति मन्त्र दिया है।" मैंने महाराज को महर्षि दुर्वासा के यज्ञ की आवश्यकतानुसार जानकारी दी।

"कुन्ती, इस पाण्डु को अपयश के समस्त मार्गों से उबारने के लिए ही क्या विधाता ने तुमको मेरी पत्नी बनाया है ?"

"महाराज, शीघ्र ही आपको इस पर्णकुटी में इच्छित सद्गुणी पुत्र दिखाई देगा।"

मैंने वह विषय वहीं बन्द कर दिया।

फिर कुछ दिन बाद एक दिन प्रातः समय मैंने आचमन के लिए जल लिया और आँखें बन्द कर लीं। मन्त्र के शब्द मेरे मनरूपी कुम्भ में गरगर फिरने लगे। उनके प्रत्येक उच्चार के साथ ही मेरे शरीर की चेतना नष्ट होने लगी। सारे संसार का भार वहन करनेवाली धरती का नाम स्मरण कर मैंने यमदेवता का आह्वान किया। मेरे सम्पूर्ण अंग की एक ज्योति बन गयी। धरती से एक ज्योति आयी और उस ज्योति में से निकल गयी। जाते समय तेज का संक्रमण कर गयी। मुझको धीरे-धीरे शरीर का ज्ञान होने लगा। कन्द-मूल और फलों पर पली हुई मेरी देह थर-थर काँपने लगी। मैं धड़ाम से नीचे गिर पड़ी।

उस दिन से मैंने बोलना बन्द कर दिया। मुझको एकान्त अच्छा लगने लगा। शान्ति की ओर आकर्षण बढ़ने लगा। किसी का ज़ोर से बोलना मुझसे सहन नहीं होता था। फिर से एक अननुभूत जीवन प्रारम्भ हो गया। शरीर क्रमशः विकसित होने लगा।

उचित समय के उपरान्त एकदिन प्रत्यूषा में मेरे पेट में दर्द होने लगा। मैं माता बन गयी। एक सौम्य और शान्त चेहरे के बालक ने जन्म लिया। सबके मुख आनन्द से खिल उठे। सबने उसका नाम युधिष्ठिर रखा। युधिष्ठिर पर्णकुटी में बड़ा होने लगा। वह कभी नहीं रोता था, परन्तु कभी हँसता भी नहीं था। नदी के कुण्ड की तरह उसकी मुद्रा सदा शान्त रहती थी। आँखें विशाल थीं।

महाराज उसको खिलाने में अपनी सुध-बुध भूलने लगे। हम लोग हस्तिनापुर को तो भूल ही चुके थे; परन्तु अब अपने दुःखों को भी भूल गये।

युधिष्ठिर एक वर्ष का हो गया। दूसरे ही वर्ष मुझको वायुदेवता से और एक पुत्र प्राप्त हुआ। उसकी अंगयष्टि बड़ी सुन्दर और भरकम थी। उसका हम सबने भीम नाम रखा। वह वायु की तरह गतिमान् था। वह क्षण-भर भी एक स्थान पर नहीं बैठना चाहता था। भीम के बाद इन्द्रदेव से और एक पुत्र का वरदान मुझको मिला। साँवले रंग का यह बालक अत्यन्त तेजस्वी था। ठीक दोपहर को उसका जन्म हुआ था। उसके स्याह काले नेत्रों से तेज के

स्फुलिंग बाहर निकलते थे। उसका नाम हमने अर्जुन रखा। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इनकी किलकारियों से पर्णकुटी गूंजने लगी। मेरा जीवन सार्थक हो गया है-ऐसा सन्तोष मुझको होने लगा। ये क्या बनेंगे ? क्या करेंगे? इस सम्बन्ध में मैं, धात्री और महाराज-घण्टों तक चर्चा करते रहते। धात्री सदैव कहती, “यह भीम कभी किसी की बात नहीं मानेगा। जो इसके सामने आयेगा उसी को पीटेगा यह । क्षण-भर भी चुप बैठना जानता है क्या यह ?”

लेकिन हमारी इन बातों को माद्री एक कोने में बैठकर चुपचाप सुनने लगी। वह किसी से कुछ न कहती। उसका अपना अलग संसार बनने लगा। वह क्यों दुखी थी। यह मैं जान गयी। स्त्री को स्त्री का दुख जानने में देर नहीं लगती। उसको सन्तान की चाह थी। सरोवर के किनारे एक बार मैंने उससे पूछा, “माद्री, तू पुत्र के लिए दुखी है क्या ?” उत्तर देने के बजाय मुझसे लिपटकर वह सिसकने लगी। उसकी पीठ थपथपाती हुई मैं बोली, “माद्री, तू कुरुकुल की वधू है। इस तरह मत रो। तुमको भी पुत्र होंगे।”

मैंने सरोवर में से अंजलि भरकर जल लिया और आँखें बन्द कर महर्षि दुर्वासा का स्मरण किया। माद्री को सामने बैठाकर मैंने उसके हाथ पर पानी छोड़ा और धड़ाधड़ मन्त्र बोलने लगी। जैसे तरकश से बाण निकल जाते हैं वैसे ही मेरा शरीर रिक्त होता जा रहा है, ऐसा मुझको लगने लगा। मन्त्र पूरे हो गये। मैंने आँखें खोलीं। माद्री से पूछा । “अब तुझे मन्त्र के शब्द याद हैं क्या ?” उसने 'हाँ' कहकर सिर हिलाया। मैं भी मन्त्रों के शब्दों को याद करने का प्रयत्न करने लगी, लेकिन मुझको कुछ भी याद नहीं : रहा था। स्मृति के कोने-कोने को मैंने झकझोरकर देखा, लेकिन कहीं से भी मन्त्र का प्रत्युत्तर नहीं आया। आज कुन्ती ने अपनी अन्तिम शक्ति भी दूसरे को अर्पित कर दी थी। अब वह एक साधारण स्त्री थी। एक तुच्छ स्त्री। पुत्र और पति ही उसकी सम्पत्ति थी। जिसकी कस्तूरी निकाली गयी हो —ऐसे मृग की तरह मैं सरोवर से पर्णकुटी की ओर लौटी।

आगे चलकर माद्री को दो पुत्र हुए । उनके नाम नकुल और सहदेव रखे गये । अब पर्णकुटी में नौ प्राणी रहने लगे। महाराज, माद्री, मैं, धात्री और पाँच कुमार । हस्तिनापुर छोड़े हमको दस वर्ष हो गये थे। पर्वतीय पवन की तरह काल दौड़ रहा था।

इन दस वर्षों में कुरुकुल का क्या हुआ, हस्तिनापुर का क्या हुआ, इसका कुछ भी पता हमको न चला। जिस पर्वत पर हम रहते थे वह दुर्गम था। उस दिशा में सहसा कोई भी अरण्य में प्रवेश नहीं करता था। बाहर के जगत् से हमारा सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो गया था। बाहर का संसार हमारे लिए स्वप्नभूमि था। यह अरण्य ही हमारा भवन था। यहाँ के भिन्न-भिन्न प्राणी ही हमारे साथी थे। पक्षियों का संगीत ही हमारा मनोरंजन था। हम लोग अरण्यवासी मानव हो गये थे।

बत्तीस

स्त्री पुत्रों के साथ अरण्य में भी स्वर्ग का निर्माण कर सकती है। और हम तो तीन स्त्रियाँ थीं। हमारा सारा समय बालकों के साथ खेलने में, उनकी तोतली बातें सुनने में और बोलने में व्यतीत होने लगा। वे सब छोटे थे, लेकिन समझदार थे। अकेला भीम ऐसा था, जो कभी हमारे वश में नहीं रहता था। किसी विशाल हाथी की पुष्ट सूँड़ जैसे निरन्तर इधर-उधर हिलती रहती है, वैसे ही वह इधर-उधर दौड़ता ही रहता। वह पल-भर भी शान्त नहीं बैठता। अनुदिन उसका शरीर सुगठित होता हुआ और अधिक हष्ट-पुष्ट दिखाई पड़ने लगा।

वे पाँचों कुमार वन्य गायों का दूध पीते हुए और फल खाते हुए बड़े हो रहे थे। सनसन करता हुआ वन-पवन वंशी बजाकर उनको खिलाने लगा। उनकी किलकारियों से पर्णकुटी गुंजायमान होने लगी। धात्री के नीरस वृद्ध स्त्री-हृदय में भी प्रेम की कोंपलें फूटने लगीं। वह भी सबके साथ खेलने लगी। ऊपर नीला आकाश और नीचे हरी-भरी धरती-ऐसे वातावरण में वे पाँच जीव सागवान के पौधे की तरह बढ़ने लगे। सौन्दर्य, सम्पत्ति और कीर्ति से अधिक स्त्री को अपने पुत्र प्यारे होते हैं। दो रेशमी होंठ चिचोरते हुए जब उसका दूध पीने लगते हैं, तब उसको अपना जीवन धन्य लगने लगता है। मातृत्व ही स्त्री का मोक्ष है।

अब मैं पुनः सुख के शिखर पर थी। जीवन सुख-दुख की धूप-छाँह का खेल है। यह अरण्य ही अब हमारा राज्य था। किसी को रौंदे बिना मिला हुआ राज्य। मैं इस राज्य की महारानी थी।

हमारी गोद में बालकों को क्रीड़ा करते देखकर महाराज अपना दुख भी भूल गये। उन पाँच बालकों को खिलाते समय वे अपने प्राणघाती शाप को भी भूल गये थे। वे पहले की तरह हँसने लगे। मुक्त मन से बातें करने लगे।

तैंतीस

वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। बालक बड़े होने लगे। अरण्य में निर्भय होकर विचरण करने लगे। वे जहाँ कहीं जाते, मिलकर जाते। उनकी क्रीड़ाओं के लिए शतशृंग पर्वत भी कम पड़ने लगा। भीम तो लौटते समय बाघ के बच्चों को, उनके कान पकड़कर, खींचता हुआ लाने लगा। मनुष्य का जीवन आसपास के वातावरण पर अवलम्बित होता है। जिनका जैसा साथ प्राप्त होगा, मनुष्य का मन वैसा ही रूप ग्रहण करेगा। छोटे बालक तो अनुकरणप्रिय होते ही हैं। हमारे बाद अरण्य उनको जो कुछ सिखाता था, वे ही उनके

संस्कार थे। वे उन प्राकृतिक संस्कारों के बीच बड़े होने लगे। अब वे दस-बारह वर्ष के हो गये थे।

अरण्य की नदियाँ उनको यह सिखाने लगी कि जीवन सदा बहता रहना चाहिए। संचित जीवन के स्थिर पोखरों से उनका परिचय नहीं था। वहाँ के ऊँचे-ऊँचे शिखर उनको शिक्षा देने लगे कि तुम भी ऐसे ही ऊँचे बनो। ऊपर नीला आकाश उनको मन स्वच्छ रखने का पाठ पढ़ाने लगा। वहाँ के विविध प्राणियों को छाया देनेवाले वृक्ष उनको संसार के लिए तिल-तिल कर गलने का सन्देश देने लगे। पक्षियों की ऊँची उड़ानें उनके साहस को चुनौती देने लगीं।

वे सदा सहस्रों प्रश्न पूछकर हमारी नाक में दम कर देते ।

युधिष्ठिर मुझसे पूछता, “मात, आकाश का यह नीला-नीला गुम्बद पृथ्वी पर किसने रख दिया है ? इसके खम्भे कहाँ हैं ?”

मैं उससे कहती, “बेटा, पहले समस्त देवताओं के लिए भगवान् शंकर ने समुद्र-मन्थन से निकले हुए विष का प्राशन किया था। विष पीने से भगवान् शंकर का कण्ठ नीला पड़ गया था, वही यह आकाश है।”

अर्जुन मुझसे पूछता, “मात, पवन जब वेग से बहने लगता है तब सूँऽऽऽ सूँऽऽऽ की ध्वनि क्यों होती है ?”

मैं कहती, “अर्जुन, पहले भगवान् रामचन्द्र नामक एक बहुत बड़े धनुर्धर हो गये हैं। उन्होंने राक्षसों को मारने के लिए जो बाण छोड़े थे, वे इतने वेगवान् थे कि उनको कोई भी नहीं रोक सका। उनके कुछ बाण अब भी पृथ्वी के चारों ओर घूम रहे हैं। उनके पुच्छों की ध्वनि है यह।” वह विचारों में लीन हो जाता।

भीम मुझसे पूछता, “मात, ये पहाड़ कैसे तैयार हो गये ?”

मैं उससे कहती, “भीम, भगवान् रामचन्द्र के समय में हनुमान् नामक एक महाबलवान् सेनापति थे। सदा आकाश में घूमते रहते थे। एक बार उनकी पृथ्वी पर आने की इच्छा हुई। लेकिन पृथ्वी तो उस समय दलदल ही दलदल थी। इस दलदल में हनुमानजी ने पैर रखा। उनके पैर जहाँ-जहाँ पड़ा वहीं-वहीं गहरी खाई बन गयी। शेष भाग फूलकर ऊपर आ गया। वही ये पहाड़ हैं, वही ये पर्वत हैं। इस दलदल में चलते-चलते हनुमानजी ऊब गये। वे फिर आकाश में उड़ने लगे। उनके पैर से एक बड़ा ढेला चिपट गया, वही यह चन्द्रमा है।” वह मुँह फाड़कर सब सुनता रहता। फिर गाल और काँख फुलाकर, हनुमान् कितने बड़े होंगे, यह कल्पना करता हुआ, नकल उतारने लगा।

नकुल और सहदेव मुझसे पूछते, “मात, आकाश में बिजली क्यों चमकती है ?”

मैं उनको उत्तर देती, “आकाश में देव और दानवों में युद्ध हो रहा है। उस युद्ध में देवताओं के हाथ में चमचमाते हुए खड्ग हैं ये।” नकुल अपने हाथ फिराकर बनावटी वार सहदेव पर कस्ता।

ऐसे अनेक प्रश्न बालक मुझसे पूछते। मैं जो कुछ कह देती, उसी को वे मान लेते। उसी से उनका समाधान हो जाता।

चौतीस

हमारे दिन आनन्द से बीतने लगे। उस शतशृंग पर्वत को छोड़ने की हमारी इच्छा नहीं होती थी। मनुष्य जहाँ रहने लगता है, उस स्थान के प्रति वह श्रद्धालु हो जाता है। उस स्थान के प्रति वह निराला अपनत्व अनुभव करने लगता है। शतशृंग पर्वत अब हमारा स्थायी निवास स्थान था। बहुत सम्भव था कि इसी पर्वत के नटखट पवन में मेरी अन्तिम साँस विलीन हो जाती। इसका दुख मुझको कभी नहीं होता। क्योंकि इस पर्वत ने ही हमारा पोषण किया था। लगभग अठारह वर्षों तक अपनी गोद का सहारा दिया था। परन्तु...परन्तु कालपुरुष-जैसा मनमौजी रँगरेज भी इस संसार में कोई नहीं होगा। कितनी जल्दी बदलता है वह संसार के रंग ! क्षण-भर में ही कुछ का कुछ कर देता है। पृथ्वी की पीठ पर आनन्द से चहचहाते नगरों को वह क्षण-भर में अजगर की तरह निगल जाता है। हजारों वर्ष कष्ट उठाकर मनुष्य जिस संस्कृति का निर्माण करता है, उसको यह काल पुरुष ऐसे ढहा देता है जैसे समुद्र के किनारे छोटे बालक द्वारा बनाया गया बालू का किला लहर आते ही अपने-आप ढह जाता है। यह जगत् क्या एक अ-राजतनत्र नहीं है ? सुसंगति और सुसूत्रता यहाँ कहाँ होती है ! कौन है जो इन समस्त घटनाओं के पासे फेंकता है ? इन सब खिलौनों को कौन नचाता है ? मनुष्य का जीवन इस विशाल ब्रह्माण्ड की कितनी क्षुद्र वस्तु है ! विश्व की प्रकृति में आमूल-चूल परिवर्तन कर देने वाले काल को मनुष्य का जीवन एक बुलबुला-सा लगता होगा। जिसको चाहे जब फोड़ दो, ऐसा पानी का बुलबुला। इस बुलबुले के निर्माण से जगत् में कोई वृद्धि नहीं होती है और इसके फूटने से कोई कमी नहीं आती। विश्व जैसा स्थित है, वैसा ही रहता है।

परन्तु इस बुलबुले के फूटने से मानव के जीवन में कभी-कभी जल-तरंगें अवश्य उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी वे बड़ी भयानक होती हैं। वे जीवन पर से मन का विश्वास नष्ट कर देती हैं, श्रद्धा को जलाकर राख कर देती हैं। संसार में ईश्वर नाम की कोई शक्ति शेष है या नहीं यह प्रश्न उत्पन्न कर देती हैं। मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। चारों ओर धधकते दावानल में पड़े हुए पक्षी की तरह वह असहाय होकर तड़पने लगता है।

एक घटना से मेरी यही दशा हो गयी। एक दिन माद्री पानी लेने के लिए सरोवर की ओर गयी हुई थी। थोड़ी देर बाद महाराज भी सदैव की तरह वन में गये। आधी घड़ी बाद ही माद्री लौट आयी। लेकिन उसके हृदय विदीर्ण कर देनेवाले आक्रोश और मर्मभेदी चीत्कार से घबराकर मैं पर्णकुटी से बाहर निकली। उसके हाथ में पानी का घड़ा नहीं था। अपनी छाती पीटती हुई और बालों को नोचती हुई वह पागलों की तरह 'जीजी ss ! जीजी ss!' चिल्लाती हुई वायुवेग से दौड़ती आ रही थी—बड़ी कठिनाई से ! देह के वस्त्रों का भी उसको ध्यान नहीं था। उस समय यदि कोई उसके सामने आ जाता तो वह उससे टकराकर निश्चय ही धड़ाम से नोचे गिर जाती । मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। भय की सनसन करती एक सिहरन मेरे सारे शरीर में दौड़ गयी। क्या हो गया था. माद्री को ? जल के लिए वह जो घड़ा ले गयी थी, उसका क्या हुआ ? पाँचों कुमार सुरक्षित हैं या...?

मेरे पास आते ही वह मेरे ऊपर गिर पड़ी। वह केवल 'जीजी s ! जीजी s !' कहकर चीत्कार कर रही थी। हनु पकड़कर ऊपर उठाकर मैंने उससे पूछा, “माद्री, रो क्यों रो रही है ? घड़ा कहाँ गया ?”

“घड़ी फूट गया।” कहकर मुझसे जोर से लिपट गयी, उसका शोकावेग कुछ कम दिखाई पड़ते ही मैंने उससे पूछा “माद्री, तू वीर-कन्या है। छोटे बच्चों की तरह क्यों रो रही है ? क्या हुआ यह बता।”

“जीजी ss ! महाराज...!” यह कहती हुई मेरी छाती से चिपट गयी। कितनी आर्तता थी उसके आलिंगन में ! भय से उसका हृदय बड़े जोर से धड़क रहा था।

"महाराज को क्या हुआ ? बोल माद्री, महाराज कहाँ हैं ?" मैं चीखी ।

"सरोवर के किनारे।"

इन शब्दों को सुनते ही कान उठाये चौकन्ने खड़े बछड़े-सी मेरी दशा हो गयी। माद्री को दूर हटाकर मैं सरोवर की ओर दौड़ने लगी। माद्री मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगी। सरोवर के किनारे आते ही मैंने जो कुछ देखा वह विश्व की सत्यता पर से मेरा विश्वास नष्ट करने के लिए पर्याप्त था। मेरा प्राणप्रिय साथी लकड़ी के कुन्दे की तरह निश्चल पड़ा था। जिसकी देह में कुरुवंश का रक्त संचरण कर रहा था और जो साक्षात् सूर्यदेव को भी लज्जित करनेवाला था, ऐसा उनका रूप आग में जलती हुई लकड़ी की तरह काला पड़ गया था। वे मूर्छित होंगे, यह सोचकर उनको हिलाने के लिए मैंने उनकी देह को हाथ लगाया। मेरा रोम-रोम सिहर उठा। उनका शरीर बर्फ़-सा ठण्डा था। तत्क्षण उठकर मैंने माद्री से पूछा, “माद्री, यह कैसे हो गया ?”

वह मुँह फेर भर्रायी आवाज़ में कहने लगी, “जीजी ! मेरा कोई दोष नहीं है। मैं घड़े में जल भरकर सरोवर से निकल रही थी। महाराज सरोवर के किनारे खड़े थे। हवा से मेरा

आँचल उड़ रहा था, लेकिन सिर पर घड़ा रखा होने के कारण मैं उसको सँवार नहीं पा रही थी। मैं सरोवर से बाहर आयी। महाराज हँसते हुए खड़े थे। उन्होंने एकदम परशु हाथ से नीचे फेंक दिया। उनकी आँखों में विचित्र भाव तैर रहे थे।

मैं जैसे ही पास पहुँची, उन्होंने मुझको अपने आलिंगन में कस लिया। मेरे सिर पर रखा हुआ घड़ा धड़ाम से नीचे पड़ा। उनकी कामी आँखें आग बरसा रही थीं। मुझको अंक में भरते हुए उन्होंने 'माद्री ! माद्री !' कहकर मुझपर चुम्बनों की वर्षा कर दी। मैंने उनके बन्धन से छूटने के लिए बहुत हाथ-पैर मारे, लेकिन न छूट सकी। क्षुधित मनुष्य जैसे अन्न पर टूट पड़ता है, वैसे ही वे मुझ पर टूट पड़े थे। उनके दृढ़ आलिंगन में मेरा दम घुटने लगा। क्षणभर बाद ही वे चैतन्य हो गये। उन्होंने मुझको ऐसे दूर हटाया जैसे कोई विषैली नागिन को ढकेलता हो। लेकिन...लेकिन क्षण-भर में ही उनका रूप बदलने लगा। उनकी आँखें फिरने लगीं। खड़े-खड़े ही वे धड़ाम से नीचे गिर पड़े। प्राणों के भय से बुरी तरह हाथ-पैर पटकने लगे। 'माद्री, माद्री !' कहकर तड़पने लगे। मैं भय से सुन्न हो गयी और दौड़ती हुई तुम्हारे पास पहुँची।"

मैंने तड़ाकू से माद्री के मुँह पर तमाचा मारा। वह और जोर से क्रन्दन करने लगी। मेरे कानों में किन्दम ऋषि के शाप गूँजने लगे : “राजा, तूने एक प्रणयी को अपनी प्रेयसी से दूर कर दिया है। भविष्य में जब तू अपनी स्त्री को इस तरह अंक में लेगा, तब तू भी मेरी तरह तड़प-तड़पकर मर जायेगा।"

मेरा जीवन-साथी मुझको छोड़कर अनन्त यात्रा पर चल पड़ा था। मोह का केवल एक क्षण ही उसको जीवन की हरियाली में से मृत्यु के श्मशान में खींच ले गया। कुन्ती की देह में सहनशक्ति के कौन-से अणु हैं, यह जानने के लिए केवल एक क्षण ने ही उसको विधवा कर दिया था। दिग्विजयी संयमी सम्राट् आज भावनाओं के राज्य का एक दुर्बल भिखारी निकला। अनेक वर्षों तक मन को संयम से रखकर आचरण करने वाला योगी, एक—केवल एक क्षण में ही दुर्बल मन का भोगी बन गया था। कामवासना ! कामवासना बर्फ की ऐसी छलनामयी खाई है, जहाँ मनुष्य का पैर चाहे जब फिसल सकता है। कामभावना वह बिजली है जो किसी भी समय देह पर गिरकर प्राण ले सकती है। यह वह अनल है जो अपने साथ औरों को भी जलाकर राख कर देता है।

मेरे संयम के पाश टूटने लगे। मैं 'महाराज' कहकर चीखती हुई धड़ाम से महाराज के शव पर गिर पड़ी। उनकी छाती पर सिर पटकने लगी। मेरे भाल पर लगा हुआ कुंकुम-तिलक पुँछ गया।

पैंतीस

धात्री दहन की तैयारी करने लगी। उसने चिता रची। एक दिग्विजयी राजा की अन्तिम चिता निर्जन अरण्य में सरोवर के किनारे रची गयी। दैव मुझको क्या-क्या दिखाना चाहता था ? बयालीस वर्ष की अवस्था में मैं विधवा हो गयी थी। पति के बिना स्त्री का जीवन ऐसा ही है जैसे ज्योति के बिना बत्ती। आज मेरा अस्तित्व ही क्या था ? एक महामान्य यादवराज की मानिनी पुत्री ? कौरवों की वैभवशाली महारानी ? इस अरण्य की वनरानी ? कल अपने पराक्रम से जो जगत् को सन्दीप्त कर देंगे-ऐसे पुत्रों की भाग्यशाली माता ? छिः छिः, मैं इनमें से कुछ भी नहीं थी। अपने पति के निधन से जिसके प्राण निकल गये थे, ऐसी एक निष्प्राण देह थी मैं। एक अभागिन विधवा थी। विधवा ! कितना भयानक है यह शब्द ! महारानी, विधवा और युवती ! छिः, इनमें क्या समता थी ? मेरा जीवन आखिर है क्या ? एक मोड़ के बाद दूसरा मोड़ लेती हुई यह जीवन-सरिता कहाँ जायेगी ? क्या है कुन्ती के भवितव्य में ? छिः, चतुर ज्योतिषी स्वयं ब्रह्मदेव भी क्या यह जानते हैं ? दुर्भाग्य के तप्त आघात सहने के लिए धैर्य कहा से लाऊँ ? इस अरण्य में धैर्य और सान्त्वना के दो शब्द मुझसे कौन कहेगा ? चारों ओर से जब गगनमण्डल ही टूटकर गिरने लगे तो मनुष्य आश्रय के लिए कहाँ जाये ?

मैंने एक अबोध शिशु को अपने हाथों से मृत्यु की गोद में सुला दिया था, कहीं इसीलिए तो मृत्यु अपने काले दाँत किटकिटाकर मुझको उसका कठोर दण्ड नहीं दे रही थी ? आगे भयानक खाई और पीछे घोर अरण्य-मेरा जीवन क्या ऐसा ही नहीं था ? बचपन में मैं पिताजी के हाथ का खिलौना थी, भोजपुर में मैं दुर्वासा के हाथ का खिलौना बनी और आज मैं असीम वेग से दौड़नेवाले काल के हाथ का खिलौना बन गयी हूँ। उसके साथ दौड़ते समय निश्चय ही मेरा हृदय फट जायेगा। किसका अवलम्बन लेकर अब मैं जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ूँ ? मेरा मन—आह, अब मेरे पास मन था ही नहीं। और यदि हो भी तो वह बहरा था। भूत, भविष्य, वर्तमान—कुछ भी वह नहीं समझता था। काल चीते का रूप धारण कर अर्धमृत कुन्ती के जीवन की अजा को पीठ पर डाले उन्मत्त गति से बढ़ता चला जा रहा था। मैं चुप थी। मेरी रोने की भी इच्छा नहीं हो रही थी। क्योंकि मेरे जमे हुए हृदय से आँसू बाहर नहीं निकलते थे। भावनाएँ इतनी भी द्रवित नहीं होती थीं कि रुदन फूटे !

धात्री ने महाराज का शव चिता पर रख दिया। उसपर लकड़ियाँ रखीं। उसी ने चिता में अग्नि दी। शत्रुओं को भय से थरथर कँपानेवाले एक पराक्रमी और दिग्विजयी योद्धा को एक दासी ने अग्नि दी। चिता जलने लगी। ज्वालाओं के पक्षी चट-चट करते हुए आकाश में उड़ानें भरने लगे। मेरा मन सुन्न हो गया था। उस चिता में प्रविष्ट होने का निश्चय कर मैं उठ खड़ी हो गयी। अब इस निरर्थक जीवन का उपयोग ही क्या था ? मैंने निश्चय से आँचल

खोँसा। इतने में ही श्वेत वस्त्र धारण किये हुए, सरोवर में स्नान कर आयी हुई माद्री ने मेरे चरणों को हाथ लगाया और उसको माथे पर से पीछे ले गयी। एक क्षण भी पीछे मुड़कर न देखती हुई, मैं क्या कहना चाहती हूँ, यह सुने बिना ही, वह एकदम सीधी उस अग्नि में प्रवेश कर गयी। क्षण-भर में ही उसका श्वेत वस्त्र भभककर जल गया। उर में बाण लगे हुए पक्षी की तरह मेरा मन तड़प उठा। मैंने उसके मुँह पर तमाचा मारा था। मैंने उसको भावना के राज्य की दुर्बल स्त्री समझा था। लेकिन कितनी तत्परता से उसने निर्णय कर लिया था। किन्दम ऋषि को अंगूठा दिखाते हुए उसने अपने प्रियतम द्वारा दिये गये आलिंगन को मृत्यु का मोल चुकाकर चिता पर भी छोड़ा नहीं था। अब किसी का शाप उसको अपने प्रियतम के आलिंगन से अलग नहीं कर सकता था। मैं भी उसी का मार्ग अपनाने के लिए सन्नद्ध हुई। इसी समय पर्णकुटी से दौड़कर आते हुए पाँचों कुमार मेरी कमर से लिपट गये। मुझको झकझोरते हुए वे पूछने लगे, “माता, पिताजी कहाँ हैं ?” नकुल और सहदेव दयनीय मुख से रुआँसे होकर कहने लगे, “हमारी छोटी माँ कहाँ हैं ?”

उनको देखते ही मेरा बधिर मन द्रवित हो गया। मैं भी यदि उसी चिता में कूद पड़ी होती तो ? इन पाँच बालकों को लेकर यह धात्री कहाँ जाती ? केवल एक पुत्र त्याग की वेदना ही मुझको रातों में चैन नहीं लेने देती थी। वह मेरा पाप था या पुण्य, यह मैं नहीं बता सकती। परन्तु....परन्तु इन पाँच निराधार बालकों को छोड़कर यदि मैं चिता में कूद पड़ती तो....तो निश्चय ही वह पाप होता। मैंने उन सबको सहसा ही अंक में भर लिया और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। जैसे विहग-शिशु पक्षिणी से लिपट जाते हैं, वैसे ही वे मुझसे लिपट गये। मेरा अपना कोई भी निर्णय नहीं रहा। मरने का भी।

जल-जलकर चिता शान्त हो गयी। राख हवा में उड़ने लगी। कल तक मुझसे सुख-दुख की बातें करनेवाले दो प्राण आज कहाँ चले गये थे ? मृत्यु जीवन-नदी का ऐसा दुर्गम भँवर है जिसको कोई पार कर ही नहीं सकता। विश्वकर्ता के अविरत दौड़नेवाले रथ का वह सबसे अधिक उच्छंखल घोड़ा है। आज तक उसने न जाने कितने जीवन अपनी टापों के नीचे रौंद डाले होंगे ? आज उसकी दृष्टि मेरी पर्णकुटी की ओर मुड़ गयी थी। किन्दम ऋषि के शाप के रूप में और माद्री के निश्चय के रूप में उसने आज मुझको छिन्न-भिन्न कर दिया था ? संसार के आज तक के मृतकों से मृत्यु का काला भण्डार अभी तक भरा नहीं था, उसमें उसने दो प्राणियों की वृद्धि और कर ली थी, लेकिन मेरा भाल बिलकुल रिक्त कर दिया था उसने। मैं चिता के पास गयी और उसकी राख मैंने अपने सिन्दूरहित मस्तक पर पोत ली। उस राख में यदि एक अभागिन महारानी के दुख के दग्ध अश्रु थे तो एक प्रेयसी के मृत्यु को भी जीत लेनेवाले आनन्द के अश्रु भी। साथ ही एक विजयी राजा के पराजित रक्त-बिन्दु थे, और...

और माद्री के साथ ही दग्ध हुए दुर्वासा ऋषि के देवहुति मन्त्र के जले हुए अमृत शब्द थे।

छत्तीस

मैं पर्णकुटी में लौट आयी । लेकिन वह पर्णकुटी अब मुझको खाने दौड़ रही थी। महाराज का और माद्री का - दोनों का रूप मुझको पर्णकुटी की घास के पत्ते-पत्ते में दिखाई देने लगा। क्षण-भर भी यदि मैं वहाँ रुक जाती तो पागल हो जाती । मैं सहनशील थी, क्षत्रिय-कन्या थी, वीर माता थी, फिर भी थी तो मैं एक स्त्री ही। कौन-सी स्त्री दुख के इन आघातों को इस भयावह निर्जन अरण्य में रहकर सहन कर लेती ? अब मेरे सामने एक ही मार्ग था और वह था फिर से हस्तिनापुर लौट जाना। अपने लिए नहीं, पुत्रों के लिए अपना मन मारकर मैं हस्तिनापुर लौटने को विवश थी। इस समय मैं एक असहाय माता थी। माता अपना मान नहीं जानती। केवल ममता और वात्सल्य जानती है वह। अबोध पुत्र और धात्री के साथ क्या मैं अरण्य में रह सकती थी ? जिस शाप के कारण मैंने हस्तिनापुर छोड़ा था, उसी शाप के कारण मुझको फिर हस्तिनापुर का मार्ग पकड़ना पड़ रहा था। आते समय महाराज, मैं, माद्री और धात्री थी। लेकिन लौटते समय महाराज और माद्री के रूप में ये पाँच पुत्र थे। प्राणों से भी अधिक प्रिय समझकर यदि इनकी देखभाल की जायेगी, तब तो भविष्य में ये कुछ कर सकेंगे। नहीं तो...नहीं तो वास्तविकता की अग्नि में आज तक जैसे हमारे जीवन के अंकुर जले थे वैसे ही इन पाँच बालकों के भी जल जायेंगे ! अब रोने से मेरा काम नहीं चल सकता था, रोने से भवितव्य बदला नहीं करता। परिस्थिति की चुनौती को मुँह-तोड़ उत्तर देना ही इस समय उचित हो सकता था। स्त्री को अबला कहनेवाले समाज को और प्रकृति को दोनों को मुझे यह दिखा देना था कि प्रतिकूल परिस्थितियों के पंक में भी मैं पाँच कमलों को अच्छी तरह पाल-पोस सकती हूँ। हम शतशृंग पर्वत को छोड़कर हस्तिनापुर की ओर चल दिये—पूरे बीस वर्ष बाद । इन बीस वर्षों में हस्तिनापुर शायद बिलकुल ही बदल गया होगा। महारानी कुन्ती के प्रति नगरजनों की भावनाएँ धूमिल हो गयी होंगी।

सैंतीस

एक मास बाद हम लोग फिर गंगा किनारे आये । दूर हस्तिनापुर दिखाई दे रहा था। गंगा पर आते ही मुझको राजमाता के उन कुण्डलों की याद आयी, जिनको मैंने कानों से उतारकर पानी में फेंक दिया था। गंगा की कीचड़ में दब गये होंगे वे। और...और मैंने उस समय अश्वनदी में जो दो जीवित कुण्डल छोड़े थे, वे अब कहाँ होंगे ? कैसे होंगे ? इतने वर्षों में उस अबोध बालक का क्या हुआ होगा ? एक सारथी के कुल में वह सारथी के रूप में बड़ा हो

रहा होगा। घोड़ों की मालिश कर रहा होगा। अपने कुण्डलों के सम्बन्ध में सबसे प्रश्न करता होगा। मेरे भवितव्य की ऐसी दुर्दशा होगी, यह यदि मुझको तभी मालूम पड़ जाता, तो मैं उसे ही लेकर कहीं चली जाती। परन्तु जिस कल्पना से मैंने उसका त्याग किया था, वह कल्पना भी क्या साकार हो सकी ? एक महारानी के रूप में मैं कितने दिन हस्तिनापुर में बिता सकी थी ? उसके त्याग के बदले में न्याय-निष्ठुर काल ने मुझसे भयंकर प्रतिशोध लिया था। लेकिन अब मुझको अन्यथा विचार नहीं करना था। नारी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अधिक से अधिक रचनात्मक कार्य करना जानती है। अपने पाँच पुत्रों की देखभाल करना ही अब मेरा एकमात्र कर्तव्य था। सुनहले कुण्डलवाले वह लड़का तो उस उद्यान में अशोक वृक्ष से नीचे गिरे हुए चण्डोल पक्षी के बच्चे-जैसा ही था। उसमें किसी का दोष नहीं था। यदि था भी तो केवल अनिवार्य परिस्थिति का ही। केवल समय ही उसको फिर अपने भाइयों से मिला सकता था। और कोई नहीं। न पृथा, न पृथा का पिता, न दुर्वासा ।

हम सबने नगर में प्रवेश किया। इस नगर में पहली बार मैं महारानी बनकर आयी थी, फिर संन्यासिनी बनकर बाहर गयी थी और अब लगभग बीस वर्षों बाद एक विधवा के रूप में प्रवेश कर रही थी। परन्तु फिर भी मेरा मन शान्त था। दुख के निरन्तर आघातों से अब वह कैसा हो गया था। मैं जान गयी थी कि शोक दुख की अन्तिम औषधि नहीं है। घटित होनेवाली प्रत्येक घटना अटल होती है। उसका भी कुछ न कुछ गूढ़ अर्थ होता है। कुछ न कुछ कारण होता है। संसार में कोई घटना निरर्थक नहीं होती।

हम लोग राजप्रासाद आये। अब राजमाता मुझसे महाराज के सम्बन्ध में कुछ पूछेगी, यह सोचकर मैं अपने मन को तैयार करने लगी। लेकिन अमात्य ने मुझपर एक और प्रहार किया। उन्होंने कहा, “महाराज असमय ही राज्य त्यागकर अरण्य जा रहे हैं, इस समाचार से उनको ऐसा धक्का लगा कि उन्होंने सदा के लिए ही हस्तिनापुर छोड़ दिया।”

अब मेरे लिए एक ही अवलम्ब था और वह थे महाराज भीष्म। उनका मन विशाल था। उन्होंने मुझको देखते ही स्नेह से पूछा, “कुन्ती, पाण्डु और माद्री कहाँ हैं?”

मैंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, “वे किंदम ऋषि से मेरे भवितव्य का अन्त पूछने गये हैं।”

आगे बढ़कर उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और धीर गम्भीर स्वर में बोले, “उस अन्त को वह क्यों बतायेगा ? उसके लिए मैं भीष्म ही समर्थ हूँ। कुन्ती, आज से तुम कौरवों की राजमाता हो। भवन में जाओ।”

अपने पाँच पुत्रों के साथ धात्री को लेकर भवन की सीढ़ियों पर पैर रखते हुए मैंने पितामह की ओर देखा। उत्तरीय के छोर से वे अपनी आई आँखों की पलकें पोंछ रहे थे।

अड़तीस

बीस वर्षों में हस्तिनापुर एकदम बदल गया था। राज्य के सभी सूत्र महाराज धृतराष्ट्र के हाथों में चले गये थे। हम लोगों के अरण्य में चले जाने के बाद शीघ्र ही गान्धार देश की रूपसम्पन्न गान्धारी देवी से उनका विवाह हो गया था। देवर विदुर का भी विवाह हो गया था, लेकिन वे सलाह देने के अतिरिक्त अन्य किसी राजकार्य में ध्यान नहीं देते थे। राजप्रासाद में कौरवों के सभी वृद्धपुरुष अनन्त-यात्रा पर बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे। अकेले महाराज भीष्म हिमालय की तरह दृढ़ खड़े होकर गम्भीरतापूर्वक चारों ओर देखभाल कर रहे थे। महारानी गान्धारी देवी को महर्षि व्यास के वरदान से सौ पुत्र और एक पुत्री हुई थी। लड़की का नाम दुःशला था। पुत्रों में सबसे बड़ा दुर्योधन था। कौरव वंश वटवृक्ष की तरह फैल गया था। द्रोण नामक कुशल गुरु सभी राजकुमारों को युद्ध-विद्या सिखाने के लिए नगर में आये हुए थे। मैं राजमाता के रूप में राजभवन में रहने लगी। महाराज के पुत्र होने के कारण मेरे पुत्रों को सभी लोग बड़े प्रेम से रखने लगे। भूतकाल में महाराज की दिग्विजय से तथा पितामह भीष्म के भय से सभी लोग राजमाता के रूप में मेरा सम्मान करने लगे। मेरे पुत्र युवराजों की युद्ध-शाला में युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्त करने लगे। जन्म से ही कुशाग्रबुद्धि और विनम्र होने के कारण वे सबको अच्छे लगने लगे। अर्जुन तो गुरु द्रोण का सर्वाधिक प्रिय शिष्य हो गया था। वे सदैव कहा करते, “अर्जुन-जैसा धनुर्धर सम्पूर्ण आर्यावर्त में नहीं होगा।” पुत्र भी आपस में स्नेहपूर्ण व्यवहार करते थे। वे सौतेले भाई थे, यह बात कोई कहने पर भी विश्वास न करता।

परिस्थिति के क्रूर थपेड़े खाता हुआ मेरा मन यह सब देखकर कुछ निश्चिन्त हुआ। मेरे लौट आने से बालकों का कल्याण ही हुआ है, यह देखकर मैं मन ही मन सुखी हुई। अब राजमाता बनकर मैं सुख-सन्तोष से रह सकती थी। बीस वर्ष के वनवास की भट्टी में तपकर निकला हुआ था यह राजमाता का पद। मुझको उसपर अभिमान था। और क्यों न होता ? परिस्थिति की सभी चुनौतियों को एक स्त्री होकर भी मुझ अकेली ने कितने अनपेक्षित धैर्य से स्वीकार किया था ! और शान्त होकर। राजमाता के रूप में मेरा जीवन अब सन्तोष की साँस लेने लगा। पाँच पुत्रों की ओर आशा से देखने लगा। लेकिन....लेकिन कभी-कभी बीच में ही मुझको भोजपुर में जन्मे अपने प्रथम पुत्र की याद आ जाती थी और तब मन व्याकुल हो उठता था।

उनतालीस

हस्तिनापुर में आने के उपरान्त दो वर्ष बाद की एक घटना है। मैं एक नगर के अन्दर विष्णु के मन्दिर में देवदर्शन के लिए गयी। पितामह भीष्म ने मेरे लिए परदोंवाला एक विशेष रथ तैयार करवा दिया था। उस दिन मैं उसी में बैठकर नगर में गयी। उस रथ में छह घोड़े जोतने की व्यवस्था थी, परन्तु मैं सारथी को सदैव पाँच घोड़े ही जोतने को कहती। वह कहता था, “राजमाता, एक घोड़ा न जोतने से रथ का सौन्दर्य नहीं दिखाई देता। इसके अलावा रथ का सन्तुलन भी ठीक नहीं रहता।” मैं उससे कहती, “यों ही रहने दे ! वह रिक्त स्थान मुझको सदैव किसी की याद दिलाता रहेगा। तू पाँच घोड़े ही जोता कर। जग को पाँच का अंक अच्छा लगता है, छह का नहीं।”

उस दिन हम देवदर्शन करके लौट रहे थे। रथ राजप्रासाद के समीप आ चुका था। थोड़ा ही अन्तर रह गया था। लेकिन एक ज़ोर का आघात लगा और रथ बीच में ही रुक गया। मैंने सारथी से कहा, “क्या हुआ ? रथ क्यों रोक दिया ?” वह बोला, “एक अनजान बालक रास्ते में आ गया है, राजमाता ! रथ के नीचे कुचल जानेवाले एक बिल्ली के बच्चे को बचाने के लिए उसने अपने प्राण संकट में झोंक दिये हैं। मैंने घोड़े रोक लिये, इसीलिए वह बच गया।”

मुझको उस लड़के पर आश्चर्य हुआ। अपने प्राण संकट में डालकर वह बिल्ली के एक बच्चे को बचा रहा था। और मैं...मैं माता होकर भी अपने पुत्र को स्वयं ही दूर धकेल चुकी थी। कितना बड़ा हो गया होगा वह ?....इस समय यदि वह मेरे पास आ जाता तो मैं उसको अपनी छाती से लगा लेती। परन्तु....परन्तु....

सामाजिक रूढ़ियों का परदा मुझको उसके नगर में जाने की अनुमति नहीं दे सकता था। क्या करता होगा वह....? कितना बड़ा हो गया होगा ? कहाँ होगा....? किसको अपनी माता मानता होगा ?-आदि-आदि अनेक विचार मेरे मन में आये। भवन में जाकर तल्प पर चुपचाप लेटने के विचार से मैं सारथी से बोली, “पल-भर भी मत रुको। जल्दी रथ बढ़ाओ।”

उसने हाथ का प्रतोद घोड़ों पर फटकारा। ध्वनि को सुनते ही मेरे मन में विचार आया कि मेरा पुत्र भी कहीं ऐसे ही घोड़े की पीठ पर कशाघात तो नहीं कर रहा होगा? इस विचार से मन विद्ध हो गया। क्या नाम रखा गया होगा उसका....? कितना बड़ा दिखाई देता होगा वह ?....उसके कुण्डल कैसे दिखाई देते होंगे ?....विचार करते-करते ही मैं राजप्रासाद पहुँच गयी।

चालीस

काल की नदी दिन और रात के मोड़ लेती हुई बह रही थी। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक लोकप्रिय होते जा रहे थे। नगर के सभी लोग आदर के साथ उनका उल्लेख करते थे। मेरा मन फिर सुख के झूले पर झूलने लगा। महाराज के नाम पर लोग मेरे सब पुत्रों को पाण्डव कहने लगे।

सभी पुत्र बिना मुझसे पूछे कभी कोई काम नहीं करते थे। मैंने जो कष्ट सहन किये थे, उसका प्रतिफल मुझे मिला। कभी-कभी उन पाँच पुत्रों को देखकर मेरी आँखों में आनन्द के आँसू भर आते। मेरा मन अब शान्त था। लेकिन जैसे हाथी के पैर से किसी तालाब की शान्त सतह मथित हो जाती है, वैसे ही कभी-कभी एकाध घटना से मेरे मन का शान्त धरातल विक्षुब्ध हो जाया करता। तब अनेक प्रकार की स्मृतियों की याद इधर-उधर फिरने लगती। शैशावस्था से लेकर अब तक का मेरे जीवन का चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता। और तब अपने धैर्य पर मुझको स्वयं ही आश्चर्य होता। कहाँ से चलकर मैं कहाँ पहुँची थी ? इस बीच एक भी डग मैंने कभी अपनी इच्छा से उठाया था क्या ? सत्य है कि मनुष्य समाज में घूमता-फिरता है, परन्तु भीतर उसका मन एकाकी ही होता है। प्रत्येक को अपना दुख स्वयं ही सहन करना पड़ता है। जो रक्त-पेशियाँ मिली होती हैं उन्हीं के बल पर जीवन-भर दौड़ना होता है। यह बात मैं अब अच्छी तरह जान गयी थी। बाघ जैसे हरिणों का पीछा करता है, वैसे ही जब-जब स्मृतियाँ मेरा पीछा करतीं, तब-तब मैं अपना मन किसी न किसी काम में उलझा लेती। भूतकाल का चित्र अदृश्य हो जाता। कभी-कभी केवल दूसरे के लिए ही जीना पड़ता है; और वह भी अपने आँसू छिपाकर जीना पड़ता है। मैं इसी तरह जी रही थी।

पाण्डवों के रूप में मेरे पुत्रों की कीर्ति आस-पास के सभी राज्यों में फैलने लगी। महाराज धृतराष्ट्र मुझसे बातें करते समय बार-बार आदर से उनका उल्लेख करते थे। अब मैं केवल राजमाता नहीं थी, बल्कि पाँच बलवान् वीरों की माता थी। कभी अरण्य में मैंने बीस वर्ष बिताये हैं-यह बात भी मैं भूल गयी। आह, सुख के दिन भी कितनी जल्दी बीतते हैं ! युद्धशाला में पुत्रों के शिक्षण का समय कितनी शीघ्रता से बीतता जा रहा था ! कल-परसों तक मुझसे बचकाने प्रश्न करनेवाले युधिष्ठिर और भीम अब कितने बड़े और मितभाषी हो गये थे ! बढ़ती हुई अवस्था के साथ उनकी बुद्धि भी बढ़ती जा रही थी।

शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह भीमार्जुन बड़े हो रहे थे। वे दिन-रात युद्धशाला में परिश्रम करने लगे। शूल, तोमर, शतघ्नी, भुशुण्डि, चक्र, धनुष आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों में वे दक्ष होने लगे। घण्टों तक वे शस्त्रास्त्रों पर चर्चा करने लगे। व्यायामशाला में कसे हुए उनके शरीर सुदृढ़ और हृष्ट-पुष्ट दिखाई पड़ने लगे। अपने विनीत स्वभाव से वे सबका मन मोहने लगे। अर्जुन धनुर्विद्या में प्रवीण हो गया। युधिष्ठिर धर्मशास्त्र में पारंगत हो गया। भीम तो किसी अशोकवृक्ष की तरह गोल-मटोल दिखाई देने लगा। उसकी गौर भुजाओं के पुष्ट

स्नायु गदा के दण्ड की तरह ऐंठे हुए दिखाई देने लगे। नकुल-सहदेव खड्ग में निपुण हो गये थे। मेरी चरण-धूल लेकर आशीर्वाद प्राप्त किये बिना वे कोई कार्य नहीं करते थे।

भीम का स्वभाव कुछ क्रोधी था। वह सदैव हाथ में गदा लिये घूमता रहता। उसके विशालकाय शरीर तथा हाथ की गदा को देखकर कोई उससे चूँ तक नहीं करता था। उसको बहुत शीघ्र क्रोध आ जाता। भुजाओं में शक्ति होने के कारण वह किसी की निन्दा या शाब्दिक अपमान नहीं करता था, वह तुरन्त ही सम्बन्धित व्यक्ति की ठुकाई कर देता। मैं उसको सदैव इन सब बातों से रोकने का प्रयत्न करती। मेरे सामने वह एक शब्द भी नहीं बोलता। उसको समझाने की शक्ति और किसी में नहीं थी। परन्तु उसके क्रोधी स्वभाव को बदलना मेरे लिए भी सम्भव नहीं था। मेरी अनुपस्थिति में वह सदैव किसी न किसी से लड़ाई मोल ले लेता। उसको गदा में अत्यधिक रुचि थी। यह रुचि दुर्योधन में भी थी। उनको गदा सिखाने के लिए मथुरा से मेरा भतीजा बलराम आया था। मेरे आने के बाद मथुरा में पिताजी को एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। उसका नाम वसुदेव था। बलराम वसुदेव का पुत्र था। वसुदेव का एक पुत्र और था। उसका नाम कृष्ण था। वह मथुरा में ही था।

बलराम की गदा की कक्षा में कभी-कभी दुर्योधन और भीम में ठन जाया करती। उसका वृत्तान्त मेरे कानों तक आता रहता। मैं भीम को सदैव समझाती रहती। परन्तु दिनों-दिन बढ़ती हुई उसकी शारीरिक शक्ति उसको कभी चुप नहीं बैठने देती थी। दुर्योधन तो बड़ा हठी और घमण्डी था। उसकी कंजी आँखों में क्या छिपा है, यह बताना कठिन था।

भीम के क्रोध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए मैंने एक रोचक प्रतिज्ञा रखी। उस समय वह प्रसन्न-मुद्रा में था। उस सबमें युधिष्ठिर अतिशय शान्त और विचारशील था। उसके विचार का अंकुश सदैव भीम पर रहे, यह सोचकर मैंने उससे कहा था, “भीम तुझको कभी कितना ही क्रोध आये, तू सदैव युधिष्ठिर के दायें पैर के अंगूठे की ओर देखना। वह अपना अँगूठा ऊपर करे, तभी तू बोलना, अन्यथा चुप रहना। मुँह भी मत खोलना। यह मेरी आज्ञा है।”

वह भी उस प्रतिज्ञा का आज तक पालन करता आ रहा था। बड़ा होने पर भी युधिष्ठिर के सामने भीम विषदन्त टूटे हुए सर्प की तरह निस्तेज हो जाता था।

एक बार बड़ी विचित्र बात मैंने सुनी। उस दिन दुर्योधन और उसके भाई मेरे सभी पुत्रों के साथ नगर के बाहर वन-विहार करने गये थे। दोपहर तक वे सभी वन में घूमते रहे। जाते समय वे अपने साथ मधुर पकवान ले गये थे। दोपहर को सभी एक सरोवर के किनारे अल्पाहार करने बैठे। उस दिन दुर्योधन भीम को अपने हाथों से मोदक खिलाने लगा। खाने की कोई भी वस्तु भीम अधिक विचार किये बिना ही खा लेता था। यह उसका स्वभाव था। इसलिए दुर्योधन खिलाता गया और भीम खाता गया। आहार समाप्त होने पर सब पानी पीकर विश्राम करने के लिए एक वृक्ष के नीचे लेट गये। परन्तु भीम पानी पीने के लिए भी

नहीं उठ सका। वह वहीं पर गिर पड़ा। सबने समझा कि वह निद्रालु है, इसलिए उसको नींद आ गयी होगी। लेकिन वह सोया नहीं था। वह मूर्छित हो गया था। दुर्योधन ने मोदकों में उसको मूर्च्छित कर देनेवाली औषध खिला दी थी। सबको पेड़ के नीचे लेटे हुए देखकर दुर्योधन धीरे से उठकर भीम के पास आया। सरोवर के किनारे खड़ी वनलताओं से उसने भीम के हाथ-पैर कसकर बाँध दिये और उसको मूर्छित अवस्था में ही उठाकर सरोवर में फेंक दिया। पानी का स्पर्श होते ही मेरा भीम धीरे-धीरे जाग्रत हुआ। चैतन्य होकर बाहर आया। हो सकता है कि ईश्वर की कृपा होने से किसी जलदेवता ने ही उसकी रक्षा की हो।

मुझको यह वृत्तान्त एक सेवक ने बताया था। लेकिन इसपर मुझको विश्वास नहीं हुआ। क्योंकि मुझको पूरा विश्वास था कि मेरे शेष चार पुत्र उसको अकेला छोड़कर तिल-भर भी इधर-उधर नहीं गये होंगे। इसके अतिरिक्त, भीम प्रतिदिन जो आहार करता था, उससे मैं यह बात जान गयी थी कि उसकी आँते सब प्रकार के विष को पचा जाने में पूर्ण समर्थ हैं।

इकतालीस

एक-एक करके वारह वर्ष बीत गये। पुत्र खदिर वृक्ष की तरह ऊँचे और विशालकाय हो गये। जब वे पाँचों चलते, तो रथ के पाँच घोड़ों की तरह लगते थे। लोग आदर-पूर्वक उनको नमस्कार करते।

मैं अपने अरण्यवास को भी भूल गयी। प्रत्येक माता को अपने कर्तृत्ववान् तरुण पुत्र पर सदैव अभिमान होता है। मुझको तो पाँच कर्तृत्ववान् पुत्र प्राप्त हुए थे। फिर मुझे उनपर अभिमान क्यों न होता ! जैसे सुख मुझपर मेरे पाँच पुत्रों के रूप में पंचामृत की वर्षा कर रहा था। अब तक मैंने जो कुछ सहन किया था, उसी का सुखद फल मिला था मुझे। मैं पाँच वीरों की माता थी। नगरजनों की राजमाता थी।

एक बार गुरु द्रोण सहज ही अपने सभी शिष्यों को लेकर स्नान के लिए गंगा पर गये। मेरे सभी पुत्र उनके साथ थे ही। सब लोग स्नान कर गंगा से बाहर निकले। सब बाहर निकल चुके हैं, इस विश्वास से गुरुवर्य द्रोण भी बाहर निकलने लगे। परन्तु किनारे के पास आते ही वे एकदम 'बचाओ ! बचाओ !' चिल्लाते हुए डगमगाने लगे। एक मगर की पूँछ बार-बार पानी के बाहर फड़फड़ाने लगी। पानी में मगर ने गुरुदेव का पैर पकड़ लिया था। किसी की समझ में न आया कि क्या किया जाये। सब इधर-उधर दौड़ने लगे। दुर्योधन ने आगे बढ़कर जैसे-तैसे गुरुदेव का हाथ पकड़ा। अर्जुन ने वह सारा दृश्य देखा। उसने तत्क्षण अपना धनुष उठाया और लगातार सात-आठ बाण उस मगर पर छोड़े। लहराता हुआ वह मगर सूखी लकड़ी के कुन्दे की तरह क्षण-भर में पानी से बाहर निकल आया।

गंगा का पानी उसके रक्त से लाल हो गया। गुरुदेव द्रोण छुटकारा पा गये। बाहर आते ही उन्होंने अर्जुन की पीठ थपथपायी। यह भविष्य में तेरे काम आयेगा।" अभिचार के साथ उन्होंने अर्जुन को ब्रह्मास्त्र दिया। इस घटना के बाद मुझको अर्जुन अपनी आशा-आकांक्षाओं का हिमालय-सा लगने लगा। अपने शापदग्ध भाग्यहीन पिता के कर्तृत्व की अपूर्ण धवल रेखा को पूर्ण करने का भार उसी पर था।

गुरु द्रोण प्रायः राजभवन में आते रहते थे। वे मेरे सभी पुत्रों का उल्लेख करते। मेरे साथ वे सदैव बड़ा आदरपूर्ण व्यवहार किया करते। मैं अर्जुन की माता हूँ, यह बात वे सबसे बड़े अभिमान से कहते थे। ऐसे ही एक बार वे बोले, "राजमाता, अब सभी शिष्य पूर्ण कुशल हो गये हैं। अब सबकी एक बार परीक्षा लेनी चाहिए। पुरुषार्थ बिना स्पर्धा के प्रकट नहीं होता।"

"परन्तु गुरुदेव ! कहते हैं कि स्पर्धा मनुष्य को अन्धा कर देती है। यदि यह सच है तो फिर स्पर्धा का आयोजन क्यों ?"

"यह बात नहीं है। स्पर्धा जीवन का आवश्यक अंग है। स्पर्धा न हो तो मनुष्य कुण्ठित हो जाये। उसके वास्तविक गुण कभी प्रकट ही न हो सकें। विशुद्ध स्पर्धा का अर्थ है आत्मा का निश्छल स्वर। मैं शीघ्र ही सभी शस्त्रास्त्रों की स्पर्धाओं का आयोजन करवाऊँगा।

"शीघ्र ही, अर्थात् कब ?"

"आगामी वासन्तिक पौर्णमासी को ही।

इसके बाद सबको अमात्य द्वारा स्पर्धा के दिन की सूचना भिजवा दी गयी। मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी। क्योंकि मैं अपने पुत्र का युद्ध-कौशल देखना चाहती थी। वह कितना पराक्रमी है-यह जानना चाहती थी मैं।

बयालीस

वासन्तिक पौर्णिमा का वह दिन आया.....और अस्त भी हो गया। हस्तिनापुर के सर्वश्रेष्ठ वीर का चुनाव हो गया था। पाण्डवों की माता के रूप में मैं अखाड़े में राजस्त्रियों के मण्डप में सभी स्त्रियों के बीच बैठी हुई थी। परन्तु उस दिन की घटनाओं ने मुझे यह अच्छी तरह बता दिया कि मैं कौन हूँ। समय-काल ने संसार की किसी माता की इतनी क्रूर परीक्षा न ली होगी। उसका इतना अपमान न किया होगा।

उस दिन स्पर्धा समाप्त होने पर गुरु द्रोण अर्जुन के गले में सम्मानसूचक नील कमलों की माला डालने ही वाले थे कि इतने में ही एक लम्बा, तेजस्वी और हृष्ट-पुष्ट युवक अखाड़े के

महाद्वार से भुजदण्ड ठोकता हुआ और 'ठहरो' कहता हुआ भीतर आया। कितना निर्भय और गम्भीर था वह.... क्षण-भर में वह बीचवाले पत्थर के चबूतरे पर चढ़ गया और वहाँ खड़ा होकर चिल्लाया, “राजकुमार अर्जुन ने आज इस स्थान पर जो पराक्रम कर दिखाये हैं, उन सबको मैं अभी करके दिखा सकता हूँ। क्या मुझको अवसर मिलेगा ?”

महाराज धृतराष्ट्र ने राजदण्ड उठाकर उसको अनुमति दी। उसके बाद वह कितनी सरलता से उस चबूतरे पर से कूद पड़ा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे एक तेजपुंज ही उसका रूप धारण कर समस्त अखाड़े में बिजली की तरह इधर-उधर चमक रहा हो। उसके समस्त कार्यकलापों में अद्भुत गति थी। अखाड़े बदलते-बदलते अन्त में वह मल्लविद्या के अखाड़े में हमारे मण्डप के ठीक सामने ही आ गया। केवल एक कटिवस्त्र पहने हुए वह युवक पैरों पर चलता हुआ साक्षात् नागशत पर्वत था। उसका खुला हुआ अंग सूर्य प्रकाश में इतना देदीप्यमान हो रहा था कि सूर्यदेव आकाश में हैं या धरती पर यही समझ में नहीं आ रहा था। वह आकाश के उदर में घुसनेवाले शालवृक्ष की तरह लम्बा था। पलाश के लाल-लाल फूलों-जैसे उसके गदराये हुए लाल गाल थे। सिंह के अयाल की तरह घुघराले सुनहले लम्बे केश उसके विशाल कन्धे पर झूल रहे थे। बीच-बीच में वह अपनी पीठ हमारी ओर कर देता। उसकी पीठ कटहल की एकदम पीली फाँक की तरह विशाल और स्वच्छ थी। उसके तनिक हिलने पर ही उसके सम्पूर्ण शरीर के कसे हुए स्नायु लहराते हुए तेजस्वी भुजंग की तरह उसी स्थान । पर गोल-गोल फिरने लगते। उसकी मुख-मुद्रा गदा के शिरस्त्राण की तरह एकदम मण्डालाकर थी। उसकी ग्रीवा शंख की तरह ऐंठी हुई थी और वह दृढ़ कन्धों में ऐसी जुड़ी हुई थी जैसे कीचड़ में हाथी का पैर गड़ा हुआ हो। प्रेक्षकगण 'कर्ण ! कर्ण !' कहकर उसका जय-जयकार कर रहे थे। मल्ल युद्ध करते हुए उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी पर बाहुकण्टक नामक कठिन दावँ मारा । उसका प्रतिद्वन्द्वी प्राणों के भय से हाथ-पैर पटकने लगा। उस वीर ने हमारे मण्डप की ओर देखा। मेरे सिर पर जैसे शम्पाएँ टूट पड़ीं। उसके लाल गोल मुख पर कुछ लाल-सा नीला प्रकाश फेंकते हुए दो सुनहले कुण्डल गर्व से उसके कानों में झूल रहे थे। वह और कोई नहीं था-पचीस वर्ष पहले मैंने अश्वनदी को जिसे अर्पित किया था, वही साक्षात् सूतपुत्र था वह। मानो अपने पिता का रूप लेकर ही वह सबको भस्म करने के लिए वहाँ आया था। कितना गर्वीला दिखाई पड़ रहा था वह ! वन्य घोड़े की तरह गर्वीली चाल थी उसकी।

मेरे शेष पाँचों पुत्रों की अपेक्षा वह सबसे अधिक सुन्दर था। आखिर वह सूर्यपुत्र था ! उसका सम्पूर्ण अंग तेज के कण उगल रहा था। 'कर्ण !' दो अक्षरों के इस नाम में क्या-क्या रहस्य छिपा हुआ था, यह धात्री और मेरे सिवा उस भव्य अखाड़े में किसी को भी ज्ञात नहीं था। स्वयं कर्ण को भी। पौरजन वीर के रूप में उसका जय-जयकार कर रहे थे। परन्तु वह साधारण वीर नहीं था। वह वीरों का वीर था। यही उसका वास्तविक स्वरूप था। मेरा वह

सर्वप्रथम पुत्र था। प्रथम और ज्येष्ठ पाण्डव । उसके लिए बीस वर्षों तक विलाप करनेवाला मेरा मातृत्व और तड़पने लगा। वहाँ के सभी लोग भले ही पृथ्वी के गर्भ में समा जाते, मुझको उनकी चिन्ता नहीं थी। मैं एक बार उसको जी-भर अपने अंक में भर लेना चाहती थी। उसके कानों के कुण्डलों को चूमना चाहती थी –बीस वर्षों से उनको भला कहाँ चूम पायी थी ? गंगा-यमुना-चर्मण्वती और अश्वनदी के जल में पले हुए अपने तेजस्वी प्रफुल्ल सुनहले कमल को मैं अपने हाथों से जी भरकर सहलाना चाहती थी। बीस वर्षों से मेरे मन का एक कोना उसके लिए आँसू बहाता आ रहा था। मैं उसको एक बार भी अच्छी तरह दूध नहीं पिला सकी थी। माता का मन मुझको क्षण-भर भी चैन से नहीं बैठने दे रहा था। हृदय में वियोग की ऐसी उथल-पुथल मची हुई थी, जो मेरे लिए नयी थी, अननुभूत थीं। जो दूध उसके नन्हे-नन्हे होंठों के लिए अपरिचित रहा था, वही मेरे शरीर में वेगपूर्वक फिरने लगा। छाती तराने लगी। मैं उठकर खड़ी हो गयी। उसको देखते ही मेरे स्तनों में दूध आ गया। कंचुकी दूध से भीग गयी। समझ में नहीं आया कि क्या करूँ ?

मेरे और उसके बीच केवल एक झिलमिलाता परदा था। वैसे वह बहुत पारदर्शी था, लेकिन उसको लाँघना कठिन था ! एक माता को अपने पुत्र से दूर रखनेवाला परदा था वह, समाज का परदा ! राजकुल का परदा ! प्रतिष्ठा का परदा ! इस परदे को फाड़कर यदि मैं आवेग से आगे बढ़ जाती तो ? तो...तो क्या हो गया होता ? कर्ण मुझसे लिपट जाता क्या ? क्या माता के प्रति प्रेम से उसकी आँखें भर आती ?

उसके कन्धे पकड़कर उनको झकझोरते हुए यदि मैं यह कहती कि “मैं तेरी माता हूँ,” तो इस पर वह विश्वास कर लेता क्या ? यदि कोई पागल भी अखाड़े में यह कह देता कि पति के निधन ने और वनवास ने राजमाता को विक्षिप्त कर दिया है, तो क्या सभी लोग उस पागल को ही बुद्धिमान् नहीं मान लेते ? उस समय मैं कौन थी? राजमाता ? पाँच वीरों की माता ? जो आज तक क्रूर काल के सभी तरह के थपेड़े खाती चली आयी थी -वह दुखी कुन्ती ? नहीं, उस समय एक पुत्र को अपने अंक में भरने के लिए तड़पनेवाली एक चिरविरहिणी माता थी मैं। परन्तु मैं असहाय थी। जल से बाहर निकली हुई मछली की तरह मैं छटपटा रही थी। उसके दर्शन से शरीर के बन्धनों को तोड़कर स्तनों में आ जानेवाला दूध मुझसे रोका नहीं जा रहा था। जगत् की दृष्टि को कर्ण बड़ा वीर दिखाई दे रहा होगा, परन्तु मुझको तो वह सद्यःजात शिशु-सा लग रहा था। मेरा मन पिंजरे में बन्द मैना की तरह भीतर ही भीतर फड़फड़ाने लगा। विवश होकर मैंने वक्षस्थल दबाया, फिर भी दूध रुक नहीं रहा था। यह वह दूध था जो अठारह वर्षों तक प्राणों की तरह मैंने छिपा रखा था। अब वह रोका नहीं जा सकता था। मैं तत्क्षण नीचे बैठ गयी। धात्री मुझको सँभालने लगी। उसको दूर का कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। इसलिए अखाड़े में कौन था, यह वह नहीं जान सकी। उस अखाड़े में मैं ही एकमात्र ऐसी स्त्री थी, जो कर्ण का जीवन-वृत्तान्त जानती थी। मेरे कारण

ही यह सब-कुछ हुआ था। मैं अपने एक ही शब्द से अखाड़े का स्वरूप ही बदल सकती थी। लेकिन मैं एक शब्द भी नहीं कह सकती थी। प्रयत्न करने पर मुख एक भी शब्द नहीं निकल पा रहा था।

कर्ण धनुर्धर के चबूतरे पर से चला गया। उसने वह लक्ष्यभेद किया कि सबकी आँखें चकाचौंध हो गयीं। वही उस दिन का सच्चा सर्वश्रेष्ठ वीर माना गया। लेकिन माला अर्जुन के गले में पड़ने से वातावरण विक्षुब्ध हो गया था, कर्ण ने चबूतरे पर खड़े होकर भुजाएँ ठोककर अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा। कृपाचार्य ने कर्ण से कुल पूछा। दुर्योधन ने आगे बढ़कर चबूतरे पर ही कर्ण का राज्याभिषेक किया।

घटनाचक्र तेजी से मुड़ा।

एक सारथी के रूप में पला हुआ सूर्यपुत्र क्षण-भर में राजा हो गया। इससे क्षणभर के लिए मेरे मन का एक कोना सुखी हो गया। जैसे भी हुआ हो, लेकिन वह राजा हो गया था। सारथी से तो राजा सदा ही श्रेष्ठ है। परन्तु उसने अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध की चुनौती दी थी। द्वन्द्व का अर्थ है विजय या मरण। सगे भाई अज्ञान के कारण एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हो गये थे। और वह भी अपनी माता को सामने साक्षी बनाकर। वह तो दैव बलवान् था कि उसी समय कर्ण का पालन करनेवाला पिता अधिरथ चबूतरे पर आ गया। नहीं तो ?...आह, क्या हुआ होता — इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। दोनों में से एक अन्त हो गया होता। वह भी उनकी माता के सामने। और सारे प्रेक्षकगण तालियाँ बजाते तथा चिल्लाते हुए उसको देखते। लेकिन कर्ण सारथी का पुत्र है, यह ज्ञात होते ही सबने उसका उपहास प्रारम्भ कर दिया। सब लोग 'सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !' कहकर उसका अपमान करने लगे। क्षुद्र कीट साक्षात् सूर्यपुत्र पर थूकने लगे। और वह भी उसकी माता के सम्मुख। 'सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !' लोगों की ये पुकारें भाले की नोक की तरह मेरे अंग अंग में घुस रही थीं। किसको वे सारथी कह रहे थे ? हस्तिनापुर के इन क्षुद्र कीटों में से किसी एक में भी उसको पहचानने की योग्यता थी क्या ? मेरे मस्तक में उनके स्वरों के घनाघात होने लगे। सामने का अखाड़ा अस्पष्ट और धूसरित होकर मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगा। सहन-शक्ति की भी एक सीमा होती है। मेरे आस-पास जो कुछ हो रहा था वह क्या था ? पागल लोगों का वह एक भद्दा दृश्य नहीं था क्या ? मैं उसको रोक नहीं सकती थी। मेरे शरीर का सन्तुलन धीरे-धीरे नष्ट होने लगा। मैंने दोनों हाथों से अपने कान कसकर दबा लिये। जैसे आँधी में असहाय कदलीवृक्ष उखड़कर गिर पड़ता है वैसे ही धड़ाम से मैं नीचे गिर पड़ी। कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था, कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। मैं मूर्छित हो गयी।

तैंतालीस

मेरे पुत्र कर्ण, आज तेरी यह कैसी दशा हो गयी है ? आह, इसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। तू नहीं जानता कि तू कौन है ! जैसे मैनाएँ भुजंग को नोच नोचकर खा जाती है, वैसे ही चारो सारा संसार तुझको 'हीन-हीन' कह नोच-नोचकर खा रहा है। 'नीच कुल का, नीच कुल का' कहकर आज प्रतिक्षण सारे संसार में तेरा प्राणघाती अपमान किया जा रहा है। आज तेरा जीवन मृत्यु से भी अधिक भयानक अपमानजनक है। गरदन नीची करा देनेवाली हृदयविदारक घृणा ! वज्राघात से भी अधिक कठोर वंचना ! वीर होकर, शूर होकर, बलवान् होकर भी आज तुझे यह सब मृत मन से सहन करना पड़ रहा है, क्योंकि तुझे यह पता नहीं है कि तू कौन है ? जैसे ही सारा संसार चारों ओर से तुझपर टूट पड़ा, तू घबरा गया, भ्रान्त हो गया, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया; क्योंकि तुझे यह पता नहीं है कि तू कौन है ? लोगों ने तेरा अपमान करने में क्या कसर छोड़ी ? कोई और इतना सहन कर सकता था क्या ? कर्ण! अरे यह तेरी सहन शक्ति है, अज्ञान है या असमर्थता है ? मैं जानती हूँ कि यह तेरी सहन-शक्ति नहीं है। तुझको असमर्थ कहने का साहस भी कोई नहीं कर सकता । तू आज केवल अज्ञान के अन्धकार में है। तेरे मन में परस्पर विरोधी भावनाओं का भयानक द्वन्द्व मचा हुआ है, क्योंकि तुझे यह ज्ञात नहीं कि वास्तव में तू कौन है ? मैं जानती हूँ कि प्रखर तप्त अंगारे को घास कभी नष्ट नहीं कर सकती । परन्तु इस अंगारे पर आज मन की भ्रान्तिरूपी राख का आवरण पड़ गया है। सबने चारों ओर से जैसे ही शोर मचाया, तू घबरा गया। हाथों से अपने कान ढँककर तूने आँखें कसकर बन्द कर लीं। क्योंकि तू जिस तेजराशि का उद्भव है, उस तेज का नाम भी आज तुझको विदित नहीं । विगत बीस वर्षों में किसी ने तुझको यह बताया ही नहीं। अरे, बगीचे में जैसे जंगली केवड़ा बढ़ता है, वैसे ही विगत बीस वर्षों में तू केवल बढ़ा ही है। हृदय को बिद्ध कर देनेवाले सारे संसार के वाग्बाण आज तुझको सहन करने पड़ रहे हैं। संसार पागल है -तू क्या उदारतापूर्वक यह सब विचार करके चुप है ? अरे, यह 'सब हो क्या रहा है ? कर्ण, तू कैसी फिसलन-भरी भूमि पर खड़ा है, इसका तुझको बिलकुल पता नहीं है रे ! और यदि पता हो भी तो वह भ्रम है। तू यदि इसी तरह भ्रान्ति में पड़ा रहा तो सारा संसार तुझको 'सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !' ही कहता रहेगा और तेरा वास्तविक कुलशील लुप्त जायेगा। क्योंकि जिनके पास आत्मज्ञान और दूर-दृष्टि नहीं होती है, वे नष्ट हो जाते हैं। उनका नाम भी संसार में शेष नहीं रहता। ये सब बातें तुझको आज कौन समझाये ? मैं जानती हूँ कि तेरा मन विवश और भ्रान्त होकर—'मैं कौन हूँ ? मुझको क्या करना चाहिए ?'-इन प्रश्नों के उत्तर खोजता हुआ हर समय शरीर की दीवार पर सिर पटक रहा होगा ! आज तेरी आत्मा चिन्ता से जर्जर हो गयी है। तुझे अपने पैरों के नीचे से धरती खिसकती हुई लग रही होगी। क्योंकि अब भी

तुझको यह मालूम नहीं कि वास्तव में तू कौन है ? विगत बीस वर्षों में तुझको केवल यही बताया गया है कि तू 'सारथी का पुत्र है, तू सारथी का पुत्र है !' लेकिन क्या सचमुच ही तू सारथी का पुत्र है ? नहीं ! मेरे लाल, तू सारथी नहीं है ! इच्छा होती है कि त्रिवाचा भर हूँ-तू सारथी नहीं है !!!

तेरी परम्परा महान् है, कर्ण ! तुझको आज यह रूप और यह आकार देने के लिए किस-किसने क्या-क्या असीम कष्ट सहन किये हैं, कितने पुण्य व्यय किये हैं, इसका तुझको पता नहीं है, तू साक्षात् सूर्य का पुत्र है। संसार का भयानक अन्धकार दूर करने के लिए ही तेरा जन्म हुआ है। लेकिन आज तू दिवाभीत-सा अपनी हथेलियों में मुँह, छिपा रहा है। अरे, तेरा मुँह छिपाने के लिए नहीं, संसार में प्रकाश करने के लिए है। क्योंकि तेरी परम्परा महान् है, उस परम्परा की ओर देख ! उस तेज की धधकती हुई स्फुलिंग की ओर देख । तू स्वयं ही जान जायेगा कि सचमुच तू कौन है !

जैसे ही सबने तुझको नीच कहा, वैसे ही तूने घबराकर हस्तिनापुर की ओर देखा। सारा हस्तिनापुर एकदम चुप है आज। वह विवश है आज । ये भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर सबके सब विद्वान् हैं, त्यागी हैं, लेकिन आज तुझको तेरा वास्तविक रूप बताने में असमर्थ हैं। क्योंकि उनको भी क्या पता कि तू कौन है ? वे चुप रहे, क्योंकि वे स्वयं अज्ञान में हैं। कुछ सहायता मिलेगी, इस आशा से तूने चारों ओर देखा। लेकिन कौन करे तेरी सहायता ? कल यदि कोई महान् संकट तुझपर आ पड़े तो तुझको कौन सँभालेगा ? पागल, संसार की सहायता पर आज तक कोई जीवित रह सका है क्या ? प्रत्येक को अपना परिचय जानना पड़ता है। प्रत्येक को अपने महान् कुल का नाम मालूम करना पड़ता है। इसीलिए तो आज तेरी यह दुर्दशा हुई है। अरे, तू कहाँ से चलकर कहाँ आ गया—इसका तुझको पता नहीं है ! तू साक्षात् सूर्यपुत्र है; फिर भी ये जुगनू तुझपर थूक रहे हैं। लेकिन अपने अन्तर के द्वन्द्व से तू घबरा गया है। कब सँभलेगा तू?

यदि तू ऐसा ही रहा तो क्या होगा ? सचमुच ही सारथी बन जायेगा। नीच बन जायेगा। अपना प्रतोद ही अपने लिए अच्छा है—ऐसी एक विचित्र हीनता की भावना तेरे रोम-रोम में समा जायेगी। तू छिन्न-भिन्न हो जायेगा। किसी के रथ का सारथ्य करना ही केवल तेरा कार्य होगा। तू किसी के हाथ का केवल एक खिलौना बन जायेगा! तेरे स्वावलम्बन का और तेरी स्वतन्त्रता का नाम तक नहीं रहेगा ! तू यदि बाद में चेता तो भी क्या ? तबतक तो समय निकल चुकेगा ! उस समय मैं क्या, साक्षात् ब्रह्मदेव भी तेरी अवस्था को नहीं सुधार सकेंगे। रथ के चक्रों से उड़नेवाली धूल और परतन्त्र सारथी दोनों एक-से ही हैं। कर्ण, तू क्या ऐसी धूल ही बनेगा ! केवल धूल

इस विचार से और ऐसे ही अन्य भयानक विचारों से मैं उदास हूँ। क्योंकि मैं कर्ण की माता हूँ। मेरा रोम रोम उससे सम्बन्धित है। मेरे तेजस्वी पुत्र को सबने 'सारथी का पुत्र'

कहकर दुतकारा । कौन सी माता अपने पुत्र का यह अपमान सहन कर लेगी ? इसीलिए मैं आज उदास हूँ। यह धात्री पागलों की तरह मुझसे पूछ रही है, “महारानीजी, आप उदास क्यों हैं ?” किन शब्दों में मैं उसको अपनी उदासी का कारण बतलाऊँ ? कितने तूफानी मोड़ आये थे मेरे जीवन में ! क्या उद्देश्य है इन मोड़ों का ? कुछ भी समझ में नहीं आता इन पचास वर्षों में तीन भिन्न-भिन्न कुन्तियों का जीवन मैंने नहीं बिताया है क्या ? बचपन की पृथा, किशोरी और युवती कुन्ती, और अब...अब राजमाता कही जानेवाली विधवा कुन्ती ! पुत्र के लिए तड़पनेवाली कुन्ती ! मेरे ये तीनों जीवन किसी न किसी के वश में रहे। बचपन में मैंने पिताजी की वचनपूर्ति के लिए मथुरा छोड़ी। तरुणावस्था में महाराज के शाप के लिए हस्तिनापुर छोड़ा और अब...अब भाई-भाई के ही विरुद्ध ताल ठोकते हुए खड़ा देखकर मैंने अपना जीवन काल के हाथों में छोड़ दिया है। क्योंकि कल अर्जुन अज्ञानवश अपने भाई के विरुद्ध हो उठा था। भीम ने भी अज्ञान में अपने ज्येष्ठ भ्राता को हाथ में कुल को शोभा देनेवाला प्रतोद ले! कहकर विषैला वाग्बाण मारा था। लेकिन इन सब बातों की अपेक्षा मैं दुर्योधन से अधिक भयभीत हो रही हूँ। उसने अपनी कंजी आँखों का जाल कुटिलतापूर्वक कर्ण पर अचूक फेंका है। कितनी कुशलता से उसने कर्ण को आज अपने वश में कर लिया है। इस दुर्योधन के हाथों में कर्ण का क्या होगा ? यही सोचकर मैं उदास हूँ। इस नादान धात्री को ये सब बातें कैसे बता दूँ ? वह पूछ रही है, “महारानीजी, आप उदास क्यों हैं ? किन शब्दों में मैं उसको अपनी उदासी का कारण बतलाऊँ ? राजमाता होकर भी मैं अपने वंचित पुत्र के लिए क्या कर सकती हूँ ? कुछ नहीं। मनुष्य अपने पुरुषार्थ और सत्ता के नगाड़े चाहे जितना पीट ले, परन्तु अन्त में वह है काल के सशक्त हाथों का एक नगण्य खिलौना मात्र । मेरी बार-बार इच्छा होती है कि हस्तिनापुर के किसी विशाल चौक में खड़ी होकर मैं चिल्लाकर कहूँ कि "कर्ण मेरा पुत्र है।"

लेकिन इतना साहस मैं नहीं जुटा सकती। क्योंकि इस साहस की जो प्रतिक्रिया होगी, उससे मेरे अन्य पाँच पुत्रों की क्या दशा होगी-यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि उनको फिर वनवास भोगना पड़े। और समाज मुझको स्नेह से शायद कर्ण को भी न सहलाने दे। कर्ण ! मैंने दो बार तेरा त्याग किया है। एक बार जन्म लेने के बाद और परसों अखाड़े में। अभागे सूर्यपुत्र ! मैंने अपना जीवन तो काल के हाथों में सौंप दिया है, रे ! और... तेरा जीवन तेरे पिता के हाथों में ।

कर्ण

□

अंगदेश का राजा हो जाने के कारण मैं अपने को भाग्यशाली नहीं मानता था। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता था कि यह राज्यपद मुझको दुर्योधन की कृपा से प्राप्त हुआ था। केवल असमर्थ और दुर्बल जन ही इस प्रकार दूसरों की कृपा की आशा किया करते हैं। मेरी यह इच्छा कभी नहीं हुई कि किसी की कृपा से ऐसा राज्यपद मैं प्राप्त करूँ। वास्तव में देखा जाये तो यह क्या राज्यपद था ? सबने पहले तो फूल बरसाकर और अभिषेक का जल छिड़कर कर्ण के नाम का जय-जयकार किया और बाद में फिर उसका उपहास किया—वह राज्यपद एक प्रकार से सबके सामने किया गया अपमान था। अपमान ! अभिषेकयुक्त अपमान !! कितना ही दीन-असमर्थ क्यों न हो, कोई भी व्यक्ति अपना अपमान भूल नहीं सकता। मैं तो एक योद्धा था। योद्धा मरण को अंगीकार करता है, परन्तु अपने स्वाभिमान की बलि वह कभी स्वीकार नहीं करता। उस दिन हस्तिनापुर से मुझको इतनी घृणा हुई थी कि इस नगर को छोड़कर पैर जिस ओर ले जायें, तुरन्त उसी ओर चल देने की इच्छा हुई थी। किसी ऐसे देश जाने की इच्छा थी जहाँ भूलकर भी मनुष्य का कुल न पूछा जाता हो, केवल बल पूछा जाता हो। इसीलिए उस दिन सायं समय राजभवन के सौध पर खड़े होकर चित्ररथ पक्षियों के झुण्ड को देखनेवाले दुर्योधन से मैंने कहा भी था, “राजन् ! अपने राज्यपद को अब आप सँभालें और मुझको चम्पानगरी का रास्ता पकड़ने दें।” परन्तु उसका आग्रह गोह-जैसा था। उसने गिड़गिड़ाकर मुझसे कहा, “कर्ण ! तुम्हारे बल पर ही तो मैं इन पाण्डवों का डटकर सामना करने के लिए दृढ़ता के साथ खड़ा हुआ हूँ। तुमने ही यदि अब मुँह मोड़ लिया तो मुझको नगर में मुँह छिपाने के लिए भी स्थान नहीं मिलेगा। कुरुओं के युवराज को भय से काँपते हुए, प्राण मुट्ठी में लिये हुए घूमते देखना चाहते हो क्या ? तुम हस्तिनापुर छोड़कर चले जाओगे तो ये पाण्डव मेरा जीना ही असम्भव कर देंगे।”

और इसीलिए, 'संकट के समय जो मित्र की सहायता करता है वही सच्चा मित्र है'- एकमात्र यही विचारकर मैंने उसका अंगदेश स्वीकार किया था। सहस्रों मुखों से बाहर निकले हुए 'सारथी का पुत्र ! सारथी का पुत्र !!' शब्दों के धधकते हुए तप्त लौहपुष्प जिस सिंहासन पर सघन बिछे हुए थे, उस सिंहासन पर मैं दृढ़ मन से, इच्छा न होने पर भी, बैठ गया था। केवल राज्य-प्राप्ति की आशा से नहीं बैठा था। पहले जिन सबने मेरी छीछालेदर की थी, उन्हीं के द्वारा स्वयं को एक स्वतन्त्र देश का राजा कहलवाते समय मेरे मन को जो असंख्य यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं, उनको केवल मैं ही जानता हूँ। विगत अनेक रात्रियाँ

मैंने इस विचार से तड़पते हुए बितायी हैं कि मेरे भवितव्य में अन्ततः है क्या ? केवल एक ही विचार, कुत्ते का पीछा करती गोमक्षिका की भाँति, निरन्तर मेरा पीछा कर रहा था। यदि मैं सूतपुत्र हूँ, तो फिर मुझको 'सूतपुत्र' शब्द सुनकर इतना क्रोध क्यों आ जाता है ? मैं अपने आपको सूतपुत्र समझकर धन्य क्यों नहीं मानता ? किसी ने सूतपुत्र कहा नहीं कि मेरे शरीर के रक्तकण बिदके हुए वन्य घोड़े की तरह क्यों दौड़ने लगते हैं ? छिः ! यह मन आखिर है क्या ? वह ऊटपटाँग विचारों का भयंकर झंझावात मेरे शरीर में क्यों भर देता है ? कोई उत्तर नहीं मिलता था। वह कभी मिलनेवाला भी नहीं है शायद ।

मैं अच्छी तरह जान गया था कि अखाड़े के उस दिन से नगर के सभी लोग मुझको अंगराज कहते थे। स्वतन्त्र राजा कहते थे, लेकिन वह केवल मेरे समक्ष ही। मेरे पीछे वे 'सारथी' कहकर ही मेरी अवहेलना करते होंगे। संसार में अपमान से अधिक भयानक मरण भी नहीं होता। लेकिन फिर भी मैं स्वयं को अंगराज कहलवा रहा था । अन्तःकरण में अपमान के कड़वे यूँट पीता हुआ बाहर से स्वतन्त्रता के गीत गा रहा था। क्योंकि यदि मैं सारथी बनकर ही रहा होता, तो किसी ने मेरा सम्मान न किया होता। लेकिन अंगराज कर्ण के आगे सभी सिर झुकाते थे। इस अंगराज के पद को स्थिर रखते हुए ही मैं संसार में कुछ कर सकता था। क्योंकि कर्ण में से अंगराज-पद निकाल देने पर केवल धूल ही शेष नहीं रह जाती थी ? धूल को कोई सिर से नहीं लगाता। उसको सब पैरों तले ही रौंदते हैं। इसीलिए मेरी इच्छा हो या न हो, यह अंगराज-पद तो मुझको सँभालना ही था, स्वतन्त्रता का आश्रय लेकर ही इस घने अन्धकार में से कोई मार्ग निकालना था। स्वतन्त्रता के बिना जीवन का अर्थ है मूर्ति के बिना मन्दिर ! मेरा अंगराज-पद मेरी स्वतन्त्रता ही थी। कैसी भी क्यों न हो, स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही होती है। मुझको प्राणपण से उसकी रक्षा करनी थी। क्योंकि मैं जानता था कि अंगदेश की मेरी राज्य-व्यवस्था में राजा दुर्योधन किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसीलिए मैं स्वयं को स्वतन्त्र कह रहा था। मेरा मन मुझसे कह रहा था कि दुर्योधन मेरी भावनाओं का सम्मान करेगा तथा मेरे विचारों को मूर्त रूप देगा।

उस उद्दण्ड भीम को मैं दिखा देना चाहता था कि कर्ण के हाथ में लगा प्रतोद केवल घोड़ों की ही नहीं, बल्कि उस-जैसे मनुष्यों की पीठ पर भी बरस सकता है। लेकिन कुछ समय तक तो मुझको चुप ही रहना था। मेरा जो अपमान हुआ था, उसका विष पचाकर चुप ही रहना था। भीतर से जलते हुए भी ऊपर से शान्त रहना था । यह विवशता थी। इस अंगराज-पद को स्वीकार करना मेरा कर्तव्य था। मुझको पूरा विश्वास था कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब कि अपनी शक्ति से उन्मत्त हुए उस विशालकाय भीम के गले में अपना धनुष अटकाकर मैं उसको ज़ोर से हिला दूंगा। और यह सिद्ध कर दूंगा कि हूँ तो मैं एक सारथी ही, लेकिन वीर सारथी हूँ !...इसके लिए थोड़ी प्रतीक्षा करनी थी। प्रत्येक बात का उचित अवसर समय से ही आता है।

दो

आजकल मैं बहुत ही प्रसन्न था, उसका कारण कुछ और ही था। दूतों द्वारा मेरे विवाह का निमन्त्रण सबके पास भेज दिया गया था। विवाह ! सचमुच ही यदि संसार में स्त्री और विवाह -ये दोनों बातें न होतीं, तो क्या होता ? मनुष्य का जीवन कैसा हो जाता ? विधाता की यह रमणीय सृष्टि एक मरुभूमि बनकर रह जाती। जिसमें नदियाँ, निर्झर, पशु-पक्षी और सुन्दर-सुन्दर फूल तो होते, लेकिन तब वह मरुभूमि कहाती। प्रेम का प्यासा मनुष्य मरुभूमि में ठोकरें खाता फिरता और अन्त में विक्षिप्त होकर वह पेड़-पौधों का ही आलिंगन करने लगता। उसके तड़पते प्राणों को आत्महत्या के बिना शान्ति ही न मिलती। इसीलिए स्त्री मुझको ऐसी लगती थी, मानो अपनी पहली ही सुखनिद्रा के समय ब्रह्मा का धीरे से छोड़ा हुआ निःश्वास हो। उस निःश्वास में पुरुष के जलते हुए मन को शीतल करने की अद्भुत शक्ति होती है। स्त्री के प्रेमपूर्ण साहचर्य में मनुष्य संसार की क्रूरता भूल जाता है। अपमान के कटु घूट धैर्यपूर्वक पचा सकता है। पराक्रम के नये पर्वत खड़े कर सकता है, विवाह मनुष्य की जीवन-यात्रा में वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसकी ओर युवा मन सदैव आकर्षित होता रहता है। पराक्रम के सागर का सौन्दर्य-सरिता का सानन्द आलिंगन। दो तरुण मनो का मधुर-मिलन।

इसीलिए मुझको और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। मेरे जीवन में मेरी संगिनी बनकर प्रवेश करनेवाली अपनी अर्धांगिनी ही केवल मुझको दिखाई दे रही थी। जैसे कोई मधुमक्खी अपने प्रिय फूल के चारों ओर निरन्तर गुंजन करती उड़ती रहती है, वैसे ही मेरा मन उसकी काल्पनिक मूर्ति के चारों ओर निरन्तर चक्कर काट रहा था। मैं जानता हूँ कि मुझ-जैसे योद्धा का मन ऐसा नहीं होना चाहिए। लेकिन वह ऐसा ही था। क्योंकि मैं भी एक मनुष्य था। जिस लोहे से बाण के फल बनते हैं, उस लोहे से ही बना हुआ थोड़े ही होता है योद्धाओं का मन। भावनाएँ उसको भी जकड़ रखती हैं। प्रत्यंचा के बिना धनुष क्या और भावना के बिना मनुष्य क्या ? इसलिए मेरी भावी पत्नी की प्रतिमा अपने-आप ही सदैव मेरे ख आगे खड़ी रहती थी। मन में अनेक प्रश्नों की भीड़ लग जाती थी। वह मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगी ? मेरा स्वभाव, मेरा जीवन, मेरा लक्ष्य क्या वह ठीक-ठीक समझ सकेगी ? यदि मेरे स्वभाव में कुछ दोष हों तो उनको क्या वह मुझको बतायेगी ? क्योंकि मनुष्य तो कभी पूर्ण होता ही नहीं। उसके स्वभाव में असंख्य दोष छिपे हुए होते हैं, जिनको वह नहीं जानता। बचपन से ही आस-पास की परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब मन पर पड़ते रहते हैं। उनसे मनुष्य का स्वभाव प्रभावित होता ही है। क्षण-प्रतिक्षण वे प्रकट होते रहते हैं। इसीलिए एक-दूसरे के स्वभाव के इन दोषों का ज्ञान पति-पत्नी को तो होना ही चाहिए। विवाहित जीवन दो पहियों का रथ है। पति-पत्नी ही वे दो पहिये हैं। ये दोनों पहिये एक-से

होते हैं, तभी वह चलता है अन्यथा अन्त में वह धरती में धंस जाता है। जो इस बात को नहीं मानते, वे केवल विलास के लिए विवाह करते हैं। वे केवल रेशमी वस्त्र पहनकर घूमते रहते हैं। ऐसे लोग उत्तम वस्त्रों में केवल पशु होने हैं। इनकी संस्कृति आडम्बर मात्र होती है। उनके बाद की पीढ़ियाँ भी वैसी ही विलासी और मूर्ख होती हैं। हाथी के पैर के नीचे चींटियों का बिल आ जाने पर जैसे लाखों चींटियों की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही काल के गजराज के आगे उनके वंशजों की अवस्था हो जाती है। चींटियों की संख्या का कभी कोई महत्त्व नहीं होता है। क्योंकि वे क्षुद्र होती हैं। मेरी आँखों के सामने मेरी भावी पत्नी की मूर्ति खड़ी थी। एक उत्तरदायी पति के रूप में, एक कर्तव्यदक्ष राजा के रूप में, मेरा विवाह उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना मेरा राज्याभिषेक ! वृषाली मेरी जीवन सहचरी बननेवाली थी। सत्यसेन मेरा साला बननेवाला था। एक सारथी का एक सारथी-कन्य। से जन्म जन्म का सम्बन्ध होने जा रहा था। इसीलिए उसकी शंख जैसी गोलाकार स्वच्छ आकृति मेरी आँखों के आगे सतत नाच रही थी। उसकी सहायता से मेरा जीवन म्यान में रखे खड्ग-जैसा सुरक्षित हो जायेगा। ग्यान में खड्ग को कभी काई नहीं लगती बल्कि वह अधिक धारदार रहता है। मेरे लिए वृषाली पृथ्वी पर अवतरित साक्षात् उमा का ही एक प्रतिबिम्ब थी।

वास्तव में स्त्री की सुन्दरता में कितनी विलक्षण शक्ति होती है। विश्वनियन्ता को यदि हम एक कुशल चित्रकार मान लें तो स्त्री उसका सर्वश्रेष्ठ रंगीन चित्र है। अन्य सबों में रंग भरने के बाद अन्त में कला की पराकाष्ठा रूप में अपनी सर्वाधिक प्रभावशाली तूलिका से चित्रकार द्वारा बनायी गयी रंगीन पूर्णाकृति ।

वृषाली का नाम लेते ही मेरी अनेक मधुर स्मृतियाँ ऐसे खिल उठती हैं जैसे हवा के झोके से बन्द कली की पंखुड़ियाँ धीरे से विकसित हो जाती हैं। कभी-कभी यह इच्छा होने लगती है कि मनुष्य को केवल दैव पर ही विश्वास करना चाहिए, वह इस कारण कि स्मृतिपटल पर अनेक नाट्यमय घटनाएँ मेरी आँखों के सामने नाचने लगती हैं।

तीन

अखाड़ेवाली रात में सत्यसेन मुझको गंगा के किनारे मिला था। उससे मैंने कहा था, "मुझसे मिल लेना ।" तदनुसार तीसरे दिन वह मिलने आया । मैंने राजा दुर्योधन से उसकी कुछ चर्चा की। जैसे ही मैंने यह कहा कि इसको अपनी सेना में कहीं रख लिया जाये, उसने तुरन्त उसको अपने राजरथ का सारथी नियुक्त कर लिया। सत्यसेन की जीविकोपार्जन की समस्या सुलझ गयी । थोड़े ही दिनों में उसने अपने सारथ्यकौशल से दुर्योधन की कृपा भी प्राप्त कर ली। मैं, पिताजी और शोण-हम युद्धशाला छोड़कर राजभवन में रहने लगे,

क्योंकि अब मैं अंगराज हो गया था। मेरे लिए अलग महल था, दास-दासियाँ थीं और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था मुझपर दुर्योधन का विशेष प्रेम। उसके अन्य सब भाई भी मुझसे प्रेम करते थे।

यद्यपि मैं राजभवन में आ गया था, तथापि नियमपूर्वक प्रतिदिन प्रातःकाल मैं गंगा जाया करता। वहाँ से ठीक दोपहर को लौटता। जाते समय गाय का दो चषक दूध पी जाता था। गंगा जाकर सूर्य-पूजा करना मेरा नित्य का नियम था।

ऐसे ही एक बार मैं गंगा-तट पर गया हुआ था। स्नान समाप्त कर सदा की भाँति अर्घ्य के लिए मैंने अंजलि में जल लिया। मुझसे बीस-पच्चीस पग दूर दायीं ओर गंगा का घाट था। उसकी पत्थर की सीढ़ियाँ धूमिल प्रकाश में स्पष्ट दिखाई पड़ रही थीं। मेरी अंजलि का जल बूंद-बूंद गिरकर फिर गंगा के पात्र में एकरूप हो रहा था। रिक्त अंजलि को मैं फिर भर लेता था। श्रद्धापूर्वक मैं वह अपने गुरु को अर्पण कर रहा था।

विगत अनेक वर्षों से श्रद्धापूर्वक मैं यह करता आ रहा हूँ। जीवन के अन्तिम क्षण तक यह ऐसे ही करता रहूँगा। श्रद्धा कँटीले जीवन की हरियाली है। अपने गुरु पर मेरी जो श्रद्धा थी, उसकी मैंने प्राणपण से रक्षा की थी। और अन्त तक ऐसे ही करता जाऊँगा। सारा हस्तिनापुर इस बात को अच्छी तरह जान गया था। प्रातःकाल प्रत्यूषा में हस्तिनापुर में यदि किसी से यह प्रश्न पूछा जाता कि “कर्ण कहाँ है ?” तो प्रत्येक व्यक्ति उत्तर देता, “गंगा के किनारे।”

सदैव की भाँति उस दिन भी मैं एक-एक अंजलि से अपनी श्रद्धा का घट भर रहा था। पूर्व दिशा कुछ-कुछ आरक्त होने लगी थी। थोड़ी देर बाद ही नीले साम्राज्य का सुनहला सम्राट अपने रथ के किरणरूपी हज़ारों घोड़ों को दौड़ाता हुआ पूर्व क्षितिज पर हँसता खड़ा हो गया। पशु-पक्षियों ने मधुर-ध्वनियों से उसका स्वागत किया। गंगा के परले किनारे पर हरी-भरी सुकोमल घास की असंख्य पत्तियाँ अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी हुई। उनपर बैठी हरी-हरी टिड्डियाँ अपनी घास की मृदु शय्या छोड़कर चटपट इधर-उधर उछलने-कूदने लगीं। तिनकों पर ओस की बूंदें रुपहले रंग में चमकने लगीं। गोचर-भूमि में गायों के सुन्दर बछड़े अपनी पुष्ट ग्रीवा इधर-उधर मोड़कर उछलने लगे। पक्षियों ने पंख फड़फड़ाकर चहचहाते हुए चारे के लिए घोंसले छोड़ दिये। कुछ कारण्डव पक्षी इसी बीच पंख फड़फड़ाते हुए गंगा के पानी में झपट्टा मारने लगे। पानी में पंख भीगते ही फिर झपटकर ऊपर आकाश में उड़ने भरने लगते। मन्दिरों के विशाल कलश सुनहले रंग में चमकने लगे। गंगा की असंख्य लहरें सुनहले वस्त्र पहनकर चमचमाती हुई, नृत्य-गीत गुनगुनाती हुई चक्कर काटती नाचने लगीं। समस्त चराचर जगत् सचेत होकर स्पन्दित होने लगा। संसार को प्रकाशित करनेवाला वह अक्षय महादीप मेरे कानों के कुण्डलों को सहलाने लगा। मुझसे एक अज्ञात भाषा में बातें करने लगा। आँखें पूरी खोलकर एकटक देखता हुआ मैं गटागट उनका पान

करने लगा। उस तेज के रस को आँखों से पीने की मेरे मन की इच्छा कभी तृप्त क्यों नहीं होती थी, यही मेरी समझ में नहीं आता था। कभी-कभी तो उस तेज का मैंने पूरे दिन आँखों से पान किया। फिर भी मैं अभी अतृप्त ही था। मेरे मन को तेज की यह जो तृष्णा लगी थी, यह कैसी थी, यह मैं स्वयं भी नहीं जान पाया था। शायद जीवन के अन्तिम क्षण तक वह मुझको कभी मालूम भी नहीं पड़ता ! सूर्यदेव की ओर नित्य देखने के अभ्यास से मेरी आँखों की पुतलियाँ अवश्य बड़ी हो गयी थीं। अश्वत्थामा तो सदा मुझसे कहा करता था, “कर्ण ! तुम्हारी नीली आँखों में चमकनेवाली ये सुनहली-रुपहली पुतलियाँ नीले आकाश में चमकनेवाले सूर्य और चन्द्र प्रतीत होती हैं।” सूर्याराधन का मेरा यह व्रत नियमित चल रहा था। कभी-कभी उस तेज गोलक की ओर एकटक देखते हुए मैं अपने-आप ही समाधिस्थ हो जाता था। देह का भान तक न होता था। मन हल्का हो जाता था। उस दिन भी मेरी यह दशा हो गयी । लेकिन अचानक घाट की ओर से आनेवाली एक आर्त पुकार मेरे कानों में बाण की तरह पैठ गयी। कोई प्राणों के भय से 'बचाओ SS ! बचाओ SS !' चिल्ला रहा था। मैंने तत्क्षण मुड़कर घाट की ओर देखा। उस विशाल घाट पर कहीं मनुष्य का चिह्न तक नहीं था। हाँ, एक पानी का घड़ा उलटा होकर गंगा के पानी पर हिचकोले खाता हुआ दूर जा रहा था। रुपहली लहरों में कदली के दण्ड-सा एक निर्मल हाथ पानी के ऊपर छटपटा रहा था। कंकण चमक रहा था। बीच-बीच में ही वह हाथ पानी में अदृश्य हो जाता। किनारे पर पानी भरते समय काई लगी हुई सीढ़ी पर किसी ललना का पैर फिसल गया था। वह गंगा में गिर पड़ी थी। दूर से सदैव आकर्षक दिखाई देनेवाला उसका गहरा जल आज किसी को स्थायी रूप से उदरसात् करने जा रहा था। पानी के ऊपर होनेवाली उस हाथ की छटपटाहट में सहायता के लिए करुण पुकार थी।

मैंने देह पर का अधरीय ठीक किया और घाट की ओर दौड़ने लगा। घाट पर आते ही मैं गंगा में कूद पड़ा। कुछ देर तक मैं पानी में आँखें खोलकर तैरता रहा। कुछ छोटी-छोटी साहसी मछलियाँ कानों के कुण्डलों को व्यर्थ नोच रही थीं। थोड़ी देर बाद ही पानी में नीचे डूबती जाती हुई एक मानवी आकृति दिखाई दी। पास पहुँचते ही वह आकृति मुझसे कसकर लिपट गयी। मृत्यु के द्वार पर जीव कितना असहाय होता है ! वह जाति गोत्र, समाज, धर्म, प्रतिष्ठा-कुछ भी नहीं देखता। वह देखता है केवल अपना अस्तित्व । वह स्त्री थी। फिर भी वह मुझसे लिपट गयी थी। मृत्यु के पाश में जकड़े जानेवाले एक जीव का, दूसरे जीव को 'मुझको शरण में ले लो' कहकर दिया गया आलिंगन था वह । वह आलिंगन मुझको भी गंगा के तल में ले जा सकता था! इसलिए सबसे पहले मैंने अपने को छुड़ा लिया और उसके मुक्त केशों की जितनी लटे हाथ में आयीं, उनको पकड़कर मैं किनारे की ओर तेज़ी से पानी काटने लगा। उस अवस्था में भी एक विचार मेरे मन में कौंध गया। मेरी गुरु-पूजा अधूरी ही रह गयी थी। पानी काटते हुए गंगा में ही सूर्यदेव की ओर देखते हुए मैंने मन ही मन कहा, "गुरुदेव, क्षमा करना। कभी-कभी नियम में भी अपवाद उत्पन्न हो जाता है।"

बालों के साथ वह स्त्री खिंची चली आ रही थी। मैं किनारे पर आया। उस मूर्छित स्त्री को जैसे जैसे जल से बाहर निकाला। लेकिन उसका मुख देखते ही मैं आश्चर्य से एकदम स्तब्ध रह गया। क्षण-भर कुछ नहीं सूझा। वह वृषाली थी। सत्यसेन की बहन। झण-भर में प्रयाग का संगम आँखों के सामने आ गया। उसके घड़े का पानी मेरे कपड़ों पर गिर पड़ा था, मेरे कपड़े भीग गये थे, इससे वह कितनी लज्जित हुई थी। उसने केवल एक बार ही मेरी ओर देखा था, उसके बाद उसने अपनी दृष्टि धरती में ऐसी गड़ा दी थी कि फिर ऊपर उठायी तक नहीं। पैर के अंगूठे से कुरेद-कुरेदकर उसने गड्ढा बना दिया था। उस समय की वृषाली ऐसी थी मानो पवन से लजाकर पत्ते की ओट में अपना मुख छिपानेवाली कोई लजीली कली हो और इस समय की वृषाली ऐसी थी मानो डाल पर लगा हुआ कोई विकसित फूल। वह ओस की बूंदों से भीगे हुए पारिजात को तरह दिखाई पड़ रही थी। उसकी मुखमुद्रा निर्विकार थी। सुप्त शिशु की तरह उसकी मुद्रा शान्त थी, गिरागस थी। मुझको ऐसा लगा कि गंगा के पात्र से भूलकर कहीं मैंने कोई जलकन्या को तो बाहर नहीं निकाल लिया। जिन हाथों से अर्घ्य दे रहा था, उन्हीं हाथों में उसकी निश्चल देह लिये पूर्व की ओर देखता हुआ मैं क्षण-भर वैसे ही खड़ा रहा। सहसा एक विचित्र विचार मेरे मन में झाँक गया। इच्छा हुई कि सूर्योदय ऐसा ही रमणीय होना चाहिए। वृषाली मेरी बाँहों में इसी तरह रहनी चाहिए। मैं भीगा हुआ और वह भी भीगी हुई। काल की गति रुक जाये। गंगा के अस्थिर चंचल जल में हम दोनों का प्रतिबिम्ब ऐसे ही थिरकता रहे। कारण्डव पक्षी ऐसे ही मधुर गीत गाते रहें।

लेकिन क्षण-भर बाद ही मैंने उस विचार को इस तरह झटक दिया जैसे देह पर पड़ी छिपकली को लोग झटक देते हैं। मुझको अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई। आखिर वह एक परस्त्री थी। उसकी निश्चल देह मैंने एक प्रशस्त सीढ़ी पर हौले से लिटा दी। उसकी देह से चूता हुआ पानी सीढ़ियों पर होता फिर गंगा में जाकर मिलने लगा। क्या कहना चाहता था वह उससे ? आधी घड़ी तक वह होश में ही नहीं आयी। भीगा हुआ वस्त्र जगह-जगह उसकी देह से चिपट गया था। जल की बूंदें उसके गोल-गोरे मुख कमल पर जगह-जगह ठिठककर चमक रही थीं। उनपर पड़नेवाली सूर्य-किरणें परावर्तित होकर उसके गालों पर फैल रही थीं। उस समय उसकी देह-लता मुझको ऐसी लगी जैसे वह कोई गंगा की गर्वीली रुपहली धारा हो।

मुझको याद आया कि किनारे पर सूखा उत्तरीय रखा हुआ है। उसे लेने के लिए मैं झटपट उत्तरीय के पास आया। लेकर जब मैं लौटा तो साँस मन्द-मन्द चलने लगी थी। घाट पर कोई भी नहीं था। उत्तरीय से मैंने उसके मुख पर से जल की बूंदें इस तरह पोंछी कि हाथ के स्पर्श का भी उसको पता न चले। उसने अपनी गरदन थोड़ी-सी हिलायी और धीरे से आँखें खोलीं। पहले तो उसकी समझ में ही नहीं आया कि वह कहाँ है और मैं कौन हूँ। घबरायी हुई आँखों से वह एकटक मेरी ओर देखने लगी। कुण्डलों पर रुके हुए दो जल-

बिन्दुओं को फिसलकर मेरे कन्धों पर गिरते हुए उसने देखा और तत्क्षण वह जान गयी कि वह कहाँ है और मैं कौन हूँ। वह झटपट उठकर बैठ गयी। देह के गीले वस्त्र सँवारने-सँभालने का वह प्रयत्न करने लगी। उसने अपना सिर झुका लिया। सँभलकर खड़े होते समय उसने मेरा उत्तरीय भी ज्यों का त्यों अपने चारों ओर लपेट लिया। फिर गंगा के पानी में दूर बहते हुए घड़े की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, “पहले तुम्हारा एक घड़ा प्रयाग में फूट गया था। अब हस्तिनापुर में एक और घड़ा गंगा ने सदैव के लिए छीन लिया। किसके लिए छीना है, यह उसी से पूछो।”

उसने हिचकोले खाते हुए दूर जाते उस घड़े पर एक दृष्टि डाली। लजाकर सिर झुकाकर वह तत्क्षण मुड़ी और एक-एक सीढ़ी चढ़ती हुई दूर चली गयी। उसके भीगे पैरों के सुस्पष्ट चिह्न घाट की सीढ़ियों पर पंक्ति में बनते चले गये। जाते समय घबराहट में वह मेरा उत्तरीय भी अपने साथ ले गयी। उसकी इस घबराहट पर मुझको मन ही मन हँसी आ गयी। बहुत देर तक मैं गंगा में उस घड़े की ओर देखता रहा। पीछे से घाट की सीढ़ियों पर किसी के उतरने की आहट पाकर मैंने पीछे मुड़कर देखा। वे पितामह भीष्म थे। मुझको देखते ही बड़े स्नेह से उन्होंने पूछा, “कर्ण, आज अभी तक तुम पात्र से बाहर कैसे हो?”

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। कहता भी क्या ? मेरी साधना किसी कारणवश आज अधूरी रह गयी है—वह बात मैं उनसे कैसे कह सकता था ?

उस दिन देह पर केवल एक भीगा उत्तरीय धारण किये गंगा से लौटते हुए कर्ण की ओर अनेक नगरजन आश्चर्य से देख रहे थे ।

चार

उस दिन की पूरी घटना किसी से दुर्योधन को न जाने कैसे मालूम पड़ गयी। शायद वृषाली ने अपने भाई को बताया होगा और उसने कभी दुर्योधन से कह दी होगी। हाँ, जब से वह घटना हुई थी तब से मेरे मन की स्थिति बड़ी विचित्र हो गयी थी। मैं प्रतिदिन नियमपूर्वक गंगातट पर जाता था, परन्तु जब सूर्यदेव की ओर देखने लगता तब उस तेजस्वी बिम्ब में मुझको वृषाली का चेहरा दिखाई देने लगता। कभी-कभी मैं अपना उत्तरीय गंगातट पर ही भूलकर रिक्त हाथ लौटने लगा और फिर उसको ले आने के लिए शोण को भेजना पड़ता। शोण मुझसे पूछने लगा, “भैया, तुम इतने भुलक्कड़ कैसे होते जा रहे हो ?” उसको कुछ न कुछ उत्तर तो देना ही चाहिए-यह सोचकर मैं कहता, “शोण, कभी-कभी मनुष्य को भूलना भी अच्छा लगता है।” वह असमंजस में पड़कर मेरी ओर देखता। क्योंकि उसको प्रतिदिन चिलचिलाती धूप में मेरे लिए गंगातट पर जाना पड़ता था। सेवक पीछे आपस में यह चर्चा

न करें कि 'अपना राजा इतना भुलक्कड़ क्यों है ?' इसलिए मैं वह काम शोण को ही सौंपता था।

पिताजी के प्रत्येक शब्द को मैंने आज तक कभी टाला नहीं था। क्योंकि उनके कष्टों के कारण ही आज अंगराज कर्ण बन सका था। मैं अंगराज होते ही उनको राजभवन ले आया था। उनके प्रत्येक शब्द का पालन करता था। प्रतिदिन रात को मैं स्वयं उनके झुलसे हुए पैरों पर चन्दनमिश्रित लेप लगाता था। यह देखकर माता कभी-कभी कहती, “वसु, तू अब राजा हो गया है। यह काम अब तुझे अच्छा नहीं लगता है रे ! अब तो अच्छी-सी महारानी ले आ और यह सब उसको सौंप दे।” मैं उसके कथन का कभी उत्तर नहीं देता था। चम्पानगरी की चर्चा चलाकर मैं उसका मन चतुराई से दूसरी ओर मोड़ देता ।

एक बार पिताजी ने मुझको आश्चर्य का एक आघात दिया ।

शोण ने मुझसे कहा कि एक अत्यावश्यक कार्य के लिए पिताजी ने मुझको बुलाया है। मैं तुरन्त उनके भवन में गया। राजा दुर्योधन वहाँ पहले से ही बैठे थे। भीतर घुसते ही पिताजी ने एकदम मुझसे एक प्रश्न किया, “कर्ण, मैंने तुमझे आज तक कुछ नहीं माँगा है। आज यदि मैं कुछ माँगूँ तो तू देगा क्या ?”

मैं उनके प्रश्न को अच्छी तरह समझ नहीं पाया। फिर भी, उनके आदेश के लिए सब कुछ करना मेरा कर्तव्य था, इसलिए तत्क्षण मैं बोला, “पिताजी, मैं आपका पुत्र कर्ण हूँ। पिता पुत्र से कुछ माँगता नहीं है, केवल आज्ञा दिया करता है।”

“तो फिर मुझको पुत्र-वधू चाहिए। तेरा विवाह करने का निश्चय कर लिया है मैंने। कोई बहाना भी अब मैं नहीं सुनूँगा।

“परंतु...” मैं कुछ झिझका।

“देखो, परन्तु-वरन्तु कुछ नहीं। सारथी-कुल की एक सुन्दर लड़की मैंने तेरे लिए देख ली है।”

“पिताजी....मेरा....”

“मैं तेरी अब एक बात नहीं सुनूँगा। आज ही मैं लड़की के घर पुरोहित भेज रहा हूँ।”

“लेकिन कुछ दिन रुक नहीं सकते हैं क्या ? मैंने अन्तिम प्रश्न किया। अकारण ही आँखों के आगे वृषाली की मूर्ति नाचने लगी, न जाने क्यों। मैं उसको सहज ही नहीं भूल सकता था क्योंकि मुझको प्रतिदिन गंगातट पर जाना था और प्रतिदिन मुझको उसकी याद आनी थी। उसकी याद न आने देने का एक ही उपाय था। वह था गंगातट पर न जाना। लेकिन ऐसा तो मैं कभी कर ही नहीं सकता था। भले ही अंगराज का पद मैं छोड़ सकता था, अपने कवच-कुण्डल छोड़ सकता था लेकिन गंगा के तीर पर जाकर सूर्याराधन करना कभी नहीं छोड़ सकता था।

"देख कर्ण, अब हम एक दिन भी नहीं रुक सकते। क्योंकि अभी शोण का विवाह भी करना है और हम भी अब वृद्ध हो गये हैं। तुमको यह विवाह यदि स्वीकार न हो तो वह स्पष्ट कह दो।" पिताजी ने भी अन्तिम निर्णय दे दिया। क्या उत्तर दिया जायें, यह तत्क्षण समझ में ही नहीं आया। मैं शोण के जीवनमार्ग में रुकावट बन रहा था क्या? जिन्होंने मेरे लिए अविरत कष्ट सहे थे, उन वृद्ध माता-पिता के प्रेम-पूर्ण हृदय को पीड़ा पहुँचाना क्या उचित था ? कहते हैं कि मनुष्य भावना पर जीता है, लेकिन कभी-कभी उसको कर्तव्य के लिए भावना को पीछे धकेलना ही पड़ता है। औरों के लिए जो जीता है वही मनुष्य है। क्षण-भर सूर्यदेव का स्मरण कर मैंने निर्णय कर लिया। मैंने विनत होकर उनसे कहा, "यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं तैयार हूँ।"

"ठीक है," कहते हुए वे मेरे पास आये। उनकी वृद्ध आँखें एक अभूतपूर्ण उल्लास से चमक रही थीं। अपना काँपता हुआ हाथ उन्होंने स्नेह से मेरी पीठ पर फेरा। अचानक मुझको वृषाली का कदली दण्ड-सा गोल गौरवर्णी हाथ याद आया। दृढ़ मन से मैं सब कुछ भूलने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन छिः ! मन कितना उच्छृंखल होता है। मनुष्य जिस बात को प्राणपण से भूलने का प्रयत्न करता है, ठीक वही बात मन में निरन्तर चक्कर काटती रहती है। शायद जीवन कभी-कभी मनुष्य की कठोर परीक्षा लेता रहता है। कितनी अच्छी क्यों न लगे, लेकिन प्रत्येक बात मनुष्य की इच्छानुसार हो जायेगी, ऐसा नहीं होता। वृषाली मुझको अच्छी लगी थी, लेकिन अब उसको भुलाना ही होगा। अब वह मेरी पत्नी हो ही नहीं सकती थी। पिताजी के सामने मेरे हृदय की भावनाएँ प्रकट न हो जायें, यह सोचकर मैं 'चलता हूँ' कहकर बाहर जाने के लिए मुड़ा। वहाँ राजा दुर्योधन बैठा था, इसका भी मुझको ध्यान नहीं रहा। मुझको जाने के लिए मुड़ते देखकर दुर्योधन ने उसी समय पिताजी से एक मार्मिक प्रश्न किया, "लेकिन....लेकिन अधिरथ काका, आपने कहाँ की लड़की देखी है ? उसका नाम क्या है ? इस सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं बताया।"

जाते-जाते मेरे कान खड़े हो गये। पिताजी ने उत्तर दिया, "लड़की हस्तिनापुर में ही है। सत्यसेन की बहन वृषाली।"

"अच्छाऽ, वह ! चलो अच्छा हुआ, प्रतिदिन गंगा को व्यर्थ कष्ट क्यों दिया जाये-यह सुन्दर विचार किया है शायद आपने !" दुर्योधन ज़ोर से हँसता हुआ बोला। पिताजी भी उसके साथ हँसने लगे। मैं एकदम चौंक-सा गया। यह सारा जाल 'दुर्योधन का ही बिछाया हुआ है। कितना बुद्धिमान् है वह। मेरी सम्मति के लिए पिताजी को ही पकड़ना सबसे अधिक उपयुक्त होगा-यह जानकर उसने किस तरह मेरी स्वीकृति ले ली। वह मेरा केवल मित्र ही नहीं, बल्कि जैसे सगा भाई था। बिलकुल शोण-जैसा! उसके प्रेम पर सन्देह करना भी पाप था। उसने मुझको अंगराज बनाया, उसका एकमात्र कारण मुझपर उसका निश्चल प्रेम ही था। लेकिन फिर भी मैं उसको स्वार्थी समझता आया था। उसी समय मैंने निश्चय

कर लिया कि समय आने पर दुर्योधन के लिए मैं सब कुछ करूँगा। अब मेरे दो सगे भाई थे—एक शोण और दूसरा दुर्योधन। मुझ जैसे एक सारथी-पुत्र की कोमल भावनाओं का इतना ध्यान रखनेवाला कुरुश्रेष्ठ राजा दुर्योधन अब मुझको प्राणों से भी अधिक प्रिय लगने लगा था।

कुछ न कहकर मैं झटपट भवन से बाहर आया। मन फूला नहीं समा रहा था। वृषाली मेरी पत्नी बननेवाली थी। महल के बाहर शोण खड़ा था। उसका मुँह दूसरी ओर था। उसके पास पहुँचते ही मैंने उसकी पीठ पर ज़ोर से एक थाप मारी। वह एकदम चौंककर क्रोध से बोला, “यह कैसी मूर्खता है !” लेकिन मुझको देखते ही उसने दाँतों तले अपनी जीभ दबा ली और हाथ जोड़कर सिर झुकाकर अपराधी की भाँति खड़ा हो गया। उसके जुड़े हुए हाथ अपने हाथों में लेकर मैं उससे बोला, “अब मूर्खता समाप्त हो गयी, शोण ! मेरा उत्तरीय लाने के लिए तुमको अब बार-बार गंगातट पर कभी भी नहीं जाना पड़ेगा।”

शोण मेरी ओर आश्चर्य से देखता रहा।

पाँच

इसीलिए मैं प्रसन्न था।

मेरे विवाह का निमन्त्रण आस-पास के सभी राज्यों को गया था। उस दिन अखाड़े में जो लोग थे, उन सबको विवाह का निमन्त्रण जाना था। सचमुच ही मेरा जीवन सुख का देवदारु वृक्ष ही नहीं था क्या ? दिनानुदिन वह विस्तृत होता जा रहा था। सारथी से राज्यपद और अब शुभमंगल की ओर, वह भी उचित स्थान पर, क्या यह भाग्य की ही पदयात्रा नहीं थी ? सुख कभी-कभी अनेक पंखों से मनुष्य को हवा करने लगता है और फिर उसका मन उससे कहने लगता है, “बहुत हो गया, अब नहीं चाहिए ये सुख।”

भवन के सौध पर खड़ा-खड़ा मैं यही विचार कर रहा था। दूर क्षितिज के पास विशाल नीला आकाश हरी-भरी धरती को अपने अंक में समेटता हुआ मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा था। मन कैसा प्रफुल्ल था। कुरुओं के प्राचीन राजभवन के सामने बनाये गये मेरे विवाह-मण्डप में सजावट करनेवाले सेवक-सेविकाओं को देखकर मेरा मन पवन-जैसा हल्का हो गया था। सामने तालाब में अपनी ग्रीवा का मंजुल संचरण करनेवाले और केवल दूध ही पीनेवाले श्वेतशुभ्र राजहंस की तरह मेरा मन मानो देह के सरोवर में डाँड चलता हुआ घूम रहा था। भावी जीवन के सुखद स्वप्न चारों ओर वलय निर्माण कर रहे थे। सारा संसार ही मन्दिर की तरह प्रसन्न और पवित्र लग रहा था।

छह

सबकी चर्चा का विषय, सबकी उत्सुकता को चरम सीमा पर पहुँचा देनेवाला मेरे विवाह का वह मंगल महोत्सव पूर्ण हो गया। मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि इतने धूमधाम से मेरा विवाहोत्सव सम्पन्न होगा। मैंने गृहस्थ जगत् में एक उत्तरदायी पति के रूप में प्रवेश किया। मेरे जीवन-नाटक का दूसरा अंक प्रारम्भ हुआ। शृंगार और वात्सल्य से भरा हुआ होता है यह अंक। इस अंक में मनुष्य का मन प्रायः अत्यधिक रम जाता है, इतना कि वहीं शिथिल होकर चक्कर काटता रहता है। वैवाहिक जीवन में सभी वस्तुएँ और दिशाएँ गुलाबी रंग की हो जाती हैं। जीवन-संगीत का वह वसन्त-वैभव राग होता है। अब वही राग मुझको अलापना था। क्योंकि मेरा शुभ विवाहोत्सव सम्पन्न हो चुका था। उस महोत्सव के कुछ प्रसंग अब भी मेरे मन में चक्कर काट रहे थे। वसन्त ऋतु के चले जाने पर भी जैसे बकुल-पुष्प की गन्ध आती रहती है, वैसे ही।

विवाह में अनेक राज्यों के प्रसिद्ध राजागण और नगरजन आये थे। एक सारथी-पुत्र के विवाह में क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजागण उपस्थित रहें, यह घटना वास्तव में ही अपूर्व थी। राजा दुर्योधन ने मेरे लिए सबको विशेष निमन्त्रण-पत्र भेजे थे। उसका प्रेम सचमुच ही असीम था। कुरुवंश का राजा जिसको एक बार अपना कह देता है, उसको वह वास्तव में ही सदैव के लिए अपना लेता है—इसकी प्रतीति उसके प्रत्येक कार्य में मुझे दिखाई देती थी। मेरे विवाह के समय पर-प्रान्त से यदि कोई भी हस्तिनापुर में आता, तो उसको यही लगता कि कुरुवंश के ही किसी राजकुमार का विवाह हो रहा है। सचमुच ही मैं भाग्यशाली था। विवाह के समय शोण के आनन्द का भला क्या ठिकाना ! अपनी अवस्था भूलकर, प्रौढ़ की तरह वह क्या चाहिए-क्या नहीं, इसकी पूछताछ स्वयं करता हुआ सारे मण्डप में चक्कर लगाता रहा था।

सदा धर्म, आत्मा, कर्तव्य आदि गहन विषयों पर घण्टों बातें करनेवाला अश्वत्थामा भी मेरे विवाह में उत्साह से उपस्थित हुआ था। उसने अपने पवित्र हाथों से मेरे मस्तक पर मालाएँ बाँधी थी। बाँधते समय उसने धीरे से मेरे कान में कहा था, "सावधान कर्ण ! इस अखाड़े में आज तक कोई अजेय नहीं रहा।"

हल्दी के समय स्त्रियों में से किसी ने परिहास करते हुए कहा था, "वर-देवता की देह पर हल्दी की क्या आवश्यकता है ? हल्दी क्या सुनहले रंग की है ?" मुझको अब भी वह सब याद है।

सन्ध्या समय गोधूलि वेला में विवाह हुआ। वृषाली ने बड़े-बड़े श्वेत-शुभ्र कमलों की माला मेरे गले में सविनय डाल दी। नगाड़े और शहनाइयों की मिश्रित ध्वनि से समस्त राजनगर

गूंज उठा। चन्दन-जल और निशिगन्ध के अर्क ने वातावरण में मादक सुगन्ध भर दी। पश्चिम क्षितिज पर और दिनों की अपेक्षा कुछ अधिक ठहरकर सूर्यदेव ने हमको आशीर्वाद दिया। इन कृत्यों में नित्य की तरह सायंकालीन नमस्कार शान्ति से नहीं कर पाऊँगा, यह सोचकर वेदी पर ही मैंने उनको प्रणाम कर लिया। मैं चतुर्भुज हो गया।

विवाह में अनेक उपहार आये थे। उनमें बहुत-से आभूषण थे, रेशमी वस्त्र थे, रुपहली और सुनहली मूठों के खड्ग थे। वैडूर्य, माणिक, मोती और पन्ने थे। लेकिन एक उपहार बड़ा अद्भुत था। पाण्डवों की ओर से केवल एक ही उपहार आया था। वह भी राजमाता कुन्ती देवी की ओर से। उस उपहार में एक तो नीले रंग की साड़ी थी और एक गोह का अंगुलित्राण था। उस नीली साड़ी पर सुनहले बेल-बूटे थे। यह महावस्त्र मूल्यवान् और अत्यन्त सुन्दर था।

मैंने और वृषाली ने झुककर राधामाता को और पिताजी को प्रणाम किया। उन्होंने हमको शुभाशीर्वाद दिया, “युग-युग जियो !” मन भर आया। ऐसा लगा, जैसे उनके यहाँ जन्म लेना सार्थक हो गया हो। मेरी बाँह पकड़कर मुझको ऊपर उठाती हुई राधामाता बोली, “कर्ण, सुखी हो !” उसके वृद्ध खुरदुरे हाथ को अपने हाथ में लेकर मैं बोला, “कर्ण नहीं, 'वसु' कहो माता ! मैं संसार के लिए कर्ण हूँ, परन्तु तुम्हारे लिए तो वसु ही हूँ, और सदैव वसु ही रहूँगा।” मेरी आँखें आर्द्र हो गयीं। उसने मुझको अपने हृदय से लगा लिया। क्षण-भर को अपना सिर मैंने माता के कन्धे पर रख दिया। सामने के महल में गवाक्ष में खड़ी हुई राजमाता कुन्ती देवी मुझे स्पष्ट दिखाई दीं। वे शायद हमारी ओर ही देख रही थीं। मैंने उनको अपने आँचल से आँखें पोंछते हुए देखा। हो सकता है कि मेरी ही आँखें अश्रुपूर्ण होने के कारण मुझे वैसा आभास हुआ हो। नहीं तो राजमाता आँचल से अपनी आँखें क्यों पोंछने लगीं ? दूसरे ही क्षण गवाक्ष के कपाट भी तुरन्त बन्द हो गये। उन कपाटों के रोशनदान पर पड़ी हुई अस्तंगत सूर्य किरण भी क्षण भर में ही अदृश्य हो गयी। वृषाली का हाथ मैंने अपने हाथ में ले लिया। विश्व के प्रलयकाल में उसका हाथ ही अब मेरा सच्चा साथी था।

अखाड़े में अर्जुन को चुनौती देनेवाले सूतपुत्र का विवाह इतनी धूम-धाम से सम्पन्न हो गया-यह राजमाता कुन्ती देवी देखना नहीं चाहतीं, कहीं इसीलिए तो अपने महल के गवाक्ष के कपाट उन्होंने इतने ज़ोर से बन्द नहीं कर लिये ? यों ही वह विचार मेरे मन में तैर गया।

सात

जीवन में अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करे, फिर भी वह उन सभी घटनाओं को याद नहीं रख सकता। लेकिन कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं कि भूलने का प्रयत्न करने पर भी वे भुलायी नहीं जातीं। जल में रहनेवाला मगर जैसे एक बार पकड़े हुए भक्ष्य को छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होता वैसे ही मन भी उन घटनाओं को छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होता। मन की पेटिका में ऐसी घटनाओं के अनेक महीन रेशमी वस्त्र रखे रहते हैं, साथ ही कुछ मोटे-झोटे वस्त्र भी रहते हैं। विवाह के बाद की मधुर मिलन की पहली रात को संसार का क्या कोई पति, कि कोई पत्नी कभी भुला सकी है ? आह ! यों तो सभी अच्छी स्मृतियाँ सुगन्धित पुष्प-जैसी होती हैं, परन्तु उस रात की याद तो मत्त गन्ध से परिपूर्ण केवड़े की बाल ही होती है ! यह रात होती है संकोच, सम्मोह और समर्पण की ! इस रात का अर्थ है दो मनो का अबोध और मौन सम्भाषण ! छिः, शब्दों से उसका भली-प्रकार वर्णन किया ही नहीं जा सकता। विश्व-निर्माणरूपी इस असीम यज्ञ स्त्री और पुरुष के निर्माण कार्य में परमात्मा का यदि कोई वास्तविक उद्देश्य है तो यह रात उस यज्ञ की अन्तिम पवित्र पूर्णाहुति है। आज भी वह रात मुझको ज्यों की त्यों याद है, जैसे अभी कल ही बीती हो। विशेष बात यह थी कि वह रात पौर्णिमा की थी। शरदृतु की पौर्णमासी ।

निशिगन्ध के छोटे-छोटे श्वेत और सुगन्धित पुष्पों से सजी हुई शीशम की काली लकड़ी की शय्या पर वृषाली सलज्ज बैठी हुई थी। शयन-कक्ष में जैसे ही मैंने प्रवेश किया, वह वस्त्र सँभालती हुई उठ खड़ी हुई। वह सिर झुकाये खड़ी थी। मेरी भी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या बोलूँ ! मैं गवाक्ष के पास जाकर खड़ा हो गया। वहाँ से आकाश का पूर्ण चन्द्र दिखाई पड़ रहा था। अपनी रुपहली चाँदनी का घट वह मुक्त हस्त से पृथ्वी के ऊपर उँडेल रहा था। सारा हस्तिनापुर शान्त था। गंगा की ओर से शीत पवन के झोंके महल में आ थे। वे मुझसे मानो पूछ रहे थे, “गंगा को भूल गया क्या ? तुम दोनों का आलिंगन सबसे पहले तो उसी ने देखा है !” मैंने गंगा के पात्र की ओर देखा। दूर चाँदनी में बहता हुआ उसका रुपहला प्रवाह गिरहवाज़ कबूतर की तरह दिखाई दे रहा था। उस दिन घाट की सीढ़ियों पर मूर्छित वृषाली को देखकर भी मुझको ऐसा ही लगा था। धीरे से गवाक्ष का कपाट बन्द कर पलंग की ओर जाता हुआ मैं उससे धीरे से बोला, “अब यदि दुबारा तुम गंगा में गिरीगी, तो मैं तुमको पानी से बाहर नहीं निकालूँगा। मैं कोई धीवर नहीं हूँ जो गंगा में डूबनेवालों को बचाता रहूँ।” यद्यपि वह मन ही मन हँस रही थी, फिर भी उसके गालों में मोहक गड्ढा बन गया। उसने कुछ न कहा। अब भी वह पूर्ववत् अवगुण्ठन में खड़ी थी। मैंने फिर कहा, “इस राजभवन में अनेक पाषाण-मूर्तियाँ खड़ी हैं। उनमें तुम एक और पाषाण-प्रतिमा की वृद्धि करना चाहती हो क्या ? इस तरह कब तक खड़ी रहोगी ? यहाँ आकर बैठ जाओ।” वह अवगुण्ठन में नीचे बैठ गयी। बैठते समय उसकी साड़ी पर बने हुए सुनहली जरी के बूटे समई के प्रकाश में चमकने लगे। उनको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह राजमाता द्वारा उपहार में भेजी गयी साड़ी थी। उसने वही साड़ी क्यों चुनी थी ? मैंने उत्सुक होकर उससे

पूछा, “वृषाली, तुमने आज यही साड़ी क्यों पहनी है ? इसमें ऐसी क्या विशेषता है ?” वस्त्र सम्बन्धी जिज्ञासा का मेरा तीर ठीक निशाने पर बैठा। वह बोलने लगी।

"आपको नीले आकाश में सुनहले सूर्यदेव की ओर देखना अच्छा लगता है, यह सुना है मैंने। इस नीली साड़ी पर वैसे ही सुनहले बूटे हैं, इसलिए ।" उसने अत्यन्त धीमे स्वर में कहा। उसकी आवाज़ गाय के गले में बँधी मधुर घण्टी-जैसी थी। आज पहली बार ही मैं सुन रहा था। उसकी आवाज की अपेक्षा उसका उत्तर ही मुझको अधिक अच्छा लगा।

उसने मेरे सम्बन्ध में और क्या-क्या जानकारी प्राप्त कर ली थी, भगवान् जानें !

उसकी हनु पकड़कर ऊपर उठाते हुए मैं उससे कुछ कहने ही जा रहा था कि उसने पलँग पर शय्या के नीचे हाथ डाल तह किया हुआ एक वस्त्र निकालकर मेरे आगे रख दिया। उत्सुक होकर मैंने देखा, वह मेरा उत्तरीय था। उस दिन घबराहट में वह मेरा उत्तरीय अपने साथ ले गयी थी, उसको उसने आज तक सँभालकर रखा था। मैंने हाथ में लेकर उसको झटका। उसमें से कुछ नीचे गिरा। झुककर उसे उठाकर आश्चर्य से मैंने हाथ में पकड़ा लिया। वह गोह का बना अंगुलित्राण था। वृषाली की कुशाग्र बुद्धि पर मुझको अतिशय आश्चर्य हुआ। अपना पति धनुर्धर है, यह जानकर, राजमाता कुन्ती देवी द्वारा भेजा गया अंगुलित्राण मुझे देने के लिए वह सँभालकर ले आयी थी। मैंने उसको उँगली पर चढ़ा लिया। एक विचित्र संयोग की मुझको रह-रहकर निरन्तर प्रतीति होने लगी। वृषाली ने ठीक वे ही वस्तुएँ क्यों चुनी थीं, जो राजमाता के यहाँ से आयी थीं ? प्रयत्न करने पर भी इसका कोई उत्तर मुझको नहीं मिल सका। यों जीवन में सभी घटनाओं के उत्तर मनुष्य को मिलते ही कहाँ हैं । अन्त में मैंने विचार करना ही छोड़ दिया।

दोनों हाथों में उत्तरीय पकड़कर उसको वृषाली के सिर पर से पीछे डालकर उस फन्दे से वृषाली को अपनी ओर खींचता हुआ मैं बोला, “अपने पति को क्या-क्या अच्छा लगता है, यह जानने की बुद्धि तुम लोगों में जन्मजात ही होती है क्या ?”

"लेकिन पतिदेव अपनी लाडली पत्नी के लिए क्या-क्या लाये हैं ?" उसने मेरी छाती पर अपना सिर टेकते हुए धीरे से कहा ।

मैंने रेशमी कमरबन्ध में बँधे प्रयाग में संगम पर फूटे घड़े का टुकड़ा उसके सामने करते हुए कहा, “प्रयाग का यह सोना ।” उसने तत्क्षण वह मेरे हाथ से छीन लिया। उसके कपोल आरक्त हो उठे। लजाकर उसने अपना मुँह मेरी ही छाती में छिपा लिया। उसका राजमुकुट-जैसा गोल गौरवर्णी मुख मैंने अपनी दोनों हथेलियों से पकड़ लिया। हम दोनों के बीच का अन्तर कम होता गया। धीरे से भवन की इंगुदी की समझ्यों की ओर संकेत करती हुई वह बोली, “उँहूँ ! वे देख रही हैं न !” मैंने हँसकर उसका मुख छोड़ दिया और तल्प पर से उठ खड़ा हुआ। एक-एक करके भवन की सभी समझियाँ मैंने फूँक से बुझा दीं। फिर तल्प पर आकर बैठ गया। उसको अंक में भरकर बोला, “अब तो कोई नहीं देख रहा है तुमको ?”

"अभी सब दीये कहाँ बुझे हैं ?" उसने उलटा प्रश्न किया। उसका तात्पर्य मैं अच्छी तरह समझ नहीं पाया। एक दुष्ट निर्लज्ज चन्द्रकिरण गवाक्ष के झरोखे से भीतर आ धमकी थी। उसको देखते ही मैंने समझा कि यह उसकी ही शिकायत कर रही है। उस किरण-रेखा की ओर उपेक्षा से देखता हुआ मैं बोला, "आकाश में दूरस्थित उस चन्द्र के बारे में कह रही हो ! अजी, जब से विश्व का निर्माण हुआ है, तब से लेकर आज तक न जाने कितने प्रणयी-युगल रातों में इसने देखे हैं, यह इसको भी याद नहीं होगा।" फिर भी मिलन में बाधा डालनेवाली उस किरण पर मैं मन ही मन बहुत रुष्ट हो गया था।

"उँहूँ ! चन्द्र नहीं। और भी दो ऐसे दीप हैं जो चन्द्र की रुपहली चाँदनी को भी लज्जित कर रहे हैं। कभी न बुझनेवाले । आप अपने होठों से जिन पर कभी फूंक न मार सकें, ऐसे।" वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखती हुई बोली।

"कौन-से ?" मैंने जान-बूझकर पूछा। उसके कथन का लक्ष्य समझना कठिन नहीं था।

"आपके कानों के !" सिर झुकाकर मन ही मन हँसती हुई वह बोली। फिर वही मधुर गह्वा उभरा ।

"वाह ! वृषाली, इतनी चतुराई तुमको किसने सिखायी ?" मैंने उसका मुँह पुनः अपनी हथेलियों में ले लिया। मेरे चमचमाते मांसल कुण्डलों से बाहर निकलनेवाली नीली-सी रुपहली किरणें उसके गौरवर्ण गोलाकार मुख पर फैल गयीं। उसके गौरवर्णी गाल उससे नीले-गोरे दिखाई देने लगे। कैसे दिखाई दे रहे हैं वे ? उफ्, ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गया पर कोई उपमा नहीं मिली। पौर्णिमा का पूर्ण विकसित विशाल चन्द्र अरुन्धती को लेकर आकाश में धीरे-धीरे ऊँचा चढ़ने लगा। गवाक्ष के अधखुले कपाटों के झरोखे से निर्भय होकर शयन-गृह में घुसनेवाली गंगातट से आती ठण्डी-ठण्डी हवा के झोंके सिहरन पैदा कर रहे थे।

आठ

वृषाली के साथ मेरे दिन आनन्द से बीतने लगे। वह एक आदर्श पत्नी थी। पत्नी ही क्या, बहन, कन्या, पुत्रवधू, भाभी सभी नातों में वह मुझको आदर्श लगती थी। मैं तो उसके साहचर्य में यह भी भूल गया कि किसी समय इस राजनगरी में मेरा अपमान हुआ था। जीवन इतना स्पृहणीय, आनन्दमय, रोमांचकारी और उदात्त होता है, यह मैंने पहली बार ही जाना। किसी भी उत्कट भावना का आनन्द तत्सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़कर और पुराण सुनकर किसी को नहीं मिलता। उसका अनुभव प्राप्त करना पड़ता है। वृषाली के साहचर्य में एक ही भाव स्फुटित हो रहा था और वह था विशुद्ध प्रेम भाव । प्रेम मन की सर्वाधिक

प्रभावशाली प्रेरणा है। प्रेम के धवल रंग के सम्मुख अपमान, प्रतिशोध और असूया के सभी लाल, काले और नीले रंग फीके पड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

मेरे दिन का आधे से अधिक समय प्रतिदिन गंगातट पर व्यतीत होता था। शेष समय व्यायाम, राज्यसभा, अश्वत्थामा और दुर्योधन से वार्तालाप करने में बीतता था। और रात पुष्पित होती थी वृषाली के साहचर्य में। अब मेरे लिए रात नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। दिन ही दिन था। चौबीस घण्टे प्रकाश। जीवन उदारता-पूर्वक मुझपर सुवर्ण कुसुम लुटा रहा था। मेरे आस-पास अनेक ऐसे स्नेहीजन थे जो मेरे लिए स्वयं को भूले हुए थे। माता-पिता, वृषाली, सत्यसेन, अश्वत्थामा, शोण और राजा दुर्योधन। शोण अब कितना बड़ा हो गया था ! वन-केवड़ा के सरल लम्बे दण्ड की तरह उसका शरीर कितना सुन्दर दिखाई देता था ! व्यायाम और स्वच्छ रागरहित मुक्त मन-इनसे उसका शरीर अब हृष्ट-पुष्ट हो गया था। अपने स्नेहमय स्वभाव के कारण वह सभी को प्रिय था, सबको वह बलवान् और विनम्र लगता था, लेकिन मुझको वह भोला-भाला बालक ही लगा करता था। क्योंकि उसकी वह दक्षता, काँपती हुई संयत आवाज़ और मेरे प्रति पग-पग पर प्रकट होनेवाली बन्धु-प्रेम की सहज-सुन्दर प्रतीति-अब भी पहले जैसी ही थी। उसका शरीर बदल गया था, विशाल हो गया था परन्तु मन वैसा ही था, हिम-जैसा स्वच्छ।

कभी-कभी मैं यह मानकर कि मेरे कवच-कुण्डल उसी को मिले हैं, उसकी ओर देखता, तब वह मुझको बिलकुल अपने-जैसा ही लगता। कभी-कभी तो वह मुझसे भी अधिक अच्छा दिखाई देता था, बस इतनी ही कमी थी कि उसका रंग कुछ श्यामल था। ये कवच-कुण्डल उसको नहीं मिले, यह सोचकर वास्तव में उसको कैसा लगता होगा। बचपन में तो वह उनके लिए एकदम लड़ने लगता था। लेकिन अब वह मेरे सम्बन्ध में क्या सोचता होगा ? द्वेष ! असूया ! घृणा ! छिः ! उसकी किसी क्रिया में ऐसा मुझको कभी दिखाई नहीं दिया। निर्मल भ्रातृ प्रेम का अप्रतिम प्रतीक था मेरा शोण। दुर्योधन के निन्यानबे भाई थे, अर्जुन के चार भाई थे, लेकिन मेरा एक ही भाई था। भाई कैसा ? वह दूसरा कर्ण ही था। मेरे राजा हो जाने पर अनेक व्यक्तियों ने अनेक वस्तुओं की और अनेक स्थानों की मुझसे मधुर शब्दों में माँग की थी। लेकिन शोण ने क्या माँगा था ? अंगराज्य का आधा भाग ? सम्पत्ति ? अमात्य का स्थान ? या सेनापति का ? नहीं नहीं। मुझसे एकान्त में मिलकर उसने कहा था, "भैया, अब तुम वास्तव में ही बड़े बन गये हो। मेरी इच्छा पूरी हो गयी। मैं यही चाहता हूँ कि मैं सदैव तुम्हारे समीप ही रहूँ। मुझे तुम अपने श्वेत-शुभ्र घोड़ोंवाले रथ का सारथी बना लो। बना लोगे न ?"

कितना विशुद्ध प्रेम था उसका ! मुझको याद है कि उसकी वह माँग सुनकर मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। उसका हाथ अपने हाथ में लेकर मैंने केवल थपथपा दिया। किसको मिला था शोण-जैसा प्रेमी और विनम्र भाई ? बचपन में 'मैं कौन हूँ ?' यह सोचकर मैं व्यर्थ

ही परेशान होता था। मैं शोण का प्रिय भाई नहीं था क्या ? अब अश्वत्थामा और दुर्योधन-जैसे मेरे प्राणप्रिय मित्र थे, ममतामय माता-पिता थे, समझदार और सुन्दर पत्नी थी, अंगदेश का स्वतन्त्र राज्यपद था। मनुष्य इससे अधिक सुख की और कल्पना ही क्या कर सकता है ? लेकिन...लेकिन फिर भी मेरे अन्तरतम का एक अपरिचित कोना अभी अतृप्त ही था। असन्तुष्ट था। कुछ भी हो, फिर भी मैं था सूतपुत्र ही। सच पूछो तो मुझको अपने कुल का दुख नहीं होना चाहिए था लेकिन वह होता था। क्यों होता था—यह मैं स्वयं ही नहीं जानता था। कभी-कभी अब भी तीव्र इच्छा होती थी कि शोण को लेकर हस्तिनापुर से रथ ऐसे भगायें कि सीधे चम्पानगरी में गंगा के किनारे ही रुकें। शोण सीपियाँ इकट्ठी करे। मैं रथ में से सूर्यदेव की ओर देखूँ। सन्ध्याकाल हो जाये। लौटते समय गरुड़ पक्षियों की ओर देखकर शोण वही प्रश्न पूछे, "भैया, गरुड़ की तरह तुम जाओगे क्या-ऊँचे और ऊँचे ?" मैं भी उसको उत्तर दूँ, "हाँ, जाऊँगा। इतना ऊँचा कि तुमको कभी दिखाई भी नहीं दूंगा !"

लेकिन यह सब होता नहीं था। होना भी नहीं था। जीवन में कभी पीछे नहीं लौटा जा सकता ।

नौ

राजा दुर्योधन से राजनीति पर मैं प्रायः वार्तालाप करता रहता था। बातचीत के दौरान पाण्डवों का उल्लेख होने पर उसकी कंजी आँखें विचित्र रंग बदलने लगतीं। समीप ही शकुनि मामा होते थे। वह उनको अनेक साहसी योजनाएँ बताता। उनमें सम्भाव्य धोखों को मामा अपने बुद्धि-चातुर्य से दूर करते। मुझको उनकी उन सब योजनाओं में कपट की ही गन्ध आती थी। मैं एकदम उसका विरोध करता। तब शकुनि मामा कहते, "राजनीति किसे कहते हैं, यह तुम जानते ही नहीं हो, कर्ण ! तुम अपनी दृष्टि से संसार को देखने का प्रयत्न करते हो, लेकिन यह भूल है। राजनीति का आधार भावुक मन की निष्कपट भूमि नहीं है। वह बुद्धि के व्यायाम पर चला करती है। संसार कहता है—भाषा भावनाओं को व्यक्त करने का साधन है। लेकिन राजनीति में यही भाषा मन की वास्तविक भावनाओं को अव्यक्त रखने का साधन बनती है। राजनीतिज्ञ मनुष्य का मन जंगली चूहे के बिल-जैसा होना चाहिए। जैसे यह किसी को पता नहीं चलता कि वह बिल कहाँ से शुरू होता है और कहाँ जाता है, वैसे ही राजनीतिज्ञ के मन में क्या-क्या है, इसका किसी को कभी पता नहीं चलने देना चाहिए । राजनीति कोई मन्दिर में होनेवाले प्रवचन का विषय नहीं है, जिस पर सबके सामने चर्चा की जाये।"

उनके इन विचारों से मैं चक्कर में पड़ जाता था। मन को श्रीफल की उपमा देनेवाले अश्वत्थामा की और जंगली चूहों के बिल की उपमा देनेवाले शकुनि मामा की मैं तुलना करने लगता। मेरी समझ में कुछ भी न आता। प्रकृति मनुष्य के हाथों में जीवन किस लिए सौंपा है ? स्वयं जलकर, दग्ध होकर, विश्व को प्रकाशित करने के लिए या अपने क्षुद्र सुख के लिए औरों को अवसर पाते ही निर्दयतापूर्वक जलाने के लिए ? मनुष्य प्रेम और सद्भाव से कभी नहीं रह सकेगा क्या ? फिर प्राणी का मूल स्वभाव क्या है ? प्रेम या क्रूरता ? यदि क्रूरता ही है, तो इसमें भी मनुष्य का क्या अपराध ? प्रकृति ने ही उसको क्रूरता का ज्ञान दिया है, यही कहा जायेगा। अश्वत्थामा सदैव कहता है-देह में आत्मा है। तो फिर क्रूरता, द्वेष, असूया, प्रतिशोध ये सब उस देह में रहनेवाली आत्मा के ही आविष्कार हैं क्या ? यदि यही बात है, तो फिर संसार इनके लिए सम्बन्धित व्यक्ति को दोष क्यों देता है ? या ये सब मन के भाव हैं ? यदि ऐसा है तो फिर प्रेम, त्याग, संयम ये ही सब आत्मा के आविष्कार कैसे हो सकते हैं ?

मन !

केवल दो अक्षरों के इस शब्द में कितने महान् रहस्य छिपे हुए हैं। सचमुच यह मन क्या बला है ? संसार का प्रत्येक व्यक्ति मनोभावनाओं की असंख्य रज्जुओं से जकड़ा हुआ एक हाथी नहीं है क्या ? जहाँ का तहाँ निरन्तर हिलता रहनेवाला ! व्याकुल ! फिर भी अपने-आपको स्वतन्त्र और सामर्थ्यवान् समझनेवाला । और जिसको 'मन' कहते हैं, वह भी क्या है ? एक केकड़ा नहीं है क्या, जिसके असंख्य भावनाओं के डंक होते हैं। चुलबुलाते हुए, अपनी तीक्ष्ण नोक आस-पास की बालू में गड़ानेवाले। फिर भी एक-दूसरे का आधार देते हुए मध्यस्थ देह के बोझ को आगे-आगे खींचनेवाले । मनुष्य की भावनाएँ ऐसी ही नहीं हैं क्या ? प्रेम, द्वेष, त्याग, लोभ, स्नेह, तिरस्कार, ममता, क्रोध—ये सबके सब उस मन के डंक हैं। अपने-अपने क्षेत्र में मनमाने कुलबुलानेवाले। फिर भी देह को सँभालकर आगे ले जानेवाले । कहाँ ? यह कोई बता ही नहीं सकता । उसका आश्चर्यजनक तत्त्वज्ञान बतानेवाला अश्वत्थामा भी !

मैं उन मामा-भानजे की बातों को केवल सुनता हुआ एकटक अपने पैरों की ओर देखता रहता। दुर्योधन की आँखों से मेरा मौन छिपा न रहता। वह मेरे पास आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहता, “कर्ण, रुष्ट हो गये क्या ? जब तुम अपने पैरों की ओर देखने लगे, तो जान लेना चाहिए कि तुम निश्चय ही रुष्ट हो। किसी गम्भीर विचार में हो। एक बात अवश्य है कि तुम्हारे पैरों की ओर देखकर मुझको पुरोचन द्वारा बतायी गयी एक सुखद बात अवश्य ही याद आ जाती है।”

"कौन-सी ?" मैंने आश्चर्य से पूछा ।

"मेरे लिए मेरा सहायक पुरोचन सदैव पाण्डवों में घुला-मिला रहता है। उनकी सारी बातें वह मुझको नित्य बताता रहता है। उसी ने एक बार मुझको यह बताया कि वह युधिष्ठिर अपने भाइयों से प्रायः कहता रहता है कि, कर्ण के पैर अपनी राजमाता कुन्ती देवी के पैरों-जैसे हैं।"

"क्या कह रहे हो राजा ?" मैंने चौंककर उसकी ओर देखा और फिर ध्यान से अपने पैर देखने लगा। वे आगे की ओर कुछ संकुचित होते गये थे, यह देखकर मुझको भी आश्चर्य हुआ। सचमुच ही वे राजमाता जैसे ही थे क्या ? हो सकता है कि हों। संसार में एक जैसा कुछ और कहीं पर हो नहीं सकता क्या ?

"देखो कर्ण, यह उस धूर्त युधिष्ठिर की चाल है। आज वह तुम्हारे पैर अपनी माता के पैर-जैसे बता रहा । कल को वह यह भी कहने लगेगा कि राजमाता कुन्ती से तुम्हारा कुछ सम्बन्ध है। कल को वह तुम्हें पाण्डवों का भाई भी बता सकता है, इसका विश्वास ही क्या ?"

"राजन्, तुम कर्ण को क्या दूध-पीता बच्चा समझते हो ? मेरी 'राधामाता' ही एकमात्र मेरी माता है और वह मुझको अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है। यह कर्ण तीन बातों के लिए अपने प्राण भी अर्पण कर सकता है। पहली है मेरी माता राधा, दूसरी सूर्यदेव की आराधना और तीसरी बात है मेरा वचन ।" मैंने दुर्योधन को तत्क्षण उत्तर दिया।

मनुष्य कैसा भी क्यों न हो, किन्तु उसको अपनी मान-मर्यादा की सदैव रक्षा करनी चाहिए। माता, वचन और धर्म-ये तीनों मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ मान-मर्यादाएँ हैं। समय आने पर प्राण देकर भी इनकी रक्षा करनी चाहिए, ऐसी हैं ये ।

दस

ये सब बातें मैं अश्वत्थामा के मधुर साहचर्य में सीख पाया था। उसका प्रत्येक शब्द अमृतस्नात-सा होता था। उसके पिताजी ने केवल शस्त्रास्त्र और कुछ कठोर सामाजिक नीति-नियम ही देखे थे। इनके अतिरिक्त और कुछ देखा ही नहीं था; लेकिन अश्वत्थामा तो मुझको सर्वगुणसम्पन्न प्रतीत होता था। मुझको वह जीवन-यात्रा का सबसे अधिक अध्यवसायी और सूक्ष्मदर्शी, फिर भी अत्यन्त विनम्र यात्री लगता था। वह वीर योद्धा था। स्नेही मित्र था, आज्ञाकारी पुत्र था, प्रकृति का रसिक उपभोक्ता था। आस-पास की छोटी-मोटी बातों की जीवन से सतर्क संगति उसने कितनी सूक्ष्मता से बैठायी थी ! उसके मौन के कारण कुछ लोग उसको कुण्ठित क्षितिजवाला कहते थे। लेकिन मैं यह नहीं मानता था। भला अश्वत्थामा कुण्ठित क्षितिज का कैसे हो सकता है ! वास्तव में देखा जाये तो उसका

कोई क्षितिज था ही नहीं। चारों ओर का असीम क्षितिज उसके अनेकविध व्यक्तित्व में सरलतापूर्वक समा ही नहीं गया था क्या ? मैंने उसको अत्यन्त निकट से देखा था। मुझसे उसने अनेक बार घण्टों तक बातें की थीं। कुछ लोग कहते थे कि गुरु द्रोण ने उसको अपना विकास करने के लिए उपयुक्त अवसर कभी दिया ही नहीं। वे कहते थे कि वह गुरु द्रोण के विराट् व्यक्तित्व के वटवृक्ष की छाया में कुकुरमुत्ते की तरह बढ़ा था। कितने अन्यायपूर्ण और एकांगी विचार हैं ये ! इस राजनगरी में सच्चे अर्थों में अश्वत्थामा को कोई समझ ही नहीं सका था। मुझको तो उसका नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट दिखाई दे रहा था। इस हस्तिनापुर में मुझको अन्य कोई ऐसा दिखाई नहीं दिया था, जिसका व्यक्तित्व अश्वत्थामा के व्यक्तित्व की तरह विलक्षण और स्वतन्त्र हो। कभी-कभी तो वह मुझको गुरु द्रोण से भी अधिक श्रेष्ठ लगता था। हिमालय के धवल शिखर-जैसा ऊँचा । गंगा के पात्र की तरह विशाल ।

एक बार मैं प्रातःकाल गंगातट पर जाने के लिए निकला। मार्ग में मुझको अश्वत्थामा मिल गया। देह पर शुभ्र उत्तरीय डालकर वह जल्दी-जल्दी जा रहा था। सद्यःविकसित कमल की तरह उसका चेहरा प्रसन्न और प्रफुल्ल था। उसके हाथ औदुम्बर की समिधा थी। शायद वह प्रातःकाल का हवन करने जल्दी-जल्दी युद्धशाला की ओर जा रहा था। उसको देखते ही मैंने रथ रोक दिया। राजा होने के बाद मैं रथ हारा ही गंगातट पर जाता था। वैसे तो मेरे रथ का सारथ्य शोण करता था, किन्तु गंगातट पर मैं अकेला ही जाता था। घोड़े रोकते हुए मैंने अश्वत्थामा से कहा, “अलभ्य लाभ ! गुरुपुत्र, तुम्हारे दर्शन से अब मेरा पूरा दिन बड़े आनन्द से बीतेगा। जिसके मिलने की कोई आशा न हो, ऐसे दुर्लभ अतिथि से शायद आज भेंट भी हो जाये !” वह सहज हँसता हुआ बोला, “मेरे दर्शन तुम्हारे लिए इतने शुभ हैं क्या ? तो फिर मैं प्रतिदिन ही गंगा की ओर जानेवाले तुम्हारे इस मार्ग पर आकर बैठ जाया करूँगा?”

“मैं जानता हूँ कि तुम ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन तुम्हारे दर्शन शुभदायक हैं, यह निश्चित है। मेरे साथ गंगातट पर चल रहे हो क्या ?” मैंने उससे प्रश्न किया।

“नहीं कर्ण, अब हवन का समय होता जा रहा है। मुझको जाना ही चाहिए। कम से कम ये समिधाएँ तो समय पर पहुँचानी ही चाहिए।” हाथ में लगी समिधाओं की छोटी-सी गठरी ऊपर करता हुआ वह बोला ।

“बस इतनी-सी बात है न ! तो चलो, तुम्हारी समिधाएँ युद्धशाला में पहुँचाते हुए ही हम लोग गंगातट पर चलते हैं। आओ, रथ में आ जाओ।” मैंने उससे आग्रह किया। वह मेरी बात टाल न सका। वह रथ में चढ़ा। हम लोग युद्धशाला की ओर चल दिये। पक्षियों का कलरव शुरू हो गया था। रथ के चक्र के साथ ही मेरे मन में स्मृतियों के अनेक आवर्त घूम रहे थे। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि गति और स्मृति में आपस में अवश्य कोई गूढ़

सम्बन्ध है। नहीं तो गतिमान वाहन में स्मृतियों की इतनी भीड़ क्यों इकट्ठी हो जाती ? मुझको तात अधिरथ की याद आयी। इसलिए मैंने गुरुपुत्र से पूछा, "पिता-पुत्र के नाते के सम्बन्ध में तुम्हारे क्या विचार हैं ? स्पष्ट कहो।"

उसने स्वाभाविक ढंग से कहा, "सूर्य का प्रतिबिम्ब नदी के जल में पड़ता है। ऐसे ही पिता का अपने पुत्र पर पड़ा करता है। जीवन अनन्त है। पुत्र के रूप में मानो पिता ही पुनः जन्म-ग्रहण करता है। जन्मदान का यह अखण्ड क्रम सृष्टि के आदि काल से इसी तरह अटूट चला आ रहा है।" "अच्छा ! तुम्हारा अपना क्या अनुभव है ?"

"मेरा ? कर्ण, मेरा एक अत्यन्त प्रखर अनुभव है। लेकिन वह मैंने किसी को बताया नहीं। इतना योग्य व्यक्ति ही मुझको आज तक कोई नहीं मिला है। आज तुमको अवश्य बताऊँगा मैं वह।"

"यदि ऐसी बात है, तो अपना वह प्रखर अनुभव अवश्य बताओ।"

वह ऐसी आवाज़ में बोला, जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण और गुप्त रहस्य बता रहा हो, "मेरे पिताजी ने कौरव-पाण्डवों को सारी युद्धविद्या सिखायी है, यह तुम जानते ही हो; लेकिन उन्होंने इस बात की पूरी सावधानी रखी है कि वह पूर्णरूप में उनके हाथ न पड़े। धनुर्धर के रूप में प्रसिद्ध अर्जुन को भी उन्होंने कुछ दिन अँधेरे में रखा था। कैसे ? यह सुनो। अर्जुन को छोटे गले का एक जलपात्र देकर मेरे पिता उसको प्रतिदिन पानी लाने के लिए गंगातट पर भेजते थे। सबको यह काम करना पड़ता था। लेकिन मुझको वे बड़े गले का जल-पात्र देते थे। इस कारण मैं झट से सबसे पहले जल लेकर युद्धशाला पहुँच जाता था। पाण्डव और कौरवों के आने से पहले ही पिताजी मुझको एक महान् अस्त्र नारायणास्त्र की शिक्षा दे देते थे।"

"तो तुम नारायणास्त्र जानते हो ?"

"हाँ। बाद में अर्जुन भी उसको जान गया। पिताजी की वह युक्ति उसने जान ली। उसने उनके पीछे पड़कर वह नारायणास्त्र जान लिया। हम दोनों के अतिरिक्त और कोई उसको नहीं जानता।"

"तो इससे पिता-पुत्र के नाते के सम्बन्ध में तुमने क्या निष्कर्ष निकाला है, अश्वत्थामन् ?" अन्त में मैंने उसको अपना मूल प्रश्न याद दिलाया।

"यही कि पिता अपने पुत्र के लिए सब कुछ कर सकता है। आवश्यकता होने पर असत्य भी बोल सकता है। लेकिन भले ही हम दोनों को नारायणास्त्र मिल गया हो, फिर भी धनुर्विद्या में दक्षता तुमने प्राप्त की है, वह हम नहीं प्राप्त कर सके हैं। सच । कर्ण, तुमको यह किसने सिखाया ?" उसने मुझसे ही उलटा प्रश्न किया ।

"अर्थात् मेरे पिता ने ही ! अश्वत्थामा, मैं एक सूत-पुत्र हूँ। मुझको अन्य कोई कैसे सिखा सकता है ! पिता पुत्र के लिए सब कुछ कर सकता है न ? तो यही समझ लो कि तात अधिरथ ने ही मुझको सब कुछ सिखाया है ।"

"तुम्हारे पिता धन्य हैं, कर्ण !" वह मेरे कन्धे पर हाथ रखता हुआ बोला । इतने में ही पूर्व दिशा प्रकाश से भर गयी। सूर्यदेव अन्धकार का पट फाड़कर ऊपर निकले। बातों ही बातों में हम युद्धशाला के पास आ गये। एक ऋषिकुमार को अश्वत्थामा ने अपने हाथ की समिधाएँ दे दी। हम दोनों ही फिर गंगा की ओर चलने लगे। सदा मैं अकेला ही जाया करता था। आज हम दोनों थे। मेरे मन में नारायणास्त्र चक्कर लगा रहा था। थोड़ी देर में ही हम गंगा पर आ गये। नित्यकर्म के लिए मुझको आज थोड़ी-सी देर हो गयी थी। प्रतिदिन मैं सूर्योदय से पहले कमर तक पानी में खड़ा हो जाता था। आज सूर्योदय हो जाने पर भी मैं पानी से बाहर था। मैं जल्दी-जल्दी रथ से कूद पड़ा। अश्वत्थामा भी नीचे उतरा । प्रातःकाल की विहँसती स्वर्णकिरणें चारों ओर स्वच्छन्द फैली हुई थीं। सूर्य-किरण देखकर मुझको इस बात का सदैव बड़ा दुख होता है कि वे आकाररहित हैं। यदि वे साकार होतीं तो मैं उनको यथेष्ट मात्रा में ग्रहण कर लेता। यदि उनमें सुगन्ध होती तो मैं उनको जी भरकर सूँघता। यदि वे किरणें मनुष्यों की तरह बातें कर सकतीं तो मैं उनसे घण्टों बातें करता रहता। और इतने पर भी सदैव अतृप्त ही रहा होता। मुझको ऐसा क्यों लगता था, यह बताने में मैं असमर्थ था। लेकिन ऐसा लगता था यह सत्य है।

"कर्ण, थोड़ी देर पहले मैंने कहा था न कि जीवन असीम है। इस गंगा के किनारे पर आकर मुझको उसकी तीव्र अनुभूति हो रही है।" अश्वत्थामा नीचे उतरते ही मुझसे बोला।

"सो कैसे ?" सुनहली किरणों से दमकते हुए उसके मुख की ओर देखकर मैंने उससे पूछा। जल में परावर्तित होकर कुछ किरणें हिलती हुई उसके गोल मुख पर पड़ रही थीं। इससे उसकी पहले से ही तेजस्वी काली आँखें एक विलक्षण तेज से चमक रही थीं।

"वह देखो, परले किनारे पर हरी घास पर ओस की कितनी बूंदें चमक रही हैं।" परले किनारे की ओर उँगली से संकेत करते हुए उसने सहन भाव से कहा ।

"हाँ !" मैं बोला, "कल रात यहाँ उमा-शंकर आये होंगे। उन्होंने आँखमिचौली खेली होगी। उस खेल में उमा के गले की मोतियों की माला टूट गयी होगी। खेल समाप्त होने पर अचानक उमा का ध्यान उस ओर गया होगा। 'आप सदा ऐसी ही आपाधापी करते हैं। यह कहकर उन्होंने शंकर को प्यार-भरा उलाहना भी दिया होगा। इतने में ही प्रातःकाल हो गया होगा। घबराकर जितने मोती हाथ लगे उतने ही जैसे-तैसे समेटकर पौ फटने से पहले ही अपने पति का हाथ पकड़कर वे पलायन कर गयी होंगी। उस समय जो मोती शेष रह गये थे, वे ही अब चमक रहे हैं। ओस की ये बूंदें उमा-शंकर का रहस्य प्रातःकाल की इन

सुनहली किरणों को हँस-हँसकर बता रही हैं।" अपनी कल्पना से स्वयं ही आनन्दित होते हुए मैंने उसकी ओर देखा ।

"नहीं कर्ण, तुम भूल रहे हो। उमा-शंकर कैलास छोड़कर यहाँ क्यों आने लगे ? और उन-जैसे भँगेड़ी पति के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत करनेवाली उस बेचारी उमा के पास—आभूषणरहित उमा के पास—मोतियों की माला भला कहाँ से आयेगी ?" चमकती हुई ओस की उन बूंदों की ओर एकटक देखता हुआ वह शान्तभाव से बोला ।

"तो फिर तुम्हीं बताओ कि ये ओस की बूंदें क्या हैं ?"

"कर्ण, ओस की ये बूंदें मनुष्य के जीवन का एक उत्कृष्ट प्रतीक हैं। अरे, ओस की बूंदें ही क्यों, प्रकृति की प्रत्येक वस्तु विधाता ने मनुष्य को कुछ न कुछ शिक्षा देने के लिए ही बनायी है। हाँ, मनुष्य की आँखें खुली होनी चाहिए। मन स्वच्छ होना चाहिए, तभी वह यह जान पायेगा कि संसार विधाता की एक भव्य और अखण्ड पाठशाला है और तभी वह विश्वसृष्टि का वास्तविक रहस्य जानने के लिए उत्सुक एवं जिज्ञासु शिष्य बन सकेगा।"

'अश्वत्थामा, पहले तुमने एक बार मनुष्य के जीवन को श्रीफल-जैसा बताया था, मुझको अब भी याद है। अब तुम कह रहे हो कि ओस की बूंदें भी मनुष्य के जीवन का प्रतीक ही हैं। इस बात को तनिक स्पष्ट करोगे क्या ?"

"देखो कर्ण, ओस की ये बूंदें कहाँ से आती हैं और कहाँ जाती हैं, यह कोई जानता है क्या ? मनुष्य की भी यही दशा है। वह कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, यह कोई भी नहीं बता सकता है। और आगे सुनो, यह कैसा है—ओस की ये बूंदें किसी का प्रकाश लेकर चमकती हैं। और ऐसी लगती हैं मानो प्रत्येक बूँद एक छोटा-सा अलग सूर्य ही हो। ओस की चमचमाती हुई ये बूंदें हवा के झोंके के साथ मन्द-मन्द झोंके खाने लगती हैं। उनके पास जो प्रकाशकिरणें होती हैं, उनको अपने से दूर फेंकती हैं। अपनी ओर देखनेवाले को आह्लादित करती हैं, परन्तु तनिक ज़ोर की हवा आते ही ये प्रसन्न ओस की बूंदें असंख्य जलबिन्दु होकर नीचे मिट्टी में ही विलीन हो जाती हैं—चूँ तक किये बिना, बिना किसी आक्रोश के।

"मनुष्य भी ठीक ऐसा ही है। एक ही परमेश्वर के असंख्य रूप में घूमनेवाले ये जीव हैं—अरे, इनमें से कुछ जीव तो इतने दिव्य होते हैं कि साक्षात् परमेश्वर ही प्रतीत होते हैं। ये सब अपना जीवन बिताते हैं। पुरुषार्थ की किरणों से जगत् में प्रकाश भरते हैं। सुख के क्षणों में आनन्द से झूमते हैं और मृत्यु की आहट सुनाई देने पर चुपचाप उसके अधीन हो जाते हैं। पीढ़ियों से यही होता चला आ रहा है। पहले दिन मिट्टी में मिली हुई ओस की बूंदें दूसरे दिन तृणपणों पर जैसे फिर तैयार हो जाती हैं, उसी प्रकार मृत मनुष्य नयी पीढ़ी के रूप में फिर तैयार हो जाते हैं। जीवन असीम है। सदा यह बात मैं क्यों कहता रहता हूँ—यह तुम अब जान गये होगे।"

"तुम सच कह रहे हो, अश्वत्थामा; परन्तु कुछ लोगों की ओर देखने पर उनका जीवन तुम्हारे कथनानुसार ओस की बूंदों जैसा होगा, ऐसा नहीं लगता। उनको कभी सुख के हिंडोले पर झूलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है। वे कभी कोई पराक्रम नहीं करते। जीवित होते हुए भी वे मृत होते हैं। तुम्हारे इन विचारों में उनका क्या स्थान होगा ? जीवन को ओस की बूंदों की उपमा देकर तुमने अपनी सौन्दर्य-दृष्टि प्रकट कर दी है; परन्तु जीवन इतना सहज-सुन्दर नहीं है; इतना सरल नहीं है।"

"नहीं कर्ण, तुम जिन लोगों के बारे में कह रहे हो, वे भी ओस की बूंदों जैसे ही होते हैं। अन्तर यही है कि ये बूंदें तृणपर्णों की दूसरी ओर चिपटी हुई होती हैं। सूर्य की दिव्य किरणें उन तक पहुँचती ही नहीं हैं। वे प्रकाश से वंचित रहती हैं। अज्ञान के घने अन्धकार में पड़ी हुई होती हैं वे बूँदें। और संसार में जितना क्रूर अज्ञान है, उतनी क्रूर तो मृत्यु भी नहीं होती।"

"आह, तो ओस की उन बूंदों को प्रकाश कब मिलेगा ? ऐसे लोगों के जीवन में सूर्य कब चमकेगा ? पराक्रम के उत्तुंग पर्वत वे कब खड़े करेंगे ?"

"मृत्यु की देहरी पर ! जो अज्ञान में भटकते रहते हैं, उनको मृत्यु के अतिरिक्त अन्य कोई सहज निष्पक्ष और सत्यप्रिय गुरु मिल ही नहीं सकता। उनकी मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

"तो फिर उनको जल्दी ही आत्महत्या कर लेनी चाहिए, यही कहना चाहते हो न तुम ?"

"कदापि नहीं। जिस जीवन को प्राप्त करना हमारे अधिकार में नहीं है, उसको गँवाने का भी अधिकार किसी को नहीं है। आत्महत्या का अर्थ है-भावुक मन का आत्मा पर किया गया घोर अत्याचार।"

"तो फिर ऐसे लोग आखिर क्या करें ? मरने तक केवल जीते रहें या मृतवत् जीते हुए जीवन-यापन करने का झूठा ढोंग रचें ?"

"नहीं। ऐसे लोगो को सहनशीला धरती की ओर देखना चाहिए। उसकी तरह असंख्य आघात सहन करने की अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। शारीरिक, साम्प्रतिक और लौकिक नहीं, बल्कि आत्मिक। और उसके बाद ही उचित समय आने पर अनन्त में विलीन हो जाना चाहिए। आत्मा के संक्रमण के अनुभव समृद्ध करके जाना चाहिए, क्योंकि यह किसी को कभी नहीं भूलना चाहिए कि काल अखण्ड है। जीवन भीख माँगने से मिलनेवाली वस्तु नहीं है। जीवन वह अखण्ड यात्रा है जो अनन्त से अनन्त की ओर चलती रहती है।"

मैं भावाभिभूत होकर एकटक उसकी ओर देखने लगा। उसकी आँखों से जैसे ज्ञान की चिनगारियाँ निकल रही थीं। फिर भी वह शान्त लग रहा था।

मुझको जल में उतरने में देर हो गयी है, यह भी ध्यान मुझको नहीं रहा। उसके कन्धे पर हाथ रखकर धीमी आवाज़ में मैं उससे बोला, "मित्र, मेरा मन कभी-कभी परस्परविरोधी

मानसिक विचारों में बुरी तरह उलझ जाता है। विचारों की किसी एक पार्श्वभूमि पर मैं कभी खड़ा नहीं हो पाता। मैं कौन हूँ, यह स्वयं मैं ही अच्छी तरह नहीं जानता हूँ। मेरे हृदय में परस्पर विरोधी भावनाओं का यह विचित्र संघर्ष क्यों है ? यह असामंजस्य क्यों है ? यह द्वैत कब अद्वैत होगा ? मैं ऐसा कर्ण कब बनूँगा जो भीतर-बाहर एक ही अखण्ड हो ? एक कर्ण ! सबको स्पृहणीय लगनेवाला कर्ण। अपने तेज से चमकनेवाला कर्ण ! अपने वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह जान लेनेवाला कर्ण।"

मेरी ओर अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखता हुआ, मुझको बीच में ही रोककर वह बोला, "कर्ण, चूँकि तुम्हारे कानों में जन्मजात कुण्डल हैं, इसलिए तुम्हारी परम्परा निश्चय ही अति तेजस्वी और अति प्राचीन होनी चाहिए। लेकिन फिर भी केवल परम्परा का ही नीरस गुणगान मत करते रहो। तुम केवल वर्तमान पर अपनी दृष्टि रखो। परम्परा के गर्भ से निर्मित होनेवाला भविष्य तुम्हारा नहीं—इस कुण्ठा को पनपने मत दो। उस भय से हाथ में आये वर्तमान को कभी पैरों से मत रौंदो। जिसने एक बार यह विश्वास कर लिया कि जीवन असीम है, वह कभी उदास नहीं होता। वह अपने आत्मविश्वास को कभी लड़खड़ाने नहीं देगा, अज्ञानी और प्रवाह-पतित लोगों का अनुकरण वह कभी नहीं करेगा। वह हलके-फुलके मनोरंजनों में खो जायेगा। और यदि उनमें रम गया तो फिर वह कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसकी परम्परा कितनी ही महान् और श्रेष्ठ क्यों न हो, वह धूल में मिले बिना नहीं रहेगा। उसकी तथाकथित श्रेष्ठता और परम्परा का नाम तक शेष नहीं रहेगा। संसार के सब लोग उसको अज्ञानी, आत्मवंचित और कर्तव्यविमूढ़ ही कहेंगे। कोई कभी उसकी गाथा नहीं लिखेगा। किसी ने लिखी भी तो कोई पढ़ेगा नहीं। इसलिए कर्ण, मैं बार-बार तुमसे कहता हूँ कि ऐसे अन्तर्द्वन्द्व में तुम यदि अब भी पड़े हुए हो, तो तत्काल अपने को सँभालो। आत्मपरीक्षण कर एक बार अच्छी तरह विचार कर लो कि तुम कौन हो ! मुझको विश्वास है कि तुम अकेले ही संसार को दिव्य मार्ग दिखा सकोगे। तुम्हारा अन्तर्द्वन्द्व मिट जायेगा तो यह संसार एक दिन निश्चय ही तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगा, इतने महान् हो तुम।" उसकी आँखें अत्यन्त शान्त और निश्चल थीं। एक अज्ञात अपूर्व तेज उसके गौरवर्ण गोलाकार चेहरे से अविरत बरस रहा था। मुझको प्रतीत होने लगा जैसे उसकी वाणी में कोई गूढ़ और शाश्वत सत्य भरा हुआ हो।

उसके निरपेक्ष और स्पष्ट परामर्श से उसके प्रति मेरा आदर-भाव दुगुना हो गया। संसार में मुँह पर स्तुति करनेवाले तो बहुत-से लोग होते हैं, दोष बतानेवाले थोड़े ही होते हैं। मार्ग-दर्शन करनेवाले तो बिरले ही होते हैं। उसके कुछ शब्द मेरे कानों में अविरत गूँजने लगे, "तेरी परम्परा तेजस्वी है। वर्तमान पर अपनी दृष्टि रखो.... भविष्य की चिन्ता कर कुण्ठित मत बनो.... संसार को दिव्य सन्देश...."

मैं उसका हाथ अपने हाथ में लेकर बोला, “अश्वत्थामन्, जो आज तक किसी को नहीं बताया है, वह आज तुम्हें बता रहा हूँ। मेरा गुरु अन्य कोई नहीं है। धनुर्विद्या के लिए मैंने साक्षात् सूर्यदेव को अपना गुरु बनाया है। उनसे मुझको सदैव दिव्य सन्देश प्राप्त होते रहते हैं। मैं स्वयं उनको अच्छी तरह समझता हूँ। लेकिन समस्या यही है कि किसी भाषा में मैं उनसे कुछ नहीं कहता। जब-जब कोई असम्भावित कृत्य मुझसे सम्पन्न होता है, तब-तब वह मेरे गुरु के आदेश से ही होता है।” मैंने आकाश की ओर उँगली दिखाते हुए कहा।

हम दोनों ने उस तेजोनिधि को नमस्कार किया। मेरे कानों में अश्वत्थामा के कुछ शब्द अब भी गूँज रहे थे— “काल अखण्ड है। जीवन असीम है।....”

एक प्रश्न पहले भी अनेक बार मेरे होंठों पर आ चुका था, लेकिन मैं उससे पूछ नहीं सका था। वह प्रश्न आज पूछने का मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया। वह सदा अपने सिर पर धवल वस्त्र की एक पट्टी लपेटकर उसकी गाँठ हुनु के नीचे बाँधा करता था। उसके सिर पर कोई घाव तो नहीं था ? यह सन्देह मुझको बार-बार हुआ था। अन्त में अर्घ्यदान कर लौटते समय मैंने उससे पूछ ही लिया, “अश्वत्थामन् ! तुम अपना सिर सदैव आच्छादित क्यों रखते हो ? सूर्य-किरणों से कष्ट होता है, क्या इसलिए ?”

“नहीं ! बिलकुल नहीं। बल्कि गंगा का पात्र और सूर्यकिरण-इनके प्रति मेरे मन में अद्भुत आकर्षण है। लेकिन मैं सिर पर वस्त्र का आवरण क्यों डाले रहता हूँ, यह आज नहीं, समय आने पर तुमको अवश्य बताऊँगा, निश्चय ही बताऊँगा।”

ग्यारह

नदी किनारे से हम राजभवन आये। अश्वत्थामा युद्धशाला की ओर चला गया। भवन में पहुँचते ही मुझको एक महत्त्वपूर्ण समाचार सुनने को मिला। मथुरा के यादवराज का-कंस का—उसी के भानजे कृष्ण ने वध कर दिया था। कंस बड़ा ही अन्यायी था। उसने श्रीकृष्ण के सात सुकुमार भाइयों को शिला पर पटककर जान से मार दिया था। वास्तव में स्वार्थी मनुष्य सद्यःप्रसूता बाघिन-जैसा होता है। वह बाघिन पेट में भूख की आग लगी होने के कारण अपने ही सद्योजात सुकुमार शिशुओं को खाकर अपनी भूख शान्त करती है। स्वार्थी मनुष्य भी ऐसा ही होता है। अपने स्वार्थ के आगे औरों की बलि देते समय वह अपना-पराया बिलकुल नहीं देखता। कंस भी ऐसा ही स्वार्थी था। उसने जो-जो अन्याय किये थे, उनका सविस्तर वर्णन प्रतिदिन राजभवन में दूतों द्वारा हम सुनते रहते थे। उसने अपने सुकोमल भानजों के नवनीत-जैसे मृदुल-मृदुल सिर शिला पर पटककर फोड़ दिये थे। उसकी राक्षसी वृत्ति इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि उसके अन्यायपूर्ण उन्मत्त आचरण से

समस्त मथुरा के नगरजन सन्त्रस्त थे। अन्त में श्रीकृष्ण ने कंस का वध कर दिया। छाती में मुक्के मार-मारकर उसने मामा को धराशायी कर दिया। अन्याय का अन्त सदा इसी प्रकार होता है। कीर्तिमान, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन और भद्र—अपने इन सगे भाइयों के वध का श्रीकृष्ण ने अन्त में भयंकर प्रतिशोध ले लिया।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मैंने बहुत-से लोगों से बहुत-सी बातें सुनी हैं। कोई उसको व्यंग्य से ग्वाले का लड़का बताता है, कोई उसको राधा ग्वालिन का सखा कहता है। कुछ लोग उसको सुदामा नामक दीन ब्राह्मण का प्राणप्रिय मित्र बताते हैं, तो कुछ उसको केवल मुरलीवाला ही कहते हैं। मैंने उसको एक बार भी प्रत्यक्ष नहीं देखा। लेकिन उसको देखने की दुर्निवार इच्छा अवश्य है। पाण्डवों का ममेरा भाई होने के कारण वह कभी न कभी तो हस्तिनापुर में आयेगा ही। उससे मिलने के बाद तथा दो-चार बातें कर लेने के बाद ही उसके सम्बन्ध में मैं अपना निश्चित मत बना सकता था। अनेक लोगों की दृष्टि को वह भिन्न-भिन्न रूपों में भले ही दिखाई दिया हो, लेकिन मुझको तो वह यादवों का एक सामर्थ्यवान् आदर्श राजा ही लगता है। अन्याय से चिढ़नेवाला, समाज को अन्याय के चंगुल से छुड़ानेवाला और सर्वसाधारण श्रमिक जनों में तुरन्त घुल-मिल जानेवाला। अपने अत्याचारी मामा का सबके सामने वध करके भी, उसके राज्य का लोभ न करके उसके ही पिता को-उग्रसेन को-राजसिंहासन पर बैठानेवाला।

ऐसे त्यागी वीर को प्रजा भी चाहेगी ही। क्योंकि यद्यपि राजा उग्रसेन ही था, तथापि लौकिक अर्थ में मथुरा की संकटग्रस्त प्रजा ने अपने राज्य का राजदण्ड वास्तव में श्रीकृष्ण के ही हाथों में दे दिया है। मथुरा का पत्ता तक भी श्रीकृष्ण के संकेत के बिना हिल नहीं सकता था।

बारह

श्रीकृष्ण की विजय-वार्ता सुनकर हस्तिनापुर में उत्साह की लहर दौड़ गयी। सभी नगरजन चौकों में इकट्ठे होकर श्रीकृष्ण के अद्भुत पराक्रम की अनेक कथाएँ रस ले-लेकर एक-दूसरे से कहने लगे। कुछ लोगों ने द्वारों पर बन्दनवार लगाये।

राजभवन में अमात्य वृषवर्मा ने सभी सम्मान्य जनों को यह सन्देश दिया कि महाराज धृतराष्ट्र ने तत्काल राजसभा आमन्त्रित की है। मेरे अंगराज हो जाने के बाद यह पहली ही राजसभा थी। यादवराज श्रीकृष्ण को उपहार भेजकर राजमाता कुन्ती देवी के कारण उनका कुरुवंश से जो सम्बन्ध था, उसको और अधिक घनिष्ठ करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित करना था। सबकी शुभ कामनाएँ उस अवसर पर प्रकट करनी थीं। मथुरा यादवों

का एक सामर्थ्यशाली राज्य तो था ही, वह हस्तिनापुर का सबसे अधिक निकट का राज्य भी था। ऐसे एक बलवान् सम्बन्धी के साथ कुरुगण अपने राज्य का सम्बन्ध नेहपूर्ण एवं दृढ़ बनाना चाहते थे। राजनीतिक दृष्टि से भी यह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था।

राजभवन के नगाड़े बजने लगे। कुरुओं का सुरक्षित रखा हुआ पतले वस्त्र का विशेष भगवाध्वज बाहर निकाला गया। वह त्रिकोणी केसरिया भगवाध्वज श्वेत शुभ्र राजभवन के मस्तक पर गर्व से फहराने लगा। उसकी चंचल फड़फड़ाहट मानो हस्तिनापुर के राजभवन से वायुगति से दौड़ती हुई मथुरा के यादवों से कहने लगी--"तुम्हारे नये राजा का स्वागत है।"

सभागृह आमन्त्रितों से तथा सम्मान्य नागरिकों से बहुत शीघ्र भर गया। सभागृह के मध्यभाग में नौ-दस हाथ ऊँचा भव्य राज्य-सिंहासन उन्मत्त हाथी जैसा पूर्वाभिमुख खड़ा था। कितना प्राचीन ! इस सिंहासन पर कौन बैठेगा? इस सिंहासन पर बैठनेवाला वह पराक्रमी पहला राजा कौन था ? विवस्वान या उससे भी पहला कोई ? किसी को भी उस राजसिंहासन का पूरा इतिहास अच्छी तरह मालूम नहीं था। सुवर्ण से मढ़े हुए उस सिंहासन को विभूषित करनेवाले बलवान् राजागण काल के उदर में जा चुके थे; लेकिन फिर भी उस सिंहासन पर प्रत्येक राजा के कर्तृत्व की गहरी और स्पष्ट छाप पड़ी हुई थी। उनके उन्नत शौर्य का जीता-जागता प्रमाण था वह सिंहासन। उसके हथ्यों के स्थान पर मुँह फाड़े हुए दो सिंहों की प्रतिमाएँ थीं। उसका पृष्ठभाग लगभग छह-सात हाथ ऊँचा था। सम्पूर्ण सिंहासन पर गुड़हल के फूल के परागदण्ड-जैसी घुमावदार बेलें खुदी हुई थीं। वह सिंहासन कुरुओं का तथा उनसे पहले सूर्यवंश का प्रतिष्ठा केन्द्र था । ऐसा प्रतिष्ठा-केन्द्र कि जिसके सम्मान की रक्षा के लिए सहस्रों वीर सैनिकों ने आर्यावर्त के कोने-कोने में अपने उष्ण रक्त की सरिताएँ बहा दी थीं। आर्यावर्त के सभी राजागण उस राजसिंहासन के सामने सिर झुकाकर मानो श्रद्धा और विनय से पराक्रम की पूजा किया करते थे। न जाने कितने पराक्रमी राजाओं ने अपने शक्तिशाली सुपुष्ट शरीरों से उस सिंहासन को विभूषित किया था ! विवस्वान्, मनु, पुरुरवा, नहुष, ययाति, पुरु, अहंयाती, देवातिथि, अन्त्यनार, इलील, दुष्यन्त, भरत, सुहोत्र, हस्ती, अजमीढ, संवरण, कुरु, अनश्वन, परिश्रवस् और विख्यात शान्तनु । एक से एक अधिक महान राजाओं की वह तेजस्वी परम्परा थी। वे सभी राजागण तेज के दिव्य स्फुलिंग थे। महाराज नहुष ने तो देवराज इन्द्र को भी पराजित कर सूर्यवंश के इस राजसिंहासन के सम्मुख सिर झुकाने को विवश कर दिया था। जो भी उस सिंहासन के सामने पहुँच जाता, उसकी ग्रीवा आदर से स्वयं ही झुक जाती थी। वह सिंहासन सूर्यवंश के पराक्रमी राजाओं का जीता-जागता शिलालेख-नहीं, सुवर्ण-लेख ही था ।

सभागृह तो मानो वैभव का सुसज्जित वसन्त था। और क्यों न हो ? वैभव विक्रम का दास बनकर उसके पीछे-पीछे ही चला करता है। सिंहासन के पीछे ठीक पूर्व की ओर

अभिमुख सूर्यवंश के मानचिह्न से युक्त सूर्यदेव की एक प्रतिमा थी। नीले रंग की भित्ति पर थाली के आकार की वह प्रतिमा शुद्ध सुवर्ण ढालकर बनायी गयी थी। उस आकृति के चारों ओर दसों दिशाओं में किरणों की तरह दिखाई देनेवाली, भित्ति की नीले रंग की पृष्ठभूमि पर उभरकर दिखाई पड़नेवाली सुनहली पट्टियाँ थीं। उस चमचमाती हुई आकृति को देखने के बाद ऐसा लगता था मानो सूर्यदेव ही उस सिंहासन को सहारा देने के लिए आकाश से, नीचे उतरकर उस भित्ति पर स्थिर हो गये हों। सिंहासन अन्य सभी आसनों की अपेक्षा ऊँचे स्थान पर था। उसके दोनों ओर महारानी, राजगुरु, पितामह, सेनापति, पुरोहित और अमात्य के आसन थे। राजसिंहासन के सामने दोनों ओर बहुत-से आसन थे। उनपर आस-पास के देशों के आमन्त्रित राजागण तथा हस्तिनापुर के योद्धागण बैठते थे। सभागृह के पाषाण-स्तम्भ बेल-बूटेदार थे तथा उनपर अनेक भाव-मुद्राएँ खुदी हुई थीं। श्वेत-शुभ्र पाषाणों के फ़र्श पर गान्धार और कम्बोज देश के मृदु रेशमी पाँवड़े बिछे हुए थे। हवा के आने-जाने के लिए आमने-सामने विशाल गवाक्ष थे। राजस्त्रियों के बैठने के लिए अलग सौध बना हुआ था। वह सदैव झिलमिलाते महीन परदों से आच्छादित रहता था। कितना भी स्वाभिमानी मनुष्य क्यों न हो, आँखों को चकाचौंध से भर देनेवाले राजसभा के सभागृह में उस सिंहासन के आगे वह नतमस्तक हो जाता था।

नियमानुसार सभागृह भर गया। अश्वपाल, कोशपाल, सेनापति आदि अपने-अपने आसनों पर आसीन हो गये। मैं, दुर्योधन और शोण-तीनों एक साथ सभागृह में गये। वहाँ दुर्योधन के सभी भाई बैठे हुए थे। युधिष्ठिर सहित पाण्डव भी थे। राजगुरु के आसन पर द्रोण बैठे हुए थे। उनके पार्श्व में ही शकुनि मामा थे। समस्त युवराजों में अश्वत्थामा भी बैठा हुआ था। सब आपस में धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उन मिश्रित स्वरों से सारा सभागृह भर गया। हम तीनों भी अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। केवल महाराज धृतराष्ट्र, राजमाता गान्धारी देवी, पितामह भीष्म और गुरुदेव विदुर-इन चार व्यक्तियों के ही आसन अब भी रिक्त थे।

किसी कोने में सुलगनेवाली धूपपत्ती के धूम्रवलय मोहक चक्कर काटते हुए वातावरण को मत्त कर रहे थे। सभागृह आमन्त्रितों से पूर्ण हो चुका था। अश्वत्थामा बीच-बीच में मेरी ओर देखता हुआ मन ही मन मुसकरा रहा था। उस सभागृह की दो वस्तुएँ मुझको बड़ी आकर्षक लगीं। एक तो अश्वत्थामा की स्वच्छ प्रफुल्ल मुखमुद्रा और दूसरी कुरुवंश के मानचिह्न से युक्त सूर्यदेव की चमचमाती हुई वह सुवर्ण प्रतिमा। मैं एकटक उस प्रतिमा की ओर देखने लगा। दायें हाथ की कोहनी मैंने आसन के हथिये पर टेक दी। उसकी हथेली पर हनु टेककर मैं उस मोहक दृश्य को जी भरकर देखने लगा। क्षण-भर मुझको ऐसा भान हुआ जैसे मैं गंगा के किनारे पर ही खड़ा होऊँ। आसपास कानाफूसी करनेवाले सभासद् गंगा की लहराती हुई लहरें ही हैं केवल ! मैं भावाभिभूत होकर उस प्रतिमा की ओर देखने

लगा। एक रोचक कल्पना सहज ही मन में चक्कर काटने लगी। इस सूर्यवंश का प्रत्येक पराक्रमी राजा उन तपनेवाले अक्षय ज्वलन्त सूर्यदेव की एक वेगवान् तप्त किरण ही नहीं था क्या ? उन सभी राजाओं को मैं उस प्रतिमा में देखने का प्रयत्न करने लगा। पहले कभी न देखी हुई फिर भी परिचित लगनेवाली एक-एक मुखाकृति मुझको उस प्रतिमा में स्पष्ट दिखाई देने लगी। उन सबकी देहकान्ति एकदम पीले सुनहले रंग में चमक रही थी। इतना रमणीय दिवास्वप्न मैंने कभी नहीं देखा था। मैं उस रमणीय स्वप्नदृश्य में लीन हो गया। इतने में ही समीप बैठे हुए दुर्योधन ने मुझे ज़ोर से कोहनी मारी। मेरी भाव-समाधि एकदम भग्न हो गयी। मैंने चौंककर उसकी ओर देखा। उसने सामने बैठे युधिष्ठिर की ओर भौहें ऊँची कर आँखों से संकेत किया। इसलिए मैंने युधिष्ठिर की ओर देखा। वह स्वयं को भूलकर एकटक मेरे पैरों की ओर देख रहा था। मैंने झटपट अपने पैर आसन के नीचे कर लिये। इसलिए उसने चौंककर मेरी ओर दृष्टि मोड़ी। उसके भव्य मस्तक पर एक छोटी-सी सलवट उभर आयी। इतने में ही किसी ने उच्च स्वर में घोषणा की, "कुरुकुलभूषण कौरवराज महाराज धृतराष्ट्र \$\$\$!"

महाराज धृतराष्ट्र, महारानी गान्धारी देवी, पितामह भीष्म और गुरुदेव विदुर ने एक साथ ही विशेष द्वार से सभागृह में प्रवेश किया। अभिवादन के लिए सभागृह के सभी सदस्य उठकर खड़े हो गये। मैं भी खड़ा हो गया। जैसे ही महाराज ने राजदण्ड ऊँचा किया, सभी पुनः आसनस्थ हो गये। पितामह भीष्म और गुरुदेव विदुर के आने से चारों ओर शान्ति छा गयी। अमात्य वृषवर्मा उठकर बोलने लगे :

"वन्दनीय पितामह, कुरुकुलभूषण महाराज, महारानी, आदरणीय गुरुदेव द्रोण और विदुर, राजमाता कुन्ती देवी, सुबलराज शकुनि मामा, महासेनापति और अष्टमन्त्रिमण्डल के मन्त्रिगण, कौरवश्रेष्ठ युवराज युधिष्ठिर और दुर्योधन, अंगराज कर्ण, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, उपस्थित युवराज और आमन्त्रित नगरजनो ! आज यह राजसभा किस लिए आमन्त्रित की गयी है, यह आप जानते ही हैं। यादवश्रेष्ठ महाराज श्रीकृष्ण ने अपने अत्याचारी मामा का वध करके मथुरा में अपना राज्य स्थापित किया है। महाराज श्रीकृष्ण कौरवश्रेष्ठ महाराज पाण्डु की सुपत्नी राजमाता कुन्ती देवी के भाई यादवराज वसुदेव के सुपुत्र हैं, यह भी आपको विदित है। उनकी इस सफलता के कारण कुरुओं को मथुरा में समर्थन देनेवाला एक कर्तव्यकुशल सम्बन्धी मिल गया है, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। हम सब लोग अपना आनन्द और शुभकामनाएँ व्यक्त करने के लिए ही आज यहाँ एकत्रित हुए हैं। अब कौरवश्रेष्ठ पूज्य पितामह भीष्म यादवराज महाराज कृष्ण के सम्बन्ध में आपको कुछ अधिक बतायेंगे।" अपना सिर दो बार नीचे झुकाकर अमात्य वृषवर्मा बैठ गये।

सबकी आँखें पितामह भीष्म की ओर मुड़ गयीं। मुझे पितामह भीष्म से गंगातट पर हुई अपनी पहली भेंट याद आ गयी। उस समय उन्होंने मुझसे कहा था, "अपने कानों के

कुण्डलों का ध्यान रखना। जाओ !" उनका यह कथन याद आते ही मैंने कानों के कुण्डलों को छूकर देखा। उस सभागृह में अन्य किसी के भी ऐसे कुण्डल नहीं थे-इस बात ने मेरा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया। मैं सँभलकर बैठ गया और पितामह की ओर देखने लगा। वे खड़े हुए और धीर-गम्भीर स्वर में बोलने लगे, मानो कोई तना हुआ ऊँचा देवदार वृक्ष ही बोलता हुआ सबके सामने खड़ा हो। इतनी वृद्धावस्था में भी उनका लम्बा शरीर कहीं से झुका हुआ नहीं था। उनका स्वर शिलाखण्ड पर टकराते हुए बाण के फल के स्वर की तरह तीक्ष्ण और खनखनाता हुआ था। अत्यन्त शान्तिपूर्वक समस्त सभागृह पर अपनी वृद्ध लेकिन सुतीक्ष्ण दृष्टि डालते वे कह रहे थे :

"आमन्त्रित राजागण और कुरुओं के श्रेष्ठ वीरो ! आज मेरा मन अनेक प्रकार की मिश्रित भावनाओं से यमुना की विशाल बाढ़ की तरह लबालब भर गया है। भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ ? मैं उनको भगवान् कह रहा हूँ, इसी से आप सब कुछ समझ लीजिए। फिर भी आपकी इस तरुण पीढ़ी के सम्मुख एक वृद्ध कुरु के रूप में कुछ कहना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। क्योंकि कभी-कभी आप लोग संयम की महत्ता को एकदम ही भूल जाते हैं; इसलिए ही आपके वीर मन को अच्छी लगनेवाली कुछ बातें मैं श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सरल शब्दों में बताऊँगा। सावधान होकर ध्यान से सुनें।

श्रीकृष्ण सहस्र पंखुड़ियों का एक शतरंगी कमलपुष्प है। उसकी कोई भी पंखुड़ी आप ले लीजिए, अपने मृदुल स्पर्श और शान्तरंग से वह मन को दिव्य आनन्द ही प्रदान करेगी। आज राजा बने हुए श्रीकृष्ण, जन्म से ही अनेक स्वरूपों में मेरी आँखों के सामने खड़े रहते हैं। मैंने उनको अनेक बार देखा है। और उनसे सम्बन्धित अनेक घटनाओं को किसी के मुख से सुनते समय मुझको यही आभास हुआ है, जैसे वे मेरे सामने ही घटित हुई हों। इस समय इस राजसभा में आप लोग मेरे सामने बैठे हैं, यह जितना स्पष्ट मुझको दिखाई दे रहा है, उतनी ही स्पष्ट वे सब घटनाएँ मैं आज भी देख सकता हूँ। यह हो सकता है कि मैं अपने जीवन-क्रम की कुछ घटनाओं को भूल गया होऊँ, लेकिन श्रीकृष्ण के जीवन-क्रम की एक भी घटना मैं भुला नहीं पाया। श्रीकृष्ण ने कंस को मारा, इसपर आपको आश्चर्य हो रहा होगा, मुझको नहीं। वास्तव में उनके प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट करने का भी मुझे कोई कारण नहीं दीखता। फिर भी मैंने आप लोगों को यहाँ बुलवाया है, वह केवल इसीलिए कि उनके सम्बन्ध में मैं आप लोगों से कुछ कहना चाहता था। वीरो, श्रीकृष्ण को आप लोग अपनी श्रीफल-जैसी बुद्धि की सहायता से यदि नापने का प्रयत्न करेंगे, तो आप निश्चय ही भ्रान्त हो जायेंगे। उनको नापने के लिए विशाल आकाश की ओर देखिए। समय आने पर देखेंगे कि आकाश भी उनके सामने ठिंगना-सा है। यह मत समझिए कि मैं भावुकतावश कुछ का कुछ कह रहा हूँ। मैं प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण को आदर-पूर्वक, भक्तिभाव से लेकिन विचारपूर्वक 'भगवान्' कह चुका हूँ..."

इतना कहकर वे आसनस्थ हो गये। सारा सभागृह उनके शब्दों से भावाभिभूत हो गया था।

उनके बाद गुरुदेव विदुर आसन से उठे। प्रफुल्लित पारिजात वृक्ष-जैसे वे शान्त और प्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे। उनकी वाणी अत्यन्त मधुर थी। वह सारे सभागृह में इस तरह घूम रही थी जैसे स्वच्छ जलाशय में कोई चंचल मछली मोहक चक्कर काटती हुई घूम रही हो ! वे बोले :

"श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में आप लोग इतना सुन ही चुके हैं। मैं अधिक क्या कहूँ ? फिर भी इतना ही कहता हूँ कि संसार क्या कहेगा, इसकी रत्ती भर भी चिन्ता किये बिना मैं अपने को श्रीकृष्ण का एक विनम्र भक्त मानता हूँ। भक्त अपने भगवान् विषय में कभी कुछ नहीं कहा करता। वह उनको अपने मन-मन्दिर में श्रद्धा के साथ पूजता रहता है। भक्त को अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए भाषा भी अपूर्ण लगा करती है।" इतना ही कहकर वे आसनस्थ हो गये।

उनके बाद महाराज धृतराष्ट्र खड़े हुए। वे भरपूर हुए स्वर में कहने लगे :

"मैंने श्रीकृष्ण को कभी देखा नहीं है। देख भी नहीं सकता। लेकिन विदुर से उनके बारे में बहुत कुछ सुना है। सुनते समय कभी-कभी तो मैं यह सोचकर उदास हुआ हूँ कि मैं देख नहीं सकता ! दैवयोग से यदि किसी समय मुझको दिखाई देने लगा तो मैं सबसे पहले मथुरा ही जाऊँगा। बस, उनके सम्बन्ध में इतना ही कह सकता हूँ।" अपनी आँखों के कोनों में संचित जल को उत्तरीय के छोर से पोंछते हुए वे बैठ गये।

उनके बाद गुरु द्रोण, शकुनि मामा, सेनापति आदि अनेक सम्मान्य जन एक-एक करके बोले । सबने श्रीकृष्ण का कुछ न कुछ असाधारण वर्णन ही किया। मेरा कौतूहल प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था। क्षण-भर के लिए मन में आया कि एक बार मथुरा जाकर श्रीकृष्ण को अवश्य देखा जाये, जो छोटी-सी अवस्था में ही इन सबको इतने प्रिय और श्रद्धेय हो गये हैं। यदि हो सके तो उनसे बातें भी की जायें। मैं इन विचारों में ही भटक रहा था कि उसी समय ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर धीरे-धीरे बोलने लगा :

"पितामह, अमात्य, विदुर काका और महाराज-इन सबने स्पष्ट रूप से सब कुछ कह ही दिया है, मैं और अधिक क्या कहूँ ? इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण हमारे ममेरे भाई हैं। हम उनकी और आप सबकी आज्ञाओं का विनम्र भाव से पालन करेंगे।"

उसके बैठ जाने पर युवराज दुर्योधन उठा। अपनी पुष्ट गरदन चारों ओर गरगर फिराता हुआ वह बोला :

"राजा श्रीकृष्ण का वर्णन इस राजसभा में हो ही चुका है। मैं अमात्य को इतनी ही सूचना देना चाहता हूँ कि वे तुरन्त ही एक स्वर्णकिरीट, एक रुपहली मूठ का खड्ग और

जरी के राजवस्त्र कुरुओं की ओर से मथुरा आज ही भिजवा दें। मैं अंगराज कर्ण से निवेदन करता हूँ कि वे मेरे बाद इस सम्बन्ध में दो-चार शब्द कहें।'

वह मेरी ओर देखता हुआ हँसा और आसन पर बैठ गया। मुझसे बिना पूछे ही उसने अकारण ही कह दिया कि मैं भी कुछ कहूँ। अब जो मेरे मन में आये वह कहे बिना छुटकारा ही नहीं था। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मैं जो कुछ जानता था, वह सब सुना हुआ ही था। मैंने उनको प्रत्यक्ष कभी देखा नहीं था। फिर भी मैं बोलने के लिए उठ खड़ा हुआ। एक बार मैंने कुरुओं के मानचिह्न के अंकित सूर्यदेव की उस प्रतिमा की ओर देखा और फिर जैसे शरद् ऋतु कुछ अपरिचित पंछियों के झुण्ड न जाने कहाँ से आकाश में आ जाते हैं, वैसे ही अनेक अनपेक्षित विचारों के झुण्ड मेरे मन के अन्दर एकत्रित होने लगे। मैं जोर से बोलने लगा :

"मैंने श्रीकृष्ण को अभी एक बार भी नहीं देखा, फिर भी मैं उनके सम्बन्ध में अपने परम मित्र दुर्योधन के आग्रह के कारण कुछ कहने जा रहा हूँ। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई विचार प्रकट करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उनकी पूरी जानकारी होनी ही चाहिए। जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनसे किसी व्यक्ति का मूल्यांकन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। जैसा कि आप सब कह ही चुके हैं, यदि श्रीकृष्ण ने अपने अन्यायी और अत्याचारी मामा को अपने ही हाथों से वास्तव में ही यमलोक पहुँचा दिया है तो...तो मेरी राय में, श्रीकृष्ण आर्यावर्त के सर्वप्रथम द्रष्टा राजा हैं। क्योंकि सत्यासत्य के संघर्ष में उन्होंने अपने राष्ट्र के सम्मुख अपने सम्बन्ध का मुक्त मन से बलिदान कर दिया है। वे इतने उदात्त हैं कि हम सबको उन्हें आदर्श के रूप में ग्रहण करना चाहिए। और केवल इसीलिए श्रीकृष्ण मेरे लिए पूज्य हैं।" सबने तालियाँ बजाकर मेरे विचारों का स्वागत किया। मैं बैठ गया।

उसी समय एक थाल में सुवर्ण मुकुट, एक खड्ग और राजवस्त्र सभाभवन में लाये गये। सबकी ओर से यह निर्णय लिया गया कि अमात्य को मथुरा जाना चाहिए। राजसभा विसर्जित हो गयी। सब लोग सभागृह से बाहर निकलने लगे। मैंने सामने बैठे हुए पाण्डवों की ओर देखा। भीम मेरी ओर घूरकर देख रहा था। अर्जुन मेरे कानों के कुण्डलों की ओर आँखें फाड़कर देख रहा था और युधिष्ठिर अब भी मेरे पैर निहार रहा था। थोड़ी देर में ही जब वे सब लोग सभागृह से बाहर चले गये तब केवल मैं, शोण और दुर्योधन-हम तीन ही सभागृह में रह गये। अन्त में हम भी बाहर निकले।

राजस्त्रियों के सौध से बाहर आनेवाला सोपान-मार्ग सभागृह की दायीं ओर था। उस मार्ग से राजस्त्रियाँ उतर रही थीं। जब हम सभागृह से बाहर निकले, उस समय राजमाता कुन्ती देवी उस मार्ग से उतर रही थीं। उनकी देह पर धवल अनन्तपुष्प-जैसे श्वेत-शुभ्र वस्त्र थे। अत्यन्त धीमी गति से वे एक-एक सीढ़ी उतर रही थीं। जैसे ही मेरी और उनकी दृष्टि मिली, वे सीढ़ी पर ही रुक गयीं। शायद वे एकटक मेरे कुण्डलों की ओर देख रही थीं। मैंने

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह शायद उनको अच्छा लगा था। श्रीकृष्ण उनके भाई के पुत्र थे। उनके चेहरे से मुझको ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वे मुझसे कुछ कहना चाहती हों। मैं भी क्षण-भर रुका; परन्तु दुर्योधन ने मेरी बाँह पंकड़कर मुझको धीरे से आगे धकेल दिया। वह बोला, “कर्ण, आज तुम बहुत ही अच्छा बोले। मुझको तुम्हारा कथन बहुत ही अच्छा लगा। चलो, मेरे साथ सीधे मेरे महल में चलो। हम लोग थोड़ा-सा फलाहार करेंगे, फिर तुम चले जाना।”

मैं उसके साथ चलने लगा। मेरे मन में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही कई विचार चक्कर काट रहे थे। पाण्डवों का उनसे सम्बन्ध था। मेरा उनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं था। मुझको यह दुख था कि अबतक मैंने उनको कभी देखा भी नहीं था।

तेरह

रात को वृषाली के मुँह से राजमाता कुन्ती देवी की एक और महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात हुई। राजसभा का कामकाज कैसे चलता है, यह देखने की लालसा से तथा दुर्योधन की बहन दुःशला देवी के आग्रह से वृषाली राजसभा में स्त्रियों के सौध में जाकर बैठ गयी थी। उसको देखते ही राजमाता ने एक दासी द्वारा उसको अपने पास बुलवा लिया और अपने पास ही बैठा लिया। उन्होंने उसकी पीठ पर स्नेहपूर्ण हाथ भी फेरा। वृषाली ने भी उनको झुककर सादर प्रणाम किया। राजसभा का समस्त कार्य समाप्त होने तक वह राजमाता के पास ही बैठी रही। उसके पास ही दुःशला देवी थी। वह वृषाली से बीच-बीच में अनेक प्रश्न पूछ रही थी। राजमाता के पास ही बैठी होने के कारण वह यथाशक्ति धीमी आवाज़ में उसके प्रश्नों के उत्तर दे रही थी। दुःशला देवी ने उससे एक बड़ा मार्मिक प्रश्न पूछा था। मैं वृषाली के मुख से उस प्रश्न को सुनने के लिए बड़ा ही उत्सुक था। उसने दुःशला देवी को क्या उत्तर दिया था, यह भी मैं जानना चाहता था। लेकिन वृषाली वह बताना नहीं चाहती थी। वह कहती, “यह बात बताने में मुझको लज्जा आती है।” मैंने उससे बहुत घुमा-फिराकर पूछा। उसकी बड़ी चापलूसी की। परन्तु सब व्यर्थ। उसने एक नहीं चलने दिया। कुछ भी हो, स्त्रियों के मन की कोई गुप्त बात हठपूर्वक कहलवा लेना बड़ा ही दुष्कर होता है। संसार में सबसे अधिक गहरा और कभी जिसकी थाह न मिले ऐसा यदि कुछ है तो वह है स्त्रियों का मन। उनके मन का रहस्य यदि उगलवाना हो तो उसका एक ही प्रशस्त मार्ग है और वह यह है कि ऐसा प्रदर्शित किया जाये कि उस रहस्य का हमारे लिए कोई महत्त्व ही नहीं। ऐसा करने पर जो हम चाहते हैं, वही उनके मुख से सुनने को मिल जाता है। कभी-कभी मूल घटना नमक-मिर्च लगाकर।

वृषाली ने मुझको अत्यधिक उत्सुक देखकर जान-बूझकर वह प्रश्न मुझको नहीं बताया। वह टालमटोल करती रही। स्त्रियों का मन वास्तव में ही स्वाति नक्षत्र की वर्षा-जैसा होता है। आवश्यकता होगी तब नहीं आयेगी, आवश्यकता नहीं होगी तब अवश्य होगी।

वृषाली स्वयं ही कभी न कभी वह प्रश्न मुझको बता देगी, मुझको विश्वास था।

चौदह

वैवाहिक जीवन की पूर्णता पुत्र-सुख में होती है। पुत्र-मुख देखकर पिता को लगता है जैसे उसका जीवन धन्य हो गया हो। उसको अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

गर्भधारिका वृषाली अनेक दुर्लभ फलों की और अनेक प्रकार की वस्तुओं की माँग कर रही थी। उसकी माँग पूरी करते समय मेरे किये गये परिहास से वह लज्जा-बोध करती। उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए राजभवन के सभी सेवक-सेविकाएँ दौड़-धूप कर रही थीं। वास्तव में ही वह अंगराज्ञी बन गयी थी।

वृषाली का जो पहला पुत्र होगा, उसका नाम क्या रखा जाये, इसपर मैंने बहुत विचार किया, लेकिन कोई अच्छा नाम नहीं सूझ रहा था। वह काम उसी को सौंप देने में ही बुद्धिमानी थी। वह जो नाम रखेगी वह निश्चित ही बहुत अच्छा होगा।

मेरे मन में एक ही विचार बार-बार चक्कर काट रहा था। मेरे इस पुत्र को कवच-कुण्डल अवश्य होने चाहिए। उन कवच-कुण्डलों में वह कैसा दिखाई देगा? बचपन में जैसा मैं दिखाई देता था, क्या वैसा ही वह दिखाई देगा ?

अन्त में वृषाली को पुत्र हुआ। परन्तु....परन्तु उसके कवच-कुण्डल नहीं थे। मेरे मन में सन्देह के बादल छा गये। वह हृष्ट-पुष्ट था किन्तु कुण्डलहीन था। उसका नाम क्या रखा जाये, इस सम्बन्ध में कोई उत्सुकता नहीं रही। उसको कवच कुण्डल क्यों नहीं हैं, इस शंका से मेरा मन ग्रसित हुआ जा रहा था ।

उसका नाम सुदामन रखा गया। उसके नामकरण के उपलक्ष्य में भवन में विशाल प्रीति-भोज का आयोजन किया गया। मैं अपने मन को बार-बार यही कहकर समझा रहा था कि अपने किसी पुत्र को कवच-कुण्डल नहीं होंगे, ऐसा नहीं होगा। इस पुत्र को यदि कवच कुण्डल नहीं मिले तो क्या, दूसरे को तो निश्चय ही मिलेंगे। इस तरह मैं अपने मन को समझा रहा था।

आशा ही जीवन की सबसे महान् शक्ति होती है।

दुर्योधन

□

पुरवासी मुझसे डरते थे। बहुत-से लोगों की यह धारणा थी कि मैं संसार में विद्यमान-अविद्यमान सभी दुर्गुणों का जीवित पुतला हूँ, मैं अहंकार का एक महावटवृक्ष हूँ और मेरी आँखों में एक ऐसी महाभयानक अग्नि है जो संसार को भस्म कर देगी। अनेक बार उनके वार्तालाप में मुझे इसका आभास मिला था। उनकी यह धारणा अनुचित थी या उचित-इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। परन्तु संसार जिसे दुर्गुण कहता है, वह दुर्गुण आखिर है क्या ? कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकता है क्या ? मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब असत्य और मूर्खतापूर्ण कल्पनाएँ हैं, जिन्हें कायर और कर्तृत्वशून्य मनुष्यों ने बना रखी हैं। क्योंकि जिस कृत्य को संसार एक बार सद्गुण कहता है, उसी कृत्य को दूसरी बार वह दुर्गुण कहता है। और वह ठीक भी होता है। उदाहरण यदि देना हो तो मानव की हत्या का दिया जा सकता है। कोई प्रखर देशप्रेमी व्यक्ति अपने राज्य के किसी भेदिया को जान से मार देता है। इस मारनेवाले को संसार राष्ट्रभक्त कहकर पुकारता है। उसका नाम लेकर गगनभेदी जय-जयकार करता है। परन्तु यदि कोई लुटेरा धन के लोभ से किसी यात्री के कण्ठ पर परशु चला देता है, तो संसार उसको हत्यारा कहता है। कृत्य का प्रकार एक ही है—एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य की हत्या। परन्तु एक को राष्ट्रभक्त और दूसरे को हत्यारा कहता है। एक स्थान पर वह सद्गुण माना जाता है, लेकिन दूसरे स्थान पर वही दुर्गुण है। दोनों ही बातें ठीक होती हैं। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि दुर्गुण-सद्गुण ये कोरी कल्पनाएँ हैं। भीरु मनवाले कापुरुष अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए समय-समय पर उनका निर्माण करते रहते हैं। पागल संसार इन कल्पनाओं को आदर्श मानकर हज़ारों वर्षों से उनपर आचरण करता चला आ रहा है। परन्तु मेरे विचार से जग में केवल एक ही सद्गुण श्रेष्ठ है। संसार में केवल एक ही कल्पना चिरन्तन होती है, शाश्वत होती है। यह संसार आज तक केवल एक ही विन्दु के आगे झुका है। वह सद्गुण है सामर्थ्य ! सामर्थ्य के बिना मनुष्य ऐसा ही है, जैसा कि जड़ के बिना वटवृक्ष या मूठ के बिना खड्ग। सामर्थ्य, केवल भुजाओं का ही नहीं, बल्कि बुद्धि और भुजदण्ड दोनों का समन्वित सामर्थ्य ! मैं ऐसे ही सामर्थ्य को महत्त्व देता हूँ। ऐसे ही सामर्थ्य से सज्जित पुरुषश्रेष्ठ आकाश का पट फाड़कर तारों के हीरे-माणिक्य भी पृथ्वी पर ला सकता है। मैं ऐसे ही सामर्थ्य का पुजारी था। और इसीलिए संसार मुझको घमण्डी मानता था। अहंकारी कहता था। सारा हस्तिनापुर मेरे पीछे मेरी निन्दा करता था। दुर्बल यही तो

कर सकते हैं। मैं गला फाड़कर किसी से यह नहीं कहना चाहता कि मैं घमण्डी नहीं हूँ। क्योंकि यदि मैं यह कहूँ भी तो उसपर कोई विश्वास नहीं करेगा।

पृथ्वी पर रेंगनेवाले कीड़े आकाश में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले मेघराज की क्या कल्पना कर सकेंगे ? लोग मुझको घमण्डी और अहंमन्य कहते हैं। कहें। मुझको अब उसकी चिन्ता नहीं। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता था कि संसार के सामने झुककर और दबकर आचरण करनेवाले को यही संसार दबू और कायर कहने लगता है। फिर मनुष्य संसार में आखिर कैसा आचरण करे ? जिसका जैसा स्वभाव हो, उस स्वभाव के अनुसार। आत्मसंयम की गप्पें तो बहुत लोग मारा करते हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण किया करता है। और यही स्वाभाविक भी है। हरिण कैसे पकड़े जाते हैं—सिंह अपने बच्चों को यह सिखाता है क्या ? सिखाते हुए उसको किसी ने देखा है क्या ? मनुष्य की भी यही स्थिति है। मनुष्य को मस्त हाथी की तरह होना चाहिए। कभी कोई अवसर आने पर संसार को ऐसी ज़बरदस्त टक्कर देने की शक्ति उसके मस्तक में होनी चाहिए कि संसार सदा उसको याद रखे। और इसमें आखिर ग़लत क्या है ? जिसकी पुरुषार्थ में रुचि नहीं है, वह पुरुष ही नहीं है। संयम, सहनशक्ति, औदार्य, त्याग, सहिष्णुता आदि सारे सद्गुण की बातें चिकने पत्थरों के सुन्दर मन्दिर में बैठकर, धूप की सुगन्ध में, अच्छे लगनेवाले केवल खोखले शब्द मात्र हैं। निरर्थक पुराण हैं। क्योंकि जीवन वैसा मन्दिर नहीं है। वह तो निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाला यज्ञकुण्ड है। वह जन्म-मृत्यु के श्वासोच्छ्वासों से खौलता हुआ एक अखण्ड रणांगण है। रणभूमि में एक ही बात का महत्त्व होता है—सामर्थ्य का। सामर्थ्य से निःसृष्ट होनेवाले साहस का। जो गतिप्रिय होते हैं, वे ही यह स्वीकार करते हैं। जो स्थितिप्रिय होते हैं, वे इसको स्वीकार नहीं कर सकते। वे तो उलटे हर समय निकम्मे तत्त्वज्ञान की खाल खींचने में ही लगे रहेंगे। मैंने जीवन-भर दृढ़ता और निश्चय से सामर्थ्य और साहस का ही अवलम्बन किया है, और चाहे कुछ भी हो जाये, मैं अन्त तक उनका इसी तरह अवलम्बन करता रहूँगा। नगरजन इसको चाहे सद्गुण कहें, चाहे दुर्गुण। मुझको वे दुर्योधन कहें या युधिष्ठिर की तरह, सुयोधन कहें। मेरे पास इतना समय ही नहीं था कि मैं इन बातों पर विचार करता। राजा को वह कभी करना भी नहीं चाहिए।

दूसरा महत्त्वपूर्ण आक्षेप मेरी कंजी आँखों पर था। सभी लोग मेरी कंजी आँखों की आपस में चर्चा करते रहते थे। उनके विचार से मेरी कंजी आँखें संसार को भस्म कर देनेवाली थीं। यह बात मेरे सामने कोई नहीं कहता था। यदि किसी ने मेरे सामने यह कहने का साहस किया होता, तो मैंने तुरन्त उसको यही उत्तर दिया होता कि, “यह केवल असूया है, शुद्ध असूया।”

आज तक इस संसार में कंजी आँखोंवाले लोग क्या कभी नहीं हुए ? उन सबने संसार को जला दिया है क्या ? और यदि जला दिया है तो फिर तुम जीवित कैसे बच गये ? वास्तव

में कंजी आँखें सौन्दर्य का एक अनुपम लक्षण हैं। उन लोगों को कंजी आँखें नहीं मिली थीं, इसीलिए वे छिपकर मेरी इस तरह आलोचना करते थे। यह असूया नहीं थी तो और क्या था !

संसार में तीन वस्तुओं से मुझको अत्यन्त प्रेम था। एक कुरुओं का राज्यपद, दूसरी गदा और तीसरी मेरी कंजी आँखें। बहुत सम्भव था कि किसी अवसर पर मैं अपनी गदा पर और अपने राज्यपद पर अपने स्नेह को गौण मान लेता, परन्तु अपनी कंजी आँखों का अभिमान मैं कभी नहीं छोड़ सकता था। यदि राजवैद्य ने कहा होता कि, "राजा दुर्योधन, यदि तुम अपनी आँखें दे दो तो महाराज धृतराष्ट्र को शायद दृष्टि प्राप्त हो जाये ।" तो...तो मैंने उसको उत्तर दिया होता कि, "वैद्यराज, मेरी आँखें प्राप्त होने से ही यदि महाराज को दृष्टिलाभ हो सकता हो, तो निरुपाय होकर मैं उनको अवश्य दे दूंगा, लेकिन जिस क्षण मैं उनको दूंगा, उसी क्षण दूसरे हाथ से मेरा मस्तक धड़ से अलग हो जायेगा। क्योंकि आँखों के बिना दुर्योधन लकड़ी का एक कुन्दा मात्र है। मेरा व्यक्तित्व मेरी आँखों में ही है और इसीलिए अपनी कंजी आँखों पर मुझको अभिमान है।"

दो

मैं राजपुत्र था। हस्तिनापुर-सम्पूर्ण आर्यावर्त का आदर्श-आज मेरे हाथ में था। मेरी सेवा के लिए झंझावात को भी लज्जित करनेवाले रथ थे। रथों को राजा नहीं दौड़ाये तो कौन दौड़ायेगा ? हस्तिनापुर के गगनचुम्बी, भव्य और विलास-सामग्री से युक्त प्रासाद मेरे निवास के लिए थे। जिस समय इच्छा हो उसी समय षड्रस व्यंजन उपलब्ध थे । जब शरीर थककर चूर-चूर हो रहा हो, तब मेरे मनोविनोद के लिए अप्सराओं को भी लज्जित करनेवाली लावण्यवती नर्तकियाँ, गणिकाएँ और गायिकाएँ मेरे राजभवन में थीं। इतने पर भी यदि कोई मेरे विरुद्ध कुछ कहने का साहस कर ही उठे तो उसको कुचलने के लिए ज्येष्ठ युवराज के रूप में मेरे हाथों में कुरुओं का विख्यात राजदण्ड था। क्योंकि मैं हस्तिनापुर का स्वामी था। एक-दो नहीं बल्कि मेरे पूरे निन्यानबे शक्तिशाली भाई थे। शकुनी मामा-जैसे कुशल बुद्धिमान सम्बन्धी को मैंने परामर्श करने के लिए अपने साथ रखा था। मेरे प्रत्येक शब्द का पालन करने के लिए अमात्य । वृषवर्मा से लेकर साधारण सेवक तक की अटूट कड़ियों की पूरी शृंखला विद्यमान थी। पिता के अन्धे होने के कारण तथा पितामह के वृद्ध होने के कारण राज्य के सभी सूत्र वास्तव में मेरे ही हाथों में थे। हस्तिनापुर का राजदण्ड विगत लगभग सत्रह वर्षों से मेरे ही हाथों में था। मेरे, निकटवर्ती कर्ण-जैसे मित्र साहसपूर्वक कभी कभी मुझसे पूछते, 'दुर्योधन ! इन सत्रह वर्षों में तुमने क्या किया ?' लेकिन वे यह भूल जाते

कि कुरुओं के इस विशाल साम्राज्य को देखते हुए सत्रह वर्षों का यह काल तो बिलकुल ही नगण्य था । लगभग सत्रह वर्षों से आज तक मैं प्राणपण से कुरुओं की प्रतिष्ठा बढ़ाने का ही प्रयत्न करता रहा हूँ। फिर भी लोग यही कहते हैं कि 'तुमने स्वच्छन्द आचरण किया है। यदि यह उपयुक्त है, तो मैं भी कहता हूँ कि, 'ठीक है ! मैंने स्वच्छन्द आचरण ही किया ।' इस सम्बन्ध में तुम और क्या कहना चाहते हो ?' किसी का बन्धन मैं क्यों मानूँ ? यह राज्य किसने प्राप्त किया ? मेरे पूर्वजों ने ही तो ? फिर उनका वंशज होकर यदि मैंने ऐसा आचरण किया तो उसमें भूल क्या है ? मेरा भविष्य कैसा है, यह सोचकर मैं बिलकुल भयभीत नहीं था। भविष्य क्या होगा—यह भविष्य बतायेगा। इस हस्तिनापुर का क्या होगा। इस आर्यावर्त का क्या होगा ? जो होना होगा सो होगा। लेकिन मैं तो इसी तरह आचरण करूँगा। क्योंकि मैं न भूतकाल को जानता हूँ, न भविष्यकाल को । मैं केवल वर्तमानकाल को जानता हूँ। और इस वर्तमान में विरोधी शक्ति के रूप में मुझको पाण्डवों का जो भय लग रहा था, वह भी मैंने बड़ी कुशलता से कम कर दिया है। क्योंकि महापराक्रमी, बलाढ्य और सूर्य जैसा प्रतापी कर्ण आज पूर्णरूप से मेरी ओर था, उसका अन्यथा न होनेवाला वचन आज मेरे पक्ष में था। यद्यपि वह पराक्रमी है, तथापि बेचारा बड़ा सीधा है। उसको सब लोग सारथी कहते हैं, हीन कहते हैं; परन्तु मैंने जब-जब उसको देखा तब-तब-हर बार-मुझको यह कभी विश्वास ही नहीं हुआ कि यह एक सूतपुत्र है। भला सारथी के शरीर में इतना पराक्रम कैसे आ सकता है ? सारथी के कानों में तेजोवलय फेंकनेवाले हिरण्यवर्ण के कुण्डल कैसे हो सकते हैं ? यह निश्चय ही किसी उच्चकुल का राजपुत्र था। लेकिन....लेकिन शायद वह स्वयं ही यह नहीं जानता था कि वह कौन है ? यदि मेरा यह तर्क सत्य है, तो कल को यदि उसको अपना वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो गया तो?...छिः ! कल्पना भी नहीं की जा सकती कि तब युवराज दुर्योधन की क्या दशा हो जायेगी ?

अपना प्राणप्रिय मित्र मानकर उस बावरे ने अपना जीवन-सर्वस्व, ध्येय, भवितव्य—सब कुछ मेरे हाथों में सौंप दिया है, एकदम निश्चिन्त होकर । मुझको वह अपना मित्र और हितैषी समझता है। पागल कर्ण, इस दुर्योधन को पूरा पहचानने में तुम्हें अभी बहुत दिन लगेंगे। शायद....शायद अपने अन्तिम क्षण तक तुमको बैचेनी से इसकी प्रतीक्षा करनी पड़े। क्योंकि आज तुम मेरी मुट्ठी में हो। मैंने तुमको अंगदेश का राजा बनाया है। बहुत दिनों से सारथी के रूप में इस हस्तिनापुर के एक कोने में दिन काटते हुए तुमको मैंने हाँ मैंने ही—स्वतन्त्रता की किरणें दिखायी हैं। मैंने तुमको ऐसा राज्य दे दिया है, जो तुम शायद अपने सम्पूर्ण जीवन में भी कभी प्राप्त नहीं कर सकते थे। मैंने तुमको स्वतन्त्र किया है। अब आगे तुमको मेरी आज्ञानुसार ही आचरण करना है। यदि ऐसा नहीं किया तो तुम भीतर ही भीतर सुलगते हुए जलकर राख हो जाओगे। लेकिन मुझको अब पूर्ण विश्वास हो गया है कि तुम मेरे विरुद्ध कभी कुछ भी नहीं करोगे। क्योंकि मैंने तुम्हें राजा बनाया है। एक सारथी को

एक स्वतन्त्र देश का राजा बना दिया है, यही मेरा महान् पुण्य कार्य है। इस पुण्य के बल पर मैं अब तुम्हारा मनचाहा उपयोग करूँगा। कर्ण, आज तो तुम इस दुर्योधन के गोष्ठ में बँधी हुई एक निरुपद्रवी गाय हो। गाय एक ही बात जानती है और वह है अपने स्वामी को दूध देना। दीन गाय अपने स्वामी पर कभी सींग नहीं चलाती, यह मैं अपने अनुभव से अच्छी तरह जान गया हूँ। कर्ण, आज तो कुरुश्रेष्ठ इस दुर्योधन के सामने तुम्हारी यही स्थिति है। तुम समझ रहे होगे कि तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम उमड़-उमड़कर आ रहा है तथा इसीलिए मैं तुम्हारा साथ रहा हूँ। लेकिन यह स्पष्ट भूल है। मुझको उन पाण्डवों का काँटा निकालना है। इस कार्य में मैं तुम्हारा उपयोग करना चाहता हूँ।

वे बार-बार यह कहते हैं कि हम महाराज पाण्डु के पुत्र हैं। महाराज पाण्डु पराक्रमी थे, शत्रुनाशक थे, दिग्विजयी थे—इन सब बातों को मैं भी स्वीकार करता हूँ। उनके लिए मेरे मन में आज भी अत्यन्त आदर है। परन्तु उन्होंने हस्तिनापुर क्यों छोड़ा, यह बात जो लोग जानते हैं, वे सुज्ञजन तो निश्चय ही यह स्वीकार करेंगे कि ये पाण्डव महाराज पाण्डु के पुत्र हो ही नहीं सकते। उस शाप के कारण उनको पुत्र होना सम्भव ही नहीं था। फिर ये पाण्डव उनके पुत्र कैसे हुए ? ये महाराज पाण्डु के पुत्र नहीं हैं, यह बात एक बार निश्चित हो जाने पर मैं उनको पाण्डव कैसे कह सकता हूँ ? अधिक से अधिक वे कौन्तेय और माद्रेय कहलाने योग्य हो सकते हैं। और यदि यही बात है तो फिर उनको अपने राज्य के अधिकार के लिए मथुरा जाकर श्रीकृष्ण से लड़ना चाहिए या मद्रदेश में जाकर शल्य से। यहाँ, इस हस्तिनापुर में वे अपने झूठे अधिकार को लेकर घुसने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं ? हमारे प्रिय पाण्डु महाराज का क्या हुआ, यह बड़े आश्चर्य की बात है। महाराज की मृत्यु कैसे हुई थी, यह कोई नहीं बता रहा था। केवल राजमाता कुन्ती की ओर देखकर ही इन सबको इस राजप्रासाद में आश्रय दिया गया था। यत्र-तत्र उनका जो स्वागत-सत्कार हुआ था, वह आज तक मैंने अत्यन्त धैर्यपूर्वक सहन किया है। वास्तव में गुरु द्रोण कौरवों के राजगुरु थे। उनको हमारा ध्यान अधिक रखना चाहिए था। लेकिन मैंने सदैव देखा है कि अर्जुन गुरु द्रोण के पीछे-पीछे ऐसे फिरता है जैसे गाय के पीछे बछड़ा। दाल-भात में मूसरचन्द की तरह सबको उपदेश की घुट्टी पिलानेवाले युधिष्ठिर को भी मैंने देखा है। सदा तैरने के बहाने मेरे भाइयों को नगर के बाहर स्थित सरोवर में ले जाकर और फिर मेरे चार-चार भाइयों को एक साथ पानी में डुबोकर अधमरा करते हुए उस जंगली भीम को भी मैंने देखा है। उस समय मुझ पर क्या बीतती है, इसका भी क्या कभी किसी ने विचार किया है?

उनके इस एकाधिकार से विगत बारह वर्षों से मेरे मन की अग्नि भीतर ही भीतर सुलगती रही है। जिधर देखो उधर ही पाण्डव। अरे, पाण्डव क्या देवता हैं ? और यदि हैं भी तो मैं भी उनको यह दिखा दूँगा कि मैं भी उन महाराज नहुष का वंशज हूँ, जिन्होंने देवताओं को भी अपने सम्मुख घुटने टेकने के लिए विवश कर दिया था। ये पाण्डव

आजकल प्रकट रूप में हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपने अधिकार की घोषणा करने लगे हैं। राज्य किसका है ? कौरवों का। महाराज पाण्डु और महाराज धृतराष्ट्र इन दोनों का। लेकिन सिर उठाकर अब उसकी माँग कर रहे थे कुन्ती और माद्री के पाप-जनित ये पुत्र। क्योंकि मेरा मन मुझसे सदैव यही कहता था कि पाण्डव महाराज पाण्डु के पुत्र हैं ही नहीं। हाँ, हुए तो कुन्ती और माद्री के पुत्र हो सकते हैं। लेकिन इसी बल पर यदि वे कुरुओं के राजसिंहासन पर बैठने का रंगीन स्वप्न देख रहे हों, तो मेरे विचार से वे महामूर्ख हैं। औलवाती के पानी को कोई कभी गंगा का पवित्र जल नहीं मानता है। नाले के किनारे इधर-उधर खड़ी हुई सत्यानाशी के फूलों को पारिजात मानकर कभी कोई देवता की पवित्र मूर्ति पर नहीं चढ़ाता। रास्ते में पड़ी हुई कंकड़ियाँ आकाश की तारिकाएँ बनकर कभी नहीं चमका करतीं। वटवृक्ष पर बैठकर चिलचिलाती धूप में दयनीय काँव-काँव करनेवाला पहाड़ी कौआ उच्च शिखर पर बैठनेवाले पक्षिराज गरुड़ की बराबरी कभी कर ही नहीं सकता...। जो होना हो सो हो, परन्तु...परन्तु जब तक यह बलशाली कौरव दुर्योधन जीवित है, तबतक वह अपने को पाण्डव कहनेवाली उस पापी पंचकड़ी को कुरुओं के पवित्र और प्राचीन राजसिंहासन को हाथ नहीं लगाने देगा। इसके लिए भले ही धरती-पाताल एक कर देना पड़े।

और इसलिए ही कर्ण, मैंने तुझको अपने समीप कर लिया है। यह निश्चय तो मैंने अखाड़े के उस स्मरणीय दिन ही कर लिया था।

केवल इसीलिए उस दिन प्रचण्ड जन-समूह के सम्मुख अंगदेश का राज्य देकर उस पराक्रमी कर्ण को मैंने अपने पक्ष में कर लिया है। कर्ण ही एक मात्र ऐसा योद्धा है जो अर्जुन पर भी इक्कीस है और अनेक सद्गुणों के कारण श्रेष्ठ है। यह उसने अखाड़े में निर्विवाद रूप से सिद्ध भी कर दिया। उस दिन बीच में ही उठकर भीम ने कर्ण के कुल-शील के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, यदि वह न कहा होता तो...तो अर्जुन का इस जगत् में अस्तित्व भी न रहा होता। कर्ण ने द्वन्द्व युद्ध में उसका कचूमर निकाल दिया होता। इसलिए कर्ण का सूर्यपुष्प-जैसा चमकीला पीला सुनहरा अंग ही अब मेरी अभेद्य ढाल बन गया है। समय आने पर मैं कुशलता से उसको आगे करूँगा। कर्ण सचमुच ही भोलाभाला है। वह जिसको अपना मानता है, उसपर फिर वह अपने प्राण निछावर कर सकता है। मुझको भी अब उसने अपना मान लिया है। “पागल कर्ण ! तुमको अंगराज बनाकर, स्वतन्त्र करके जो मान-मुकुट मैंने बड़े प्रेम से तुम्हारे मस्तक पर रखा है, उसमें एक प्रकाशवान् लाल रंग का हीरा जड़ा हुआ है—यह आभास कराया है मैंने तुमको। लेकिन वास्तव में वह हीरा नहीं है। वह है एक धधकता हुआ अंगारा। तुम्हारी मुझपर जो भोली श्रद्धा है, उस श्रद्धा का अंगार है, अंगार। तूने प्रेम से मस्तक पर धारण किया है। मैंने अपने हाथों से रखा है।”

तीन

यद्यपि कर्ण मेरे पक्ष में था, तथापि उन पाण्डवों का कुछ भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। पिछली बार अखाड़े में अर्जुन ने और भीम ने जो राक्षसी पराक्रम किये थे, उनको देखकर तो मेरी नींद हराम हो गयी थी।

उस विशालकाय भीम ने तो मेरे प्रिय दुःशासन को मुष्टि युद्ध में ऊँचा उठाकर पटाक से ऐसे नीचे पटक दिया था जैसे रजक कपड़ों को पीटता है। गदा के अखाड़े में तो भीम मेरे ऊपर भूखे सिंह की तरह ही टूट पड़ा था। छिः ! जब तक पाण्डवों का काँटा जड़ से नहीं उखड़ेगा, तब तक कौरव सुख से जी नहीं सकेंगे। इसके लिए मुझे कुछ भी क्यों न करना पड़े, मैं चूरूंगा नहीं। क्योंकि इसके बिना मेरे अतृप्त तप्त मन को शान्ति नहीं मिलेगी।

पाण्डवों को प्रकट रूप में नष्ट करना किसी तरह सम्भव नहीं था। क्योंकि यह पंचकड़ी तो पाँच अखण्ड पर्वतों की बोटली-चालती दृढ़ पंक्ति ही थी। एक हृदय होकर एकत्रित हुए पाँच मस्त वृषभ एक सामर्थ्यशील वनराज को बड़ी सरलता से पछाड़ सकते हैं। और यहाँ पाला पड़ रहा था पाँच शस्त्र-सम्पन्न योद्धाओं से। इसलिए मैंने कपट से उनका काँटा निकालने का निश्चय किया है। 'कपट से' कहने की अपेक्षा 'कौशल से' कहना अधिक उपयुक्त रहेगा। क्योंकि राजनीति में 'कपट' का ही मधुर और सुसंस्कृत नाम 'कौशल' इस सम्बन्ध में मैंने अनेक बार कर्ण से भी चर्चा की लेकिन उसकी एक ही रट है, "तुम कहो तो मैं एक साथ पाँचों योद्धाओं से द्वन्द्व करने को तैयार हूँ। मैं उनको केले के गूदे की तरह पिचल दूंगा, लेकिन किसी प्रकार का कपट करने के लिए मैं तैयार नहीं।" उसका यह आत्मविश्वास सत्य था, यह मैं भी जानता था, परन्तु उसके उस साहसी विचार से मैं कभी सहमत नहीं हो सका- होऊँगा भी नहीं। मैं पहले अपनी सब चालें चलकर देलूँगा। उसके बाद भी यदि ये नीच पाण्डव बच गये तो अन्त में...सबसे अन्त में अमोघ अस्त्र के रूप में मैं कर्ण का उपयोग करूँगा। क्योंकि वह पराक्रमी तो है, लेकिन दयालु और उदार है। जिसको वह एक बार अपना कह देता है, उसको फिर वह सचमुच ही अपना लेता है। अपने इन मनमोहक गुणों से उसने इस राजनगरी के असंख्य नगरजनों के मन जीत लिये थे। सबसे अधिक प्रभावपूर्ण और आकर्षक उसके पास यदि कुछ था तो वह उसका मधुर व्यक्तित्व ही था। वह सामने खड़ा हो जाता तो ऐसा लगता जैसे तेज के असंख्य कण ही सामने खड़े हों। न जाने ऐसा क्यों लगता था ! उसकी नीली आँखों में क्षण-भर झाँक लेने के बाद आकाश की नीलिमा भी फीकी लगने लगती थी। कभी-कभी जब वह गंगा से स्नान कर लौटता, तब राजभवन की सीढ़ियों पर हम दोनों अचानक मिल जाते थे। उस समय मैंने उसका जो रूप देखा है, उसको तो मैं कभी भूल ही नहीं सकता। भूल से गंगा के जल की कुछ शुभ्र बूंदें उसके आर्द्र सुनहले बालों पर रह जाती थीं, वे कुछ इस तरह चमकती थीं कि उसे देखकर,

ओस की बूंदें सिर पर लिये उद्यान में खिले सुनहले रंग के सूर्यपुष्प का स्मरण हो आता था। उसके मन्द-मन्द हिलते हुए मांसल कुण्डल तेजस्वी भव्य कपाल, ध्वजदण्ड-जैसी सरल-तीक्ष्ण नासिका, पलाश के फूल-जैसे भरे हुए रक्तिम कपोल, कानों की ओर लम्बी जाती हुई सुन्दर सुनहली भौहें, हाथी की सूंड-जैसी भुजा, पिण्डलियों के घुमावदार सशक्त स्नायु, गंगा के प्रचण्ड कश्यप की विशाल पीठ-जैसी विस्तृत और उन्नत भरी हुई छाती, बाणों के तरकश-जैसी गोल पुष्ट ग्रीवा, वृषभ जैसे ठोस भारी कन्धे और इन सबको एक निराली शोभा प्रदान करनेवाली उसकी सूर्य-जैसी गोल-अत्यन्त गोल मुखमुद्रा। इतना आकर्षक व्यक्तित्व रखनेवाला कोई और व्यक्ति मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण हस्तिनापुर में तो नहीं था। वह बहुत कम बातें करता है। परन्तु उसका मौन ही एक सजीव भाषा थी। जब कभी वह बोलता, उसकी ध्वनि मुझको ऐसी खनखनाती लगती थी मानो दो गदाओं के टकराने की आवाज़ हो। स्वर के कारण पितामह के बाद मुझको कर्ण ही अच्छा लगता है।

बातें करते समय वह जब कभी मुसकराता है, तब उसके सुवर्ण-मण्डित दाँत चमक उठते हैं ! और... मैं।

और मैं गुरु द्रोण द्वारा की गयी अपनी घोर उपेक्षा को भूल जाता हूँ, भीमार्जुन द्वारा किया गया अपमान भूल जाता हूँ, हृदय के एकान्त कोने में सदैव चुभनेवाले सैकड़ों शल्यों को भूल जाता हूँ। भूल जाता हूँ कि मैं कुरुओं का एक युवराज हूँ, भूल जाता हूँ कि कल मैं इस हस्तिनापुर का अभिषिक्त सम्राट् बननेवाला हूँ। केवल एक ही विचार का आवर्त मेरे मन में भ्रमर की तरह गूँजता हुआ चक्कर काटने लगता है। यह कर्ण सचमुच ही सूतपुत्र है क्या ? सारथी की दरिद्र झोंपड़ी में क्या इतना सौन्दर्यशाली रूप कभी साकार हो सकता ? कर्ण सचमुच ही दीन है क्या ? तब मेरा मन सशक्त रूप में मुझसे कहने लगता है, 'कर्ण सारथी-पुत्र नहीं है। कर्ण तेज की खान है। तेज की खान अन्धकार की गुफा में कैसे जन्म ले सकती है ? कर्ण अवश्य किसी पराक्रमी राजा का तेजस्वी धैर्यवान् सुपुत्र है। कर्ण निश्चय ही क्षत्रिय है।' और इसीलिए सबके देखते-देखते मैंने उसको अंगराज बना दिया। नहीं तो, दुर्योधन क्या इतना मूर्ख है कि घोड़े की पूँछ ऐंठनेवाले और उसकी पीठ पर प्रतोद फटकारनेवाले एक तुच्छ सारथी को कौरवों की वैभवसम्पन्न राजसभा में एक सम्राट् बनाकर ले आये ? अंगराज का सम्मान्य मुकुट उसको दे दे ?

कर्ण मुझे अपना अमोघ अस्त्र लगता रहा है। जबतक उचित समय नहीं आयेगा, मैं उसको कदापि दाव पर नहीं लगाऊँगा। कर्ण दुर्योधन की सुरक्षा की पेटिका है। जबतक कर्ण जीवित है, तबतक दुर्योधन अजेय है। इसीलिए एक अन्य उपाय के रूप में जिसमें कर्ण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी—ऐसा एक निराला ही मार्ग मैंने पाण्डवों के सम्बन्ध में अपनाने का निश्चय कर लिया है। कल रात मैंने अपने पितृदेव को....महाराज धृतराष्ट्र को एक कठोर चेतावनी दे दी है।

वे उस पापी पंचकड़ी को वास्तव में ही अपने भाई के पुत्र मानते हैं। मैंने उनको समझाकर कह दिया है कि पाण्डव महाराज पाण्डु के पुत्र नहीं हैं। बल्कि पाण्डु महाराज का असमय में जो अन्त हुआ है, उसमें भी पंचकड़ी का ही कोई षड्यन्त्र रहा होगा। उनके गले के नीचे ये बातें उतारने में मुझको कितना परिश्रम करना पड़ा था। उनकी एक ही रट थी कि 'राजमाता कुन्ती राज्य के लोभ से कभी झूठ नहीं बोलेगी। तुम जो कह रहे हो, यदि वैसी कोई बात होती तो उसने इस राजनगरी में पैर भी न रखा होता।' हमारे पूज्य पिताजी बड़ी भोले हैं। राज्य के लोभ से पुरुष तो इतना ही करेंगे कि युद्ध छेड़ेंगे, एक-दूसरे को मौत के घाट उतारेंगे, समय पड़ने पर रणचण्डी को वीर की भाँति अपने सिर अर्पित कर देंगे—परन्तु स्त्रियाँ ?....छिः ! स्त्रियाँ राज्य के लोभ से समय आने पर उस सम्पूर्ण राज्य को ही जलाकर राख कर देती हैं। सभी लोग कहते हैं कि स्त्री विधाता का वैभव है, स्त्री मानवता का मानदण्ड है, स्त्री सौन्दर्य का आकार है, स्त्री कोमलता की पराकाष्ठा है, स्त्री प्रेम का पर्वत है। लेकिन मुझको यह सब झूठ लगता है। समय पड़ने पर पुरुष क्रूर हो जाता है, लेकिन उसकी क्रूरता की भी एक सीमा होती है। क्योंकि उसकी क्रूरता किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध होती है। परन्तु स्त्री जब एक बार अपना हृदय कड़ा कर लेती है, फिर तो वह नियति के अनेक शाश्वत नियमों को भी उठाकर ताक पर रख देती है। यदि ऐसा न होता तो राजमाता - कुन्ती अपना कलंकित काला मुँह दिखाने के लिए फिर हस्तिनापुर में आती ही क्यों ? परन्तु यह बात मेरे पिताजी की समझ में ही नहीं आती। पाण्डवों को वे अपने प्रिय भाई के सुपुत्र ही मान रहे हैं। लेकिन वे नहीं जानते कि उनके भतीजे कितनी भयानक अग्नि के स्फुलिंग हैं। इसीलिए कि अन्धे होने के कारण उन्होंने भीम-अर्जुन के राक्षसी पराक्रम प्रत्यक्ष नहीं देखे। कभी-कभी अज्ञान में बड़ा सुख होता है। मेरे पिता का सुख और समाधान क्या ऐसा ही नहीं था ? वे कुछ भी समझें, लेकिन मैं तो निश्चिन्त नहीं रह सकता था। काल कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। कल को ये ही पाण्डव उद्दण्ड, शक्तिशाली हो जायेंगे और तब दुर्योधन को पाण्डु महाराज की तरह एक अधरीय पहनकर अपने भाइयों के साथ अरण्यवास के लिए झोली लेकर वन का मार्ग पकड़ना पड़ेगा। इसीलिए कल रात मैंने अपने पिताजी को यह विश्वास करा दिया है कि वे जिनको अपने भाई के पुत्र समझते हैं, वे पाण्डव वास्तव में उनके भाई के पुत्र नहीं हैं।

कभी-कभी सम्बन्धों को ताक पर रखकर, अपने ही स्नेही जनों को अप्रिय शब्दों में कटु सत्य सुनाना ही पड़ता है। जीवन कर्तव्य का दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले व्यक्ति के पक्ष में ही अन्त में निर्णय दिया करता है।

आर्य कणक की सहायता से मैंने महाराज को कल रात आमूलाग्र बदल दिया था। कल रात से मन्त्री कणक मेरे गुरु बन गये हैं ! कल उन्होंने महाराज को कितना मार्मिक परामर्श

दिया था। जो कोई महत्वाकांक्षी राजा यशस्वी होना चाहता हो, उसको उनके दिये हुए परामर्श अर्थात् 'कणकनीति' को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

आर्य कणक ने जो कुछ कहा था, वह पहले तो सुनने में बड़ा विचित्र लगा था, लेकिन जब मैंने उनके कथन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया, तब लगा कि उसमें कितनी महत्ता और वास्तविकता भरी हुई थी। इतनी मार्मिक नीति इससे पहले मैंने कभी सुनी भी नहीं थी। मुझको वह बड़ी अच्छी लगी। इसीलिए तो मन्त्रिमण्डल के वरिष्ठ राजनीतिपटु मन्त्री आर्य कणक को मैंने अपना राजगुरु माना है। महाराज ने कल एक सेवक द्वारा कणक को अपने भवन में बुलवाया था। जैसे ही कणक ने भवन में प्रवेश किया, महाराज सहसा उनसे कहा, "आर्य कणक, मैं आपको एक चतुर राजनीतिज्ञ समझता हूँ। मैं एक प्रश्न आपसे पूछता हूँ। सोच-समझकर उसका उत्तर दीजिए। यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन आजकल बार-बार यह कह रहा है कि पाण्डव पाण्डु के पुत्र नहीं हैं। और पाण्डव प्रतिदिन अधिकाधिक उद्वण्ड भी होते जा रहे हैं। युवराज दुर्योधन के इस कथन में कुछ सत्यांश है क्या ? आपके स्पष्ट और सत्य विचार जानना चाहता हूँ मैं ।"

आर्य कणक ने महाराज को झुककर प्रणाम किया और गम्भीर स्वर में कहा, "महाराज, आप मेरे स्पष्ट विचार जानना चाहते हैं, पर शायद वे आपको अच्छे नहीं लगेंगे।"

"ऐसा क्यों कहते हैं, आर्य कणक ! यदि आप भी अब तक यह नहीं जान पाये हैं कि धृतराष्ट्र का मन कटु सत्य सहन कर सकता है तो....?"

"यह बात नहीं है महाराज, आप सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए। कोई भी निष्ठावान् सेवक हो, वह सदैव अपने स्वामी का कल्याण ही चाहा करता है। मैं आपका एक निष्ठावान् सेवक हूँ, इसीलिए स्पष्ट बातें कह रहा हूँ। इन बातों को अन्यथा न लें और न मेरे सम्बन्ध में अनुचित धारणा ही बनायें।

"महाराज, मनुष्य को सदैव अपने पुरुषार्थ का दण्ड ऊँचा उठाकर खड़े रहना चाहिए। क्योंकि संसार सदा उसी से डरता है जो दण्ड उठाकर खड़ा रहता है। इसलिए सभी कार्य दण्ड के बल पर ही करने चाहिए। अपने राज्यकार्य के छिद्र कभी दूसरे को दिखाई न दें- ऐसा प्रयत्न रहे। क्योंकि प्रत्येक शत्रु इन्हीं छिद्रों से लाभ उठाता है। शत्रु की राजव्यवस्था में जो छिद्र हैं उन्हें ढूँढ़ निकालना चाहिए और पश्चात्ताप करने का समय आने से पहले ही उन छिद्रों द्वारा आक्रमण कर देना चाहिए। मनुष्य को सदैव कछुए की तरह अपने अंग छिपाकर रखना चाहिए और जब आवश्यकता हो तभी संसार की आहट लेने के लिए चुपके से अपनी गरदन बाहर निकालकर देख लेना चाहिए। बैठे ठाले संसार की ओर देखकर आलोचना नहीं करनी चाहिए। अपना वास्तविक रूप अन्य किसी को भी ज्ञात नहीं होने देना चाहिए। कम से कम राजकाज चलानेवाले व्यक्ति को तो बिलकुल भी ज्ञात नहीं होने देना चाहिए। यदि कुछ समय के लिए अन्धत्व भी स्वीकार करना पड़े तो स्वीकार कर लेना

चाहिए। और फिर ऐसे समय अपनी आँखें खोलनी चाहिए, जबकि उन आँखों में संसार को भस्म करने की शक्ति आ चुकी हो। कान, आँख और मुँह-ये इन्द्रियाँ अपनी हैं इसलिए इनका मनमाना उपयोग नहीं करना चाहिए। इसका ध्यान रखना चाहिए कि अपने हाथ भी अपनी इन्द्रियाँ ही हैं। समय आने पर नाक, आँख और मुँह को बन्द किया जा सके, एतदर्थ आच्छादन के रूप में प्रकृति ने हमको ये हाथ दिये हैं। भले ही शत्रु दुर्बल प्रतीत होता हो, लेकिन उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ताड़ का पौधा छोटा लगता है, लेकिन बातों ही बातों में वह आकाश के उदर में घुसता चला जाता है। एरण्ड के पेड़ पर कभी जायफल नहीं लगता। अग्नि की चिनगारी छोटी होती है, लेकिन वही गगनस्पर्शी लपटों को भड़का सकती है। साँप के बच्चे को बच्चा समझकर छोड़ दिया जाये तो बड़ा होने पर वह डँसना नहीं भूलेगा। शत्रु कितना ही दुर्बल और क्षुद्र क्यों न हो, अन्त में वह बड़ा भारी मूल्य चुका लेता है। ऐसा शत्रु यदि कभी समय पड़ने पर दीनता की विनम्र भाषा का भी प्रयोग करे तो उसके शाब्दिक पश्चात्ताप पर विश्वास कर उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। पीड़ा पहुँचानेवाले उन्मत्त शत्रु को तो एकदम यमलोक पहुँचा देना चाहिए।

साम, दाम, दण्ड, भेद-जिससे भी सम्भव हो उसी मार्ग से शत्रु का निपात करना चाहिए। क्योंकि शत्रु वन्य केवड़े की तरह बड़ा जीवट का होता है। उसको कितना ही उखाड़कर किसी भी बंजर भूमि पर डाल दो, वह फिर अपनी जड़ें धरती में जमा ही लेगा। उसके दोनों ओर लगे हुए वैमनस्य के काँटे फिर सतर होने लगते हैं। इसलिए चाहिए कि क्रोध आने पर भी सदैव मुसकराकर बातें करे पर करते समय जो करना हो वही करे। कभी किसी से अपमानजनक शब्द न कहे। प्रहार करने से पहले शत्रु से मधुर स्वरों में बोले और प्रहार करने के बाद पहले से भी अधिक मधुर वाणी में। भिखारी, नास्तिक और घरभेदियों को राज्य में कभी न जमाने दे। क्योंकि भिखारी आलस्य बढ़ाते हैं, नास्तिक शताब्दियों की समाज-रचना को छिन्न-भिन्न कर प्रत्येक वस्तु के प्रति अनास्था उत्पन्न करते हैं और घर के भेदी राजकार्य के अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्य शत्रु को बताकर अराजकता फैलाते हैं। जिस पर सन्देह करना उचित न हो, उसपर भी सन्देह करे, उसकी परख करे और जिस पर सन्देह हो उसको तो कभी मुक्त छोड़ना ही नहीं चाहिए। क्योंकि ऐसा व्यक्ति गोचर-भूमि में छिपे हुए भयंकर भुजंग-जैसा होता है। जो विश्वासपात्र न हो, उसपर तो कभी विश्वास करे ही नहीं, लेकिन जो विश्वास के योग्य हो उसपर भी एकदम पूरा विश्वास न करे, क्योंकि ऐसा व्यक्ति कभी-कभी ऊपर से पपड़ी जैसे महीन परदे से आवृत बर्फ की गहरी खाई भी हो सकता है। एक ऐसी खाई, जो निश्चय और विश्वासपूर्वक पैर रखने पर पैर रखनेवाले को निश्चय ही उदरसात् कर लेगी।

अपने और शत्रु के राज्य में सदैव गुप्तचर रखने चाहिए। केवल गुप्तचर नियुक्त करने से ही काम नहीं चलता, बल्कि गुप्तचर अपना कार्य प्रामाणिकता से कर रहे हैं या नहीं, यह

देखने के लिए स्वयं राजा को गुप्तचर बनकर अपने राज्य में घूमना चाहिए। अन्य राज्यों में जो गुप्तचर भेजे जायें वे नास्तिक, अविवाहित और मितभाषी होने चाहिए। ऐसे गुप्तचर किसी देवता के भय या कुटुम्ब जनों के रोह के कारण अपने देश का रहस्य कभी प्रकट नहीं करते हैं। विहार, प्रार्थनागृह, मद्यपान गृह, मार्ग, तीर्थ, चौराहे, अड्डे, मरुस्थल-आदि सभी स्थानों पर राज्य के प्रति निष्ठावान रहनेवाले साहसी गुप्तचर होने चाहिए। गुप्तचर राष्ट्ररूपी लहलहाते खेत की रक्षा करनेवाला चलता-फिरता बाड़ा होता है, यह कभी नहीं भूलना चाहिए। किसी भी राष्ट्र को एक वृक्ष की तरह होना चाहिए। यह वृक्ष ऐसा होना चाहिए कि उसपर सुन्दर फूल ती हों, परन्तु फलन हों। यदि फल भी हों तो वृक्ष पर ऐसे काँटे होने चाहिए कि फलों तक किसी के हाथ कभी पहुँच ही न सकें। फल भी ऐसे होने चाहिए कि हों कच्चे, लेकिन पके हुए में दिखाई पड़ें और कभी कोई उनको खा भी ले तो उसको आसानी से कभी पच सकें। सारांश यह है कि अपने राज्य का वास्तविक स्वरूप कभी किसी को भी ज्ञात नहीं होना चाहिए। सामर्थ्य आने पर ही धर्म की सेवा करने की घोषणा करनी चाहिए। क्योंकि सत्य होता है सम्पत्ति का दास और धर्म होता है सामर्थ्य का दास। जिसके हाथ में सम्पत्ति होती है, वह जो कुछ कहे सब सत्य होता है। सत्य नहीं होता है तो वह उसको सत्य सिद्ध करना जानता है। और जिनकी भुजाओं में समायें होती है, उनका धर्म श्रेष्ठ होता है। श्रेष्ठ न हो तो समर्थ के बल पर वह कर लिया जाता है। इसीलिए सत्य और धर्म ऐसे दास हैं जो क्रमशः सम्पत्ति और सामर्थ्य के द्वार पर सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। यदि कोई शत्रु से सन्धि हो जाने के बाद 'हम कृतकृत्य हो गये' यह सोचकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है तो वह मानो अत्यन्त ऊँचे वृक्ष सोता है। नीचे गिरने पर ही उसकी आँख खुलती है, या यों कहो कि उसकी आँख फिर खुलती ही नहीं है। क्योंकि सन्धि का अर्थ विशुद्ध विजय नहीं होता। सन्धि का अर्थ होता है कि शत्रु-पक्ष को हमें कुछ न कुछ देना है और उसको हम लिखित में देकर स्वीकार कर रहे हैं। इसलिए सन्धि करने की अपेक्षा यह उचित है कि जब शत्रु की सेना दुर्बल हो गयी हो, प्रकृति अपना साथ दे रही हो, शत्रु की सेना में रोग फैल रहे हों, खाद्यान्न की कमी हो गयी हो, उसके सैनिकों का मनोबल गिरता जा रहा हो तो ऐसे समय में ही उसको अधीन कर लेना चाहिए। और यदि परिस्थितियाँ ऐसी न हो तो ऐसी परिस्थितियाँ बनाकर उसे अधीन कर लेना चाहिए।

राजा को जीवन के ये सिद्धान्त सदैव ध्यान में रखने चाहिए और उन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिए। यदि यह न कर सके तो अपना राज्य किसी अन्य योग्य और कर्तृत्ववान् राजा के हाथों में सौंपकर, अपनी देह में भस्म पोतकर सीधा वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर ले यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। क्योंकि राजा का जन्म केवल सुस्वादु भोजन करने के लिए, ज़री के बढ़िया वस्त्र पहनने के लिए और सुवर्ण-मुकुट पहनकर राजरथ में विहार करने के लिए ही नहीं होता। उसके लिए और सम्पूर्ण राज्य के लिए चिलचिलाती धूप में दिन-रात खेत में खपकर, पसीना बहाकर, फ़सल उगानेवाले कृषक बेगार के लिए

पकड़कर लाये गये दस्यु थोड़े ही होते हैं ? राज्य की रक्षा के लिए और चारों ओर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए सेमल की 'रुई' की तरह अपना जीवन निर्भय होकर निछावर कर देनेवाले सैनिक सिरफिरे थोड़े ही होते हैं। उनके रक्त के लाल रंग से ही राज्य का वैभव चमकता रहता है। उनके रक्तमांस की खाद से ही राज्य का वृक्ष बढ़ा करता है और उसके रसीले फल राजा और प्रजाजन चखा करते हैं। जो उनके पसीने और रक्त के प्रति निष्ठावान् नहीं रह सकता, वह भला कैसा राजा और कैसा उसका राज्य ! महाराज, बहुत सोच-समझकर कहना चाहता हूँ कि यह कटु है, फिर भी यह सत्य है। और सत्य किसी की इच्छा से न चलता है, न बदलता है। बिना बोले रहा नहीं गया, इसलिए आज इतना कह रहा हूँ। जब चिड़ियाँ खेत चुग जायें, तब पछताने में कोई बुद्धिमानी नहीं होती। आप कौरवश्रेष्ठ हैं, इसलिए जिह्वा की लगाम ढीली कर इतनी बात मैं कह सका हूँ। क्योंकि कौरवों की सत्यप्रियता समस्त आर्यावर्त में प्रसिद्ध है। अन्त में आप जैसा चाहें, वैसा निर्णय कर सकते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि काल अखण्ड है और वही सबका न्याय करनेवाला एकमात्र निष्पक्ष न्यायाधीश है। मेरी इसी नीति में ही आपको अपने प्रश्नों के उत्तर मिल जायेंगे।"

कणक ने फिर सिर झुकाकर प्रणाम किया और जैसे कोई मस्त हाथी चलता है, वैसे ही धीरे-धीरे पैर रखते हुए, उत्तरीय सँवारते हुए वे महल से बाहर चले गये।

दूर कहीं गंगा की ओर कदाचित् एक टिटहरी चिल्लाती हुई गयी थी। उसकी कर्ण-कर्कश चीख मेरे कानों से टकरायी। क्षण-भर को मुझे लगा, "टिटहरी ! क्षुद्र जीव ! परन्तु उसकी चीख कितनी मार्मिक और तीक्ष्ण है ! वातावरण को चीर देनेवाली।"

मुझको कणक का परामर्श बहुत ही अच्छा लगा। और उनके परामर्श के अनुसार शत्रु छोटा हो तब भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए—यही सूत्र मैंने ग्रहण कर लिया। एकमात्र इसी उद्देश्य से पाण्डवों को वारणावत के अरण्य में जीवित जलाने का विचार मेरे मन में चक्कर काटने लगा। मनुष्य का मन शायद भेड़िया जैसा ही होता है। मेमने की गरदन चबाते समय भेड़िया मेमने की भावनाओं का कभी विचार नहीं करता। इसीलिए तो उसकी पूँछ का गुच्छा गर्वीला और ऊँचा उठा हुआ होता है। वैसा गुच्छा मेमने के पास भी किसी ने कभी देखा है क्या ? किसी दूसरे को पैरों तले रौंदे बिना इस संसार में कोई कभी बड़ा नहीं हो सकता, भले ही वह अपनी धर्मनिष्ठा और संयम की चाहे जितनी डींग मारे।

पाण्डवों को जीवित जलाने की अपनी सारी योजना मैंने अपने विश्वस्त सहायक पुरोचन को एकान्त में बतायी। वह मेरे लिए प्राण तक अर्पण करने को तैयार रहता था। पाण्डवों का पाप पचाने की शक्ति अग्नि के सिवा और किसमें होगी ? गुरु द्रोण के सामने सदा बड़बड़ाती रहनेवाली उस काले अर्जुन की अंजीरी जीभ भी धधकती अग्नि में जलकर किट्टकाली हो जायेगी। उस उन्मत्त भीम की फड़फड़ाती हुई सशक्त भुजाएँ गठीले लकड़ी के कुन्दे की तरह जलकर राख हो जायेंगी और महारानी कुन्ती बननेवाली अधःपतित

कुन्ती उन जलती लपटों में क्षण-भर में स्वर्ग की महारानी हो जायेगी। वारणावत के अरण्य में उस ज्वालाग्राही घर में जब पुरोचन अपना कार्य सम्पन्न कर देगा, तभी विगत पन्द्रह वर्षों से मेरे उपेक्षित अन्तःकरण में निरन्तर भड़कती हुई अग्नि शान्त होगी। उपेक्षा की सुलगती हुई आग को शान्त करने की शक्ति केवल प्रतिशोध की अग्नि में ही होती है। इसीलिए...पुरोचन निरन्तर मेरी आँखों के आगे नाच रहा था। उसकी सूक्ष्म आँखों के पीछे मेरे प्रति उसकी एकान्तनिष्ठा भी दिखाई दे रही थी।

चार

पुरोचन मुझसे मिलकर वारणावत के अरण्य की ओर चला गया। मैंने उसको सब प्रकार से सावधान रहने की बातें कहीं। मैंने उससे यह भी कहा कि अरण्य में लाक्षागृह में आग लगाते समय साँस रोक लेना, नहीं तो केवल साँस की आवाज़ सुनकर ही बन्द आँखों से आवाज़ का अचूक लक्ष्यभेद करनेवाला अर्जुन उसके गले को धड़ से अलग कर देगा। जलते पलीते की ज्योति पर अपनी हथेली रखकर उसने गोपनीयता की शपथ ली कि मेरी योजना के तनिक अंश का भी किसी को पता नहीं चलेगा। प्राणों को संकट में डालनेवाले यह सब कुछ करने के लिए आखिर वह क्यों तैयार हुआ ? केवल इसलिए कि अष्टमन्त्रिमण्डल में वह कुरुओं का मन्त्री था ? नहीं जी ! स्वार्थ के बिना कौन ऐसा कृत्य करने को तैयार होगा ? मैंने उसको आश्वासन दिया था कि यदि वह सफल होकर लौटेगा तो मैं उसको कुरुओं का अमात्य बना दूंगा। राजनीति में ऐसे आश्वासन देने ही पड़ते हैं। अन्यथा हमारा अमात्य वृषवर्मा ऊँट ही है ! स्वयं कभी आगे नहीं जायेगा और साथी-यात्रियों को भी आगे नहीं जाने देगा। और राजनीति तो सदा ही मरुस्थल जैसी होती है। उसमें वृद्धों की भरती का अर्थ है प्रगति को कुण्ठित कर देना। मैं उस वृद्ध अमात्य को अर्धचन्द्र दे दूंगा। जब-तब पाण्डवों के आगे नत होनेवाली उसकी कम्पित ग्रीवा कुरुओं के उत्कर्ष को कलंकित करनेवाली है। वृषवर्मा के स्थान पर मैं पुरोचन की नियुक्ति कर दूंगा। विगत सत्रह वर्षों के अनुभव से मैं यह अच्छी तरह जान गया हूँ कि राजनीति में क्षितिज के पार देखनेवाली उत्साही नवयुवकों की नितान्त आवश्यकता होती है। मुझको पुरोचन-जैसा गम्भीर और अटल अमात्य ही चाहिए।

जब उसने वारणावत जाने के लिए हस्तिनापुर छोड़ दिया, तभी मेरे मन को शान्ति मिली। मैंने अपने महल के गवाक्ष से देखते हुए यह समझ लिया कि जैसे ही पुरोचन राजभवन की चहारदीवारी से अपने रथ को बाहर निकालेगा, गंगातट पर से लौटता हुआ कर्ण उसको महाद्वार में ही मिल जायेगा। कर्ण ने यदि कुछ पूछ लिया तो उसके

प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण घबराकर पुरोचन कुछ बक न दे, यह सोचकर मैंने अपने सेवक प्रभंजन को अपने महल से दौड़ाया कि वह कर्ण को शीघ्रातिशीघ्र बुला लाये। किसी को जलाने की योजना से कर्ण कभी सहमत हो ही नहीं सकता था। अपने माता-पिता को लेकर वह तुरन्त चम्पानगरी ही चला जाता—यह मैं जानता था। उसका जीवन आदर्श धनुर्धर-जैसा ही था। चाप से छूटे हुए बाण की तरह ठीक नाक के सामने जानेवाला।

क्षण-भर में प्रभंजन कर्ण के सामने जाकर खड़ा हो गया और उसने बड़ी कुशलता से पुरोचन को उसकी प्रश्नावली से मुक्त कर दिया। पुरोचन मुड़कर पीछे देखे बिना ही चलता बना। स्वच्छन्द समुद्री पवन की तरह।

वारणावत के अरण्य में वह सन, राल, बल्वज, भुज और लाक्षा—इनकी घृत मड़ी हुई दीवारों का ज्वालाग्राही एक छोटा-सा घर बनायेगा। सुन्दर और आकर्षक ! उस घर की छत अच्छी तरह सूखे हुए बाँसों की बनायी जायेगी। महाराज के आग्रह पर नीच पाण्डव अपनी लाडली माता के साथ वायु-परिवर्तन और वन-विहार के लिए वारणावत जायेंगे। रात को सब लोग पुरोचन के बनाये हुए उस सुन्दर घर में विश्राम करेंगे। दिन-भर पैदल चलने से अत्यधिक श्रान्त वे छहों जन शीघ्र ही गहरी नींद में सो जायेंगे और फिर पुरोचन उस निद्रा को महानिद्रा में बदल देगा। जब वे सब निद्राधीन हो जायेंगे, तब आधी रात के बाद पुरोचन पलीते से उस घर को आग लगा देगा। उस लाक्षागृह के सभी द्वार बाहर से बन्द कर दिये जाएँगे। ऐसे में उस लाक्षागृह से पाण्डव भला कैसे निकल पायेंगे ! लपलपाती हुई ऊर्ध्वगामिनी लपटों के साथ सीधे स्वर्ग को ही वे जायेंगे। बिल के मुख पर धूम्र छोड़ने पर जैसे भुजंग बिल में धुएँ से तड़प-तड़पकर मर जाता है, वैसे ही साँस घुटकर और जलकर वे मर जायेंगे।

जाते समय पुरोचन को मैंने अन्त में एक विशेष आज्ञा दी थी। वह यह कि लौटते समय लाक्षागृह जलकर शान्त हो जाने पर, राख के ढेर में से उस उद्दण्ड भीम का शव बाहर निकालकर, उसकी जलकर काली पड़ी हुई सीधे हाथ की कनिष्ठिका उँगली को काट लाये। हज़ारों शवों में भी उस विशालकाय वन्य शूकर का शव कोई भी बड़ी सरलता से पहचान लेगा। उसकी लायी हुई छिल-अंगुलि एक चाँदी की डिबिया में रखकर, उसे मैं अपनी बायीं भुजा पर बाधूंगा। जब कभी मेरा बायाँ हाथ सहज ही छाती को स्पर्श किया करेगा, तभी वन्य हिंस्र पशु के भय से कुण्ठित मेरे हृदय को वह डिबिया सदैव धैर्य बँधाती रहेगी कि भीम की राख वारणावत के अरण्य में धूल चाट रही है।

अखाड़े में गदा घुमाकर मेरी पीठ पर अपनी कठोर गदा के निर्दयतापूर्वक असह्य प्रहार करनेवाले भीम, तू क्या जाने कि जीवन भी गदा का एक अखाड़ा ही है। यहाँ भी नित्य गदा घुमानी पड़ती है गरगर करती हुई। वह रथों की दौड़ नहीं है जो नाक की सीध में दौड़ती जाये।"

सब लोग कहेंगे कि यह क्रूरता है। मैं उनसे एक ही प्रश्न करता हूँ कि गुरु द्रोण ने सहस्र योद्धाओं में से अकेले अर्जुन को ही सिर पर चढ़ा रखा है, यह भी क्या एक प्रकार की मानसिक क्रूरता नहीं ? बचपन में मेरे चार-चार भाइयों को काँख में दबाकर जल के तल में डुबो रखनेवाले भीम को क्या कोई दयालु कहेगा ? अखाड़े में वीरश्रेष्ठ कर्ण को उसका कुल पूछकर नीचा दिखानेवाले कृपाचार्य क्या क्रूर नहीं ? पहले क्षण तो अंगराज कहकर कर्ण का जय-जयकार करनेवाले और दूसरे क्षण सूतपुत्र, सूतपुत्र कहकर दाँत दिखानेवाले नगर के सैकड़ों-सहस्रों नगरजन क्रूर नहीं थे तो और क्या थे? इन प्रश्नों के युक्तियुक्त और सन्तोषजनक उत्तर कौन देगा ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि दया, क्षमा और शान्ति का कितना ही ढिंढोरा क्यों न पीटो, लेकिन क्रूरता का अंश तो प्रत्येक मनुष्य में रहेगा ही। मैं स्वयं को इसीलिए धन्य समझता था कि अपनी क्रूरता का उपयोग मैं पाण्डवों की पापी पंचकड़ी को भस्म करने के लिए कर रहा था ।

अश्वत्थामा कहता है कि संसार एक दिन अवश्य सुन्दर बनेगा। उसके इस कथन पर मेरा रत्ती-भर विश्वास नहीं। और यदि सचमुच ही विश्व सुन्दर होने जा रहा हो तो मैं उसका एक भाग ही तो ग्रहण कर रहा था। पाण्डव महाराज पाण्डु के पुत्र नहीं हैं, यह अच्छी तरह जानते हुए भी यदि मैं पाण्डवों को जीवित रहने देता यह मेरे पूज्य चाचाजी पर...उनकी धवल कीर्ति पर क्या सरासर अन्याय नहीं होता ? इसीलिए उनको धधकते अंगारों में जलाकर शुद्ध करने का पवित्र कार्य करने के लिए मैंने अपने मन्त्री पुरोचन को भेज दिया है।

इसमें मैंने क्या भूल की ?

अन्त में महाराज ने मधुर शब्दों का जाल बिछाकर कुन्ती के साथ पाँचों पाण्डवों को वायु-परिवर्तन के लिए वारणावत के अरण्य की ओर भेज दिया। महाराज के अन्धत्व के कारण उनको अपंग कहनेवालों को यह ज्ञान ही नहीं हो रहा था कि उनकी जीभ ही उनकी आँखें थीं। राजनीति की अनेक समस्याएँ अपने मधुर वचनों से उन्होंने चुटकियों में सुलझा ली थीं। यह मैंने प्रत्यक्ष देखा था। उसी मधुर वाणी से उन्होंने पाण्डवों को वायु परिवर्तन का राहज विश्वसनीय सुन्दर कारण बताकर वारणावत के घन अरण्य की ओर भेज दिया।

अब सचमुच ही वे वायु परिवर्तन करेंगे। स्वर्ग की वायु पृथ्वी की अपेक्षा अत्यधिक स्वास्थ्यवर्धक होती है, यह विद्वान् ऋषिजन और प्रतिभाशाली कवियों का कहना है।

जब ये पाँच वटवृक्ष जलकर राख हो जायेंगे, तभी मेरा धधकता हुआ अशान्त मन ठण्डा होगा। मन ! मन कोई कोई सुगन्धित पुष्प कहता है, कोई कलकल करती बहनेवाली रम्य सरिता कहता है, को निरभ्र नीला आकाश कहता है तो कोई सतत प्रज्वलित रहनेवाली विधाता की अद्भुत ज्योति कहता है। परन्तु प्रतिशोध की भावना से उद्दीप्त यही मन कैसा होता है, कोई विद्वान् यह नहीं बताता । प्रतिशोध की भावना से उद्दीप्त मन भी कोई

सुगन्धित पुष्प ही होता है। परन्तु उसकी सुगन्ध ऐसी होती है कि कोई गन्धमुग्ध रसिक गन्ध के मोह से उसको हाथ में लेकर यदि क्षण-भर भी सूँघ लेगा तो तुरन्त ही धराशायी हो जायेगा। क्योंकि उसकी सुगन्ध विषैली होती है। ऐसा प्रतिशोधग्रस्त मन एक नदी-जैसा भी होता है। लेकिन उस समय यह धीर-गम्भीर और शान्त प्रवाहवाली नदी नहीं होती, बल्कि भयंकर लहरों से गरजती हुई, बाढ़ की विशाल जलराशि को, आस-पास के भूखण्ड पर दूर-दूर तक फेंकती हुई और क्षण-प्रतिक्षण कगारों को ढहाती हुई बेतहाशा दौड़नेवाली एक प्रलय-नदी होती है यह। प्रतिशोध से जलता हुआ मन एक आकाश भी होता है। लेकिन वह नीला निरभ्र आकाश नहीं होता। वह होता है काली घटाओं से घिरा हुआ आकाश। कभी-कभी इन गतिशील घटाओं में पृथ्वी को चीर देनेवाली बिजली भी होती है। प्रतिशोध से भड़का हुआ मन एक ज्योति भी होता है। लेकिन वह मन्द-मन्द जलनेवाली ज्योति नहीं बल्कि पलीते की धधकती हुई प्रचण्ड ज्योति है।

बचपन से ही मेरा मन प्रत्येक स्थान पर उन पाण्डवों की ही प्रतिष्ठा से कुढ़ता आया था। गदा की युद्धशाला में अभ्यास के समय भी भीम ने निर्दय होकर मुझको इस तरह पीटा था जैसे कोई कृषक वृषभ को पीटता है। उसके पैरों के नीचे मेरे जीवन का राजकमल प्रतिक्षण कुचला गया था। उसकी पंखुड़ियाँ छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। शेष बचा था केवल डण्ठल। मैं भी युवराज था, मेरे पास भी मन था, भावनाएँ थीं। पर मेरे स्वाभिमान की कोमल कलिका को उस वन्य भीम ने अनेक बार अपने पैरों तले रौंद डाला था। उसकी कुचली हुई और धूल में मिली हुई पंखुड़ियाँ एकत्रित करता हुआ दुर्योधन अब ऐसा बन गया था। इस सत्य को समझने का प्रयत्न कोई नहीं करता। मनुष्य को मनुष्य के प्रति जो ममता-मोह होता है, वह भी पाण्डवों के प्रति मेरे मन में किंचित् न था। और क्यों रहे ? वह भीम बिगडेल वन्य सूअर की तरह सबको ठोकर मारने की बातें बढ़-चढ़कर करता रहता। मुझे तो उसने कई बार धर-पटका था। स्पर्धा के दिन अखाड़े में उसने कितनी उद्दण्डता से कर्ण से कहा था, "कुल के अनुरूप प्रतोद हाथ में ले और घोड़ों की मालिश कर।" कर्ण को क्या उसने घास-पात समझ रखा है, जिसको जब चाहा पैरों तले रौंद डाला ? अपनी मन्द बुद्धि के कारण पाण्डवों के उस निर्बुद्धि हाथी ने जाने-अनजाने कौरव पाण्डवों की द्वेषाग्नि को हवा दी थी। यह बात कभी उसके ध्यान में ही नहीं आयी कि समय आने पर बलवान् हाथी को एक तुच्छ चींटी भी स्वर्ग का रास्ता दिखा सकती है। एक क्षुद्र चिनगारी आस-पास बड़े हुए घनघोर अरण्य को क्षण भर में राख कर सकती है। कोई काला बादल सहस्ररश्मि सूर्य को क्षण-भर में आच्छादित कर सकता है। संसार में हम अकेले ही शक्तिशाली हैं—यह अहंकार करना व्यर्थ। इसीलिए अपने आपको सामर्थ्यवान् माननेवाले भीम को मैं यही दिखा देना चाहता हूँ। यदि शक्ति के बल पर मुझ अकेले से वह सम्भव नहीं है, तो सम्पत्ति और बुद्धि के बल पर मैं उसको सम्भव कर दिखाऊँगा। इसीलिए पुरोचन को सभी आवश्यक सूचाएँ देकर मैंने वारणावत की ओर भेज दिया। राजकाज में ऐसे कुछ

सहायक रखने ही पड़ते हैं। सहायक के बिना राज्य-व्यवस्था ऐसी है जैसे धड़ के बिना मस्तक ।

पुरोचन क्या समाचार लाता है, इस ओर मेरा ध्यान केन्द्रित हो गया। मैं इतनी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई प्रेमिका भी अपने प्रेमी की इतनी प्रतीक्षा नहीं करेगी। वह निश्चय ही सफल होगा। मैंने अपने आस-पास जो लोग इकट्ठे कर रखे थे, वह कोई अहिच्छत्र की यात्रा थोड़ी ही थी।

पाँच

वाह-वाह, पुरोचन ! अपने राजा के मनोरथ तुमने पूर्ण कर दिये। बातों ही बातों में तुम्हारा दूत उस वन्य भीम की जली हुई छिल-अंगुलि लेकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। तुम्हारी स्वामिभक्ति धन्य है ! कुरुओं के राजा के रूप में अभिषेक होने के बाद आर्यावर्त की सभी पवित्र नदियों का जल तीर्थ रूप में मेरी हथेली पर पड़ने के बाद भी मुझको इतना आनन्द नहीं होगा, जितना कि इस जली हुई छिल-अंगुलि को देखकर हो रहा है। पुरोचन, शक्ति के बल पर जिसको कोई कभी नहीं कर सकता था, वह आज तुमने बुद्धि के बल पर सम्भव कर दिखाया। सिंह से भी न डरनेवाले भीम को तुमने घास-फूस की भाँति जला दिया। पुरोचन द्वारा समाचार देकर भेजे गये सेवक की ओर देखते समय एक ही चित्र मेरी आँखों के आगे खड़ा हो रहा था। कैसे मरे होंगे वे पाण्डव ? खौलते पानी में जैसे कन्दमूल उबलते हैं, वैसे ? या यज्ञ के धधकते होमकुण्ड में जैसे समिधा की लकड़ियाँ जलकर राख हो जाती हैं, वैसे ? मरते समय उन्होंने क्या-क्या सोचा होगा ? मुझको विश्वास है कि मरते समय उन्होंने मेरा नाम लेकर आक्रोशपूर्वक मुझपर गालियों की बौछार कर दी होगी। राजमाता कहलानेवाली उस कलंकिनी कुन्ती ने अपनी बाँहों में अच्छी तरह समेटकर अर्जुन के रूप में घूमनेवाले काले रंग के उस पाप को सदैव के लिए उदरसात् कर लिया होगा। पागल अबले ! यह कुरुओं का सूर्यवंश का राज्य है। कोई वारांगना इस राज्य के सिंहासन के आस-पास भी नहीं फटक सकती। कल तू कौरवों की राजमाता थी। कुरुओं का वैभवसम्पन्न अजेय राजदण्ड तेरे चरणों में नत होता था। तेरे पाप की बात कोई नहीं जानता- यह सोचकर तेरा निर्लज्ज मन अपने पुत्रों के राज्याभिषेक का सुखद स्वप्न देख रहा था, लेकिन आज ?-आज तू मृत्यु के चरणों की धूल हो गयी है। केवल धूल । वारणावत का घनघोर अरण्य पाण्डवों के लिए श्मशान बन गया। समस्त नगरजन उन पाण्डवों को सिंह कहते थे। ठीक ही हुआ । उन सिंहों को ऐसे वन में ही चिरविश्रान्ति मिल गयी। और इसीलिए वारणावत आज से मेरे लिए तीर्थक्षेत्र हो गया है। पाण्डव जल गये और मेरा नित्य

जलता रहनेवाला मन आज शान्त हो गया है। लेकिन यह सब चमत्कार करनेवाला पुरोचन लौटकर नहीं आया है। कहीं वह उसी लाक्षागृह में तो नहीं जल गया। मेरा मन तो मुझसे बार-बार यही कह रहा है कि अपनी स्वामिभक्ति सिद्ध करने के लिए उसने अपनी इच्छा से ही यह स्वीकार किया होगा। अन्त तक पाण्डवों को स्वर्ग का मार्ग दिखाने के लिए वह भी मृत्युलोक छोड़कर उन पाण्डवों के साथ गया होगा। जाओ पुरोचन, निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी अर्धांगिनी का और तुम्हारे परिवार के अन्य सभी जनों का उत्तरदायित्व आज से दुर्योधन ने अपने समर्थ कन्धों पर ले लिया है। तुम्हारे पराक्रम के प्रतीक के रूप में शीघ्र ही मैं वारणावत में असुरमर्दिनी का एक मन्दिर बनवाकर उसको एक तीर्थक्षेत्र घोषित कर दूंगा। जिस दिन अपनी राजनिष्ठा के कारण तुमने इस सुन्दर संसार का परित्याग किया, उस दिन प्रतिवर्ष वारणावत में एक विशाल मेला लगा करेगा। शान्तिपूर्वक जाओ। सब लोग अब उस अरण्य को तुम्हारे नाम पर ही पुरोचनारण्य कहा करेंगे।

छह

पुरोचन, अरे अभी यह समाचार आया ही था कि पाण्डव वारणावत में पहुँच गये हैं, उसके पीछे तुम्हारा दूत यह वार्ता लेकर आ गया कि पाण्डव जलकर मर गये। तुम-जैसे स्वामिभक्त और तत्पर सेवक हैं तभी तो इस दुर्योधन का वृक्ष सदा उन्नत रहता है। आह, यदि तुम जीवित लौट आये होते तो मैंने तुमको महाद्वार पर ही आलिंगन में कस लिया होता। तुम्हारी स्वामिभक्ति तुम्हारे प्रत्येक कार्य से प्रकट हो गयी है। इस दुर्योधन से प्रेम होने के कारण ही एक चंचल मन की हरिणी को उसके पाँच शावकों के साथ तुमने जलाकर राख कर दिया। इतना करके ही तुम नहीं रुके। अपने राजा के लिए एक अत्यन्त आनन्ददायक वार्ता भी तुमने अपने सेवक के द्वारा भेजवा दी। पांचाल देश की युवराज्ञी याज्ञसेना के स्वयंवर की वार्ता लेकर जब तुम्हारा सेवक राजनगरी में आया तब मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही। पांचाल की युवराज्ञी याज्ञसेना ! द्रुपदराज की रूपगर्विता कन्या द्रौपदी ! मैंने यह सुना था कि उसकी देह से सुगन्ध आती है। याज्ञसेना सुगन्ध की चलती-फिरती जीवित पात्र थी। सुनते हैं उसका रंग कुछ साँवला है इसलिए वह साँवले रंग के परन्तु, मस्त गन्धवाले भू चम्पा के फूल जैसी दिखाई पड़ती होगी। द्रुपदराज द्वारा सन्तान प्राप्ति के लिए किये गये महायज्ञ से वह उत्पन्न हुई थी। मैं स्वयंवर के प्रण में उसकी जीतूंगा। द्रुपद बलवान् राज्य से कुरुओं का रक्त सम्बन्ध स्थापित होगा। नहीं तो, द्रौपदी जैसा रत्न हस्तिनापुर के राजमुकुट के सिवाय अन्यत्र कहाँ सुशोभित हो सकता है ? यदि पुरोचन स्वयं इस वार्ता को लेकर आया होता, तो मैं उसको अपने गले का पुखराज का हार पुरस्कार में दे देता।

कर्ण जैसा पृष्ठपोषक, द्रौपदी जैसी अर्धांगिनी, दुःशासन जैसे बलशाली निन्यानबे भाई, दुःशला जैसी बहन, शकुनि मामा जैसे कुशल राजनीतिज्ञ और पुरोचन जैसे हथेली पर सिर लिये हर समय मेरे लिए प्राण अर्पण करने को उद्यत सैकड़ों हज़ारों सैनिक-इनसे कौरवों का राजदण्ड इस आर्यावर्त में हिमालय जैसा ऊँचा रहेगा। मैं अपनी समर्थ भुजाओं से उसको ऊँचा उठा रखूँगा।

यह मेरा एक सुखद स्वप्न था। प्रत्येक जीवित व्यक्ति कोई न कोई एक सुखस्वप्न तो देखता ही है। उसको साकार करने के लिए वह जीवन भर प्राणपण से प्रयत्न करता रहता है। मुझको भी ऐसा ही प्रयत्न करना था। अविरत परिश्रम करना था। अविरत परिश्रम ही जीवन का अर्थ है। अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिए सतत अविरत, अखण्ड प्रयत्न करना पड़ता है। राज उसी पर खड़े रहते हैं।

मेरे मार्ग से पाण्डवों का एक बहुत बड़ा रोड़ा सदा के लिए दूर हो गया था। पाण्डव चले गये। उनकी याद भी अब क्यों ? स्मृति से केवल अकर्मण्यता ही उत्पन्न होती है। जल्दी ही उन पाण्डवों की तेरही के निमित्त विशाल भोज का आयोजन कर मैंने उनकी मृत्यु पर राजमुद्रा अंकित करने का निश्चय किया है। रोने का नाटक मुझसे नहीं हो सकेगा इसलिए वह काम मैंने शकुनि मामा को सौंप दिया है। नगरजन भोजन करेंगे और डकारों के साथ ही पाण्डवों को भूल जायेंगे। राजा को तो सदैव इसी प्रकार व्यवहार करना पड़ता है। राजा का जीवन बाण की तरह सदैव नाक की सीध में ही नहीं जाया करता। कभी वह गदा की तरह गोल फिरता है, तो कभी खड्ग की तरह पार्श्व में प्रहार करता है, कभी-कभी तो 'भुशुण्डि की तरह वह केवल पत्थर ही फेंकता है।

सत्य राजा का मार्ग निश्चित नहीं करता, बल्कि राजा जिस मार्ग को निश्चित करता है, उसी को सत्य के रूप में समाज स्वीकार करता है।

पाण्डवों की मृत्यु की सूचना शकुनि मामा ने कर्ण को दी। मैंने सोचा था कि उस समाचार से वह प्रसन्न होगा। परन्तु मामा ने जो कुछ कहा, उसको सुनकर मैं ठगा सा रह गया। 'पाण्डव चल बसे' यह सुनते ही वह दोनों हथेलियों से अपना सिर दबाकर क्षण भर को तत्क्षण नीचे बैठ गया। "उनको किसने मारा है? उन पाँच वीरों को मारनेवाला कौन बलवान योद्धा पैदा हो गया ? राजमाता कुन्ती देवी तो सुरक्षित हैं न ?" आदि आदि प्रश्नों की बौछार उसने मामा पर कर दी।

मामा ने उतनी ही शान्ति से कहा, "वे एक दुर्घटना में वारणावत के अरण्य में जल गये। कम से कम राजमाता कुन्ती देवी ही बच जातीं, परन्तु विधाता के आगे किसी का क्या वश चलता है ?"

यह सुनकर उसने कुछ नहीं कहा। हारकर शकुनि मामा ऊबकर उसके महल से चले आये। उसने उनसे एक भी शब्द नहीं कहा। गवाक्ष से एकटक वह गंगा की ओर ही बस

देखता रहा।

सन्ध्या समय उससे मिलने के लिए मैं स्वयं उसके महल में गया। लेकिन शोण ने मुझसे कहा कि अन्य किसी से कुछ न कह केवल शोण को यह बताकर कि 'मैं चम्पानगरी को जा रहा हूँ' वे अकेले ही चले गये हैं।

अब वह पन्द्रह दिन तक तो मुझको राजनगरी में मिल ही नहीं सकता था। हस्तिनापुर तो वह लौटेगा ही। यदि नहीं लौटा तो ? एक शंका मेरे मानसपटल पर घिरने लगी।

सात

बहुत-से नगरजन पाण्डवों की उत्तर क्रिया का भोजन कर गये। स्वयं मैंने आग्रहपूर्वक पंच पक्वान्न सबको परोसे थे। 'पाण्डव चल बसे' यह कहते ही कुछ व्याकुल हो गये थे, कुछ एकदम रो पड़े और कुछ तो भावावेश में राजमाता कुन्ती देवी के भित्तिचित्र के सम्मुख लोट लगाने लगे। सचमुच ही यह हस्तिनापुर भी कैसे-कैसे अन्ध-श्रद्धालु और व्यक्तिपूजक लोगों से भर गया है। कभी कोई भी मर जाये, इन लोगों को बस रोना आता है। मुझको तो कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि यह गंगा नदी हिमालय का हिम पिघलने से नहीं बनी, बल्कि इन दुर्बल मनवाले रुदन करते लोगों के आँसुओं से ही बनी है। रोकर और छाती की पसलियाँ पीटकर क्या मरा हुआ मनुष्य वापस आया करता है ? लेकिन यह बात इन लोगों को कौन समझाये ? सभी तो बैठे-बैठे रो रहे थे। जनसमूह मूर्ख होता है, यह सत्य है।

इस घटना से मुझको एक बार फिर यह अनुभव हुआ कि शकुनि मामा कितने बुद्धिमान् और कुशल हैं ! मैं उनको अपना परामर्शदाता तो मान ही चुका था, लेकिन इस घटना ने अब उसपर राजमुद्रा अंकित कर दी थी।

भोजन के लिए आये सभी नगरजनों से 'पाण्डव चल बसे' कहकर उत्तरीय का छोर आँखों से लगाते हुए अन्त में उन्होंने कहा, "यह आपका और हमारा दोनों का दुर्भाग्य है कि पाण्डवों के मृत शरीर दहन के लिए भी हमको प्राप्त नहीं हो सके। मानो वे पुण्यात्मा हमारे इन क्षुद्र हाथों से अन्त्याग्नि भी नहीं लेना चाहते थे।" मामा का वह कपटपूर्ण कथन सबको ज्वलन्त और अत्यन्त हार्दिक प्रतीत हुआ। "उनकी आत्माओं की शान्ति के लिए ही यह भोजन है। यदि आप यह ग्रहण नहीं करेंगे तो उनको शान्ति नहीं मिल सकेगी।" मामा के इस कथन ने सबको विवश कर दिया। प्रत्येक जन भोजन कर गया। मामा मेरा चलता-फिरता बस्तिक बाण थे। कहीं मारो, विफल नहीं होगा। यदि दण्ड बाहर निकल आयेगा तो फल तो लक्ष्य में अटका रह ही जायेगा।

सबके अन्त में हम सारे कौरव भोजन करने बैठे। मामा भी थे ही लेकिन मेरे पहले ही ग्रास पर एक दूत दौड़ता हुआ एक अविश्वसनीय सूचना ले आया। ऊपर-नीचे होती हुई छाती सँभालता हुआ वह रुक-रुककर बोला, “महाराज, दक्षिण पांचालों के राज्य में किसी ब्राह्मण-पुत्र ने हिडिम्ब और बकासुर....इन अजेय....नरमांसभक्षक राक्षसों को द्वन्द्व-युद्ध में केवल मुष्टि-प्रहारों से ही जान से मार दिया है।” उस वार्ता को सुनते ही एक सन्देह मेरे मन में कौंध गया कि भीम अब भी जीवित है क्या ? और मुँह का ग्रास मुँह में रह गया। लेकिन उस प्राणान्तक सन्देश को मैंने क्षण-भर में दृढ़ता से दूर कर दिया। क्योंकि सन्देह दूब घास की तरह होता है, एक बार जड़ पकड़ लेने पर फिर वह बढ़ती ही जाती है और अन्त में वह एक घने वन में रूपान्तरित हो जाती है। भुजा में बँधी चाँदी की डिबिया पर क्षण-भर को हथेली फिरा लेने के बाद ही मुझको थोड़ा-सा समाधान मिला। पुरोचन द्वारा दी गयी दग्ध भीम की जली हुई काली छिल-अंगुलि थी उस डिबिया में। मेरा मन स्थिर हो गया। उस दिन मैंने आकण्ठ भोजन किया और फिर उसपर केशरयुक्त सुगन्धित ताम्बूल खाया ।

आठ

मेरी छाती कितनी ही निर्भय क्यों न हो, आखिर था तो मैं भी एक मनुष्य ही। और इसीलिए कभी-कभी मेरा मन इस प्रश्न के सतत प्रहारों से घबरा जाता कि मैंने जो कुछ किया वह उचित था या अनुचित । मनुष्य बुद्धि और सम्पत्ति के बल पर संसार को सहज ही धोखा दे सकता है, लेकिन अपने मन को कोई भी धोखा नहीं दे सकता। प्रत्येक व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उसके मनरूपी दर्पण में स्पष्ट झलकता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति एकान्त में अपने इस दर्पण में अपने ही विविध रूप देखा करता है। किसी-किसी समय ये रूप बड़े आकर्षक और अभिमान करने योग्य होते हैं। परन्तु कई बार यह इच्छा होती है कि ये रूप आँखों के आगे भी न जायें तो अच्छा हो। बुरा कृत्य करने से पहले आत्माभिमान, साहस या कौतूहल से उत्पन्न झूठा उत्साह प्रत्येक में होता है। लेकिन एक बार जब इस उत्साह से वह कृत्य हो जाता है, तब फिर हृदय में बाण लगे पशु की तरह मन किसी का सबल आश्रय ढूँढ़ने को इतस्ततः दौड़ने लगता है। भाग्य से किसी को वह आश्रय मिल जाता है, पर किसी को जीवन भर व्यर्थ दौड़ते ही रहना पड़ता है।

पाण्डवों को जीवित जलाकर मैंने क्या पाया ? कुरुवंश के युवराज और पितामह भीष्म के सम्बन्धी के लिए यह शोभनीय था क्या ? ये तथा ऐसे ही अनेक प्रश्न मेरे मन में चक्कर काटने लगते। क्या इस राज्य को और सम्पत्ति को आज तक कोई भी अपने साथ ले जा

सका है ? इस दिग्विजयी कुरुवंश में अनेक राजा हो गये हैं। उन्होंने युद्ध किये, अश्वमेध के घोड़े सारे आर्यावर्त में घुमाये, अतुल सम्पत्ति का यथेच्छ उपभोग किया, लेकिन जैसे मिट्टी में खेलनेवाला छोटा बालक अपने हाथ लगे खिलौने को—क्षण-भर पहले जो प्राणप्रिय था उसको—ज्यों का त्यों छोड़कर दूसरे ही क्षण अन्य ओर चला जाता है, वैसे ही वे लोग आये और चले गये। कहाँ चले गये ? कहाँ से आये थे वे ? क्या अवशेष बचा है उनका ? केवल स्मृतियाँ ! अच्छी-बुरी, उथली-गम्भीर, स्फूर्ति देनेवाली और लज्जित करनेवाली। कल को मेरे पश्तात् मेरी भी ऐसी ही स्मृतियाँ रह जायेंगी। कैसी होंगी वे ? पाण्डवों को मैंने ही जलाया है, यदि किसी को ज्ञात हो गया तो....? छिः ! कुछ भी समझ में नहीं आता। जैसे कोई बिच्छू अपना ही डंक टेढ़ा घुमाकर क्रोध में अपनी ही पीठ में मारे, ही उस विचार से मेरा स्वयं को ही दोष देने लगता। मन अस्थिर हो जाता। उन पाँच भाइयों के हँसमुख चेहरे सतत मेरी आँखों के आगे फिरने लगते। मन व्याकुल हो जाता। मन ! सचमुच यदि मनुष्य के पास मन न होता तो ?....तो हो सकता है कि वह अधिक सुखी होता। लेकिन यह कैसे सम्भव था ? मन के बिना मनुष्य यानी दण्ड के बिना गदा। छिः ! मन के बिना जीवन यदि अधूरा है, तो भी क्या ! इतने झमेले तो नहीं होंगे। इस विचार से और ऐसे ही अनेक परस्पर-विरोधी विचारों से मैं घबरा जाता। ऐसी स्थिति में हर बार एक ही व्यक्ति मुझको सदैव आशा की एक प्रखर किरण दिखाया करता था। और वह था अश्वत्थामा। कर्ण के साथ वह सदैव राजभवन में आता रहता था। उसको और कर्ण को एक साथ देखने पर ऐसा प्रतीत होता था जैसे एक विशाल नद के तट पर एक सुन्दर मन्दिर दिखाई दे रहा हो। कर्ण अपने पुष्ट और तेजस्वी स्वर्णिम शरीर के कारण नद-जैसा दिखाई पड़ता, तो अश्वत्थामा अपने सौम्य और शान्त चेहरे के कारण मन्दिर-जैसा लगता था।

पाण्डवों की ऐसी स्मृतियों के कारण एक भूला प्रश्न बार-बार अब मेरे मन में झाँकने लगा-‘जीवन क्या है ?’

मैंने अश्वत्थामा से पूछा, “गुरुपुत्र, जीवन क्या है ?”

उसने शान्तिपूर्वक कहा, “राजन्, जीवन क्या है, यह अनेक प्रकार से बताया जा सकता है। परन्तु तुम-जैसे कुरुवंश के वीर के लिए वांछित भाषा में यदि कहना हो तो कहना पड़ेगा कि जीवन म्यान में रखा हुआ खड्ग है।”

“म्यान में रखा हुआ खड्ग ? सो कैसे ?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“हाँ, राजन् ! मनुष्य का शरीर म्यान जैसा ही होता है और उसका मन उस म्यान में रखे हुए खड्ग की तीक्ष्ण धार-जैसा होता है।”

“वाह ! अश्वत्थामा, जीवन के सम्बन्ध में यह बड़ी अच्छी कल्पना रही तुम्हारी।”

“नहीं राजन्, इस कल्पना में अभी एक कमी है।”

“और इस जीवनरूपी खड्ग की आत्मा एक मूठ होती है।”

“आत्मा...खड्ग की मूठ ?”

“हाँ, आत्मा उस जीवनरूपी खड्ग की मूठ ही है। उस मूठ का उस खड्ग से और म्यान से सम्बन्ध है भी और नहीं भी है। लेकिन जब मूठ ही नहीं होगी तो खड्ग चलेगा कैसे ? उसके बिना म्यान अच्छी लगेगी क्या ? आत्मा के बिना शरीर और मन भी वैसा ही है। आत्मा के बिना न शरीर का कोई महत्त्व है, न मन का ।”

“तो फिर अश्वत्थामा, शरीर नष्ट हो जाने के बाद आत्मा का क्या होता है ? तुम्हारी भाषा में ही यदि पूछा जाये तो म्यान नष्ट हो जाने के बाद मूठ का क्या होता है ?” मेरे मन से पाण्डवों की स्मृति अब भी निकल नहीं पा रही थी।

“भूल रहे हो, राजन् ! म्यान का नाश होने से मूठ का क्या बिगड़ेगा ? वास्तव में मूठ कभी म्यान में रहती है क्या ? रहती भी है तो फल के रूप में। मन के रूप में आत्मा का कार्य भी ऐसे ही चलता रहता है। कहने को शरीर में है भी और नहीं भी है। संक्षेप में ही कहना हो तो आत्मा सर्प की तरह होता है।”

“आत्मा सर्प-जैसा ! कितनी आश्चर्यजनक बात तुम कर रहे हो आज, गुरुपुत्र ! आत्मा सर्प-जैसा कैसे हो सकता है ?”

“जैसे सर्प एक केंचुली छोड़कर दूसरी नयी केंचुली धारण करता है, वैसे ही आत्मा भी एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है।” अश्वत्थामा अत्यन्त शान्ति से बोला । उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें आत्मविश्वास से चमक रही थीं। मानो वह आँखों से ही कह रहा था। “आश्चर्य से मत देखो, मैं जो कह रहा हूँ, वह सत्य है।”

मेरा कौतूहल और अधिक बढ़ गया। प्रश्नों के उत्तर देते समय वह निश्चय ही कहीं तो पकड़ में आयेगा, यह सोचकर मैंने उसको फिर छोड़ा, “अश्वत्थामन्, आत्मा को सर्प की उपमा देनेवाले तुम निश्चय ही बुद्धिमान् और विचारशील हो। लेकिन तुम यह जो कह रहे हो कि आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है, तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि पुनर्जन्म होता है ?”

“हाँ, राजन् ! मैं इस समय तुमको अपने सम्मुख देख रहा हूँ, यह जितना सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि प्राणी का पुनर्जन्म होता है। क्योंकि मनुष्य के शरीर में जो चेतना है वह अमर है।”

तो इस भीम ने पुनर्जन्म ले लिया होगा ? इस विचार मात्र से ही मेरे हृदय में एक भयंकर द्वन्द्व मच गया । जैसे-तैसे अपने को सँभालकर मैं बोला, “तो फिर पुनर्जन्म का यह सत्र कहाँ तक चलेगा और इस जगत् का अन्त आखिर कहाँ होगा ?”

"राजन्, समुद्र की लहरें कभी देखी हैं क्या ? उनको कभी कोई गिन सका है क्या ? वे कहाँ से आती हैं और कहाँ जाती हैं, क्या कोई बता सका है ? यह पुनर्जन्म भी वैसा ही है।"

"तो फिर अन्त में इस जगत् का क्या होगा ?"

"राजन्, 'अन्त में' इस शब्द को निकाल दो। क्योंकि काल का आदि और अन्त दोनों ही नहीं हैं। काल अखण्ड है। जो लोग यह मानते हैं कि काल अखण्ड है, वे लोग केवल वे ही लोग—यह स्वीकार कर सकते हैं कि आत्मा अनन्त है और अनन्त होने के कारण अमर है। पृथ्वी पर जो पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ, मानव आदि हैं, उनकी आत्मा अमर है।

"आत्मा यदि शरीर से इतने सहज रूप से सम्बन्धित है, तो फिर मनुष्य पाप क्यों करते हैं ?"

"बहुत सुन्दर ! राजन्, बहुत ही सुन्दर प्रश्न तुमने पूछा है। पहले तो अच्छी तरह यह निश्चित करना चाहिए कि पाप है क्या ? पाप का अर्थ है आत्मा का निकृष्ट आविष्कार । जब-जब मनुष्य अपने शरीर के भीतर एक शाश्वत स्वर से मन के स्वर को मिलाने के लिए तैयार नहीं होता, तभी इस विसंगति से इस निकृष्ट आविष्कार का निर्माण होता है। इसी को संसार 'पाप' कहता है।"

"तो क्या उपभोग भी पाप है ?"

"बिलकुल नहीं। यदि ऐसा होता तो मनुष्य को ये पंचेन्द्रियाँ ही नहीं मिली होतीं। उपभोग का अर्थ पाप नहीं है। परन्तु उपभोग में आसक्ति की चरम सीमा अवश्य पाप है। इस आसक्ति से ही विद्रोह और युद्ध भड़कते हैं। व्याधियाँ और असंगतियाँ बढ़ती हैं।"

"तो फिर इस सर्वनाशिनी आसक्ति के बन्धन से संसार कब मुक्त होगा ?"

"इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हम लोग यह चर्चा जीवन के एक मध्यस्थ तीर्थक्षेत्र पर बैठकर कर रहे हैं। अभी तो बहुत मार्ग तय करना है। फिर भी अपनी सुविधा के लिए यदि काल को बाँधने की बात कही जाये तो उसमें शायद करोड़ों वर्ष लग जायेंगे। और वही पहला मंगल दिन होगा जब मनुष्य आत्मा की परिधि में प्रवेश करेगा। मुझ-जैसे असंख्य पागल केवल ऐसे ही दिन की प्रतीक्षा में जीवन-यापन करते रहते हैं।"

"क्यों कर्ण, यही बात है न ?" समीप ही बैठे हुए कर्ण से उसने प्रश्न किया । बहुत देर से चलते हुए हमारे विवाद को वह शान्तिपूर्वक सुन रहा था। शायद वह किसी गम्भीर विचार में डूबा हुआ था। पहले तो यही उसकी समझ में नहीं आया कि अश्वत्थामा उससे कुछ पूछ रहा है। अश्वत्थामा ने अपनी हथेली से जब उसके पुष्ट कन्धों को दबाया तब वह अपनी विचारतन्द्रा से जागा। अश्वत्थामा उसी से कुछ पूछ रहा है, यह पता चलने पर वह उसकी ओर देखता हुआ बोला, "अश्वत्थामा, तुम बहुत बड़े तत्त्वचिन्तक हो।"

"नहीं कर्ण, प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग से तत्त्व-चिन्तक होता है। तुम भी हो।"

कर्ण ने उसको कोई उत्तर नहीं दिया। वह केवल मुस्कुराया। हँसी की एक मोहक रेखा उसके गोलाकार हिरण्यवर्णी चेहरे पर गाल से उत्पन्न होकर कानों के पास विलीन हो गयी। हवा के मन्द झोंके से गुड़हल के रक्तवर्णी फूल के पीतवर्णी परागदण्ड जैसे हौले से हिल उठते हैं, वैसे ही उस रेखा से उसके कान के मांसल कुण्डल जाने अनजाने ही सुन्दर ढंग से हिल उठे।

दुग्धपान के बाद वह और अश्वत्थामा दोनों महल से चले गये।

अश्वत्थामा के कुछ विचार मेरे मन के प्रांगण में दो शत्रुओं की तरह एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे। “जितने स्पष्ट रूप से मैं तुमको देख रहा हूँ, उतना ही स्पष्ट यह है कि मनुष्य का पुनर्जन्म होता है।” “जब मनुष्य अपने शरीर के शाश्वत स्वर से छल करता है, तभी पाप की उत्पत्ति होती है।” ‘पुनर्जन्म,....पाप....भीम.... आत्मा..... सर्प....आसक्ति....’ आदि शब्दों के घनाघात मस्तक में होने लगे। शरदऋतु के दिन थे, लेकिन ऐसा लग रहा था जैसे शरीर जल रहा हो ! प्राण घुटने लगे। मन को कुछ विश्रान्ति मिलेगी यह सोचकर मैं सौध पर आया। कर्ण अश्वत्थामा राजभवन की सीढ़ियाँ उतरकर मध्यस्थ सिंहमूर्ति के पास पहुंच चुके थे, यह मुझको सौध से स्पष्ट दिखाई दे रहा था। वे दोनों आपस में शायद कुछ बातें करते जा रहे थे। इतने में ही सामने महाद्वार से मेरी बहन युवराज्ञी दुःशला का भव्य रथ भीतर आया और क्षण-भर में ही उन दोनों के सामने आकर खड़ा हो गया। रथ से दुःशला नीचे उतरी। उन दोनों ने उसको अभिवादन किया। गुरुपुत्र जानकर वह अश्वत्थामा से कुछ कह रही थी। अश्वत्थामा से बातें करते हुए वह बार-बार कर्ण की ओर देख रही थी शायद। लेकिन उसने उससे कोई बात नहीं की। अन्त में अश्वत्थामा ने उससे विदा ली और वे दोनों ही महाद्वार से ओझल हो गये।

मैं विचार करने लगा। युवराज्ञी दुःशला राजरथ लेकर सायं समय बाहर कहाँ गयी होगी ? फिर मुझको याद आया कि पौर्णिमा होने के कारण देवदर्शनों के लिए वह नगर के उमा-शंकर के मन्दिर में गयी होगी।

मैंने सामने देखा। दूर पश्चिम क्षितिज पर सूर्य अस्त होता जा रहा था। उसकी लम्बी सौम्य किरणें राजभवन के उच्च मस्तक को स्पर्श कर रही थीं। उस तेजपिण्ड की ओर क्षण-भर एकटक देखने के बाद मुझको बार-बार ऐसा लगने लगा कि इस तेज के धधकते द्रव से मिलता-जुलता ही कोई पदार्थ सदैव मेरे आस-पास घूमता रहता है। लेकिन प्रयत्न करने पर भी उसका निश्चित रूप ध्यान में नहीं आया। अन्त में मैंने विचारना ही छोड़ दिया।

नौ

उस रात मैंने अश्वत्थामा के तत्त्वज्ञान पर गम्भीरता से विचार किया। परन्तु मुझको कोई सन्तोषजनक मार्ग नहीं मिला। उसका तत्त्वज्ञान कितना ही स्पृहणीय क्यों न हो, परन्तु जीवन में उसका उपयोग सम्भव नहीं था। आत्मा का विचार करने के लिए भी समय नहीं था। और फिर तत्त्वज्ञान तो केवल मनुष्य के सुनने के लिए होता है। उसपर कभी आचरण नहीं किया जाता। प्रातः शय्या से उठते ही इस बात की मुझको तीव्र अनुभूति हुई। अश्वत्थामा के विचारों का अनावश्यक चिन्तन कर मैं स्वयं को अकारण ही कष्ट दे रहा था। वह कहता है कि जिस दिन मानव के आसक्ति के बन्धन टूटेंगे, वही सौभाग्य का दिन होगा। मैं बन्धन-वन्धन कुछ नहीं जानता था। वह कहता है कि काल अखण्ड है। उसका वह काल खण्डित या अखण्डित है, इससे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं। मैं तो केवल एक ही काल जानता हूँ और वह है वर्तमान काल, और इसी एक वर्तमान काल का प्रतोद हाथ में लेकर मैं काल को ऐसे भगाऊँगा जैसे इन्द्र का समर्थ सारथी मातलि अपने रथ को वेग से दौड़ाता है। मैं दुर्योधन हूँ। कौरवों का युवराज हूँ। काल की महिमा बखाननेवाला दुर्बल ब्राह्मणकुमार नहीं हूँ। मैं अश्वत्थामा नहीं हूँ। मैंने तुरन्त ही द्रौपदी के स्वयंवर के लिए पांचालों की राजनगरी काम्पिल्य नगर को जाने का निश्चय किया। द्रुपदराज का निमन्त्रण उसी शुभ प्रातःवेला में आया था। जाते समय कर्ण को साथ लेना अधिक उपयुक्त रहेगा। आवश्यकता पड़ने पर वह प्राणों का दावँ लगाकर मेरी रक्षा करेगा। अपने भाई दुःशासन और दुर्मर्ष को तो मैं साथ ले ही जाऊँगा। वीर पुरुष जीवन-चषक को जीवन-रस से पूरा भरकर उसको पीने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। जो भीरु होते हैं, वे ही तत्त्वज्ञान की नीरस चर्चा करते रहते हैं। मैं स्वयंवर के प्रण में पांचाली को जीतकर हस्तिनापुर लाना चाहता था। पितामह भीष्म ने काशिराज से हमारी महामाता महारानी अम्बिका को अपने लिए नहीं जीता था, बल्कि उन्होंने हमारे पूज्य पितामह को-महाराज विचित्रवीर्य को अर्पण किया था। यदि वैसा ही अवसर आया तो अंगराज कर्ण पांचालों की उस सुगन्धित याज्ञसेना को जीत लेगा और फिर मुझे अर्पित कर देगा, क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता था कि जैसे पितामह भीष्म का जन्म केवल कुरुकुल के लिए हुआ था वैसे ही, अथवा उससे भी अधिक दृढ़ता से कर्ण का जन्म दुर्योधन के लिए ही था।

'कर्ण मेरे लिए क्या-क्या करेगा ?' यह प्रश्न मैं जब-जब स्वयं से पूछता, तब-तब मुझको उत्तर में यही प्रतिप्रश्न मिलता कि 'वह क्या नहीं करेगा ?'

जीवन एक अनिवार्य और अटल समझौता होता है। मैंने उसको अंगदेश का स्वतन्त्र राज्य दिया था। उसकी तारुण्यसुलभ भावनाओं को ठेस न पहुँचे इसलिए अच्छी तरह इस बात का पता लगाकर कि वह वृषाली से प्रेम करता है, मैंने उसका विवाह वृषाली से ही करा दिया था। इन सब बातों को वह जानता था। इसीलिए अब मुझको यह पूर्ण विश्वास है कि मेरे लिए वह सब कुछ करेगा।

दस

मैंने याज्ञसेना के स्वयंवर में जाने का निर्णय किया, लेकिन स्वयंवर के लिए राजा द्रुपद ने जो प्रण रखा था, उसको सुनते ही मेरा मन डाँवाडोल हो गया। मेरी उत्कट इच्छा थी कि याज्ञसेना कुरुओं की महारानी बने, लेकिन उस विचित्र प्रण के कारण उस इच्छा में कहीं विघ्न न उपस्थित हो जाये, इस सन्देह की छिपकली मन में रेंगने लगी। वह सन्देह मैंने कर्ण को बताया, क्योंकि द्रुपद की प्रतिज्ञा को सरलता से पूर्ण कर सकनेवाले दो ही धनुर्धर आर्यावर्त में हैं, ऐसा मुझको लगता था—एक कर्ण और दूसरा अर्जुन। अर्जुन तो अब स्वर्ग में किसी अप्सरा के स्वयंवर की तैयारी कर रहा होगा। रह गया केवल कर्ण। यही इसके लिए योग्य धनुर्धर है और वह इस दुर्योधन का प्राणप्रिय मित्र है। वह कुरुओं की राजनगरी हस्तिनापुर में था। मैंने अपने सेवक प्रभञ्जन को भेजकर कर्ण को बुलवाया।

भवन में आते ही उसने आश्चर्य से पूछा, “राजन् ! आज इस असमय में मुझको याद किया ?”

“समय और असमय तो हम लोग ही निश्चित किया करते हैं। समय तो सभी के लिए सुविधाजनक होता है; परन्तु जो असमय को सुविधाजनक बनाकर दिखाता है, वही सच्चा योद्धा है।” मैंने द्रुपद का निमन्त्रण उसके हाथ में दे दिया। उसने अपनी नीली तेजस्वी दृष्टि आमन्त्रण के भूर्जपत्र पर स्थिर कर दी। उसकी धनुषाकार विशाल सुनहली भौहें अनजाने ही तन गयीं। भव्य कपाल पर एक सूक्ष्म रेखा उभर आयी। क्षण-भर बाद अपनी पुष्ट ग्रीवा ऊपर उठाकर वह बोला, “यह तो स्वयंवर का निमन्त्रण है। मैंने समझा था कि कोई राजनीतिक कठिन समस्या आ गयी है, इसीलिए मुझको बुलाया है।”

“कर्ण, कोई भी राजनीतिक समस्या इस स्वयंवर-जैसी विकट नहीं है। यह स्वयंवर मेरा ही क्या, हम सारे कुरुओं का जीवन परिवर्तित कर सकता है।”

“सो कैसे ? एक स्त्री के लिए कुरुओं का जीवन बदल जाये, सिंहासन डगमगा जाये—मैं तो स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकता, चाहे वह कितनी ही सुन्दरी क्यों न हो। उसके आरक्षक कितने ही बलवान् क्यों न हों।”

“नहीं कर्ण, यह साधारण स्त्री नहीं है। द्रुपद राजा को साक्षात् यज्ञ से प्राप्त अग्नि-कन्या याज्ञसेना है यह। उसकी सम्पूर्ण देह से चम्पा के -जैसी सुगन्ध आती है। वह जन्मजात सुगन्ध का पात्र है। जैसे तुम्हारे ये कुण्डल जन्मजात हैं, वैसे ही।”

“तो क्या हुआ ? वह कुरुओं का जीवन कैसे बदल सकती है ?”

“वह यदि महारानी बनकर, मेरी पत्नी बनकर, इस हस्तिनापुर में आ जाये तो वह राज्य वैभव के शिखर पर चढ़ जायेगा। मैं तो अपने जीवन में स्वर्गीय आनन्द अनुभव करने

लगूंगा। याज्ञसेना मेरी बने—यह मेरी जीवन की सबसे बड़े साध है।

“उसको भी इससे अधिक सौभाग्यशाली जीवनसाथी कहाँ मिलेगा ! कौन स्त्री है जो कुरुओं की महारानी नहीं बनना चाहेगी ! स्वयंवर में जाने में कुछ भी हानि नहीं। मन में आयी हुई बात योद्धा को कभी अधूरी छोड़नी नहीं चाहिए।”

“कर्ण, यह बात मैं नहीं समझता हूँ, ऐसा लगता है क्या तुम्हें ? लेकिन यज्ञ- के स्वयंवर के लिए उसके पिता ने जो प्रण कर रखा है, उसको जानकर तुम-जैसा धनुर्धर भी कर्तव्यविमूढ़ हो जायेगा।”

“ऐसा कौन-सा प्रण है ?”

“सुनो ! पांचालों की राजधानी काम्पिल्य नगर में अपने राजभवन के सामने विशाल प्रांगण में द्रुपदों ने एक भव्य मण्डप बनाया है। उस मण्डप के मध्य भाग में पत्थर का एक सरोवर बनाया गया है। उस सरोवर में गंगा और इक्षुमती-इन दो पवित्र नदियों के संगम का स्वच्छ जल भरा गया है। एक वर्तुलाकार गतिमान् मत्स्य-यंत्र मण्डप की छत में इस तरह टाँगा गया है कि उसका प्रतिबिम्ब सरोवर के मध्य में दिखाई पड़ता है। नीचे सरोवर में प्रतिबिम्ब की ओर देखकर उस मत्स्य-यंत्र की लकड़ी की मछली की निरन्तर फिरती हुई आँख को सूचीबाण द्वारा अचूक भेदना है। और वह भी वहां रखे जानेवाले अत्यन्त भारी साक्षात् शिव-धनुष से।”

“तो फिर इसमें असाध्य क्या है राजन् ?”

“तुम्हारे लिए तो कुछ भी असाध्य नहीं है। लक्ष्य को बिना देखे ही केवल ध्वनि के सहारे पक्षिणी की चोंच को भेदनेवाले सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो तुम । मुझे तो गदा चलाना आता है, यह सब कैसे कर सकता हूँ?”

“तो फिर तुम स्वयंवर में जाने का विचार छोड़ दोगे क्या?”

“तुम अस्वीकार कर दोगे तब तो मुझको यह करना ही पड़ेगा।”

“मेरे अस्वीकार का इससे क्या सम्बन्ध ?”

“कर्ण, मैं जानता हूँ कि इस कठिन प्रण को तुम्हारे और अर्जुन के अतिरिक्त इस आर्यावर्त में और कोई भी पूर्ण नहीं कर सकता। अर्जुन तो अब इस संसार से सदैव के लिए ही जा चुका है। अब तुम्हीं को यह प्रण जीतना चाहिए।”

“मुझको ? राजन्, मैं सूतपुत्र हूँ, यह तुम भूल गये क्या? एक क्षत्रिय-कन्या मुझको वरमाला पहनाने के लिए क्या कभी आगे आ सकती है?...और अन्य कोई स्त्री वृषाली से अधिक सुन्दर हो सकती है, इस बात पर मेरा विश्वास भी नहीं।”

"कर्ण, तुम याज्ञसेना को प्रण पूरा कर जीत लो। यदि वह तुम्हें अस्वीकार करेगी। तब क्या करना है, यह मैं देख लूँगा। अपने लिए नहीं, केवल मेरे लिए तुम इस प्रण को जीतो।"

"मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करूँगा। जिस प्रकार पितामह भीष्म ने काशिराज की कन्याओं को जीतकर तुम्हारे पितामह विचित्रवीर्य को समर्पित की थीं, उसी प्रकार मैं याज्ञसेना तुमको अर्पण करूँगा!"

कुछ रुककर वह आगे बोला, "मैं याज्ञसेना का कमलपुष्प तुम्हारे चरणों पर अर्पण करूँगा, परन्तु एक शर्त है..."

"कैसी शर्त? कहो। बिना सुने ही मैं उसको स्वीकार करता हूँ।"

"मैं इस प्रण में सबसे अन्त में भाग लूँगा। इसके अतिरिक्त विजयी होने पर तुमको मेरी एक इच्छा पूरी करनी पड़ेगी।"

"बताओ, तुम्हारी क्या इच्छा है?"

"मैंने जिस ग्राम में जन्म लिया है....जहाँ मेरा पालन हुआ है, वह चम्पानगरी भाग्य से अंगदेश में ही है। मेरे उस जन्म-ग्राम को तुम्हें राजधानी के रूप में मान्यता देनी होगी। उस नगरी के पुनर्वास की घोषणा तुम काम्पिल्य नगर में ही कर देना।"

"कर्ण, तुम सचमुच धन्य हो। अरे, याज्ञसेना के बदले में यदि तुम कुरुओं का यह सम्पूर्ण राज्य भी माँगते, तो मैं दे देता। लेकिन तुमने क्या माँगा—कि अपने जन्मग्राम का पुनर्वसन! सचमुच ही कर्ण! तुम निःस्वार्थ प्रेम के दिव्य प्रतीक हो!"

मैंने उसको भुजाओं में कस लिया। वह भावाभिभूत हो गया। मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर उसने स्नेह से धीरे से थपथपाया।

आह! कर्ण कौन था यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

"आज सन्ध्या समय ही हम लोग स्वयंवर के लिए चल देंगे। सत्यसेन साथ होगा इसलिए वह बातों बातों में काम्पिल्य नगर पहुँचा देगा।" मैंने उससे कहा।

"ठीक है। मैं उससे यात्रा की तैयारी करने को कहता हूँ।" वह उठा और धीरे-धीरे पैर रखता हुआ किसी वनराज की तरह भवन से चला गया।

ग्यारह

मैं कर्ण के साथ काम्पिल्य नगर पहुँचा। मेरे साथ दुःशासन, निषङ्गी, अग्रयायिन्, दुर्विमोचन, विकर्ण, अयोबाहु, विवित्सु, विकट, क्राथ और दण्डधर—मेरे दस अनुज थे। स्वयंवर

शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो जानेवाली विधि नहीं होती है। उसके लिए कभी-कभी दो-दो हाथ भी करने पड़ते हैं। तदर्थ सहायता के लिए ही मैंने अपने दस भाइयों को अपने साथ लिया था। लेकिन मेरा सबसे अधिक विश्वास कर्ण पर था। मेरे मनोरथ को साकार करने के लिए वह पराक्रमी वीर अपने प्राणों का मूल्य चुकाने तक को तत्पर था। इसीलिए मैं उसको आग्रहपूर्वक पांचालों के इस राजनगर में ले आया था। कुरुओं की ओर से अंगराज कर्ण ही मत्स्य-भेद करनेवाला था। हमको विश्वास था कि हम प्रण अवश्य जीतेंगे। हमारे साथ अश्वत्थामा और शकुनि मामा भी थे। षोडशवर्षीय कर्ण-पुत्र सुदामन भी हठ करके साथ आया था।

काम्पिल्य नगर की सीमा पर गंगा और बहुदा के संगम पर पांचालों के अमात्य वीरबाहु और महाराज द्रुपद ने हम सबका भव्य स्वागत किया। द्रुपद-पुत्र युवराज धृष्टद्युम्न ने तो दुःशासन के सामने आकर उसको कसकर आलिंगन में ही भर लिया। मैंने उसको कर्ण का परिचय देते हुए कहा, “ये हैं अंगराज कर्ण !” कर्ण ने अपनी गुलाबी रंग की हथेलियाँ जोड़कर उसको वन्दन किया। कर्ण के कानों के कुण्डलों की ओर क्षण-भर टकटकी बाँधकर देखता धृष्टद्युम्न हँसता हुआ स्वाभाविक ढंग से बोला, “ऐसा कौन है जो इनको न जानता हो ? हस्तिनापुर में स्वर-लक्ष्यभेद हम सबने प्रत्यक्ष देखा है। वह घटना और वह दिन मैं तो इस जन्म में कभी भूल नहीं सकूँगा।”

धृष्टद्युम्न का कथन स्वाभाविक था। हम सबको वह अच्छा लगा। मुझको धृष्टद्युम्न की देहयष्टि बहुत ही अच्छी लगी। वह फूलों से लदे हुए डालीदार मधूक वृक्ष की तरह दिखाई पड़ रहा था। चेहरा हनु की ओर संकुचित होता आया था। उसका कर्ण लालिमा लिये हुए गौर था। मैंने उसके मुख से क्षण-भर याज्ञसेना की तुलना की। सम्प्रति याज्ञसेना के सिवा मुझको कुछ भी नहीं सूझ रहा था।

हम लोगों ने नगर में प्रवेश किया। अपनी प्रिय युवराज्ञी के स्वयंवर के निमित्त नगरजनों ने सम्पूर्ण नगर को बड़े कौशल से सजाया था। स्थान स्थान पर पताकाएँ और बन्दनवार लगाये गये थे। नगर के सभी प्रशस्त चौक विविध रंग के वनपुष्पों की मालाओं से सजाये गये थे। स्थान-स्थान पर जल के कृत्रिम फ़ौव्वारे बनाये गये थे। सभी आँगनों में ललनाओं ने, केशरमिश्रित जल से लीपकर, सुन्दर अल्पनाएँ चित्रित की थीं। नगाड़े, तुरही और मृदंगों से वातावरण का कण-कण थिरक रहा था। हम लोगों के नगर में प्रवेश करते समय नगरजन हमारे दर्शनों के लिए मार्ग के दोनों ओर खड़े हो गये थे। वे कुरुओं के वैभवशाली और पराक्रमी कुल का सहज उल्लास से जयघोष कर रहे थे। इतना आश्चर्यजनक दृश्य मुझे यहाँ दिखाई दे रहा था, जितना आज तक मैंने कभी किसी नगर में नहीं देखा था। अनेक गृहों के उच्च सौधों पर नगर की ललनाओं की भीड़ उमड़ पड़ी थी। उनमें से कुछ तो उँगली से सीधे हमारे रथ की ओर ही निर्देश कर रही थीं। मेरे रथ में मैं, दुःशासन और कर्ण-हम

तीन ही थे। और सब रथ पीछे थे। बड़ी देर बाद सब बातें मेरी समझ में आयीं। कर्ण के अप्रतिम सौन्दर्य की ख्याति पांचालों के राज्य तक आ पहुंची थी। भले ही दूर से दिखाई दे, लेकिन कर्ण कैसा है, यह देखने के लिए स्त्रियाँ आतुर थीं। उस बेचारे को इसका तनिक भी ज्ञान नहीं था। नितान्त सरल भाव से वह मेरी दायीं ओर खड़ा था। उसकी देह पर पड़ा हुआ सुवर्ण-धागों की छटा से युक्त उत्तरीय सूर्य किरणों में चमक रहा था। मैंने यों ही उससे कहा, "कर्ण, तुम्हें अब स्वयंवर में भाग लेना है। अब रथनीड़ पर खड़े मत रहो। भीतर बैठ जाओ और धनुर्वेद का चिन्तन करो।"

मेरे परामर्श को उचित मानकर वह रथ में बैठ गया। इससे शायद अनेक स्त्रियाँ निराश हो गयी होंगी। मुझको उनकी मूर्खता पर हँसी आ रही थी। एक सूतपुत्र को देखने के लिए वे इतनी उतावली क्यों हो रही हैं-यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वास्तव में उनको तो मेरे दर्शन करने चाहिए थे। या फिर दुःशासन के। क्योंकि यदि मैं चाहता तो अपने रथ के सारथी सत्यसेन को उसके स्थान से हटाकर उस स्थान पर कर्ण को बैठा सकता था। कुछ भी क्यों न हो, उसका वंश-परम्परागत व्यवसाय तो सारथ्य-कर्म ही था।

सूर्योदय के साथ ही हम लोग पांचालों के शोभावन्त राजभवन के समीप पहुँचे। स्वयंवर का भव्य मण्डप दृष्टिगोचर हुआ। उस मण्डप के आस-पास लोगों की अकल्पनीय भीड़ थी।

“आइए, कुरुश्रेष्ठ युवराज ! आज यह दूसरा अवसर है जबकि नगरजनों के उत्साह में उत्सुकता का ज्वार आया।” पांचालों के अमात्य वीरबाहु मुझको रथ से उतारते हुए बोले।

“और किसका इतने प्रचण्ड उत्साह से स्वागत हुआ है ?” मैंने अमात्य महोदय से पूछा।

“मथुरा से यादव-श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आज ही आये हैं। उनका....।”

“श्रीकृष्ण ? क्यों जी अमात्य, श्रीकृष्ण भी स्वयंवर में भाग लेंगे क्या ?” मैंने तनिक भयपूर्ण सन्देह से पूछा।

“यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? लेकिन भाग लेंगे ही नहीं, ऐसी बात भी नहीं है।”

“स्वयंवर के लिए और कौन-कौन आया है ?”

“महाराज भोज, सौबल, सहदेव, शल्य, शिशुपाल, विराट्, सुकेतु, चित्रायुध, जरासन्ध, चेकितान, भगदत्त आये हैं। साथ ही भूरिश्रवा, सुषेण, दृढ़धन्वा, सोमदत्त, वृषक, बृहद्वल, बृहन्त, मणिमान्, दण्डधर, मेघसन्धि, शंक, सुशर्मा तथा इनके अतिरिक्त सेनाबिन्दु, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, सुदक्षिण, रुक्मरथ, शिबि, श्रीकृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न, सात्यकी, सिन्धुराज जयद्रथ आदि अनेक वीर राजा-महाराजा आये हैं। हम केवल हस्तिनापुराधिपति की ही प्रतीक्षा कर रहे थे।”

वे मेरा हाथ पकड़कर मुझको मण्डप के एक ओर से राजभवन में ले गये। स्वयंवर अपराह्न काल के घड़ी-भर बाद होनेवाला था। तबतक मैं, कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि मामा-

हम सब भोजन करके विश्राम करनेवाले थे। हमारी यात्रा, लगभग सौ योजनों की हो चुकी थी। देह पर राजवस्त्र धूल-धूसरित हो गये थे। घोड़े थक गये थे।

स्वयंवर के सम्बन्ध में मैं निश्चिन्त था। क्योंकि जो राजागण आये थे, उनमें कोई भी निष्णात धनुर्धर नहीं था। वे योद्धा थे, परन्तु द्रुपद का कठिन प्रण कोई भी पूरा नहीं कर सकता था। केवल अकेला कर्ण ही एक बार पुनः सबके नेत्रों को धन्य करनेवाला था। और इस प्रकार प्रण जीती हुई श्यामल द्रौपदी को वह मित्र-प्रेम से मेरे चरणों पर अर्पण करनेवाला था। क्योंकि आज तक मैंने उसको बड़ी दृढ़ता से यही समझाया था कि जीवन एक अनिवार्य समझौता है।

यदि कोई अकल्पित घटना हो जाती, तभी पांचाली हमारे हाथों से निकल सकती थी। मेरे मन के एक कोने में जो सन्देह था, वह केवल एक ही व्यक्ति के कारण था और वह व्यक्ति था श्रीकृष्ण।

बारह

और अन्त में वह अकल्पित घटना सचमुच ही हो गयी। हृदय में अनेक घटनाओं के अनिवार्य बाण लेकर ही मैं स्वयंवर से हस्तिनापुर को लौटा। अब मुझको बार-बार यही लगता है कि जीवन स्वयं ही एक अद्भुत रम्य स्वयंवर है। प्रत्येक व्यक्ति इस स्वयंवर में बड़े उत्साह से भाग लेता है। लेकिन कभी-कभी काल इतने कठिन प्रण इस स्वयंवर में उपस्थित कर देता है कि कोई भी उन सबको जीत नहीं पाता। कुछ लोगों की तो इतनी दुर्दशा हो जाती है कि बस मृत्यु ही शेष रह जाती है। अनेक व्यक्ति धैर्यवान्, बुद्धिमान् और पराक्रमी होते हुए भी इन प्रणों को पूर्ण नहीं कर पाते हैं। न मैं, न अश्वत्थामा, न कर्ण, न कोई अन्य ही।

पांचाली के स्वयंवर की केवल स्मृति से ही मेरा मन अनेक प्रकार की भावनाओं के विचित्र सम्मिश्रण से तड़पने लगता है। कोई मेरे आगे काल का और भाग्य का वर्णन करता था, तो वह मुझको बिलकुल भी अच्छा नहीं लगता था। मैंने जीवन में केवल कर्तृत्व को ही महत्त्व दिया था; परन्तु जब-जब कर्तृत्व निस्तेज पड़ा, तब-तब मुझको काल के महत्त्व की प्रतीति होने लगी।

मनुष्य अपने पुरुषार्थ के नगाड़े कितने ही क्यों न पीटे, अपने कर्तृत्व के ध्वज हाथ में लेकर उन्मत्त होकर वह कितना ही क्यों न नाचे, लेकिन अन्त में विशाल और अनन्त आकाश के सामने वह ठिगना और अपूर्ण ही रहेगा। अपूर्णता ही जीवन का स्थायी भाव है, इस बात का अनुभव मुझको पांचाली के स्वयंवर से बार-बार होने लगा है।

स्वयंवर सम्पन्न हो गया था, किन्तु उसका मधुर सुकुमार हाथ मेरे हाथ में नहीं आया। उसके पाणि-ग्रहण के लिए मैंने जो दृढ़ हाथ आगे बढ़ाया था, उसपर कठोर नियति ने सत्य के धधकते हुए अंगारे रख दिये थे। स्वयंवर की घटनाओं की याद आने पर अब भी मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। ऐसा लगता है कि जीवन जैसे रहस्यमय सुरंग हो ! कितना अच्छा होता यदि मैं उस स्वयंवर में गया ही न होता ! अनेक कटु और असह्य सत्यों का बोझ तो मेरी छाती पर न पड़ता ! क्योंकि उस स्वयंवर ने मुझको सबसे भयंकर आघात पाण्डवों के अस्तित्व के सम्बन्ध में दिया था। पाण्डव जीवित हैं—यह असह्य सत्य एक राक्षस का भयंकर रूप धारण कर मेरी छाती पर 'था-था थैया' नृत्य कर रहा था। उसके पैरों तले मेरी आकांक्षाएँ चूर-चूर हो रही थीं। उस स्वयंवर को भूलने का मैं बहुत प्रयत्न करता था, लेकिन वह बार-बार मेरी आँखों के सामने खड़ा होकर मुझको त्रस्त कर रहा था, जैसे कोई अप्रिय व्यक्ति बार-बार सामने आकर हमारी कुशल क्षेम पूछता है। प्रण में रखा गया मत्स्ययन्त्र आँखों के सामने आकर बार-बार घूम जाता।

स्वयंवर के दिन पांचालों की राजनगरी में पहुँचते ही हमें पहले पंच पक्वान्न खाने को मिले। फिर हमने थोड़ी देर वामकुक्षी के लिए महल में पड़े पलंगों पर लोट लगायी। थोड़ी देर बाद ही कर्ण उठ पड़ा। देह पर उत्तरीय डालकर वह महल से बाहर जाने लगा। मैं कुछ-कुछ निद्रावस्था में था, फिर भी मैंने उससे पूछ ही लिया, “कर्ण, स्वयंवर की घड़ी निकट आती जा रही है। इस असमय में कहाँ जा रहे हो ?”

“समय तो सभी के लिए सुविधाजनक होता है, लेकिन जो असमय को भी सुविधाजनक बना लेता है, वही सच्चा योद्धा है।” हस्तिनापुर में मैंने उसको जो दर्शन बताया था, वही उसने मुझको सुना दिया।

“ठीक है, जाओ। लेकिन जल्दी लौटना। कारण....”

“कारण क्या ?”

“कारण यह कि तुम नगर में जहाँ-जहाँ जाओगे, वहीं तुमको देखने के लिए स्त्रियों की भीड़ इकट्ठी हो जायेगी।”

“लेकिन मुझको तो नगर में जाना ही नहीं है।” उसने मन्दस्मिति के साथ कहा।

“तो फिर कहाँ ? गंगा के तट पर ?” वह कहीं भी रहे, एक नदी-तट की और दूसरे स्वच्छ आकाश की उसको आवश्यकता रहती थी।

“नहीं। यहीं राजप्रासाद के अन्य भवन में जा रहा हूँ।” उसने सिर हिलाते हुए कहा।

“किसके ? धृष्टद्युम्न के या आर्य अमात्य के ? शायद तुम स्वयंवर के सम्बन्ध में सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करने के लिए जा रहे हो।”

“नहीं राजन्, मैं जा रहा हूँ श्रीकृष्ण से मिलने। थोड़ी देर पहले ही मैंने आर्य अमात्य के हाथों उनको सन्देश भिजवा दिया है।”

“श्रीकृष्ण से मिलने के लिए तुमको वहाँ जाने की क्या आवश्यकता है ? अमात्य द्वारा हम उसी को यहाँ बुलवा लेंगे।” मैं तत्क्षण पलँग पर से उठा और निद्राधीन दुःशासन को ज़ोर से हिलाते हुए मैंने कहा, “दुःशासन, उठ और पांचालों के अमात्य को बुला ला।”

कर्ण ने तत्क्षण आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा, “नहीं, नहीं, उसकी निद्रा भंग मत करो। मैं आधी घड़ी में ही लौटकर आता हूँ। मैं नहीं चाहता कि श्रीकृष्ण को यहाँ बुलाया जाये। मैं स्वयं ही उनके पास जाऊँगा।”

उसका स्वभाव ही ऐसा था कि वह अपने लिए किसी को कष्ट नहीं देना चाहता था।

“ठीक है, जाओ, लेकिन जल्दी लौट आना।” मैं उसकी इच्छा को मोड़ नहीं सकता था। लेकिन न जाने क्यों यह बात कि वह श्रीकृष्ण से मिलने जा रहा है, मुझे उस समय तनिक न भायी। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मेरे विचार अधिक अच्छे नहीं थे। क्योंकि उसका रंग भी अर्जुन की तरह ही नीला था। उसको देखकर मुझको अर्जुन की याद आ जाती थी।

हमने आधी घड़ी तक विश्राम किया। इसी बीच कर्ण श्रीकृष्ण से मिलकर आ चुका था। उसकी मुखमुद्रा उल्लसित एवं आनन्दित दिखाई दे रही थी। राजप्रासाद के सामने स्थित मण्डप में एकत्रित लोगों का उत्साहपूर्ण कोलाहल हमें स्पष्ट सुनाई दे रहा था। मैं, शकुनि मामा, अश्वत्थामा, दुःशासन-हम सभी राजवस्त्र पहनकर तैयार थे। कर्ण वस्त्रागार में वस्त्र बदल रहा था। थोड़ी ही देर बाद वह वस्त्रागार से बाहर आया। उसने नीले रंग का अधरीय पहन रखा था। उसपर एकदम पीले रंग का उत्तरीय था। सच पूछो तो उत्तरीय की अपेक्षा उसकी त्वचा का रंग ही अधिक खिल रहा था। जब वह वस्त्रागार से बाहर आया तब मुझे ठीक ऐसा लगा जैसे गुफा से कोई वनराज आ रहा हो। मानो उसकी मुखमुद्रा से सूर्यकिरणें ही परिवर्तित होकर वातावरण में मिल रही थीं। मुझको देखते ही वह धीरे से मुसकराया। उसके सुन्दर दायें गाल पर एक मधुर गड्ढा पड़ गया। ऐसा गड्ढा मैंने भूले-भटके एकाध बार ही देखा था। उसकी सुवर्णवर्णी गोलाकार मुद्रा मुझको सदैव प्रफुल्लित सूर्यमुखी-जैसी लगती थी। उसका पुत्र सुदामन भी उसके पीछे-पीछे वस्त्रागार से बाहर निकला। बहुत मना करने पर भी वह हठपूर्वक हमारे साथ आया था।

थोड़ी देर बाद ही एक दास महल में आया और सिर झुकाकर मुझसे बोला, “महाराज, आर्य अमात्य ने आपको सादर स्मरण किया है। मण्डप में सभी नरेश आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।”

मैं, कर्ण, शकुनि मामा, अश्वत्थामा, कर्ण-पुत्र सुदामन और दुःशासन आदि मेरे दस भाई-हम सब महल से बाहर निकले। जाते-जाते मैंने कर्ण से कहा, “मेरा समस्त भार अब तुम

पर ही है। देखना....यह बहुत ही कठिन भार है।"

कुछ न कहकर वह केवल हँस पड़ा। उसके सुवर्णजड़ित दाँत क्षण-भर के लिए चमक उठे। चलते समय लगनेवाले धक्कों से कानों के सुन्दर कुण्डल एक लय में हिलने लगे।

हम लोग स्वयंवर के मण्डप में पहुँचे। किसी के कण्ठ ने उद्घोष किया, "हस्तिनापुराधिपति कौरवश्रेष्ठ धृतराष्ट्र पुत्र युवराज दुःशर्योऽऽधऽऽन ।"

द्रुपद-पुत्र युवराज धृष्टद्युम्न ने मुसकराकर हमारा स्वागत किया। उसने बड़े स्नेह से मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया और हमको हमारे आसनों की ओर ले जाने लगा। सभी आमन्त्रित राजागण और योद्धागण आदर से उठकर खड़े हुए। मेरी छाती अभिमान से उन्नत हो गयी, मानो ये सब नरेश उठकर कुरुओं की प्रतिष्ठा को मान्यता दे रहे थे। हम सब लोग आसनस्थ हो गये। तुरन्त ही मण्डप के अन्य सब नरेश भी बैठ गये। मेरे आसन के सामने एक आसन अब भी रिक्त था। अन्य सब आसनों पर तो कोई न कोई बैठा हुआ था। मैंने उत्सुक होकर धृष्टद्युम्न से पूछा, "सामने वह आसन किसका है? अभी भी वह रिक्त क्यों है?"

उस आसन की ओर देखता हुआ वह बोला, "जबतक वह आसन सुशोभित नहीं होगा, तबतक स्वयंवर प्रारम्भ ही नहीं होगा; क्योंकि वह आसन भगवान् श्रीकृष्ण का है।"

"मथुराधिपति यादवकुलोत्पन्न वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीऽकृऽष्णऽ !" मण्डप में एक और उद्घोष गूँज उठा। प्रवेश द्वार से नीलवर्ण श्रीकृष्ण प्रवेश कर रहा था। उसके साथ उसके अग्रज बलराम, पुत्र प्रद्युम्न, रुक्मरथ, उद्धव, सात्यकी इत्यादि लोग थे। मण्डप के सभी नरेश ही नहीं बल्कि पुरोहितों के साथ राजस्त्रियों के घेरे के सभी जन आदर से खड़े हो गये। मेरे पास बैठे हुए कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि मामा, दुःशासन सभी उठकर खड़े हो गये। वे उस काले श्रीकृष्ण को इतना मान क्यों दे रहे थे, यही मेरी समझ में नहीं आया। पैर के पादत्राण में कुछ अटक गया है, यह बहाना बनाकर उसके बन्धन खोलने के निमित्त से मैं आसन से तिल-भर भी नहीं सरका। परन्तु कटाक्षों से मैं सर्वत्र देख रहा था। श्रीकृष्ण हाथ उठाकर सबको बैठने का संकेत कर रहा था। लेकिन कोई भी बैठ नहीं रहा था। अन्त में मेरे सामने स्थित आसन पर वह आसीन हो गया। तब भी सब खड़े थे। वह पुनः उठकर खड़ा हुआ और मुसकराता हुआ दायाँ हाथ उठाकर धीर-गम्भीर स्वरों में बोला, "आमन्त्रित राजाओ ! आप लोग बैठिए। युवराज धृष्टद्युम्न अब अपनी भगिनी युवराज्ञी याज्ञसेना का स्वयंवर प्रारम्भ करेंगे।" सभी जन कठपुतलियों की तरह बैठ गये। श्रीकृष्ण ने मुझपर भी एक दृष्टि डाली। मैंने अपनी दृष्टि दूसरी ओर मोड़ ली। मैं उसका मुख भी नहीं देखना चाहता था। उसके दर्शन मात्र से ही मुझको अर्जुन की याद आती थी और तब छाती में एक अजानी पीड़ा उभर आती थी। ऐसा आभास होने लगता था मानो भीम की गदा मेरे चारों ओर फिर रही हो।

मैंने समस्त मण्डप पर दृष्टि घुमायी। वहाँ आर्यावर्त के सभी छोटे-बड़े राजा उपस्थित थे। तो द्रौपदी की सुगन्ध ने सभी पर मोहिनी डाल रखी है। मगधाधिपति जरासन्ध, मद्राधिपति शल्य, सिन्धुराज जयद्रथ, शिशुपाल, एक से एक अधिक सामर्थ्यशाली वीरों का सम्मेलन था वह। लेकिन न जाने क्यों, उनमें से एक भी मुझको कर्ण-जैसा तेजस्वी और आकर्षक नहीं लग रहा था। यह बात उसको बताने के विचार से मैं उसके कान के पास अपना मुँह ले गया, परन्तु वह असावधान था। वह एकटक केवल श्रीकृष्ण की ओर देख रहा था। मैंने उसको सावधान करने के लिए सदैव की भाँति कोहनी मारी। वह चौंककर मेरी ओर देखने लगा। मैंने उसको उसके सौन्दर्य के बारे में बताने के लिए होंठ खोले, लेकिन इतने में ही पांचालों का युवराज धृष्टद्युम्न अपनी भगिनी याज्ञसेना को लेकर मण्डप में आया। चारों ओर उत्सुकताजन्य नीरव शान्ति छा गयी। प्रत्येक व्यक्ति अधोमुखी और धीर-गम्भीर पद निक्षेप करनेवाली पांचाली की ओर ध्यान से देखने लगा। उसके हाथों में पैरों तक लटकनेवाली धवल कमलों की वरमाला थी। अपने प्रत्येक पद-निक्षेप के साथ ही जैसे वह वहाँ एकत्रित सभी वीरों के हृदय-कमलों को प्रफुल्लित करती हुई चल रही थी। अन्त में वह और धृष्टद्युम्न दोनों मण्डप के मध्यभाग में बनाये गये पत्थर के एक चबूतरे पर आकर खड़े हो गये। विविध पुष्पमालाओं से सुसज्जित, अनेक प्रकार के पुष्पों की गन्ध से मत्त वह विशाल मण्डप सलज्ज पांचाली के वहाँ पहुँचते ही सच्चे अर्थ में स्वयंवर-मण्डप दिखाई देने लगा। साँवले रंग की द्रौपदी शरदऋतु की मौन आकर्षक सन्ध्या-जैसी दिखाई पड़ रही थी।

अपना दायाँ हाथ मस्तक तक ऊँचा उठाकर युवराज धृष्टद्युम्न कहने लगा, “आमन्त्रित राजागण, मेरी भगिनी युवराज्ञी याज्ञसेना के स्वयंवर के लिए आप पधारे हैं, इसलिए पांचालों की ओर से मैं आप सबका स्वागत करता हूँ। इस स्वयंवर में जो प्रण रखा गया है, उस प्रण को जो वीर पुरुष पूर्ण करेगा, उसे मेरी यह बहन याज्ञसेना पति के रूप में वरण करेगी तथा अपने हाथों की वरमाला उसके कण्ठ में डालेगी। उस महायोद्धा की पत्नी बनकर वह जीवन-भर उसकी सेवा करेगी।

“प्रण यह है—सबके सम्मुख मण्डप की छत में एक मस्त्ययन्त्र टँगा हुआ है। कुशल अभियन्ता उसको अभी चालू करेंगे। इस चक्कर लगानेवाले गतिमान् मस्त्ययन्त्र की लकड़ी की मछली की-दायीं आँख को शिव-धनुष की प्रत्यंचा तानकर तथा उसपर एक सूची बाण चढ़ाकर और यन्त्र के नीचे बने सरोवर में उस मछली के प्रतिबिम्ब की ओर देखकर जो वीर अचूक भेदेगा, वह आज से हम पांचालों का आप्तेष्ट होगा। इसके लिए धनुर्धर चाहे जितने बाण फेंकें, हमें आपत्ति नहीं है।

उसने प्रस्तावना समाप्त कर आर्य अमात्य की ओर एक दृष्टि डाली। आर्य अमात्य ने मण्डप की छत पर चढ़े कारीगरों को जैसे ही संकेत किया, उन्होंने मस्त्ययन्त्र घुमाना आरम्भ कर दिया। उस यन्त्र के साथ ही आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ वीरों का भाग्य भी अक्षरशः

चक्कर काटने लगा। पाँच विशालकाय मल्ल दौड़ते हुए गये और पांचालों के शस्त्रागार से विख्यात शिव-धनुष को बड़े कष्ट से उठाकर ले आये। उस धनुष को उन्होंने सरोवर के पास रख दिया और मुक्ति की साँस लेते हुए मस्तक का पसीना पोंछा।

सर्वत्र शान्ति छा गयी। मत्स्ययन्त्र की केवल घर घर आवाज़ ही स्पष्ट रूप से सुनाई दे रही थी। सरोवर के पानी में उसका प्रतिबिम्ब घूमने लगा। उस भारी-भरकम शिव धनुष को देखकर उसको स्पर्श करने के लिए कोई भी साहस नहीं कर रहा था। सभी लोग एक-दूसरे की ओर टुकुर-टुकुर देखने लगे। अन्त में विशाल वक्षस्थलवाला और नाम के अनुरूप दृढ़ शरीर का राजा दृढ़धन्वा उठा। समस्त मण्डप पर अभिमान-भरी दृष्टि डालते हुए उसने उत्तरीय सँभालकर शिव-धनुष को हाथ लगाया। सभी प्रेक्षकों ने प्रत्यक्ष देखा- दृढ़धन्वा की आँखें घूम गयी थीं, लेकिन वह उस प्रचण्ड शिव-धनुष को टस से मस नहीं कर सका। झुंझलाकर उसने अपना सिर झुका लिया और क्षण भर बाद ही वह वहाँ से पराजित होकर लौट आया। मण्डप में क्षण-भर भी न रुककर वह अभिमानी राजा सीधे बाहर चला गया।

उसके बाद मेघसन्धि, मणिमान्, दण्डधर, सुषेण, रोचमान, बृहद्वल, सत्यधृत व भोज-जैसे अनेक राजा क्रम क्रम से आये; लेकिन उनमें से कोई भी उस शिव-धनुष को ऊपर न उठा सका। अन्त में चेदिराज शिशुपाल उठा। उसने दाँतों से होंठ दबाते हुए जैसे-तैसे उस धनुष को उठाया; लेकिन प्रत्यंचा चढ़ाकर लक्ष्यभेद के लिए अपने को सँभाल न पाया। बड़ी कठिनाई से वह एक ही बाण छोड़ सका, लेकिन वह मछली के सिर में नहीं लगा। सबके मन की आशाएँ ध्वस्त हो गयीं। उसके बाद पाण्डवों का मामा, राजमाता कही जानेवाली माद्री का सगा भाई, मद्रदेश का राजा शल्य आगे आया। लेकिन वह भी जैसे-तैसे दो बाण फेंक सका। उसके बाद सिन्धु देश का राजा जयद्रथ उठा। बड़े प्रयत्न से शिव-धनुष उठाकर उसने तीन बाण फेंके, लेकिन एक भी लक्ष्य को भेद नहीं पाया। चारों ओर उत्सुकता, भय, सहानुभूति आदि विविध भावनाओं से भरी हुई शान्ति छा गयी। स्वयंवर को प्रारम्भ हुए एक घटिका बीत चुकी थी लेकिन फिर भी मत्स्ययन्त्र सबको अँगूठा दिखाता हुआ उन्मत्त भाव से उसी तरह गर-गर चक्कर लगा रहा था। मैंने एक बार यों ही श्रीकृष्ण की ओर देखा। आसन की दायीं ओर उसने अपनी कोहनी टेक रखी थी। दायीं हथेली पर दायीं गाल रखकर वह थोड़ा-सा दायीं ओर झुका शान्त बैठा हुआ था। जब मैंने कर्ण की ओर देखा तो पता चला कि वह एकटक श्रीकृष्ण के पैर के अंगूठे की ओर ही देख रहा था।

अब मेरी इच्छा होने लगी कि कर्ण को आगे बढ़ने का संकेत कर दिया जाये। लेकिन कहीं उसका भी लक्ष्य-भेद चूक गया तो ? यह सन्देह भी मन में सिर उठाने लगा। उसके अन्त में निर्णायक समय आने पर ही मैं उसको संकेत करनेवाला था।

एक के बाद एक राजा आ रहे थे। अपने पुरुषार्थ को कसौटी पर कस रहे थे। फिर अपयश लेकर लौट रहे थे। कुछ नृपों ने तो दो-दो बार प्रयत्न किये। लेकिन मत्स्ययन्त्र घर

घर करता हुआ ज्यों का त्यों घूम रहा था। मण्डप में शिव-धनुष के गुणगान से भरी काना-फूसी आरम्भ हो गयी। आर्यावर्त के सभी राजा उस कठिन प्रण के सम्मुख निष्प्रभ हो गये थे। कुछ राजा मेरी ओर देख रहे थे, कुछ कृष्ण की ओर तथा लगभग सभी व्यक्ति आशा से कर्ण की ओर देख रहे थे। इतने में ही मगधों के विशाल साम्राज्य का स्वामी, द्वन्द्व-युद्ध में प्रवीण, सशक्त शरीरवाला जरासन्ध उठा। उसका कसा हुआ सम्पूर्ण शरीर पुष्ट हाथी जैसा विशाल था। अभिमान से छाती फुलाता हुआ वह शिव-धनुष के पास आया। पूरी सामर्थ्य से उसने धनुष उठाया। एक के बाद एक चार बाण फेंके। लेकिन मत्स्ययन्त्र के चक्र के पार्श्व से वे पार निकल गये। और छत को भेदकर अदृश्य हो गये। अपने बाणों में से एक बाण तो मझली की आँख में लग ही गया होगा, इस आशा से उसने छत में टंगे मत्स्ययन्त्र की ओर क्षण भर देखा, परन्तु इतने में ही उसका सन्तुलन बिगड़ गया और अपने को सँभालने के प्रयत्न में वह सरोवर के पाषाणनिर्मित ऊँचे किनारे से धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। वह भारी शिव धनुष उसकी उन्नत छाती पर आ गिरा। उसके पराभव का क्रूर उपहास करनेवाली हँसी की लहर मण्डप में सर्वत्र फैल गयी। मैंने श्रीकृष्ण की ओर देखा, लेकिन वह भी व्यंग्य भाव से मन ही मन हँस रहा था। परन्तु दूसरे ही क्षण वह दृश्य बदल गया। उस प्रचण्ड धनुष के असह्य भार के नीचे जरासन्ध प्राणान्तक पीड़ा से तड़पने लगा। हाथ-पैर पटककर अपनी मुक्ति के लिए वह दयनीय प्रयत्न करने लगा। उसके मुख से रक्त का वमन ऊपर की ओर छूटा। शिव-धनुष रक्तरंजित हो गया। एक मान्य क्षत्रिय की यह दयनीय दशा मुझसे नहीं देखी गयी। मैंने यह निश्चय किया था कि स्पर्धा में भाग नहीं लेना है, लेकिन क्षण-भर में ही मैं उसको भूल गया। श्रीकृष्ण के तटस्थ भाव से दुःखी होकर उसपर एक जलती हुई दृष्टि डालता हुआ मैं तत्क्षण आसन से उठ खड़ा हुआ। कर्ण अब भी पागलों की तरह उस काले कृष्ण के पैरों की ओर देख रहा था। जब से वह श्रीकृष्ण से मिलकर आया था तब से वह ऐसा व्यवहार क्यों कर रहा था, यही मेरी समझ में नहीं आया। श्रीकृष्ण ने उसका तेजोभंग कर दिया था क्या ? कर्ण की सहायता की प्रतीक्षा किये बिना ही मैं उठ खड़ा हुआ। मैं सरोवर के पास आया। जरासन्ध की दृष्टि आकाश की ओर लगी हुई थी। वह भीमकाय राजा मुझसे जैसे प्राणों की भिक्षा ही माँग रहा था। मगधों के समर्थ राज्य का वह पराक्रमी राजा इस आशा से देख रहा था कि मृत्यु का रूप धारण कर छाती पर बैठे हुए शिव-धनुष को कोई दूर कर दे। एक विख्यात द्वन्द्व-योद्धा बड़े कष्ट से मृत्यु से द्वन्द्व कर रहा था। मैंने कृष्ण के पास बैठे हुए अपने गुरु बलराम की ओर एक बार श्रद्धा से देखा। उनके विशाल नेत्र मुझको आशीर्वाद दे रहे थे। उस विकट अवसर पर भी श्रीकृष्ण और बलरामजी की तुलना करने का आश्चर्यजनक विचार मेरे मन में तैर गया। बलरामजी के प्रति मेरे मन में असीम आदर था; परन्तु उतनी ही बल्कि उससे कुछ अधिक ही घृणा श्रीकृष्ण के प्रति मेरे मन में समा गयी।

दूसरे ही क्षण आगे बढ़ा। घायल तड़पते हुए तथा श्रान्त जरासन्ध के हाथ-पैरों की गति शान्त हो गयी थी। उसके शरीर का रोम-रोम मानो आँख बनकर बात कर रहा था। मृत्यु के द्वार पर जीव कितना विवश होता है ! वह अपनी प्रतिष्ठा, आत्माभिमान, सब कुछ भूल जाता है। वह याचना करता है केवल जीवित रहने की ! जीवन की। देश देश के अनेक राजाओं को नरयज्ञ के लिए अपनी राजधानी गिरिव्रज के कारागार में बन्दी बनानेवाले जरासन्ध को शिव-धनुष ने बन्दी बना रखा था। नीचे झुककर मैंने एक हाथ से ही वह शिव धनुष उठा लिया। समस्त मण्डप में तालियों की प्रचण्ड गड़गड़ाहट हुई। बहेलिये द्वारा लगाये गये जाल में फंसी हुई पूँछ के बन्धनमुक्त होते ही कोई वनराज जैसे गर्जना करता हुआ ऊँची छलाँग लगाता है, वैसे ही छाती पर से धनुष के हटते ही जरासन्ध चपलता से उठा और हाथ उठाकर ज़ोर से चिल्लाया। उसने मुझको आलिंगन-पाश में कस लिया। सब लोगों ने यही समझा कि द्रौपदी के लिए स्वयंवर में भाग लेने के लिए ही मैंने वह धनुष उठाया था। किसी ने मेरे नाम का जयघोष किया। वहाँ से लौटना अब मेरे लिए सम्भव नहीं था। उस धनुष को मैंने सहज ही उठा लिया। इसपर बहुत से लोगों को आश्चर्य हुआ; परन्तु मेरे गुरु बलरामजी के अतिरिक्त किसी को भी यह विदित नहीं था कि गदा की शाला में मैं भीम से निरन्तर छह-छह घण्टों तक गदा खेलता रहता था। भुजाओं का वही अभ्यास इस समय मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हो रहा था। मेरी भुजाएँ हाथी के पैर की तरह पुष्ट हो गयी थीं।

हाथ में धनुष झेलते हुए मैंने सारे मण्डप पर एक बार अपनी दृष्टि घुमायी और फिर सरोवर के किनारे गया। किनारे पर खड़े सहज ही एक बार द्रौपदी पर दृष्टि डाली। वह साँस रोककर मेरी ओर देख ही रही थी। मेरे मन में कुरुकुल के अभिमान का चंचल अंकुर गर्व से सिर उठाने लगा। इस सुगन्ध के पात्र को सबके सामने काँख में दबाकर ही आज हस्तिनापुर जाना है—यह निश्चय कर मैंने कुण्ड के पानी पर स्थिरतापूर्वक दृष्टि डाली। मत्स्ययन्त्र का प्रतिबिम्ब जल में स्पष्ट दिखाई दे रहा था। मुझसे पहले प्रतिद्वन्द्वियों ने जो बाण फेंके थे, उनसे छत में कुछ छिद्र हो गये थे। उन छिद्रों से घुसकर कुछ निकम्मी सूर्य-किरणें भी पानी में तैर रही थीं। उनसे वह प्रतिबिम्ब दमक रहा था। लेकिन उसमें चक्कर काटती हुई मछली की आँख दिखाई नहीं पड़ रही थी। फिर भी मैंने प्रत्यंचा खींचकर निशाना साधा और निरन्तर एक के बाद एक पाँच बाण छोड़े। पर मेरे प्रत्येक बाण के साथ छत में केवल एक-एक छिद्र ही अधिक होता गया। सूर्य किरणों के और पाँच प्रतिबिम्ब कुण्ड के पानी में झाँकने लगे। उन पाँच किरण-बिम्बों को देखते ही मुझको पाण्डवों की याद आ गयी। हर बार पाँच का अंक मेरे मन का भेदन कर रहा था। मेरा एक भी बाण मत्स्य को नहीं लगा था। पांचालों का वह क्षुद्र मत्स्ययन्त्र कुरुओं के सिंहासन को चिढ़ाता हुआ पूर्ववत् अभिमान से घूम रहा था। उस भारी धनुष को झेलते-झेलते मेरी भुजा में पीड़ा होने लगी। खिन्न होकर मैं किनारे से नीचे उतरा। मुझको बड़ी तीव्र अनुभूति हुई कि इस

द्रुपदराजा ने इस प्रण के बजाय गदा का कोई भी कठिन प्रण यदि आज रखा होता तो उसका क्या बिगड़ जाता ! उसे सचमुच ही अपनी कन्या का स्वयंवर करना था या इन पराक्रमी वीरों का क्रूर उपहास ? उसका शिव-धनुष लेकर यह प्रण पूर्ण करने के लिए अब कैलास पर्वत पर से स्वयं शिव को ही दौड़कर आना चाहिए था।

मेरी पराजय पर द्रौपदी मन ही मन मुसकरा रही थी।

मैं लज्जित मन से सरोवर की सीढ़ियों से उतरा। हाथ का शिव धनुष क्षण-प्रतिक्षण मुझको अत्यधिक भारी लगने लगा। सबसे अधिक समय तक मैंने ही उसको हाथ में झेला था। मण्डप के लोगों पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, यह जानने के लिए मैंने चारों ओर दृष्टि डाली। यादवों का चुपचाप बैठा हुआ राजा श्रीकृष्ण मेरी ओर देखकर भेद-भरी हँसी हँस रहा था। अन्य लोगों ने सिर झुका लिये थे। कर्ण पागलों की तरह अब भी उस काले श्रीकृष्ण के पैरों की ओर ही देख रहा था। हँसते हुए श्रीकृष्ण पर मैंने जलती हुई दृष्टि डाली और आँखों ही आँखों में उससे कहा, “अरे केवल हँस क्या रहा है ? साहस हो तो उठ और यह धनुष उठाकर प्रण पूर्ण करके दिखा !” फिर मैंने वह धनुष उसी की ओर फेंक दिया। लेकिन मेरी भुजा की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण वह अधिक आगे तो न जाकर पैरों के नीचे चिकने पत्थर पर से कुछ इस भाँति फिसला कि एक गोल चक्कर लगाकर, घूमकर मेरे ही सीधे पैर के पंजों पर आ गिरा। वेदना की एक तीव्र लहर पैर से मस्तक तक दौड़ गयी। प्रण में पराजित होने से मन और धनुष के भार से शरीर—दोनों ही चीत्कार करने लगे। सहायता की अपेक्षा से मैंने सामने बैठे हुए जरासन्ध की ओर देखा। उसने नकारसूचक सिर झुका लिया। उस विकट अवस्था में भी मुझको उसपर तरस आया। धनुष के नीचे दबे हुए अपने पैर की पीड़ा से मुझको उतना दुख नहीं हुआ जितना कि जरासन्ध की उदासीनता देखकर हुआ। पैर धनुष के नीचे दबकर भले ही टूट जाये, लेकिन अब सहायता के लिए किसी की ओर नहीं देखना है, यह निश्चय कर मैंने अपनी आँखें कसकर बन्द कर लीं। थोड़ी देर पहले जरासन्ध को मुक्त करनेवाला दुर्योधन अब स्वयं शिव-धनुष के नीचे आ गया था, यह देखकर सभी लोग व्याकुल हो रहे होंगे, लेकिन आगे कोई नहीं आ रहा था। मेरा मन ऐसे तड़प रहा था जैसे कि चारों ओर से लाल चींटियों द्वारा डँसा जाता हुआ कोई घायल सर्प तड़पता हो।

परन्तु अचानक मण्डप में कानाफूसी की आवाज़ कुछ अधिक तीव्र हो गयी। खण्ड-खण्ड शब्द एक के बाद एक मेरे कान से टकराने लगे, “कर्ण !....कवच कुण्डल !....लक्ष्यभेद !....सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर ! साक्षात् धनुर्धर !” सिर उठाकर मैंने कर्ण के आसन की ओर देखा। वह आसन से उठकर खड़ा हो गया था। उसके कानों के कुण्डल तप्त लाल हो गये थे लेकिन खड़ा होकर भी वह सामने श्रीकृष्ण के पैर के सीधे अँगूठे की ओर ही अब भी देख रहा था। मेरी इच्छा हुई कि चिल्लाकर कह दूँ, “कर्ण, सदा गरुड़ की तरह आकाश

में उड़ानें भरनेवाली तुम्हारी आँखें आज इस काले कृष्ण के पैरों पर ही क्यों लगी हुई हैं ?" लेकिन इतने में ही श्रीकृष्ण ने दाहिने पैर का अंगूठा धीरे से थोड़ा ऊपर किया। एक मोहक मधुर मुसकान डालता हुआ कर्ण आसन के पास से झट मुड़ा और जल्दी-जल्दी पैर रखता हुआ मेरी ओर आने लगा। उसकी लम्बी देहयष्टि इतनी प्रभावशाली लग रही थी कि मानो खदिर का विशाल ऊँचा वृक्ष ही चला आ रहा हो। उसके प्रत्येक पदक्षेप के साथ उसके कान के कुण्डल लय में झूल रहे थे। उसकी आत्मविश्वास से पूर्ण तथा सुन्दर चाल पर सभी प्रेक्षक इतने मुग्ध हो गये कि उसके धनुष को हाथ लगाने से पहले ही सबने प्रचण्ड तालियों से उसका स्वागत किया। मुझको यह भान नहीं रहा कि मेरा पैर धनुष के नीचे दबा हुआ है। हस्तिनापुर के अखाड़े में मुझे मिला हुआ श्रेष्ठ हीरा दशों दिशाओं में तेज की दीप्तिमान् किरणें फेंकता हुआ आ रहा था।

छिः ! मैं भी कितना स्वार्थी था ! इस प्रकार कर्ण का उपयोग कर मैं पांचाली को अपनी अर्धांगिनी बनानेवाला था ! कितनी बड़ी अरसिकता होती यह ! पांचाली-जैसी सुगन्धमयी तो कर्ण-जैसे सुवर्णपुष्प को ही शोभा दे सकती थी ! कर्ण और पांचाली की जोड़ी तो ऐसी लगती की साक्षात् उमा-शंकर भी लज्जित हो जाते ! मैंने अपना विचार बदल दिया। अब क्षण-भर बाद ही कर्ण मत्स्य-भेद करेगा। उसके मत्स्य-भेद करने पर द्रौपदी को अंगदेश की महारानी कहकर जयघोष करना है और यह घोषणा कर देनी है कि चम्पानगरी अंगदेश की राजधानी है। इतनी ही घोषणा करके चुप होना नहीं है, बल्कि कर्ण कुरुओं का सेनापति है, यह कहकर उसको यथोचित गौरव भी प्रदान करना है। हस्तिनापुर को लौटने पर यह बात महाराज को अच्छी तरह समझाकर तदनुसार सेनापति-पद की विधि भी पूरी करनी है। हस्तिनापुर में राजकीय हाथी पर उन दोनों का जुलूस निकालना है। मैंने वहीं मन ही मन निश्चय कर डाला ।

क्षण भर में ही वह मेरे पास आ गया। उत्तरीय का लटकता हुआ छोर कमर के पास अधरीय में खोंसा। केवल एक बार ही उसने मेरी ओर देखा। बिना कुछ बोले उसकी नीली, विशाल, तेजस्वी आँखें मुझसे कह रही थीं, “राजन्, घबरा गये क्या ? तुम्हारा छुटकारा करने के लिए समर्थ कर्ण के होते हुए तुमने आशा से जरासन्ध की ओर क्यों देखा ?”

बड़ी सरलता से उसने एक ही हाथ से वह भारी शिव-धनुष ऊपर उठा लिया और कोई कुछ समझ पाये, उससे पहले ही वह धनुष उसने क्षण-भर में आकाश में फेंक दिया और फिर एक ही हाथ पर उसको अचूक झेल लिया, वैसे ही जैसे कोई छोटा बालक किसी खिलौने को ऊपर उछालकर झेल देता है। मेरा पैर और मन दोनों ही मुक्त हो गये। मण्डप अविरत तालियों से गूँज उठा। मुझको ऐसा लगा जैसे कर्ण का अर्घ्यदान स्वीकार करनेवाली गंगा की जल-लहरें ही सम्मुख थिरक रही हों।

विद्युत्गति से वह सरोवर के किनारे गया। वहाँ रखे हुए तरकश में से सर्र से उसने एक बाण खींच लिया। यह वही सूचीबाण था जिससे वह सदैव सूक्ष्म लक्ष्य का अचूक भेद करता था। प्रत्यंचा खींचकर सूचीबाण चढ़ाकर उसने पानी में झाँककर देखा। घरघर घूमनेवाले मत्स्य-यन्त्र की मछली की आँख पानी में कहाँ प्रतिबिम्बित हो रही है, यह ढूँढ़ने के लिए उसकी आँखें घूमने लगीं। उसका भव्य वीरासन सभी प्रेक्षकों को मन्त्रमुग्ध कर रहा था। पानी में झाँकनेवाली उसकी पुष्ट गरदन पर मोहक वलियाँ पड़ गयी थीं। हरिण पर छलाँग लगाने से पहले सिंह जैसा पैतरा लेता है, ठीक वैसा ही अचूक पैतरा उसने ले रखा था। सभी लोगों की दृष्टि उसके सूचीबाण के अग्रभाग पर लगी हुई थी। द्रुपदकन्या पांचाली का जीवन उस बाण की नोक पर से यात्रा करता हुआ कर्ण के चरणों पर गिरनेवाला था। सबने कौतूहल से, उत्सुकता से और कर्ण के प्रति निश्छल आदर से साँस रोक ली थी। वही एकमात्र दिव्य क्षण था। सभी पांचालों का और कुरुओं का भविष्य उस मत्स्ययन्त्र की मछली के साथ उसी समय निश्चित होना था। पांचाली को प्राप्त कर कर्ण का जीवन प्रकाशवान् होनेवाला था। छिः ! पांचाली का जीवन ही कर्ण के प्रकाशमय सहवास में प्रफुल्लित होनेवाला था। वही एकमात्र क्षण सबके भविष्य का नियामक क्षण बननेवाला था। मेरे, कुरुओं के, आर्यावर्त के और सूर्यशिष्य कर्ण के।

मत्स्ययन्त्र की घरघर फिरनेवाली मछली, उसकी आँखों का प्रतिबिम्ब और सूचीबाण की नोक-इनकी संगति उसने बैठायी और लक्ष्य-भेद के लिए प्रत्यंचा को कानों के कुण्डलों तक खींचा। उसके साथ ही सबकी उत्सुकता भी खिंच गयी। बाण छूटने ही वाला था कि इतने में ही मण्डप की उत्सुकतापूर्ण शान्ति को विदीर्ण करनेवाला एक सशक्त स्वर पत्थर के चबूतरे पर से उभरकर सबके कान में लिप्तबाण की तरह घुस गया।

"ठहरिए !"

कौन बोल रहा है—पहले तो यही किसी की समझ में नहीं आया। सभी लोग पत्थर के चबूतरे की ओर देखने लगे। शुभ्र कमलों की वरमाला कुछ हिली। सबके हृदय धक्-धक् करने लगे। स्वयं द्रौपदी बोल रही थी। हाथों में लगी कमलों की वरमाला ऊँची उठाकर, कण्ठ की सुकोमल नसों को फुलाकर।

वह बोली, "ठहरिए ! आप मत्स्य-भेद नहीं कर सकते !"

आश्चर्यमय कानाफूसी मण्डप को घेरने लगी।

"क्यों नहीं कर सकता ?" तत्क्षण अपनी पुष्ट ग्रीवा ऊपर उठाकर अंगराज कर्ण ने आश्चर्य से पूछा।

"आप क्षत्रिय नहीं हैं। किसी सारथी की पत्नी या पुत्रवधू बनना मैं स्वीकार नहीं करूँगी। मैं एक क्षत्रिय-कन्या हूँ, शूद्र सारथी-कन्या नहीं।"

जिस भुजा से कर्ण ने धनुष थाम रखा था, वह भुजा सन्ताप से थर-थर काँपने लगी। तनी हुई प्रत्यंचा प्रकम्पित होने लगी। उसके हाथ में लगे शिव-धनुष से मत्स्य के नेत्रभेद के लिए लगाया हुआ बाण टेढ़ा मेढ़ा होता हुआ किसी तरह छूट गया। वह सीधा श्रीकृष्ण के आसन की दिशा में दौड़ा और नीचे उतरकर सप से उसके दाहिने पैर के अंगूठे में घुस गया। अक्रूर, बलराम, उद्धव आदि सभी उसकी ओर दौड़े; परन्तु बिना कुछ कहे हाथ के संकेत से ही श्रीकृष्ण ने सबको अपने-अपने आसन ग्रहण करने को कहा। अपना पैर तिल-भर भी न हिलाते हुए नीचे झुककर उसने वह बाण सहज ही अंगूठे से खींच निकाला। फिर रक्त को पीताम्बर से हौले से पोंछ दिया। एकदम निर्विकार भाव से।

उस रक्त को देखकर मुझको बड़ा सन्तोष हुआ।

"क्षुद्र ! सूतपुत्र !" धीरे से बुदबुदाते हुए हृदय विदीर्ण करनेवाली विषमता से अपना मुख मोड़कर कर्ण ने भयंकर अट्टहास किया। कैसा था वह हास्य ? वह केवल हास्य नहीं था। आक्रोश स्त्रियों का स्वभावधर्म है; कर्ण वैसा आक्रोश नहीं कर सकता था। इसीलिए वह हँसा था, परन्तु उसका हास्य आक्रोश से भी अधिक हृदय-विदारक था। उसके तेजस्वी कुण्डल क्षण में निस्तेज होकर तथा दूसरे ही क्षण रक्तवर्ण प्रकाश फैलाकर उसके स्वाभिमानी मन की अन्तरंग भावनाओं को स्पष्टतः प्रकट करने लगे। बाणों ने छत में जो छेद कर दिये थे, उनसे एकटक आकाश-पटल को जलानेवाले तपते सूर्य की ओर पागलों की तरह देखता हुआ कुछ देर तक वह उस तालाब के पाषाणनिर्मित तट पर पाषाणमूर्ति की तरह ज्यों का त्यों खड़ा रहा। दूसरे ही क्षण हाथ में लगे कम्पित शिव-धनुष को क्रोध से नीचे कालीन पर फेंक दिया। फिर, जैसे वायु भड़का हुआ दावानल वन में लपलप फैलता जाता है, वैसे ही जल्दी-जल्दी चलकर वह अपने आसन की ओर आया और सिर झुकाकर बैठ गया। उसके चलते समय जिस-जिस स्थान पर उसके पैर पड़े थे, उन स्थानों पर कालीन का वस्त्र जलकर काला हो गया था। पौर्णमासी को जैसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठाता है, वैसे ही भावनाओं का प्रचण्ड झंझावात कर्ण के हृदय को किस प्रकार विक्षुब्ध कर रहा होगा—इसका ठीक-ठीक अनुमान मैं उसके साहचर्य में रहकर भी नहीं लगा पाया। उसके पार्श्व में ही आसन पर बैठा होने के कारण उसकी नासिका से बाहर निकलनेवाले उष्ण निःश्वासों को मेरा शरीर अच्छी तरह अनुभव कर रहा था। सभी लोग चुप थे।

इस अघटित घटना से सभी को विस्मय का प्रचण्ड आघात लगा था। वधू के रूप में सामने खड़ी हुई द्रौपदी, स्वयं सभी नीति-नियम ताक पर रखकर तथा झुका हुआ सिर ऊँचा उठाकर कोई भयंकर बात कहेगी, यह किसी ने सोचा भी नहीं था। बोलनेवाली द्रौपदी थी और जिससे कहा गया था वह कर्ण था—इसलिए उन दोनों के बीच बोलने का साहस किसी को नहीं हो पा रहा था।

चारों ओर श्मशान की शान्ति छायी हुई थी। द्रौपदी ने अपना सिर फिर झुका लिया। स्वयंवर प्रारम्भ हुए दो घटिकाएँ बीत चुकी थीं। सन्ध्या-समय होने के कारण आकाश का सूर्य अब ढलता जा रहा था। उस भव्य मण्डप में मत्स्य-यन्त्र की घरघर ध्वनि के अतिरिक्त और कोई ध्वनि सुनाई नहीं दे रही थी। अब इस मत्स्य-यन्त्र को इसी तरह घरघर फिरना था। उसकी अविरत घरघर से काल भविष्य में कौन-सा भयानक संगीत रचनेवाला था, यह या तो मत्स्य-यन्त्र को ज्ञात था या फिर उस काल को ही।

जिसने जीवन-भर मेरा साथ देने की प्रतिज्ञा की थी, अपने उस मित्र अंगराज की ओर मैंने सहानुभूति से देखा। जीवन की प्रतियोगिता में वह आज सचमुच ही पराजित हो गया था। उसकी देह के वस्त्र स्वेद से भीग गये थे। अपमान की तीव्र और असह्य प्रतीति से उसका शरीर कदाचित् यज्ञकुण्ड की तरह दहक रहा था। लेकिन उसने कहा कुछ नहीं। कहता भी क्या ? मेरी इच्छा होती थी कि उठू और चिल्लाकर सबसे कह दूँ कि, “कर्ण हीन नहीं है; क्षुद्र नहीं है। उसकी इस प्रकार अवमानना मत करो। वह अंगदेश का अभिषिक्त राजा है। स्वतन्त्र है। उसके कानों में प्रकाशवान् कुण्डल हैं। देह पर अभेद्य कवच है। वह श्रेष्ठ है !” मैं उठने का प्रयत्न कर ही रहा था कि इतने में ही सामान्य दर्शकों के आसन से उठा हुआ एक दाढ़ी जटाधारी ब्राह्मण सबको दूर हटाता आगे आता हुआ मुझको दिखाई दिया।

मत्स्य-भेद करने के लिए कोई आगे नहीं आ रहा है, यह देखकर द्रुपदराज भी कठोर शब्दों में अपनी उद्दिग्नता प्रकट करने लगे। उनके शब्द जलते अंगारे जैसे थे।

“मेरी कन्या का पाणि-ग्रहण करने की पात्रता आज आर्यावर्त के एक भी क्षत्रिय राजा में नहीं है, क्या मैं यही समझ लूँ ? एक तुच्छ लकड़ी की मछली ने आज निखिल आर्यावर्त को जीत लिया है, यह समझकर यज्ञदेव से मिली हुई अपनी इस सुगन्धित कन्या को मैं फिर यज्ञदेव के धधकते हुए कुण्ड में विवश होकर धकेल दूँ क्या ? इस राष्ट्र का क्षात्रतेज आज क्या नष्टप्राय हो गया है ?”

‘नहीं !’ वह दाढ़ी-जटाधारी ब्राह्मण युवक मध्यभाग में आता हुआ अभिमान से बोला। उसने अपनी देह पर भगवा-अंगोछा डाल रखा था। सारे शरीर पर उसने भस्म पोत रखी थी, इसलिए उसका वर्ण कैसा था, यह शायद कोई नहीं बता पाता; परन्तु उसकी तीर-जैसी सीधी तेज़ चाल मुझको चिरपरिचित-सी लगी। वह चाल...वह चाल अर्जुन की चाल से बहुत मिलती-जुलती थी। कहीं वह अर्जुन ही तो नहीं था ? मेरा शंकाकुल मन क्षण-भर के लिए काँप उठा। लेकिन यह असम्भव बात थी। अर्जुन कभी का मृत्युग्रस्त हो चुका था। उसका पिशाच भी स्वयंवर-मण्डप में नहीं आ सकता था। यदि आ भी जाता तो शिव-धनुष को हाथ लगाने का साहस वह कभी-नहीं कर पाता। मैंने यह सुन रखा था कि पिशाच शिव से डरते हैं।

उस ब्राह्मणकुमार ने शिव-धनुष कर्ण की ही तरह एक हाथ से उठा लिया। इस घटना से क्षण-भर पहले कर्ण का... उस तेजस्वी वीर का जो अपमान हुआ था, वह अब किसी के भी ध्यान में नहीं रहा। सबने पुनः तालियों की वर्षा कर उस नये प्रतिद्वन्द्वी को प्रोत्साहन दिया। उस ब्राह्मणकुमार ने मुख मोड़कर श्रीकृष्ण की ओर दृष्टि डाली। मुझको उन सभी पर आक्रोश आया। पहले उसने जब 'बैठिए' कहा था, तभी सब राजा आसनों पर बैठे थे। कर्ण तो उसके पैरों की ओर देखता हुआ बहुत देर तक चुप बैठा रहा था और अब यह ब्राह्मणकुमार भी उस ओर देख रहा था। क्यों ? आखिर ये सब कृष्ण को क्या समझते हैं ? देवराज इन्द्र या सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव ? मैंने अपना आसन उद्वेगवश एकदम विपरीत दिशा की ओर मोड़ लिया। उस समय मेरी इच्छा हुई कि श्रीकृष्ण, वह ब्राह्मणकुमार और उस मण्डप में मूँ की तरह तालियाँ पीटनेवाले प्रेक्षक-इनमें से कोई भी मेरी आँखों के सम्मुख न रहे। आसन फिराते ही मेरे पीछे बैठा हुआ शिशुपाल मेरे सम्मुख आ गया। वह आश्चर्य से मेरी ओर देख रहा था कि इतने में ही प्रचण्ड कोलाहल मच उठा। "वह देखो, उस ब्राह्मणकुमार ने मत्स्य-भेद कर दिया। विगत दो घड़ियों से घटनाओं के उलझे धागे बुननेवाला वह मत्स्य-यन्त्र अब शान्त हो गया है। धन्य है वह ब्राह्मणकुमार ! कौन है वह ? कहाँ का है ?"

मैंने तत्क्षण मुड़कर देखा, सरोवर के किनारे, भगवा वस्त्र पहने हुए वह तरुण छाती फैलाये खड़ा था। उसने मछली की आँख अचूक भेद दी थी। कौन था वह ? अब चुप क्यों था ? मैं मनरूपी घोड़े पर प्रश्नों के कशाघात करने लगा।

पाषाण के चबूतरे से उतरती हुई, साक्षात् आकाश-कन्या प्रतीत होनेवाली द्रौपदी सिर झुकाये सलज्जभाव से उस ब्राह्मणकुमार के पास आयी और क्षण भर के लिए उसकी ओर देखकर उसने हाथों की धवल कमलों की वरमाला एकदम उस ब्राह्मणकुमार के गले में डाल दी। ठीक उसी समय सूर्य अस्तंगत हुआ। सन्ध्या की भयानक धूमिल छाया चारों ओर फैल गयी। स्वयंवर हो चुका था। सब लौटने के लिए उठ रहे थे। परन्तु मेरे पीछे से शिशुपाल दोनों हाथ उठाकर चिल्लाया, "इस स्वयंवर को हम मान्यता नहीं देते। सभी क्षत्रियों की उपस्थिति में सन्ध्या करनेवाला एक ब्राह्मण, एक। क्षत्रिय-कन्या का वरण कर ले जाये, यह हम सभी का घोर अपमान है। मैं यह कदापि सहन नहीं करूँगा, भले ही प्राण चले जायें। पकड़ो इस दाढ़ीवाले को।"

प्रण में पराजित सभी राजाओं ने उसकी विस्फोटक गर्जना का समर्थन किया। सभी ने अपने-अपने शस्त्र सँभाल लिये। मैंने भी गदा उठा ली। स्वयंवर का मण्डप दूसरे ही क्षण सत्यासत्य के समरांगण में बदल गया। सभी व्यक्तियों ने उस ब्राह्मणकुमार पर आक्रमण कर दिया। वह हाथ में लिये हुए शिव-धनुष चढ़ाकर असंख्य बाण छोड़ने लगा। सभी व्यक्ति उसकी ओर आगे बढ़ने लगे। इतने में ही अचानक ऐसी घोर ध्वनि हुई मानो झंझावात आ गया हो। भगवा-अंगोछा पहने हुए एक अन्य ब्राह्मणकुमार—साक्षात् पर्वत-जैसा—दाँत

किटकिटाता हुआ सब पर टूट पड़ा। उसको देखते ही मुझको ऐसा लगने लगा कि मेरी हृदयगति कहीं रुक न जाये। जिसके साथ छह-छह घण्टों तक मैं गदा खेला था, वही भीम वस्त्र बदलकर और दाढ़ी बढ़ाकर वहाँ आ गया था। वह कैसे आ गया ? वह जीवित कैसे हुआ ? पुरोचन के लाक्षागृह ने फिर किसे जलाया ? सन और बल्वज की घास जलाया या युवराज दुर्योधन की आशा-आकांक्षाओं को ? सदा के अभ्यास के अनुसार मैंने अपना हाथ बायीं भुजा में बँधी हुई चाँदी की डिबिया पर फिराने के लिए उठाया, लेकिन उसी समय न जाने कहाँ से एक बस्तिकबाण हूँहूँ करता हुआ आया और ठीक मेरी भुजा में घुस गया। उसके फल से डिबिया के बन्धन टूट गिरे। वह डिबिया छिटककर कहीं नीचे गिर पड़ी। फिर न जाने किसके-किसके पैर उसपर पड़े होंगे। भुजा में लगा बाण निकालने के लिए मैंने उसका पुच्छभाग हाथ से खींचा। मुझको इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि वह बस्तिकबाण था। उसका फल मेरी भुजा में ज्यों का त्यों गड़ा रहा। टूटा हुआ पुच्छ हाथ में आ गया।

अपमान के तीव्र आघात से मैं कदाचित् भ्रान्त हो गया हूँ, इसलिए यह विचित्र दृश्य काल्पनिक हो, यह सोचकर मैंने स्वयं को झकझोरा और उस दूसरे ब्राह्मणकुमार की ओर देखा। हाँ, वह भीम ही था। उसकी आँखें आग बरसा रही थीं। जैसे कोई किसान दँवरी (दाँय) चलाते समय फ़सलों के पौधों को फेंकता जाता है, वैसे ही अपनी गदा के भारी प्रहार से वह सबों को धराशायी कर रहा था। केवल शल्य ही किसी तरह उसके सामने टिका हुआ था। मद्य पिये हुए हाथी की तरह वह अपनी गदा की मण्डल-कक्षा में आनेवाले प्रत्येक वीर को भीषण आघात लगा रहा था। उसके प्रहारों से घायल होकर वीर छत की ओर मुँह ऊपर कर कराहते हुए नीचे गिर रहे थे। झंझावात की तरह प्रतीत होनेवाला वह महाकाय स्वयं को आवेश में लाने के लिए बीच-बीच में मत्त वृषभ की तरह चिंघाड़ रहा था। उसकी गर्जना से छत पर टंगे हुए मत्स्य-यन्त्र की लकड़ी की शान्त मछली भी थरथरा रही थी। निस्सन्देह वह भीम ही था। लेकिन वह कहाँ से आ गया ? कैसे आ गया ? आकाश से या पाताल से ? अपनी भारी गदा से उसने साक्षात् यम को भी ठोक-पीट दिया था क्या ? उसके नृत्य से स्वयंवर का मण्डप भी लड़खड़ा रहा था। यदि वह उसी तरह घड़ी दो घड़ी चिल्लाता हुआ नाचता रहा तो निश्चय ही मण्डप चारों ओर से भीतर की ओर गिर पड़ेगा। मैं विक्षिप्त नहीं हुआ था, बस यही कमी रह गयी थी। भीम जीवित कैसे था ? भय से थरता हुआ मेरा मन क्रन्दन कर रहा था। रथ के चक्र के नीचे दबा हुआ पैर जैसे सुन्न हो जाता है, वैसे ही मन सुन्न हो गया था। वह तो मानो सभी को मारने के लिए अधीर हो उठा था। वह भीम था या उसका भड़का हुआ पिशाच ? सत्य क्या है और स्वप्न क्या है ? -यही समझ में नहीं आ रहा था। वारणावत की राख से उसने पुनः यह सुन्दर आकार कैसे प्राप्त कर लिया ? भेदिया बनकर पुरोचन ने धोखा दिया था या मेरा भाग्य ही प्रतिकूल था ?

जैसे-तैसे स्वयं को सँभालकर मैं उस कोलाहल से बाहर जाने लगा। भीम मेरी ओर गुर्गुरकर देखता हुआ चिल्ला रहा था, लेकिन उसके आस-पास शल्य, सुदामन, शिशुपाल, जरासन्ध, सुषेण आदि का घेरा था। मत्स्य-भेद करनेवाला अर्जुन सरोवर के किनारे द्रौपदी के पास किसी को भी फटकने नहीं दे रहा था। वर्षाऋतु में जैसे मेघों से जल की धाराएँ गिरती हैं, वैसे ही शिव-धनुष से वह निरन्तर बाण-वर्षा कर रहा था। उसके असंख्य बाणों से ऊपर की छत बहुत पहले ही छिद्रमय हो गयी थी। क्षण प्रतिक्षण गहरे होते हुए अन्धकार में अव्यवस्था रोकने के विचार से कुछ सेवक प्रचण्ड ज्वालाओंवाले मशाल ले आये थे। लेकिन उस प्रकाश का उपयोग करके सभी लोग भीमार्जुन पर और अधिक वेग से आक्रमण कर रहे थे। अव्यवस्था और उपद्रव बढ़ता ही जा रहा था। मेरा मस्तक तो एकदम सुन्न हो गया।

बड़ी कठिनाई से मैं उस कोलाहल से बाहर आया। सभी राजा उठकर युद्ध करने लग गये थे, इसलिए जहाँ आसन रखा हुआ था, वह भाग अब एकदम रिक्त हो गया था। युवराज धृष्टद्युम्न और उसके पिता दोनों सबसे शान्त होने की प्रार्थना कर रहे थे।

उनकी ध्वनि दूर से सुनाई दे रही थी। आसनों की विशाल पंक्ति में दूर एक आसन पर बैठा हुआ कर्ण मुझको दिखाई दिया। उसने दोनों हथेलियों से अपना विशाल मस्तक दबा रखा था तथा उसका सिर झुका था। द्रौपदी के वाग्बाणों से घायल वह वीर व्याकुल होकर चिन्तामन हो गया था। दौड़ता हुआ मैं उसके पास पहुँचा। उसकी विशाल पीठ पर हाथ रखकर उसको ज़ोर से झकझोरता हुआ मैं चिल्लाया, “कर्ण, अर्जुन जीवित है। उसी ने स्वयंवर में द्रौपदी को जीता है। मण्डप में वह किसी को भी पास नहीं फटकने दे रहा। घनघोर संग्राम छिड़ गया है। सत्य क्या है, यही समझ में नहीं आ रहा है।”

शरीर पर सूखी लकड़ी का टुकड़ा मात्र गिरने से जैसे कोई चपल सिंह गर्जना करता हुआ उछल पड़ता है, वैसे ही वह तत्क्षण उठ खड़ा हुआ, “अर्जुन ! अर्जुन ! अर्जुन ! तो आज उसे अच्छी तरह दिखा दूँगा कि इच्छा करने पर एक सूतपुत्र भी उसके सामने ही एक राजकन्या को उठा ले जा सकता है।”

विद्युत्-वेग से वह मुड़ा। उसका मुख तमतमा गया। कुण्डल तप्त हो गये। मुझको एक ओर हटाकर वह मण्डप के बीच बने सरोवर की ओर लपका। समीप खड़े भोजराज के हाथ से उसने उसका धनुष छीन लिया। अर्जुन के पास पहुँचते ही वह सबको लक्ष्य कर चिल्लाया, “दूर हट जाओ।” उसके शब्दों में इतनी तीव्रता थी कि क्षण-भर मेघ गर्जना का आभास हुआ। सबने हाथ रोक लिये। “अर्जुन यदि सच्चा क्षत्रिय है तो अपने हाथ में लगे शिव-धनुष से इस सूतपुत्र कर्ण का शिरच्छेद करके पांचाली की इस सौन्दर्योन्मत्त राजकन्या को ले जाये। नहीं तो उसको आज इसी क्षण मैं यह दिखा दूँगा कि जिस अर्जुन को उसने क्षत्रिय समझकर चुना है, वह इस कर्ण के बाण का एक दुर्बल भक्ष्यमात्र है।” वह आवेश से कह गया। अर्जुन ने भी शिव-धनुष को सँभाल लिया। उन दोनों में युद्ध होगा—

यह सोचकर भय से द्रौपदी अर्जुन से चिपट गयी। उसको करके अर्जुन ने भी बाण चढ़ा लिया। परन्तु बाण चलते ही कर्ण ने क्षण भर में उसको काट दिया। फिर दोनों ही एक-दूसरे पर अचूक बाणों की वर्षा करने लगे। मशाल के धूमिल प्रकाश में वे एक-दूसरे पर अचूक बाण फेंकने का प्रयत्न कर रहे थे; परन्तु बाण ऊपर ही ऊपर काटे जा रहे थे। दोनों एक-दूसरे पर निरन्तर घड़ी-भर तक आक्रमण करते रहे। लेकिन निर्णय नहीं हो पा रहा था।

भीम और शल्य आपस में अब भी लड़ रहे थे। वह स्वयंवर का मण्डप ध्वस्त समरांगण में बदल गया था। मध्यभाग का सरोवर बाणों से खचाखच भर गया। पानी ने तट का बन्धन तोड़ दिया। छत छिन्न-भिन्न हो गयी। द्रौपदी ने अर्जुन के गले में जो वरमाला डाली थी, वह कर्ण के बाणों से कटकर पैरों के नीचे गिर गयी। युद्ध का निर्णय नहीं हो पा रहा था। दोनों ही प्राण-पण से प्रहार कर रहे थे। बाणों के टकराने से चिनगारियाँ उत्पन्न हो रही थीं जो आँखों में चकाचौंध भर रही थीं।

अन्त में कोई कुछ समझ पाये उसके पहले ही युद्ध रुक गया। सबने दोनों की ओर आश्चर्य से देखा। बाणों के ढेर पर हाथ उठाये हुए दोनों के बीच श्रीकृष्ण खड़ा था। दोनों में इतना भयंकर युद्ध हुआ था, लेकिन फिर भी वह अपने शान्त और धीमे स्वर में हँसता हुआ बोला, 'कर्ण, अर्जुन, ठहरो ! अरे इतना समय तो पांचालों को दो कि तुम लोगों के युद्ध के लिए वे बाण तैयार करा सकें ! शस्त्रागार के बाण अब समाप्त हो गये हैं। और युद्धशास्त्र के नियम के अनुसार एक बार प्रयुक्त बाण को फिर कोई भी योद्धा उपयोग में नहीं ला सकता।' वह फिर एक बार हँसा और पीताम्बर पर पड़े हुए नीले उत्तरीय को संवारता हुआ पांचालों के राजभवन से एकदम चला गया।

कर्ण और अर्जुन ने चौंककर अपने अपने तरकसों में हाथ डाला। उनके हाथ में एक भी बाण नहीं आया। विवश होकर अर्जुन ने हाथ में लगा शिव-धनुष नीचे फेंक दिया। द्रौपदी की वरमाला उस धनुष के नीचे आ गयी। उसके धवल कमल-पुष्प कुचलकर चूर चूर हो गये थे। कर्ण भी पीछे लौटा। मैंने स्वेद से तर उसके कन्धे पर हाथ रखा। मेरी हथेली उसके शरीर के स्पर्श मात्र से जली जा रही थी; पर मुझे उसकी चिन्ता नहीं थी। अर्जुन का सामना करनेवाला एक वीर तो अपने पास है ही, यह प्रतीति ही मुझको आनन्दित कर रही थी। धैर्य प्रदान कर रही थी। मैंने उससे कहा, "कर्ण, अब क्षण भर भी हमें इस नगर में नहीं रुकना है। तुम्हारा अपमान दुर्योधन का अपमान है।"

"अंगराज, इस घनघोर युद्ध में एक बड़ी ही अप्रिय घटना हो गयी है। तुम्हारी सहायता को दौड़ा हुआ तुम्हारा पुत्र..." अश्वत्थामा कुछ कहते-कहते झिझका। उसका सिर झुका हुआ था। आँखें भरी हुई थीं।

"कहाँ है सुदामन ? अश्वत्थामन्, तुम चुप क्यों हो गये ?" उसने सिर को झटककर अश्वत्थामा को झकझोरते हुए पूछा। उसके कुंचित स्वर्णिम केशों में भरे हुए स्वेद विन्दु

उछलकर अश्वत्थामा के सिर पर बँधे हुए वस्त्र पर गिर पड़े। कर्ण के नेत्र अंगारे की तरह धधकने लगे थे और मण्डप में अपने पुत्र को ढूँढ़ रहे थे।

"तुम्हारा वह पुत्र चिरविश्रान्ति ले रहा है अंगराज !" बाणों के ढेर में पड़े हुए सुदामन के शव की ओर उँगली उठाते हुए अश्वत्थामा भर्राये कण्ठ से बोला !

"सुदामन SSS !" सिर उठाकर, पुकार का उत्तर न देनेवाले अपने पुत्र को जोर से पुकारता हुआ, सबको वहीं छोड़कर, वह अपने पुत्र के शव की ओर दौड़ा। उसके पैरों के पास ही द्रौपदी के हाथ में लगी वरमाला पड़ी हुई थी। उसने क्रुद्ध होकर उसे पैर से ठोकर मारी।" दूसरे ही क्षण घुटने टेककर अपने प्रियपुत्र का निष्प्राण हाथ अपने हाथ में लेकर, धाण भर पहले सिंह की तरह गरजते हुए युद्ध करनेवाला राधेय, पुत्र-शोक से सिसकने लगा। कन्धे पर हाथ रखकर अश्वत्थामा जैसे-तैसे उसको मण्डप से बाहर ले आया। भिन्न भिन्न प्रकार की तीन भावनाओं के प्रहार उसके मन पर एक ही समय हुए थे। अपमान, विजय वंचना और पुत्र वियोग ।

मेरा संकेत पाते ही हमारे सेवकों ने सुदामन की मृत देह को उठा लिया। कर्णपुत्र ने हस्तिनापुर में जन्म लिया था और पांचालों के राज्य में उसने अपने पिता की सहायता के लिए दौड़ते हुए अन्तिम साँस ली थी।

नगर छोड़ते समय गंगा के तट पर उसकी पार्थिव देह का अग्निसंस्कार करते समय जो नीरव शान्ति सर्वत्र फैली हुई थी, वह मैं जीवन में कभी नहीं भूलूंगा। गंगा की कलकल करती हुई लहरें अवश्य कर्ण से बार बार कह रही थीं, "कर्ण, तेरा पुत्र चला गया है। पुत्र वियोग कैसा होता है, यह उस अर्जुन को उसके पुत्र वध द्वारा दिखा दे।" अत्यन्त धैर्यपूर्वक अंगराज ने हाथ में लिये मशाल से चिता में अग्नि दी। उस चिता की आकाश को छूनेवाली लपटों का विद्रूप और भयानक प्रतिबिम्ब गंगा की चंचल लहरों पर लम्बे आकार में पड़ रहा था। सुदामन को अग्नि को अर्पित कर खिन्न मन से हमने काम्पिल्य नगर छोड़ दिया।

तेरह

उस काली रात में ही हम हस्तिनापुर लौट आये। लेकिन मेरा मन किसी बात में नहीं लग रहा था। दूध का चषक उठाया, कोई सुगन्ध पुष्प हाथ में लिया अथवा कुरुओं के प्रसिद्ध राजदण्ड की ओर देखा तो प्रत्येक वस्तु में मुझको केवल भीम ही दिखाई पड़ा। ऐसा लगता था जैसे दाँत किटकिटाता हुआ वह मुझ पर टूट पड़ रहा हो। प्रत्येक क्षण उसकी स्मृति की ज्वाला से मुझे दग्ध कर रहा था। मैं युवराज था, मेरे केवल एक ही शब्द पर सहस्र योद्धा हाथों में खड्ग ले-लेकर उस भीम पर आक्रमण कर सकते थे। दुःशासन, पितामह, गुरु

द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, वृषवर्मा तथा कुरुओं की विशाल सेना—यह सब मेरी सुरक्षा का ही सुदृढ़ आयोजन था। फिर भी मेरा मन भयाकुल हो गया था। कुछ भी क्यों न हो, फिर भी मनुष्य अन्य किसी के स्कन्धों पर अवलम्बित होकर कभी सुरक्षित हो ही नहीं सकता। प्रत्येक को सबसे पहले अपना मन निर्भय करना पड़ता है। मैं भीम को देखकर बिखरे हुए अपने मन के सभी धागों को एकत्रित करने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन वे बहुत अधिक उलझ चुके थे। मैं बार-बार स्वयं कह रहा था, “दुर्योधन, तू वीर है, भीम से इतना क्यों घबराता है? तू गदा-वीर है। समय आने पर सबको अलग कर, हाथ में गदा घुमाते हुए उस भीम पर टूट पड़ना। इस प्रकार मन का व्याकुल मत कर ।” अपने मन को समझाने का बार-बार प्रयत्न करता था, लेकिन फिर भी जैसे ग्रीष्म में मच्छर सतत आँखों के आगे चक्कर लगाता रहता है, वैसे ही उस भीम की मूर्ति मेरी आँखों के आगे ही खड़ी रहती। मन किसी के धैर्य बँधानेवाले शब्दों के लिए व्याकुल रहने लगा। मैं अनजाने ही अपने सेवक प्रभंजन को कर्ण के पास भेजने लगा। सेवक के पहुंचने पर वह तुरन्त ही आता और फिर मेरी दो-तीन घटिकाएँ कैसे बीत जाती, इसका पता भी न चलता। मुझे यही लगता कि उसके केवल साथ रहने से ही जीवन सहस्रगुना सामर्थ्यवान् हो जाता है। लेकिन मैंने उसके सामने उसकी स्तुति कभी नहीं की। मैं जानता था कि पुरोचन की तरह उसका जन्म भी केवल मेरे लिए ही था। और राजा को कभी किसी की स्तुति नहीं करनी चाहिए, यह पाठ मुझको आर्य कणक ने पढ़ाया था। कर्ण के साथ कभी-कभी अश्वत्थामा भी आने लगा। वह कभी-कभी इतनी आश्चर्यजनक बातें करता कि उनको सुनते हुए मन तल्लीन हो जाता। परन्तु उसके जाते ही मुझको उसका कथन कल्पनाओं की एक रमणीय क्रीड़ा मात्र ही लगता। द्रौपदी के स्वयंवर के बाद एक बार कर्ण के साथ वह मेरे पास आया। कर्ण यह कहने के लिए आया था, कि पन्द्रह दिन बाद होनेवाले नगरोत्सव में रथों की प्रतियोगिताएँ रखनी चाहिए। उसे कदाचित् घोड़े, रथ, अस्त्र, सूर्यराधना, धनुर्वेद और मल्लयुद्ध के अतिरिक्त इस जगत् में कुछ और भी है—यह ज्ञात नहीं था।

मैंने उसके प्रतियोगिता के प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया । सहज ही विनोद से मैंने उससे कहा, “कर्ण, संसार भी एक प्रतियोगिता ही है।”

“तो फिर वह हमको जीतनी ही चाहिए।” उतनी ही सहजता से कर्ण बोला।

“यह इतना सरल नहीं है।” अश्वत्थामा सहज स्फूर्त भाव से बीच में ही बोला।

“क्यों ?” मैंने पूछा।

“यह प्रतियोगिता जिस क्षेत्र में होती है उसकी लम्बाई-चौड़ाई का पता किसी को भी नहीं चलता।”

अश्वत्थामा सदैव कुछ न कुछ रहस्य की बात कहता -यह अब सब लोग जान गये थे । इसलिए मैंने पूछा, “ऐसा कौन-सा दिव्य क्षेत्र है इस जगत् में ?”

"है ! मन का क्षेत्र ! इस क्षेत्र में आकांक्षाओं के सुसज्जित रथ लेकर मानव सहस्रों वर्ष से इस प्रतियोगिता में भाग लेता चला आ रहा है। परन्तु कालरूपी निष्पक्ष पंच ने उसको इस प्रतियोगिता में कभी विजयी घोषित नहीं किया।" अश्वत्थामा की ध्वनि वंशी से भी अधिक मधुर थी।

"इसलिए इस प्रतियोगिता में भाग लेना क्या छोड़ देना चाहिए ?" उसके विचार से सहमत नहीं हो पा रहा था, इसलिए मैंने पूछा।

"कदापि नहीं। क्योंकि कर्म के अटल नियमों से प्रत्येक मनुष्य के प्राण बँधे हुए हैं। मन के अतिपुरातन गर्भगृह से आनेवाले शुभ और अशुभ सन्देशों का पालन करनेवाला एक आज्ञाकारी सेवक मात्र है मनुष्य का मन।"

"मन ! मन ! अश्वत्थामा, जिस मन की बात तुम कर रहे हो, उसके धागे आखिर कितने हैं ?" उसके रहस्यमय कथन का अर्थ पूरी तरह मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

"सुर्वण-मण्डित मुकुट के नीचे तुम्हारे सिर पर कितने केश हैं, क्या तुम यह ठीक-ठीक बता सकते हो ? मन के धागे भी उतने ही अगणित और उलझे हुए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जीवन ऐसे ही अद्भुत रम्य धागों का एक वस्त्र है। लेकिन यह बात भी एकदम उपयुक्त नहीं है।"

"सो कैसे ?" बीच में ही कर्ण ने उससे पूछा

"जीवन मन के असंख्य धागों से बुना हुआ केवल एक वस्त्र ही नहीं है, बल्कि ऐसे वस्त्र की एक न खुल सकनेवाली गाँठ है। और प्रत्येक को अपनी वह गाँठ अपने ही हाथों से अन्तरात्मा की आँखें खोलकर स्वयं ही खोलनी पड़ती है।"

"तो फिर संसार में सत्य क्या है ? जिसको तुम जीवन की गाँठ कहते हो—क्या वह गाँठ ही सत्य है ?" मैंने उसको यों ही छोड़ा।

"नहीं। सत्य वह है जो शाश्वत और नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर मुझको तो सत्य केवल एक ही लगता है—सूर्य की ये असंख्य किरणें। अनादिकाल से ये पृथ्वी को जीवनदान करती आ रही हैं। उनके दिव्य स्वरूप में क्या कभी परिवर्तन हुआ है ? सबको स्पर्श करने का अपना दिव्य गुणधर्म उन्होंने क्या कभी छोड़ा है ? इतना निर्दोष सत्य, राजन्, तुम मुझे अन्य कोई दिखा सकते हो क्या ?"

कुछ रुककर वह फिर बोला, "जीवन सूर्य से निःसृत होनेवाला एक दिव्य प्रकाशप्रवाह है। और जो व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जान गया, उसका जीवन प्रकाश के अतिरिक्त और क्या होगा ? इसीलिए मेरी बड़ी उत्कट इच्छा होती है कि यह कर्ण सदैव मेरे साथ ही रहे, क्योंकि वह सूर्य की अखण्ड आराधना करता आया है। उसकी प्रसन्न मुखमुद्रा की ओर देखो। क्या वह तुम्हें सूर्यबिम्ब-जैसी नहीं लग रही है?"

अश्वत्थामन्, तुम जो कुछ कह रहे हो, मैं उससे पूर्ण सहमत हूँ। लेकिन ठीक यही बात तुम्हारे पिता....गुरु द्रोण क्यों नहीं स्वीकार करते ?” मैंने कर्ण की ओर देखते हुए अश्वत्थामा से एक चुभता प्रश्न किया ।

मैं पुनः तुम्हें स्मरण करा रहा हूँ राजन्, कि जीवन मन के असंख्य धागों के वस्त्र की एक गाँठ है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी गाँठ स्वयं ही खोलनी पड़ती है। मेरी मुझको, तुम्हारी तुमको, कर्ण की कर्ण को, मेरे पिता की मेरे पिता को। यहाँ अन्य की सहायता का कोई उपयोग नहीं है।”

उसने मुझको पुनः निरुत्तर कर दिया। आखिर वह एक बुद्धिमान् आचार्य का पुत्र था न !

चौदह

मैं अश्वत्थामा के तत्त्वज्ञान की कड़ियाँ जीवन से मिलाने का प्रयत्न कर रहा था, लेकिन वे मिल ही नहीं पा रही थीं। उसका कहना था-‘जीवन मन के असंख्य धागों के वस्त्र की एक ऐसी गाँठ है, जो जिसकी है, उसी को स्वयं खोलनी पड़ती है।’ मेरा मन इस कथन की एक भी कल्पना को मानने को तैयार नहीं था। पहली बात तो यह कि मन वस्त्र की तरह होता है, यही मेरी समझ में नहीं आता था। मुझको तो वह शस्त्र की तरह लगता था-गदा की तरह। अपने मण्डल की कक्षा में गदा किसी को आने देती है क्या ? मानव का मन भी ऐसा ही होता है। प्रत्येक का जीवन-क्षेत्र भिन्न होता है। इस क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र में स्थित रहता है तथा अपने विचारों की गदा लेकर वह उसको अपने जीवन के चारों ओर गरगर फिराता रहता है। घेरे में आनेवाले किसी के सिर पर वह टकराती है, किसी का वक्ष फोड़ती है और कभी-कभी किसी को चिरविश्रान्ति भी दे देती है। परन्तु इन परिणामों का विचार कभी नहीं करना चाहिए । इस तरह विचार करते रहे तब तो कोई भी कार्य पूरा नहीं हो पायेगा।

अश्वत्थामा के विचारों को मैं भूल जाने का प्रयत्न करता, परन्तु फिर भी वे सतत मेरी स्मृति पर छाये रहते और तब मैं परेशान हो जाता। हारकर मैं झुंझला उठता और निर्णय देता—“अश्वत्थामा, तुम्हारे कथनानुसार जीवन यदि असंख्य धागों के वस्त्र की एक गाँठ है, तो मैं भी उसको स्वीकार करता हूँ,....परन्तु उस गाँठ को मैं खोलूँगा नहीं। उसको मैं और अधिक करौँगा। और उसमें उस राक्षस भीम के प्राणों को पकड़कर तबतक कसता जाऊँगा, जबतक उसके प्राण निकल न जायें।”

भीम को जीवन की गाँठ में पकड़ने का विचार जब मेरे मन में आया, तब मैं निश्चिन्त हो गया। एक जाल में से भीम निकल गया था। कोई बात नहीं। मैंने उसके लिए दूसरा सुदृढ़

जाल बनाने का निश्चय किया। मैं उसके लिए जीवन-भर जाल पर जाल तैयार करता ही रहूँगा। अब उसकी कटी हुई कनिष्ठिका के लिए मुझको केवल चाँदी की डिबिया नहीं बनवानी थी, बल्कि मैं उसके मस्तक को ही कुरुओं के सिंहासन के नीचे गाड़ देना चाहता था। क्योंकि पांचाली के स्वयंवर में उस नीले अर्जुन ने पांचाली को जीत लिया था और अन्त में जो युद्ध हुआ था, उसमें उद्दण्ड भीम ने मेरी पीठ में गदा का एक प्रबल प्रहार किया था।

एक बात और हुई थी, जिसके सम्बन्ध में मेरा विचार है कि मेरा भाग्य बलवान् था। द्रौपदी के द्वारा कर्ण का अपमान....समस्त वीरों के सम्मुख यह दुर्बुद्धि ईश्वर ने ही उसे दी थी। अब कर्ण को उसके उस अपमान की निरन्तर स्मृति कराकर मैं उस शक्तिशाली वीर के पुरुषार्थ को निरन्तर जगाता रहूँगा। और तब अवसर मिलते ही कर्ण द्रौपदी से भी प्रतिशोध लेगा। वह यद्यपि इस समय भी मेरा दायाँ हाथ बना हुआ था, तथापि मुझको विश्वास था कि एक दिन पूरी तरह मेरी मुट्ठी में आ जायेगा। कर्ण....सूर्यभक्त कर्ण, कवच-कुण्डलधारी कर्ण,....विशाल शरीरवाला कर्ण.....दुर्योधन की मुट्ठी में आ जायेगा। तब फिर उसका जीवन जैसा मैं चाहूँगा वैसा—बिलकुल वैसा ही बनता जायेगा। हस्तिनापुर का स्वामी और उसकी मुट्ठी में कर्ण। दुर्योधन के इन सुखस्वप्नों को संसार साकार देखेगा।

इस समस्त उथल-पुथल में एक अत्यन्त अप्रिय घटना भूली नहीं जा सकती थी। स्वयंवर के बाद हुए युद्ध में अर्जुन ने कर्ण के पुत्र को-सुदामन को अपने अमोघ बाणों से छिन्न-विच्छिन्न कर दिया था। कुछ बाण तो उसके किशोर और युवा स्वच्छ मुख-मण्डल में भी घुस गये थे। उस वीर पुत्र ने इस संसार को अभी देखा ही कितना था ! उसकी मृत्यु का समर्थन कर अर्जुन को वीर कौन कहेगा ! अब यदि कर्ण ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा भी कर ली तो इससे वह आततायी नहीं कहा जा सकता। केवल आदर्श वचनों से ही नीति के नियम नहीं बना करते हैं। वे जीवन के जीते-जागते अनुभव से भी बना करते हैं।

वृषाली

□

स्त्री का जीवन भक्तिभाव से और श्रद्धा से पति के चरणों पर समर्पित किया हुआ एक कमलपुष्प होता है। पति का सुख ही उसका सुख होता है। पति के जीवन के आधे अंग को सँवारने की पवित्र शपथ वह सप्तपदी के मंगलमय अवसर पर अग्निनारायण को साक्षी बनाकर लिया करती है। इसीलिए उसको अर्धांगी कहा जाता है। मैं अपने पति को सुख के शिखर पर रखने के लिए अहर्निश प्रयत्न कर रही थी, क्योंकि उनका जीवन जिस कष्टमय मार्ग से चलता आ रहा था, उस सम्पूर्ण मार्ग के बारे में शोणजी ने मुझे अनेक बार बताया था। मैं अत्यन्त भाग्यशाली थी, क्योंकि मेरे पति का रूप ऐसा था कि कोई भी रूपवती स्त्री मुझसे ईर्ष्या करने लगे। रूप से भी अधिक विशाल उनका मन था। शायद उनका जन्म अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को केवल प्रेम देने लिए ही हुआ था। अपने अनिन्द्य रूप पर उनको रत्ती-भर भी अभिमान नहीं था। बातें करते समय वे भूलकर भी कभी अपने दिव्य कुण्डलों का या कवच का उल्लेख नहीं करते थे। इतने सामर्थ्यवान् पुरुष और एक देश के राजा होकर भी जब वे अपने माता-पिता के पैरों पर स्वयं चन्दनमिश्रित उबटन करते तब मेरा हृदय अभिमान से भर आता था। अपने सुन्दर और सद्गुणी पति को देखकर किस स्त्री को अभिमान नहीं होगा ! किसी विशाल वृक्ष पर आश्रित लतिका का जीवन जैसे निश्चिन्त और सुखपूर्ण होता है, वैसे ही अपने पति के साथ मेरा जीवन सुखमय था। मेरी सास और श्वसुर तो एकदम देवतातुल्य थे। मैं उनकी पुत्रवधू हूँ, यह मुझको कभी लगा ही नहीं। मुझको वे अपनी कन्या की तरह ही मानते आये थे। शोणजी तो हास्य का कलकल करता हुआ झरना ही थे। वे औरों से तो बहुत ही कम बातें करते परन्तु मुझसे बातें करते समय उनका मन ही नहीं भरता था। मेरा एक भी दिन कभी ऐसा नहीं बीता था, जब मैंने उनकी प्रेमपूर्ण पुकार 'भाभी भाभी' न सुनी हो। राजनगर और राजप्रासाद में घटित होनेवाली प्रत्येक घटना वे सबसे पहले मुझी को बताते थे।

मुझको बहुत ही आश्चर्य होता था कि उनके विवाह के सम्बन्ध में कोई चर्चा क्यों नहीं करता था ? मैं श्वसुरजी से कहती भी थी, "अपने ज्येष्ठ पुत्र पर ही आपका प्रेम अधिक दिखाई देता है, नहीं तो शोणजी का विवाह भी आपने अब तक कर लिया होता !" वे हँसकर इतना ही कहते, "हमको तो कभी यह लगता ही नहीं कि यह काम हमारा है। हमारा कर्तव्य तो कर्ण का विवाह करना भर था, इसी में सन्तोष था हमें तो। अब कर्ण चाहे तो शोण का विवाह करे या उसको यों ही रखे ।"

मैं कभी अवसर पाकर शोणजी के विवाह चर्चा अपने पतिदेव के सम्मुख करती। वे कहते, "वृषाली, मैंने सुना है कि स्त्रियाँ बहुत ईर्ष्यालु होती हैं। तुम शोण की पत्नी से द्वेष नहीं करोगी—इसका क्या प्रमाण ?" वे मुझसे सदैव ऐसी ही व्यंग्य-भरी बातें किया करते थे। परन्तु उन बातों के पीछे छिपे हुए प्रेम को मैं जानती थी, इसलिए मैं कुछ कहती नहीं थी। मैं कहती, "मैं तो शोणजी को अपने बड़े भाई की तरह समझती हूँ। भाई की पत्नी से भी किसी ने द्वेष किया है क्या ?"

"वृषाली, व्यर्थ ही नाते का यह घोड़ा मत दौड़ाओ। सच कहूँ ? तुम यह चाहती ही नहीं हो कि तुम्हारा पति अन्य लोगों के प्रेम में भी फँसे। शोण का विवाह कर देना चाहिए, ऐसा कहने में तुम्हारा एकमात्र उद्देश्य यही है कि शोण के साथ उठने-बैठने में मेरा जो समय बीतता है, शोण के विवाह हो जाने के बाद वह सारा का सारा समय तुम्हारे हिस्से में आ जाये। सच है न ? तुम लोग भी कितनी स्वार्थी होती हो ?"

मैं उनकी ऐसी बातों से झुंझलाकर दूर हट जाती और गवाक्ष से गंगा की ओर देखती रहती। वे थोड़ी देर बाद ही मेरे पीछे से आकर मेरे सिर पर हाथ फेरते और कहते, "वृषाली, क्रुद्ध हो गयी हो क्या तुम ? अरी, मेरी तो समझ में कुछ नहीं आता है। मुझको अब भी यही लगता है कि मेरा शोण अभी गंगा के किनारे सीपियाँ इकट्ठी करनेवाला, 'भैया, तुम गरुड़ की तरह ऊँचे जाओगे क्या ?' यह पूछनेवाला, मेरे रथ के पीछे रोता-चिल्लाता हुआ दौड़नेवाला....बिल्ली का बच्चा रथ के नीचे न आ जाये, इसलिए दौड़कर तत्परता से उसको उठा लेनेवाला.....भोला-भाला शोण है। मुझको अब भी यह नहीं लगता है कि वह बड़ा हो गया है। लेकिन अब मैं बिलम्ब नहीं करूँगा। उसका विवाह मेरे विवाह से भी अधिक धूमधाम होगा। कितना लम्बा-तगड़ा हो गया है वह, है न ?"

ऐसे अवसर पर सिर उनके पुष्ट कन्धे पर रख देने की इच्छा होती। लगता, इस विशाल शरीर में कितना विशाल मन होगा ! उनके जीवन में अनेक-उलट-फेर हुए थे; परन्तु अपने प्रिय भाई की स्मृतियाँ उन्होंने अपने मन के गर्भगृह में कितनी ताज़ी बनी रख छोड़ी थीं ! कदाचित् स्वयं शोणजी भी उन घटनाओं को भूल गये होंगे परन्तु उन्होंने बड़े प्रेम से उनको ज्यों की त्यों सहेज रखा था। सभी अपनों को इस प्रकार श्रद्धापूर्वक अपनाते हुए मुझपर प्राणाधिक प्रेम करनेवाला पति मुझे मिला था। मेरा जन्म-जन्मान्तरों का पुण्य सफल हो गया था। उनकी पत्नी होने के कारण केवल उनके कुटुम्ब के व्यक्ति ही मुझपर ममता की वर्षा करते हों, ऐसी बात नहीं थी। बल्कि महारानी गान्धारी देवी, युवराज्ञी दुःशला देवी और राजमाता कुन्ती देवी-इन सबका भी मुझपर अमित स्नेह था। मैं एक सूतकन्या थी, परन्तु मुझको राजकुमारी का जीवन प्राप्त हो गया था। यह सब मुझको अपने पतिदेव के कारण ही प्राप्त हुआ था, इसीलिए उनके सुख के लिए मैं रात-दिन एक कर रही थी। किसी भी दुखदायी घटना का उल्लेख वे मुझसे कभी नहीं करते थे। पिछली बार अखाड़े में कृपाचार्य

और युवराज भीम ने उनका जो अपमान किया था, वह उन्होंने मुझको आज तक नहीं बताया। अपने लिए औरों के मन को कष्ट पहुँचाने की बात वे कभी सोच भी नहीं सकते थे। परन्तु उनको दुख देनेवाली कोई घटना घटती....तो शोणजी वह सबसे पहले मुझको ही बताते। भ्रातृप्रेम में डूबे हुए वे मुझसे कहते, “भाभी, भैया चाहे कितने ही संकटों में फंसे हुए क्यों न हों, वे तुम्हें कभी कुछ भी नहीं बतायेंगे। इसीलिए मैं यह सब बातें तुम्हें बताता हूँ। उनके मन की यातनाएँ मुझसे देखी नहीं जातीं, छोटे मुँह बड़ी बात कैसे कहूँ—यह सोचकर मैं उनके सामने कुछ नहीं कह पाता हूँ। तुम्हीं सँभालो भैया को।”

पांचालों की युवराज्ञी के स्वयंवर में हुए अपने अपमान को भी वे सहज पचा गये थे। मुझको दुख होगा, यह सोचकर बताया ही नहीं था। लेकिन अन्त में देवर शोणजी ने वह मुझको बता ही दिया। स्वयंवर में घटित समस्त वृत्तान्त जब मुझको विदित हुआ तब द्रौपदी कही जानेवाली उस निर्मम और अविवेकी युवराज्ञी पर मुझको बड़ा क्रोध आया, लेकिन पहली बार ही। बाद में तो मुझे उसपर दया ही आयी। अमृतकुम्भ उसके हाथों के पास पहुँच चुका था, लेकिन उस अविचारी स्त्री ने कुल के घमण्ड में आकर उसको पैरों से ठुकरा दिया था। किरीट में लगाने योग्य सुगन्धित सुवर्णपुष्प उसने पैरोंतले रौंद दिया था। समस्त राजाओं के सामने उसने मेरे स्वाभिमानी पति का घोर, अक्षम्य अपमान किया था। मेरे सुन्दर पुत्र की बलि ले ली थी।

जब अंगराज पांचाल देश से लौटे तब उनकी आरती उतारते हुए चिन्तातुर होकर मैंने उनसे पूछा, “हमारा सुदामन कहाँ है ?” मेरी आँखों में गहराई तक देखते हुए उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। उनके नीलवर्णी नेत्रों से निकलते हुए आँसुओं की दो बूंदें उनके रक्तिम कपोलों पर से सरकती हुई मेरे पैरों पर गिरी। मुझको वे स्फुलिंग की तरह धधकती हुई लगीं। मुँह मोड़कर नयनों के छोरों को उत्तरीय से पोंछते हुए वे बोले, “सुदामन चला गया, वृषू ! उसको निहत कर द्रौपदी के कण्ठ में वरमाला डालनेवाला अर्जुन अब सुदामन के पिता के बाण से ही अन्तिम निःश्वास छोड़नेवाला है।” मेरे हाथ में लगी आरती की थाली से उन्होंने एक पुष्प प्रतिज्ञा के रूप में उठा लिया। सुदामन के वध का समाचार सुनकर मेरे हाथ थाली छूटकर गिर पड़ी।

दो

स्त्री को अपना दुख पचाकर औरों का दुख हलका करना पड़ता है। अपने पति की मानसिक व्यथा कैसे दूर की जाये, यह बात किसी भी सुज्ञ स्त्री को कोई कभी सिखाता नहीं है। मैंने ध्यानपूर्वक देखा था कि स्वयंवर का शल्य महाराज के मन में कसक रहा था।

किसी भी बात में उनका मन नहीं लगता था। घण्टों तक वे विचारों में डूबे रहते। एक बार तीसरे प्रहर भोजन के उपरान्त वे ऐसे ही अकेले बैठे हुए थे। मैं अचानक ही उनके सामने जाकर खड़ी हो गयी। मुझको देखते ही बलात् हँसते हुए वे बोले, "वृषाली, तुम ?"

"कुछ लोग झूठ बोलते नहीं हैं, परन्तु झूठी हँसी हँसते अवश्य हैं, यह मैं आज जान गयी हूँ।" मैंने कहा।

"कौन झूठी हँसी हँसता है ? तुमको देखकर हँसनेवाला झूठी हँसी कभी नहीं हँसेगा।"

"आप ! आप ही झूठी हँसी हँस रहे हैं। मुझसे अपने दुख छिपाते हैं।"

"कैसा दुख ?"

"सुदामन का और स्वयंवर का। जिसने आपके मन को विह्वल कर दिया है-उस अपमान का।"

"वृषाली, तुम सच कह रही हो। परन्तु यह सब तुमसे किसने कहा ?"

"देवर शोणजी ने। लेकिन मैं यह पूछती हूँ कि इसमें मन को इतना विह्वल कर देनेवाली क्या बात है ?"

"यह जानने के लिए पुरुष का और विशेष रूप से योद्धा का जन्म लेना पड़ता है, बिना इसके यह ज्ञान नहीं होता कि अपमान का शल्य मन में कैसा चुभता है। वृषाली, सचमुच ही क्या मैं इतना हीन और क्षुद्र हूँ ?" सदैव की भाँति गवाक्ष से दूर क्षितिज की ओर देखते हुए वे कह रहे थे।

"नहीं। आपको हीन कहनेवाले सभी लोग एक दिन पश्चात्ताप करेंगे, यह बात मेरा मन बार-बार मुझसे कह रहा है।"

"तुमसे एक प्रश्न करूँ ? सच-सच बताना। बताओगी ?"

"मैं आपसे कभी असत्य नहीं बोली हूँ, बोलूँगी भी नहीं। आप मेरे परमेश्वर हैं।"

"तुम्हारे मन में कभी यह बात नहीं आयी क्या कि अपना पति यदि सूतपुत्र न होता तो....बहुत अच्छा हुआ होता ?"

"क्यों ? मैं क्यों यह सोचूँ ? आपका यह प्रश्न तो बिलकुल अच्छा नहीं लगा। आपमें कमी ही क्या है ?"

"तो फिर मुझी को इतना क्रोध क्यों आता है.... 'सूतपुत्र' शब्द पर ?"

"कभी-कभी संसार की दुष्टता देखकर आपका मन विक्षुब्ध हो जाता होगा और तब फिर आपको वैसा लगता होगा। लेकिन अब आप औरों की क्रूरता का विचार तक न करें; क्योंकि...."

"क्योंकि...."

'क्योंकि हम दोनों का जीवन....'

"क्यों, क्या हुआ वृषाली ? रुक क्यों गयी ? हम दोनों का जीवन.....फिर क्या ?"

"अब वह हम दोनों का नहीं रहा है। उसमें हिस्सा लेनेवाला तीसरा प्राणी आनेवाला है । आप जल्दी ही पुनः पिता बननेवाले हैं।"

"क्या-क्या कह रही हो वृषाली? मैं जल्दी ही पिता बनूँगा? हमारे पुत्र होगा! वृषाली, यह बात तुम मुझको कितने विलम्ब से बता रही हो !" आगे बढ़कर उन्होंने मेरा मुख अपने हाथों में थाम लिया। मैंने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु मेरी आँखें ऊपर उठती ही न थीं। अन्त में हाथों को इधर-उधर धीरे-धीरे हिलाते हुए वे शान्त स्वर में बोले, "वृषू ! ऊपर मेरी ओर देख तो सही !"

मैंने उनके नीले कानों और कुण्डलों की ओर संकुचित होते गये शान्त नेत्रों की ओर देखा। मुझको द्रौपदी की याद आयी। सचमुच उसने मुझपर बड़ी कृपा की थी। उसने यदि इनको मेरी तरह निकट से देख लिया होता तो निश्चय ही उसने इनको कभी हस्तिनापुर लौटने ही न दिया होता । गम्भीरता से मेरी ओर देखते हुए वे बोले, "वृष, का पुत्र होगा या कन्या ?"

"आपकी क्या इच्छा है ?"

"कन्या! तुम्हारी तरह बड़ी-बड़ी आँखोंवाली ।

'उँहूँ ! पुत्र, आपकी तरह कुण्डलधारी !' मैंने उनके हाथों से मुख छुड़ाते हुए कहा।

"फिर तो तुमको मेरा ध्यान ही नहीं रहेगा। सुनते हैं कि पुत्र हो जाने पर स्त्री का पति पर प्रेम कम हो जाता है।"

"आपके प्रति मेरे प्रेम को अब केवल एक ही घटना हटा सकती है और वह है मृत्यु ।"

"वृषाली, मेरे लिए कैसे-कैसे स्वर्गीय उपहार लेकर आयी हो तुम !" उनकी पानीदार आँखें मेरे हृदय-सरोवर में डुबकियाँ लगा रही थीं।

"स्वर्ग के साक्षात् देव को भी भला कहीं स्वर्गीय उपहारों की आवश्यकता होती है !" मैं उनकी मनोवृत्ति को प्रसन्न कर सकी, यह सोचकर ही मुझको बहुत आनन्द हो रहा था। जब से स्वयंवर से आये थे, तब से पहली बार ही वे इतने मुक्तमन मुझसे बातें कर रहे थे। परन्तु क्षण-भर बाद ही वे फिर चुप हो गये। मुझको वहीं छोड़कर अकेले ही गवाक्ष के पास जाकर बाहर दूर देखने लगे ।

"क्यों, क्या हुआ ?" मैंने भयभीत होकर उनसे पूछा ।

"कुछ नहीं, तुम जाओ अब ।" वे मुझसे फिर कुछ छिपाने लगे ।

"आप मुझको सदैव इसी प्रकार दूर रखकर ही व्यवहार करेंगे क्या ?"

"नहीं वृषाली ! लेकिन सभी बातें बताने योग्य नहीं होतीं। समझने योग्य भी नहीं होतीं। क्योंकि वे कटु होती हैं।

"कोई भी कटु बात क्यों न हो, आपके मुख से निकलने पर वह मुझको अमृत-जैसी मधुर ही लगेगी।" मैंने भी दृढ़ता से कहा।

"नहीं।"

"मैं हठ नहीं करूँगी कि मुझको बताइए ही। परन्तु, पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है-यह व्यर्थ है; यह सोचकर ही मैं यहाँ से जाऊँगी।"

"यह बात नहीं है। सहन कर सकोगी ? सुनो ! हमको पुत्र होगा, यह सोचकर तुम आनन्द से फूली नहीं समा रही हो। मैं भी यह सुनकर क्षण-भर के लिए अपना दुख भूल गया; लेकिन इस समाचार ने मेरे पहले के दुख को और अधिक बढ़ाया ही है।"

"ऐसी बात क्यों करते हैं आप ? आपको पुत्र होगा, यह सुखद समाचार दुख कैसे बढ़ा देगा ?"

"हाँ, वृषाली ! तुम्हारी कोख से जन्म लेनेवाला पुत्र इस राजभवन में कर्णपुत्र के रूप में ही बड़ा होगा, लेकिन कल जब वह समाज में घूमेगा तब सभी लोग 'सूतपुत्र-सूतपुत्र' कहकर ही उसे चिढ़ायेंगे। जिस धैर्य से उसके पिता ने यह कटु सत्य जीवन-भर सहन किया है, उसी धैर्य से वह भी सहन कर लेगा, यह नहीं कहा जा सकता। छिः ! वृषाली, कर्ण के पराक्रम के नगाड़े व्यर्थ हैं। समाज की रूढ़ि के सम्मुख व्यक्ति का जीवन, उद्देश्य, आशा, आकांक्षा सब कुछ क्या मिट्टी ही नहीं है ?"

"लेकिन जब वह सूतपुत्र होगा ही, तब फिर लोग वैसा कहेंगे तो उसमें अपमान की क्या बात है ?"

"वृषाली, जाओ तुम । कर्ण के साथ रहकर भी तुम उसको अच्छी तरह पहचान नहीं पायी हो।"

"नहीं, आप जो समझ रहे हैं वह बात नहीं है। लेकिन आप भी अपने कुल पर अभिमान क्यों नहीं करते ? आप सबको डंके की चोट पर यह क्यों नहीं कह देते हैं कि मैं सूतपुत्र ही हूँ, मेरे पुत्र और उनके वंशज-ये सब सूतपुत्र ही रहेंगे ?"

"वृषाली, इसके लिए विगत पचीस वर्षों से मैं अपने मन के धागे एकत्रित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, लेकिन उसमें मैं अभी तक सफल नहीं हो पाया हूँ। मुझको इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि मैं सूतपुत्र हूँ। लेकिन वह होता नहीं।"

"तो फिर....फिर मैं सूतकन्या हूँ, आपकी पत्नी हूँ, यह सत्य भी आपको कभी आनन्दित नहीं करता होगा, यही समझना चाहिए ?"

"नहीं, वृषाली ! तुम, शोण, माता, पिताजी और दुर्योधन—इनके प्रेम पर मुझको गर्व है। तुम्हारे सम्बन्ध में यदि कुछ कहने का अवसर कभी प्राप्त हुआ तो मैं कहूँगा कि...." वे गवाक्ष से तत्क्षण पीछे मुड़े।

"क्या कहेंगे आप ?"

"जो आज तक कभी तुमसे भी नहीं कही है वह बात कि यदि वृषाली मुझको पत्नी के रूप में मिले तो मैं एक ही क्या, दस जन्मों में भी सूतपुत्र ही होना चाहूँगा।"

उनके कथन से मैं भावाभिभूत हो गयी। उनके मन की थाह पाना निश्चय ही असम्भव था। आकाश का अन्त क्या कभी किसी को मिला है ? जो सन्तोष मुझको मिला था, वह मेरे लिए असीम था। मैं उनके भवन से बाहर आयी।

फिर भी एक कसक रह ही गयी कि अपने पुत्र का सूतपुत्र के रूप में होनेवाला उल्लेख उनको क्यों अच्छा नहीं लगा ?

तीन

पति के साथ मैं सुखी थी। मेरे मन में महाराज दुर्योधन के प्रति भी आदरभाव था, क्योंकि उनकी सहायता पर ही मेरे संसार का वटवृक्ष फल-फूल रहा था। प्रत्येक अवसर पर उन्होंने मेरे पति का अपने प्राणप्रिय सखा के रूप में ही उल्लेख किया था। अपने पति के लिए प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति के प्रति किसी भी स्त्री के मन में आदरभाव होना स्वाभाविक ही है। महाराज दुर्योधन के कारण ही मैं अंगराज्ञी के रूप में अभिमान के साथ हस्तिनापुर में धूम-फिर सकी थी और इसीलिए मुझको एक बात बार-बार खटकती थी। वह यह थी कि हमारे विवाह में प्रमुख भूमिका निभानेवाले महाराज दुर्योधन स्वयं अभी अविवाहित ही थे। विवाह जीवन की पूर्णता है। केवल सम्पत्ति, पुरुषार्थ और कीर्ति पर ही सारे सुख अवलम्बित नहीं होते हैं। मैंने अपने पतिदेव को महाराज दुर्योधन के विवाह के बारे में भी अनेक बार याद दिलायी थी। वैसे वे पांचालों के राज्य में द्रौपदी के स्वयंवर में गये थे, परन्तु वहाँ वे विफल हो गये थे। लेकिन इसलिए वे जीवनभर अविवाहित तो नहीं रह सकते थे। यह बात मैं अपने पतिदेव को अवसर मिलते ही संकेत से बता देती थी। मुझको उत्तर देते हुए वे कहते, "वृषाली, वह एक युवराज है और युवराज को हस्तिनापुर के वैभवसम्पन्न साम्राज्य के अनुरूप राजकन्या ही प्राप्त होनी चाहिए। राजा का विवाह अभिषेक के समान ही महत्त्वपूर्ण होता है।" मैं अपने भाई सत्यसेन से जानकारी प्राप्त कर अनेक राजकन्याओं के नाम दुर्योधन महाराज के लिए सुझा रही थी, परन्तु उनको एक भी पसन्द नहीं थी। अन्त में एक दिन वे राजसभा से आये। मुझको दासी द्वारा बुलवाकर वे बोले, "देखो वृषाली, तुमको

दुर्योधन के विवाह की बहुत चिन्ता थी न ? अब वह अवश्य चतुर्भुज हो जायेगा।" उन्होंने एक भूर्जपत्र पर आया हुआ आमन्त्रण मेरे हाथ में दिया ।

वह आमन्त्रण कलिंग देश के राजा चित्रांगद का था। उसने अपनी कन्या भानुमति के स्वयंवर का आयोजन किया था। सम्बन्धी जनों के साथ कलिंग की राजनगरी काशीपुर आने के लिए उस राजा ने पितामह भीष्म से विनम्र प्रार्थना की थी।

"अब मुझको एक अच्छी सखी मिल जायेगी।" मैंने हर्षित होकर कहा ।

"तुम लोग प्रत्येक बात में विशुद्ध व्यवहार ही देखती हो, वृषाली ! यह केवल स्वयंवर का आमन्त्रण है। राजकन्या भानुमति को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ का ढिंढोरा पीटते हुए, पांचाली के स्वयंवर से भी अधिक न जाने कितने राजागण काशीपुर में भी एकत्रित होंगे। भानुमति दुर्योधन को ही मिलेगी-यह नहीं कहा जा सकता।" उन्होंने मेरी मति जानने की इच्छा से यों ही चिन्ता व्यक्त की ।

"जब आप साथ होंगे तब सब कुछ सहज सम्भव होगा। पांचाली के स्वयंवर के बाद आप अकेले ही अर्जुन से एक घड़ी तक क्या लड़े नहीं थे ?"

"वृषाली, प्रत्येक स्त्री यही समझती है कि एक उसी का पति कर्तृत्ववान् है। तुम भी उसी में से एक हो । परन्तु अपने पति को कर्तृत्ववान् कहते समय अपेक्षित आपत्ति को तुम भूल जाती हो।"

"कौन-सी आपत्ति ?"

"तुम्हारे पति का कर्तृत्व देखकर यदि कोई अन्य स्त्री उसपर अनुरक्त हो गयी तो क्या वह तुमपर आपत्ति ही नहीं होगी ?"

"बिलकुल नहीं। प्रश्न मेरे पति की रुचि का है। उनको वह स्त्री यदि अच्छी लगी हो, तो मैं बहन के रूप में उसका स्वागत ही करूँगी। वह घटना यदि आपत्ति हो तो भी स्पृहणीय होगी।"

"सोच लो वृषाली, यह इतना सरल नहीं है।"

"मैं वृषाली हूँ। अंगराज की पत्नी ।" मैंने भी उसी दृढ़ता से उनको उत्तर दिया ।

मेरे उत्तर पर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। पास आकर मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर प्रेमपूर्वक बोले, "कल मैं युवराज दुर्योधन के साथ कलिंगों के राज्य में जाऊँगा। तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना। अपना सुदामन ही पुनः तुम्हारे उदर में आ रहा है।"

मेरा हाथ उनके हाथ में था, परन्तु मन कलिंगों के राज्य में चक्कर लगा रहा था। कैसी होगी वह कलिंगों की युवराज्ञी भानुमति ? और उसका वह राजनगर काशीपुर !

चार

दूसरे दिन ही युवराज दुर्योधन, महाराज तथा अन्य सम्बन्धी, कलिंगों के काशीपुर नगर की ओर चले गये। मैं उन सबकी सफलता की कामना कर रही थी। प्रतिदिन नगर में गौरी-शंकर मन्दिर में जाकर उनकी सफलता के लिए प्रार्थना करती थी। न जाने क्यों, मन्दिर जाते समय सदैव मेरी इच्छा होती थी कि राजमाता कुन्ती देवी द्वारा दी हुई नीली अतलसी साड़ी को ही पहनकर जाऊँ। उनकी स्मृति के रूप में मैंने उसको प्राणों से भी अधिक सँभालकर रखा था। अपने पाँच पुत्रों के साथ वे दुर्घटना में वारणावत में जलकर गतप्राण हो गयी हैं, यह समाचार जिस दिन युवराजी दुःशला देवी से मुझको विदित हुआ था, उस दिन एक पेट्टी में सँभालकर रखी हुई उस नीली साड़ी को निकालकर उसमें मुँह छिपाकर मैं बहुत रोयी थी। मुझको सदैव यही प्रतीति होती थी कि उस साड़ी में लपेटकर मानो उस सात्त्विक, स्नेही और अत्यन्त मितभाषिणी राजमाता ने अपने जीवन का अमूल्य प्रेम ही मुझको दे दिया था।

लेकिन...लेकिन उनके पुत्र अर्जुन ने मेरा एक अमूल्य राजवस्त्र मुझसे छीन लिया था। मैं सुदामन को भूल नहीं सकती थी। अर्जुन को क्षमा नहीं कर सकती थी।

उस दिन पांचाली के स्वयंवर में जब यह स्पष्ट हो गया कि पाण्डव जीवित हैं, तब उस समाचार को लानेवाली दासी को झकझोरकर मैंने सबसे पहले उससे यह जानना चाहा कि राजमाता कुन्ती देवी सुरक्षित तो हैं न न जाने क्यों, मुझको कुन्ती देवी मन्दिर की मूर्ति की तरह सात्त्विक और पवित्र लगती थीं।

पाण्डवों में और मेरे पतिदेव में मतभेद था। विशेष रूप से युवराज अर्जुन से इनकी बिल्कुल नहीं पटती थी। मैं युवराज अर्जुन का उल्लेख कर इनसे सदैव कहती, "उनसे आपका इतना मतभेद क्यों है ? कुरुओं के राजसिंहासन के उत्तराधिकारी के रूप में तो आपका कोई सम्बन्ध है ही नहीं।"

वे कहते, "जो राहु केतु चन्द्र को ग्रसते हैं, उनका भी चन्द्र से सम्बन्ध कहाँ होता है ? आकाश में गरजनेवाली विद्युत् का आघात पृथ्वी को विदीर्ण कर देता है। उसका विद्युत् से कभी कोई सम्बन्ध होता है क्या ? इसी प्रकार अर्जुन एक ऐसा बाँध है जो स्थान-स्थान पर मेरी जीवन-सरिता को अवरुद्ध कर देना चाहता है। तुम यह कभी नहीं जान पाओगी, वृषाली!"

फिर वे मुझको अपनी और अर्जुन की युद्धशाला में हुई प्रथम भेंट का वृत्तान्त सुनाते और अन्त में कहते, "हम दोनों के बीच एक स्याह-काले भुजंग की कुण्डली आकाश से एक गरुड़ के पैरों से छूटकर गिर पड़ी।" यह सुनते समय हर बार मेरी देह भय से बुरी तरह

रोमांचित हो जाती। उनकी उस स्मृति को सुनते समय रह-रहकर मेरा स्त्री-मन यह सोचने लगता कि वह भुजंग निश्चय ही भावी अशुभ घटनाओं का सूचक एक अपशकुन था। लेकिन मैं एक वीर पत्नी हूँ, यह सोचकर मैं उस विचार को क्षण-भर में भुला देती।

राजमाता कुन्ती देवी सुरक्षित हैं, यह जानकर मुझको आनन्द हुआ था। महाराज भी राजमाता का नितान्त आदर करते थे। वे सदैव कहते, “मेरा विरोध अर्जुन से है। उसकी सर्वश्रेष्ठ कही जानेवाली वीरता से है। उसके भाइयों से या माता से मेरी शत्रुता होने का कोई कारण नहीं है।”

पाण्डव सुरक्षित हैं, इस समाचार ने हस्तिनापुर में आनन्द की लहर दौड़ा दी थी। नगरजन तो उनके लौटने के सम्बन्ध में आपस में पूछताछ करने लगे थे। उनके सुरक्षित होने से मेरे मन का भी एक कोना सुखी हो गया था। सच पूछो तो प्रत्येक स्त्री तो यह चाहती ही है। लेकिन...लेकिन युवराज अर्जुन को क्षमा करने को मेरा मन तैयार नहीं था

पाँच

महाराज को कलिंग देश गये हुए तीन सप्ताह हो चुके थे। अन्त में एक माह बाद युवराज दुर्योधन का निजी विश्वस्त दूत प्रभंजन काशीपुर की सविस्तार सूचनाएँ लेकर हस्तिनापुर आया। उसके मुख से उन सब घटनाओं का वृत्तान्त सुनते समय मेरे मन में अनेक भावनाओं का संगम हो रहा था। प्रभंजन ने जो कुछ कहा था, उसको आद्यन्त सुनकर अपने पति के शौर्य, औदार्य और मित्र प्रेम पर मुझको अत्यन्त गर्व होने लगा।

कलिंगों की युवराज्ञी के स्वयंवर के लिए देश-देश के राजा काशीपुर में एकत्रित हुए थे। वह काशीपुर हस्तिनापुर के एकदम पूर्व में सैकड़ों योजन दूर था। वहाँ से कुछ योजन दूर ही पूर्व समुद्र था। इतने दूर के राज्य में सभी पराक्रमी राजागण राजकन्या भानुमति के सौन्दर्य की ख्याति सुनकर ही एकत्रित हुए थे। उनमें जरासन्ध, शृगाल, क्रथ, शिशुपाल, दण्डधर आदि अनेक पराक्रमी नरश्रेष्ठ थे। स्वयंवर के लिए किसी प्रकार की शर्त नहीं रखी गयी थी। युवराज्ञी भानुमति हाथ में वरमाला लेकर स्वयंवर मण्डप में घूमनेवाली थी। जिस किसी को वह अपना पति होने योग्य समझती, उसके गले में वरमाला डालकर उसके चरणों पर अपना जीवन-पुष्प अर्पण करनेवाली थी।

जैसे ही सर्व आमन्त्रित राजाओं से स्वयंवर-मण्डप पूर्ण हुआ वैसे ही पूर्व-योजनानुसार हाथ में वरमाला लेकर वह मण्डप में आयी।

सबसे पहले राजा शिशुपाल था। उसपर एक उड़ती हुई दृष्टि डालकर वह आगे बढ़ गयी। उसके बाद शृगाल था। उसको भी उसने अस्वीकृत कर दिया। उसके सामने वह राजा

दण्डधर के आगे जाकर खड़ी हुई, परन्तु उसके आरक्त नेत्रों के कारण उसने उसको भी नहीं चुना। उसके बाद मगध के विशालकाय राजा जरासन्ध का आसन था, परन्तु भानुमति ने उसको भी स्वीकार नहीं किया। पाँचवें आसन पर राजा दुर्योधन थे। उनके पीछे मेरे पतिदेव खड़े थे। दुर्योधन के सामने आते ही भानुमति ने सिर उठाकर उनकी ओर देखा और क्षण-भर में ही उसकी दृष्टि उनके पीछे खड़े हुए मेरे सर्वस्व पर पड़ी। वह एकटक उनकी ओर देखने लगी, यह देखकर युवराज दुर्योधन तत्क्षण आसन से उठे और कोई कुछ समझ पाये उससे पहले ही उन्होंने भानुमति की सुकोमल कटि को अपनी सशक्त भुजा में दृढ़ता से भरकर उसको अचानक उठाकर अपने कन्धे पर रख लिया तथा सबको लक्ष्य कर वे चिल्लाये, “पहले पितामह भीष्म काशी राज्य से जैसे मेरी महामाता को उठाकर ले गये थे, वैसे ही आज मैं भी अपनी भुजाओं के बल पर कलिंग की इस राजकन्या को उठाकर ले जा रहा हूँ। किसी में सामर्थ्य हो तो वह कुरुओं के राजदण्ड से दो-दो हाथ कर ले !”

सभी राजा उठकर खड़े हो गये। मण्डप के प्रवेश द्वार के पास खड़े हुए दो-चार राजाओं को एक हाथ से अलग हटाते हुए तथा दूसरे हाथ से गदा फिराते हुए युवराज को क्या भूल गया ? द्वन्द्व युद्ध का अर्थ मृत्यु होता है, यह सोचकर जिहा चला! दुर्योधन चपलता से प्रवेश-द्वार से बाहर निकले। सत्यसेन दादा ने रथ प्रवेश-द्वार के पास खड़ा कर ही रखा था। पलक मारते ही युवराज हाथ-पैर पटकती हुई भानुमति को फूल की तरह लेकर आहिस्ता से चढ़ गये। सत्यसेन दादा ने रथ के घोड़ों पर कशाघात किया। उसका पीछा करने के लिए कुछ राजागण क्रुद्ध होकर प्रवेश द्वार की ओर दौड़े। लेकिन....लेकिन प्रवेश-द्वार को अंगराज ने आगे बढ़कर पहले से ही रोक रखा था। प्रवेश द्वार पर महाराज को देखते ही शिशुपाल चिल्लाया, “अंगराज कर्ण। द्वार से दूर हो ! यह समस्त क्षत्रियों का घोर अपमान है।”

“शिशुपाल, तुम सब क्षत्रिय हो तो फिर पहले राजा दुर्योधन के इस मित्र से....सूतपुत्र कर्ण से दो-दो हाथ कर लो ! ध्यान रखो, राजा दुर्योधन कर्ण की म्यान में रखा हुआ कुरुओं का भारी खड्ग है ! खड्ग को हाथ लगाने से पहले साहस हो तो म्यान को दूर करो।”

शिशुपाल के साथ क्रथ, शृगाल आदि दस राजा एक साथ महाराज पर टूट पड़े। स्वयं प्रभंजन महाराज के पीछे खड़ा होकर उनको आवश्यक बाण निरन्तर देता रहा। महाराज के धनुष से छूटे हुए बाणों ने उन दसों को ऐसे ढक दिया जैसे कोहरा नदी को ढक लेता है। घनघोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। शिशुपाल के साथ सभी लोग अकेले महाराज पर बाण फेंकने लगे। परन्तु उनके बाणों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि महाराज की त्वचा अभेद्य थी। बाण फेंकते-फेंकते सभी श्रान्त हो गये। एक भी राजा प्रवेश-द्वार की ओर तिल-भर भी आगे नहीं बढ़ सका। उलटे महाराज के अमोघ बाणों से दण्डधर और शृगाल को प्राणान्तक चोटें आयीं। एक घड़ी के बाद शिशुपाल के ध्यान में सब बातें आयीं। झुंझलाकर

हस्तस्थ धनुष फेंककर वह चिल्लाया, "अरे, देह पर जन्मजात अभेद्य कवच धारण करनेवाला अंगराज कर्ण है यह ! इसको यदि तीक्ष्ण शस्त्र से भी काटना चाहोगे तो नहीं कटेगा ! युवराज्ञी तो अब सदैव के लिए चली ही गयी, मित्रो ! कमसे-कम प्राण तो मत गँवाओ।" सभी राजा चीख पड़े जैसे विषैला भुजंग डँस गया हो। फिर सब स्तब्ध हो गये, सभी की मुखमुद्राएँ म्लान हो गयीं। उन्मत्त हाथी की तरह विशाल शरीरवाला जरासन्ध धनुष फेंककर सीधा आगे घुस गया और दण्ड पर हथेली से ताल ठोककर चुनौती देता हुआ बोला, "अभेद्य कवच की ढाल लेकर लड़नेवाले कपटी कर्ण, मैं मगधों का राजा जरासन्ध तुझको द्वन्द्व-युद्ध के लिए चुनौती देता हूँ। सूतकुल में जन्म लेनेवाले और दुर्योधन की छाया में पनपनेवाले कुरुरमुत्ते ! क्षत्रियों की कुलवती स्त्रियों को क्या तूने दीन-हीन घोड़ियों समझा है, कि जब चाहे रथ में जोत दिया जाये ! आ, नीचे आ ।"

"जरासन्ध, यदि यह कवच उतारकर मैं फेंक सकता तो उसको फेंककर इसी समय मैं तुझको दिखा देता कि कवच के बिना भी कर्ण अजेय है ! क्षत्रिय होकर उन्मत्त । जानेवाले वृषभ, पांचाली के स्वयंवर में शिव-धनुष से कुचले हुए अपने पैरों के पंजों को क्या भूल गया? द्वंद्व युद्ध का अर्थ मृत्यु होता है, यह सोचकर जिह्वा चला।

"सूतपुत्र, भगवान् शंकर की आराधना करके मैं अजेय द्वन्द्व-योद्धा बना हूँ, यह क्या तुझे याद नहीं ? मैं तुझको बातों ही बातों में ऐसे मरोड़ दूँगा जैसे हरिण को अजगर मरोड़ देता है।" उसने चुनौती देते हुए फिर ताल ठोकी। सब राजाओं ने साँस रोक ली। महाराज ने देह पर पड़ा उत्तरीय प्रभञ्जन के कन्धे पर फेंककर अधरीय का फेंटा कसा। उनके कानों के कुण्डल तप्त होकर लाल हो गये और शरीर ऐसे फूलने लगा जैसे ज्वार आने पर समुद्र फूल उठता है ।

दोनों का हृदय थर्रा देनेवाला द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। स्वयंवर का मण्डप द्वन्द्व-युद्ध का अखाड़ा बन गया। जरासन्ध होंठ चबाता हुआ क्षुधार्थ बाघ की तरह महाराज पर टूट पड़ा। परन्तु जैसे कोई विशाल सागर अपने ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करनेवाली नौका को पीछे फेंक देता है, वैसे ही उन्होंने उसको सहज दूर फेंक दिया। वह फिर पैतरा बदलकर चक्कर लगाने लगा। अकारण ही चिढ़ानेवाली ताल ठोकने लगा, परन्तु दस-पन्द्रह पलों में ही महाराज ने उसको अपनी भारी जाँघों के नीचे दबा लिया। अपने बलवान् हाथों को रस्सी की तरह पाश बनाकर उन्हें जरासन्ध के गले के चारों ओर लपेटना शुरू किया साँस रुकने के कारण जरासन्ध की आँखें चढ़ने लगीं। वह बाहुकण्टक दार्च था। उस पकड़ में जरासन्ध का अन्त निश्चित था। स्वयंवर के मण्डप से एक क्षत्रिय राजा की बलि चढ़नेवाली थी। जरासन्ध ने हाथ उठाकर तुरन्त सहायता की माँग की, लेकिन किसी ने भी आगे बढ़ने का साहस न किया। भय से महाराज चित्रांगद का रोम-रोम सिहर उठा। लेकिन उनके मन का एक कोना सुखी हो गया था। जिस राज्य में महाराज-जैसे बलशाली वीर थे, उस कुरु राज्य की उनकी

कन्या महारानी बननेवाली थी। तत्क्षण आगे बढ़कर उन्होंने मेरे पतिदेव के पैर ही पकड़ लिये। बहुत ही गिड़गिड़ाकर वे बोले, “महाराज कर्ण, जरासन्ध शरण में आ गये हैं, उन्हें प्राणदान दो। मगधों की सीमा हमारे राज्य से सटी हुई ही है। हमारे उनके सम्बन्ध में राजकीय वैर न हो—यही अच्छा है।”

महाराज ने जरासन्ध को जीवनदान किया। बाहुकण्टक का बन्धन शिथिल हुआ। सबने सोचा था कि मुक्त होते ही जरासन्ध लज्जित होकर अपमान से सिर झुकाकर चुपचाप चला जायेगा। परन्तु हुआ ठीक उलटा। दावें से मुक्त होते ही जरासन्ध ने महाराज को एकदम आलिंगन में भर लिया। उनका सीधा हाथ अपने हाथ में लेकर उसको ऊँचा करता हुआ वह बोला, “अंगराज कर्ण, आज से मगधों के राजा जरासन्ध के प्राणप्रिय मित्र हैं। मैं अपने राज्य का मालिनी नगर इस असीम सामर्थ्यशाली द्वन्द्व योद्धा को भेंट करने की घोषणा करता हूँ। इनके समान शक्ति-सम्पन्न एक भी कुशल द्वन्द्व-योद्धा मैंने आज तक नहीं देखा है।”

महाराज ने जरासन्ध को आलिंगन दिया। बातों ही बातों में यह समाचार काशीपुर नगर में फैल गया। नागरिकों के झुण्ड-के झुण्ड महाराज के दर्शन करने के लिए राजभवन पर आने लगे। महाराज ने चित्रांगदजी से कहकर युवराज दुर्योधन और युवराज्ञी भानुमति का स्थान ढूँढ़ निकाला। युवराज्ञी भानुमति को लेकर सभी लोग महानदी के किनारे पर रुके हुए महाराज की प्रतीक्षा कर रहे थे। कलिंग के अमात्य उनको समस्त वृत्तान्त बताकर सम्मानपूर्वक फिर राजभवन लाये।

काशीपुर के नगरजनों ने युवराज्ञी भानुमति को 'हस्तिनापुर की महारानी' कहकर घोषणा करके विदा किया। बीच-बीच में वे 'अंगराज कर्ण !' कहकर मेरे पति का भी जय-जयकार कर रहे थे। नगरजन फूल बरसा रहे थे। उसी समय सबने काशीपुर छोड़ दिया था।

प्रभञ्जन ने चूँकि यह सारी घटना निकट से देखी थी, इसलिए उसने मुझको उसका बड़ा सरस वर्णन सुनाया, केवल यह समाचार मुझको सुनाने के लिए ही वह घोड़ा दौड़ाता हुआ सबसे पहले नगर में आया था। उसने कहा, “महारानी, जबतक अंगराज हैं तबतक कुरुओं का सिर ऐसा ही ऊँचा रहेगा। नयी महारानी के स्वागत की तैयारी कीजिए। अंगराज की पंचारती उतारने के लिए दीप जलाइए।”

छह

स्वयंवर को गये हुए योद्धागण भानुमति के साथ हस्तिनापुर की सीमा पर गंगा किनारे आ गये हैं। यह समाचार नगर में फैल गया। उनके स्वागत के लिए सब तत्परता से व्यवस्था

करने लगे। नयी महारानी के दर्शन करने के लिए आतुर नगरजन हाथों में पुष्पमालाएँ लेकर राजमार्ग पर एकत्रित होने लगे। युवराज्ञी भानुमति अब महारानी भानुमति हो गयी थी। हस्तिनापुर के अपार वैभवसम्पन्न साम्राज्य की सम्राज्ञी ।

अन्त में एक सुसज्जित राज-हाथी पर अम्बारी में बैठे हुए महाराज दुर्योधन नगर में प्रवेश होते हुए राजप्रासाद के सम्मुख आये। उनकी दायीं ओर अंगराज भी थे। बायीं ओर महारानी भानुमति थीं। उनकी बायीं ओर एक स्त्री थी। सम्भवतः वह महारानी भानुमति की कोई प्रिय सखी होगी, अन्यथा वह अम्बारी में बैठती ही क्यों ? वह भानुमति से भी अधिक रूपवती थी।

राजप्रासाद के भव्य महाद्वार पर राजमाता गान्धारी देवी ने वर-वधू की आरती उतारी। उनके साथ ही दोनों ओर खड़े अंगराज तथा देवी भानुमति की सखी की भी आरती उन्होंने उतारी। आँखों पर पट्टी बँधी होने के कारण आरती उतारने में उस त्यागी राजमाता को कितनी कठिनाई हुई होगी ? वर-वधू ने पितामह भीष्म, विदुर, शकुनि मामा आदि, गुरुजनों को वन्दन कर राजभवन में पदार्पण किया। महारानी की सखी ने भी राजभवन में पैर रखा। मुझको अंगराज का एक ही कुण्डल दिखाई देने लगा। क्योंकि वे अपना मुख मोड़कर महारानी भानुमति की सखी की ओर ही देख रहे थे। गरदन मुड़ी होने के कारण उनका उस ओर का कुण्डल मुझको दिखाई दे ही नहीं रहा था।

सात

नयी महारानी के आगमन से राजभवन में जैसे वसन्त आ गया। महाराज दुर्योधन का जीवन विवाह के उद्यान में फूलेगा फलेगा, यह सोचकर हम दोनों को सन्तोष हुआ । कभी-कभी अविवाहित मनुष्य क्रुद्ध होकर अविचारपूर्ण कृत्य भी कर सकता है, किन्तु विवाहित व्यक्ति वैसा नहीं कर पाता । आज तक महाराज दुर्योधन के जो दुःसाहसी एवं उद्दण्ड कार्य-कलाप सुनाई पड़ते थे, अब भविष्य में उनपर प्रतिबन्ध लगनेवाला था। स्त्री यदि चाहे तो अपने पति के विध्वंसक क्रोध को शालीन कर्तृत्व में बदल सकती है। यह कला मैं समय-समय पर महारानी भानुमति को कुशलतापूर्वक बताना चाहती थी—उसके मन को ठेस न पहुँचाते हुए । पराक्रमी पुरुषों का जीवन उनकी स्त्रियों के हाथ में होता है। कभी अपने प्रेम से तो कभी अपने सौन्दर्य से वे अपने पति को संकट के समय सावधान कर सकती हैं। इसलिए मुझको महारानी से परिचय बढ़ाना था। सब ठीक-ठीक हो जाने पर मैंने मिलने का निश्चय कर लिया था।

परन्तु मैं उनसे मिलने जाऊँ, इससे पूर्व ही मेरे लिए महाराज दुर्योधन का बुलावा आ गया। यद्यपि वह अनपेक्षित था, तथापि मुझको उसपर आश्चर्य नहीं हुआ। मेरे पति के पराक्रम का वर्णन सुनाने के लिए ही उन्होंने मुझको बुलाया होगा- -मुझको ऐसा लगा। मैं एक स्त्री थी और ऐसी कौन सी स्त्री है जो एक मानी राजा के मुख से अपने पति के पराक्रम का वर्णन सुनना नहीं चाहेगी ?

राजमाता कुन्ती देवी की दी हुई नीले रंग की रेशमी साड़ी पहन मैं अपनी मृणाल नामक दासी को लेकर उनसे मिलने जाने का निश्चय कर रही थी; परन्तु...परन्तु मैं जिस शारीरिक स्थिति में थी, उस स्थिति में मैं पुरुष के सम्मुख नहीं जा सकती थी। मैं गर्भधारिणी थी। अन्त में निश्चय कर मैंने मृणाल द्वारा सन्देश भिजवाया कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसलिए आप ही बिना किसी संकोच के मुझसे मिल जायें। वह शायद उनको अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उनका स्वभाव अत्यन्त अभिमानी था। आखिर वे कौरवों के ज्येष्ठ युवराज थे। हस्तिनापुर के सम्राट् थे।

फिर भी मृणाल के साथ मेरे भवन की ओर आ रहे थे। मुझको वे गवाक्ष से आते हुए स्पष्ट दिखाई दे गये, इसलिए मैं बड़ी तत्परता से भवन के भीतरी कक्ष में जाकर बैठ गयी। हो सकता है कि वे क्रुद्ध हो गये हों, इसलिए मैं मन-ही-मन साहस संचित कर उनका कथन सुनने की तैयारी करने लगी। वे चाहे जो कहें, मुझे उनको प्रत्युत्तर नहीं देना था, क्योंकि वे मेरे पति के प्राणप्रिय साथी थे, मेरे जीवन में उनका स्थान उतना ही श्रेष्ठ था जितना कि देवर शोणजी का। उनके साथ आदरपूर्ण व्यवहार करने की सूचना महाराज ने दे रखी थी।

आते ही वे एक आसन पर बैठ गये। उनके संकेत करने से पहले मृणाल महल से चली गयी। भीतरी कक्ष में मेरी उपस्थिति को वे स्पष्टरूप से जान ले इसलिए मैंने हाथ के सुवर्ण कंकणों की ध्वनि की। कक्ष के द्वार पर झिलमिलाता परदा पड़ा था। उस परदे की ओर देखते हुए वे बोले, "अंगराज्ञी, मुझको यहाँ देखकर आपको आश्चर्य हो रहा होगा ?"

"नहीं। बल्कि मुझी को इस बात का हार्दिक दुख है कि आपको यहाँ आने के लिए मैंने उलटा सन्देश भेजा; परन्तु...परन्तु मैं विवश थी..."

"आपकी कठिनाई मैं समझ गया हूँ। दासी ने वह बता दी है। इसीलिए मैं स्वयं यहाँ आया हूँ। आप इस बात पर आश्चर्य भी न करें।"

"नहीं करूँगी। आप सबके लिए कौरवराज हैं, परन्तु मेरे लिए उतने ही निकटस्थ हैं जितने कि देवर शोणजी।

"यह जानता हूँ, तभी तो यहाँ आने में संकोच नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त जिस काम के लिए मैं यहाँ आया हूँ, उसके लिए किसी अन्य को मैं आपके पास भेज नहीं सकता था।"

“ऐसा आपका कौन-सा महत्वपूर्ण कार्य है जिसको मुझ-जैसी साधारण स्त्री कर सकती है ?”

"आप साधारण नहीं हैं। कर्ण-पत्नी कभी साधारण हो ही नहीं सकती।"

"यह अतिरिक्त स्तुति की जा रही है, यह मैं कैसे कहूँ ?"

"नहीं। यह स्तुति नहीं, वस्तुस्थिति है। और आज वह समय आपके सामने आ गया है कि आपको फिर एक बार यह सिद्ध करना होगा कि आप साधारण नहीं हैं।"

“ऐसी क्या असाधारणता आज मुझको सिद्ध करनी पड़ेगी ?”

"आप जानती ही हैं कि अंगराज और मैं हम दोनों स्वयंवर के लिए कलिंगों के राज्य में गये थे। युवराज्ञी भानुमति को लेकर मैं आ गया हूँ...। लेकिन उसने स्वयंवर की माला मेरे गले में डालने से पहले एक विचित्र शर्त रखी थी।"

"कैसी शर्त ?"

"उस शर्त को मैंने केवल आपपर विश्वास के कारण ही माना है।"

"मुझपर ? आप दोनों के वैवाहिक जीवन में यदि मेरे कारण आनन्द की कली खिल सकती है तो मैं सब-कुछ करने को तैयार हूँ, क्योंकि आप मेरे पति के प्राणप्रिय मित्र हैं। शर्त क्या है ?"

"उसकी इच्छा है कि..."

"हिचकिए मत कौरवराज, स्पष्ट...स्पष्ट कहिए।"

"कि अंगराज कर्ण मेरी प्राणप्रिय सखी के साथ विवाह कर लें!"

उनके उस कथन से मैं सन्न रह गयी। लेकिन केवल क्षण भर के लिए। तत्क्षण अपने को सँभाल मैंने धैर्य के साथ कहा, "लेकिन अंगराज इसके लिए सहमत है क्या?"

"दुर्योधन के लिए कर्ण सब-कुछ कर सकता है, इसमें आपको क्या अब भी कुछ सन्देह रह गया है ? प्रश्न आपकी—केवल आपकी ही—सम्मति का रह गया है।"

“उसको प्राप्त करने के लिए आप सीधे यहाँ आये, यह सुझाव कहीं अंगराज ने तो आपको नहीं दिया ?”

"छि: ! उनको इस सम्बन्ध में अभी कुछ भी ज्ञात नहीं है। तो मैं यह समझू क्या कि आप सहमत नहीं हैं ?"

"सो कैसे?"

"आप सशंक होकर अनेक प्रश्न पूछ रही हैं इसलिए।"

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। परन्तु यही प्रसंग यदि महारानी भानुमति के जीवन में आया होता तो उन्होंने इससे भी अधिक प्रश्न पूछे होते, ऐसा आपको नहीं लगता क्या?”

"नहीं ! वह कोई प्रश्न ही नहीं पूछती। एक वाक्य में ही प्रश्नकर्ता को सीधे बाहर का मार्ग दिखला देती। आप भानुमति नहीं हैं, इसीलिए मैंने यहाँ आने का साहस किया है।"

"अंगराज के और आपके सुख के लिए मैं सब-कुछ करूँगी। मेरी सम्मति पर ही यदि यह विवाह निर्भर है तो मैं स्वीकार करती हूँ कि मैं सहमत हूँ।"

वे आनन्दित होकर तत्क्षण आसन से उठे। उनसे रहा न गया, अन्त में वे बोले, “भाभी, तुम्हारे लिए सचमुच ही किसी समय कर्ण ने इतना त्याग क्यों किया था, उसका कारण मुझको आज ज्ञात हो गया।

एक क्षण भी न रुककर अव्यवस्थित उत्तरीय को सँभालते हुए वे जाने के लिए द्वार की ओर मुड़े।

"लेकिन उस भाग्यवती सखी का नाम क्या है ?" अन्त में मैंने पूछ ही लिया।

"सुप्रिया !"

वे झटपट पैर बढ़ाते हुए भवन से निकल गये। मेरे मन का झूठा उत्साह क्षण-भर में ढह गया। सौत ! छिः ! यह विचार मेरे सुखी संसार के गाल पर डिठौना नहीं था क्या ? उसका नाम सुप्रिया बता रहे थे। परन्तु सचमुच ही वह सबको सुप्रिय लगेगी क्या ? अनेक सन्देहों के प्रहार से मेरा मन उद्विग्न हो गया। कभी-कभी दैव से द्यूत खेलने के अतिरिक्त मनुष्य के हाथ में और रह ही क्या जाता है !

प्रभंजन के कथनानुसार मुझको नयी महारानी के स्वागत की तैयारी करनी पड़ी। परन्तु वह कितने-कितने भिन्न अर्थ में। अब तक दोनों कुण्डलों पर मेरा अधिकार था, अब एक कुण्डल सुप्रिया का था। जो मुझको बड़े कष्ट से प्राप्त हुआ था, वह उसको सहज ही प्राप्त हो गया। कुछ लोग भाग्यवान् होते हैं, यह सच है।

आठ

अंगराज और सुप्रिया का विवाह धूमधाम से सम्पन्न हो गया। महाराज दुर्योधन का कथन सत्य निकला। अंगराज उनकी इच्छा को अस्वीकार न कर सके। कभी-कभी सत्य कल्पना से भी अधिक अद्भुत होता है। और चूँकि वह सत्य होता है इसलिए उसे सहन भी करना पड़ता है। मैंने निश्चय कर लिया कि सुप्रिया को कभी कष्ट नहीं पहुँचाऊँगी। उसको कष्ट देने

का अर्थ था—अपने पति को दुखित करना । स्त्री कम से कम हानि और अधिक से अधिक लाभ का चुनाव किया करती है। वही उसका जन्मजात स्वभाव होता है।

सुप्रिया को अलग महल दिया गया। इतना सब कुछ होने पर भी मेरा मन अपने पति के प्रेम-सम्बन्ध में पहले की तरह ही आश्वस्त था। उनका मुझपर जो प्रेम था वह तो कभी रत्ती भर भी कम नहीं हो सकता था। गंगा के तट पर भीगे हुए उत्तरीय की स्मृति वे कैसे भूल सकते थे ? लेकिन सुप्रिया मुझसे भी दो डग आगे बढ़ गयी थी। मेरी समस्त कल्पनाओं को उसने ज़ोर का आघात दिया। वह इतनी समझदार थी कि विवाह होते ही सबसे पहले वह मुझसे ही मिलने आयी और सविनय वन्दन कर बोली, “दीदी, मैं आपकी कनिष्ठ भगिनी हूँ। आपने ही मुझको जीवनदान दिया है। यदि आपने सम्मति न दी होती तो मुख से अंगराज का नाम लेते हुए मृत्यु को स्वीकार करना ही मेरे लिए शेष रह जाता। उनपर मेरे प्रेम की सीमा नहीं है। मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि हस्तिनापुर के कुण्डल प्राप्त करके ही रहूँगी।”

“सुप्रिये ! बहुत अच्छा हुआ जो तुम आ गयीं। इतने पराक्रमी पति को सँभालना मुझ अकेली के बस की बात नहीं थी। किसी भी बात से उनके मन को चोट न पहुँचे-इतनी सावधानी रखना। ध्यान रखना, बड़े लोगों के दुख भी बड़े ही होते हैं । उनके निवारण के लिए उनकी पत्नी केवल संकल्प और प्रेम से ही काम नहीं चला सकती, बल्कि उसे धैर्य और संयम की भी आवश्यकता होती है।”

अनेक शंकाओं से आच्छादित मेरा मन सुप्रिया के दर्शन मात्र से निश्चिन्त हो गया। हरिणी-जैसे नेत्रोंवाली वह हरिणी-जैसी ही निष्कपट और निरागस थी। अपने नाम की तरह ही वह मुझको अत्यधिक प्रिय लगी। नाम के अनुसार वह सुप्रिया ही थी।

नौ

सुप्रिया के विवाह के बाद महाराज से बातें करने के लिए मुझको एक बड़ा अच्छा कारण मिल गया था।

"केवल स्त्रियाँ ही अपना स्वार्थ देखती हों, ऐसी बात नहीं है। पुरुष भी ऐसे ही होते हैं।" मैं जब यह कहती तब ये आश्चर्य से पूछते, "किस कारणवश तुम मुझसे यह बात कर रही हो?"

"कहूँ न तो क्या करूँ ? आपने तो दो दी विवाह कर लिये, लेकिन अपना छोटा भाई सयाना हो गया है, इस ओर कोई ध्यान ही नहीं है, इसपर कोई और क्या कहे ?"

"वृषाली, कम से कम तुम्हारे सन्तोष के लिए मुझको अब शौण का विवाह शीघ्र ही कर देना चाहिए। नहीं तो..."

"नहीं तो क्या ?"

"नहीं तो मुझसे बदला लेने के लिए तुम स्वयं अग्रणी बनकर एक ही समय में उसके तीन विवाह करके मुक्त हो जाओगी। और जो भी लड़कियाँ मिल जायेंगी, उन्हीं से।

"आपसे कैसा बदला ? आपसे बदला लेने का अर्थ क्या यह नहीं है कि मैं स्वयं अपने से ही बदला लूँ ?"

इसपर वे कुछ नहीं कहते थे। लेकिन वे यह जान गये थे कि यदि अपने भाई का विवाह उन्होंने अति शीघ्र नहीं किया तो मैं कोई-न-कोई बहाना बनाकर उनको छेड़ती रहूँगी।

दस

महाराज दुर्योधन के विवाह के बाद यत्र-तत्र-सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि अब वे शीघ्र ही हस्तिनापुर के अभिषिक्त राजा हो जायेंगे। सब लोग यह भी कह रहे थे कि सेनापति के रूप में वे अंगराज की नियुक्ति करेंगे। महाराज धृतराष्ट्र अत्यधिक वृद्ध हो गये थे। उन्होंने इतने वर्षों तक कुरुराज्य की अच्छी तरह देखभाल की, यही कम महत्त्व की बात नहीं थी। फिर भी नगर के वृद्ध लोग सदैव महाराज पाण्डु का स्मरण करके कहा करते थे कि, "महाराज पाण्डु ने दिग्विजय कर हस्तिनापुर राज्य की कीर्ति में चार चाँद लगाये। उनके कमलपुष्प जैसे पाँच पुत्र माता के साथ अग्नि में भस्मसात् हो गये। कुछ लोग कहते हैं कि वे जीवित हैं। यदि जीवित हैं तो उनको हस्तिनापुर में वापस लाना चाहिए।

नगर के लोगों की ये चर्चा मुझको कभी देवर शौणजी से, कभी सत्यसेन दादा से, कभी प्रभञ्जन से तो कभी मृणाल से मालूम होती रहती थीं। पाण्डवों की स्मृति को प्रेम और श्रद्धा से सुरक्षित रखनेवाले अनेक नगरजन हस्तिनापुर में थे। प्रसंग आने पर मुझको भी राजमाता कुन्ती देवी की याद आती थी। उनकी याद के साथ ही घूमनेवाले उन पाँच भाइयों की भी याद आती। वे इस संसार में नहीं हैं, इस बात पर मुझको कभी विश्वास हुआ ही नहीं था। काल के प्रवाह में कल जो सत्य लगता था वह आज असत्य हो जाता है। और अन्त में यही हुआ। दो-तीन वर्षों तक गुप्त रहनेवाले पाण्डव पांचाली के स्वयंवर में एकदम प्रकट हो गये थे।

स्वयंवर के बाद तुरन्त ही वे मथुरा चले गये थे। श्रीकृष्ण उनके ममेरे भाई थे। सभी नगरजनों ने समझा कि वे अब मथुरा में ही निवास करेंगे, क्योंकि सभी जानते थे कि

महाराज दुर्योधन की उनसे कभी पट ही नहीं सकती । लेकिन मेरी बार बार यह इच्छा होती थी कि वे पाँचों भाई कम-से-कम एक बार तो हस्तिनापुर आयें। उनमें युवराज नकुल तो मुझको अंगराज की ही प्रतिमूर्ति लगते थे। केवल उनके पास कवच कुण्डलों की कमी थी और महाराज जैसे हिरण्यवर्णी घुघराले बाल उनके नहीं थे मेरी तीव्र इच्छा थी कि उन पाँच भाइयों को एक बार अवश्य देखू। काल के प्रवाह में मेरे पुत्र का दुःख अब मन्द हो गया था।

और एक दिन मेरी वह इच्छा पूरी हो गयी। अंगराज और मैं—हम दोनों देवर शोणजी के लिए देश-देश की सुन्दर लड़कियों की चर्चा आपस में कर रहे थे।

"वृषाली, तुमने कुलिन्द देश के सम्बन्ध में कभी कुछ सुना है ?"

"सुना तो है, किन्तु अधिक नहीं।"

"वह देश एकदम हिमालय की जड़ में है। हरी-भरी वनस्पतियों से सदा सर्वदा विभूषित रहनेवाला वह देश पृथ्वी का स्वर्ग ही माना जाता है। उस देश की स्त्रियाँ अप्सरा-जैसी रूपवती होती हैं। शोण के लिए बधू ढूँढने मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा।"

उनका अपने भाई पर सचमुच अतुल प्रेम था। उनका यह विचार सुनकर मैं कुछ कहने जा रही थी कि इतने में ही महाराज दुर्योधन का विशेष सेवक प्रभंजन भीतर आया और शीघ्रतापूर्वक बोला, "महाराज, अत्यावश्यक राजसभा बुलायी जा रही है। मुझको आदेश दिया गया है कि आपको लेकर ही राजसभा में आऊँ।"

"क्यों ? बात क्या है प्रभंजन? इस सभा का प्रयोजन ?" महाराज ने आसन से उठते हुए पूछा।

"मथुरा से चले हुए पाण्डव अब हस्तिनापुर की सीमा के समीप आ गये हैं। सूचना आयी है कि वे गंगा के दूसरे किनारे पर पहुँचे हैं। महाराज दुर्योधन से अपने राज्य का आधा भाग माँगने आ रहे हैं वे, ऐसी कुछ भनक पड़ी है।"

"चलो प्रभंजन, तुम पहले पहुँचो। मैं सभा के वस्त्र परिधान कर आ ही रहा हूँ, यह कह देना।"

वस्त्र धारण करने के लिए वे वस्त्रागार में गये थे। मेरे मन में सन्देह की छिपकली चुकचुक कर उठी। इस राजसभा में फिर कोई झगड़ा न हो जाये। प्रश्न राज्य के बँटवारे का था। राज्य के लिए लाखों वीरों के मस्तक धड़ से अलग हो जाते हैं। वैमनस्य के विषवृक्ष लहलहाते हैं। जो नहीं होना चाहिए, वहीं अटल रूप में होता है । जग की दृष्टि में सम्पत्ति, राज्य, कीर्ति आदि बहुमूल्य होंगे; परन्तु स्त्री के लिए उसका प्रिय पति ही अमूल्य निधि होता है, पति ही उसका सिंहासन होता है।

जैसे ही वे वस्त्र बदलकर आये, मैं उनके सामने पहुँची। मेरा मन मुझसे कह रहा था कि आज उनसे कुछ कहना अत्यावश्यक था।

"वृषाली, तो मैं राजसभा चलता हूँ।" मस्तक पर स्वर्णमुकुट धारण करते हुए वे मुसकराकर बोले।

"ठहरिए ! मैंने आज तक आपसे कुछ भी नहीं माँगा है। परन्तु आज मन कह रहा है कि कुछ माँग ले।

"यह माँगने का समय नहीं है। मैं कुरुओं के राज्य का एक योद्धा हूँ। तुम एक योद्धा की पत्नी हो।

"यही ठीक समय है माँगने का।

"वृषाली, इस समय कोई भी शक्ति मुझको राजसभा में जाने से नहीं रोक सकती है। तुम भी नहीं।"

"मैं आपको जाने से नहीं रोकूँगी। आप राजसभा में अवश्य जायें, परन्तु एक वचन दे जायें।"

"कैसा वचन ?"

"पाण्डवों के राज्य के बँटवारे के बीच आप कुछ न बोलें, बस यही चाहती हूँ मैं।"

"यह कैसे सम्भव है ? दुर्योधन के विचारों का समर्थन करना कर्ण के जीवन का उद्देश्य है। तुम आज किसके कारण सूर्यवंश के इस प्रासाद में अभिमान के साथ अंगराज्ञी बनकर घूम रही हो, क्या यह तुम नहीं जानती ?"

"यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। परन्तु...परन्तु पाण्डव महाराज पाण्डु के ही पुत्र हैं, यह बात मेरा मन बार-बार मुझसे कह रहा है। राजमाता कुन्ती देवी की ओर देखने पर आपको भी ऐसा ही लगेगा।"

राजमाता का नाम सुनते ही वे एकदम अकारण ही गम्भीर हो गये। अपने कन्धे से फिसलते हुए उत्तरीय को सँभाल वे थोड़ी देर तक स्तब्ध खड़े रहे ।

चुप्पी भंग करती हुई मैं बोली, "कौरव और पाण्डवों के राज्य के बँटवारे में आप किसी का भी पक्ष न लें, क्योंकि शायद वह शाश्वत शत्रुता बदल जाये।"

मेरे पास आकर सदैव की भाँति मेरा मुख अपनी गर्म हथेलियों में लेकर मेरी आँखों में झाँकते वे बोले, "वृषाली, क्षण-भर पहले जब तुम शोण के विवाह का विचार कर रही थी, तब तुम मुझको ठीक उसकी बड़ी बहन-जैसी ही लगी और अब मेरा विचार करते समय क्षण-भर को मुझे तुम दो प्राणियों की माता लगी हो। एक तो जो तुम्हारे उदर में है उस कर्ण के पुत्र की और एक स्वयं कर्ण की। स्त्री यदि चाहे तो पुरुष से एक ही समय में अनेक नाते से व्यवहार कर सकती है, यही बात तुमने आज सिद्ध कर दिखायी है। प्रणय के समय मादकता बिखेरनेवाली प्रणयिनी और पुत्र की सुरक्षा के लिए सजग रहनेवाली माता-दोनों

कभी-कभी इस एक ही शरीर में और एक ही समय में रह सकती है। इस जगह यदि राधामाता होती तो उसने भी आज ठीक यही कहा होता।

“जाइए आप, लेकिन सुनने के लिए; बोलने के लिए नहीं।

"ठीक है। मेरे कथन पर विश्वास रखो, मैं कुछ भी नहीं कहूँगा।" अनजाने ही उन्होंने वचन दे दिया।

वे चले गये। मैं निश्चिन्त हो गयी। नगर में पाण्डवों के आने की सूचना देनेवाले वाद्य बज रहे थे। मैं गवाक्ष में खड़ी हो गयी। मैं राजमाता कुन्ती देवी को एक बार देखना चाहती थी।

लगभग आधी घड़ी के भीतर ही पाण्डव, राजमाता कुन्ती देवी और द्रौपदी विपुल जनसमुदाय साथ राजभवन के सामने आ गये। उनके साथ आचार्य विदुर थे। उनके लिए एक साधारण रथ तक नहीं भेजा गया था, यह बात मुझे बुरी लगी। मैं गवाक्ष में से राजभवन के महाद्वार पर होनेवाली सभी घटनाओं को देख रही थी। पितामह भीष्म और आचार्य विदुर ने पाण्डवों को कसकर आलिंगन दिये। परन्तु महाराज धृतराष्ट्र के आलिंगन में वह गरमाहट नहीं थी। महाराज दुर्योधन भीम की ओर देख रहे थे। लेकिन पीठ पर एक वृद्ध स्त्री को लिये हुए होने के कारण भीम का सिर झुका हुआ था। युवराज अर्जुन अंगराज के कुण्डलों की ओर और युधिष्ठिर पैरों की ओर एकटक देख रहे थे। राजमाता कुन्तीदेवी और अंगराज एक-दूसरे को इतना ध्यान से क्यों देख रहे थे? शायद अंगराज राजमाता की आंखों में झाँककर यह पता लगा रहे थे कि पाण्डव महाराज पाण्डु के ही पुत्र हैं क्या। और राजमाता उनको अपने नेत्रों से ही कह रही थीं कि, “अंगराज कर्ण, तुम्हीं अपने दुर्योधन को यह विश्वास करा दो कि हम इस राज्य के उत्तराधिकारी हैं।”

युवराज भीम की पीठ पर जो वृद्ध स्त्री थी, उसकी पहली मैं बिलकुल भी न सुलझा सकी। वह स्त्री कौन है, इस सम्बन्ध मैं मैंने बहुत तर्क-वितर्क करके देखा, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। अन्त में मैंने पूछताछ करने के लिए अपने महल से मृणाल को भेजा। उसने नीचे जा, उस भीड़ में घुसकर उस स्त्री के सम्बन्ध में पूछताछ की और फिर वापस आकर साँस रोककर बोली, “महारानी, वह एक दासी है।”

"दासी ! युवराज भीम की पीठ पर ?"

“हाँ, वह राजमाता कुन्तीदेवी की दासी हैं। धात्री या धरित्री ऐसा ही कुछ नाम है उसका।

"क्या नाम बताया उसका?"

"धात्री !"

चाहे तो उस नाम के 'ध' और 'त्र' इन कठोर अक्षरों के कारण ही या अन्य किसी कारण से हो, मुझको उस दासी का नाम तनिक भी अच्छा नहीं लगा।

मैंने ऊपर से देखा। राजमाता कुन्ती देवी और द्रौपदी आचार्य विदुर के साथ राजप्रासाद से बाहर चली गयीं, क्योंकि आचार्य ने सर्व-संग-त्याग कर दिया था और राजभवन में नहीं रहते थे, कुन्तीदेवी नगर के बाहर उनकी पर्णकुटी में ही रहनेवाली थी। अन्य लोग राजसभा के लिए सभागृह की ओर मुड़े। अंगराज ने पास खड़े प्रभञ्जन को युवराज भीम की पीठ पर से वृद्धा को उतार लेने का संकेत किया। सब लोग राजभवन की सीढ़ियाँ चढ़कर चले गये। सबसे पीछे शकुनि मामा थे। उन्होंने महाराज दुर्योधन के कान के पास मुँह ले जाकर कुछ कहा। उन्होंने क्या कहा—यह अन्य कोई जान नहीं सकता था।

युवराज अर्जुन का पृष्ठभाग देखते समय इन्होंने मेरे पुत्र को मारा है, इस सत्य पर भी मेरा विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि वे कितने धीरे-धीरे पैर रखते हुए सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे।

प्रत्यक्ष युद्ध होते समय कौन मारा जा रहा है, इस ओर इन योद्धाओं का ध्यान होता है या कौन बता सकता है। यों वे कितने सौम्य दिखाई देते हैं, लेकिन युद्ध की आग भड़कने पर वे कितने क्रूर हो जाते हैं।

ग्यारह

राजसभा जो कुछ हुआ वह सब मुझे मालूम पड़ गया। मुझको वह अच्छा नहीं लगा। सम्पत्ति और सत्ता, मनुष्य के मन को कभी-कभी पशु से भी अधिक क्रूर बना देती है ! राज्य में से अपना भाग माँगनेवाले युधिष्ठिर के साथ शकुनि मामा ने जो व्यवहार किया था, वह किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता था। मुझको तो वह बिलकुल अच्छा नहीं लगा । परन्तु अच्छी न लगनेवाली सभी बातें व्यक्ति सदैव ही टाल सकता है—ऐसी बात नहीं है ! मुझको शकुनि मामा का अपना राज्य छोड़कर हस्तिनापुर में रहना ही अच्छा नहीं लगता था। सारी विपत्ति की जड़ वे ही थे।

सभागृह में पाण्डवों की ओर से युवराज युधिष्ठिर ने 'हम महाराज पाण्डु के पुत्र हैं,' यह कहकर प्रार्थना की कि, 'हमारे दिग्विजयी पिता के जीते हुए राज्य का न्यायोचित भाग हमको दिया जाये।' राजसभा में सभी वृद्ध और अनुभवी कौरव योद्धा होते हुए भी शकुनि मामा ने बीच में ही उठकर कपट भाव से कहा, "पाण्डवों को राज्य का भाग ही यदि चाहिए तो कौरव उनको बड़े आनन्द से खाण्डव वन का विशाल राज्य देने को तैयार हैं। पाण्डवों का जन्म शतशृंग पर्वत पर हुआ है। उनको पर्वत पर और अरण्य में रहना ही अच्छा लगता है !"

मामा के वचन ज्वलन्त अन्याय, ढोंग और क्रूर असत्य से भरे हुए थे। लेकिन सभा के सभी योद्धाओं ने विवश-स्तब्धता स्वीकार कर ली थी। अंगराज से वचन लेकर मैं आज

बहुत बड़ी भूल कर बैठी थी। पाण्डवों पर अन्याय हो रहा है, यह जानकर वे सभा में अत्यधिक बेचैन हो उठे थे, लेकिन वचन के कारण वे कुछ कह न सके थे।

युधिष्ठिर ने खाण्डव वन स्वीकार कर लिया। सभा विसर्जित हो गयी।

सभा से आते ही अंगराज बोले, "वृषाली, पाण्डवों को घनघोर अरण्य देने में मामा की शायद यही इच्छा है कि वे जंगली पशुओं का भोजन बनें। सभा में जो कुछ हुआ वह वीरों के अनुरूप नहीं था ! ठीक आज ही मुझसे वचन लेने की तुम्हें कैसे सूझी?"

बारह

दो दिन आचार्य विदुर की पर्णकुटी में रहकर पाण्डव खाण्डव वन की ओर जानेवाले थे। उनके दो दिन रुकने की अवधि में ही एक बार राजमाता के दर्शन करने की मेरी बड़ी उत्कट इच्छा थी। राजमाता कुन्ती देवी के प्रति मेरे मन में इतना आकर्षण क्यों था, इसका उत्तर शायद मैं कभी न दे पाती। लेकिन आकर्षण था यह सत्य है। जीवन में अनेक व्यक्ति मिलते हैं, उन सबके प्रति ही हमको विशेष लगाव हो जाता हो, ऐसी बात नहीं होती; लेकिन किसी-किसी व्यक्ति के प्रथम बार के दर्शन से ही एक विचित्र लगाव-एक विचित्र आकर्षण —पैदा हो जाता है। राजमाता के सम्बन्ध में मेरे मन की यही स्थिति हो गयी थी। बहुत दिनों के बाद मिलने का अवसर आने के कारण उनसे बातें करने की मेरी प्रबल इच्छा हो रही थी। और यह संयोग राजमाता कुन्ती देवी ने ही उपस्थित कर दिया। उन्होंने पर्णकुटी से एक सेवक के हाथों सन्देश भेजकर मुझको बुलवाया। मैं यही चाहती थी। उनके मन में मेरे प्रति प्रेम था, यह बात मैं बहुत पहले जान गयी थी। उनका सन्देश आते ही मैंने क्षण-भर का भी विलम्ब किये बिना सत्यसेन दादा को बुलवाया। उन्होंने रथ जोड़ा और आचार्य विदुरजी की पर्णकुटी के सामने खड़ा कर दिया।

पर्णकुटी के द्वार पर ही राजमाता कुन्ती देवी और आचार्य दोनों खड़े-खड़े कुछ बातें कर रहे थे। मुझको देखते ही राजमाता आगे बढ़ीं। पाण्डव शायद नगर में गये हुए थे। रथ से नीचे उतरते ही उनके चरण स्पर्श कर मैंने आदरपूर्वक उनको वन्दन किया। कन्धे पकड़कर मुझको ऊपर उठाती हुई वे बोली, "बहू, तुम गर्भ से हो, इसका पता नहीं था मुझे ! नहीं तो मैं ही आकर तुमसे मिल लेती !" उनका प्रत्येक शब्द मुझको अपनी माता की तरह ममता से भरा हुआ लगा। इस सत्त्वशील राजमाता को दैव ने कितना क्रूर दण्ड दिया था ! लेकिन फिर भी उस कुलवान् शरीर में बड़ा विशाल मन था। एक महारानी मुझ जैसी सूतकन्या की, सूतराज की पत्नी की, प्रेमपूर्वक कुशल-क्षेम पूछ रही थीं।

मन में एकदम विचार आया कि दैव हाथ में कँटीला शस्त्र लेकर गुणवान् व्यक्तियों का ही सदैव पीछा क्यों करता रहता है ? संसार में सभी सज्जनों के हिस्से में ही दुर्भाग्य क्यों आता है ? कहीं यह बात तो नहीं कि दुर्भाग्य को स्वीकार करने योग्य विशाल हृदय सज्जनों के पास ही होता है, औरों के पास नहीं ?

राजमाता से मैंने निस्संकोच बातें कीं। बीच-बीच में बड़े ही प्रेम वे मुझको बताती जाती थीं कि गर्भावस्था में शरीर का ध्यान कैसे रखना चाहिए। जब मैं लौटने लगी तब वे बोली, “तुमको जो पुत्र होगा, वह विख्यात होगा। तुमने उसका नाम क्या रखने का निश्चय किया है ?”

“यदि उसको कवच और कुण्डल हुए तो...कवचधर या कुण्डलसेन !” मैं बोली।

कुछ रुक-रुककर वे बोली, “नहीं बहू, न कवच उसके पास होगा और न कुण्डल ही होंगे ! हाँ, अपने पिता की तरह वह सुन्दर अवश्य होगा !...वह भी तुम्हारी तरह भाग्यशाली हो इसलिए तुम अपने नाम पर उनका नाम वृषसेन रखना ।”

“आपकी इच्छा है तो मैं उसका नाम वृषसेन ही रखूंगी !”

मैंने उनसे विदा ली और पर्णकुटी से बाहर निकलकर रथ में बैठी। उनकी सभी बातों में से ‘न कवच उसके पास होगा और न कुण्डल ही होंगे’ इसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। उन्होंने यह बात क्यों कही थी ? इसका कोई उत्तर मुझको नहीं मिला।

तेरह

पाण्डव अपनी माता को साथ लेकर खाण्डव वन की ओर चले गये। वहाँ वे पर्णकुटी बनाकर रहनेवाले थे। एक पराक्रमी राजा के पाँच सुपुत्र एक घने अरण्य में रहने के लिए चले जायें, यह बात मुझको खटक रही थी। लेकिन मैं एक स्त्री थी। जो कुछ हो रहा हो उसको चुपचाप देखने के अतिरिक्त स्त्री कर भी क्या सकती है ! अपने कुटुम्ब का भला करना ही बस उसके वश में होता है।

मैं अंगराज से शोणजी के विवाह की बात अनेक ढंग से कहा करती थी। एक बार पौर्णिमा के शुभ दिन वे अपनी सेना लेकर शोणजी के साथ वधू ढूँढ़ने के लिए कुलिन्द देश चले ही गये। मेरा मन शान्त हो गया। जिस दिशा में वे जायेंगे, उस दिशा को निश्चय ही अपने अधीन कर लेंगे, इसपर मुझको पूर्ण विश्वास था।

एक महीने के बाद वे लौटकर आये। उनके साथ कुलिन्द राज्य की एक रूपवती तरुणी थी। राजप्रासाद में आते ही मैंने उसकी आरती उतारी। मेरे एकमात्र देवर की वह पत्नी

होनेवाली थी। उसकी देहकान्ति आकाश की विद्युत् की तरह तेजस्वी थी। आँखें बड़ी-बड़ी थीं। नासिका एकदम सरल थी। मुखमुद्रा अंगराज की तरह ही गोलाकार थी। उसका नाम था मेघमाला ।

राजप्रासाद के सम्मुख भव्य मण्डप बनाकर उसमें मेघमाला और शोणजी का विवाह सम्पन्न किया गया। उनके विवाह से मुझे बड़ा आनन्द मिला, क्योंकि मैं एक उत्तरदायित्व मुक्त हो गयी थी। विवाह के उपरान्त वन्दन करने के लिए जब शोणजी वधू के साथ आये तब मैं बोली, "देवर, यह मेघों की माला आज तुम्हारे कण्ठ में डाल दी है। उसको सँभालना। तुम्हारे संसार में इन्द्रधनुषी रंग पुष्पित होंगे।"

वे परिचित सहजता से हँसते हुए बोले, "जैसे भैया ने दो विवाह किये हैं, वैसे ही मैं भी करूँगा-क्या यह समझ रही हैं आप, भाभीजी ? लेकिन भैया में और मुझमें बहुत अन्तर है।"

चौदह

मैं, सुप्रिया और मेघमाला हम तीनों ही अपनी सास और श्वसुर की सेवा कर रही थीं। हमारी ओर देखकर वे सदैव सुख की भावना से कहते, "बेटियो, अब तो भगवान् हमें अपने पास बुला लें, यही इच्छा होती है। सुख के शिखर से स्वर्ग को जानेवाला मार्ग यदि समीप होता तो कितना अच्छा होता ! कर्ण अंगराज हो गया, उसके विवाह हो गये, शोण भी चतुर्भुज हो गया, हम जैसे सारथी इससे अधिक सुख की और क्या कल्पना कर सकते हैं ?"

मुझको चिकोटी काटती हुई सुप्रिया उनसे कहती, "लेकिन पिताजी, हमने सुना है कि नाती का मुख देखे बिना स्वर्ग में प्रवेश नहीं मिलता।

"हाँ, सुप्रिये, वह एक इच्छा शेष है। वृषाली जल्दी ही हमारी वह इच्छा पूरी करेगी! क्यों वृषाली ?" वे मुझसे पूछते। मेरा मुख लज्जा से लाल हो जाता। मैं सुप्रिया की ओर बनावटी क्रोध से देखती। वह मुँह मोड़कर खिलखिलाकर हँसती रहती। सुदामन के बाद कई वर्षों से हमारे महल में बाल-बोल नहीं गूँजे थे।

पन्द्रह

दिन पर दिन बीतते जा रहे थे। मुझे उठने-बैठने में परेशानी होने लगी थी। तल्प पर लेटने पर मेरा सम्पूर्ण जीवन मेरी आँखों के आगे आकर खड़ा हो जाता था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण माता और सत्यसेन भैया ने ही बड़े प्यार से मुझे पाला था। जिस दिन हम हस्तिनापुर में आये थे, उसी दिन माता भी सदैव के लिए चली गयी थीं। प्रयाग में मैं और अंगराज पहली बार मिले थे। उसका करण बना था-एक घोड़ा और एक घड़ा। मैं सदैव उस घोड़े को मन-ही-मन धन्यवाद दिया करती थी। उसने मुझको जन्म-जन्म का साथी दिया था। पराक्रमी, रूपवान्, गर्वहीन और स्नेहशील। उनके साथ रहने में मेरे जीवन में वसन्त आ गया था। मातृत्व स्त्री के जीवन-यज्ञ की पवित्र सम्पूर्ति है। मातृत्व प्रकृति द्वारा स्त्री को मिला हुआ श्रेष्ठतम वरदान है। पराक्रम का मातृत्व पुरुष हाथ में होता है, परन्तु मातृत्व का पराक्रम करना केवल स्त्री ही जानती है। मातृत्व स्त्री की श्रेष्ठतम और सहज सुन्दर साधना है। अन्य सब आनन्द सापेक्ष होते हैं, परन्तु मातृत्व का आनन्द ब्रह्मानन्द होता है, क्योंकि वह सृष्टि का अतुल आनन्द होता है। लेकिन वह आनन्द सहजसाध्य नहीं होता है। उसके लिए स्त्री को मरणप्राय प्रसव-वेदना सहन करनी पड़ती है। प्रसव-वेदना की भट्टी में तपकर निखरता है मातृत्व का सुवर्ण ! तभी तो स्त्री को उसपर अभिमान होता है।

और एक दिन मैं प्रसव-वेदना से तड़पने लगी। जैसे कोई हज़ारों बाणों की नोकें पूरे शरीर में निर्दय होकर चुभो रहा था। मैं उन सब यातनाओं को धैर्यपूर्वक सहन कर रही थी। अपने पुत्र के जीवन के लिए वे मुझको सहन करनी ही थीं। जीवन ! सभी को मधुर और स्पृहणीय लगनेवाला जीवन कितने कष्टमय मार्गों से साकार हुआ करता है। माता के प्रसव-वेदना के निःश्वास से ही जन्म-ग्रहण करनेवाला शिशु जीवन का हुंकार लिया करता है। मातृत्व सबसे अद्भुत चमत्कार है ! वेदनामय परन्तु उतना ही आनन्ददायक, भीतिदायक लेकिन आशाप्रद !

मैं प्रसूता हुई। औदुम्बर के पके फल-जैसे अंजीरी रंग के एक बालक ने जन्म लिया। मेरा शरीर रिक्त हो गया और मन वात्सल्य से भर गया ! मैं माता बन गयी। सारे अंग की शक्ति निकल जाने से शरीर श्रान्त हो गया था, फिर भी बड़ी उत्सुकता से जैसे-तैसे अपने को सँभालती हुई मैं उठी। दाई के हाथ से उस शिशु को लेकर मैंने छाती से लगा लिया। वह पुत्र था। ठीक महाराज-जैसा दिखनेवाला....परन्तु....परन्तु उसके कान में महाराज जैसे कुण्डल नहीं थे। उसकी देह का चर्म अभेद्य था या नहीं, यह भी पता नहीं चलता था ! मुझको आश्चर्य का आघात लगा। राजमाता कुन्ती देवी का अनुमान बिलकुल ठीक निकला था।

उस शिशु की रोने की आवाज़ सुनकर महल के बाहर खड़े हुए महाराज, देवर शोणजी, सुप्रिया, मेघमाला, सत्यसेन दादा सभी भीतर आये। भीतर आते ही महाराज ने तत्परता से मेरे हाथों से बालक को अचानक ही अपने हाथों में ले लिया। अत्यन्त अधीर दृष्टि से उन्होंने उसके कानों की ओर देखा। उसको कुण्डल नहीं हैं, यह बार-बार टटोलकर देखा। उसकी

सुकुमार सुकोमल कनिष्ठिका पर उन्होंने धीरे से सुई छेदी। कनिष्ठिका पर क्षण-भर में ही रक्त की बूंद दृष्टिगोचर होने लगी ! यह देखते ही वे एकदम गम्भीर गये। उनकी लम्बी देहयष्टि थरथराने लगी। शिशु को अपने हाथों से पुनः दाई के हाथों में देकर वे देवर शोणजी के पास गये और उनके कन्धे पकड़कर उनको ज़ोर से हिलाते हुए बोले, "शोण ! तुम मेरे सगे भाई हो, लेकिन तुमको कवच कुण्डल नहीं हैं। यह मेरा पुत्र है, फिर भी इसको कवच-कुण्डल नहीं हैं। क्यों नहीं हैं ? मैं कौन हूँ ? अरे, तुम सब मुझको बताते क्यों नहीं कि मैं कौन हूँ ?"

वे आगे बोले, "सुदामन के समय भी मुझको बुरा लगा था, परन्तु अगले पुत्र को कवच-कुण्डल होंगे, इस आशा से मैंने अपने मन को समझा लिया था। आज इस सम्बन्ध में मैं पूर्णरूप से निराश हो गया हूँ। मेरे किसी भी पुत्र को कवच कुण्डल नहीं होंगे !"....

शोणजी चुप थे.....स्तब्ध थे। अपने पास खड़ी अपनी माता से व्याकुल होकर अंगराज ने पूछा, "माता, तुम्हारे इस पौत्र को भी कवच-कुण्डल क्यों नहीं हैं ?" उन्होंने भी कोई उत्तर नहीं दिया। अन्त में वे उसी आवेश में मेरे पास आये और मैं श्रान्त हूँ, यह भूलकर मेरे हाथों को ज़ोर से हिलाते हुए बोले, "वृषाली, कम-से-कम तुम्ही बताओ कि मैं कौन हूँ ? कोई तो मुझे बताये, मैं कौन हूँ ?"

"इतने क्यों उद्विग्न होते हैं ? आप राधामाता के पुत्र हैं, शोणजी के अग्रज हैं, आप इस बालक के पिता हैं, आप अंगराज हैं !!!" मैंने धीरे से उन्हें उत्तर दिया।

"नहीं वृषाली, यह बात नहीं है। मैं कौन हूँ, यह बात स्वयं मैं नहीं जानता। और कोई कभी मुझको यह बताता भी नहीं !!!" यह कहकर वे वहाँ से द्रुतगति से चले गये।

सोलह

मेरे द्वितीय पुत्र का नामकरण हुआ। सभी उसके अनेक सुन्दर-सुन्दर नाम सुझा रहे थे; परन्तु मैंने उसका नाम वृषसेन रखने का आग्रह किया। वृषसेन के आगमन से मुझको मन बहलाने का एक सुन्दर साधन प्राप्त हो गया। वह हाथ-पैर लगातार ऐसे चलाता था कि कभी-कभी मुझको डर लगने लगता था। घर और सन्तान—यही स्त्री का जीवन होता है। उसी में उसका मन रमता है। मेरा पहला पुत्र सुदामन द्रौपदी के स्वयंवर में अकारण ही प्राण गँवा बैठा था। उसकी स्मृति कभी कभी मेरे हृदय में कसक उठती थी। परन्तु उसको तो भुलाना ही था। सुप्रिया और मेघमाला वृषसेन को पल-भर भी गोद में से नहीं उतारती थीं। "वृष, वृषू" कहती हुई वे उसको बार-बार चूमतीं। उस समय मुझको ऐसा लगता जैसे मेरे सर्वांग पर कोई सुख के सहस्र मयूरपंख फेर रहा हो ! सुदामन ही दूसरी देह धारण कर मेरे

उदर में आ गया है—ऐसा मुझे लगता। शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा जैसे एक-एक कला से बढ़ता जाता है, वैसे ही वह सबकी स्नेहच्छाया में बड़ा होने लगा। उसकी अंग-यष्टि सबकी दृष्टि को आकर्षित करती थी। नित्य मेरे मन में आता कि यदि इसको कवच कुण्डल होते तो बहुत ही अच्छा होता। वृषसेन को देखने के लिए महारानी भानुमति और युवराज्ञी दुःशला देवी आयीं। महारानी से मैं पहली बार ही मिल रही थी। मैंने सोचा था कि उनका स्वभाव बड़ा विनोदप्रिय होगा, लेकिन वे बहुत ही अभिमानिनी निकलीं ! मुझसे मिलते ही उन्होंने मुझसे और कुछ न पूछकर गड़े मुरदे उखाड़ते हुए कहा, “मेरा मिलने के लिए आना तुमको अच्छा नहीं लगा होगा !”

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"मैंने तुम्हें सौत लाकर दी है, इसलिए !"

"छिः, मैंने कभी यह सोचा भी नहीं। बल्कि सुप्रिया ने तो मेरा आनन्द न जाने कितना बढ़ा दिया है।"

"इस समय तो यह बात ठीक है। लेकिन कल को जब उसके भी बाल-बच्चे हो जायेंगे, तब भी ये सम्बन्ध ऐसे ही रहेंगे, यह आवश्यक तो नहीं।"

"हम दोनों ही अंगराज की पत्नी हैं। हमारी इच्छा की अपेक्षा अंगराज की इच्छा का ही महत्त्व अधिक है।" मैंने कहा।

"अंगराज्ञी वृषाली, भवितव्य अंगराज की ही क्या, साक्षात् परमेश्वर की इच्छा की भी उपेक्षा कर सकता है।" वे बोलीं।

वे चिढ़ी हुई-सी इस प्रकार बातें कर रही थीं जैसे मुझसे तर्क-वितर्क करने ही आयी हों। मैं चुप हो गयी। जिस काम से वे आयी वह यों ही रह गया। वृषसेन को उन्होंने देखा भी नहीं। युवराज्ञी दुःशला देवी ने अवश्य उसको गोद में लेकर उसके दोनों कान बार-बार टटोलकर देखे। उसके धुंधराले बालों को उन्होंने बार-बार चूमा ।

सत्रह

मैं सुख के शिखर पर थी, पर कभी-कभी मुझको राजमाता कुन्ती देवी की याद आ जाती थी। इसीलिए मैंने सत्यसेन दादा से विशेष रूप से कह रखा था कि उनके सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी प्राप्त हुआ करे, मुझे बता दिया करें। उन्होंने जो कुछ कहा था, उसको सुनकर मुझको पाण्डवों के कर्तृत्व पर आश्चर्य होता था ।

केवल छह महीनों में ही उन पाँच शक्तिशाली वीरों ने खाण्डव वन का घना जंगल काटकर साफ़ कर दिया था। वन में जो गगनचुम्बी वृक्ष थे, वे धराशायी कर दिये थे। सदैव कन्धे पर गदा धारण करनेवाले युवराज भीम प्रातःकाल कन्धे पर धारदार परशु रखकर अरण्य में जाते तो फिर एक योजन के घेरे के अन्तर्गत समस्त ऊबड़-खाबड़ वृक्षों और कँटीले झाड़-झंखाड़ों को नष्ट करके ही लौटते थे। पाँच में से एक को अपनी माता और पांचाली की रक्षा के लिए छोड़कर सुबह ही शेष चारों चार दिशाओं में जाते और काम करने लगते। हज़ारों वर्षों से जिस धरती को कभी सूर्य प्रकाश का स्पर्श नहीं हुआ था, उनके कर्तृत्व से वही अब प्रकाश के स्पर्श से पवित्र हो रही थी। खाण्डव वन समतल भूमि के रूप में परिवर्तित हो रहा था।

एक वर्ष में खाण्डव वन समतल भूमि में रूपान्तरित हो गया। उसके बाद तुरन्त ही मथुरा से श्रीकृष्ण द्वारा भेजे गये कारीगरों की सहायता से उन्होंने अरण्य की काष्ठ सम्पत्ति का उपयोग कर एक प्रचण्ड प्रासाद बनाना प्रारम्भ कर दिया। उस प्रासाद के लिए भीम कन्धे पर भारी-भारी पाषाण ढो लाते थे। उन पाँच अभिमानी राजपुत्रों ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि किसी की भिक्षा पर जीवन नहीं बिताना है। मथुरा के कुशल कारीगर जिस विशाल राजभवन का निर्माण कर रहे थे, वह दिन-प्रतिदिन आकाश के उदर में अपना मस्तक ऊँचा करता जा रहा था। अरण्य के जंगली घोड़े पकड़कर नकुल उनको अभ्यस्त कर रहे थे। उन्होंने लकड़ियों के एक घेरे में सैकड़ों घोड़े बन्द कर रखे थे। पाण्डव क्रमशः जो प्रगति कर रहे थे उसकी अधिक जानकारी हस्तिनापुर में किसी को नहीं थी। मेरे आग्रह पर सत्यसेन दादा कभी-कभी खाण्डव वन जाकर सब बातों का पता लगाकर मुझको बताया करते थे। मैंने उनको सावधान कर दिया था कि इस सम्बन्ध में एक भी शब्द महाराज दुर्योधन के कानों तक नहीं पहुँचे। उनकी ईर्ष्या पाण्डवों का पीछा करती हुई कहीं वहाँ भी न पहुँच जाये, इसका मुझको भय बना रहता था।

राजमाता कुन्ती देवी के आशीर्वाद की छाया में पाण्डव मुझे सुखी प्रतीत होते थे।

अठारह

दिन और रातरूपी चातक पक्षी का जोड़ा हर्षविभोर होकर एक के पीछे एक दौड़ रहा था। वृषसेन कब दो वर्ष का हो गया, यह पता भी नहीं चला। उसके दौड़ने के लिए राजभवन में स्थान कम पड़ने लगा। 'तात, तात' कहकर वह महाराज की गोद में चढ़ने लगा। वे तुरन्त उसको उठा लेते और दीर्घ समय तक उसका मस्तक सूँघते रहते। उनकी पुष्ट बाँह पर बैठकर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उनके कानों के लय से हिलते हुए कुण्डलों को

एकटक देखता रहता। एकाएक उसके मन में न जाने क्या आता कि दोनों हाथों से पास के कुण्डल को टटोलकर वह कहता, "ता SS ता SS ता !"

मेरी ओर देखते हुए ये उससे कहते, "वृषू, तुझको ये कुण्डल अच्छे लगे हैं, लेकिन तुझको मैं ये दूंगा नहीं। दूर के ढोल सुहाने लगते हैं भाई ! इनके लिए कितना मानसिक कष्ट मैंने सहन किया है, यह तुझे कैसे बताऊँ ?"

उनका कथन पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया हो, इस मुद्रा से वह हाथ से कुण्डलों को तत्क्षण छोड़ देता और मेरी ओर हाथ बढ़ा देता। मैं उसको लेती हुई कहती, "अभी दो वर्ष का भी नहीं हो पाया है, लेकिन आपकी बात अभी से समझने लगा है। बड़ा होने पर यह मेरी तो बात बिलकुल ही नहीं मानेगा।"

"यह कैसे हो सकता है, वृषाली ? वह कर्ण का पुत्र है। वह अपनी माता को कभी नहीं भूलेगा।" वे अभिमान से कहते ।

उन्नीस

वृषसेन ने अपने आगमन से मानो राजभवन को निनादित करने का निश्चय कर लिया था। उसके शुभसूचक जन्म के बाद राजभवन अनेक बाल-किलकारियों से भर गया । वृषसेन अभी दो वर्ष का नहीं हुआ था कि महारानी भानुमति के भी पुत्र हुआ। उसका नाम लक्ष्मण रखा गया। उसका नामकरण बड़ी धूमधाम से हुआ। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह कुरुओं का भावी राजा था; महाराज धृतराष्ट्र का नाती था ।

लक्ष्मण के जन्म के एक महीने बाद सुप्रिया के एक पुत्र हुआ। वह चित्र लिखित-सा सुन्दर था, इसलिए उसका नाम चित्रसेन रखा गया। चित्रसेन का जन्म होते ही महाराज से भी अधिक अधीर होकर मैं सुप्रिया के भवन में गयी। उसकी शय्या पर पड़े नवजात शिशु की ओर मैंने उत्सुक होकर देखा....लेकिन उसके भी कुण्डल नहीं थे। महाराज की किसी भी सन्तान को कवच-कुण्डलों का दैवी वरदान प्राप्त नहीं होगा, यह अब निश्चित हो गया था। लेकिन यह निश्चित हो जाने से ही वे अधिक गम्भीर हो गये थे। उनको वास्तव में कौन-सी बात खटक रही थी, यह कोई नहीं जानता था । कभी-कभी वे दिन-भर गंगा के जल में सूर्य को अर्घ्य देते हुए खड़े रहते । भोजन की भी याद उनको न रहती। मुझको उनकी चिन्ता होने लगी।

मेरा पति सामर्थ्यवान् था, रूपवान् था, गुणवान् था। कोई भी स्त्री अपना जीवन-सर्वस्व उसके चरणों पर निछावर कर दे, ऐसा अद्वितीय था....परन्तु उसके मन की थाह कोई भी नहीं ले पाया था। मैं अहर्निश उनके साथ रहती थी, परन्तु कभी-कभी मुझको यों ही

आभास होता कि मैं किसी पुरुष की छाया में न होकर तेज के वलय में ही खड़ी हूँ। और इसीलिए उनके सम्मुख कुछ बातें कहने का साहस मैं कभी कर नहीं पाती थी। पहले एक बार युवराज्ञी दुःशला देवी ने मुझसे एक प्रश्न पूछा था। वह प्रश्न मैंने उनको नहीं बताया था। प्रश्न जानने के लिए उन्होंने मुझको बहुत छेड़ा था; लेकिन मैंने कुछ भी नहीं बताया था।

वह प्रश्न तनिक अश्लील था। "तुम्हारे एकान्त-मिलन में पति के अभेद्य कवच के कारण कोई बाधा नहीं आती है क्या ?" दुःशला देवी द्वारा पूछा गया यह प्रश्न मैं अपने पतिदेव को भला कैसे बता सकती थी?

बीस

एक दिन अचानक यह सूचना मिली की पाण्डवों ने खाण्डव वन में एक नगर बसाया है। उसको सुनकर बहुत-से लोगों को प्रसन्नता हुई। उस नगर का नाम उन्होंने इन्द्रप्रस्थ रखा था। और पाण्डवों में यह भी घोषणा कर दी थी कि इन्द्रप्रस्थ खाण्डवराज्य की राजधानी है। इन्द्रप्रस्थ में बसने के लिए बहुत से पाण्डवप्रेमी नगरजन अपने परिवार के साथ हस्तिनापुर छोड़कर वहीं जाने लगे थे। दिन प्रतिदिन इन्द्रप्रस्थ लोगों से भरने लगा। गायक, नर्तक, कारीगर आदि अनेक प्रकार के लोग इन्द्रप्रस्थ की शोभा बढ़ाने लगे। जिस खाण्डव वन में पहले वन्य पशुओं की भयंकर चीत्कारों के अतिरिक्त और कुछ सुनाई नहीं देता था, वहाँ अब मनुष्यों की कोलाहल ध्वनि गूँजने लगी। संगीत और नृत्य से वहाँ का वातावरण झूमने लगा। धैर्यवान् और कर्तृत्वशील वीर अरण्य को भी राजधानी का वैभव प्रदान कर सकते हैं, यह देखकर कुछ लोगों को जैसे आनन्द हुआ था, वैसे ही कुछ लोगों को दुःख भी हुआ था।

हस्तिनापुर में तो ढिंढोरा तक पिटवा दिया गया था कि जो कोई इन्द्रप्रस्थ जायेगा उसके खेत, धन, सम्पत्ति आदि सब कुछ उसकी अनुपस्थिति में कुरुओं के राजदण्ड के अधीन कर लिया जायेगा। वातावरण ऐसा तैयार होने लगा कि कौरव और पाण्डव के दो अलग राज्य थे, यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा। जो नहीं होना चाहिए था वह हो रहा था। द्वेष के मेघ दोनों राज्यों के नगरों पर घिरते आ रहे थे।

पाण्डवों को राज्य का उचित भाग यदि दे दिया गया होता तो बहुत अच्छा होता, बहुत से लोगों का यह स्पष्ट दृढ़ विचार था। लेकिन सत्ता मदिरा की तरह होती है। वह जिनके हाथ में होती है, उनको मदान्ध बना देती है और जिनके हाथ में नहीं होती, उनको पागल। कौरवों ने भूल की थी। किसी भाँति भी उसका समर्थन नहीं किया जा सकता था। लेकिन राज्य का आधा भाग पाण्डवों को मिल जाने के बाद कुरुवंश के ये एक सौ पाँच वीर मिल-जुलकर रहने लगते—यह भी कोई नहीं कह सकता था। उनके मन एक-दूसरे से दूर हो गये

थे। यद्यपि हस्तिनापुर में आचार्य द्रोण, विदुर, महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, राजमाता गान्धारी देवी आदि सभी लोग थे, तथापि अपने वंशजों के मन को वे अच्छी तरह समझ नहीं सके थे। प्रत्येक व्यक्ति बिना सोचे समझे दूसरे को दोष दे रहा था। हस्तिनापुर कहीं तटस्थ प्रेक्षकों की निष्क्रिय विलासनगरी तो नहीं है-यह उत्कट सन्देह होने लगा था।

परन्तु इन्द्रप्रस्थ इस तरह विकसित हो रहा था जैसे वसन्त ऋतु में पलाश फूल उठता है।

बातचीत करते समय लोग अब 'पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ' कहने लगे थे। केवल इन्द्रप्रस्थ कभी नहीं कहते थे। अनजाने ही बुने जानेवाले धागे मन के आस-पास दूरी का जाल निर्माण कर रहे थे। जिस नगर में किसी समय एक सौ पाँच युवराज साथ-साथ गर्व से घूमते हुए देखे गये थे, उसी नगर में अब यह माना जा रहा था कि वे अब सौ और पाँच में विभक्त हो गये हैं। जिनका रक्त का सम्बन्ध है वे मन कभी एक-दूसरे से दूर नहीं होने चाहिए। अन्त में वे विनाशक सिद्ध होते हैं।

इस बात की नितान्त आवश्यकता थी कि महाराज, पितामह, महामन्त्री आदि जानकार व्यक्तियों में से कोई आगे बढ़कर दोनों राज्यों के सम्बन्ध सुधारने के लिए प्रयत्न करे। क्योंकि मानव-मन अनेक प्रकार के विचारों के तृणों से भरा हुआ एक कछार होता है। उसपर भ्रम के तुषारकण सदैव मोतियों की तरह चमकने लगते हैं ! लेकिन मेल कराने के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं कर रहा था। दिन प्रकाश का आभूषण धारण कर उदित हो रहे थे और रातें अन्धकार के आभूषण पहनकर अस्त हो रही थीं। जिनकी सीमाएँ मिली हुई हैं, ऐसे दो राज्य मन में द्वेष का धधकता अंगारा लेकर कभी सुखी नहीं हो सकेंगे, यह बात बड़े बड़े राजधुरन्धरों को भी नहीं सूझ रही थी।

मेरा जीवन सुखी था, लेकिन आस-पास के इस कुण्ठित वातावरण के कारण वह मुझको सुखी नहीं लगता था।

इक्कीस

सुख के दिन बहुत जल्दी-जल्दी बीत जाते हैं या यों कहिए कि जब मन सुख में उलझा हुआ होता है तब उसको काल का भान नहीं रहता। वृषसेन के साथ ही साथ लक्ष्मण और चित्रसेन भी बड़े होते जा रहे थे। भले ही बड़ी हो जाये, लेकिन माता-पिता को अपनी सन्तान सदैव छोटी ही लगा करती है। वृषसेन छह वर्षों का हो गया था। निरन्तर बोलते रहना और अविरत हाथ-पैर चलाते रहना ही उसका स्वभाव था। अनेक शंकाओं से और प्रश्नों से वह राजभवन के सभी लोगों की नाक में दम कर देता था। वह थोड़ा-बहुत किसी से डरता था, तो महाराज से। राजसभा, युद्ध शास्त्र और मृगया से बचा हुआ सारा समय

महाराज वृषसेन के साथ ही बिताते थे। उससे बातें करते समय वे भी छोटे बच्चे बन जाते। कई बार तो वृषसेन उनसे बड़े आश्चर्यजनक प्रश्न कर बैठता।

एक बार वह महाराज से बोला, “तात, आप तो बहुत ही स्वार्थी हैं।

“सो कैसे वृष ? मुझको तो सारा हस्तिनापुर उदार कहता है !” उसके सिर पर हाथ फेरते हुए वे हँसकर बोले ।

“नहीं। आप स्वार्थी ही हैं। नहीं तो आप हमारे लिए भी अपने ही जैसे सुन्दर कुण्डल न लाते !”

“ऐसे कुण्डल यदि सरलता से मिल जाते तब तो उनको प्रत्येक व्यक्ति ले लेता वत्स ! तुमको अच्छे लगनेवाले ये कुण्डल यदि मैं काटकर निकाल सकता तो मैं तुमको अभी दे देता ! मुझको भी अब वे अच्छे नहीं लगते ।

“आप स्वयं कैसे काट देंगे उनको ? कोई दूसरा भले ही काट सकता है। आप दोनों हाथों से कान और खड्ग आखिर पकड़ेंगे कैसे ?”

“यदि तुमसे हो सके तो तुम करके देखो।”

“कर तो दूंगा, लेकिन रक्त आ गया तो ? माता मारेगी न ?”

“नहीं रे ! उसके आने से पहले ही तुम कुण्डल निकाल लो। रक्त नहीं आयेगा और यदि आ भी गया तो मैं रोऊँगा नहीं। उसको बताऊँगा भी नहीं।”

अपने पिता की ही तरह हठी वह उसी समय शस्त्रागार में गया और शस्त्रागार से एक छोटा सा खड्ग लेकर उसको हाथों में नचाता हुआ लौट आया। महाराज की गोद में बैठकर उसने उनका एक मांसल कुण्डल अपने नन्हे हाथ की चिमटी में पकड़ लिया। फिर एकदम क्षण-भर रुककर वह बोला, “तात, मैं आपकी तरह स्वार्थी नहीं हूँ। मैं....मैं एक ही कुण्डल लूँगा। एक, एक आपके लिए रहेगा !!” यह कहकर उसने खड्ग संभाला।

“ठीक है। अपने भाग का तुम ले लो। जल्दी करो ।” उन्होंने उसको आज्ञा दी ।

अपनी नीली आँखें बड़ी-बड़ी कर वह अब क्या करेगा, यह वे उत्सुक होकर देखने लगे।

इतने में ही मैं वहाँ पहुँच गयी।

अपने नन्हे-नन्हे दाँतों से अधर-ओष्ठ आवेश से दबाकर वह खड्ग के धारदार फल को उनके कानों पर लगातार फिराने लगा। लेकिन खड्ग घास के पत्ते की तरह उनके कान पर केवल फिरता रहा। बड़ी देर तक वह प्रयत्न करता रहा। हम दोनों उसके परिश्रम पर हँस रहे थे। आखिर वह थक गया। उसके बाल मस्तक पर स्वेद-बिन्दु चमकने लगे। खड्ग भी उससे नहीं उठ रहा था। हाथ से उसको फेंककर वह उनकी गोद से नीचे उतरा।

उन्होंने पूछा, “क्यों रे वृष ? क्या हुआ ?”

उसने जो उत्तर दिया, वह इतना अनपेक्षित था कि उस दिन मुझको पहली बार ही यह विदित हुआ कि वह बड़ा समझदार है। अपनी पराजय को तनिक भी स्वीकार न करते हुए वह लड़कपन-भरी स्वाभाविकता से बोला, "कुछ नहीं तात, आपका कुण्डल मुझको नहीं चाहिए।"

"क्यों भाई ?"

"क्या करूँगा उनको लेकर? आपके कान कितने बड़े हैं और मेरे कितने छोटे ! मेरे कानों में वे बड़े नहीं लगेंगे क्या ?"

उसके उत्तर से प्रसन्न होकर महाराज ने उसका हाथ पकड़कर उसको फिर अपनी ओर खींचा और उसके कुण्डलरहित कान को बार-बार चूमते हुए वे बोले, "तुम्हारे पास कुण्डल नहीं हैं, यही ठीक है। इन कुण्डलों से मेरा क्या कल्याण होनेवाला है, यह मैं स्वयं नहीं जानता, वत्स!"

वृषसेन की बाल-क्रीड़ाओं में हमारे दिन ऐसे व्यतीत हो रहे थे जैसे कि गोफन (पत्थर फेंकनेवाला एक अस्त्र) से खेत के पक्षी फुर्र से उड़ जाते हैं। कुछ घटनाओं की स्मृतियाँ ही शेष रह जाती थीं। सूर्यास्त के बाद अलसाये हुए धूसर अस्पष्ट सन्धिप्रकाश की तरह !

बाईस

अंगराज के साथ कभी-कभी गुरुपुत्र अश्वत्थामा दुग्धपान के लिए महल आया करते। उनकी और वृषसेन की आपस में खूब पटने लगी थी। किसी के सामने हार स्वीकार न करनेवाले गुरुपुत्र उसके सामने तत्काल हथियार डाल देते थे ।

इसी प्रकार एक बार वे महल आये। मैंने फलों से भरी हुई एक थाली मृणाल के हाथों कक्ष में भेजी। गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने उसमें से धीरे से एक अंजीर उठा लिया। उसको उन्होंने धीरे से काटा। फिर उसकी ओर वे बड़ी गम्भीर दृष्टि से केवल देखते रहे। तब महाराज बोले, "क्या हुआ अश्वत्थामन् ?"

"अंगराज, ऊपर से सुन्दर दिखनेवाले इस फल में एक कृमि है। अपना जीवन भी ऐसा ही नहीं है क्या ? ऊपर से सुन्दर परन्तु भीतर से सड़ा हुआ।

"अश्वत्थामन् ! इसमें इस फल का क्या दोष है ?"

"दोष किसका है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु वास्तव में जीवन जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं होता, यही सच है ! इस फल को ही देखो, बाहर से कितना अच्छा दिखाई दे रहा है !"

इसपर महाराज ने कुछ न कहा । लेकिन मैंने, उन दोनों के वार्तालाप को सुननेवाले वृषसेन को धीरे-से अपने आसन से उठते हुए देखा। वह उठा और सोपान से उतरकर राजप्रासाद के सामने का आँगन पार कर गया, फिर महाद्वार से निकल चहारदीवारी के भी बाहर चला गया। आखिर यह जा कहाँ रहा है ? मैं मृणाल को उसे ढूँढ़ने के लिए भेज ही रही थी कि इतने में ही वह वापस भी आ गया। वह खरगोश की तरह छलाँग लगाता हुआ आ रहा था। वापस आते ही वह महाराज और गुरुपुत्र के सामने धृष्टता के साथ खड़ा होकर अपनी मुट्ठी खोलता हुआ बोला, “क्यों चाचाजी, इसमें भी कृमि होगा क्या ?” वह पत्थर का एक टुकड़ा था।

उसका वह अद्भुत प्रश्न सुनकर गुरुपुत्र क्षण-भर के लिए फिर गम्भीर हो गये। महाराज की ओर देखते हुए वे बोले, “अंगराज, सचमुच, मेरे पिछले प्रश्न का उत्तर तुम्हारे पुत्र ने कितना स्वाभाविक और सहज रूप से दिया है।” पत्थर का वह टुकड़ा वृषसेन के हाथ से लेकर वे ध्यान से देखते हुए बोले, “इस निर्जीव पाषाण में कहाँ है भला कृमि ! कृमि फल में ही होगा। दोष....दोष सजीव में ही होंगे। फलों के जीवन-रस पर कृमि पनपता है। बड़ा होता है। लेकिन फिर भी फल स्वयं उसको कभी बाहर नहीं निकाल पाता। मनुष्य के दोष भी ऐसे ही हैं। अज्ञान के जीवनरस पर मनुष्य के दोष पनपते हैं, बढ़ते हैं।”

वृषसेन की पीठ थपथपाते हुए वे बोले, “वृषसेन, इस टुकड़े को गवाक्ष से नीचे फेंक दो और वह अंजीर मुँह में रख लो।” उन्होंने उसके बायें हाथ में वह पत्थर का टुकड़ा और दायें हाथ में थाली से उठाकर दूसरा एक पूरा अंजीर रख दिया। वृषसेन ने टुकड़ा गवाक्ष से नीचे फेंक दिया। अंजीर खाते-खाते ही वृषसेन ने गुरुपुत्र को एक बार और चौंका दिया। उनके वस्त्राच्छादित मस्तक की ओर देखता हुआ वह बोला, “चाचाजी, मैं भी आपकी तरह ही सिर पर वस्त्र बाँधा करूँगा।”

“क्यों भाई ? तुम तो अंगराज के पुत्र हो, तुमको तो स्वर्णमुकुट धारण करना चाहिए, वस्त्र नहीं।” गुरुपुत्र ने उससे पूछा ।

“नहीं। स्वर्णमुकुट का क्या उपयोग ? उसका क्या ध्वज थोड़े ही बनाया जा सकता है ?”

“ध्वज ? ध्वज के लिए तुम ऐसा वस्त्र सिर पर बाँधोगे ?”

“हाँ। बड़े लोग कहते हैं कि लड़ाई में रथ पर लगे ध्वज गिर पड़ते हैं। इस प्रकार ध्वज गिरने पर वहाँ तत्क्षण दूसरा ध्वज कहाँ से मिल जायेगा ?”

उसका उत्तर सुनकर हम सब हँसने लगे। लेकिन हम क्यों हँस रहे हैं, यह उस निष्पाप बालक की समझ में नहीं आया।

तेईस

वृषसेन जब सात वर्ष का हुआ तब मुझको और एक पुत्र हुआ। उसी समय सुप्रिया को भी एक पुत्र और हुआ। मेरे पुत्र का नाम सुषेण रखा गया और सुप्रिया के लड़के का नाम सुशर्मा। हमारे सास-ससुर उनको देखकर फूले नहीं समाये। उन्होंने जीवन-भर - जो असीम कष्ट सहे थे, वे सार्थक हो गये थे। उनका लगाया हुआ कुटुम्ब का पौधा विशाल वटवृक्ष में बदल गया था। वे मुझसे सदा यही कहते, "वृषाली, तू गृहलक्ष्मी है। तू सुख का भाण्डार लेकर ही आयी है। हमने जो स्वप्न में भी नहीं सोचा था, वही हो रहा है।"

उनके पैर दबाती हुई मैं कहती, "मेरे आने से कुछ नहीं हुआ। महाराज के लिए आपने जो कष्ट उठाये हैं, उन्हीं का यह फल है।"

"उसके लिए हमने भला क्या कष्ट उठाये हैं ? हमारी पर्णकुटी में उसने जन्म लिया, यही हमारा सौभाग्य है। पत्नी के रूप में तू उसको मिली, यह भी हमारा सौभाग्य है ! यह सब पूर्व जन्मों का फल है, बैटी।"

सासजी की गोद में बैठा हुआ सुषेण ठीक उसी समय हुंकार करता, मानो वह सबको यह याद दिलाता था कि मैं भी पूर्व जन्मों के उस फल का एक घटक हूँ। वे उसको थपथपाकर सुलाती हुई कुछ गुनगुनातीं। मैं उनसे प्रार्थना करती कि वे उस गीत को उच्च स्वर में गाये। तब वे कहती, "वसु जब इस सुषेण के बराबर का था, तब मैं यह गाया करती थी। अब अच्छी तरह याद नहीं रहा। और फिर चम्पानगरी की पर्णकुटी का वह गीत इस वैभव-सम्पन्न राजभवन में क्या गाऊँ ? तू ही अपने पुत्र को एक गीत सुना जो इस भवन के अनुरूप हो।" निद्राधीन सुषेण को मेरे हाथों में देती हुई वे कहतीं।

इस माता ने अपने पुत्र के लिए कष्टों के कितने अनगिनत पर्वत उठाये होंगे, यह सोचकर मैं यह अनुभव करती कि इनके सामने मैं कुछ भी नहीं हूँ।

चौबीस

सुषेण की पीठ पर, एक वर्ष बाद ही, मेरा वृषकेत पैदा हुआ। मैं तीन पुत्रों की माता बन गयी। उन तीनों के आगमन से मेरे जीवन का उद्यान प्रफुल्लित हो उठा। वृषसेन, सुषेण और वृषकेतु-ये उस उद्यान की तीन सुवर्ण कमल ही थे। मुझसे कहीं भी पीछे नहीं रहना है, शायद यह सोचकर ही सुप्रिया ने भी और दो सुन्दर पुत्रों को जन्म दिया। उनके नाम प्रसेन और भानुसेन रखे गये। चित्रसेन, सुशर्मा, प्रसेन और भानुसेन सुप्रिया के चार लड़के अपनी

माता की तरह ही सुन्दर थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हम दोनों में किसी के भी एक भी कन्या नहीं हुई थी। बार-बार मेरे मन में यह विचार आता कि महाराज के इन सात पुत्रों की एक बहन होती तो कितना अच्छा होता। लेकिन उस कमी को देवर शोणजी ने पूरा कर दिया था। जिस समय मेरे वृषकेत हुआ था उसी समय उनके एक कन्या हुई। उसकी आँखें मछली की तरह लम्बे आकार की थी, इसलिए सबने उसका नाम 'मीनाक्षी' सुझाया। मीनाक्षी मेघमाला-जैसी ही केतकी के वर्ण की बड़ी प्यारी लड़की थी। वह कभी नहीं रोती थी। महाराज अपने पुत्रों की अपेक्षा उसी पर अधिक प्यार करने लगे।

उसको अपनी सशक्त भुजाओं में लेकर वे मेरे पास आकर कहते, “वृषाली, तुमको अपनी सुन्दरता पर बड़ा अभिमान है न ? यह मीनाक्षी जब बड़ी हो जायेगी तब दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण तक इससे विवाह का प्रस्ताव करेगा। तुम अंगराज्ञी हो, यह कौरवराज्ञी होगी।”

“कुछ भी हो, लेकिन बस यही न हो !” मैं कहती।

“क्यों ?”

“अजी, यदि वह कुरुओं की महारानी हो गयी तो कल को आपको भी क्या उसका वन्दन नहीं करना पड़ेगा ?”

“तो यह कहो न कि तुम यह चाहती हो कि तुम्हारा पति किसी के भी सामने अपना सिर न झुकाये, कम से कम अपने सम्बन्धियों के सामने तो नहीं ही।”

वे और किसी से तर्क वितर्क नहीं करते थे; परन्तु मुझसे सदैव उलटे-सीधे प्रश्न करते रहते थे। हारकर फिर मैं चुप हो जाती। कहते हैं न कि एक चुप सौ को हराये ।

मीनाक्षी से वे घण्टों तक खेलते रहते । उनको उसके साथ खेलते हुए देखकर जीवन के पिछले बीस वर्षों का समय कैसे और कहाँ चला गया, इसका पता लगाने का मैं प्रयत्न करती, लेकिन मेरे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

इस लम्बे समय में मुझको यही पता नहीं चला था कि मैं हस्तिनापुर में थी या स्वर्ग में । कसक इतनी ही थी कि सुदामन की स्मृति आँधी की तरह आकर कभी-कभी मुझको व्याकुल बनाती रहती थी। इस समय यदि वह होता तो पूरे पचीस वर्ष का हो जाता। मुझको वन्दन कर व्यायामशाला में जाते हुए वह कहता, “माता ! मेरे बाहुकण्टक दावँ से व्यायाम के सभी शिष्य घबराते हैं।” परन्तु—परन्तु उसकी इन धूमिल स्मृतियों के अतिरिक्त मेरे पास उसका कुछ भी नहीं था।

पचीस

राजप्रासाद में कुछ और नवीन व्यक्ति आ गये थे। पितामह भीष्म ने कुरुओं के सौ युवराजों का देश-देश की सौ राजकन्याओं से विवाह करवा दिया था। जैसे मधुमक्खियों का छत्ता मधुमक्खियों से भर जाता है, वैसे ही राजस्त्रियों से राजप्रासाद गुंजित हो उठा था। कुरुओं के वैभव का शिखर हिमालय से होड़ करने लगा था। सौ युवराजों की गृहस्थियों को देखने का रोमांचकारी संयोग इस राजप्रासाद के जीवन में पहली ही बार आया था। लेकिन मुझे आस-पास शृंगारिक चर्चाएँ सुनते ही पाण्डवों की याद आ जाती थी। कौरव और पाण्डवों में जो बहुत बड़ा अन्तर था, उसको मैं कभी भूल नहीं पाती थी। कौरवों के प्रत्येक युवराज की एक-एक पत्नी थी, लेकिन पाँचों पाण्डवों की कुल एक ही पत्नी थी। कौरवों की भगिनी युवराज्ञी दुःशला देवी का विवाह सिन्धुराज जयद्रथ से हो गया था।

मुझको आश्चर्य तो पितामह भीष्म पर होता था। वे पराक्रमी थे, वृद्ध थे, उनका सबपर प्रभाव था, सबके मन में उनके प्रति आदरयुक्त भय था। लेकिन पाण्डवों के प्रति वे बहुत ही उदासीन दिखाई पड़ते थे। खाण्डव वन का इन्द्रप्रस्थ में रूपान्तर करनेवाले पाण्डवों से मिलने के लिए वे कभी नहीं गये। उनपर होनेवाले अन्याय का उन्होंने कभी विरोध नहीं किया। महाराज दुर्योधन की पाण्डव द्वेषी भावना को उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर कभी नहीं रोका। राजमाता कुन्ती देवी को इस घोर विपत्ति के समय भी उन्होंने कोई सहारा नहीं दिया। यह सब न जाने क्या हो रहा था ! जो कुछ हो रहा था, उसको वे तटस्थ होकर देख रहे थे।

पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ का राज्य अब बहुत समृद्ध हो गया था। उनका इन्द्रप्रस्थ राज्य पाषाण को उद्भिन्न कर अंकुरित होकर आकाश में सिर उठाने वाले वृक्ष की तरह एक महान् आश्चर्य ही था। दिन-प्रतिदिन वह वृक्ष बढ़ता ही जा रहा था। समीपवर्ती राज्यों के मल्ल, योद्धा, कारीगर, गायक, नर्तक और कृषक अब इन्द्रप्रस्थ में एकत्रित होने लगे। हस्तिनापुर पूर्वजों के पराक्रम का फल था। लेकिन इन्द्रप्रस्थ पाण्डवों के स्वकर्तृत्व का उदाहरण था।

छब्बीस

दिन, महीने और वर्ष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए ऐसे दौड़ रहे थे जैसे छोटे-छोटे बालक खेलने के लिए जाते हैं। मुझको उनकी गणना करने के लिए समय ही नहीं मिलता था। अपने और सुप्रिया के बालकों की देखभाल करने में ही मेरा अधिकतर समय बीत जाता था। मेरे पास इतने सुख स्वयं दौड़ आये थे कि मैं यह भूल गयी कि मैं एक सारथि कन्या हूँ। राजभवन के सभी कौरव योद्धा अंगराज्ञी के रूप में सादर मेरा सम्मान करते थे। लेकिन कभी-कभी एक बात मुझको व्याकुल कर देती थी। मेरे सत्यसेन दादा अभी अविवाहित थे।

अवस्था में वह मुझसे बड़े थे, इसलिए इस विषय में आमने-सामने तो मैं कुछ कह नहीं सकती थी, न विचार-विमर्श कर सकती थी। अंगराज को भी उसके विवाह के विषय में मैंने कभी याद नहीं दिलायी थी। क्योंकि अपने भाई के लिए मैं उनसे कुछ माँग करूँ, यह मुझको स्वीकार नहीं था। लेकिन मेरा मन मुझसे कह रहा था कि एक दिन स्वयं अंगराज ही भैया के विवाह की चर्चा अवश्य करेंगे।

और हुआ भी ऐसा ही। एक दिन वे मेरे हाथ में मंगल अक्षत देते हुए बोले, "ये किसके मंगल अक्षत हैं, बताओ तो जानें?"

"दो का अंक अशुभ लगता होगा इसलिए आप तीसरा विवाह करने जा रहे होंगे।" मैंने परिहास करते हुए कहा।

"नहीं। मेरा तीसरा विवाह तो बहुत पहले हो चुका।" वे भी उसी सहजता से बोले, यह सुनकर क्षण-भर को मेरा हृदय धक् से रह गया। मैंने घबराकर पूछा, "तीसरा विवाह? किसके साथ?"

"देखो वृषाली, तुम मेरी दूसरी पत्नी हो, सुप्रिया तीसरी।"

"फिर पहली भाग्यवती कौन है?" मेरा हृदय ज़ोर से धड़कने लगा।

"धनुर्विद्या।" वे ठठाकर हँसते हुए बोले। मेरे हाथों में लगे अक्षतों की ओर उँगली करते हुए वे बोले, "ये अक्षत मेरे लिए नहीं हैं। ये तुम्हारे सत्यसेन दादा के लिए हैं। वृषाली, शोण के विवाह के लिए तुम दिन-रात मेरे पीछे पड़ी रहती थी, लेकिन अपने भाई के विवाह के सम्बन्ध में तुमने भूलकर भी कुछ नहीं कहा, ऐसा क्यों?" "क्योंकि मैं अंगराजी तो हूँ ही, लेकिन स्वाभिमानी भाई की बहन भी हूँ।"

मेरे पास आकर मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर वे बोले, "वृषाली, सुप्रिया तुमसे अधिक सुन्दर है, परन्तु तुम्हारी तरह युक्तिपूर्ण कथन वह कभी कह ही नहीं सकती। कहाँ से सीख आयी हो यह सब?"

"आपने धनुर्वेद किससे सीखा है?"

"अपने गुरु से।"

"उनका नाम क्या है?"

"नाम नहीं बता सकता।"

"तो फिर मैं भी अपने गुरु का नाम नहीं बता सकती।"

"देखो, तुम्हारे युक्तिपूर्ण उत्तर फिर शुरू हो गये।" मैं हाथों में लगे अक्षतों की ओर देखती हुई चुप हो गयी। प्रत्येक अक्षत पर मुझको मौन बाँधे हुए सत्यसेन दादा ही दिखाई दे रहे थे।

अपनी छोटी बहन के लिए उस विशालमना भाई ने कष्टों के पर्वत सिर पर रख लिये थे। अपने नाम के अनुसार ही वह सत्य के लिए प्रयत्न करता आया था।

पुरोहित ने जो शुभ दिन बताया था, उस दिन बड़ी धूमधाम से मेरे भाई का विवाह हस्तिनापुर की ही एक सारथि-कन्या से हो गया। महाराज दुर्योधन के सारथी होने के कारण भैया के विवाह में वैभव की कोई कमी नहीं रही। उनकी अर्धांगिनी का नाम था पुष्पावती।

उस विवाह के एक महीने के भीतर ही महाराज दुर्योधन के एक कन्या हुई। नगर में चारों ओर दीपक जलाकर नगरजनों ने अपनी राजकन्या का स्वागत किया। पुरोहित ने उसका नाम सुदर्शना रखा। सुदर्शना सुन्दर थी।

राजभवन में युवराज लक्ष्मण, राजकन्या सुदर्शना, मेरे और सुप्रिया के पुत्र, मीनाक्षी आदि अनेक छोटे-छोटे बालक उद्यान के पुष्पवृक्षों की तरह आनन्दपूर्वक बढ़ने लगे। उनकी बाल-क्रीड़ाएँ राजभवन में भी नहीं समाती थीं। स्वर्ग के देवगण हस्तिनापुर से ईर्ष्या तो नहीं करने लगेंगे ? कभी-कभी यह सन्देह मेरे मन में झाँक जाता था।

सत्ताईस

बीच-बीच में कानों से टकरानेवाली इन्द्रप्रस्थ की चर्चाएँ सभी के मन में उत्सुकता जाग्रत करने लगीं। पाण्डवों ने खाण्डव वन में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर इन्द्रप्रस्थ को उस राज्य की राजधानी बना दिया। राजधानी के नाम से पड़ोस के राज्य उस राज्य को इन्द्रप्रस्थ राज्य ही कहने लगे। हस्तिनापुर की अपेक्षा इन्द्रप्रस्थ का ही डंका चारों ओर बज रहा था।

राज्य केवल भव्य भवनों और विपुल नागरिकों पर ही नहीं चला करते। राज्य चलने के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। यह सम्पत्ति पाण्डवों ने कब और कहाँ से प्राप्त की, इस सम्बन्ध में हस्तिनापुर में सभी को बहुत कौतूहल था।

भीम और अर्जुन ने अपने राज्य को समृद्ध करने के लिए सतत पड़ोसी राज्यों को पदाक्रान्त करने में पराक्रम की सीमा पार कर दी। पराजित राज्य उनको कर देने लगे। और इस प्रकार उनका इन्द्रप्रस्थ सम्पन्न होने लगा। सैन्यसंख्या बढ़ने लगी।

अचानक एक दिन पाण्डवों का राजदूत हस्तिनापुर में आ पहुँचा। वह पाण्डवों की ओर से भूर्जपत्र का राजसूय यज्ञ का निमन्त्रण लेकर आया था। वासन्तिक पौर्णिमा को पाण्डव एक विशाल यज्ञ प्रारम्भ करने जा रहे थे। उस यज्ञ के लिए वे पितामह भीष्म का शुभाशीर्वाद प्राप्त करना चाहते थे। इस निमन्त्रण के पीछे ही पीछे पाण्डवों के पुरोहित धौम्य ऋषि भी स्वयं हस्तिनापुर में आकर निमन्त्रण के सम्बन्ध में आग्रह कर गये थे।

स्वयं युवराज युधिष्ठिर देश-देश में पाँच सुवर्णकुम्भ लेकर घूम आये थे। उन कुम्भों में वे वितस्ता, पुरुष्णी, गंगा, यमुना, सिन्धु, मन्दाकिनी, अलकनन्दा, इरावती, सरयू, चर्मण्वती आदि अनेक पवित्र नदियों का जल इन्द्रप्रस्थ ले आये थे। पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ में राजभवन के सामने होकर ही बहनेवाली इक्षुमती नदी के जल में इन पवित्र जलों को मिलाकर यज्ञ के कार्यों में प्रयुक्त करना था। इन्द्रप्रस्थ इक्षुमती और यमुना के संगम पर था।

राजभवन के सामने इक्षुमती के दूसरे किनारे पर विशाल प्रांगण में यज्ञमण्डप बनाया गया था। उसके चारों ओर निमन्त्रितों के लिए विश्रामगृह और भोजनागार भी सुसज्जित कर दिये गये थे। ये सब समाचार हस्तिनापुर में तेजी से फैल रहे थे।

युवराज अर्जुन और भीम देश-देश में अपने यज्ञ का निमन्त्रण देने के लिए घूम रहे थे। जहाँ देखो वहाँ ही यज्ञ की चर्चा होने लगी थी। मेरा भी कौतूहल बढ़ने लगा। इन्द्रप्रस्थ कैसा बसाया है, यह कम से कम एक बार तो देख ही लेना चाहिए-मेरा मन यह चाहता था, लेकिन वह सम्भव नहीं था। उचित भी नहीं था।

इस दीर्घ समय में पाण्डवों ने चारों दिशाओं में दिग्विजय की थी। गाड़ियाँ भर-भरकर अपरिमित धनराशि लाकर उन्होंने इन्द्रप्रस्थ का भण्डार पूर्ण किया था। महल में पाण्डवों के विषय में जो चर्चा चलती थी, वह सुनकर यह सारी जानकारी मुझे हो गयी थी। दिग्विजय में उन्होंने दो ही राज्यों पर आक्रमण नहीं किया था-एक मथुरा और दूसरा हस्तिनापुर।

वैसे यह इन्द्रप्रस्थ का पहला ही निमन्त्रण नहीं था। पाँच पतियों से द्रौपदी को पाँच पुत्र हुए थे। प्रत्येक पुत्र के नामकरण के अवसर पर राजमाता कुन्ती देवी द्वारा मुझको विशेष निमन्त्रण भेजा गया था; परन्तु महाराज को अच्छा नहीं लगेगा—यह सोचकर हर बार मैंने कुछ न कुछ बहाना बनाकर इन्द्रप्रस्थ जाना टाल दिया था। लेकिन प्रत्येक युवराज का नाम क्या गया रखा गया था, इसका पूरा पता मैंने अच्छी तरह लगा लिया था। द्रौपदी को युवराज युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्या, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतवर्मा- ये पाँच सुन्दर पुत्र प्राप्त हुए थे। परन्तु इन सबसे ही अलग एक प्रकार का अद्भुत वर्णन हमने अभिमन्यु, के बारे में सुना था।

अभिमन्यु श्रीकृष्ण की सुभद्रा नामक भगिनी का अर्जुन पुत्र था। वह अपने मामा की तरह ही सुघड़ और नीलवर्णी था। पाण्डवों ने अपनी सुविधा के लिए, वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में एक नियम बनाया था। असावधानी के कारण अर्जुन ने उसको भंग कर दिया, इसलिए उनको बारह वर्ष का लम्बा वनवास स्वीकार करना पड़ा। इस वनवास काल में ही उन्होंने रैवतक पर्वत पर रहकर द्वारिका से श्रीकृष्ण की भगिनी का हरण किया था। वनवास के बाद युवराज अर्जुन सुभद्रा और अभिमन्यु को लेकर ही इन्द्रप्रस्थ लौटे थे। एक संयोग पर मुझे सदैव बड़ा आश्चर्य होता था। मेरा नाम वृषाली था, अर्जुन की पत्नी का नाम

पांचाली। मेरी सौत सुप्रिया थी और पांचाली की सील सुभद्रा। इन नामों में कहीं कुछ गूढ़ समता अवश्य थी।

राजसूय यज्ञ के लिए पाण्डवों के सभी लोग अथक परिश्रम कर रहे थे। धौम्य ऋषि ने स्वयं मुझसे मिलकर यह कहा कि राजमाता कुन्ती देवी ने बड़े आग्रह से आपको बुलाया है। लेकिन मैंने निश्चय कर लिया था कि निमन्त्रण के सम्बन्ध में महाराज को कुछ नहीं बताना है, क्योंकि वह उनको अच्छा लग ही नहीं सकता था। सुदामन का वध कर अर्जुन ने हम दोनों के प्रति घोर अपराध किया था।

बातों के प्रवाह में धौम्य ऋषि ने एक दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें भी बता दी....खाण्डव वन के अरण्य को जलाते समय अग्नि और अर्जुन में दारुण युद्ध हुआ था। इस युद्ध से सन्तुष्ट होकर अग्नि ने अर्जुन को गाण्डीव नामक धनुष और दो अक्षय बाणों के तरकश दिये थे। श्रीकृष्ण को एक तेजस्वी सुदर्शन चक्र दिया था। जरासन्ध के मगध राज्य से अभी हाल में ही लौटे हुए युवराज भीमसेन ने राक्षसराज वृषपर्वा से एक दिव्य गदा भी प्राप्त कर ली थी। अर्जुन ने तो उस दिव्य धनुष के बल पर ही दिग्विजय का कार्य पूरा किया था।

इन्द्रप्रस्थ के ये सारे समाचार उस राज्य के सम्बन्ध में कौतूहल जाग्रत कर रहे थे। एक निबिड अरण्य ऐसा समृद्ध राज्य में रूपान्तरित हो गया था, इसपर सभी को महान् आश्चर्य हो रहा था।

अट्टाईस

इसी बीच मगधदेश स्थित हस्तिनापुर के गुप्तचर ने एक अविश्वनीय सूचना लाकर राजभवन के सभी लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। उसको सुनते ही महाराज तो बहुत अधिक अस्वस्थ हो गये। जिस समय एक दास ने आकर उनको यह समाचार दिया, उस समय वे वृषसेन को द्वन्द्व सिखा रहे थे। वे उसको बाहुकण्टक का कठिन दावँ समझा रहे थे।

आनेवाला दास मगधों के राजा के वध की सूचना लेकर आया था। सुनते ही वृषसेन को ज्यों का त्यों छोड़कर महाराज उस दास के पास गये और उसके कन्धे को झकझोरते हुए उन्होंने उससे पूछा, “उस विख्यात जरासन्ध को किसने मारा है ? बोल, किसने ?”

“युवराज भीम ने ।” उसने घबराकर उत्तर दिया।

“अकेले ही ? असम्भव है।”

“उस समय भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ उपस्थित थे।”

उसका उत्तर सुनते ही महाराज स्तब्ध हो गये। दास चला गया। पीठ पीछे दोनों हाथ बाँधकर न जाने किस विचार में डूबे हुए वे इधर से उधर चक्कर लगाने लगे। मैंने वृषसेन से पूछा, “वृषू, पिताजी ने जो दावँ सिखाया है वह उनको करके दिखायेगा ?”

“तात क्या मेरी बराबरी के हैं ? चित्रसेन या लक्ष्मण को ला मेरे सामने, तब मैं उसको दिखाऊँगा अपना बाहुटंकट ।”

वह बाहुकण्टक नहीं कह पाता था। मैंने सोचा कि महाराज कौतुक से उसको उठा लेंगे और 'बाहुटंकट नहीं बावरे, बाहुकण्टक कहते हुए उसके मस्तक का अवघ्राण करेंगे, लेकिन वे अपने ही विचारों में डूबे हुए थे। जरासन्ध के वध से उनको कोई बात खटकी अवश्य थी।

“किस बात की चिन्ता कर रहे हैं आप ?” मैंने उनको सचेत करने के लिए कहा।

वे एकदम रुककर बोले, “श्रीकृष्ण की।”

“सो क्यों ?”

“आखिर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध का अन्त कर ही दिया, इसलिए।

“आपने शायद बात अच्छी तरह नहीं सुनी। जरासन्ध का वध श्रीकृष्ण ने नहीं किया। श्रीकृष्ण का उस वध से क्या प्रयोजन ? भीम ने मारा है उसको ।”

“प्रयोजन श्रीकृष्ण का ही था। जिस कंस का श्रीकृष्ण ने वध किया था, वह कंस जरासन्ध का जामाता था। अपने जामाता के वध का प्रतिशोध लेने के लिए जरासन्ध ने विशाल सेना लेकर अनेक बार मथुरा पर आक्रमण किये। उसके आक्रमणों से उकताकर श्रीकृष्ण को अन्त में मथुरा छोड़कर भाग जाना पड़ा। पश्चिम में-द्वारका को। इसीलिए उन्होंने जरासन्ध का अन्त करवा दिया होगा। इन्द्रप्रस्थ का यज्ञ मथुरा-मुक्ति के आनन्द के लिए ही हो रहा है। वृषाली, मुझको उस यज्ञ का निमन्त्रण नहीं मिला है, लेकिन फिर भी इन्द्रप्रस्थ जाऊँगा।”

बिना निमन्त्रण के उनका जाने का निश्चय करना मुझको कुछ विचित्र-सा लगा। परन्तु मैंने कहा कुछ नहीं। उनके दृढ़ स्वभाव को मैं जानती थी। चाहे निद्रा में ही क्यों न निकला हो, लेकिन मुख से निकले हुए शब्द को वे सत्य कर दिखाते थे।

“जरासन्ध का अन्त करनेवाले श्रीकृष्ण से मिलने को उत्सुक हैं शायद आप ?”

“वृषाली, पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है, यह तुमने सिद्ध कर दिया है। वह कारण तो है ही; पर सच पूछो तो जरासन्ध के सेनापति-चेदिराज शिशुपाल से मैं उस द्वन्द्व के विषय में सविस्तार जानकारी पूछूँगा। भीम ने उसको किस दावँ से मारा, यह भी मैं जानना चाहता हूँ।”

द्वन्द्व से उनको अतिशय प्रेम था। वे सदा कहते, "द्वन्द्व का अर्थ है स्पष्ट रूप से शक्ति की सीधी कसौटी।"

उनतीस

पौर्णिमा से एक दिन पहले सभी कौरव योद्धाओं ने इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान कर दिया। महाराज दुर्योधन ने यह प्रयत्न किया कि पाण्डवों के यज्ञ में कोई न जाने पाये; लेकिन पितामह भीष्म ने इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही कठोर रुख अपनाया। उन्होंने सबसे स्पष्ट कह दिया कि "यदि तुम लोग वृद्धों का मान रखना चाहो तो सबसे वृद्ध कुरु के रूप में मैं तुम सबको यज्ञ में सम्मिलित होने की आज्ञा देता हूँ। लेकिन आज्ञा मानकर केवल आने से ही काम नहीं चलेगा। उस यज्ञ में मैं जिस काम के लिए जिससे जो कहूँगा, वह काम प्रत्येक को करना ही पड़ेगा। यह मेरी इच्छा नहीं, बल्कि आज्ञा है।"

औरों के आगे अपनी हठ कभी न छोड़नेवाले महाराज दुर्योधन पितामह के आगे कुछ भी न कह सके। पितामह के त्याग और पराक्रम से सभी परिचित थे। मन ही मन भले ही झुंझलाते रहें, परन्तु पितामह की आज्ञा का पालन तो सबको करना था ही।

अंगराज भी सबके साथ इन्द्रप्रस्थ जाने लगे। जाते समय उनकी पंचारती उतारकर मैंने उनसे कहा, "आपको भी जाना चाहिए, यह पितामह की आज्ञा नहीं है।"

"लेकिन मैं अवश्य जाऊँगा।"

"इतना आग्रह आपसे कौन कर रहा है?"

"आग्रह किसी का नहीं। लेकिन मुझको जाना अवश्य है। वहाँ मथुरा से श्रीकृष्ण आनेवाले हैं। यज्ञ की अपेक्षा उनको पुनः देखने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

"आपकी इच्छा ही निश्चय है।" उनके परशु के फल की तरह विशाल भाल पर मैंने कुंकुम तिलक लगाया। उस तिलक से उनकी मुद्रा नितान्त सुन्दर लगने लगी। अपने माता-पिता की चरणधूलि अपने सिर से लगाकर अपने हस्तिदन्त वर्ण के घोड़ों के रथ में बैठ वे यज्ञ के लिए इन्द्रप्रस्थ की ओर चल दिये।

उन्होंने कहा था कि श्रीकृष्ण के दर्शन करने की उत्कट इच्छा है। श्रीकृष्ण के दर्शनों से उनको न जाने कौन-सा समाधान मिलनेवाला था। उनके उस कथन से मेरी भी इच्छा हुई कि श्रीकृष्ण को एक बार अवश्य देखना चाहिए। क्योंकि जो मेरे पति का समाधान था, वही मेरा समाधान था। स्त्री का जीवन पति के चरणों पर भक्तिभाव से और श्रद्धा से समर्पित किया हुआ कमलपुष्प होता है। पति का सुख ही उसका सुख होता है।

कर्ण

□

धूल के बादल उड़ाता हुआ, रास्तों पर मुड़ता हुआ मेरा रथ हस्तिनापुर से इन्द्रप्रस्थ की ओर दौड़ने लगा, परन्तु उससे भी अधिक तीव्र गति से मेरे मन का रथ भूतकाल के विस्तृत जीवन-पथ पर दौड़ता जा रहा था। उड़ रही थी केवल स्मृतियों की धूल। पूरे बीस वर्षों का समय बीत गया था। व्यक्ति के जीवन में बीस वर्षों का समय काफ़ी लम्बा कालखण्ड है। लेकिन लम्बा कालखण्ड स्मृतियों का विस्मरण कराने में समर्थ हो, ऐसी बात नहीं। कम से कम कटु स्मृतियाँ तो नहीं ही भुलायी जा सकतीं। इसके विपरीत जैसे-जैसे अधिकाधिक काल बीतता जाता है वैसे-वैसे पुरानी स्मृतियाँ विचारमन्थन के रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आँखों के आगे और अधिक नाचने लगती हैं। मन को उद्विग्न कर देती हैं।

पांचालों के राज्य में स्वयंवर के अवसर पर समस्त मान्य राजाओं के सम्मुख द्रौपदी ने मेरे स्वाभिमानी मन पर जो क्रूर प्रहार किया था, उसका घाव अब भी ज्यों का त्यों हरा था। अपमान का कोई घाव शीघ्र नहीं भरा करता। विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा किये गये घाव तो कभी भी नहीं भरा करते। यदि भर भी जायें तो उनके विद्रूप चिह्न कहीं न कहीं सदा के लिए बने ही रहते हैं। अपने स्वयंवर का आयोजन कर उस स्त्री ने सबसे चिल्लाकर कह दिया था कि कर्ण के जीवन का अर्थ है हीनता, उपेक्षा, वंचना और अपमान। स्त्री-मुख के भीतर रहनेवाली एक कोमल जिह्वा ने कर्ण के सुदृढ़ शरीर को केवल अपने शब्दों पर तौला था। योद्धा के लिए इससे अधिक भयानक मृत्यु और कौन-सी होगी ! सभी लोग सम्पत्ति और वैभव के बल पर जीते हैं, परन्तु योद्धा केवल मन के उत्साह पर जीवित रहा करता है। इसीलिए अवहेलना और अपमान की घटनाओं को वह कभी भूल नहीं सकता। तुच्छ स्त्री द्वारा किये गये अपने घोर अपमान को तो कदापि नहीं। वह उस स्त्री को कभी क्षमा नहीं करता। इसीलिए उस घटना के बाद लम्बा समय बीत जाने पर भी उसके विषैले शब्द मेरे हृदय को ऐसे तोड़ते रहे थे जैसे बाढ़ आने पर नदी के कगार क्षण-प्रतिक्षण टूटा करते हैं। उन वाग्बाणों को भूलने का मैं भरसक प्रयत्न कर रहा था, लेकिन काटे-छाँटे गये वृक्ष में जैसे नये-नये कल्ले फूट उठते हैं वैसे ही वे वाग्बाण हर बार नये ही रूप में मेरे सामने खड़े हो जाते थे। और मुझे अत्यधिक व्याकुल कर देते। मेरे मन के सरोवर को विक्षुब्ध कर देते। उसके स्वयंवर में मेरा पुत्र सुदामन मुझसे छिन गया था। अनेक बार वह अपनी याद दिलाता। किसी चतुर व्यक्ति को आसपास के लोग चिल्ला-चिल्लाकर मूर्ख बतायें और अन्त में वह स्वयं ही अपनी चतुराई पर सन्देह करने लगे तथा मूर्खों की तरह इधर-उधर

हाथ फड़काने लगे-ऐसी ही मेरी दशा हो गयी थी। सभी लोग जब भी अवसर मिलता, मुझको हीन कहकर छेड़ते थे। पहले-पहले तो सुनकर मैं आवेश में आ जाता था, परन्तु जब एक स्त्री ने भी हीनता की वही मुद्रा हँसते-हँसते मेरे मस्तक पर ठोक दी, तब मैं अपने को सचमुच ही हीन समझने लग गया। मैं चाण्डाल के समान अथवा उससे भी अधिक हीन हूँ—यह सुनने के लिए अब मैंने अपने मन को तैयार कर लिया है। परन्तु अपने पुत्र के वध का प्रतिशोध मैं अवश्य लूँगा।

केवल एक ही सत्य इस हीनता की प्रतीति में भी मुझको स्वर्गीय सुख प्रदान करता आया था और वह था मेरे कुटुम्बीजनों का प्रेम । लेकिन वह सुख भी पूर्ण नहीं था। मेरे किसी भी पुत्र को मेरी तरह जन्मजात कवच-कुण्डल नहीं मिले थे, इसलिए वे मुझसे भी अधिक हीन माने जानेवाले थे। हमारे भावी वंशज मेरी अपेक्षा हीन रहेंगे—यह प्राणघाती प्रतीति कभी-कभी मुझको अत्यधिक बेचैन करने लगी। मेरा सहारा एक ही था। आकाश में तपनेवाला मेरा गुरु । उसके एक बार दर्शन से ही मुझमें स्फूर्ति आ जाती थी। उदासीनता दूर भाग जाती थी।

मैं इन्द्रप्रस्थ की ओर जा रहा था पाण्डवों की राजधानी की ओर। परन्तु केवल कृष्ण के लिए । जाते-जाते ही मैंने रथ में से सहज आकाश की ओर दृष्टि डाली। समीप बैठे हुए अश्वत्थामा ने कहा, “उस सूर्य-बिम्ब की ओर इतने ध्यान से क्या देख रहे हो कर्ण ?”

“देख रहा हूँ कि उस तेजस्वी बिम्ब में कहीं कोई हलका-सा काला धब्बा दिखाई देता है क्या ?”

“जो न सत्य है, न सम्भव—उसकी अब अपेक्षा क्यों ?”

“इसलिए कि जो सत्य नहीं होता, वही संसार में सम्भव कर दिखाया जाता है। क्या मैं उसी का अनुभव नहीं कर रहा हूँ ?”

मेरे उत्तर से वह चुप हो गया। हम लोग इन्द्रप्रस्थ की सीमा में प्रविष्ट हुए । राजप्रासाद के सम्मुख अमात्य ने हमारा स्वागत किया। यज्ञमण्डप में पाण्डवों के राजसूय यज्ञ की सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं। लेकिन मेरी आँखें श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती हुई घूम रही थीं। नीले रंग का वह श्रीकृष्ण मुझको नीले आकाश की तरह ही रहस्यमय लगता था।

केवल दस-बारह वर्षों के काल खण्ड में खाण्डव वन के घने परिसर में गगनचुम्बी नगरी का निर्माण देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। सर्वत्र मन्दिर, राजभवन, शस्त्रागार, अश्वशाला, पाठशाला, भूषणागार आदि के शिखर आकाश के उदर में घुसे हुए थे। सभी भवन इक्षुमती और यमुना के किनारों पर एक-दूसरे से सटे हुए थे। यह जादू क्या केवल पाण्डवों ने ही कर दिखाया होगा ? निश्चय ही नहीं, श्रीकृष्ण ने अवश्य उनकी सहायता की

होगी, पाण्डवों को श्रीकृष्ण का अवलम्ब मिल गया था। नहीं तो पाण्डव पुरुषार्थ के क्षेत्र में केवल याचक ही थे।

दो

मैं, अश्वत्थामा और दुर्योधन-तीनों राजप्रासाद के महाद्वार के बाहर रुक गये। दुर्योधन तो अत्यधिक व्याकुल दिखाई देने लगा। वह तो इन्द्रप्रस्थ आना ही नहीं चाहता था, लेकिन पितामह की अवज्ञा वह नहीं कर सकता था। छाती पर हिमालयतुल्य पाषाण रखकर केवल आज्ञा-पालन करने के लिए ही वह आया था।

पाण्डवों के अमात्य हमारे सामने थे, परन्तु उनके साथ भीतर प्रवेश करना हम तीनों को ही उचित नहीं लगा। हम कुरुयोद्धा थे, साधारण आमन्त्रित जन नहीं। इतने में ही मण्डप से युवराज युधिष्ठिर ने हमको देख लिया। वह तत्क्षण प्रवेश-द्वार से बाहर आया। आगे बढ़कर उसने अश्वत्थामा का हाथ प्रेमपूर्वक अपने हाथ में ले लिया। दुर्योधन की ओर देखकर वह बोला, “आर्य, महारानी भानुमति को नहीं लाये क्या ?” दुर्योधन ने कुछ भी नहीं कहा। अन्त में युधिष्ठिर ने मेरी ओर देखा। मुझको देखते ही वह चौंक पड़ा। उसने अपनी दृष्टि मेरे पैरों पर स्थिर कर दी। सभी स्तब्ध खड़े थे।

शान्ति भंग करते हुए अश्वत्थामा ने उससे पूछा, “युधिष्ठिर ! यज्ञ की पूरी तैयारी यथोचित हो गयी है न ?”

हाँ गुरुकुमार ! हम यज्ञ के मुख्य यज्ञवेत्ता की ही राह देख रहे हैं।

“कौन है यज्ञवेत्ता ?”

“श्रीकृष्ण !” युधिष्ठिर मेरे पैरों की ओर देखता हुआ ही उससे बोला। उसके माथे पर सलवटें पड़ी हुई थीं।

“तो जबतक श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ में आगमन होता है तबतक तुम हमें अपना यह भव्य राजप्रासाद ही दिखा दो।” अपने सिर पर बँधे हुए शुभ्र वस्त्र की हनु के नीचे लगी गाँठ-जो यात्रा में ढीली हो गयी थी-ठीक करता हुआ अश्वत्थामा बोला ।

“चलो,” कहते हुए युधिष्ठिर ने अपने अमात्य को हमको भीतर ले जाने का संकेत किया।

जब-जब मैं और युधिष्ठिर मिले थे, तब-तब उसने घूरकर मेरे पैरों की ओर ही देखा था। कहीं यह तो नहीं बताना चाहता था कि, “कर्ण, तेरा स्थान केवल पैरों के पास ही है। तू सूतपुत्र है।”

अमात्य के साथ-साथ हम तीनों ने यज्ञमण्डप में प्रवेश किया। हमसे पहले आय हुए पितामह, आचार्य विदुर और द्रोण उस मण्डप में यज्ञ का प्रबन्ध देख रहे थे।

वह भव्य मण्डप देश-देश के ऋषि-मुनियों खचाखच भरा हुआ था। मुझे तो क्षण-भर ऐसा आभास हुआ, जैसे हम किसी आश्रम के सामने ही खड़े हों। नृपों के लिए जहाँ बैठने की व्यवस्था की गयी थी, उस भाग में अनेक देशों के राजागण आसनस्थ हो चुके थे। उनमें करकायु, कुंकड़, कनकध्वज, दृढ़धन्वा, जयद्रथ, भोज, नन्दक, रोचमान, द्रुपद, सेनाबिन्दु, कृतवर्मा और शिशुपाल जैसे प्रसिद्ध राजा थे। पूर्व दिशा में एक भव्य यज्ञकुण्ड और उसके समीप ही एक यज्ञवेदी रची गयी थी। कुण्ड के चारों ओर सुन्दर अल्पना चित्रित की गयी थी। उस अल्पना के पीछे व्याघ्र चर्म बिछाकर ज्येष्ठ ऋषिगण कुण्ड को गोलाकार घेरे बैठे हुए थे। उनके हाथों की सहज पहुँच के भीतर औदुम्बर, बल्वज, पिप्पल, वट, आम्र, चम्पक आदि विविध प्रकार के वृक्षों की समिधाओं के छोटे-छोटे ढेर रखे हुए थे। थोड़ी ही देर बाद वे समिधाएँ कुण्ड में अर्पित की जानेवाली थीं। अर्घ्य के लिए घृत, दूध और नदियों के पवित्र जलों से भरकर रखे हुए सुवर्णकुम्भ अस्तंगत होती हुई प्रकाश किरणों में चमक रहे थे, यज्ञकुण्ड की पूर्व दिशा में यज्ञवेत्ता श्रीकृष्ण के लिए स्थापित सुवर्ण सिंहासन उनकी देहयष्टि के विचार से मुझको बड़ा भव्य लग रहा था।

हम लोग मण्डप से चलते हुए राजभवन की सीढ़ियों तक पहुँचे। वहाँ मुझको भीम अर्जुन और नकुल-सहदेव खड़े दिखाई दिये। अर्जुन को देखते ही मेरी स्मृतियों का सरोवर एकदम विक्षुब्ध हो गया। अखाड़े में नील कमलों की माला और स्वयंवर में धवल कमलों की माला उसी के गले में पड़ी थी। क्यों ? वह क्षत्रिय था केवल इसलिए ! मेरे मानस-धनुष पर स्मृतियों के बाण चढ़ने लगे। वह एकटक मेरे कानों की ओर देख रहा था। लेकिन शायद मुझसे बातें करने की उसकी इच्छा नहीं हो रही थी। और क्यों हो ? एक क्षत्रिय को एक सूतपुत्र से बोलना ही चाहिए- -ऐसा कोई सामाजिक शिष्टाचार उसे विदित नहीं था। गुरुपुत्र होने के कारण अश्वत्थामा को उसने सादर प्रणाम किया। भीम दुर्योधन की ओर देख रहा था। भीम मानो यह समझ रहा था कि सबको पैरोंतले रौंदने के लिए ही अपना जन्म हुआ है।

समीप खड़े हुए पाण्डवों के पाँच पुत्र आश्चर्य से यह सब देख रहे थे। “अर्जुन ! अरे, कर्ण के कानों की ओर एकटक इतने ध्यान से क्या देख रहे हो ? उसके ये कुण्डल जन्मजात हैं, जैसे तुम्हारा यह नील वर्ण जन्मजात है वैसे ही।” अश्वत्थामा हँसता हुआ राजभवन की पहली सीढ़ी पर पैर रखता हुआ बोला। वह सदैव अपने आसपास का वातावरण प्रफुल्ल रखने का प्रयत्न करता रहता था।

उस उत्तुंग राजवास्तु पर एक बार दृष्टि डालने के विचार से मैंने ऊपर के शिखर की ओर धीरे से सिर उठाया। ऊपर शुभ्र पाषाणों के विस्तीर्ण सौध के चमकते हुए छज्जे पर बायीं

हथेली टेककर खड़ी हुई एक स्त्री मुझको दिखाई दी। वह शुभ्र वस्त्र पहने हुए थी। मन्दिर में देवी की मूर्ति की तरह वह निश्चल खड़ी थी। उसके दायें हाथ में पीला धागा सा कुछ था जो स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। जैसे ही मेरी दृष्टि उस मूर्ति की दृष्टि से गिली, वह मूर्ति कुछ हिल उठी। सौध से जल्दी जल्दी भवन में जाने का प्रयत्न करते समय उस स्त्री के हाथ में लगी वस्तु, अचानक छूट पड़ी और ठीक मेरे ही पैरों पर आ पड़ी। सबने आश्चर्य से मेरे पैरों पर दृष्टि डाली। दुर्योधन उस वस्तु को उठाने के लिए आगे बढ़ा, लेकिन मैंने उसको वह अवसर ही नहीं दिया। मैंने ही झुककर उस वस्तु को धीरे से उठा लिया। अत्यन्त सूक्ष्म लड़ियोंवाला बालक के हाथ में बाँधने का वह स्वर्ण हस्ताभूषण था। राजभवन में किसी का पुत्र इतना छोटा नहीं था, फिर राजपुत्रों के हाथों में बाँधा जानेवाला वह हस्ताभूषण उस स्त्री ने किसके लिए बनवाया होगा, यह विचार करते हुए मैंने वह आभूषण अमात्य के हाथ में दे दिया ! क्षण भर को फिर सौध की ओर देखा । वहाँ कोई नहीं था। शुभ्र पाषाणों का वह उच्च सौध रविरश्मियों में पूर्ववत् चमक रहा था।

हम लोग राजभवन की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे लेकिन वह हस्ताभूषण, प्रयत्न करने पर भी, मेरी आँखों के आगे फिर रहा था। सीढ़ियों पर चढ़ते चढ़ते मैंने अमात्य से पूछा, "अभी अभी सौध पर जो खड़ी थीं, ये कौन थी ?"

"राजमाता कुन्ती देवी। यह हस्ताभूषण उन्होंने हस्तिनापुर के किसी एक महापराकामी योद्धा के पुत्र के लिए बनवाया है। क्योंकि सुवर्णकार को उन्होंने जो-जो सूचनाएँ दी थीं, वे मैंने स्वयं सुनी थीं। मैंने ही उसको मथुरा से बुलवाया था।"

हस्तिनापुर का महापराक्रमी योद्धा कौन है ? अपने से मैंने यह प्रश्न किया, परन्तु योग्य नाम ध्यान में नहीं आया। मुझको क्या लेना देना है—यह सोचकर मैंने वह जानने का प्रयत्न छोड़ दिया।

अमात्य उस वास्तु का वर्णन सुनाने लगे। राजवास्तु इतनी आकर्षक बनायी गयी थी कि उसके सम्मुख हस्तिनापुर का प्राचीन राजप्रासाद मुझको बिलकुल नगण्य लगा। भिन्न भिन्न दालानों से भिन्न-भिन्न भवन देखते समय उनको बनानेवाले चतुर कारीगर की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता था। दीवारों पर स्थान-स्थान पर कुरुओं के पूर्वजों के जीवन चरित्र की अनेक प्रमुख घटनाएँ आकर्षक रंगों में चित्रित की गयी थीं। राजसभा का विशाल कक्ष तो चित्रकला का अभूतपूर्व आविष्कार-सा ही लगा। उस कक्ष में चित्रों में अनेक दृश्य दिखाये गये थे—पितामह भीष्म काशिराज की कन्याओं को हरकर ला रहे हैं, महाराज शान्तनु नदी तट पर मत्स्यकन्या मत्स्यगन्धा की ओर लुब्ध होकर देख रहे हैं, महाराज देवापी राज्य का त्याग कर भरे यौवन में ईश-चिन्तन के लिए, शान्त मुद्रा में अरण्य में जाते समय हस्तिनापुरवासियों से हाथ उठाकर विदा ले रहे हैं, महाराज पाण्डु अरण्य में मृगया करते हुए घूम रहे हैं, उनका मारा हुआ मृग एक क्रोधी ऋषि बन गया है, अभिशप्त महाराज पाण्डु

अपनी दोनों पत्नियों के साथ सिर झुकाकर नगर से विदा हो रहे हैं, एक अरण्य में ऋषिवेषधारी महाराज पाण्डु बैठे हैं तथा उनके दोनों ओर दो स्त्रियाँ हैं, उनके सामने पाँच बालक खेल रहे हैं—आदि-आदि अनेक आकर्षक प्रसंग देखते समय मन भूतकाल में जाकर भटकने लगा। वह राजसभा मुझको कुरुओं के हस्तिनापुर के राजसभा की अपेक्षा बड़ी सुसज्जित और सजीव लगी। लेकिन इस राजसभा में एक बात मुझको कहीं दिखाई नहीं दी, वह थी सूर्यप्रतिमा। कुरुओं ने राजसिंहासन के पीछे जिस स्थान पर प्रतीक के रूप में शुद्ध सुवर्ण की प्रतिमा ढलवायी थी, ठीक उसी स्थान पर राजसिंहासन के पीछे पाण्डवों ने मुरलीधर श्रीकृष्ण की नीले रंग की प्रतिमा उभारी थी। शायद यह पाण्डवों की श्रीकृष्ण-भक्ति का ही प्रतीक था।

राजसभा-भवन देखने के बाद ही हमने राजस्त्रियों के भवन में प्रवेश किया। राजस्त्रियों के कक्ष तो सौन्दर्य का अद्वितीय प्रदर्शन ही थे। शुभ्र पाषाणों के स्तम्भों पर बेल-बूटे खुदे हुए थे तथा अनेक भावमुद्राएँ अंकित थीं। केशभूषा के लिए ऊँचे-ऊँचे दर्पण बेल-बूटेवाली पत्थरों की महाराब में जड़ दिये गये थे। भित्ति पर राजकुल के स्त्री-पुरुषों के जीवन-चरित की अनेक भावपूर्ण घटनाएँ चित्रित थीं। उनमें से प्रत्येक प्रसंग को मैंने अच्छी तरह पहचान लिया; क्योंकि पिताजी ने कुरुओं के कुल का इतिहास मुझको समय-समय पर बता दिया था। उस कक्ष का प्रत्येक चित्र मुझको मोहक ओर सजीव लगा। कुछ प्रसंग तो बहुत ही पुराने थे, फिर भी वे ऐसे परिचित लगने लगे जैसे कल ही घटित हुए हों।

'उर्वशी, उर्वशी !' कहते हुए लता-वृक्षों का आलिंगन करनेवाले निष्ठावान् प्रेमी महाराज पुरुरवस् एक चित्र में अंकित दिखाई दिये। इन्द्र को पराजित कर लौटते हुए सेना के अग्रभाग में तनकर खड़े हुए नहुष, शुक्राचार्य के चरणों पर सिर रखकर पश्चात्ताप-दग्ध होकर अपने अपराधों की क्षमा माँगनेवाले ययाति और उनके समीप ही गर्व से सिर उठाये खड़ी उनकी पत्नी रूपगर्विता ऋषिकन्या देवयानी, सिंह के दाँत गिननेवाले अपने भरत की ओर कौतुक-भरी दृष्टि से देखनेवाली शकुन्तला, कुरुओं के वंश-विस्तार के लिए सतत प्रयत्न करनेवाली महारानी सत्यवती-आदि अनेक स्त्री-पुरुषों की स्मृतियाँ उस भित्ति पर स्पष्ट रूप में साकार हो गयी थीं। ऐसा लगता था जैसे वे मूक भावमुद्राएँ सजीव होकर मौन भाव से ही अपनी कथा कह रही हों।

लेकिन उनमें एक चित्र ऐसा था जो प्रयत्न करने पर भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था। उस चित्र में वेदना थी, रमणीय रहस्यमयता थी। भयानक असह्यता थी। लेकिन फिर भी वह तनिक भी करुण नहीं लग रहा था। उस चित्र को देखने के बाद ठीक क्या अनुभव होता है, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। उसमें उत्सुकता थी, कौतूहल था या कुछ और था—यह बताना कठिन था। उस चित्र में अद्भुत आकर्षण था। रंग-सज्जा तो सभी चित्रों से अधिक प्रभावशाली थी।

एक भित्ति पर नीले रंग की पृष्ठभूमि पर एक विशाल नदी का पात्र चित्रित था। उस पात्र में घुटने तक जल में एक वृद्ध जर्जर दासी नीचे झुककर लकड़ी की एक पेटिका उस नदी की उफनती हुई लहरों में धकेल रही थी। नदी के किनारे पर एक युवती स्त्री हथेलियों में अपना मुँह छिपाये क्रन्दन कर रही थी। उसके राजवस्त्रों से यह निश्चित था कि वह राजस्त्री थी। उसके आँचल को उच्छृंखल पवन उड़ा रहा था। उसकी कंचुकी से कुछ बूंदें नीचे टपकी हुई दिखाई गयी थीं। ऐसा लगता था कि उसी समय वर्षा होने के कारण वे बूंदें पानी की होंगी। लेकिन फिर उनका रंग दुग्ध धवल क्यों दिखाया गया था—यह मैं समझ नहीं पा रहा था। नदी के दूसरे किनारे पर दो पर्वत-शिखरों के मध्य सूर्यदेव का तेजस्वी बिम्ब चित्रित किया गया था और उस बिम्ब के सन्तप्त हिरण्यमध्य से एक सुनहरा प्रकाश पुंज सीधा उस पेटिका तक बनाया गया था, वह कुशल चित्रकार इस कृति से कहीं यह तो नहीं बताना चाहता था कि वह दासी उस पेटिका को सूर्यदेव को ही अर्पण कर रही है। किनारे पर एक श्वेतरंग की गाय नदी के पात्र में जलपान कर रही थी। उसका सद्योजात सुन्दर बछड़ा उसके थनों से लगने के लिए पूँछ का गुच्छा ऊपर उठाकर धड़पड़ कर रहा था, लेकिन उसमें वह सफल नहीं हो रहा था। मुझको वह चित्र बेहद अच्छा लगा।

उस चित्र को बहुत ध्यान से देखकर मैंने अपनी स्मृति पर बहुत बल दिया। परन्तु वह घटना कभी, किसी ने बतायी है, यह याद नहीं आया। अन्त में कौतूहलवश मैंने अमात्य से पूछा, "यह घटना कौन-सी है, अमात्यजी।"

"यह मैं भी अच्छी तरह नहीं जानता हूँ। ऐसा एक चित्र तैयार कराया जाये-राजमाता कुन्ती देवी का यह आग्रह होने के कारण, मथुरा के सर्वाधिक कुशल चित्रकार को बुलवाकर यह बनवा लिया गया है। चित्र तैयार होने पर मैंने राजमाता से उसको देखने का अनुरोध किया। चित्र को देखते ही वे स्तब्ध हो गयीं। चित्रकार ने समझा कि उनको उसकी कला शायद नहीं भायी, अतः उसने राजमाता से कहा, "राजमाता, उस पेटिका में क्या था, इसकी ठीक-ठीक सूचना यदि मुझे दी जाती तो मैं इस चित्र को इससे भी अधिक सुन्दर बनाने की तथा सूक्ष्म भावों को भी ज्यों का त्यों उतारने की चेष्टा करता।"

"फिर राजमाता ने चित्रकार को क्या उत्तर दिया?" मैंने उत्सुक होकर पूछा, क्योंकि ठीक यही जिज्ञासा मेरे मन में भी थी।

"एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर उस समय कुन्ती देवी ने कहा कि उस पेटिका में क्या था, यह केवल दुर्वासा ऋषि ही जानते हैं!" अमात्य ने उत्तर दिया।

"बाहर यज्ञ मण्डप में जो ऋषि आये हुए हैं, उनमें दुर्वासा ऋषि हैं क्या?" मुझको उस चित्र की करुणा बड़ी मर्मस्पर्शी लगी थी। उस पेटिका में क्या था, यह जिज्ञासा मन से निकल ही नहीं पा रही थी। इसलिए मैंने उनसे पूछा।

"नहीं!" उत्तर मिला।

हम उस कक्ष से बाहर आये। मन ने बहुत चाहा, किन्तु शिष्टाचारवश मैं अधिक प्रश्न नहीं पूछ सका।

पूरा राजभवन देख लिया। केवल अन्तिम कक्ष ही शेष रह गया था। अमात्य ने हमको बताया कि उस कक्ष की समस्त वस्तुएँ मायावी हैं।

अश्वत्थामा ने परिहास करते हुए कहा, “यों तो यह सारा संसार ही मायावी है।”

अन्त में हमने उस कक्ष में प्रवेश किया। कन्धे पर रखी हुई गदा घुमाता हुआ दुर्योधन सबसे आगे चल रहा था। उस कक्ष में प्रवेश करते ही एक सीढ़ी पर दासियों से घिरी हुई द्रौपदी मुझको दिखाई दी। मेरी समृतियों के मधु-छत्ते को जैसे किसी ने छेड़ दिया। घटनाओं की मधुमक्खियाँ मेरे भीतर के सूतपुत्र को इंसने लगीं। एक सूतपुत्र होने के कारण वह मुझपर घृणा-भरी दृष्टि तो कहीं नहीं डालेगी, इस विचार मात्र से दम घुटने लगा। लेकिन हुआ उलटा ही। मेरी दृष्टि से दृष्टि मिलते ही तिरस्कारपूर्वक उसने अपना मुँह दूसरी ओर नहीं मोड़ा। क्षण-भर मेरी ओर देखकर उसने अपनी आँखें झुका लीं। उसका मुख आरक्त हो गया। अपनी सखी के कान में उसने धीरे से कुछ कहा। उसकी आँखों में जो भाव था, वह मुझको बड़ा विचित्र और अपरिचित-सा लगा। मुझपर असीम प्रेम करनेवाली वृषा कभी कभी मेरी ओर जिस दृष्टि से देखा करती थी, कुछ वैसी ही वह दृष्टि मुझे लगी। अपनी सखी के कान में उसने क्या कहा होगा? कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

दुर्योधन का सोपान की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं था। वह उस कक्ष की मायावी वस्तुओं को देखता हुआ तनकर उसी तरह आगे चलने लगा। कक्ष के मध्य में एक पाँवड़ा बिछा हुआ था। उसकी बुनाई बड़ी आकर्षक थी। उस पाँवड़े की सुन्दर चित्रकारी देखकर दुर्योधन ने आश्चर्य से अपनी भौंहें ऊँची कीं। और दूसरे ही क्षण आगे बढ़ने के लिए ऊपर छत की ओर देखते हुए उसने अपना बायाँ पैर एकदम उस महीन पाँवड़े पर रखा। लेकिन वह पाँवड़ा नहीं था। लबालब भरे हुए एक छोटे तालाब पर राजभवन की दासियों द्वारा विविध रंगों के फूलों के परागकणों से पानी पर बनायी गयी एक छलनामयी अल्पना थी वह। उसपर पैर पड़ने के कारण दुर्योधन अचानक एकदम उस जलाशय में लुढ़क गया। अल्पना बिखर गयी। उसका भव्य राजमुकुट सिर पर से छिटककर तालाब में कहीं अदृश्य हो गया। हाथ में गदा होने के कारण वह तैर भी नहीं सकता था। उसने तीन-चार विचित्र डुबकियाँ खायीं, इसलिए मैंने तुरन्त आगे बढ़कर उसको हाथ का सहारा दिया। हाथ के सहारे वह हँसता हुआ तालाब से बाहर आया। वह विनोद से मुझसे और अश्वत्थामा से कुछ कहने ही जा रहा था कि इतने में ही वहाँ सोपान पर उपहासात्मक हँसी का फव्वारा छूट पड़ा। दुर्योधन पर तिरस्कारपूर्ण जलती हुई दृष्टि डालकर अपनी सखियों को लक्ष्य कर द्रौपदी व्यंग्य करती हुई बोली, “तो अन्धे पिता के पुत्र भी अन्धे ही होते हैं।” उसकी सखियाँ खिलखिला पड़ीं, मानो पक्षियों का झुण्ड चहचहाने लगा हो।

उसके उस कुत्सित और व्यंग्यपूर्ण कथन से मुझको उससे अत्यन्त घृणा हुई। उसके शरीर में सुगन्ध होगी; परन्तु मन में निकृष्ट दुर्गन्ध के अतिरिक्त हमको कभी और क्या दिखाई पड़ा ? दुर्योधन के प्रति अपना क्रोध उसने उसके अन्धे पिता की प्राकृतिक कमी का मर्मभेदी उल्लेख करके प्रदर्शित किया था।

मेरे मन में विचार उठा कि हर दशा में स्त्री की मर्यादा होनी चाहिए। कम से कम राजस्त्री की तो होनी ही चाहिए। और कुछ नहीं तो गुरुजनों के सम्बन्ध में बोलते समय तो उसको अपनी जीभ पर अंकुश लगाना ही चाहिए।

द्रौपदी के उपहास में भड़के हुए दुर्योधन ने हाथ की गदा को क्रोध से तत्क्षण सरोवर में फेंक दिया। आग बरसाती हुई अपनी दृष्टि द्रौपदी पर डाल सिर ऊँचा कर वह ज़ोर से चिल्लाया, “अन्धे पिता के पुत्र भी आँखोंवाले होते हैं, यह समय आने पर तुझको साक्षात् करके दिखा दूँगा।” उसके भीगे हुए वस्त्र से पानी टपक रहा था, लेकिन क्रुद्ध आँखों में थी आग। और इसमें उसका क्या दोष था ! ऐसा कौन था जो उस समय द्रौपदी के घमण्ड-भरे कथन का समर्थन कर दुर्योधन को आशुक्रोधी कह सकता था !

अश्वत्थामा उसकी बाँह पकड़कर उसको जैसे-तैसे उस मायावी कक्ष से बाहर ले गया। मैंने जाते-जाते उस सरोवर की ओर देखा। उसकी हिलोरें रुक गयी थीं। परागकणों की लपना पूर्ववत् तैयार हो गयी थी। लेकिन वह पहले की तरह आकर्षक नहीं थी। आकर्षक कैसे हो सकती थी ? पहले की रंगछटा कहीं की कहीं बिखर गयी थी। छिन्न-भिन्न हो गयी थी। रंगों का विचित्र विरूप मिश्रण घनीभूत हो उठा था।

मेरे पास पहुँचते ही दुर्योधन दृढ़ता से मुझसे बोला, “कर्ण, अब मैं यहाँ एक पल-भर भी नहीं रुकना चाहता। सत्यसेन को बुलवाकर रथ तैयार करने को कहो। अभी इसी क्षण मैं हस्तिनापुर को लौट जाऊँगा।”

अपनी देह पर भीगे हुए कपड़े हैं, इसका भी उसको भान नहीं था। अश्वत्थामा ने नेत्रों से आर्य अमात्य को संकेत किया। वे वस्त्रागार से एक कोरा उत्तरीय और अधरीय ले आये। अश्वत्थामा ने जब वे वस्त्र उसके सामने रखे, तब उसके ध्यान में यह बात आयी कि उसके कपड़े भीगे हुए हैं। एक खाली कक्ष की ओर उँगली दिखाते हुए अश्वत्थामा ने उसको वस्त्र बदलने का संकेत किया। मुझको अश्वत्थामा समय सूचकता का सुन्दर निर्झर प्रतीत हुआ। दुर्योधन वस्त्र बदलकर आया; लेकिन वे वस्त्र उसके शरीर पर बड़े ढीले-ढाले लग रहे थे, वे वस्त्र शायद भीम के होंगे। मुझको यह एक विचित्र संयोग लगा। मैंने अपने सिर से मुकुट उतार कर उसके अनावृत मस्तक पर रख दिया, क्योंकि उसका मुकुट तो सरोवर के तल में पहुँच चुका था। मेरे अनावृत मस्तक की ओर देखकर उसने पूछा, “और तुम्हारे मस्तक पर ?”

“मैं क्षत्रिय नहीं हूँ राजन् ! सूतपुत्र बिना मुकुट के घूमने का अभ्यस्त होता है।” मैंने उसको उत्तर दिया।

मेरे मस्तक की ओर देखकर उसने अश्वत्थामा से पूछा, “वास्तव में इसको किसी मुकुट की आवश्यकता है ही नहीं, ऐसा तुम्हें नहीं लगता क्या ?”

“इसके सुनहले घुघराले बाल मुकुट को भी लज्जित करनेवाले हैं,” अश्वत्थामा बोला।

मैंने उसके सिर पर मुकुट रख दिया था, इससे दुर्योधन का क्रोधावेग बहुत कम हो गया था।

हम लोग हस्तिनापुर जाने का निश्चय करके ही वहाँ से बाहर निकले । क्योंकि दुर्योधन का अपमान मेरा ही अपमान था । वह और मैं- हम, दो हैं—यह मैंने कभी माना ही नहीं था। उसने मेरा जीवन बनाया था, भवितव्य भी उसी के हाथ में था। उसका उपहास करनेवाली द्रौपदी मुझको अविचारी ही नहीं बल्कि घमण्डी भी लगी। प्रत्येक घटना का परिणाम होता है। द्रौपदी को भी कभी न कभी इसका फल भोगना पड़ेगा—मेरे मन ने जैसे मुझसे कहा।

अचानक चारों ओर से नगाड़े, तुरही और मृदंग की हर्षवर्धक ध्वनियाँ सुनाई देने लगीं। मैंने उत्सुक होकर आर्य अमात्य से उस कोलाहल के बारे में पूछा। वे बोले, “अब यज्ञ प्रारम्भ होगा। द्वारका से भगवान् श्रीकृष्ण शायद अभी-अभी आये हैं। उनके तथा अन्य यादवों के स्वागत के लिए ही ये रोमहर्षक वाद्य बज रहे हैं। राजसूय यज्ञ की प्रतिज्ञा हमारे राज्य ने पूर्ण कर दी है। इस यज्ञ से पहले पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के सभी राज्य जीतने पड़ते हैं। यज्ञमण्डप में जो राजागण उपस्थित हैं, वे सभी हमारी सेना द्वारा पादाक्रान्त आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न भूभागों के राजा हैं। वे सभी राजा उठकर अब यज्ञवेत्ता का अभिवादन करेंगे।”

“कौन-कौन-से राज्य जीते हैं तुम्हारी सेना ने ?” मैंने पुनः प्रश्न किया ।

“बहुत-से-कोसल, विदेह, चेदि....” वे एक-एक का नाम बताने लगे। उनको सुनते-सुनते ही हम यज्ञमण्डप के पास आ गये ।

तीन

हस्तिनापुर लौटने के लिए हम यज्ञमण्डप से बाहर जाने को जल्दी-जल्दी चलने लगे। दुर्योधन तो किसी की भी ओर भूलकर भी न देखता हुआ जैसे दौड़ रहा था, लेकिन रुक्मी राजा का हाथ अपने हाथ में पकड़े हुए प्रवेश-द्वार से आते हुए पितामह भीष्म ने उसको

बीच में ही रोक लिया और अधिकारपूर्ण स्वर में उससे बोले, “दुर्योधन, तुम यज्ञ के लिए आये हो या मृगया के लिए ? जाओ, एक काम करो। यज्ञ में बलि देने के लिए जो पशु लाये गये हैं, उनकी गिनती करो और उनकी व्यवस्था ठीक-ठीक की गयी है या नहीं, यह तुम स्वयं देखो। और कर्ण, तुम यज्ञ के लिए दान करने की वस्तुएँ अपने हाथ से सबको दान करना, बस ।

पहले ही द्रौपदी द्वारा अपमानित हुए अभिमानी दुर्योधन को उनका बताया हुआ क्षुद्र कार्य किंचित् भी अच्छा नहीं लगा। सावन में जैसे चारों ओर से घटाओं का जाल निरभ्र आकाश पर छा जाता है, वैसे ही सिकुड़नों का जाल उसके संकुचित भाल पर घिर गया। जैसे कोई विशाल करसायल सूखी लकड़ी की तनिक-सी ध्वनि से ही चौकन्ना हो जाये, वैसे ही उसने अपनी वक्र भौंहें और अधिक तान लीं। उसकी कंजी आँखें मानो प्राणान्तक पीड़ा से तड़पती हुई उनसे कहना चाहती थीं कि, “आप पितामह भीष्म हैं। मैं कुरुओं के दिव्यकुल का ज्येष्ठ युवराज हूँ। वह क्षुद्र कार्य मुझसे कराने में कम से कम आपको तो शोभा नहीं देता।” लेकिन पितामह के ज्येष्ठत्व का वह तिरस्कार न कर सका। विवश भाव से एक बार मेरी ओर देखकर सिर झुकाकर वह पशुओं के गोष्ठ की ओर मुड़ा। उसके मन में कैसा भयंकर बवण्डर चल रहा था, इसका साक्षी भूमि पर पड़े हुए दृढ़ चरण दे रहे थे। उसको सान्त्वना देने के लिए कुछ करना चाहिए, यह सोचकर मैं उसके पीछे-पीछे चलने लगा। पीछे बिना मुड़े ही दायें हाथ की हथेली से मुझको रुकने का संकेत करता हुआ वह दृढ़ता से बोला, “तुम रुको, राधेय ! आज का दिन सबको एक अपूर्व लगेगा पर मुझे भिन्न-भिन्न रूप में यह आजीवन याद रहेगा। दुर्योधन के भी मन है, वह भी एक मनुष्य है—इन बातों को ये उन्मत्त शायद भूल गये हैं। उचित समय आने पर मैं भी इनको सिद्ध कर दिखाऊँगा कि मैं भी एक जीवित मनुष्य हूँ।

उसके अभिमानी क्षत्रिय मन की मरणमय यातनाएँ मैं जान गया, लेकिन सान्त्वना का एक शब्द मैं कह नहीं सका। कैसे कह सकता था ? उसमें और मुझमें अन्तर ही क्या था ? दुखी मन की व्यथा अन्य दुखी मनवाला ही जानता है। जीवन-भर मैंने भी क्या यही अनुभव नहीं किया था ? अवहेलना और तिरस्कार। उसकी क्रमशः लघु होती हुई आकृति की ओर मैं अनुकम्पा में देखने लगा। उसकी चाल में कौरवराज की अकड़ कहीं दिखाई नहीं पड़ी।

पितामह वास्तव में दुर्योधन को पहचान ही नहीं पाये हैं। मुझको ऐसा लगा ।

मण्डप में होनेवाला कोलाहल अचानक ही पूर्ण शान्त हो गया, इसलिए मैंने पीछे मुड़कर प्रवेश-द्वार की ओर देखा । धवल वर्ण के पाँच घोड़ों के रथ से श्रीकृष्ण नीचे उतरे। मन्द-मन्द मुसकराते हुए, शान्त, धीर-गम्भीर चरण रखते हुए वे यज्ञमण्डप में आये। अंजनी के नीलवर्णी फूल-जैसा उनका नीला शरीर अस्तंगत होते हुए सूर्य की सौम्य किरणों में चमक

रहा था, उनके पीछे साल कटसरई के वर्ण का अंशुक-धारण किये हुए अधोमुखी रुक्मिणी देवी भी आयीं। उन दोनों के बाद सात्यकि, बलराम, उग्रसेन, अक्रूर, उद्धव, प्रद्युम्न, साम्ब, ब्रह्मगार्ग्य आदि रथों से उतरे। पितामह ने तत्परता से सामने जाकर श्रीकृष्ण को प्रगाढ़ आलिंगन दिया। उन दोनों का आलिंगन देखकर मुझको ऐसा लगा जैसे कि हिमालय का धवल शिखर आकाश के नीले कण्ठ से मिल रहा हो। सुहागिनों ने श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के चरणों पर जलकुम्भ रिक्त किये। राजमाता कुन्ती देवी ने उनके विशाल भाल पर मंगल कुंकुम तिलक लगाया। उसको देखकर मुझको राधामाता की याद आ गयी। जब कभी मैं कहीं बाहर जाता था, वह मेरे भाल पर ऐसा ही तिलक लगाया करती थी। विदुरजी ने उनके कण्ठ में श्वेत कमलों की माला डाली। श्रीकृष्ण ने झुककर राजमाता के चरणों की धूल सादर सिर से लगायी। मण्डप के सभी लोग आदर से खड़े हो गये। पैरों पर उँडेले गये पानी में ही लोट लगानेवाले ऋषियों को श्रीकृष्ण तत्परता से ऊपर उठाने लगे। दूर एक आसन पर कोई राजा पूर्ववत् बैठा ही था। उसकी इस उदासीनता से मेरी उत्सुकता बढ़ी। मैंने ध्यान से देखा। वह शिशुपाल था।

अन्त में युधिष्ठिर आगे आया। श्रीकृष्ण का दायाँ हाथ अपने हाथ में लेकर वह उनको यज्ञवेदी के निकट उस भव्य सुवर्ण सिंहासन की ओर ले जाने लगा। बायीं ओर चलनेवाले अर्जुन के अनावृत कन्धे पर श्रीकृष्ण ने अपना बायाँ हाथ रख रखा था। उन दोनों का नीलवर्ण होने के कारण पीछे से देखनेवाले को एकदम यह पता नहीं चल सकता था कि उनमें श्रीकृष्ण कौन है और अर्जुन कौन। लेकिन मुझको उन दोनों में एक अन्तर स्पष्ट दिखाई दिया। श्रीकृष्ण की चाल में सहजता थी। अर्जुन की चाल में एक अकड़ थी, जो सुगठित शरीर में प्रायः उत्पन्न जाती है। मण्डप में लगे थूहर के स्तम्भ के सहारे खड़ा होकर मैं दूर से श्रीकृष्ण को देखने लगा। जिसके लिए मानापमान के सभी रूढ़िगत बन्धन तोड़कर मैं निमन्त्रित न होने पर भी यहाँ आया था, मेरी वह इच्छा पूरी हो गयी। श्रीकृष्ण के शरीर के वर्ण में और आकाश के वर्ण में मुझको अत्यधिक समता प्रतीत हुई। कानों की ओर संकुचित होते गये उनके नेत्रों में एक ऐसी आत्मीयता थी, जो अन्यत्र दुर्लभ थी। लघु होती हुई भी देहयष्टि कसी हुई थी। आँखें बड़ी-बड़ी थीं। सुन्दर मत्त पलकों से वे आच्छादित थीं।

युधिष्ठिर ने उनको यज्ञकुण्ड के निकट स्थित सुवर्ण-सिंहासन पर बैठाया। उनके बैठते ही सभी जन आसनस्थ हो गये। ऋषिगण ने अपने-अपने व्याघ्रचर्मों पर पद्मासन लगा लिये। मेरी ओर किसी का भी ध्यान नहीं था। और ध्यान होने का कोई कारण भी नहीं था। मण्डप से सहज ही अपनी दृष्टि फिराते हुए श्रीकृष्ण को मैं यज्ञकुण्ड के एक कोने में दिखाई दे गया। क्षण-भर के लिए हम दोनों की दृष्टि मिली। अकारण ही मेरी आँखों के सामने चम्पानगरी में गंगा का विशाल पात्र दिखाई देने लगा ! मनुष्य का मन भी कितना विचित्र

होता है। उसको कब क्या याद आयेगा, इसका कोई नियम नहीं। मुझको देखते ही वे सिंहासन से फिर उठे। हाथ से संकेत कर उन्होंने आचार्य विदुर को अपने समीप बुलवाया। धीरे से उनके कान में कुछ कहा। मेरे सिर पर मुकुट नहीं है, यह ध्यान होते ही मुझको दुःख हुआ। आचार्य विदुर मुकुट की व्यवस्था करने के लिए शायद मेरी ओर आ रहे थे। लेकिन मेरे पास आते ही उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा, उससे मैं चौंक पड़ा। वे बोले, "अंगराज, यज्ञकार्य अब प्रारम्भ होनेवाला है। आप आसन ग्रहण करें !"

"मैं यहाँ खड़ा हूँ, यह उचित नहीं है क्या ?" उत्तर की अपेक्षा से मैंने कहा। सिर पर मुकुट न होने पर नरेशों की पंक्ति में कैसे बैठा जाये ?

"यह मेरी इच्छा नहीं है ! भगवान् श्रीकृष्ण की है !" उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा। इस उत्तर के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं थे।

मैं चुपचाप उनके पीछे चल दिया और उनके बताये एक आसन पर बैठ गया। चारों ओर शान्ति छा गयी। चतुर्थ प्रहर होने के कारण अस्त होते हुए सूर्य की सर्वस्पर्शी लम्बी किरण-बालाएँ प्रवेश-द्वार से होकर समस्त-मण्डप को स्पर्श करने लगीं। उनको देखते ही यों ही एक विचित्र विचार मेरे मन में तैर गया; मुझको आचार्यजी ने एक आसन दिखाया था, लेकिन उन किरणों को वे कौन-सा आसन दिखायेंगे ? और सच पूछो तो उनको आसन दिखाने की आवश्यकता ही क्या थी ? बिना किसी निमन्त्रण के और किसी के भी विरोध की परवाह किये बिना वे मण्डप के प्रत्येक आसन पर आकर बैठ नहीं गयी थीं क्या ? श्रीकृष्ण के आसन पर भी ! उनका कोई कैसे विरोध करेगा?

कुछ निमन्त्रित राजागण मेरे मुकुटविहीन मस्तक की ओर ध्यान से देखकर कुछ कानाफूसी करने लगे। मेरा उस स्थिति में वहाँ बैठना उनको अशुभसूचक लगा होगा। परन्तु जब युधिष्ठिर यज्ञकुण्ड के पास खड़ा होकर बोलने लगा तब उनकी कानाफूसी स्वयं बन्द हो गयी। वह कहने लगा –“भगवान् श्रीकृष्ण, पितामह, आचार्य, गुरुदेव द्रोण, पूजनीय ऋषिजन तथा आमन्त्रित राजाओ, मैं अपने चारों भाइयों की ओर से इन्द्रप्रस्थ में आप सबके आगमन का सानन्द, सहर्ष स्वागत करता हूँ। हम यह राजसूय-यज्ञ अपने राज्य की समृद्धि के लिए तथा शान्ति के लिए कर रहे हैं। हमारे सौभाग्य से इस महत्त्वपूर्ण यज्ञकार्य के लिए यज्ञवेत्ता के रूप में आज भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उपस्थित हैं। आज इस शुभमुहूर्त में यज्ञवेत्ता के चरण धोकर मैं उनके शुभ हाथों से इस यज्ञ की पहली बिल्व-समिधा अर्पण कराऊँगा। हमारा विश्वास है कि आप सबके और उनकी कृपा-प्रसाद से हमारे राज्य का कल्याण होगा। इस यज्ञ के उपरान्त, आज पौर्णिमा होने के कारण, हम सब सामने इक्षुमती के किनारे बैठकर प्रीतिभोज ग्रहण करेंगे।

उसने अपने अमात्य की ओर अर्थभरी दृष्टि डाली। वे विविध नदियों के जल से भरा हुआ एक सुवर्ण-कुम्भ और एक सुवर्ण-थाल ले आये। युधिष्ठिर ने वह थाल श्रीकृष्ण के चरणों के

पास रख दिया। सदा सूक्ष्मदृष्टि से मेरे पैरों को निखर युधिष्ठिर उस थाल में श्रीकृष्ण के चरणों को रख श्रद्धापूर्वक सुवर्ण-कलश का जल उनपर उँडेलने लगा। सभी आमन्त्रित राजागण इस दृश्य को उत्साहपूर्ण शान्ति से देखने लगे। जैसे ही चरण धोने का कार्य पूर्ण हुआ, उसने थाल में रखे हुए जल से थोड़ा-सा जल अपनी दायी हथेली पर रखा फिर श्रद्धा से आचमन की तरह उसका प्राशन किया। अपने अतलसी धागों के बहुमूल्य उत्तरीय से भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण के गीले पैर पोंछे। मैंने उन चरणों के सीधे नीले अंगूठे पर दृष्टि डाली। मेरे बाण का व्रण वहाँ होना चाहिए था, लेकिन वह वहाँ नहीं था !

अग्निहोत्र ऋषि ने प्रणव-मन्त्र का जाप करते हुए धधकते हुए अंगारों की एक थाली यज्ञकुण्ड में उँडेल दी। उन अंगारों पर अर्पण करने के लिए श्रीकृष्ण ने बल्वज वृक्ष की लकड़ियों की एक छोटी-सी गठरी धीरे से उठायी। आगे झुककर वे उस गठरी को यज्ञकुण्ड में अर्पण करने ही वाले थे कि इतने में ही नरेशों की पंक्ति में बैठा हुआ चेदिराज शिशुपाल अपने आसन से खट् से उठा और अपनी गदा को झटके से उठाकर कन्धे पर रखता हुआ तीव्र विरोध-भरे कड़कते स्वर में चिल्लाया, “ठहर !” वह ऐसा लग रहा था जैसे किसी को मारने के लिए चौकन्ना वृषभ खड़ा हो। उसके स्वर गरजते बादलों-जैसे थे।

सबने आश्चर्यचकित होकर उसकी ओर देखा। समस्त मण्डप पर अपनी आग्नेय दृष्टि घुमाकर अन्त में युधिष्ठिर पर स्थिर करता हुआ और नासिका-पुटों को फड़काता हुआ वह क्रोध से बोला, “कुरुओं के श्रेष्ठकुल में जन्म लेनेवाले युधिष्ठिर, एक क्षुद्र ग्वाले के लड़के को इस महान् यज्ञ का यज्ञवेत्ता बनाकर क्या तुम यहाँ आर्यावर्त के हम वीर क्षत्रियों का अपमान करना चाहते हो ?” उसका उन्नत वक्ष ऊपर-नीचे हो रहा था। उसके मन में संचित ईर्ष्या उफन-उफनकर बाहर आने लगी। जरासन्ध का सेनापति और रुक्मिणी का किसी समय का नियोजित वर होने के कारण श्रीकृष्ण पर तो वह क्रुद्ध था ही।

उसने श्रीकृष्ण का ‘एक क्षुद्र ग्वाला’ कहकर जो उल्लेख किया था, वह मुझको तनिक भी अच्छा नहीं लगा। भीम और अर्जुन तो क्रोध से अपनी गदा और चाप सँभालते हुए तत्क्षण आसनों से उठ खड़े हुए। हाथ की बल्वज की गठरी समिधाओं के ढेर में फेंककर धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए श्रीकृष्ण ने हाथ से ही उनको संयत रहने का संकेत किया। वे नीचे बैठ गये। ऐसे अवसर पर भी एक बात मुझको बड़ी उत्कटता से याद आयी। क्षत्रिय होते हुए भी श्रीकृष्ण को अपना जीवन गोपालपुत्र के रूप में ही बिताना पड़ा था। दैव अत्यन्त मनमौजी बालक-जैसा होता है। जैसे बालक हाथ में लगे सुवर्ण-भूषण को पैरोंतले मिट्टी में फेंक देता है और मिट्टी में पड़ी सूखी लकड़ी को हाथ में उठा लेता है, वैसे ही दैव भी पराक्रमी पुरुषों को कभी असहायता की धूल में फेंक देता है और कर्तृत्वशून्य कायरों को मस्तक पर धारण कर लेता है।

कोई भी अपना विरोध नहीं कर रहा है, यह विश्वास होने पर शिशुपाल आसन छोड़कर सीधा यज्ञवेदी के अति निकट पहुँच गया। गदा सँभालकर, अपना हाथ इधर-उधर फड़काता हुआ वह और अधिक द्वेष से बोलने लगा। उसके मुखरूपी दावानल से चिनगारियाँ बाहर निकलने लगीं। सारे शब्द विवेकशून्य थे : “इस मण्डप इस ग्वाले से बढ़कर’ सूर्यप्रतापी अनेक वीर हैं, तुम क्या सोचकर उनकी उपेक्षा कर रहे हो ? यहाँ पितामह भीष्म, महाराज धृतराष्ट्र, युवराज दुर्योधन, दुःशासन, मदराज शल्य, सिन्धुराज जयद्रथ, सुबलराज शकुनि, पांचालश्रेष्ठ द्रुपद आदि महाप्रतापी वीरों के होते हुए; ब्रह्मतेज से दीप्त होते हुए पैल, धौम्य, द्रोण, कृप, विदुर और अश्वत्थामा-जैसे पूजनीय विद्वानों के होते हुए एक काले ग्वाले की अग्रपूजा कर कुरुओं की धवल कीर्ति पर कालिमा पोतते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती ? यदि उसके काले-नीले वर्ण ने ही तुमको मोह लिया हो तो उससे भी अधिक आकर्षक और आश्चर्यजनक सुवर्ण वर्ण का चमचमाता अभेद्य कवच धारण करनेवाले कुण्डलधारी वीरश्रेष्ठ अंगराज कर्ण यहाँ उपस्थित हैं, क्या वे भी तुम्हें दिखाई नहीं दिये ?”

उसने सबके आसनों के सामने खड़े होकर उँगली से निर्देश करके अन्त में मेरे ऊपर दृष्टि डाली। मुझको यह बिलकुल अच्छा नहीं लगा। भला कैसे अच्छा लगता ! जग को कौतूहल में डालनेवाले कवच कुण्डल मैंने धारण कर रखे थे, इसीलिए कोई मुझको सारथी न कहकर सम्राट का मान तो देनेवाला था नहीं। वह व्यर्थ ही पागलपन की बातें कर रहा था।

उसकी रक्तवर्णी जीभ विक्षिप्त की तरह चलती जा रही थी : “और इन सबको छोड़कर गाय की पूँछ ऐंठते हुए अरण्य में भटकनेवाले एक क्षुद्र ग्वाले को आज तुमने इतने महान् राजसूय यज्ञ का यज्ञवेत्ता कैसे बना दिया ? इतना करके ही तुमसे रहा नहीं गया ? नित्य गायों के मल-मूत्र में सननेवाले उसके गन्दे पैर धोकर वह घृणित जल तुमने इस तरह पिया जैसे कोई तीर्थसलिल हो। और वह भी इन सभी क्षत्रियों के सामने । यह सबका प्राणघाती अपमान नहीं तो और क्या है ? कहो, अपने नूतन राज्य को तुम गोशाला बना देना चाहते हो क्या ?” उसके उद्गारों से क्रोध से सन्तप्त होकर पितामह भीष्म, भीम और सहदेव तत्क्षण आसनों से उठ पड़े। परन्तु...परन्तु श्रीकृष्ण के केवल हाथ के संकेत ने सबों को पुनः बैठा दिया ।

शिशुपाल ज्ञानरहित होकर अनाप-शनाप बकता गया : “ग्वालिनियों में नाचनेवाले कामुक नर्तक, अपने मामा की हत्या करनेवाले कुलघाती, जरासन्ध के पौरुष को पीठ दिखानेवाले कापुरुष, क्षत्रियों और ब्राह्मणों द्वारा रचित इस पवित्र यज्ञ में हवि के लिए मथुरा की गोशालाओं से कलशों में दूध लाकर, उसका मूल्य प्राप्त कर तू चलता क्यों नहीं बना ? उस पवित्र सुवर्णसिंहासन पर बैठकर एक उच्च कुलस्थ क्षत्रिय द्वारा अपने अशुभ पैरों को धुलवाते हुए तुझे लज्जा क्यों नहीं आयी ?” चैत्र में जैसे पलाश फूल उठता है, वैसे

ही क्रोध से अन्धा होने के कारण वह फूल उठा था। उसके कण्ठ की धमनियाँ प्रत्यंचा की तरह तन गयी थीं।

उसके प्रत्येक शब्द के साथ ही सुननेवाले के हृदय में लहर उठ रही थी। श्रीकृष्ण की ग्रीवा धीरे-धीरे भुजंग के फन की तरह तनने लगी। अपने दोनों हाथ कटि पर रखकर शिशुपाल को सावधान करने के लिए अन्तिम चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा, "शिशुपाल, तेरे निन्यानबे अपराध आज तक मैं सहन कर चुका हूँ। तेरी माता को मैंने वचन दिया था कि तेरे सौ अपराध मैं क्षमा कर दूंगा। लेकिन अब प्रत्येक पल तेरे जीवन-मरण की सीमारेखा को खींचकर पास लाता जा रहा है। सावधान हो जा और संयम रख। युद्ध के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर संयम रखना ही क्षत्रियों का धर्म है। यदि मेरी सहनशीलता को चरम सीमा तक तानने का प्रयत्न किया तो उसका संहारक सुदर्शन में रूपान्तर हो जायेगा।"

"तत्त्वज्ञान बखाननेवाले कायर, यदि पुरुषार्थ ही क्षत्रियों का सच्चा धर्म है और तू सच्चा क्षत्रिय है, तो आ, इस यज्ञमण्डप के मध्यभाग में आ, और इस चेदिराज से द्वन्द्व-युद्ध कर।" हाथ की गदा दूर फेंककर उसने श्रीकृष्ण पर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी और हथेली भुजदण्डों पर मारकर ताल ठोकी। उसके उस ताल ठोकने से सबके कानों के परदे फटने लगे। साँसें रुक गयीं।

मेरी इच्छा हुई कि चिल्लाकर कह दूँ कि शिशुपाल, तेरा खेल समाप्त हुआ। समुद्र के ज्वार की भी एक सीमा होती है।

अचानक ही सहस्रों वाद्यों की अनसुनी कर्कश ध्वनियों से मण्डप डगमगाने लगा। वे ध्वनियाँ कहाँ से आ रही थीं यह कोई नहीं जान पा रहा था। मेरी आँखों के आगे तेज़ के वलय फिरने लगे। सबकी आँखें श्रीकृष्ण पर स्थिर थीं। नीले डण्ठल पर जैसे नील कमल हो, ऐसे ही उनका नीलवर्ण मुख एकदम गम्भीर हो गया। उन्होंने अपने विशाल नेत्र बन्द कर लिये, मानो महाद्वार के भव्य कपाट बन्द हो गये हों। क्षण-भर में ही उनका सारा शरीर ऐसे फूलने लगा जैसे अंगारे पर लाजक फूल उगता है। क्षण भर पहले नील कमल-जैसा दिखाई देनेवाला उनका मुख अँगारे-जैसा रक्तवर्णी दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे बढ़ता हुआ उनके मुकुट का सिरपेच बातों ही बातों में मण्डप की छत का स्पर्श करने लगा। उनका शरीर जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा था, वैसे ही वैसे मेरा शरीर अधिकाधिक तप्त होता जा रहा था। मुझको सन्देह होने लगा कि जिस आसन पर मैं बैठा था, वह आसन कहीं पिघल न जाये। शरीर में केवल उष्णता की प्रचण्ड लहरें ही लहरें उठ रही थीं। उनके बढ़ते हुए शरीर के साथ मेरा शरीर तप्त क्यों हो रहा था, यह जानने के लिए मैंने ध्यान से उस विशाल देहाकृति की ओर देखा। उस आकृति की चार भुजाएँ थीं। क्षण-भर पहले जिस हाथ ने शुष्क काष्ठों की समिधा उठायी थी, उस हाथ ने उसी सहजता से एक भारी गदा थाम रखी थी। उसके पीछेवाले हाथ में तेज के वलय फेंकता एक घूमता हुआ चक्र था, उस देहाकृति के दीर्घ

ओष्ठ पूर्णरूप से बन्द थे। फिर भी मेघों की गर्जना को लज्जित करनेवाली, सहस्रों वाद्यों के कोलाहल को भी भेदनेवाली तीव्र ध्वनि बाहर आयी। मण्डप को चीरती हुई वह आमन्त्रितों के कान से एकदम सीधी हृदय में घुस गयी। न जाने कितनी गहरी ।

"शिशुपाल, तेरे सौ अपराध पूर्ण हो गये। अब विश्वकर्ता ब्रह्मा भी तुझको प्राणों का दान नहीं कर सकेंगे। क्षत्रियत्व के मिथ्या अभिमान से उन्मत्त हो जानेवाले दुर्बल जीव, तू भूल गया कि समुद्र का ज्वार भी उन्मत्त होकर एक सीमा में ही उफनता है। सावधान हो जा और मृत्यु के सत्य का सामना करने के लिए वीर की तरह सन्नद्ध हो। अब भविष्य में एक सौ एकवाँ अपराध तू कभी कर ही नहीं पायेगा। यह अवसर अब तुझको कभी नहीं मिलेगा।"

उन्होंने बन्द विशाल आँखें खोली और दूसरे ही क्षण शिशुपाल को लक्ष्य बनाकर हाथ का तेजावलय फेंकनेवाला सुदर्शनचक्र शिशुपाल की ओर चला दिया। जैसे विशाल काय होते हुए भी देवदारु वृक्ष ..' झंझावात में थर-थर काँपने लगता है, वैस हा शिशुपाल थर-थर काँपने लगा। क्षण-भर पहले पर्वत की तरह अविचल और दृढ़ प्रतीत होनेवाला वह उस भव्य आकृति के सामने मिट्टी के ढेर की तरह क्षुद्र लगने लगा। क्षण भर पहले क्षत्रियत्व के अहंकार से प्रफुल्लित होकर लाल हो जानेवाला उसका मुख निर्दय मृत्यु की प्रतीति से काला पड़ गया। समस्त यज्ञ मण्डप में हाहाकार मच गया। चारों ओर असह्य दीप्तिमान् प्रकाश विकीर्णित हो रहा था। 'सू ५५' की कर्कश ध्वनि करता हुआ वह चक्र शिशुपाल की ओर आगे बढ़ने लगा। मेरा मन कौतूहल, आश्चर्य, उत्सुकता और करुणा से भर गया। प्राणों के भय से व्याकुल शिशुपाल देदीप्यमान प्रकाशवलय फेंकनेवाले उस चक्र के प्रहार से बचने के लिए मण्डप में राजाओं के आसनों के पीछे छिपने का दयनीय प्रयत्न करने लगा। उसकी वह छटपटाहट देखकर ऐसी प्रतीति ही रही थी कि प्राणी को जीवित रहने का कितना तीव्र मोह होता है। क्षण भर पहले श्रीकृष्ण को भगोड़ा कहनेवाला शिशुपाल अपने सामने मृत्यु को देखते ही स्वयं भागने लगा था। परन्तु जिन राजाओं के आसनों के पीछे छिपने का प्रयत्न शिशुपाल कर रहा था, वे सभी राजा चक्र से बाहर फेंके जानेवाली प्रदाहक चिनगारियों से अपनी रक्षा करने के लिए आसन छोड़कर इधर-उधर दौड़ने लगे। समरांगण में शार्दूल की तरह दहाड़नेवाले वे पराक्रमी योद्धा उस चक्र के सम्मुख क्षण भर भी नहीं ठहर सकते थे। मण्डप के सभी आसन झटपट रिक्त होने लगे। घबराया हुआ शिशुपाल थर-थर काँपता हुआ जल्दी-जल्दी उन आसनों से गुजरने लगा। तेज के असह्य कण मुँह पर पड़कर कहीं मुख को जला न दें, इस भय से बीच-बीच में वह अपने पुष्ट हाथों से अपना मुँह ढकने लगा। क्षण-भर पहले उसका जो क्षत्रिय रूप था, उसका लवलेश भी अब शेष नहीं रहा था।

दौड़ते-दौड़ते उसका पैर ही फेंकी हुई गदा के दण्ड पर पड़ गया। इससे उसका सन्तुलन बिगड़ गया और वह धड़ाम से ऐसे गिर पड़ा जैसे पर्वत-शिखर से कोई पाषाण गिरा हो। वेध

करने के लिए चक्र उसपर एकदम झपटा। चपलतापूर्वक तत्क्षण उठकर वह फिर आसनों की पंक्ति में घुस आया। चक्र की असह्य उष्णता से उसकी गदा पिघल गयी। यह चक्र कहीं इस मण्डप को राख तो नहीं कर देगा, इस भय से ऋषियों ने भी मण्डप छोड़ दिया। मण्डप में मैं, शिशुपाल और वह भव्य आकृति इनके अतिरिक्त और कोई नहीं था। चक्र की कर्कश ध्वनि क्षण-प्रतिक्षण तीव्र होती जा रही थी। मेरे शरीर का कण-कण फूल उठा। मैं देह की सुधि भूलकर आसन से ही वह अपूर्व भीषण और रहस्यमय दृश्य देखने लगा। मैं इतना दिङ्मूढ पहले कभी नहीं हुआ था। श्रीकृष्ण ! इस एक ही शब्द में समाये अद्भुत रम्य रहस्य ने मेरी बुद्धि को चकित कर दिया था।

दौड़कर शिशुपाल मेरे ही आसन के सामने आ गया। क्षण-भर के लिए ही उसकी दृष्टि मेरी दृष्टि से मिली। तुषारकणों से जैसे कमल भीग जाता है, वैसे ही उसका रक्तवर्णी तेजस्वी मुख स्वेद-बिन्दुओं से तर हो गया था। कितनी अपार करुण, असीम भयाकुलता और हृदय को पिघला देनेवाली पश्चात्ताप-दग्धता उसकी आँखों की पुतलियों में आ समायी थी ! एक विशाल देश का अभिषिक्त राजा होकर भी वह मृत्यु के द्वार का एक नगण्य भिखारी लग रहा था। परन्तु...परन्तु उस दयनीय अवस्था में भी अपने क्षत्रिय होने के अहंकार को कदाचित् वह छोड़ नहीं पाया था। क्योंकि मुझको देखकर प्राणों के भय से वह बिलकुल नहीं चिल्लाया कि, 'कर्ण, मुझको बचाओ।' क्योंकि उस स्थिति में भी शायद वह यह भूल नहीं सका था कि वह एक क्षत्रिय था और मैं एक सूतपुत्र।

चक्र पूर्ववत् सीटी बजाता हुआ और उसका पीछा करता हुआ मेरे आसन के सामने आ गया। फिर भी मुझको आसन पर शान्ति से बैठा देखकर उसका मानी क्षत्रिय मन भड़क उठा। जब यह चक्र एक सूतपुत्र को पीड़ित नहीं कर सकता है, तो मेरा ही क्या बिगाड़ लेगा—यह सोचकर झट से मुड़कर उसने बिना किसी सोच-विचार के सुदर्शन पर ही हाथ डाल दिया। लेकिन उसका हाथ तत्क्षण जल गया। उसके धैर्य का बाँध पुनः टूटा। भयभीत खरगोश की तरह तत्क्षण कूदकर वह मेरे पीछे आ गया और जैसे बाँबी में भुजंग घुसता है वैसे ही मेरे आसन के नीचे संकीर्ण रिक्त स्थान में वह अपना सिर घुसाकर छिपने लगा। सुदर्शन भयंकर सीटी बजाता हुआ मेरे सामने मण्डलाकृति फिरता हुआ भयंकर रव करने लगा। मैं कौन हूँ, यह मैं स्वयं ही नहीं समझ पा रहा था। शिशुपाल की पिघली हुई गदा के रस की तरह मुझको अपना शरीर असह्य उष्ण लगने लगा। उस तेजस्वी चक्र की ओर मैं एकटक देखने लगा। उससे निःसृत होनेवाले तेजोवलय अस्ताचल के सूर्यदेव की किरण-शलाकाओं जैसे उष्ण और स्पृहणीय लगने लगे। वह चक्र था ही नहीं, मानो अस्त होते हुए सूर्यदेव मेरा नियमित सूर्यास्त का अर्घ्य माँगने आज यज्ञ-मण्डप में ही आ गये थे। झटपट आसन से उठकर मैंने अर्घ्य के लिए अंजलि जोड़ ली। हाथ में जल न होते हुए भी भावनाओं की अंजलि मैंने अर्पित की। फिर भी वह चक्र प्रदक्षिणा करता हुआ पूर्ववत् मेरे

सामने घूमने लगा। मैंने अपनी आँखें उसपर एकदम स्थिर कर दी थीं। मेरे सामने तेज के कोटि-कोटि कण फिर रहे थे।

"कर्ण आसन छोड़। यज्ञवेदी के पास चल ।' छत को स्पर्श करती हुई एक भव्य आकृति के मुख से अधिकार के शब्द निकले । मैं क्या कर रहा हूँ, यह मैं स्वयं नहीं समझ सका। विमूढ़-सा, आसन छोड़कर मैं यज्ञवेदी की ओर चलने लगा। यज्ञवेदी के पास पहुँचते ही मैं यह विशाल आकृति किसकी है, यह निरखने लगा। मेरा मस्तक उस आकृति के घुटने तक ही पहुँच पाया। निरन्तर फिरनेवाले गतिमान् दिव्य तेजःकणों से वह सम्पूर्ण शरीर भरा हुआ था। केवल तेज के घूमते हुए असंख्य कण।

जैसे ही मैंने आसन छोड़ा, चक्र शिशुपाल का पीछा करने लगा। सीटी की आवाज़ बढ़ने लगी थी इसलिए मैंने पीछे मुड़कर शिशुपाल की ओर देखा। मण्डप में अपना कोई भी आधार नहीं है, यह विश्वास होते ही वह रथ के घोड़े की तरह दौड़ता हुआ मण्डप का प्रवेश द्वार पार कर राजप्रासाद की प्राचीर से बाहर जा चुका था। देह के वस्त्रों का भी उसको भान नहीं था। बीच बीच में वह पीछे मुड़कर अपने और चक्र के बीच का अन्तर अपनी भयभीत मुद्रा से देख लेता था। कभी राजप्रासाद के निर्माणकार्य से बचे हुए पाषाण के पीछे, तो कभी विशाल वृक्ष के पीछे वह आश्रयार्थ छिपने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु मनुष्य की तरह ही प्रकृति भी उसकी रक्षा करने में असमर्थ रही। दूर से जीवन और मृत्यु का वह अद्भुत खेल देखते हुए प्रत्येक का शरीर रोमांचित हो गया। सैकड़ों नेत्रों की उत्सुक पुतलियाँ सुदर्शन के साथ फिरने लगीं।

आश्रय के सभा मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण गलितगात्र शिशुपाल हारकर अन्त में राजप्रासाद के सामने इक्षुमती नदी के पात्र में प्रविष्ट हुआ । 'चक्र के आघात से बचने के लिए यह प्रतिक्षण अधिकाधिक गहरे पानी में उतरने लगा। लेकिन उसका मुख मण्डप की ओर ही था। पैर, जंघाएँ, कटि, छाती-उसका एक एक अंग धीरे धीरे जल में अदृश्य होने लगा। अन्त में कण्ठ पर्यन्त जल-प्रवाह के आने तक वह तेजी से जल में घुसता चला गया, परन्तु फिर वह विवश होकर रुक गया। शायद उसने अन्तिम निश्चय कर अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। जली हुई काली अंजलि से मुख आच्छादित कर मृत्यु के अटल सत्य का सामना करने के लिए उसने अपने मन के धागे दृढ़ता से एकत्र किये। क्षण में ही चक्र बड़ी चपलता से उसका कण्ठभेद कर गया। डण्ठल-से टूटे हुए गुलाबी कमलपुष्प-जैसा उसका मस्तक क्षण भर में ही इक्षुमती की उफनती लहरों में अदृश्य हो गया। उत्साही शिशुपाल का जीवन समाप्त हो गया। चक्र भी वेग से पात्र में घुस गया। मानो उन्मत्तता से बोलनेवाली उस जीभ को वह चक्र पानी में भी छिन्न करना चाहता हो।

अस्त होती हुई सूर्यकिरणों में इक्षुमती का विशाल पात्र चमकने लगा, परन्तु सदैव की भाँति उस पात्र की जल-लहरें शुभ्र नहीं थीं। उस पात्र की कुछ लहरे लाल दिखाई देने लगीं।

विस्मय, करुणा, सम्भ्रम, कौतूहल आदि विविध भावनाओं से मेरा मन सुत्र हो गया। धरती में गड़े हुए मल्लस्तम्भ की तरह वेदी के पास निश्चल खड़ा मैं इधुमती के पात्र की ओर देखता रहा। हिलोरें लेती जल-लहरों के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। केवल जल-लहरें। लपलपाती हुई, निःशब्द। मेरे मन में भी वैसी ही प्रश्नों की विचार-लहरें लपलपा रही थीं। श्रीकृष्ण कौन थे? उनके पास वह दाहक चक्र कहाँ से आया? मेरे शरीर पर वह कोई प्रभाव क्यों नहीं डाल सका? मैं कौन हूँ? इच्छा करने पर मैं शिशुपाल को आज बचा सकता था क्या? श्रीकृष्ण के बढ़ते हुए शरीर के साथ ही मेरा शरीर भी तप्त क्यों हो गया था? मेरे मन में असंख्य प्रश्न उठ खड़े हुए। परन्तु उत्तर एक भी प्रश्न का नहीं मिल रहा था।

उस दिव्य शरीर में और मुझमें क्या अन्तर है, यह देखना चाहिए, यह सोचकर मैंने अपनी दृष्टि पीछे छत की ओर डाली। वहाँ कोई भी नहीं था। युधिष्ठिर द्वारा रखे गये सुवर्णसिंहासन पर बैठे हुए कृश अंगयष्टिवाले साँवले श्रीकृष्ण दायें हथ्थे पर दायीं कुहनी टेककर, दायीं हथेली पर दायीं गाल रखकर, मेरी ओर देखते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे। उनकी अंगयष्टि की तुलना में वह सुवर्णसिंहासन बहुत ही बड़ा लग रहा था।

सत्य क्या है और मिथ्या क्या, यह समझ में नहीं आ रहा था। मण्डप के बाहर खड़े योद्धा राजागण और ऋषिजन एकदम भीतर घुसकर झटपट सुवर्णसिंहासन के आगे लोट लगाने लगे। श्रीकृष्ण ने सौम्य शब्दों में ऋषिजनों से कहा, “सूर्यास्त हो रहा है। मुहूर्त मत टालिए। राजसूय यज्ञ की पहली समिधा आज सूर्यास्त से पूर्व यज्ञकुण्ड में पड़नी ही चाहिए।”

क्षण-भर पहले का रोमांचकारी नाटक भूलकर यज्ञमण्डप तत्परता से हलचल करने लगा। ऋषिगण मन्त्रोच्चार करने लगे। युधिष्ठिर ने पुनः श्रीकृष्ण के चरण धोये। श्रीकृष्ण ने शान्ति से उठकर बल्वज की एक गठरी यज्ञकुण्ड में अर्पित की। उसके बाद धड़ाधड़ मन्त्र बोलते हुए ऋषि-मुनि समिधा पर समिधा यज्ञकुण्ड में अर्पण करने लगे। उन समिधाओं का धुआँ मेरी आँखों के आगे घनीभूत होने लगा। केवल धुआँ। आँखों के आगे समिधाओं का धुआँ, मन के आगे सम्भ्रम और सन्देह का धुआँ। जब श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन था तो वह उन्होंने जरासन्ध पर कभी क्यों नहीं छोड़ा? जरासन्ध के आक्रमणों से त्रस्त होकर ये द्वारका को क्यों गये? जो जरासन्ध मेरे वश में हो गया था, उसने श्रीकृष्ण को कैसे त्रस्त कर दिया? कुछ भी समझ में नहीं आता था।

धुआँ भर जाने के कारण आँखों में आये पानी को पोंछने के लिए मैंने उत्तरीय का छोर पलकों से लगाया, तभी किसी ने मेरे कन्धों पर हाथ रखा। वह अश्वत्थामन् था।

“चलो तुम भी एक समिधा यज्ञकुण्ड में अर्पण कर दो।” वह शान्ति से इक्षुमती के पात्र की ओर देखता हुआ बोला।

उसके साथ जाकर मैंने भी औदुम्बर की एक समिधा कुण्ड में अर्पित की। यज्ञमण्डप छोड़ते समय विचारों में लीन दीर्घकाय अश्वत्थामा धीरे से बोला, “कुछ भी समझ नहीं आता।”

"क्या समझ में नहीं आता ?"

“इन श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कह रहा हूँ मैं। आज जिस शिशुपाल का वध इन्होंने किया है, वह कौन था, जानते हो ?”

"कौन था ?"

"श्रीकृष्ण का फुफेरा भाई। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की सगी बहन चेदिराज दमघोष को दी गयी है। उसका नाम है श्रुतश्रवा । शिशुपाल दमघोष और श्रुतश्रवा का पुत्र था। श्रीकृष्ण का फुफेरा भाई।"

मैं चुप था। कुछ कहने की इच्छा नहीं हो रही थी। केवल एक ही प्रश्न निरन्तर मस्तिष्क में गूँज रहा था-श्रीकृष्ण क्या हैं ?

चार

राजसूय यज्ञ समाप्त हुआ। अविस्मरणीय स्मृतियों की गठरी लेकर हम हस्तिनापुर की ओर लौटने लगे। मेरे मन में श्रीकृष्ण से सम्बन्धित विचारों का कोलाहल मचा हुआ था। रथ हस्तिनापुर की ओर दौड़ रहा था। सत्यसेन को हटाकर घोड़ों की वल्गाएँ मैंने अपने हाथ में ले लीं। कशाघात करते ही अयाल बिखराते हुए वे दौड़ने लगे। मेरा मन भी एकदम अस्त-व्यस्त हो गया था।

पांचालों के राज्य में स्वयंवर के दिन मैं स्वयं श्रीकृष्ण से मिलने गया था। मुसकराकर मेरा स्वागत करते हुए उन्होंने मुझसे अनेक विषयों पर चर्चा की थी। जिस समय मेरी बातों में प्रसंगवश दुर्योधन का उल्लेख हुआ, उस समय बीच में मुझको रोककर उन्होंने विषय-परिवर्तन करनेवाला एक विचित्र प्रश्न किया था। उन्होंने पूछा था, "कर्ण, अरण्य में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले शक्तिशाली वनराज को यदि भेड़ों के झुण्ड में लाकर खड़ा कर दिया जाये, तो उसकी दशा क्या होगी ?"

"और क्या होगी ? वह क्षण-भर में ही भेड़ों का सफ़ाया कर देगा।" मैंने उत्तर दिया।

"लेकिन सदैव ऐसा होता हो, यही बात नहीं है। कभी-कभी उनका भक्षण करना तो दूर, वह अपना ही अस्तित्व भूलकर उन भेड़ों की तरह ही आचरण करने लगता है।"

"यह कभी सम्भव नहीं । फिर वह वनराज ही कैसा ?" मैंने उनका विरोध किया, उन्होंने हँसते हुए कहा, "छोड़ो इन बातों को। तुम आज स्वयंवर में भाग न लो, यही अच्छा है। कम से कम जबतक मैं अपने दायें पैर का अंगूठा स्वीकृति के लिए ऊपर न उठाऊँ, तबतक तो लेना ही मत।"

तदनुसार मैंने उनकी स्वीकृति प्राप्त होने तक संयम रखा था। परन्तु अन्त में मैं उस स्वयंवर में भाग ले ही नहीं सका। मुझको स्वीकृति देकर कोई भूल की थी क्या ? यह प्रश्न पूछने के लिए ही मैंने धनुष से वह सूचीबाण उनके अंगूठे पर छोड़ा था । परन्तु उस बाण के घाव का निशान भी मुझको उनके अंगूठे पर यज्ञ के समय दिखाई नहीं दिया। इतनी अल्पावधि में वह चिह्न उनके अंगूठे पर से कैसे अदृश्य हो गया होगा।

उनसे सम्बन्धित सभी स्मृतियाँ एक रहस्य लिये हुए थीं। एक ऐसी रहस्यमयता थी जो भ्रान्ति के समुद्र में डुबो देती थी। यज्ञ के समय उनका सारा व्यवहार एक ऐसा रहस्य था जो प्रत्येक को चिन्तन-मनन करने के लिए विवश कर देता था। कहाँ तो वे क्षण-भर में ही छत के बराबर विशाल हो गये और कहाँ दूसरे ही क्षण अपनी बुआ के पुत्र की इहलीला समाप्त कर पुनः आसन पर शरीर सिकोड़कर बैठ गये। सभी कुछ आश्चर्यजनक था। जैसे रथ-चक्र धुरी के चारों ओर ही चक्कर काटता रहता है, वैसे ही मेरा मन श्रीकृष्ण के आसपास ही चक्कर काटने लगा और घूमता हुआ वह इस निर्णय पर आकर रुका कि श्रीकृष्ण अलौकिक हैं।

रथ में पास ही बैठे हुए दुर्योधन से मैंने पूछा, "श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में तुम्हारे क्या विचार हैं ?"

"कर्ण, तुम पराक्रमी वीर होकर भी उस काले जादूगर के जाल में फँस गये हो क्या ?" उसकी मोटी भौहें चंचल हो उठीं।

"जादूगर !" मैंने ज़ोर से कहा, मानो मुझपर बिजली गिर पड़ी हो ।

"जादूगर नहीं तो और क्या ? शरीर बदलना, भिन्न-भिन्न वाद्यों की कर्कश ध्वनियाँ निकालना—इस सब बातों को जादूगर नहीं तो और कौन कर सकता है ?" उसने कुछ ऐसे भाव से सहज ही कहा, मानो कुछ हुआ ही न हो।

मैं उसके अनपेक्षित उत्तर से और अधिक सम्भ्रम में पड़ गया। ऐसा लगने लगा कि कहीं सम्भ्रम ही तो मेरा जीवन नहीं है। विचारों की सुइयाँ जैसे मस्तिष्क के टाँके उधेड़ रही थीं। सिर फटा जा रहा था। असहाय होकर मैंने अपनी बायीं हथेली मस्तक को दबाने के लिए ऊपर उठायी। उस हथेली से मुकुट का स्पर्श होते ही मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मेरा मुकुट तो दुर्योधन के सिर पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा था। जल्दी-जल्दी मैंने सिर से

मुकुट उतारकर देखा। उसकी बनावट छत से लगे हुए श्रीकृष्ण के मुकुट-जैसी थी। वह मेरे सिर पर कैसे, यह मेरी समझ में नहीं आया।

मैं घोड़ों की पीठ पर तड़ातड़ कशाघात करने लगा। वायुवेग से वे हस्तिनापुर पहुँच गये। नगर से मैं श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षित होकर गया था; आते समय उनके सम्बन्ध में कभी समाप्त न होनेवाले प्रश्नों की गठरी लेकर लौटा। उनमें से एक प्रश्न यह था कि श्रीकृष्ण के चक्र ने मुझको क्यों नहीं जलाया ? क्या केवल अभेद्य कवच के कारण ? दूसरा प्रश्न यह था कि उनकी आज्ञा सुनकर एक आज्ञाकारी सेवक की भाँति मैं यज्ञवेदी के पास कैसे चला गया ? और तीसरा यह कि श्रीकृष्ण का मुकुट मेरे मस्तक पर किसने, कब और किस लिए रखा ?

पाँच

राजसूय यज्ञ के लिए सभी राज्य जीतने की शर्त पाण्डवों ने किस प्रकार पूर्ण की थी, इसका सरस वर्णन पाण्डवों के आर्य अमात्य ने हमें इन्द्रप्रस्थ में सुना ही दिया था। इन सभी राज्यों की नामावलि मेरे कानों में गूँज रही थी। उन्होंने एक एक दिशा चुनकर उस मार्ग में पड़नेवाले सभी राज्यों को जीत लिया था। पराजितों से सुवर्ण, रूप्य, चाँदी, हीरे, माणिक्य, प्रवाल, रत्न, मोती, वैदूर्य, पुष्कराज, नीलमणि, गायें और दास-ये सब कर के रूप में गाड़ियों में लादकर अपने भण्डार में भर लिये थे। किसी भी राज्य का सर्वश्रेष्ठ साधन है सम्पत्ति ! सम्पत्ति के बिना राज्य चल ही नहीं सकता। चल भी गया तो टिक नहीं सकता। इसीलिए इन्द्रप्रस्थ में ही मेरे मन में यह प्रबल इच्छा उठी कि मुझे भी दिग्विजय करनी चाहिए। पाण्डवों ने एक-एक दिशा ग्रहण कर दिग्विजय की थी। मैं अकेला ही आठों दिशाओं की दिग्विजय करूँगा, मन ही मन वहीं मैंने यह निश्चय कर लिया।

ऐसी दिग्विजय में कितने राजाओं को पदाक्रान्त करना पड़ता है—उनकी सामर्थ्य कितनी होती है, किस ऋतु में यह दिग्विजय सफल होगी—इन सब बातों पर मैंने अकेले ही अच्छी तरह विचार कर लिया था।

अर्थात् दिग्विजय का प्रारम्भ मैं पूर्व दिशा से ही करनेवाला था। हस्तिनापुर राज्य की पूर्व दिशा में सबसे अधिक बलवान् दो राज्य थे। एक द्रुपदों का पांचाल और दूसरा जरासन्ध का मगध। इनके अतिरिक्त कोसल, अयोध्या, काशी, विदेह, वत्स, कुन्तल, मुण्ड, पुण्ड्र, उत्कल, ओड्र, अंग और बंग आदि राज्य थे।

दक्षिण दिशा में सबसे अधिक सामर्थ्यशाली राज्य श्रीकृष्ण के यादवों का मथुरा था। इसी राज्य को शूरसेन राज्य भी कहते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण में शाल्व, चेदि, कुरुष,

दशार्ण, अवन्ती, निषाद, मेकल, दक्षिण कोशल, वैणिक, विदर्भ, महारट्ट, आनर्त और मालव, मत्स्य आदि राज्य थे। आनर्त राज्य के समीप श्रीकृष्ण द्वारा बसाया गया नया राज्य द्वारका था। पश्चिम सागर के तट पर स्थित ।

पश्चिम दिशा में अवश्य दो बलशाली राज्य थे। एक ऋतायन पुत्र शल्य का मद्र और दूसरा वाल्हीक । इनके अतिरिक्त वातधान, सौभीर, सिन्धु, पंचनद, अम्बष्ट, त्रिगर्त, कैकेय, शिबि, काम्बोज और गान्धार राज्य थे। दिग्विजय की दृष्टि से पश्चिम दिशा अत्यन्त प्रबल विरोधी दिशा थी।

उत्तर दिशा में कुलिन्द, राक्षस, तंगण, खश और किरात राज्य थे ।

कितनी ही वायुगति से क्यों न आक्रमण किया जाये, फिर भी इतना विशाल प्रदेश जीतने के लिए उपयुक्त सेना लेकर जाने में कम से कम छह मास की कालावधि तो मुझको लगेगी ही।

हाँ, एक बात का पालन मुझको बड़ी कठोरता से करना था। मेरी शक्ति कितनी भी क्यों न बढ़ जाये, फिर भी मैं मथुरा पर या द्वारका पर कभी आक्रमण नहीं करूँगा। इसका संसार चाहे जो अर्थ लगाये, मुझको उसकी तनिक चिन्ता नहीं थी।

छह

हम लोग हस्तिनापुर आये, परन्तु दुर्योधन की मनःस्थिति बड़ी विकट हो गयी थी। रात को शयनगृह में वह सोते-सोते उठ जाता और पलंग के पास खड़ी गदा को अपने कन्धे पर रखकर मैं इस इन्द्रप्रस्थ में अब पल-भर भी नहीं रुकूँगा' बड़बड़ाते हुए महल के बाहर भागने का प्रयत्न करता। रानी भानुमति उसके तप्त मस्तक पर शीतल जल छिड़क, उसके कन्धे ज़ोर से हिलाकर उसको यह विश्वास दिलाती की वह हस्तिनापुर में ही है। भान होते ही पीठ-पीछे दोनों हाथों की उँगलियों को आपस में मिलाकर वह महल में ऐसे घूमने लगता जैसे कोई सिंह गुफा में चक्कर काट रहा हो। कभी-कभी आधी रात को भी प्रभञ्जन को भेजकर वह मुझे बुलाता।

मेरे सम्मुख पहुँचते ही उसकी दोनों हाथों की उँगलियाँ और अधिक कस जातीं। अनेक प्रश्न पूछकर वह मुझको बेचैन कर देता "कर्ण, पाण्डवों के यज्ञ से पशुओं की गिनती करने के पश्चात् भी मैं जीवित हूँ, मुझे इसी पर आश्चर्य होता है। क्षण प्रतिक्षण मरणतुल्य यातना देनेवाली इन कटु घटनाओं को हृदय में सँजोये रखने की अपेक्षा विष-प्राशन कर मैं उनका अन्त ही क्यों न कर दूँ? मेरे पूजनीय पिता के अन्धत्व पर मर्मभेदी व्यंग्य किया और वह भी एक तुच्छ स्त्री ने। आह ! धधकते शब्दांगार फेंकनेवाली उसकी जीभ क्यों न काट दूँ ?

उसके वे विषदन्त क्यों न तोड़ दूँ ? और यदि तोड़ना सम्भव न हो तो कुरु के रूप में जीवित ही क्यों रहूँ ? किस लिए ? कहो कर्ण, किस लिए ?

मैं उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसको शान्त करने का प्रयत्न करता। वह कुछ शान्त हो जाता। परन्तु जैसे ऊपर से शान्त दिखाई देनेवाले सागर का अन्तरंग गहरा होता है, वैसे ही उसके अन्तःकरण में हलचल हो रही थी, पर उसका कुछ भी पता नहीं चलता था। एक बार अचानक ही मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर वह मुझसे शयनगृह से बाहर चलने का आग्रह करने लगा। उसके मन को दुख न हो, इसलिए आधी रात के समय भी मैं उसके साथ गया। वह मुझको कुरुओं की राजसभा में सीधे राजसिंहासन तक ले गया। उस सिंहासन के इतने समीप मैं आज तक नहीं गया था। मशाल के मन्द-मन्द प्रकाश में चमकनेवाले उस सिंहासन के पीछे बनी सूर्यवंश की प्रतीक सुवर्णवर्णी सूर्यप्रतिमा की ओर उँगली से संकेत कर वह बोला, "कर्ण, यदि तुम मेरे समर्थ सहचर हो तो सूर्यवंश के मानचिह्न इस सूर्यप्रतिमा की शपथ लेकर प्रतिज्ञा करो कि तुम मेरा साथ कभी नहीं छोड़ोगे। कर्ण, मैं अपने को नितान्त एकाकी अनुभव करने लगा हूँ।"

"आज तक ऐसी प्रतिज्ञा की आवश्यकता तुम्हें कभी हुई है क्या ?"

"आज हो रही है। मैं उपदेश और तत्त्वज्ञान नहीं चाहता। तुम्हारी अखण्ड मित्रता का पवित्र वचन चाहता हूँ मैं।"

"यदि इसी से तुमको सन्तोष हो सकता हो, तो यह वचन मैं तुमको देता हूँ।"

मैंने उसकी आगे बढ़ी हुई हथेली पर हथेली रख दी। समीप ही पाषाण के स्तम्भ को पर लगे हुए, मशाल से इंगुदी के तेल की एक चिनगारी टूटी और मेरी हथेली पर गिर पड़ी। लेकिन कवच के कारण मेरा हाथ जला नहीं।

सात

जब भी मुझको अवसर मिलता, मैं दुर्योधन से घटित अप्रिय घटनाओं को भूल जाने को कहता। विस्मरण मन की एक दुर्लभ शक्ति है। लेकिन यह शक्ति सबको सहजसाध्य नहीं होती है। मैं उससे भूतकाल की कटु घटनाएँ भूल जाने को कहता था; परन्तु मैं स्वयं ही उनको भूल नहीं पाया था। मेरा प्रयत्न ऐसा ही था, जैसे कोई घायल व्यक्ति अपने दुखदायी घाव को सँभालता हुआ दूसरे घायल व्यक्ति के घाव को फूँके। पर ऐसा करने के लिए मैं विवश था। कभी कभी ऐसा करने के अतिरिक्त और कुछ सम्भव भी नहीं होता।

"एक सारथी की पुत्रवधू बनना मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगी।" उस रूपगर्विता के ये विषैले वाग्बाण निरन्तर मेरे मन में असह्य दाह उत्पन्न करते रहते थे। मैं संसार में रम गया था। सात पुत्रों का पिता और दो सुन्दर स्त्रियों का भर्ता होकर भी द्रौपदी की स्मृति मुझको सतत ऐसे चुभती रहती थी जैसे हृदय में बाण लगा हुआ मृग चिल्लाता रहता है। स्मृतियाँ ! स्मृति को सुगन्ध का पात्र या मयूरपंख कहकर पुकारनेवाले क्या जानें कि एक स्त्री द्वारा अपमानित होनेवाले पुरुष-योद्धा की स्मृति सन्तप्त मरुभूमि-जैसी होती है। उस भूमि से केवल प्रतिशोध की दाहक ज्वालाएँ ही लपलपाती हुई नित्य बाहर निकला करती हैं। उन ज्वालाओं में संयम, उदारता और क्षमाशीलता के कोमल अंकुर भस्म हो चुके होते हैं।

काल के गर्भ में पचीस वर्ष उदस्थ हो गये। कहते हैं कि काल मन पर होनेवाले आघातों को सौम्य बनानेवाली दिव्यौषध है। लेकिन मेरे अनुभव में तो कभी यह बात आयी नहीं। इन पचीस वर्षों में निरन्तर एक ही विचार मेरे मन में कसकता रहा था। वह यह कि यदि मैं क्षत्रिय होता तो....? सचमुच यदि मैंने क्षत्रियकुल में जन्म लिया होता तो मेरा जीवन कैसा होता ? राजा दुर्योधन-जैसा, शकुनि मामा-जैसा या शिशुपाल जैसा ? ये सभी क्या क्षत्रिय नहीं थे ? इनके जैसा जीवन यदि मुझको मिल जाता तो क्या वह मुझको अच्छा लगता ? ये प्रश्न तथा ऐसे ही अनेक प्रश्न मुझको घेरे रहते थे। लेकिन उनमें से एक का भी सन्तोषजनक और युक्तियुक्त उत्तर मेरे पास नहीं था।

मैं और दुर्योधन ! हम दोनों का जीवन दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक उलझता जा रहा था। कौन किसको आधार दे, यही मुख्य प्रश्न था। कुछ भी हो, दुर्योधन को सँभालना मेरा कर्तव्य था।

उसको प्रसन्न रखने के लिए मृगया, जल-विहार, रथ दौड़, द्यूत आदि मार्गों का अवलम्ब अनिवार्य था। मुझको स्वयं तो द्यूत से असीम घृणा थी। लेकिन शकुनि मामा इसमें बड़े प्रवीण थे। वे दोनों मामा-भानजे-घण्टों बैठे बैठे द्यूत खेलते रहते। विद्रूप पासों का वह नीरस खेल न तो मेरी समझ में आता था और न उसमें मेरा मन ही रमता था।

दुर्योधन के आग्रह के कारण उसके पार्श्व में बैठकर उबानेवाले उस खेल को मैं नीरस भाव से देखता रहता। द्यूत के उस पट की ओर देखकर मुझको निरन्तर यह लगने लगा कि मेरा सारा जीवन भी उस पट की तरह ही था। खड़ी और आड़ी केवल चार पट्टियाँ। उन पट्टियों पर वंचनाओं के, अपमान के और अवहेलना के असंख्य चौकोन।

एक बार मैंने देखा कि खेलते-खेलते दुर्योधन की सभी गोटें मारी जा चुकी हैं। उस दिन एक भी पासा उसके मन के अनुरूप नहीं पड़ा। सभी पासे मामा के अनुकूल रहे। इसलिए स्वयं पर क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने खेल का पट उठाकर फेंक दिया। उसकी ओर देखकर हँसते हुए मामा बोले, "पगले, इस पट को इस तरह मत फेंक। इच्छा होने पर इसी पट से तू पाण्डवों को धूल में मिला सकेगा।"

"यह कैसे हो सकता है ? पर्वत-जैसे उस भीम को यह दो हाथ का वस्त्र और ये चार क्षुद्र कौड़ियाँ कैसे धूल में मिला देंगी ?"

अपनी तीक्ष्ण आँखें सिकोड़कर काली दाढ़ी के घने बालों पर बायें हाथ की कृश उँगलियाँ फेरते हुए क्षण-भर रुककर मामा बोले, "पर्वताकार गजराज को एक छोटा-सा अंकुश कैसे सीधी राह पर ले आता है ? वैसे ही ये पाँच कौड़ियाँ पाँचों पाण्डवों को ठीक रास्ते पर लगा देंगी।"

"मामा, आज तक मैं आपको बड़ा बुद्धिमान् समझता आया हूँ; परन्तु आज मुझको आपकी बुद्धि पर सचमुच ही सन्देह होने लगा है।" उनकी कल्पना का अर्थ न समझने के कारण दुर्योधन उनसे बोला ।

"भ्रान्त व्यक्ति को आसपास का जगत् भी भ्रान्त ही दिखाई देता है। तुम्हारी भी यही दशा है। तू विमूढ़ हो गया है। द्रौपदी द्वारा किये गये अपमान से विगत अनेक रातों में तू सो नहीं सका है। इसीलिए तो ऐसी बातें कर रहा है। उनका प्रत्येक शब्द हृदय-भेदक था।"

"मामा, मैंने अनुचित क्या कहा ? चार पट्टियोंवाले द्यूत के इस पट में तुम अखण्ड पर्वत-जैसे पाँच पाण्डवों को लपेटने का अचिन्त्य स्वप्न देख रहे हो, यह कैसे सम्भव है।"

"चार पट्टियोंवाले इस पट में केवल पाँच पाण्डव ही नहीं बल्कि उनकी प्राणप्रिय पांचाली और राजमाता कुन्ती को भी लपेटकर दिखा सकता हूँ मैं। जो साहसपूर्ण स्वप्न देखने के अभ्यस्त होते हैं और जो अपना प्रत्येक स्वप्न साकार करने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे ही सच्चे वीर हैं।"

"लेकिन यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? स्वप्न और सत्य में आकाश और पाताल का महान् अन्तर होता है। और किसी वीर के सभी स्वप्न साकार हो जाते हों, ऐसी बात भी नहीं।"

"तुम राजा अवश्य हो, लेकिन व्यक्ति का परीक्षण करनेवाली जो दृष्टि राजा के पास होनी चाहिए, वह तुम्हारे पास नहीं है। नहीं तो तुम निश्चय ही यह स्वीकार कर लेते कि व्यसन बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति को भी अधःपतन की गहरी खाई में पहुँचा सकता है।"

"व्यसन ? किसको है व्यसन ? और किस वस्तु का ?"

"युवराज युधिष्ठिर को। द्यूत खेलने का।"

"तो फिर उससे हमें क्या ?"

"एक बार,....केवल एक बार ही अपने उस युधिष्ठिर को इस शकुनि मामा के सामने द्यूत खेलने के लिए लिवा ला । तू अब सन्तप्त हो उठा है और अपने मन का सन्तुलन नष्ट होने से तूने पट उठाकर फेंक दिया है, इससे भी अधिक मात्रा में मैं युधिष्ठिर के मन का सन्तुलन बिगाड़कर दिखा दूंगा।"

“मामा, कैसी नासमझी की बातें करते हैं आप ? वह इतना मूर्ख नहीं है कि फिर इस हस्तिनापुर में आये।”

“वह अपने-आप कभी नहीं आयेगा; उसको लाने में ही तो सारा कौशल है। बिल में रहनेवाले भुजंग सरलता से बाहर नहीं आते, इसके लिए बिल में धूनी डालनी पड़ती है।”

“उसको यहाँ लाने के लिए आप काहे की धूनी फूँकेंगे ?”

“यज्ञ की । अन्य किसी कारण के लिए वह यहाँ भले ही न आये, लेकिन धार्मिक कार्य के लिए आये बिना नहीं रहेगा। उसका उपनाम धर्म है, यह तुम भूल गये क्या ?”

“यज्ञ ?” माथा सिकोड़ते हुए दुर्योधन बोला।

“हाँ, यज्ञ। राजसूय यज्ञ से भी अधिक भव्य यज्ञ । अमात्य वृषवर्मा को बुलवाकर आज ही सबको निमन्त्रण भिजवा दो।” हाथों में कौड़ियाँ खनकाते हुए मामा बोले । उनके हाथों की कौड़ियाँ मुझको मृत व्यक्ति की निष्प्राण आँखों की पुतलियों जैसी भयानक लगीं। उनके किसी भी विचार में कहीं भी पुरुषार्थ दिखाई नहीं दे रहा था। उनका वार्तालाप मैंने बड़े ध्यान से सुना था; परन्तु मामा के विचारों में राजनीति के नाम के नीचे कपट की दुर्गन्ध आते ही तीव्र विरोध करता हुआ मैं बोला, “मामा, आप सुबलराज कहाते हैं। जिस हाथ में खड्ग लेकर समरांगण से शत्रु को धूल चटायी जाती है, उसी हाथ में इन कौड़ियों को लेकर आप भाग्य का पाश पाण्डवों के गले में डालना चाहते हैं, यह हमको शोभा नहीं देता।

“कर्ण, राजनीति तुम्हारा विषय ही नहीं है। राजनीति केवल भुजाओं के बल पर या सजनता पर कभी नहीं चला करती। वह बुद्धि के व्यायाम पर चला करती है। घोर अरण्य को नष्ट करने के लिए तुम-जैसा भोला-भाला वीर हाथ में परशु लेकर पागल की तरह अकेला ही जीवन-भर उसको काटता रहेगा; परन्तु...परन्तु मुझ जैसा व्यक्ति एक चिनगारी से ही उसको ठिकाने लगा देगा। चल, आठ दिशाओं के नाम से आठ का दावँ लगा।” यह कहकर उन्होंने कौड़ियाँ हाथ में फिराकर पट के पास फेंक दीं। ठीक आठ का दावँ पड़ते ही झट से आसन से कूदकर वे चिल्लाये, “वह देखो, आठ अर्थात् आठ ही।”

उनके कर्कश तीव्र स्वर से मेरा मस्तक सुन्न हो गया। मामा पराक्रमी क्षत्रिय हैं या द्यूत के अड्डे के चतुर जुआरी, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था ?

मैं उनके आसन के निकट से उठकर बाहर आया। अपने जीवन में मैंने अनेक प्रकार के लोग देखे थे; परन्तु मामा उनमें से किसी के अन्तर्गत नहीं आते थे। विचार करते-करते ही मैं वृषाली के महल में आ गया। भीतर प्रवेश करते ही वृषसेन और सुषेण मेरे पैरों से लिपट गये। छोटा वृषकेत रेंगता-रेंगता तोतले शब्दों में ‘ता ss त’ कहता हुआ मेरी ओर डगमगाता हुआ आने लगा। उन तीनों को देखते ही मामा और उनकी राजनीति न जाने कहाँ लुप्त हो गयी।

आठ

"अंगराज, कृष्णा चतुर्दशी का दिन यज्ञ के लिए निश्चित किया गया है।" मेरे महल में कभी न आनेवाले आर्य अमात्य स्वयं आकर मुझे यज्ञ-दिवस की सूचना दे रहे थे। इसपर मुझको आश्चर्य हुआ।

"कृष्णा चतुर्दशी? तो क्या दुर्योधन अमावस्या सिर पर बैठाकर यज्ञ करेगा।"

"हाँ। मामा ने चुना है यह दिन। किसी भी कारण से इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता।"

"मामा ने ? तो फिर यज्ञवेत्ता कौन है ?"

"मामा ही। यज्ञवाले दिन सम्पन्न होनेवाली सभी विधियों को श्रद्धा का आधार रहे, इसलिए महाराज ने आपसे यह प्रार्थना की है कि आप उस दिन ब्रह्ममुहूर्त में ही गंगा में खड़े होकर अर्पिणपूर्वक सूर्याराधना करें। यह कहने के लिए ही मैं स्वयं आपसे मिलने आया हूँ।" वे जाने के लिए उठे, इतने में ही उनको ढूँढ़ता हुआ एक सेवक अतलसी वस्त्र से आच्छादित एक बड़ा सुवर्ण थाल हाथ में लिये भीतर आया। अभिवादन करके उसने उस थाल को हमारे सामने की शीशम की तिपाई पर रख दिया।

"यह क्या है ?" अमात्य ने भौंहे ऊँची करते उससे पूछा।

"इन्द्रप्रस्थ से एक दूत यह थाल लेकर आया है। वह बाहर अतिथिगृह में ठहरा हुआ है।"

थाल के पास जाकर अमात्य ने उसपर पड़ा हुआ अतलसी आच्छादन दूर किया। थाल में एक सुवर्ण-मुकुट और एक सुवर्ण से मढ़ी हुई गदा थी।

दोनों वस्तुएँ दुर्योधन की थीं। उनको देखते ही मेरी स्मृतियों की बाँबी फूट पड़ी। घटनाओं की काली और लाल चीटियाँ विचरण करने लगीं। सरोवर में डुबकियाँ खानेवाला दुर्योधन। परागकों की छलनामयी अल्पना। 'तो अन्धे पिता के पुत्र भी अन्धे ही होते हैं।' आदि घटनाओं के खण्ड-खण्ड चित्र क्षण-भर में आँखों के सामने नाचने लगे।

"अमात्य, दुर्योधन के वस्त्रागार में जो सबसे बड़े उत्तरीय और अधरीय रखे हों, उनको ढूँढ़वाकर इस थाल में वापस इन्द्रप्रस्थ भिजवा दीजिए।" मैंने अमात्य को उचित आदेश दिया। भीम के वस्त्र उसी थाल में नहीं लौटाये जायेंगे तो फिर किस थाल में जायेंगे !

सेवक ने थाल उठाया। अमात्य के पीछे-पीछे वह चला गया।

थाल में रखे उस मुकुट के कारण मेरे मन का चित्तर पक्षी अपनी ही चोंच से घटनाओं के विविध रंगों के पंख नोचने लगा।

जिस दिन शिशुपाल का हृदयविदारक अन्त हुआ था, उस दिन मैंने अपना मुकुट दुर्योधन के सिर पर रखा था; परन्तु आते समय मेरे मस्तक पर भी मुकुट था। वह किसने रखा ?

कब रखा ? और उसकी बनावट ठीक श्रीकृष्ण के मुकुट-जैसी ही कैसे थी ? इन प्रश्नों के युक्तियुक्त उत्तर मुझको कभी मिले ही नहीं थे।

भूषणागार में जाकर सँभालकर रखा हुआ वह मुकुट मैंने हाथ में उठा लिया। उसपर जमे हुए धूलकण अपनी देह पर पड़े उत्तरीय-से धीरे से साफ़ किये। उस नक्काशीदार शिरोभूषण पर से हाथ फेरते समय एक अपरिचित संवेदना की लहर मेरे सारे शरीर में दौड़ गयी। मेरी मति सुन्न कर देनेवाले उस मुकुट का क्या रहस्य था ? मन की भुशुण्डि पर पुनः पुनः प्रश्नों के पत्थर चढ़ाकर देखे। लेकिन एक भी सफल नहीं हुआ। वैसे देखा जाये तो सारा जीवन ही रहस्य से भरा होता है। अपने आसपास क्या कम रहस्य होते हैं ? लेकिन उनमें एकाध ही रहस्य मन को छू लेनेवाला होता है। वह मन को बेचैन कर देता है और मन उसका पता लगाने के लिए निरन्तर उस रहस्य के ही पीछे दौड़ता रहता है।

धीरे से वह मुकुट मैंने भूषणागार में आसन पर रख दिया। उत्सुकता शैवाल जैसी होती है। केवल एक ही घटना के पत्थर के चारों ओर वह मन के जलाशय में संचित होती रहती है। इसको संचित न होने देने का एक ही उपाय होता है। इसके लिए आवश्यक है कि उस पत्थर को ही उठाकर-दूर कर दिया जाये। यही निश्चय कर मैंने मुकुट की आकृति आँखों के सामने से हटा दी। भूषणागार का द्वार बन्द कर दिया।

नौ

दुर्योधन यज्ञ की तैयारी करने लगा। हस्तिनापुर के सेवक निकट के राज्यों में जाकर यज्ञ के लिए आवश्यक सामग्री हस्तगत करने लगे। लेकिन दुर्योधन ने दुःशासन को मगधों के राज्य में किसलिए भेजा था, यह बात कोई भी नहीं जान सका। राजभवन में होनेवाली ऐसी गुप्त बातों का मुझको भी पता नहीं चलता था।

पन्द्रह दिन के भीतर ही मगधों की राजनगरी राजगृह से दुःशासन लौट आया। जैसे ही वह मुझे मिला, मैंने उससे यह पूछा कि वह मगध किसलिए गया था, लेकिन उसने संक्षिप्त उत्तर दिया- 'यज्ञ की तैयारी के लिए !' और बड़ी चतुराई से वास्तविक बात टाल दी।

दुर्योधन के यज्ञ के विचार से मुझको वास्तव में आनन्द होना चाहिए था, लेकिन वह हो नहीं रहा था। इस यज्ञ में वह अपनी सम्पत्ति का नेत्रदीपक प्रदर्शन करनेवाला था। सम्पत्ति जीवन का अत्यावश्यक अंग हो सकती है, परन्तु मेरे विचार से उसका प्रदर्शन कभी नहीं करना चाहिए। मामा उस प्रदर्शन में द्यूत खेलेंगे, यह विचार कदापि सहा नहीं था।

मामा के प्रत्येक विचार का दुर्योधन शिकार होता जा रहा था, यह देखकर मेरे मन की स्थिति बड़ी कठिन होने लगी। मित्र के रूप में अखण्ड साथ देने का वचन मैंने उसको दिया

था। वैभव-काल में स्तुति करके संकट समय मौन धारण कर लेनेवाले लोग मित्र नहीं होते। मैं दुर्योधन का प्राणप्रिय मित्र था। मामा के विचारों में जो कटुता थी, उसको उसी समय दिखा देना क्या मेरा कर्तव्य नहीं था ? क्योंकि पाण्डवों को राज्य के रूप में घनघोर खाण्डव वन देने का विचार भी मामा का ही था। यज्ञ का भुजंग भी अब उन्होंने ही दुर्योधन के मस्तिष्क में घुसाया था। भावविवश दुर्योधन को समय पर सावधान करने लिए मैं एक दिन उसके भवन गया।

मैंने सोचा था कि वहाँ वह अकेला होगा। लेकिन युवराज्ञी दुःशला के कारण मेरा धारणा मिथ्या हो गयी। मुझको देखते ही वह उठकर खड़ी हो गयी। छिपे कटाक्ष से वह शायद मेरे कानों की ओर ही देख रही थी। उसका इस तरह देखना मुझसे सहन नहीं हुआ। वास्तव में अपने कुण्डलों से अब मैं बुरी तरह ऊब गया था। चालीस वर्षों से वे मेरे कानों से चिपके हुए थे; लेकिन किस लिए, यही नहीं जान पाया था मैं। हाँ, औरों का ध्यान वे व्यर्थ ही मेरी ओर खींच लेते थे।

मेरा चेहरा दुःशला को बिलकुल ही दिखाई नहीं देगा, यह सोचकर एक विशाल स्तम्भ की ओट में मैं एक आसन पर बैठ गया। चतुर दुर्योधन ने मेरी कठिनाई तुरन्त पहचान ली। “दुःशासन को तुरन्त ही भेज दो” यह कहकर उसने दुःशला को वहाँ से हटा दिया।

सिर झुकाकर जैसे ही वह बाहर गयी, मैंने सीधे मुख्य विषय की चर्चा छेड़ दी, “राजन्, तुम्हारा पराक्रम पर दृढ़ विश्वास है न ?”

“कर्ण, पराक्रम ही तो क्षत्रिय का जीवन होता है। और मैं क्षत्रिय हूँ ही। लेकिन इस प्रश्न का प्रयोजन ?”

“तो फिर किसी भी विचार को साकार करने के लिए तुम पराक्रम का मार्ग क्यों नहीं स्वीकार करते ?”

“सभी विचार पराक्रम से सफल नहीं होते हैं, इसलिए। और राजनीति भी तो एक महान् पराक्रम ही है।” मेरे प्रश्न का भाव समझकर उसने उत्तर दिया।

“राजनीति ! यह कैसा पराक्रम है ?”

“बुद्धि का ।” अपने हाथ में लगी कौड़ियों की खुडखुड़ आवाज़ करता हुआ वह बोला।

“यह पराक्रम हम लोगों के लिए शोभनीय है—क्या यह मानते हो तुम ?”

“क्यों न मानें ? पराक्रमी जरासन्ध को श्रीकृष्ण ने केवल भुजाओं के बल पर मारा है, क्या तुम यह समझते हो ? राजनीति सूचीबाण नहीं है जो नाक की सीध में ही चले। वह तो जिह्मबाण है, जो परिस्थिति के अनुसार टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता हुआ जाता है। और जिस पराक्रम की तुम रट लगा रहे हो, उसका ध्यान पाण्डवों ने ही कब और कहाँ रखा था ?”

“क्या किया उन्होंने ?”

"क्या नहीं किया ? बचपन में उन्होंने मेरे साथ और दुःशासन आदि मेरे भाइयों के साथ जो व्यवहार किया है, वह किसी उपेक्षित दास से अच्छा था क्या ? मेरी बात छोड़ो। लेकिन तुम अपना ही घोर अपमान कैसे भूल गये ? अखाड़े में खड़े भीम का निष्ठुर कशाघात तुम्हारी पीठ पर अब भी क्या नहीं हो रहा है ? द्रौपदी के विषैले शब्दों को क्या तुम भूल गये ? शरीर में शक्ति होने पर भी तुम उनके हृदयशून्य व्यवहार का प्रतिशोध क्यों नहीं ले सके ? बताओ, यदि पराक्रम ही जीवन का आधार है तो फिर तुम चुप क्यों बैठे हो ? स्वयंवर-मण्डप-जैसे मंगल स्थान पर जिसने क्रूरता से तुम्हारे पुत्र का वध किया, कम से कम उसका प्रतिशोध तो...."

"प्रतिशोध ! प्रतिशोध ! तुम्हारे मन में यह कैसी भावना बन गयी है, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

"प्रतिशोध कभी किसी मनुष्य के मन की मूल भावना नहीं होती। अपमानित मन की वह केवल प्रतिक्रिया होती है। किसी के स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचाना चाहिए। स्वाभिमान को ठेस लगने पर प्रतिशोध के आघात से कभी व्याकुल नहीं होना चाहिए। विगत पचीस वर्षों से मेरा मन ऐसा क्यों हो गया है, इसकी किसी ने भी क्या कभी पूछताछ की है ? सेवक और सैनिकों से परिपूर्ण विशाल वैभवशाली इस राजभवन में दुर्योधन उपेक्षित ही रहा है। जिनको मैं जीवन-भर पूज्य मानता आया हूँ उन पितामह ने भी पाण्डवों के यज्ञ के पशुओं की गिनती करने का आदेश देकर मुझे पशुओं से भी तुच्छ बना दिया है। कहो राधेय, इन सब बातों को मैं कैसे भूल जाऊँ ?"

"भूल जाने का प्रयत्न करना चाहिए तुम्हें। सभी घटनाओं को ध्यान में रखकर यदि जीवित रहना चाहोगे तो पागल हो जाओगे।"

"कर्ण, उपदेश देना सरल है, करके दिखाना बड़ा कठिन होता है। तुम्हीं अपने प्राणप्रिय कवच कुण्डलों की शपथ लेकर कह सकते हो क्या कि सबने ठौर-कुठौर 'सूतपुत्र, सूतपुत्र' कहकर तुम्हारा जो मर्मभेदी घोष किया था, उसको तुम पूर्ण रूप से अब भूल गये हो ? बोलो।"

उसने मुझको निरुत्तर कर दिया। इन बातों से मेरी देह की गुफा में कहीं सोया हुआ पूर्व स्मृतियों का वनराज हड़बड़ाकर जग गया। अकेले दुर्योधन को छोड़ सचमुच ही मुझे किसी ने कभी इतनी सस्नेह सहानुभूति नहीं दी थी। क्या सभी लोग हर अवसर का लाभ उठाते हुए, तिरस्कार के बस्तिक बाण जीभ के धनुष पर चढ़ाकर, चारों ओर से मेरे ऊपर छोड़ते नहीं आये थे ? मैं योद्धा हूँ, धनुर्धर हूँ, अंगराज हूँ, मेरे पास कवच-कुण्डल हैं—मेरा यह आत्माभिमान क्या झूठा नहीं था ? सबके द्वारा ठुकराया गया और केवल दुर्योधन द्वारा अपनाया गया मैं एक सारथी से अधिक और क्या था पर्णकुटी में पला होने के कारण कुशल राजनीति के दावों से मेरा परिचय नहीं था कदाचित् जो कुछ दुर्योधन कर रहा था,

वह ठीक ही था। उसको कोई उपदेश देने का अधिकार मुझे नहीं था। मुझ-जैसा सूतपुत्र अपमान के कड़वे घूट पचा सकता था, लेकिन दुर्योधन-जैसे राजा के लिए यह असम्भव था। सारथियों के मन घोड़े-जैसे होते हैं, यही सत्य है; हर कोई उनकी पीठ पर कोड़ा फटकार सकता है।

“मैं चलता हूँ,” यह कहता हुआ मैं उठ पड़ा। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था।

“क्रुद्ध हो गये क्या ? बैठो।” यह कहकर मेरा हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसने मुझे फिर बैठा लिया। क्षण-भर हाथ में लगी पासे की कौड़ियों की ओर देखता हुआ वह गम्भीर स्वर में बोला, “सब लोग मुझको अविचारी और क्रूर कहते हैं। क्या तुमको भी मैं वैसा ही लगता हूँ ? बताओ।”

“कदापि नहीं। तुम कुरुओं के कुल के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ युवराज हो। अपने हित-अनहित की बातें तुम निश्चय ही जानते होगे। लेकिन मित्र के रूप में मैं तुमसे इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि शकुनि मामा की किसी बात को स्वीकार करने से पहले उसपर तुम्हें अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए।”

अपने हाथ की कौड़ियाँ मेरे हाथ में देता हुआ वह बोला, “थोड़े ही दिनों में तुम यह देख लोगे कि कौड़ियाँ तुमसे और मुझसे न जाने कितनी अधिक पराक्रमी हैं ! मामा-जैसे जिन लोगों को मैंने अपनी राजसभा में रखा है, वह केवल अहिच्छत्रा की यात्रा की भीड़ नहीं है, इसका विश्वास तुमको तभी होगा।”

“कुछ भी हो, यह द्यूत की कल्पना मुझे बिल्कुल स्वीकार नहीं।” मैंने हाथ में लगी कौड़ियाँ सामने आसन पर फेंक दी। बहुत देर तक वे थरथराती रहीं फिर हिलती-डुलती हुई स्थिर हो गयीं। एक बार मेरी ओर तथा एक बार कौड़ियों की ओर आँखें फाड़कर देखते हुए दुर्योधन ने बड़ी सावधानी से उन्हें उठा लिया। उसकी कंजी आँखें रंग बदलने लगीं। अपनी आँखें एकटक मुझपर स्थिर करता हुआ वह बोला, “तुम द्यूत नहीं खेलते, यह मैं जानता हूँ....लेकिन मेरे लिए केवल एक बार ही इन कौड़ियों को फेंको। मन में कोई संख्या सोचकर कहो और कौड़ियाँ फिर फेंको।”

उसने पुनः कौड़ियाँ मेरे हाथ में दे दी। मुझको उसके विचित्र लहरी और हठी स्वभाव पर बड़ा तरस आया। मैं द्यूत से घृणा करता हूँ, यह जानते हुए भी वह हठपूर्वक मुझसे द्यूत खिलवाना चाहता था। कौड़ियाँ हाथ में लेते ही मेरे मन में यह विचार आया कि दौड़ता हुआ जाऊँ और इनको गवाक्ष से सीधे नीचे फेंक दूँ।

मेरे दोनों हाथ हिलाता हुआ वह बोला, “चुप क्यों हो ? अंक बोलो और पासे फेंको। कितने भाग्यशाली हो, यह एक पासा ही बता देगा।

“भाग्य ! भाग्य ! ये पासे ही अगर भाग्य बनानेवाले हैं तो अकेला मैं इस भाग्य के विरुद्ध ताल ठोककर खड़ा हूँ, इसलिए मैं 'एक' अंक का दाव लगता हूँ।" 'एक' चिल्लाते हुए मैंने कौड़ियाँ फेंक दीं। वे बड़ी देर तक थरथराती रहीं और फिर स्थिर हो गयीं। दाव पड़ा। परन्तु वह एक का नहीं था, पाँच का था।

उस दाव को देखकर दुर्योधन को आनन्द होना चाहिए था; परन्तु वह हुआ नहीं। स्वयं को भूलकर वह एकटक उन कौड़ियों की ओर ही देखने लगा। मानो हाड़ की बनी हुई कौड़ियों में वह किसी को ढूँढ़ रहा था। उसके संकुचित मस्तक पर कोली के जाल-जैसा सिकुड़नों का घना जाल निर्मित हो गया। नाक के तीक्ष्ण अग्रभाग पर स्वेद के बिन्दु चमकने लगे। आसन के समीप से उठकर हाथ पीठ पर बाँध वह गवाक्ष के पास गया और दूर क्षितिज की ओर देखने लगा। उससे कुछ कहने के लिए मैं उठा, परन्तु वही पीछे मुड़ा। अपनी आँखों को सिकोड़ते हुए उसने एक असम्बद्ध प्रश्न पूछा, “कर्ण, तुम्हारा और जरासन्ध का कभी द्वन्द्व युद्ध हुआ था क्या ?”

“हाँ।” मैंने उत्तर दिया। क्षण-भर पहले पासों से भाग्य का निर्णय करनेवाला दूसरे ही क्षण द्वन्द्व-युद्ध की बात क्यों पूछ रहा था, यह मेरी समझ में नहीं आया। उसके साथ रहकर मैं यह जान गया था कि ऐसे असम्बद्ध प्रश्न तो वह प्रायः पूछ लेता है।

“उस द्वन्द्व-युद्ध में तुमने जरासन्ध को जीवनदान दिया था क्या ? अपने बाहुकण्टक से मुक्त किया था क्या ?”

“हाँ। कलिंगों के राज्य में महारानी भानुमति के स्वयंवर में हम लोग गये थे। उस समय तुमने वधू का हरण किया था। बाद में क्या हुआ, इसका तुम्हें पता ही नहीं चला। क्रुद्ध होकर जरासन्ध द्वन्द्व युद्ध के लिए मुझपर टूट पड़ा। और जब द्वन्द्व में मेरे बाहुकण्टक ने उसके प्राण संकट में डाल दिये तब उसने मुझसे जीवन-दान की याचना की। इसलिए मैंने उसको जीवित छोड़ दिया था।”

“कर्ण, यदि आज मैं भी तुमसे कुछ माँगूँ तो वह मुझको देने में तुम संकोच तो नहीं करोगे ?” उसने आँखें और अधिक सिकोड़ते हुए मुझसे पूछा।

“ द्यूत खेलने के अतिरिक्त और चाहे जो माँगी, मेरा जीवन-सर्वस्व तुम्हारा ही है।”

“तुम द्यूत खेलना ही मत, मैं यही माँगना चाहता हूँ। इतना ही नहीं, बल्कि यज्ञ के दिन जिस समय राजसभा में द्यूत हो रहा हो, उस समय तुम वहाँ उपस्थित ही मत रहना और यदि रहो भी तो जबतक द्यूत चले तबतक तुम कुछ भी मत बोलना।”

“बस इतना ही ! तुम्हें यदि सन्तोष होता हो तो जबतक तुम्हारा द्यूत चलेगा, तबतक मैं कुछ भी नहीं बोलूंगा।” मैं जाने के लिए उठा, इतने में ही बाहर से दुःशासन अन्दर आया। हमारे सामने आसन पर पड़ी हुई कौड़ियाँ उसने आते ही ऐसे उठा ली मानो सुवर्ण मुद्राएँ

हों। उनको दुर्योधन के हाथ में देता हुआ वह बोला, "ये बहुमूल्य कौड़ियाँ इस तरह किसने डाल दी हैं ? तुम लोग मुझसे फिर मगधों के राज्य का चक्कर लगवाना चाहते हो क्या ?"

ओह, तो दुःशासन इन कौड़ियों को लेने ही मगध गया था। इतनी दूर जाकर ये कौड़ियाँ लायी गयीं, ऐसी क्या विशेषता थी इनमें ? यह बात शायद वे दोनों ही जानते होंगे। उसको जानने की कोई विशेष लालसा मुझे नहीं थी।

दस

दुर्योधन के यज्ञ के विचार में अनुचित बात कोई नहीं थी। धार्मिक कृत्य का समर्थन कौन नहीं करेगा ? परन्तु यज्ञवेत्ता के रूप में शकुनि मामा का नाम मुझको बिलकुल नहीं भाया। मैंने तो उसके लिए श्रीकृष्ण को आमन्त्रित करने का विचार किया था। गुरुदेव विदुर को यदि द्वारका भेजा जाता तो शायद श्रीकृष्ण बिना किसी ननुच के वेत्तापद स्वीकार कर लेते। मामा को वेत्तापद देकर दुर्योधन ने कुरुओं की राजनौका की पतवार मानो मामाजी के ही हाथों में सौंप दी। अब वे जो निश्चय करेंगे वही कुरुओं की दिशा होगी। मेरा जीवन तो उस नौका का केवल एक मस्तूल मात्र रह गया था। बीच में खड़ा, परन्तु फिर भी अपना कोई निजी स्थान न रखनेवाला। परिस्थिति के झोंके के साथ हिलनेवाला। नकारसूचक सिर हिलाता हुआ नौका के साथ ही चलनेवाला। मैं दुर्योधन को छोड़ नहीं सकता था, परन्तु उसके प्रत्येक विचार का समर्थन भी नहीं कर सकता था।

पाण्डवों के बढ़ते हुए प्रताप से दुर्योधन केवल चिन्तित ही नहीं, मन ही मन भयभीत भी हो गया था। अनेक बार राजसभा आमन्त्रित कर महाराज धृतराष्ट्र के सामने उसने केवल एक ही प्रश्न पर विचार-विमर्श किया था और वह प्रश्न यही था कि पाण्डवों के बढ़ते हुए सामर्थ्य को कैसे रोका जाये ! विचार का यह सूत्र ग्रहण कर चलते-फिरते वह कभी-कभी उनके विनाश का हास्यास्पद स्वप्न देखने लगा।

एक बार राजसभा में उसने द्रौपदी को वश में करने के लिए एक विचार रखा। तब तो उसके राजनीतिक नेतृत्व पर मुझको सचमुच ही बड़ा तरस आया। उसकी सम्मति थी कि पाँच पतियों वाली द्रौपदी के मन में पाँचों के प्रति परस्पर-विरोधी मतभेद पैदा कराने चाहिए। इसके लिए एक कुशल दासी इन्द्रप्रस्थ भेजी जाये। उसकी कुटिल कार्यवाही से वे पाँचों व्यक्ति द्रौपदी के लिए आपस में लड़-झगड़कर मर जायेंगे। अन्त में मुझको उससे कहना पड़ा कि रूखा-सूखा खानेवाले भिक्षुओं के साथ स्त्री निष्ठा से गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकती है, वह वैभव-सम्पन्न राजाओं से कैसे छलना करेगी? शकुनि मामा तो अचिन्तनीय कपटी कल्पनाएँ राजनीति के सुन्दर नाम पर उसको सुझाने लगे। राजसभा का

उपसंहार करते हुए महाराज धृतराष्ट्र ने मुझसे पूछा, “क्यों कर्ण, पाण्डवों के सम्बन्ध में तुम्हारे क्या विचार हैं ?” सभा के अनेक लोगों को आशा थी कि मैं भी मामा की ही तरह बुद्धि का व्यायाम करनेवाली कोई आश्चर्यजनक योजना बताकर सबको चकित कर दूंगा। लेकिन वे शायद कर्ण को अच्छी तरह जान नहीं पाये थे। कुटिल षड्यन्त्रों की कपटी राजनीति कर्ण के स्वभाव में थी ही नहीं, यह बात सभा के कुछ योद्धा जान नहीं सके थे, इसका मुझको सचमुच ही दुख हुआ। पाण्डवों का प्रश्न सदा के लिए ही हल हो जाये, इस विचार से मैंने सभा से कहा, “पाण्डवों से शत्रुता बढ़ाकर कुरुओं का कल्याण नहीं होगा, पितामहजी के इस विचार से मैं पूर्ण सहमत हूँ। शत्रुता जीवन का ध्येय हो ही नहीं सकती। परन्तु यदि सब लोग यह समझ रहे हैं कि पाण्डवों की बढ़ती सामर्थ्य से कुरुओं को खतरा है, तो विराटराज द्रुपद सेना पहुंचने से पूर्व पाण्डवों को युद्ध का बीड़ा भेजकर उनसे प्रकट युद्ध घोषित कर दिया जाये। समरभूमि निर्णय कर देगी कि जीने का अधिकार किसको है ?” परन्तु सभा के एक भी योद्धा ने मेरे विचार का समर्थन नहीं किया। सच पूछो तो अकेले पितामह को छोड़कर कुरुओं के सभी योद्धा पाण्डवों से अत्यधिक भयभीत थे। उनके बौने पराक्रम से घृणित षड्यन्त्र उत्पन्न हो रहे थे। उनको सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता। कभी-कभी मैं सभा अधूरी ही छोड़कर लौट आता और शोण को साथ लेकर दूर गंगा के तट पर जाकर चुपचाप बैठ जाता। गंगा के पात्र में मछली पकड़ने के लिए अविचल खड़े हुए श्वेत बकपक्षियों को देखकर मेरे मन में यही आता कि कुरुओं की सभा भी बकपक्षियों से ही भरी हुई है। उस सभा में अपवादस्वरूप भीष्म को छोड़कर एक भी गरुड़ पक्षी नहीं था, यह प्रतीति मुझको व्याकुल कर देती थी।

मेरे आसपास जो कुछ घटित हो रहा था, वह मुझको स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। परन्तु वह मुझको अच्छा नहीं लगता था। कुरुओं की राजसभा में ऐसा था ही कौन जिससे मैं अपने मन की बात कहता ? एक दुर्योधन को छोड़कर अन्य सभी लोग मेरी ओर सच्चे मन से अंगराज के रूप में देखते थे क्या ? दुर्योधन के प्रति मेरे मन में आदर था। परन्तु फिर भी अनेक बार मुझको उसकी योजनाएँ और विचार बिलकुल भी अच्छे नहीं लगते थे।

मेरा सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यही था कि हस्तिनापुर के सभी लोग यह निश्चित समझ बैठे थे कि दुर्योधन जो कुछ करता है, वह कर्ण के परामर्श से करता है। किसी ने भी कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि कर्ण साधारण स्थिति से निकल कर आया है। अन्याय किस प्रकार असह्य होते हैं, यह उसने स्वयं सिर झुकाकर अनुभव किया है। जो अन्याय का अनुभव कर चुकता है, वह कभी किसी पर अन्याय का अस्त्र नहीं उठाता। इसीलिए दुर्योधन और मामाजी के विचारों से मैं कभी सहमत नहीं हो सका। लेकिन साथ ही यह भी सत्य था कि मैं अपने विचार उनको समझा नहीं सका था। वास्तव में मेरे कथन में समझ में न आने योग्य उलझन-भरी कोई बात थी ही नहीं। सीधी-सादी बात, स्पष्ट युद्ध। वीरों को

शोभा देनेवाला, कीर्ति प्रदान करनेवाला । परन्तु उसे सुनकर उसपर विचार कर सके-दुर्योधन का मन इतना स्वस्थ नहीं था। शरीर के निकट रहनेवाले व्यक्ति मन के भी निकट हों, यह निश्चित नहीं। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न विचारों का, कल्पनाओं का और भाव-भावनाओं का अत्यन्त रहस्यमय इकाई होता है ।

मेरी दृष्टि से मेरा एक ही कर्तव्य था-यथाशक्ति उसके यज्ञ में सहायता करना । इच्छा हो या न हो, कर्तव्य का पालन तो करना ही पड़ता है।

एक ही कुल में वही यज्ञ दो बार नहीं किया जा सकता है, इसलिए सबने हमारे यज्ञ को महायाग नाम दिया।

ग्यारह

यज्ञ की साधन सामग्री से राजभवन भर गया। दुर्योधन के सहायक किसी कार्य में रुकना नहीं जानते थे। राजभवन के सम्मुख पाण्डवों के मण्डप से भी भव्य यज्ञमण्डप बनाया गया। शौनक, भृगु, च्यवन, कण्व आदि सम्मान्य ऋषियों को निमन्त्रण भेजे जा चुके थे। आस-पास के सभी नरेशों को भी आमन्त्रित किया गया था।

कृष्णा चतुर्दशी का दिन उदित हुआ। उदित क्या हुआ, घिर आया। क्योंकि उस दिन आकाश की सदैव नयनमनोरम नीली छत प्रातःकाल से ही काले-भूरे बादलों से आच्छादित हो गयी थी। इससे मेरा मन खिन्न हो उठा था। कहीं प्रकाश नहीं था। सारा वातावरण घुटा-घुटा-सा लग रहा था।

दुर्योधन के यज्ञ के लिए शुभाकांक्षाएँ व्यक्त करने के लिए गंगा के पात्र में खड़े होकर मुझको सूर्यदेव को अर्घ्य देना था। यज्ञ में पहली समिधा अर्पण होने तक मैंने पात्र में ही खड़े रहने का निश्चय किया था।

इसीलिए गंगा की ओर जाने के लिए मैं अपने भवन से बाहर निकलने लगा। भवन में विष्णु-मन्दिर के सम्मुख प्रतिदिन प्रातःकाल मेरे उठने से पहले ही शोण की पत्नी मेघमाला अल्पना चित्रित कर जाती थी। परन्तु उस दिन नित्य की भाँति वह अल्पना चित्रित नहीं कर गयी थी। सिर झुकाकर गुनगुनाते हुए जल्दी-जल्दी अल्पना काढ़ती हुई वह मुझको मन्दिर के सामने दिखाई दी। मेरे पदक्षेपों की आहट पाते ही बड़ी तत्परता से अपने को सँभालती हुई वह तत्क्षण उठ खड़ी हुई। परन्तु जल्दी में उठते समय उसके हाथ का पंचपात्र नीचे गिर पड़ा। उस पात्र में रखी धवल अल्पना, रक्तवर्णी कुंकुम और पीतवर्णी हलदी एक-दूसरे में मिल गयीं। उसने अपने हाथ से पंचपात्र गिरने को एक अपशकुन समझा। कुछ भी हो, स्त्रियों का मन शंकालु होता है। मेघमाला सहम-सिकुड़कर क्षण-भर खड़ी रही और फिर

दूसरे ही क्षण अल्पना सँवारने के लिए उसने हाथ बढ़ाया। उसकी व्याकुलता देखकर मैं हँसता हुआ उससे बोला, "उस अल्पना को वैसी ही रहने दो। धवल रंग की उस अल्पना पर लाल और पीली छटाएँ बड़ी ही सुन्दर लग रही हैं।" बिना बोले, गिरी हुई अल्पना को मेरे कहने से वैसी ही छोड़कर वह चली गयी। बहुत देर तक मैं विविध रंग छटाओंवाली बिखरी हुई उस अस्त-व्यस्त अल्पना की ओर देखता रहा !

मैं मन ही मन श्वेत, पीत और रक्तवर्णी छटाओं का चिन्तन करता हुआ राजभवन के सोपान उतरने लगा। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में भी ऐसे ही सोपान होते हैं। ये सोपान होते हैं घटनाओं के। कभी-कभी प्रकृति इन सीढ़ियों को एक के सामने एक रखकर मनुष्य को क्षण-भर में लक्ष्य के ऊँचे शिखर पर पहुँचा देती है, तो कभी-कभी घटनाओं की इन्हीं सीढ़ियों को एक के सामने एक रखकर व्यक्ति को अन्धी खाई में पहुँचा देती है। मैं सभी सोपान उतरकर नीचे आया।

राजभवन के सामने का चौक आया। चौक के तालाब में सदैव की भाँति नील गगन की पृष्ठभूमि पर चमकनेवाला सूर्य का प्रतिबिम्ब मुझको दिखाई नहीं दिया। उसमें जो प्रतिबिम्ब दिखाई दिया वह यज्ञमण्डप के श्वेत मटमैले वस्त्र की छत का। हाँ, कुछ राजहंस ग्रीवा उठाये हुए उस तालाब के जल में वेग से प्रदक्षिणा लगा रहे थे। उन शुभ्रवर्ण पक्षियों को देखते ही मुझको शकुनि मामा की याद आ गयी। जलमिश्रित दूध में से राजहंस अपना इच्छित दूध मात्र ले लेते हैं, यह उन्होंने मुझको और अश्वत्थामा को प्रत्यक्ष करके दिखाया था। और उसको याद कर मेरे मन आया कि मनुष्य भी जीवन में से अपनी इच्छानुसार अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ चुना करता है।

उन पक्षियों की ओर कौतुक-भरी एक दृष्टि डालकर मैं रथशाला की ओर मुड़ा। सत्यसेन रथशाला में रखे कुरुओं के रथ हटाकर अभ्यागतों के रथों के लिए स्थान रिक्त कर रहा था। महायाग में भाग लेने बहुत-से आमन्त्रित आनेवाले थे।

मुझको देखते ही वह सामने आया। मैंने उसको अपना नियत श्वेतवर्णी घोड़ों का रथ जोड़ने को कहा। कुछ देर में ही वह सज्जित हो गया। मेरे रथ में चढ़ते ही हाथ में लगे कोड़े को घोड़ों की पीठ पर फटकारते हुए उसने कहा, "कहाँ ले चलूँ रथ ?"

"गंगा तट पर।" यज्ञमण्डप की सजावट को अन्तिम रूप देने का प्रयत्न करते हुए सेवकों की ओर देखते हुए मैंने उत्तर दिया।

वास्तव में नियमानुसार मुझ अकेले को ही गंगा की ओर जाना चाहिए था। यह बात मेरे ध्यान में भी आयी कि मैं अकारण ही आज सत्यसेन को साथ ले जा रहा था। परन्तु अब उसको लौटाना उचित नहीं था। कभी-कभी बिना किसी कारण के भी मनुष्य भूल कर बैठता है। उसको साथ लेकर मैंने ऐसी ही भूल की थी।

हस्तिनापुर के सभी मार्ग नगरजनों से खचाखच भरे हुए थे, परन्तु किसी के भी क्रिया-कलाप में उत्साह दिखाई नहीं दे रहा था। हो सकता है कि आकाश में घिरा होने के कारण मुझको वैसा लग रहा हो। मन की जैसी स्थिति होती है, वैसा ही आँखों को दिखाई पड़ता है।

रथ नगर की सीमा के समीप आया। सीमा से थोड़ी ही दूरी पर गंगा थी। सत्यसेन सीमा का प्रवेश द्वार पार कर गंगा की ओर मुड़ने लगा, इतने में ही पश्चिम की ओर से मटमैले रंग के घोड़ों का एक रथ दौड़ता हुआ आया और हमारे रथ के पास होता हुआ प्रवेश-द्वार में घुस गया। हम लोगों ने उसे देखा। रथनीड़ पर गुरुदेव विदुर बैठ हुए थे। पाण्डवों को लाने के लिए दुर्योधन ने उन्हीं को इन्द्रप्रस्थ भेजा था। पाण्डवों के साथ पांचाली को लेकर ही वे लौट रहे होंगे, क्योंकि रथनीड़ पर, सारथी के पास, वे बैठे हुए थे। इससे यह स्पष्ट था कि रथ में स्त्री ही होगी।

पांचाली के केवल विचार से ही मेघाच्छादित आकाश की तरह मेरा मन भी आच्छादित हो गया। स्वयंवर में निर्दय आघातों से उसने मेरे मन को घायल कर दिया था। वह प्रतिशोध के तीक्ष्ण नखों से मेरे स्वाभिमान को नोचने लगा। आह ! एक स्त्री द्वारा मेरी अवहेलना की गयी, यह मैं कैसे सहन कर सका ? कर्ण वीर है, धनुर्धर है, यह ढिंढोरा संसार ने व्यर्थ पीटा था। कर्ण को सारथी बनाकर काल ने उसके जीवन का सारथ्य क्या अपने ही हाथ में नहीं ले लिया था ?

सत्यसेन घोड़ों पर और मेरा मन स्वाभिमान पर कशाघात कर रहा था।

गंगा का तट आया। नियमानुसार पात्र में खड़े रहने का मेरा स्थान भी दृष्टिपथ में आया। सूर्यदर्शन होते ही गंगा तट से मैं सीधे यज्ञमण्डप में जानेवाला था। इसके लिए मैंने रात को ही शोण को आदेश दे दिया था कि वह राजवस्त्र और भूषण गंगातट पर ले आये। इन्द्रप्रस्थ से लौटते समय जो मुकुट मेरे मस्तक पर पाया गया था, वही मुकुट भूषणागार से लाने के लिए मैंने विशेष रूप से कह दिया था। गंगा के स्वच्छ जल में खड़े होकर मैंने आँखें बन्द कर ली। सदैव की भाँति तेज के वलय प्रयत्न करने पर भी आँखों के आगे आते ही न थे। आँखें खोलकर सामने देखा, कारण्डव पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड गंगा की असंख्य लहरों पर दौड़ रहे थे। विचारों और शंकाओं की भीड़ से मस्तिष्क भन्ना गया था। गंगा की लहरों की तरह ही मेरे विचार असंख्य थे। अखाड़े के दिन भी पहले इसी तरह बादल घिर आये थे। वैसा ही कुछ अघटित क्या आज भी होनेवाला था ?

अंजलि में जल लेकर शान्त मन से मैं तेज की राह देखने लगा। तीन घड़ियाँ यों ही बीत गयीं लेकिन तेजोदर्शन का नाम नहीं था। शंकाओं के कारण्डव पक्षी मेरे मन की गंगा में हलचल मचाने लगे। पंख फड़फड़ाने लगे।

सत्यसेन मेरे कारण किनारे की बालू पर खड़ा था। अन्त में विवश होकर मुझे लौटना ही पड़ा। जल से बाहर निकलकर सिर झुकाकर बालू रौंदता हुआ मैं सत्यसेन की ओर अग्रसर हुआ। मेरे भीगे अधरीय का छोर बालू में घिसटता आ रहा था।

"शोण अभी तक राजवस्त्र लेकर नहीं आया ?" मैंने सत्यसेन के पास पहुँचते ही उससे पूछा

"नहीं। परन्तु महाराज आपके....?" कहते-कहते वह रुक गया। मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। उसका चेहरा उदास हो गया था। आँखें भयभीत हो गयी थीं।

"क्या हुआ सत्यसेन ?"

कुछ न कहकर सिर झुकाकर वह यों ही कोड़े के डण्डे से पैरों के समीप बालू में रेखाएँ खींचने लगा। निश्चय ही वह कुछ कहना चाहता था, किन्तु संकोचवश चुप था।

हम लोग शोण की राह देखने लगे। दूर एक टिटहरी कर्कश स्वर में चिल्लाती हुई किनारे से दौड़कर थूहड़ के ढेर में गयी। उसके आर्त स्वर कुछ देर तक वातावरण में गूँजते रहे।

इतने में ही धूल उड़ाता हुआ शोण का रथ किनारे पर आकर रुका। हाथ एक विशाल थाल लेकर वह जल्दी-जल्दी हमारी ओर आने लगा। पास आते ही सत्यसेन ने आगे बढ़कर उसके हाथ से थाल अपने हाथ में ले लिया।

"यज्ञ की पहली समिधा तो यज्ञकुण्ड में पड़ गयी होगी ?" मैंने उत्सुक होकर शोण से पूछा। राजभवन में महायाग की कौन-कौन-सी विधियाँ सम्पन्न हो चुकी थीं, इसकी बड़ी तीव्र जिज्ञासा थी मुझको।

"यज्ञमण्डप जैसा का तैसा ही है। यज्ञकुण्ड में समिधा पड़ने के बजाय राजसभा में द्यूत के पासे पड़ रहे हैं। यज्ञ का मुहूर्त कब का टल चुका है।" शोण थाल से एक बाहुभूषण उठाता हुआ बोला।

"कौन-कौन हैं सभा में ?" थाल से नीलवर्ण का अधरीय उठाकर उसको कमर से लपेटते हुए मैंने पूछा।

"सभी हैं। इतने सभासद् सभा में बैठे हुए हैं कि पैर रखने को भी जगह नहीं है।

"द्यूत कौन-कौन खेल रहे हैं ?" अधरीय का छोर दाँत में दबाकर गीला अधरीय बदलते हुए मैंने पूछा।

शकुनि मामा और युधिष्ठिर। एक भी पासा युधिष्ठिर के अनुकूल नहीं पड़ रहा है। पहले दावें में उसने दस लाख गायें लगायीं, दूसरे दावें में इन्द्रप्रस्थ की राज्य सम्पत्ति और तीसरे दावें में सेवक-सेविकाओं सहित सारा राज्य। मेरी कलाई पर, भुजा पर, कण्ठ में एक-एक आभूषण चढ़ाता हुआ वह उत्सुक होकर बताने लगा। युधिष्ठिर ! संयम, निग्रह और धर्माधर्म

का उपदेश देनेवाला विवेकी युधिष्ठिर द्यूत खेल रहा है इस बात पर मुझको विश्वास ही नहीं हो रहा था।

"तो फिर अब तक क्या-क्या हो चुका है ?" मैंने गंगा की लपलपाती हुई लहरों की ओर देखते हुए पूछा।

"युधिष्ठिर सब कुछ हार गया है। भीम उसको रोकने के लिए बीच-बीच में चिल्लाता है। जैसे ही वह चिल्लाता है, मामा पास फेंकते हैं। भीम के चिल्लाने से पास की कौड़ियाँ अजीब ढंग से थरथरा उठती हैं। लेकिन यह बात किसी के ध्यान में नहीं आयी है।" उसने थाल में रखा पीतवर्णी उत्तरीय भी मेरे कन्धे पर पहना दिया। किन्तु इन्द्रप्रस्थ के जिस रहस्यमय मुकुट के लिए मैंने कहा था, उसे वह लाया ही नहीं था।

"मैंने जो मुकुट बताया था, भूषणागार से वह क्यों नहीं लाये ?"

"बहुत ढूँढ़ा-ढकोरी की, लेकिन वह मुकुट भूषणागार में मिला ही नहीं।"

वह एक अन्य मुकुट ले आया था। उसी को मेरे सिर पर रखकर, नीचे बैठकर मेरे पैरों में पादत्राण पहनाकर उनके सुनहले रंग के दृढ़बन्ध उसने कसकर बाँधे, "भैया, तुम अब जल्दी राजसभा में चलो। मैं जब यहाँ आने लगा था, उस समय युधिष्ठिर अपने साथ अपने चार भाइयों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास—इस घोर दावँ पर लगा चुका था। यदि यह दावँ वह जीत जायेगा तो मामा द्यूत में जीती हुई उसकी समस्त सम्पत्ति व राज्य उसे वापस लौटा देंगे। ऐसा मामा ने स्वीकार कर लिया है। इतने कष्टों से दिग्विजय कर प्राप्त किया हुआ राज्य उसने द्यूत की कौड़ियों पर कैसे लुटा दिया, भैया ?"

"चलो।" मैंने उसकी भुजा पकड़ ली। मेरी आँखों के आगे राजसभा का दृश्य खड़ा होने लगा। तो मामा ने अपने कथनानुसार चार पट्टियोंवाले पट में पाण्डवों को सचमुच ही लपेट लिया था ? अट्टहास करनेवाले भीम के बड़े-बड़े दाँतों को मामा ने पास की कौड़ियों से ही तोड़ दिये थे ? लेकिन भीम के बोलते ही पास की कौड़ियाँ थरथरा क्यों जाती थीं ? मेरे हाथों से गिरने पर भी तो वे वैसी ही थरथरायी थीं। क्यों ? जैसे कोल्हू का वृषभ मध्यस्थ दण्ड के चारों ओर ही घूमता रहता है, वैसे ही मेरा मन इस प्रश्न के चारों ओर चक्कर काटने लगा।

अपनी कटि के दुकूल में खोंसे हुए मेरे कर्णभूषण निकालकर उनको मेरे कानों में पहनाने के लिए शोण चलता-चलता एकदम रुक गया। मेरे कानों के पास हाथ ले जाकर वह उनको पहनानेवाला था; परन्तु तत्क्षण हाथ नीचे कर वह रुक गया। उसके चेहरे का भाव क्षण प्रतिक्षण बदलने लगा। वही भाव था जो थोड़ी देर पहले सत्यसेन की मुखमुद्रा पर दिखाई दिया था।

"क्यों ? क्या हुआ शोण ?"

"भैया...!!" वह रुक गया। उसका साँवला चेहरा काला पड़ने लगा। आँखों की पुतलियाँ तेजी से घूमने लगीं।

"भैया, तुम आज राजसभा में मत जाओ।"

"इसलिए कि वहाँ जाकर मेरे बोलने पर कौड़ियाँ ऐसे ही थर्रायेंगी जैसे भीम के बोलने पर थर्राती हैं और थर्राकर वे कौरवों के विपक्ष में पड़ेंगी?"

"नहीं...लेकिन..." वह पुनः रुक गया।

"लेकिन क्या ? कहो तो सही। मैं राजसभा में क्यों नहीं जाऊँ ?" उसके कन्धे ज़ोर से हिलाता हुआ मैं चिल्लाया ।

"तुम्हारे कुण्डल आज फिर निस्तेज हो गये हैं।" उसने अपना सिर झुका लिया।

वह फिर बोला, "डण्ठल से टूटे हुए फूल की तरह।" उसके शब्द खोलते लौहरस-जैसे फिर एक बार मेरे कानों में घुसे। मैंने सत्यसेन की ओर देखा। वह सिर झुकाये पूर्ववत् कोड़े के दण्ड से बालू में रेखाएँ खींच रहा था। वह जो कहना चाहता था, उसे शोण ने कह दिया था।

"शोण, आज कुण्डल निस्तेज हो जायें या टूटकर गिर पड़ें, मैं राजसभा में अवश्य जाऊँगा।

"नहीं भैया, आज मत जाओ। द्यूत एक ऐसा सत्य है, जिस पर किसी का विश्वास नहीं। उसका विरोध तीव्र होने लगा। उसकी तेजस्वी आँखों में भय के वलयों के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं।

"सत्य एक ऐसा द्यूत है, शोण, जिसको सब मानते हैं। आज सत्य के द्यूत में पाण्डवों के पासे उलटे पड़े हैं। जीवन-भर वे सदैव कर्ण के उलटे पड़ते आये थे। चलो।" मैंने उसका हाथ पकड़ा।

"नहीं भैया ! कम से कम मेरे ही लिए आज मत जाओ।" उसने मेरा हाथ कसकर पकड़ लिया। कितनी आर्तता थी उसकी पकड़ में !

"शोण, मैं उपदेश नहीं चाहता।" मैंने उसका हाथ झिड़क दिया ।

सत्यसेन के हाथ से कोड़ा खींचकर रथ की ओर जाते हुए मैंने उसको सावधान करते हुए कहा, "सत्यसेन, शोण को उसके रथ में वापस ले जाओ। और शोण, तुम भी यह कभी मत भूलना कि तुम कर्ण के भाई हो !" मैंने शोण की ओर बिना देखे ही कहा।

रथ पर चढ़ते ही मैंने तेजी से कशाघात किये। घोड़े दौड़ पड़े इधर-उधर । किनारे की तप्त बालू के गर्भ से ऊपर उठती हुई धधकती अग्नि-ज्वालाओं को मेरी खुली भुजाओं ने तीव्रता से अनुभव किया। मेरा चर्म अभेद्य था, लेकिन स्पर्शहीन थोड़े ही था।

बारह

सिर पर घटाच्छादित आकाश लिये वेग से राजमार्ग को पीछे छोड़ते हुए मेरे जैत्ररथ ने राजभवन की प्राचीर से भीतर प्रवेश किया। स्वयं मुझे सारथ्य करते देखकर द्वारपाल शायद चकित हो गये थे। मुझको अभिवादन करने का ध्यान भी उनको नहीं रहा था। वे पुतलों की तरह ज्यों के त्यों खड़े थे। वल्गाएँ खींचकर मैंने रथ रोका। उसको रथशाला में ले जाकर छोड़ने की भी इच्छा नहीं हुई। हाथ में लगी वल्गाएँ घोड़ों की पीठ पर फेंककर मैं रथदण्ड से कूद पड़ा। कण्ठबन्ध टूटे हुए बछड़े की तरह मेरा मन राजसभा में जाने के लिए आकुल था। मण्डप में प्रवेश करने से पहले एक बार निरीक्षण करने के लिए मैंने आकाश की ओर दृष्टि डाली। जैसे गंगा का पात्र भूरे कोहरे से आच्छादित हो जाता है, वैसे ही चारों ओर से क्षितिज तक आकाश काले-भूरे बादलों से आच्छादित था।

राजभवन में जाने के लिए यज्ञमण्डप में होकर जाना पड़ता था। उस विशाल यज्ञमण्डप में अभी तक कोई उपस्थित नहीं था। दूर यज्ञकुण्ड पर एक काकपक्षी कृमिकीट ढूँढ़ने का व्यर्थ प्रयत्न करता हुआ मुझे दिखाई दिया, कृष्णवर्ण का। ग्रीवा इधर-उधर घुमानेवाला। बीच-बीच में काँव-काँव करता हुआ चीत्कारनेवाला। क्षण-भर में मण्डप पार कर राजभवन की चार-चार सीढ़ियाँ मैं एक-एक छलाँग में ही चढ़ने लगा। अनेक वर्षों पहले चम्पानगरी से आने के बाद, पिताजी का हाथ पकड़कर, ये सीढ़ियाँ कितनी होंगी—इस कौतूहल से इनकी गिनती करनेवाला बालक कर्ण क्षण-भर में मेरी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ। अब उसी कर्ण को अच्छी तरह ज्ञात था कि सीढ़ियों की संख्या निश्चय ही एक सौ एक थी। क्योंकि अनेक बार वह उनपर चढ़ा-उतरा था।

आह, घटनाओं के विविध रंग के फूल काल के अखण्ड धागे में गुंथते हुए नियति ने मेरे जीवन की पुष्पमाला कितनी जल्दी तैयार कर दी थी। बचपन की सुन्दर-सुन्दर कलियाँ उसमें थीं, शिष्यावस्था की विद्या के प्रति निष्ठा से अर्धोन्मीलित पंखुड़ियाँ भी उसमें थीं। तरुणावस्था के शस्त्र, व्यायाम, सूर्याराधना आदि के चमकते हुए कलाबत्तू उस माला में थे, और...और मेरे अपमानित, सम्भ्रमित, उपेक्षित जीवन के हरे-सूखे पत्ते भी थे—कलाहीन और विद्रूप।

मेरा मन शरीरस्थ रक्त की गति से भी तीव्र गति से दौड़ने लगा। उसको एक ही धुन लगी हुई थी। राजसभा ! राजसभा ! सभा के भव्य प्रवेश-द्वार के पास आया। भीतर चल रहे द्यूत के पासों का निर्णय देखने के लिए पागल बने प्रेक्षकगणों से वह ढका हुआ था। प्राणों को आँखों में समाकर सब लोगों ने अपनी आँखें मामा के हाथों में लिये हुए पासों पर लगा रखी थीं। सेवक-सेविकाओं के उस समुदाय में ही एक साधारण व्यक्ति की तरह दुःशासन को

खड़ा देखकर मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मेरी ओर पीठ किये खड़ा था। वह सभागृह में न बैठकर प्रवेश-द्वार पर ही क्यों था ? आज सभी बातें उलटी हो रही थीं।

प्रवेश-द्वार के पास जाकर पीछे उसके कंधे पर हाथ रखकर मैंने कहा, "दुःशासन, तुम आज यहाँ कैसे खड़े हो ?" घुड़दौड़ के चपल घोड़े की तरह वह तत्क्षण मुड़ा।

"कौन, कर्ण ! ठहरो...केवल क्षण-भर ही। तुम अभी यहीं रुको। जब तक द्यूत चल रहा है, तब तक मैं तुमको यहीं रोके रखूँ, इसीलिए भैया ने प्रातःकाल से ही मुझको यहाँ नियुक्त कर रखा है।

"क्यों ? मेरे भीतर जाने से क्या प्रलय हो जायेगी ?" उसका प्रतिरोध मुझको असह्य लगा। कुरुओं के राजभवन में मेरा इतना स्पष्ट विरोध आज तक कभी किसी ने नहीं किया था।

"यह सब मैं नहीं जानता, परन्तु आज मैं तुमको सभागृह में नहीं जाने दूँगा, अंगराज ! मामा अब अन्तिम पासा फेंक रहे हैं। अन्तिम, निर्णायक, केवल एक ही पासा ।" मुझको रोकने के लिए प्रवेश-द्वार घेरने के विचार से उसने दोनों हाथ फैला दिये। पूरा द्वार उसने घेर लिया। मैं अंगराज हूँ, यह बात दुःशासन आज क्यों भूल गया?

"इस पासे के दावँ पर क्या-क्या लगाया गया है दुःशासन ?" एड़ी उठाकर सभागृह में झाँकते हुए मैंने उससे पूछा।

"पांचाली।" उसने दरवाजों की दरार में अपने हाथ की उँगलियाँ अच्छी तरह फंसाकर मेरे सामने अपने हाथों का घेरा ही तैयार कर लिया।

पांचाली ! एक अहंकारी क्षत्राणी । जिसके चरणों में कर्ण ने अपने जीवन का राजवस्त्र विनम्र भाव से अर्पण किया था, लेकिन जिसने उसे तुच्छ पाँवड़ा समझकर उन्मत्त भाव से पैरों से रौंद डाला था। तीव्रगति से दौड़ते रथ में जाते समय आसपास के वृक्ष, लताएँ, पर्वत आदि के चित्र अस्पष्ट होते हुए जैसे झटपट पीछे छूटते जाते हैं, वैसे ही अनेक घटनाओं के असंख्य चित्र मेरी आँखों के आगे प्रकट होकर क्षण-भर में अस्पष्ट होने लगे।

"दुःशासन, दूर हटो।" उसके हाथ उठाकर एक ही झटके मैंने हटा दिये। सभागृह में प्रवेश करते समय एक ही घनाघात बार-बार सिर पर होने लगा। द्यूत ! द्यूत ! द्यूत उचित हो या अनुचित हो, परन्तु मेरे ठुकराये गये सन्तप्त मन को यदि उसी से शान्ति मिलनी हो तो फिर मैं उसको अनुचित क्यों कहूँ ? और फिर मेरे साथ व्यवहार करने में संसार ने ही उचित-अनुचित की निष्पक्ष कसौटी कहाँ रखी थी ? इसीलिए मेरी इच्छा हुई कि प्रवेश द्वार में से ही चिल्लाकर कह दूँ, "मामाऽऽ, यह दावँ आज आपको जीतना ही चाहिए।" जन-समुदाय को छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं जल्दी आसन की ओर आगे बढ़ा। 'ठहरो-ठहरो' कहता हुआ दुःशासन भी हाथ उठाये मेरे पीछे-पीछे आने लगा।

सभा के पश्चिमी भाग में पाषाण के चबूतरे पर बिछी हुई कोमल शय्या पर बीच में द्यूत का पट रखकर उसके दोनों ओर शकुनि मामा और युधिष्ठिर बैठे थे। उलटी पालथी मारकर मामा कान के पास हाथ ले जाकर पासे की कौड़ियों को हाथ की पोली मुट्ठी में निरन्तर हिलाने लगे। उनके पीछे खड़े हुए दुर्मुख, दुर्जय, निषंगी, क्राथ, अलम्बू, वातवेन आदि कुरु योद्धाओं की आँखें उनके हाथ पर स्थिर थीं। उनकी दायीं ओर बैठा हुआ दुर्योधन एकटक भीम की ओर देख रहा था। युधिष्ठिर के पीछे बैठे हुए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव जीवन में पहली बार विवश मुद्रा में सिर झुकाये शायद अपने अग्रज भ्राता के बुद्धिभ्रंश का कारण ढूँढ़ रहे थे। आज हाँ, आज पहली बार ही वे यह अनुभव कर रहे थे कि जन समुदाय के सम्मुख सिर झुकाने में किसी योद्धा को कैसी मरणप्राय यातनाएँ होती हैं ! ऐसे अवसर पर बिखरते हुए मनरूपी पुष्प की पंखुड़ियाँ एकत्रित करना कितना कठिन होता है !

"चलो...चलो...चलो सात का दाँव रहा।" हाथ की कौड़ियों को हिलाते हुए कान के पास लाकर मामा ने ज़ोर से चिल्लाते हुए पासा फेंका। वैसे ही, जैसे कोई शक्तिशाली मछुआ हाथ उठाकर मछलियों का जाल फेंकता है।

"यह सत्यानाशी खेल तुम अब बन्द भी करोगे या नहीं ?" पासा पड़ते समय ही भीम बिजली की तरह युधिष्ठिर पर कड़का । कौड़ियाँ ऐसे काँप गयीं जैसे बिजली की कड़कड़ाहट से तिनके काँपते हैं। दाँव पड़ा। जन-समूह में से मार्ग निकालता हुआ मैं आसन की ओर जाने का प्रयत्न करने लगा। द्यूत देखने में सब कुछ भूले हुए प्रेक्षक किसी की ओर भी ध्यान देने को तैयार नहीं थे। सबकी दृष्टि पट के पास कौड़ियों पर लगी थी। एड़ी ऊँची कर प्रत्येक व्यक्ति पासों को देखने लगा। किसका दाँव पड़ा ? अखाड़े में शस्त्रास्त्रों के हाथ देखते समय उतनी उत्सुकता नहीं थी, काम्पिल्यनगर में शिवधनुष से मत्स्य-भेद देखते समय भी उतनी नहीं थी, जितनी कि इस समय प्रत्येक आँख से उफन-उफनकर झाँक रही थी। मृगनक्षत्र की मूसलाधार वर्षा की तरह । क्षुद्र कौड़ियों के आसपास सहस्र आँखें। घिसटते हुए सहस्र जीवन । क्षण-भर के लिए मुझे ऐसा लगा कि यज्ञकुण्ड पर कीट ढूँढ़ने का प्रयत्न करनेवाले कौवे की तरह ही जीवन भी असंख्य नगण्य और क्षुद्र बातों से भवितव्य ढूँढ़ने का प्रयत्न करता रहता है शायद !

"देख दुर्योधनsss, सात अर्थात् सात ही !" राजा दुर्योधन के हाथ पर ताली देते हुए मामा आनन्दातिरेक से आसन की गद्दी पर से उछल पड़े। सभी कुरु-युवराजों ने बड़े ज़ोर से तालियाँ बजायीं। खाड़ sss ! खाड़ sss ! खाड़ !! मेरे मन के भी दो हाथ होकर एक-दूसरे पर टकराने लगे। केवल विचारों की तालियाँ । उलटी-सीधी। लेकिन उन तालियों की ध्वनि एक-सी नहीं थी। कभी दुर्योधन की आवाज़ की तरह कर्कश, कभी मामा की आवाज़ की तरह चुभनेवाली, कभी अश्वत्थामा की आवाज़ की तरह मधुर रसभरी तो कभी पितामह की आवाज़ की तरह दृढ़ उपदेशयुक्त। तालियाँ-विचारों की अखण्ड, अटूट तालियाँ । उन

तालियों में मैं जैसे डूब ही गया। मेरी आवाज़ मुझको कहीं सुनाई नहीं दे रही थी। चारों ओर ही अविरत गड़गड़ाती हुई तालियाँ।

जैसे तैसे आसन के पास पहुँचा। सभागृह पर दृष्टि डालते समय मैंने यह विशेषता देखी कि पहले किसी अवसर पर सभागृह इस तरह ठसाठस भरा नहीं था। सिंहासन पर महाराज बैठे हुए थे। उनकी बन्द आँखों के लाल पलक हिल-डुल रहे थे। द्यूत के पास देखने के लिए वे आँखें अधीर तो नहीं हो उठी थीं ? उनकी बायीं ओर बैठी हुई राजमाता गान्धारी देवी का हाथ बार-बार आँखों की बँधी पट्टी की ओर जाने लगा। सभा में क्या हो रहा है, इसका उन राजा-रानी को शायद कुछ पता नहीं था। मैंने सोचा कि अन्धे राजा को अन्धकार में टटोलने को विवश कर देनेवाली, आँखवालों की राजसभा है यह या वर्षों से घुटती आयी भावनाओं का स्वच्छन्द विस्फोट।

पितामह भीष्म, गुरुदेव द्रोण, कृप, विदुर, अश्वत्थामा, अमात्य वृषवर्मा, सेनापति आदि के साथ यज्ञकार्य के लिए दसों दिशाओं से आये हुए शौनक, भृगु, च्यवन, कण्व, पैल, याज्ञवल्क्य, सुसाम, बालखिल्य, सहस्रपात्, सान्दीपनी, शम्पाक-जैसे श्रेष्ठ ऋषिजन बैठे हुए मुझको दिखाई दिये। उनमें से एक भी द्यूत की कौड़ियों को नहीं रोक सका। यज्ञ का मुहूर्त कब का बीत चुका था फिर भी ! तो फिर मामा की राजनीति का पाश सबको घेर ही लेगा। कौड़ियों का चमत्कार कुरुओं की कायापलट का मार्ग प्रशस्त कर सकता है, यह बात ऋषि-मुनियों को साक्षी बनाकर मामा ने सबके सामने सिद्ध कर दी। मामा ! गान्धार देश के ऊँट की तरह उनकी चाल ! मुझको वह कभी सीधी दिखाई नहीं दी थी, न लगी ही थी। परन्तु उन्होंने अपने हाथ में कौड़ियाँ लेकर यह सिद्ध कर दिया था कि राजनीति की मरुभूमि में उनके समान ऊँट ही श्रेष्ठ रहते हैं। मार्गदर्शक ठहरते हैं, वक्रगतिवाले। केवल ऊँट।

पट लपेटते हुए अपने कृत्य पर प्रसन्न होते हुए मामा विजय के उन्माद में बड़बड़ाने लगे, “युधिष्ठिर ! गायें, सम्पत्ति और सेवक सेविकाओं के साथ इन्द्रप्रस्थ का राज्य तू हार चुका है। अपने साथ चारों भाइयों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवासवाला दावँ भी हार चुका है और अभी-अभी इस सात के दावँ के कारण अपनी पत्नी को कुरुओं के दासी बनानेवाला दावँ भी तू हार गया है। सब लोग तुझे धर्म कहते हैं। धर्म के अनुकूल चलनेवाले युधिष्ठिर ! पास जितने का धर्म तुझको आज तक किसी ने क्यों नहीं सिखाया ? अब तो कम से कम तुझको विश्वास हो गया न कि द्यूत इस सुबलराज शकुनि का हाथ पकड़नेवाला एक भी द्यूतपटु इस आर्यावर्त में नहीं ? या शेष बची हुई अपनी वृद्ध माता को भी दावँ पर लगाकर तू आज इस शकुनि के कुशल हाथों की और अधिक परीक्षा लेना चाहता है ?” भौहें बार-बार ऊँची करते हुए मामा ने कौए-जैसी गरदन मोड़ी। मेरे सारे शरीर

में असह्य वेदना की एक विचित्र लहर-सी दौड़ गयी। गंगा के जल में तीन घण्टे खड़े रहने के कारण कदाचित् ऐसा बोध हुआ हो।

"शकुनि !" गदा घुमाता हुआ भीम सिंह की तरह मामा पर झपटा। अपनी माता का अशिष्टतापूर्ण उल्लेख उसको अच्छा नहीं लगा।

भीम, पीछे मुड़ो ।" युधिष्ठिर ने पहली बार मुँह खोला। उसके पैर के अंगूठे की ओर देखता हुआ भीम क्रोध से लौट गया।

"दास लोग स्वामियों को अनादर से नहीं पुकारा करते । भीम, तू कुरुओं का दास है, दास ! तेरे हाथ में जो गदा है, वह अब तेरी नहीं है, तेरी पत्नी पांचाली कौरवों के चरणों की एक तुच्छ दासी है।" मामा ने हाथ में कौड़ियाँ उछालते हुए भीम को निरुत्तर कर दिया। सिर झुकाकर वह जितने क्रोध से मामा पर झपटा था, उतनी ही शान्ति से अपने आसन पर बैठ गया। उसने अपना होंठ चबा लिया था। उससे रक्त टपक रहा था। "कुल के अनुरूप प्रतोद हाथ में लेकर घोड़ों की मालिश कर।" कहकर अखाड़े में मुझे चिढ़ानेवाला वह भीम ! और नियति के एक थपेड़े से लड़खड़ाकर गिरनेवाला यह भीम ! उसकी नसों में दौड़ता हुआ रक्त कहाँ गया ? कहाँ गया उसका पर्वततुल्य पराक्रम ?

"दासी! पांचाली- कुरुओं के चरणों की तुच्छ दासीss !" दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसकी हँसी मुझको बड़ी बोभत्स लगी। उसके अवरुद्ध मन का ज्वालामुखी शरीर के बाँध तोड़कर निकलने लगा। अपने आसन पर बैठता हुआ सभागृह की एक-एक वस्तु पर अपनी दृष्टि घुमाता हुआ, अधिकारयुक्त स्वर में वह अपने युद्ध के लिए विशेष रूप से रखे गये सारथी प्रातिकाम से बोला, "प्रातिकाम, कुरुओं की उस दासी को इसी क्षण इस सभागृह में उपस्थित करो। जिस स्थिति में हो, उसी में ।" उसके शब्द ऐसे थे जैसे पर्वत पर से कोई पाषाण लुढ़क रहा हो। आज्ञा पाकर प्रातिकाम सभागृह बाहर चला गया।

आसन पर से ही मैंने युधिष्ठिर की ओर देखा। सदैव सूक्ष्मता से मेरे पैरों का निरीक्षण करनेवाली उसकी दृष्टि उस समय अपने ही पैरों से हट नहीं रही थी। सदैव किसी न किसी को चीरने की ही दर्पयुक्त घोषणा करनेवाली भीम की उच्छृंखल जीभ उसी के दाँतों के नीचे रगड़ खाने लगी। अर्जुन ! अपने आपको अजेय समझनेवाला वह धनुर्धर ! हो सकता है कि अजेय हो । परन्तु मन की विशालता, दूसरे के कौशल की गुणग्राहकता और सम-भावना-मन के इन अत्युच्च भावों का साक्षात्कार उसने कभी कर्ण को कराया था क्या ? कम से कम, किसी भी उल्लेखनीय अवसर पर अपनी प्रशंसा करवाकर कीर्ति का वलय अपने चारों ओर लपेटते हुए उसने, कभी भूले-भटके, यह भी ध्यान रखा था क्या कि उसी की ही तरह कवल धनुर्विद्या से प्रेम करनेवाला कोई और भी इस हस्तिनापुर में है ? बल्कि उससे कुछ श्रेष्ठ सिद्ध होनेवाले निषादपुत्र एकलव्य का अँगूठा जब गुरु द्रोण ने गुरुदक्षिणा की मोहक संज्ञा देकर माँगा था, तब गुरु द्रोण का विरोध करने की अपेक्षा उसने क्या उनका

समर्थन नहीं किया था ? फिर क्यों हस्तिनापुर ने इस अर्जुन का आडम्बर कर रखा है ? केवल एक ही योग्यता के लिए। वह श्रेष्ठ कुरुकुल का युवराज है। क्षत्रिय है, इसीलिए न ? आज कहाँ गया था उसका सारा क्षत्रियत्व?

यदि मेरे स्थान पर वह होता तो! असह्य विचारों और अवहेलना से उत्पन्न होनेवाली कर्तव्यविमूढ़ता की भयंकर मानसिक स्थिति को वह कितने समय तक सहन कर सकता ? शरीर में कौशल, गुणवत्ता और लगन होने पर भी उपेक्षित जीवन के कष्टप्रद केन्द्र बिन्दु के चारों ओर मेरी तरह वह कितने समय तक टिक सकता था ? मेरे जीवन के सारे अनुभव कितने असह्य हैं, यह बात उन पाँचों आत्मकेन्द्रित गर्वोन्नत युवराजों को सिखाने के लिए ही नियति ने आज ऐसी घटनाओं का यह अब्धुत द्यूत आयोजित किया था। अब तो वे समझ ही गये होंगे कि अपमान मन के राजवस्त्र को निरन्तर कुतरनेवाला काला चूहा होता है। उपेक्षा गुणवान् व्यक्ति के मन के शान्त सरोवर को विक्षुब्ध करनेवाली आँधी होती है। अवहेलना का अर्थ है-वीर की सारी देह पर पड़नेवाला तप्त लौहरस ! तिरस्कार के शब्द अर्थात् कानों की बाँबी में घुसनेवाले विषैले भुजंग ! जीवन का यह असह्य स्वरूप, जो कर्ण ने जीवन-भर सहन किया था, आज स्वयं पाण्डवों को भी मिला था।

और वह द्रौपदी ! एक दासी ! सुगन्धी दासी है। दासी का अर्थ है—सूतकन्या से भी अधिक क्षुद्र ! मेरे मन की दुन्दुभी पर विचारों की डण्डियाँ स्वच्छन्द टकराने लगीं। दासी ! हाथ में वरमाला लिये हुए दासी। अन्धे पतियों की दूरदर्शी दासी । दासों की पत्नी दासी। मेरी आँखों के आगे काले वलय में उस काली दासी का लज्जित मुखड़ा फिरने लगा।

"महाराज, युवराज्ञी सभागृह में नहीं आ सकती हैं।" प्रातिकाम स्त्रियों के कक्ष का चक्कर लगाकर लौट आया। पंख कटे पक्षी की तरह घिसटता-ठहरता।

"नहीं आ सकती ? दासी स्वामी के लिए सब कुछ कर सकती है। उसको आना ही चाहिए।" पाषाण फेंकनेवाली भुशुण्डि के दण्ड-जैसा दुर्योधन आसन से तत्काल उठ खड़ा हुआ। क्या था उसकी आँखों में ? अंगार ? यज्ञकुण्ड ? धधकता ज्वालामुखी ?

"नहीं महाराज, वे रजस्वला हैं तथा हाल में ही ऋतुस्नात हुई हैं। स्नानागार से स्नान करके बाहर आने के बाद उन्होंने अभी अपने केश भी नहीं सँवारे हैं।" सिर झुकाकर प्रातिकाम ने निवेदन किया ।

"प्रातिकाम, सारथी के रूप में रथ के घोड़े जितनी कुशलता से हाँकते हो, उतनी कुशलता से तुम दुर्योधन की आज्ञा का पालन नहीं कर सकते । दुःशासन, उठो और इस प्रातिकाम को दिखा दो कि सारथी में और क्षत्रिय में क्या अन्तर होता है। जाओ और वह जैसी हो, घसीटकर ले आओ।" उसके स्वर वज्र की तरह कड़क रहे थे।

दुःशासन सभागृह से ऐसे निकला जैसे चाप से बाण ! उस स्थिति में भी दुर्योधन ने सारथी कहकर प्रातिकाम का जो तिरस्कार किया था, वह मुझको बिलकुल अच्छा नहीं लगा। बोलने के उन्माद में वह शायद यह भूल गया था कि उसका मित्र कर्ण भी सारथी है। उसके उस कथन को सुनकर क्षण-भर मेरी तो यह इच्छा हुई कि सभागृह से उठकर, जो रथ मिल जाये, उसी में माता-पिता के साथ बैठकर, एकदम चम्पानगरी चल दूँ। मन ही मन मैं आसन से उठ खड़ा भी हुआ। एक ऐसे स्थान पर जाने के लिए, जहाँ सारथियों की कोई कभी इतनी घोर अवमानना न करे।

"छोड़ SSS छोड़ SSS ! चाण्डाल मेरे शरीर को स्पर्श भी मत कर ।"

सिसकियों के साथ आर्त पुकारें आ रही थीं। जिस द्वार से दिग्विजयी पूर्वजों ने प्रवेश किया था, उसी द्वार से सभागृह में दुःशासन प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगा।

विरोध करने के लिए प्रवेश-द्वार की दरार में अपनी पतली उँगलियाँ फँसाकर चौखट से पैर अड़ाकर दासी द्रौपदी प्राणपण से उससे जूझने लगी। घास के ढेर से एक पूली जैसे खींची जाये, वैसे ही उसको द्वार से खींच लाने के लिए दुःशासन छीना-झपटी करने लगा। परन्तु गोह की तरह दरार में फँसी हुई द्रौपदी की उँगलियाँ टस से मस न हुईं। दुःशासन ने सहसा उसकी कमर में अपनी सशक्त भुजाओं का घेरा डाल दिया। मेरे सारे शरीर में घृणा की एक विचित्र सिहरन-सी दौड़ गयी। उस सिहरन में सूतपुत्र कर्ण, धनुर्धर कर्ण, अंगराज कर्ण, मानी कर्ण-सब कुछ क्षण भर में विलीन हो गया। शेष रह गया केवल गंगा में खड़ा होकर अर्घ्यदान करनेवाला कर्ण !

"दुःशासन, जिन भुजाओं में तूने पांचाली की पवित्र देह आज इस कुरुसभा में बड़े-बड़े ऋषिजनों के सम्मुख इस तरह लपेट रखी है, उन्हीं भुजाओं को जड़ से उखाड़कर आकाश में फेंक दूंगा और जिस छाती को उन्मत्त भाव से फुलाकर तू मेरी पत्नी को एकवस्त्रा और रजस्वला स्थिति में भी यहाँ खींच लाया है, तेरी वह छाती फोड़कर उसका उष्ण रक्त मैं सोमरस की तरह इन सबके सामने ही गटागट पीऊँगा।" हाथ की गदा को पैरोंतले पाषाण पर पटककर भीम ने दुःशासन के वध की घोर प्रतिज्ञा की।

ऐसी ही बात मेरी देह के भीतर कोई गरज-गरजकर कह रहा था। कौन था वह ? प्रतिदिन गंगा के किनारे खड़ा रहनेवाला सूर्यशिष्य कर्ण था वह। हाथ उठाकर वह मुझसे कह रहा था—कर्ण, उठ। यह अन्याय है। सरासर अन्याय है। उठ और इस अन्याय को रोक। प्रकाश का दिव्य साम्राज्य छोड़कर अन्धकार के भयंकर गर्त में भी कहाँ जा रहा है ? प्रतिशोध ! बदला ! ये तो हलके मन के तुच्छ चीथड़े हैं। फेंक दे उनको । उठ ।"

"खाड़ SS ! खाड़ SS ! खाड़ SS !" कोड़े मारता हुआ वल्गाएँ खींचता एक सन्तप्त सारथी उस सूर्यशिष्य के सामने क्षण भर में ही तनकर खड़ा हो गया। अपने हाथ में लगे कोड़े के दो-तीन क्रूर आघात बिना किसी विचार के पहले तो उसने सूर्य-शिष्य पर किये।

गंगा के जल से परिपूर्ण उसकी भाव-अंजलि पर लात मारकर वह सारथी गरजा, “इतने में ही अपनी पर्णकुटी भूल गया क्या ? वह घोड़ों की मालिश ? स्वयंवर में विषैले वाग्बाणों का हृदयविदारक प्रहार ? समझ लेने दे, आज उसे भी एक बार यह समझ लेने दे कि सूत की अपेक्षा दासी हीन ही होती है।”

कशाघात और अर्घ्यदान की अंजलि से गिरनेवाली जलप्रपात-सी प्रचण्ड धारा-इन दोनों के बीच मेरा मन क्षण-प्रतिक्षण दोलायमान होने लगा। मूढ़ता, बधिरता और किंकर्तव्यविमूढ़ता- इनका धुआँ मन में इस प्रकार छा गया कि सामने का कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। दिखाई देता भी था तो समझ में नहीं आता था। समझ में आ भी जाता था तो कहा नहीं जाता था। मैं कौन था ? यह स्वयं मेरी ही समझ में नहीं आ रहा था।

अर्धमृत थकी हुई गाय को पीठ पर डालकर कोई सिंह जैसे अपनी गुफा में ले आता है, वैसे ही दुःशासन उस पीड़ित श्यामवर्णी सुगन्धी दासी को कमर में हाथ डाले सभा गृह के मध्यभागरूपी जाल में ले आया। जैसे कोई मछली जाल से मुक्त होने के लिए निरन्तर उछाल लगाती रहती है, वैसे ही वह उसके बन्धन से छूटने के लिए निरन्तर छटपटाने लगी।

दुःशासन की बाँहों का घेरा उसकी कमर के चारों ओर नहीं था...वह मुझमें स्थित सूर्यशिष्य के कण्ठ के चारों ओर था। क्षण-प्रतिक्षण वह कसता चला जा रहा था, पात्र में खड़े होकर अर्घ्य के लिए अंजलि में लिया हुआ जल उस घेरे के कारण उस शिष्य के हाथ से हिलता-डुलता भवितव्य के पात्र में गिर पड़ने लगा।

"पिताऽऽमह !" उसकी एक चीख छत को भी भेद गयी।

"दुःशासन, कौरवों के चरणों की इस दासी को हम थोड़ा-सा ऊँचा स्थान देते हैं, 'क्योंकि यह सुगन्धित है। चरणों से कुछ ऊपर...इस जंघा पर लाकर बैठा दो इसको।" जंघा पर से अधरीय कुछ दूर हटाकर दुर्योधन ने जंघा पर हाथ मारा। पितामह ने शुभ्र केशांकित सिर झुका लिया।

"दुर्योधन, उन्मत्त होकर जिस अपनी जंघा को इस भरे सभागृह में तूने अनावृत कर दिखाया है, उसी जंघा को समय आने पर इस गदा के एक ही प्रहार से चूर-चूर कर दूँगा।" भीम ने गदा उठाकर प्रतिज्ञा की। उसका मुख नागफनी-जैसा तमतमा रहा था।

"भीम, दास की प्रतिज्ञाओं का बकवास से अधिक कुछ भी मूल्य नहीं होता।" दुर्योधन को क्या हो गया था, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वह जलते हुए मशाल-जैसा लग रहा था। निरन्तर आग उगल रहा था।

मेरे शरीर में सारथी का और सूर्य-शिष्य का भयानक द्वन्द्व आरम्भ हो गया। दोनों निर्दयता से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। कौन किस पर विजय प्राप्त करेगा, इसका कुछ भी पता नहीं चल रहा था।

'अन्याय ! एक रजस्वला पर भरे सभागृह में गुरुजन और वृद्धों के समक्ष यह घोर अन्याय ! विडम्बना ! स्त्री की विडम्बना का अर्थ है पवित्रता की विडम्बना ! विनाश ! स्त्री के शील के विनाश का अर्थ है- -समस्त मांगल्य और शुचिता का विनाश । स्त्री के शील पर प्रहार करने का अर्थ है —मानवता के मर्म पर प्रहार। इसी में से संघर्ष । जग की सभी कोमल भाव-भावनाएँ दग्ध कर देनेवाला संघर्ष ! वैर का सर्वभक्षी यज्ञकुण्ड, कर्ण, सूर्यशिष्य, उठ ! दुःशासन के हाथ झटककर सबसे चिल्लाकर कह दे कि 'यह अन्याय है, अत्याचार है, अधःपतन है।' मेरे अन्दर का सूर्यशिष्य कण्ठ की नसें तानता हुआ सारथी पर टूट पड़ा। हाथ की किरणों के खड्ग उसकी छाती में घुसेड़ने लगा परन्तु उस सारथी का कुछ नहीं बिगड़ रहा था। उसकी त्वचा अभेद्य थी।

बदला ! प्रतिशोध-अपमान, अवहेलना, तिरस्कार, उपेक्षा, वंचना, अधिक्षेप ! कर्ण, यह और यही है तेरा जीवन ! जीवन क्या जीवित मरण है ? दस-बारह वर्ष पहले एक स्त्री के वाग्बाणों से तू स्वयं ही मृत चुका है, अब तू किसी की क्या रक्षा करेगा ? कर्ण, मत उठ ! जो कुछ हो रहा है, वह सब न्याय है। तुझपर जो अन्याय हुआ था, उसका निष्ठुर काल ने, दुःशासन और दुर्योधन की योजना द्वारा उस उन्मत्त स्त्री से उतना ही उग्र और क्रूर प्रतिशोध लिया है। कर्ण, इसी का पक्ष ले ! समर्थन कर !!!" सारथी कोड़े के प्रहार करने लगा। सूर्यशिष्य छिपने के लिए आश्रयस्थल ढूँढ़ने लगा। इधर-उधर दौड़ने लगा।

"बदला ! प्रतिशोध ! एक वीर को स्त्री से प्रतिशोध लेना क्या कभी शोभा देता है ? स्त्री के शील की रक्षा करना ही पुरुषार्थ है। कर्ण, एक पल भी व्यर्थ मत जाने दे। आज तेरा मौन तेरे धवल चरित्र पर सदा के लिए कालिख पोत देगा। उठ, आगे बढ़, दौड़ और दुःशासन के हाथ मरोड़ दे। अरे जो आपत्तियों में भी विचारनिष्ठ रहता है, वही तो सच्चा मनुष्य है।" सूर्यशिष्य ने सारी शक्ति से अन्तिम आक्रमण किया।

"नहीं ! इस सभागृह में पितामह भीष्म, द्रोण, विदुर, अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि सभी तो बैठे हुए हैं, फिर तू ही क्यों उठ रहा है ? तू फिर विष की परीक्षा लेना चाहता है क्या ? दुर्योधन ने यदि उत्तेजित होकर सारी सभा में 'सूतपुत्र, तू क्यों बीच में टाँग अड़ा रहा है ?' कहकर प्रातिकाम की तरह तुझे भी दुत्कार दिया तो ? अथवा जिस स्त्री पर तुझको इतना तरस आ रहा है, उस स्त्री ने ही 'सूतपुत्र का संरक्षण मैं नहीं चाहती !' यदि कह दिया तो ? उस एक ही शब्द से तुझको ऐसी पीड़ा होगी जो हृदय में सौ बाण लगने पर भी नहीं होती। इसलिए कर्ण, मत उठ। अपने स्थान से टस से मस मत हो।" अन्त में सारथी ही विजयी हुआ। हाथ में लगी वल्गाएँ उन्मत्त होकर अवकाश में फेंककर वह आनन्द से अर्घ्य देते हुए सूर्यशिष्य पर निरन्तर कोड़े बरसाने लगा। खाड़ऽऽ खाड़ऽऽ खाड़ !

उफनता हुआ जल प्रवाह जैसे नौका को धकेलता है वैसे ही दुःशासन द्रौपदी को दुर्योधन के आसन की ओर धकेलता हुआ ले जाने लगा। उसकी अनावृत जंघा पर बैठाने के लिए।

"ठहरो दुःशासन, अन्धे पिता के पुत्र अन्धे नहीं होते हैं, बल्कि वे इतनी समर्थ आँखोंवाले होते हैं कि जगत् जिसे कभी नहीं देख सकता, उसे भी वे देख सकते हैं, यह बात इस दासी को अभी दिखा दे। उसकी देह पर सारे वस्त्र उतार दे और उसको विवस्त्र कर मेरी इस जंघा पर बैठा दे।" लुहार के घन मारते ही जैसे तप्त लोहे की हाल से चारों ओर चिनगारियाँ उड़ने लगती हैं, वैसे ही दुर्योधन के मुख से शब्दों की चिनगारियाँ पर चिनगारियाँ उड़ने लगीं। सभी ऋषियों ने कानों पर हाथ रख लिये। आँखें बन्द कर लीं।

"दुर्योधनऽऽ !" राजमाता गान्धारी देवी चीखीं।

"दुर्योधन, नीच ।" गदा उठाकर होठ चबाता हुआ भीम उसके आसन की ओर दौड़ा। विक्षुब्ध शार्दूल की तरह ।

"पीछे लौटो भीम ।" सिर ऊपर न उठाकर, अपने स्थान से तिल-भर भी न हिलते हुए युधिष्ठिर ने उसको पुनः पीछे लौटा दिया। केवल शब्दों से। पैर के अंगूठे की ओर देखते हुए।

जैसे उद्दीप्त वडवानल बढ़ता है वैसे ही प्रतिक्षण दुःशासन द्रौपदी की ओर बढ़ने लगा। द्रौपदी के दायें हाथ की कलाई उसने बायें हाथ से ऐसे कसकर पकड़ ली जैसे खड्ग की मूठ पकड़ी जाती है। हाथ छुड़ाने के लिए पैर पटककर ज़ोर से चीखती हुई वह छटपटाने लगी। कितनी असहाय ! कितनी विवश ! छूटने के प्रयत्न में, केवल एक पुष्पमाला से ही एकत्र बँधे हुए उसके घने धुंधराले भुंगवी केश, माला टूट जाने से मुक्त होकर बिखर गये । उनको देखते ही मेरी आँखों के आगे घनीभूत अन्धकार के अनगिनत वलय खड़े हो गये। मैं कहाँ हूँ ? सामने क्या हो रहा है ? अपमान ! अत्याचार ! अन्याय ! क्या यह कुरुओं की राजसभा है या कामुकों, मदोन्मत्तों एवं बुद्धिहीनों की अन्तःपुरी है ? आह, क्यों आया मैं इस हस्तिनापुर में ? एक सारथी के रूप में चम्पानगरी में ही पलता रहता तो क्या बिगड़ जाता ! कहाँ जा रहा हूँ मैं ? अन्धकार की, अधःपतन की भीषण खाई की ओर ! किसने मुझको राजा बनाया ? दुर्योधन ने ? हस्तिनापुर के लोगों ने ? या अज्ञात नियति ने ? "कर्ण, फेंक दे वह मुकुट और चलता बन हस्तिनापुर से... चम्पानगरी की ओर ।" कोई गला फाड़-फाड़कर मेरे भीतर चिल्ला रहा था। परन्तु...परन्तु मैं मुकुट फेंक नहीं सका। कितनी ही तीव्र इच्छा क्यों न हो, लेकिन जीवन को कोई कभी पीछे नहीं लौटा सकता। उससे पलायन भी नहीं किया जा सकता। वह तो जैसा दिखाई दे, वैसा देखना पड़ता है। जैसा होता है, वैसा ही जीना पड़ता है।

दुःशासन ने एकदम पांचाली के अंशुक की चुनट पर हाथ डाला। बौखलायी हुई नागिन की तरह पलटकर द्रौपदी ने उसके सशक्त हाथ को किटकिटाकर काट लिया। तड़पकर उसने दोनों हाथ झिड़के। आकाश से जैसे बिजली छूटती है, वैसे ही वह उसके हाथ से गरजती हुई छूट चली। वह सभागृह में चक्कर काटने लगी। छपपटाने लगी। हाथों से छाती पीटती हुई चीखने लगी।

जलती मशाल-जैसी दिखाई देनेवाली वह श्यामला चक्राकार घूमने लगी। व्याकुल होकर झंझावात-जैसा दुःशासन उस मशाल के पीछे-पीछे सतत दौड़ने लगा। मशाल की ज्योति और भड़की। दौड़-दौड़कर थकित पांचाली अन्त में पितामह के आसन के सामने सीढ़ी पर खड़ी-खड़ी ही धड़ाम से नीचे गिर पड़ी जैसे आँधी में असहाय कदली-वृक्ष गिर पड़ता है। शोर करती हुई आँधी के साथ जैसे गवाक्ष का किवाड़ दीवार पर धड़ाधड़ टकराता है, वैसे ही वह अपना मस्तक पत्थर की सीढ़ी पर निरन्तर धड़ाधड़ पटकने लगी। उसके मस्तक पर लगा सौभाग्य कुंकुम पुँछ गया। उसी में मस्तक से छूटी रक्त की पिचकारी की कुछ बूंदें उसमें मिल गयीं। स्नान के समय उसके घने केशों में संचित जलबिन्दु प्रत्येक आघात के साथ छिटककर सामने पाषाण की सीढ़ी पर पड़े रक्त में मिल गये।

असह्य भाव से मैंने आँखें बन्द कर लीं। लेकिन आँखें बन्द करने से क्या सत्य कभी छिप सकता है ? मेरी बन्द-जाग्रत आँखों के आगे भी दो रक्तबिन्दु और दो अश्रुबिन्दु खड़े हो गये। क्षण-भर वे थरथराये और फिर दूसरे ही क्षण उनके रक्त और अश्रु का प्रवाह बहने लगा। क्रमशः विशालतर होते हुए उन प्रवाहों की दो प्रचण्ड महानदियाँ तैयार हो गयीं। गंगा से न जाने कितनी विशाल ! यमुना की अपेक्षा न जाने कितनी अधिक विस्तीर्ण ! गरजती हुई उनकी प्रचण्ड लहरें आपस में मिल गयीं। रक्त और अश्रु की लहरें। मिली हुई, उफनती हुई, गरजती हुई। उस भयंकर मिश्रण के बीभत्स प्रवाह में अनेक योद्धाओं के सिर-कमल तृण-पात की तरह बहते जाते देखकर मेरा मन विषण्ण हो गया। विषण्ण हो गया परन्तु भय से थरथराया नहीं।

"पितामह SS ।"

चीख की आर्तता से चौंककर मैंने आँखें खोलीं। लाजाओं की तरह शब्द खिल रहे थे। "मैं महाराज पाण्डु की स्नुषा आपकी कन्या ही हूँ। पितामह उठिए। इस चाण्डाल के हाथ उखाड़ फेंकिए। आँचल पसारकर मैं भीख माँगती हूँ। कुरुओं की इस प्राचीन राजसभा में मेरे शील का व्यापार मत होने दीजिए। उठिए, कुरुओं के कुल की स्त्रियों की लज्जा-रक्षण की परम्परा इस मदान्ध नीच को खड़्ग द्वारा दिखा दीजिए।"

परन्तु....

परन्तु पितामह भीष्म का मस्तक डण्ठल से टूटे हुए कमल की तरह झुका ही रहा । मैंने समझा था कि मेरे लिए अखाड़े में गूँजनेवाले धनुष्टंकार-जैसा उनका तीव्र स्वर पुनः राजसभा में गूँजेगा, परन्तु वह गूँजा नहीं।

पितामह भीष्म ! कुरुकुल का मेरुदण्ड ! ऋषिवर्य वशिष्ठ का अधीतवेद शिष्य। बृहस्पति और शुक्राचार्य से शास्त्राध्ययन करनेवाला पराक्रमी क्षत्रिय। च्यवन, भार्गव और मार्कण्डेय से धर्म का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करनेवाला धर्मज्ञ ! शान्तनु महाराज का साक्षात् गंगापुत्र । काशिराज और उग्रायुध के दाँत खट्टे कर देनेवाला वीर । जिनसे धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की

उन्हीं जमदग्निपुत्र परशुराम को धनुयुद्ध में पराजित कर 'सत् शिष्य गुरु से कुछ न कुछ श्रेष्ठ ही होता है' सिद्ध करनेवाला विख्यात धनुर्धारी । आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला तेज का ज्वलित पुंज । परन्तु....

वह भीष्म भी सिर झुकाकर चुप था।

जीवन-चरित्र में यह पहली ही पराजय उस ज्येष्ठ वृद्ध ने क्यों स्वीकार की ? क्या अहंमन्य सामर्थ्यवान् पुरुषों की भी लज्जा लूटने के लिए कुशल नियति कुछ घटनाओं का आयोजन किया करती है ?

पितामह को स्तब्ध देखकर द्रौपदी की आँखें फटी रह गयीं। हाथों से छाती पीटती हुई वह चिल्लायी, "महाराज \$\$\$!" उसका आक्रोश सभागृह की छत को भेदकर कहीं आकाश को हिला न दे-मुझको ऐसा ही लगा। कानों के रन्ध्र रन्ध्र में बिजलियाँ कड़कने लगीं "कर्ण, उठ ! उठ कर्ण ! घण्टों तक अर्घ्यदान करनेवाले सूर्यशिष्य, उठ। अन्धकार के इस साम्राज्य को जला दे। अरे, बदला और प्रतिशोध तो चंचल मन की क्षुद्र कल्पनाएँ हैं। अवरुद्ध भावनाओं की खदबदाती दलदल होती है वह । दलदल में फंसे हुए हाथी की तरह तू भी आज हाथ पर हाथ धरे बैठा रहेगा क्या ? आँखों के आनन से तेज का रस घण्टों तक प्रतिदिन प्राशन करनेवाले कर्ण, आज का क्षण-प्रतिक्षण तेरे और इन सबके भवितव्य की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान् है। उठ, तेरे एक ही शब्द से सभागृह का स्वरूप तेरे विचारानुसार बदल जायेगा।"

"महाराज \$\$\$ अपने अविचारी, अत्याचारी पुत्र को रोकिए ! राजमाता \$\$\$ मेरी लज्जा रखिए। मैं दासी बनकर कुरुओं की इस राजसभा को प्रतिदिन झाड़ने को तैयार हूँ, आपके राजवस्त्र धोने को तैयार हूँ, केशभूषा करने को तैयार हूँ।" अपने हाथ महाराज के सामने सीढ़ी पर पटककर "महाराज \$\$! महारानी \$\$! कहकर वह विलाप करने लगी। उसकी कलाइयों के सुवर्ण कंकण आघात लगने से पिचक गये। परन्तु....परन्तु राजदण्ड उठाया नहीं गया।

बाज़ की तरह झपटकर दुःशासन ने उसके मुक्त केशों की लटें मुट्ठी में पकड़ लीं। कोलाहल करते हुए गिरनेवाले प्रपात की तरह ठहाका लगाकर हँसता हुआ वह बोला, "ए दासी, किसको चाण्डाल और नीच कहती है ? मुझको ?" हाथ में पकड़े हुए केशों को उसने तीव्र झटका दिया। लता को झटका लगते ही जैसे उसपर के फूल हिल उठते हैं, वैसे ही उसका सिर हिल उठा। उसके सिर का झटका कसक बनकर सीधा मेरी पीठ में कहीं गम्भीरता से उभर आया । "अपने इन नपुंसक पतियों को चाण्डाल कह ।" दुःशासन ठठाकर हँसता ही जा रहा था ।

ये सब घटनाएँ देखकर मेरा सम्पूर्ण शरीर घृणा से रोमांचित हो उठा। लेकिन केवल क्षण-भर ही। उस दिन की गर्वोन्नत ग्रीवा यही थी। बारम्बार तिरस्कार से झटका देनेवाली।

यही...यही वह आत्माभिमानिनी स्त्री थी—पांचाली।

स्त्री महान् शिव का मनोहर रूप है, यह कहनेवाले भावुक हृदयों ने यह सोचा भी न होगा कि स्त्री समय आने पर प्रचण्ड विनाश का, कुरूप विध्वंस का एकमात्र कारण भी बन सकती है। एकमेव कारण।

दुःशासन द्वारा केश पकड़ लेने पर वह उसी स्थिति में सभागृह के सभी सभासदों को पुकार-पुकारकर कहने लगी। दुःशासन उसके पीछे-पीछे घिसटता चला आ रहा था। वह कह रही थी, “आचार्य ऽऽऽ, गुरुदेव द्रोण ऽऽऽ, कृपाचार्य ऽऽऽ, गुरुपुत्र अश्वत्थामन् ऽऽऽ, आर्य अमात्य ऽऽऽ....आप सब चुप क्यों हैं ? कोई तो उठो। अरे कोई तो उठो !”

उसके एक-एक स्वर में हृदय विदीर्ण कर देनेवाली आर्तता थी। परन्तु मुझपर उसका बिलकुल भी प्रभाव नहीं पड़ रहा था। क्यों पड़ता ? मेरा हृदय ही लोहे-जैसा कठिन हो गया था। देह पर जो कवच था, उससे भी अधिक अभेद्य। किसी के आक्रोश से द्रवित होने योग्य उसमें कुछ था ही नहीं अब ! क्यों हो? कैसे हो ?

छाती पीटती हुई, हाथ फैलाकर आक्रोश करती हुई वह प्रत्येक के आसन के सामने से होकर आगे सरकने लगी, “हस्तिनापुर के श्रेष्ठ पुरुषो ! समरांगण में चमकनेवाले वीर योद्धाओ ! कुरुओं के मानबिन्दुओ ! मैं असहाय अबला पांचाली आज आँचल पसारती हूँ, मुझको अपनी समर्थ भुजाओं का अभय दो। उठो। इस अभागिनी भगिनी को इन दुष्टों के हाथ से मुक्त करो। स्त्री की कोख से जन्म लेनेवाले शक्तिशाली पुरुषो! एक स्त्री का विलाप आपके पुरुषार्थ को क्या जाग्रत नहीं कर रहा है ?”

एक के बाद एक आसन पीछे छोड़ती हुई वह मेरी ओर आने लगी। आँसू की बूंदें, बोलते समय हिलनेवाले उसके मुख पर से फिसलती हुई कंचुकी में लीन हो रही थीं। एक क्षण-अब एक क्षण बाद ही वह मेरे सामने आकर खड़ी हो जायेगी और हाथ पसारकर व्याकुल होकर कहेगी, “अंगराज, यह अभागिन अबला आपके अजेय अभेद्य कवच की ओट में ही अपना मुख छिपा सके, इतना स्थान है क्या ? अत्याचार की इस लौहभित्ति को आपका अभेद्य कवच भी क्या आज भेद सकेगा ? अंगराज कर्ण, पांचाली की पवित्रता की रक्षा क्या आप भी नहीं कर सकेंगे ?”

बस ! मित्र-द्रोह ठहरे या प्राण जायें, परन्तु अपने सामने हाथ फैलाकर खड़ी होनेवाली पांचाली के पवित्र आवरण को स्पर्श करनेवाले निर्दय, निष्ठुर हाथ को खड़्ग के ही झटके से काट डालूँगा। केवल एक क्षण बाद ही कर्ण कुरुओं के सभागृह का सदस्य नहीं रहेगा। दुर्योधन के प्राणों के लिए प्राण देनेवाला मित्र, उसका मित्र नहीं रहेगा। सिर झुकाकर मौन भाव से अन्याय का समर्थन करनेवाला विवश आश्रित नहीं रहेगा वह। अपमान के अग्निकुण्ड में एकाकीपन से दग्ध होनेवाला पराधीन सारथी नहीं रहेगा। प्रतिशोध के लिए

तड़पनेवाला साधारण कीट नहीं रहेगा। केवल एक क्षण बाद ही अपने आश्रय में आनेवाली एक स्त्री की रक्षा करनेवाला वह एक सूर्यशिष्य होगा। एक सत्यपुरुष होगा।

मैंने अपने मन के सभी धागे दृढ़ता एकत्र किये। उन धागों में सूतपुत्र कर्ण, कुरुओं का योद्धा कर्ण, अपमानित कर्ण, प्रतिशोध से धधकता कर्ण-इन सभी को एक जगह कसकर बाँध दिया और मैंने उनको सीधे शरीर के एक कोने में फेंक दिया। किरणों के असंख्य घोड़े दौड़ाता हुआ मेरे अन्तस् का सूर्यशिष्य कर्ण खड़ा हो गया, हर अवसर का सामना करने के लिए। एक क्षण बाद जो नाटक होगा वह सचमुच ही सबको प्रचण्ड आघात देनेवाला सिद्ध होगा। विरोध के लिए कुरुओं की पूरी सभा भी यदि अब खड़ी हो जाती, तो भी किसी का भी हाथ कर्ण के पीछे खड़ी हुई पांचाली पर नहीं पड़ सकता था। उसमें स्त्री-दया का खोखला अभिमान नहीं रहेगा। पाण्डवों के प्रति दया की प्रतीति अब नहीं रहेगी। अपने पौरुष के प्रदर्शन का तो उसमें नाम भी नहीं होगा। वह तो आश्रयार्थी को दिया गया केवल एक अभयदान रहेगा। केवल अभयदान । “कर्ण, मेरी लज्जा रखो ।” कहकर हस्तिनापुर की कोई भी साधारण स्त्री यदि त्रस्त होकर मेरी ओर दौड़ती आती तो हर समय और हर अवसर पर मैं उसको यही दान देता। फिर यह तो पांचाली थी। अपना जीवनदान करके भी मैं उसकी रक्षा करता।

एक हाथ फैलाकर दूसरे हाथ से दुःशासन को ढकेलती हुई वह एक के बाद एक आसन के सम्मुख आक्रोश करती हुई आगे सरकने लगी। प्रलय की महानदी में जैसे कोई देवदारु वृक्ष लुढ़कता हुआ चला आता है, वैसे ही दुःशासन उसकी विपुल केशराशि की पिण्डलियों तक लम्बी लटों के साथ लुढ़कता हुआ खिंचा चला आ रहा था। वह एक स्त्री थी, लेकिन दुःशासन-जैसा द्वन्द्व योद्धा भी उसे जरा भी वश में नहीं कर पा रहा था। यह दुःशासन के पौरुष को ज्वलन्त चुनौती थी जिसे वह सह न सका । चिढ़कर बौखलाया हुआ दुःशासन उसकी लटों को अपने कण्ठ के चारों ओर लपेटकर द्रौपदी की गरदन को बारम्बार झटके देने लगा। वह उसे आहत करने का क्रूर प्रयत्न कर रहा था। सभागृह में द्रौपदी के अतिरिक्त शायद उसे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। सुनाई भी नहीं पड़ रहा था ।

ऊर्णनाभ, चित्रचाप, दृढ़वर्मन्, निषंगिन्, महाबाहु, विशालाक्ष, चित्रवर्मन्, सोमकीर्ति आदि प्रत्येक के सम्मुख विलाप करती हुई वह उनके वीरत्व को पुकार रही थी। दयनीय-अतिशय दयनीय मुद्रा में वह क्रन्दन कर रही थी। जैसे आँधी में घने जंगल में कोई गाय रास्ता भूल गयी हो। कोई भी उठकर खड़ा नहीं हो रहा था।

मेरी दायीं ओर बैठे हुए युवराज पद्मनाभ को उसने व्याकुल स्वर में पुकारा, “युवराज SSS पद्मनाभन् !” अखाड़े में सहस्रों मुखों ने अर्जुन का और मेरा जो जयजयकार किया था, वह भी उतना तीव्र नहीं था, जितना तीव्र उस अकेली अबला का आक्रोश । परन्तु....पद्मनाभ ने सिर नहीं उठाया ।

अगले ही क्षण वह डबडबायी आँखों से मेरे आसन के सामने आकर खड़ी हो गयी। मेरे जीवन में ऐसे अनेक अविस्मरणीय क्षण थे जिन्होंने मेरे जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया था। उन क्षणों से ही मेरा सारा जीवन रेखांकित था। उन सभी क्षणों में यह क्षण ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। महान् था। अचानक मेरे कुण्डल सरसराने लगे। वह मेरे सम्मुख दयनीय अवस्था में खड़ी थी इसलिए नहीं। एक आवेश में वह मुझे पुकारनेवाली थी और फिर क्या होना था, यह मैं स्वयं ही नहीं कह सकता था। आसन छोड़कर सीधा मध्यस्थान पर झपटनेवाला था मैं।

क्षण भर के लिए ही उसने मेरी ओर देखा । आत्मोन्नत क्षत्राणी का सदा विद्यमान रहनेवाला सीधा-सादा भाव भी उसकी आँखों में नहीं था-मुझको ऐसा लगा-परन्तु केवल क्षण-भर के लिए ही। आसन से उठता हुआ कमर में लटकते खड्ग मूठ मैं तनकर खड़ा हो गया। अब उसके होंठों से उसका एक ही शब्द बाहर आनेवाला था, “अंगराज SS !” और दूसरे ही क्षण मैं दुःशासन से उसी प्रकार जूझने को तत्पर हो चुका था, जैसे जरासन्ध से जूझा था। मुझको खड़ा होते देखकर पितामह, अमात्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, गुरु द्रोण सबने आश्चर्य से अपने सिर उठा लिये। सारंग पक्षियों के झुण्ड-जैसे मेरे शरीर के रक्तकण उछल रहे थे। ग्रीष्म में गंगातट पर तप्त हो जानेवाले पाषाण की तरह मेरा शरीर अतिशय सन्तप्त हो गया था। कानों में शंखनाद-जैसी अज्ञात सीटी गूँज रही थी। मैंने अपने कान उस एक शब्द की ओर लगा दिये । परन्तु परन्तु एक शब्द का भी उच्चारण न कर वह सिर झुकाकर जैसी की तैसी आगे बढ़ गयी। चुपचाप । भीतर ही भीतर सिसकती हुई। न जाने क्यों ? मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सिर पर सहस्रों बिजलियाँ टूट पड़ी हों। वह आगे क्यों बढ़ गयी? किस भावना से ? क्या यह सोचकर कि एक क्षत्राणी एक सूतपुत्र के आगे दीनता से अपना हाथ क्यों फैलाये ? फिर मस्तक की बामी में असंख्य प्रश्नों के भुजंगों ने फन खड़े कर लिये । तूफानी घोड़े की तरह विचार दौड़ने लगे। उनकी टापों के नीचे संयम, विवेक, उदारता, सहृदयता आदि संसार के सर्वश्रेष्ठ सद्गुणों के रक्त से लथपथ शरीर गतप्राण होने तक तड़पने लगे। इच्छा हुई कि दोनों कानों पर हाथ रखकर गला फाड़कर चिल्लाकर उससे कह दूँ, इतनी जोर से कि उस आवाज से देह पर का जनेद्य कवच भी तड़क जाये कि “मैं सूतपुत्र नहीं हूँ। मैं अंगराज हूँ।” हाथ में खड्ग की मूठ थरथराने लगी। खड़ा रहना असम्भव होने लगा। मैं खड़ा-खड़ा ही आसन पर गिर पड़ा। मन, शरीर, चेतना सबके सब बधिर, सुन्न हो गये थे। जिस योद्धा के शरीर पर अभेद्य कवच दिया, उसके मन पर भी अभेद्य कवच देना नियति क्यों भूल जाती है ?

अपने स्वयंवर में उचित अनुचित सब कुछ कहकर उसने मेरे स्वाभिमानी मन के चिथड़े चिथड़े कर दिये थे और आज....और आज कुछ न कहकर उसने ठोकर के एक ही आघात से उन चिथड़ों को धूल में फेंक दिया था। देह पर अतलसी राजवस्त्र और सिर पर मुकुट से

सुशोभित सभागृह में बैठा हुआ कर्ण, उसको एक वृषभ की अपेक्षा अधिक और क्या बिलकुल ही नहीं लगा ? साधारण से साधारण युवराज के सामने फैलाये गये हाथ को अंगराज कर्ण के सामने फैलाने में उसका अपमान हो रहा था ? या क्या वह यही बताना चाहती थी कि प्रातिकाम और कर्ण में कोई भेद नहीं है ? अरण्य में दावानल फैलने पर जैसे हाथियों के झुण्ड के झुण्ड चिंऽऽ चिंऽऽ करते हुए एक-दूसरे को घिस्सा देते हुए अन्धाधुन्ध दौड़ते हैं, वैसे ही असंख्य विचार मेरे मस्तिष्क में दौड़ने लगे। विचार और शंकाओं के निरन्तर प्रहार से मस्तक का कुंभ कहीं तड़क न जाये, यह सोचकर मैंने उसको दोनों हाथों में कस लिया।

ठुकरायी गयी, हाँफती हुई, विस्रस्तकुन्तला उस दासी को सभी आसनों के सामने से दुःशासन पूरी शक्ति लगाकर सभागृह के मध्यभाग में ले आया। दासी ! हाँ, दासी ही। सभी कुरु युवराजों के लिए वह दासी थी। द्यूत ने यह निश्चित कर दिया था। परन्तु मेरे लिए वह दासी से भी अधिक हीन थी। जीवन के सत्यों ने यह निश्चित कर दिया था।

वह घोर क्रन्दन करती हुई समस्त सभागृह को और अपने पतियों को चुन-चुनकर दोष दे रही थी। दुःशासन का हाथ चुनटों पर न पड़ जाये इसलिए कमर से झुककर शरीर को गठरी-सी बना रही थी। उसके मर्मभेदी शब्दों को सुनकर किस-किसको क्या-क्या लगा, यह तो मैं नहीं जानता परन्तु मेरा मन यत्किंचित् भी द्रवित नहीं हुआ। और क्यों द्रवित हो ? सूतों के कान नहीं होते और मन तो होता ही नहीं। हो भी तो पत्थर का होता है ! धूल में पड़ा हुआ ! जो चाहे वही उसको ठुकरा सकता है।

एक ही स्थान पर चक्कर काटती हुई अन्तिम प्रयत्न करती हुई वह जो मन में आ रहा था, वही कह रही थी। कड़कड़ाती बिजली-जैसी, “कहो, कुरुओं की इस प्राचीन राजसभा में सिंह की-सी छाती का एक भी सत्यप्रिय वीर पुरुष क्या कोई है आज ? जिस सभा में वृद्ध न हों वह सभा नहीं, जिन वृद्धों में अधर्म का प्रतिकार करनेवाला धर्म न हो वे वृद्ध नहीं और जिस धर्म में सत्यासत्य का विवेक नहीं रहा वह धर्म नहीं। बताये, कोई भी बताये। जिस पति ने अपने को दावँ पर लगाकर अपना जीवन दूसरे को सौंप दिया हो, उसको अपने बाद पत्नी को दावँ पर लगाने का अधिकार ही क्या था ? धर्मराज, धर्मराज कहे जानेवाले मेरे पति भी धर्म के अनुसार ही सबको समझा दें कि अपने बाद मुझको दावँ पर लगाने का अधिकार उनको किस धर्म ने दिया था।

"स्त्रियों को सम्मान केन्द्र मानकर, उनके शील की रक्षा के लिए, रक्त की नदियाँ बहा देनेवाले किसी न किसी नरशार्दूल द्वारा विभूषित आसन पर आपमें से प्रत्येक व्यक्ति बैठा हुआ है। इन निर्जीव आसनों का एक-एक टुकड़ा आपसे यही कहेगा कि स्त्रियों का शील द्यूत की गोट नहीं होता, जिसको कि द्यूत के पट में लपेट दिया जाये। जब चाहे हाथ में लेकर फेंक दिया जाये; ऐसी पासे की कौड़ी नहीं होता। स्त्री का अपमान करनेवाला हाथ

समाज और राज्य को विनाश के गर्त में ही डाल देगा। आपमें से प्रत्येक का जन्म एक स्त्री की वत्सल कुक्षि से ही हुआ है, यह भी याद है क्या आज आपको ? कहो, अपनी माता के स्तन्य के कणों को अपने होंठों पर स्पष्ट स्मरण करनेवाला एक भी सुपुत्र आज इस सभा में जीवित है क्या ?"

क्षण-भर के लिए चारों ओर श्मशान-शान्ति छा गयी। दुःशासन की मुट्ठी ढीली पड़ गयी।

शान्त जलाशय में जैसे कोई खवल मछली झुण्ड से अलग होकर उछलकर जल के पृष्ठभाग पर आ जाये, वैसे ही दुर्योधन का भाई विकर्ण उठा। हाथ उठाकर अपने से बड़े दुःशासन को अधिकारपूर्ण स्वर में बोला, "दुःशासन, पांचाली के शरीर को स्पर्श मत कर। सभी जन याद रखें कि महारानी तपती, नलिनी, भूमिनी, सुदक्षिणा, विरजा, देवयानी, गंगा और सत्यवती द्वारा सुशोभित की गयी राजसभा है यह। यहाँ राजस्त्री पर अन्याय करने का अर्थ है मन्दिर में साक्षात् देवता की प्रतिमा को पैरोंतले रौंदना। जो पति स्वयं को द्यूत में हार चुका हो, उसको अपनी पत्नी को दावें पर लगाने का कोई भी अधिकार नहीं है। अन्याय के सहारे चलनेवाली राजव्यवस्था समाज या धर्म विश्व के प्रवाह में टिक नहीं सकती ! अन्धे और मूर्ख सभासदों, एक रजस्वला एकवस्त्रा स्त्री पर वीरों की सभा में यह सरासर अन्याय किया जा रहा है। आप लोग महाराज आयु, नहुष, ययाति, पुरु, हस्ति, अजमीठ, संवरण, कुरु, जह्नु, प्रतीप और शान्तनु के वंशज हैं, क्या यह बात एक को भी याद रही है ? बताओ, अपने किसी पूर्वज के कार्यकाल में इतना घृण्य दिवस क्या इस सभागृह ने कभी देखा था जिस सभागृह में दिग्विजय और अश्वमेध के घोड़े भेजने पर, हिमालय को बाँधनेवाले विचार-विमर्श किये गये उसी सभागृह में आज एक अबला की लज्जा की रक्षा के लिए सिसकियाँ गूँज रही हैं। और वह भी कुरुकुल की ही एक स्नुषा की ! धन्य है उन कुरुओं का यह राजसिंहासन और धन्य हैं ये योद्धा !

"छोटा होकर भी वृद्ध कहे जानेवाले ज्येष्ठों से मैं स्पष्ट पूछता हूँ कि समरांगण में चमकनेवाले उनके खड्गों में आज क्या जंग लग गयी है ? पितामह, महाराज, आचार्य, गुरुदेव, अमात्य, कृपाचार्य और सबको धर्मज्ञान देनेवाले तपस्वी, ब्रह्मज्ञ ऋषिजन आज प्रेतवत् चुप क्यों बैठे हैं, मानो गाज गिर गयी हो। मैं युवराज विकर्ण कहता हूँ कि एक पतिव्रता का क्रन्दन, विलाप और सिसकियाँ-इनका रौद्रभैरव संगीत लेकर बहनेवाले ये धधकते आँसू गंगा की भयंकर बाढ़ का रूप धारण कर जब गरजते हुए आयेंगे तब यहाँ के जिन आसनों की अभिलाषा से तुम सब मौन धारण किये बैठे हो, उनमें से एक भी आसन अपने स्थान पर टिका न रह सकेगा। पतिव्रता पर अन्याय का अर्थ है-पतिव्रता पर अन्याय ! पतिव्रता का अपमान अर्थात् पुरुषार्थ का अन्त ?" सभा के सदस्यों को घूरकर देखता हुआ वह मृगनक्षत्र की मूसलाधार वर्षा की तरह शब्दों की धाराएँ बरसाने लगा।

समस्त राजसभा में वह अकेला ही उठा, यह सोचकर उसके प्रति मुझको अभिमान हुआ। लेकिन वह केवल क्षण-भर के लिए ही। उसकी शिष्टता सत्य पर आधारित थी क्या ? वह किसको पतिव्रता कह रहा था ? उसने जिन तपती, वीरजा, सुदक्षिणा, देवयानी आदि विख्यात महारानियों का उल्लेख किया था, उनके चरणों में भी बैठने की योग्यता क्या इस पांचाली में थी जिसने समाज संरक्षण की सभी रूढ़ियाँ ताक में रखकर एक ही देह से पाँच पतियों के साथ रमण किया था। इनमें से किस महारानी ने एक से अधिक पति चुनकर पातिव्रत का महान् आदर्श हस्तिनापुर में प्रस्तुत किया था ? अपने स्वजनों की शारीरिक कमी पर खिलखिलाकर निर्दयतापूर्वक व्यंग्य उन्होंने कभी किया था ? कुल की ध्वजा हाथ में उठाये हर समय 'हीन-हीन' कहकर इसकी तरह उन्होंने किस वीर को ठुकराया था ? पांचाली पतिव्रता नहीं है। वह वारांगना है—कुलटा है—कलंकिनी है ! जैसे विषैला भुजंग फुफकार उठता हो वैसे ही मेरे भीतर का सारथी बौखलाकर उठ खड़ा हुआ । 'कर्ण, ठहर ! कर्ण, ठहर !' कहनेवाले सूर्यशिष्य के मस्तक पर पैर रखकर वह तत्क्षण खड़ा हो गया और फुफकारता हुआ कहने लगा-अन्धाधुन्ध ।

"विकर्ण ss, तू तो मूर्ख है। सभागृह में पितामह, महाराज, आचार्य, अमात्य सभी तो उपस्थित हैं। वे तो कुछ कह नहीं रहे। यह जानकर भी तू गला फाड़-फाड़कर ऐसे चिल्ला रहा है जैसे धर्म की धुरी अकेले तेरे ही कन्धों पर हो। पतिव्रता, पतिव्रता कहकर तू बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर जिसका उल्लेख कर रहा है, वह कदापि पतिव्रता नहीं है। एक ही देह से पाँच पतियों से रमण करनेवाली पांचाली विलासिनी है ! कलंकिनी है ! वारांगना है ! कुलटा है ! ऐसी स्त्री पाँच की अपेक्षा एक सौ पाँच पति पसन्द करती है। दासी की इतनी लज्जा तो होती है कि वस्त्र पहने रहती है, उसमें विनम्रता होती है। लेकिन कुलटा में यह सब नहीं होता । दुःशासन, वह सभा में सवस्त्रा आयी तो क्या और विवस्त्रा आयी तो क्या, एक ही बात है। लज्जाहीन कुलटा की लज्जा का हरण ही क्या होगा ? विकर्ण, जो तुम्हें ज्ञात नहीं है, उसमें टाँग मत अड़ाओ। नीचे बैठो। दुःशासन, आज तक जो पाण्डवों की असमर्थ कटि से लटका रहा है, वह साँवला खड़्ग वस्त्र की म्यान से बाहर खींचो।"

खोंतर से किकियाते हुए बाहर निकलनेवाले तोतों के झुण्ड-जैसे शब्द मेरे मुँह से बाहर निकले । सभी दिशाओं में दौड़नेवाले, हरे वर्ण के। मैंने जी-भर कहा । मद्य पीये हुए मत्त मद्यपी की तरह। वर्षों से अवहेलना में पड़ी हुई मन की थाली में प्रतिशोध के धधकते अंगारे लेकर मैंने वह थाली द्रौपदी के उन्नत मस्तक पर उलट दी। यह था-प्रतिशोध !

प्रतिशोध मन की प्रमुख क्रिया नहीं है। वह केवल प्रतिक्रिया है। जब दो मनो के स्वाभिमान के वलय एक-दूसरे को काटने लगते हैं, तभी प्रतिक्रिया की विकर्ण रेखाएँ निर्मित होती हैं। संसार उनको प्रतिशोध कहता है। क्रूरता कहता है।

दुःशासन मानो मेरे शब्दों की ही प्रतीक्षा कर रहा था। केले के मध्यभाग पर से जैसे उसकी पपड़ी अलग की जाती है, वैसे ही द्रौपदी के अंशुक को हाथ से पकड़कर दुःशासन ने उसका आँचल खींच लिया। छाती पर कंचुकी पर हाथ रखकर वह चीख उठी, “अच्युत, मिलिन्द, माधव, केशव, गोपाल, गुडाकेश, घनश्यामऽऽ दौड़ो ! श्रीकृष्ण ऽऽ, मधुसूदन, धरती बनकर बीच से फटकर इस अभागिन पांचाली को अब उदरस्थ कर लो। यज्ञकुण्ड की अग्नि बन जाओ और इस याज्ञसेना को उसमें दग्ध करके उसके जीवनयज्ञ की समाप्ति की तप्त राख इन अन्धे अधर्मों के मुँह पर पोत दो। मेरे इन असहाय अश्रुओं की यमुना की महाबाढ़ में इन कामुकों के मदान्ध मस्तक तबतक डुबो रखो जबतक इनके प्राण न निकल जायें। मेरी इन उष्ण श्वासों से कुरुकुल के सघन अरण्य में छिपे हुए इन विषैले भुजंगों को भस्म कर दो। कंस का वध करनेवाले केशव, शिशुपाल का कण्ठनाल छेदनेवाले श्रीकृष्ण, गोवर्धन उठानेवाले गोपाल, शतधन्वा का शिरच्छेद करनेवाले श्यामसुन्दर, विदूरथ को विदेह करनेवाले वासुदेव, दन्तवक्र को दग्ध करनेवाले द्वारकाधीश, नरकासुर को नष्ट करनेवाले नन्दकिशोर, बाणासुर के बाहुओं को तोड़नेवाले ब्रह्माण्डनायक, पौण्ड्रक को छठी का दूध याद दिलानेवाले पुरुषोत्तम, शाल्वसहित शृगाल का अन्त करनेवाले शशिकिशोर, दौड़ो ऽऽऽ !! त्रैलोक्य को समा लेनेवाली अपनी मुरलिका के रिक्त अन्तस् में इस दीन, एकाकी, असहाय अबला, अनाथ पांचाली को भी समा लो ! सुदर्शन की सर्वसंहारक शक्तिमान् शलाकाओं से सभा के इन स्तब्ध शिष्टजनों के सिर आज उड़ा डालो ! कृष्ण ऽऽ, अरे तुममें आज अपनी यशोदा-देवकी के मातृत्व के प्रति आस्था रह गयी है या नहीं ? मातृत्व के महत् मंगल-मन्दिर के महाद्वार पर मस्तक झुकानेवाले अपने तेजस्वी वृष्णिकुल की लज्जा क्या तुममें है अभी ? यदि इस विश्व का विसर्जन घनघोर काले अन्धकार में ही करना चाहते हो तो आज ही सूर्य का महाद्वीप अपनी फूंक से बुझा दो और कौरवों की इस श्यामा दासी को उस अन्धकार में डुबो दो ! नहीं तो फिर दौड़ो ऽऽऽ, यमुना की गरजती हुई लहरों पर से दौड़ते आओ। कर्कश कठोर रव करते हुए झंझावात के साथ दौड़ते आओ ! आकाश की नीली छत पर से, पाताल की अनन्त रिक्तता से, दसों दिशाओं से दौड़ो ! दौड़ो ऽऽऽ!! दौड़ो ऽऽऽ !!!”

आवेग से वह वक्ष पीटने लगी।

उसके आक्रन्दन से मेरे कानों के कुण्डल क्षण-भर थरथरा उठे। पहली बार मेरा सुवर्णकुम्भ-जैसा स्वच्छ कवच रोमांचित हो उठा। आँखों के सामने काली लहरों का प्रचण्ड सागर खौलने लगा। उन पर्वततुल्य लहरों के थपेड़ों में तिनके की तरह मेरा मस्तक डोलने लगा। मेरे पैर थरथर काँपने लगे। थपेड़े बन्द नहीं हो रहे थे। उनके अविरत आघातों से मेरे कानों के कुण्डल टूटकर लहरों के साथ बहते किनारे की दलदल में पड़े हुए मुझको स्पष्ट दिखाई दिये।

समुद्री पवन-जैसे दुःशासन को उसका विलाप पक्षिणी की चिचियाहट-जैसा लगा और शायद सुनाई भी नहीं दिया। केले के वृक्ष को जड़ से उखाड़ने के लिए उतावले झंझावात की तरह वह हाथों से पकड़े हुए आँचल को एक ओर सरासर खींचने लगा। अपने मुख को दोनों हाथों से छिपाये हुए एक श्यामला स्त्री उस वस्त्र के साथ भँवर की तरह फिरने लगी। उसकी देह पर अंशुक के दो ही पर्त शेष रह गये। केवल दो ही ! और मेरा मन अपनी ही विवशता से तिलमिला उठा जैसे किसी ने उसको हिमालय के अत्युच्च शिखर से धकेल दिया हो। कोई सारे शरीर में त्रिशूल भोंक रहा था। पांचाली के स्थान पर सभागृह में वृषाली खड़ी है, इस कल्पना मात्र से ही भयंकर बिच्छू मेरे सारे शरीर में डंक मारने लगे। मूसलाधार वर्षा में धराशायी होनेवाली जीर्ण पर्णकुटी की तरह मैं लड़खड़ाकर आसन पर गिर पड़ा। ऐसा आभास हुआ जैसे पैरों में शक्ति ही न हो। क्षण-भर पहले का क्रोध, तिरस्कार, प्रतिशोध-इनकी दीवार जैसे ढह गयी। क्या कहा मैंने ? किसके लिए कहा ? किससे कहा ?

मन की गुफा में भीतर छिपने के लिए आँखें मींचकर मैं इधर-उधर दौड़ने लगा। लेकिन वृषाली मेरा पीछा नहीं छोड़ रही थी। वृषाली ! हाँ, वृषाली ही ! मेरे पीछे दौड़नेवाली वृषाली ! एकाकी, रजस्वला, सुनात वृषाली ! बिखरे हुए बालोंवाली ! क्रन्दन करनेवाली, मुख दोनों हथेलियों से ढक लेनेवाली वृषाली ! 'अंगराज, अंगराज' कहकर चीखनेवाली विवस्त्रा वृषाली ! पांचाली के स्थान पर वृषाली को देखकर मैंने तत्क्षण आँखें खोली। खुली-जाग्रत आँखों के आगे भी क्षण पांचाली और क्षण में वृषाली दिखाई देने लगी। पांचाली ! वृषाली !! विवस्त्रा पांचाली ! आह, विवस्त्रा वृषाली ! वृषाली !! आह, उसके शरीर को वस्त्र से ढक देना चाहिए ।

कन्धे पर पड़ा उत्तरीय हाथ में लेकर मैं पुनः आसन से उठा। इतने में ही जैसे विजयी सेना पराजित शत्रु के बचे-खुचे शिविरों को नष्ट करने के लिए जयघोष करती हुई घुसती चली आती है, वैसे ही मुरली के रौद्र भयानक स्वर न जाने कहाँ से सभागृह में घुस आये। उसके बाद ही सहस्रों वाद्यों की हृदय-भेदी मिश्रित ध्वनि गूँज उठी। मुझको राजसूय यज्ञ की याद आयी। क्या हो रहा था, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मानो मेरी सारी बुद्धि को काठ मार गया था। वाद्यों के स्वरों से सबके मन काँप उठे। ये आवाजें कहाँ से आ रही थीं? आकाश से ? पाताल से? या दसों दिशाओं से ? कोई कुछ नहीं समझ रहा था। छत में प्रकाश के लिए बनाये गये थाली-जैसे गोल छिद्र से एक प्रकाशपुंज सीधे भीतर आया और पांचाली के समस्त अंग पर फैल गया। उसको देखते ही मुझको सुदर्शन का स्मरण हो आया । श्रीकृष्ण की नीलवर्णी आकृति आँखों के आगे खड़ी हो गयी। क्या होगा अब ? दुःशासन का शिशुपाल ? और...और...मेरा भी ? वाद्यों के कोलाहल से सबका मन भय से काँप उठा; परन्तु दुःशासन का उन्माद और अधिक बढ़ गया। किसी की ओर ध्यान न देकर वह हाथ में पकड़े वस्त्र को इस प्रकार खींचने लगा जैसे घोड़ों की वल्गाएँ खींच रहा हो। पानी के भँवर

में पड़ी हुई सूखी लकड़ी की तरह वह वस्त्र के साथ मण्डलाकार घूमी...और समस्त सभागृह को प्रचण्ड आघात लगा। द्रौपदी के शरीर पर एक अन्य रक्तवर्णी अंशुक था, जिसकी बुनाई उसके नीलवर्णी अंशुक में गुंथी हुई थी। पराजय की भावना से दुःशासन के नेत्र आरक्त हो उठे। वाद्यों की ध्वनि क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी, फिर भी दुःशासन ने उस रक्तवर्णी अंशुक को हाथ से पकड़ लिया।

मैं कौन हूँ, पांचाली कौन है, यह कुरुओं की सभा है, यह सब भूलकर मैं उस अपूर्व, अद्भुत, गूढ़ दृश्य को चकित मूढ़-सा एकटक देखता ही रह गया। मेरे हाथ में उत्तरीय थरथराने लगा। यह क्या किया आज मैं? कहाँ चला गया मैं? क्या कह गया मैं?

सरसर ! सरसर ! खड्ग से भी अधिक चपलता से हाथ चलाते हुए दुःशासन अंशुक खींचने लगा, परन्तु जैसे गोष्ठ से अरण्य की ओर जानेवाली गायें एक दूसरे के अंग को रगड़ती हुई द्वार से बाहर निकलती हैं वैसे ही नीले, हरे, वैजनी, शुभ्र, रक्तवर्णी वस्त्र एक पर एक करके बाहर निकलने लगे। वाद्यों में तीव्रता आ जाने से अनेक लोगों कानों पर हाथ रख लिये। विक्षिप्त हाथी की तरह दुःशासन बौखला उठा था। विकर्ण को आनन्द से तालियाँ पीटते देखकर वह और अधिक झल्ला उठा। उस समय दुःशासन का विरोध करने के लिए यदि कोई आगे बढ़ता--तो ? वह किसी की बात सुनने की स्थिति में नहीं था। विरोध करनेवाले के ही वस्त्रों को वह खींचने लग जाता। दुःशासन के अविवेक के अंगारे को फूंक-फूंककर दुर्योधन ने प्रज्वलित कर दिया था। मेरे अवाच्य शब्दों के झंझावात से भड़ककर वह दावानल हो गया था। ऐसा दावानल जिसको न अब दुर्योधन बुझा सकता था, न मैं और न कुरुओं का वह राजदण्ड, कोई भी नहीं।

सभागृह में अंशुकों का ढेर लगने लगा और मेरे मन में असंख्य विचारों का। यह । क्या किया मैंने ? बचपन से कठोर नियम और कष्टसाध्य प्रयत्नों से हस्तगत की गयी चरित्र की धवल साधना एक क्षण में प्रतिशोध के काले कुण्ड में आज मैंने डुबो दी। कर्ण ! योद्धाओं द्वारा प्रशंसित कर्ण ! महान आपत्तियों को धैर्यपूर्वक कर्तृत्व में रूपान्तरित कर देनेवाला कर्ण ! प्रेम के धागों से समस्त नगरजनों के हृदय पर राज्य करनेवाला कर्ण ! एक ही क्षण में भावनाओं के राज्य का पराजित कर्ण बन गया। शिशुपाल और मैं, दुःशासन और मैं, इतना ही नहीं बल्कि कंस और मैं ! इनमें क्या कोई अन्तर नहीं है—यह सोचकर पहली बार मेरी आँखों में आँसू आ गये। राजसभा में आये मेरे जीवन के प्रथम आँसू । उनमें करुणा नहीं थी, भीति नहीं थी, याचना नहीं थी, परिणाम के भय से थरथर काँपनेवाला पश्चात्ताप भी नहीं था। प्राणपण से जीवन भर हृदय से लगाये हुए आदर्श नीतितत्त्वों को हृदय पर रखकर अंशुकों के ढेर में सूर्यशिष्य कण की काया खोजते हुए गम्भीर मन के बाँध को तोड़कर आयी हुई वेदना और यातना की वह एक तीव्र लहर थी। अश्रुबिन्दु के रूप में वह पीड़ा साकार हो उठी थी—वह भी सूतपुत्र कर्ण की आँखों में। सूर्यशिष्य के लिए सूतपुत्र की

आँखों में आँसू ! क्षण-भर के लिए ही एक विचार तैर गया—यदि मैं सूतपुत्र न होता तो ? कैसा रहा होता मेरा जीवन ? श्रीकृष्ण जैसा ? क्यों नहीं ? हो भी सकता था ! संस्कार के संघातों से साधारण असाधारण हो जाता है। इसके विपरीत कुसंस्कारों की कीचड़ में कमल पुष्प की पंखुड़ियाँ भी घृणित काई बन जाती हैं। कोई कैसा दिखाई दे, इसकी अपेक्षा कैसा होना चाहिए, इसका महत्त्व अधिक है। यदि यह सम्भव न हो सके तो कम से कम कैसा नहीं होना चाहिए' का तो निश्चित ही महत्त्व है। मैंने एक ही क्षण में ये सब मर्यादाएँ भंग कर दी थी।

मेरी आँखों के वे पहले ही अश्रुकण कुरुओं की राजसभा में निकलकर हाथ के उत्तरीय पर गिरकर विलीन हो गये। उनका पता सभागृह के किसी भी व्यक्ति को नहीं लगा। शान्त आँखों के सम्मुख पांचाली खड़ी थी। स्वेद से लथपथ थकित दुःशासन क्षण-भर रुका। सैकड़ों योजनों की यात्रा करके आये हुए घोड़े की तरह हॉफ रहा था वह। अंशुकों का ढेर उन दोनों से भी अधिक ऊँचा दिखाई दे रहा था। सभी वाद्यों की ध्वनि एकाएक रुक गयी और केवल मुरली के ही भयंकर स्वर वातावरण को चीरने लगे। पांचाली की देह पर पीतवर्णी अंशुक झिलमिला रहा था। सुवर्ण धागों से बने हुए वस्त्र-जैसा। मुझे ऐसा लगा जैसे पहले भी कभी मैंने ऐसा देखा हो। सारी शक्ति एकत्रित कर उस पीताम्बर को भी खींचने के लिए दुःशासन ने हाथ बढ़ाया। आगे के खुर उठाकर बीच में ही उछलनेवाले शुभ्र घोड़े की तरह दोनों हाथ उठाकर पितामह तड़ाक से उठकर गरजे, "दुःशासन, अब तिल-भर भी आगे मत बढ़ना। शिशुपाल की तरह एक क्षण में ही भस्म हो जायेगा। याद रख, यह पीताम्बर है।"

शरीर में शक्ति न रहने के कारण हाथ नीचे कर दुःशासन घिसटता हुआ जैसे तैसे अपने आसन के पास पहुँचा। आसन के हथ्थे पर हाथ रखकर वह कमर झुकाकर खड़ा रहा। उसके स्वेद से भरे मस्तक से दो बूंदें उसी के आसन पर टपक पड़ीं। वह खड़ा-खड़ा ही उन दोनों पर धड़ाम से गिर पड़ा। जैसे शक्ति बिलकुल ही न रही हो। आसन पर स्वेद-बिन्दु, स्वेद-बिन्दुओं पर दुःशासन। घृणा से मैंने मुख मोड़ लिया। उत्तरीय हाथ से कब का गिर चुका था। पीताम्बर के तेजस्वी वर्ण के सामने उस उत्तरीय कुछ भी नहीं था। खिन्न मन से मैं नीचे बैठ गया।

घूमते-घूमते पांचाली को चक्कर आ गये थे। हवा के झोंके से जैसे कटसरैया की कली इधर-उधर डोलती है वैसे ही वह क्षण-भर लड़खड़ायी और फिर केले के वृक्ष की तरह सामने वस्त्रों के ढेर पर अचेत होकर गिर पड़ी। विविध रंगों के वस्त्रों के उस इन्द्रधनुष में पीताम्बर धारण किये हुए वह विद्युल्लता ही थी। उसके अनावृत चरणों की धूल सिर से लगाने के लिए सभासदों में से कुछ आगे बढ़े, लेकिन इतने में ही, चारों ओर शान्ति देखकर पर्वत-शिखर छोड़कर नीचे उतरनेवाले गरुड़ की तरह, पितामह को सीढ़ियाँ पार कर द्रौपदी

की ओर ही जाते हुए देखकर सबके सब जहाँ के तहाँ ठिठक गये। द्रौपदी के पास पहुँचकर पितामह सबको लक्ष्य कर गम्भीर स्वर में बोले, “सदस्यो ! द्यूत समाप्त हो गया है—पासों का। आप लोग जा सकते हैं, लेकिन याद रखिए, अब सदा के लिए द्यूत प्रारम्भ हो गया है—घटनाओं का।” सिर झुकाकर सभी लोग सभागृह छोड़ने लगे।

अपने-अपने भवनों की ओर लौटनेवाले युवराजों में से ठीक विकर्ण के ही पैरों के नीचे मेरे हाथों से छूटकर नीचे गिरा हुआ उत्तरीय आ गया। पीताम्बर पांचाली की देह पर था लेकिन मेरा उत्तरीय था विकर्ण के पैरों तले। मेरा मन विषण्ण हो गया। मेरे उत्तरीय को रौंदते हुए विकर्ण ने, पितामह का भी ध्यान न रखते हुए, आगे बढ़कर निश्चल पड़ी हुई मूर्च्छित पांचाली की चरणधूलि सिर पर धारण की। केवल एकमात्र का विकर्ण ने।

जैसे ही सभी सभासद सभागृह से बाहर हुए, पितामह ने कमर में बंधा हुआ खड्ग म्यान से बाहर निकाला। पाषाण की अचल प्रतिमा की तरह आसन पर बैठा हुआ मैं मेंघाच्छादित गगन का सन्दिग्ध प्रातःकाल लेकर आनेवाले दिन का अर्थ जानने का प्रयत्न कर रहा था। आज का पूरा दिन आश्चर्य, सम्भ्रम, रहस्य, अयथार्थता, अधःपतन, गूढ़ता, क्रूरता तथा अविवेक के अतिरिक्त और क्या था ? परन्तु पितामह के हाथ में धारदार खड्ग देखकर विस्मय के एक और प्रचण्ड आघात से मेरा मन क्षण भर के लिए काँप गया। क्या है इनके मन में ? क्षण भर पहले आँखें दीप्त करनेवाले उस नाटक से मैं इतना स्तब्ध नहीं हुआ था, जितना कि तालवृक्ष जैसे लम्बे उस वृद्ध के हाथ में वह चमकता खड्ग देखकर स्तब्ध हुआ। क्या होगा इनके मन में ? अब और क्या देखना पड़ेगा ?

दायाँ पैर मोड़कर वीरासन की स्थिति में वे वस्त्रों के ढेर के पास नीचे बैठ गये। पीठ पर धीरे से हाथ रख 'पांचाली !' कहकर उन्होंने द्रौपदी को पुकारा। अंशुकों का ढेर हिला लेकिन वह वैसी ही निश्चेष्ट पड़ी थी। पितामह ने पीताम्बर का छोर उठाया और हाथ में लगे हुए खड्ग से पीताम्बर जुड़ा हुआ आकाश-वर्णी अंशुक सर्र से काट दिया। जिस पीताम्बर के सम्बन्ध में उन्होंने दुःशासन को गम्भीर चेतावनी दी थी कि वह हाथ भी न लगाये, उसी पीताम्बर को उन्होंने सहज ही हाथ में लेकर खड्ग से अलग कर दिया। उन्होंने यह कैसे किया ?

पितामह ने उठकर संकेत किया। दासियों ने आगे बढ़कर द्रौपदी की मूर्च्छित देह उठा ली। पाण्डव सिर झुकाये हुए खड़े थे। पितामह ने एक हाथ भीम की पीठ पर और एक अर्जुन की पीठ पर रखकर क्षण भर थपथपाया। सिर का संकेत पाकर वे पाँचों पितामह के साथ चलने लगे। पितामह के हाथ भीमार्जुन की पीठ पर ही थे। आसन से उठने की भी मेरी इच्छा नहीं हो रही थी। सामने पड़े हुए वस्त्रों के ढेर का पाषाण-पर्वत बनाकर कोई उसको मेरी छाती पर रख रहा है—इस भावना से मेरी श्वास अवरुद्ध हो रही थी। कितनी देर तक मैं इसी स्थिति में बैठा रहा, इसका मुझको भी पता न चला। सन्ध्याकाल की बीभत्स धूमिल

छाया में जब भव्य सभागृह के रिक्त आसन भयानक दिखाई देने लगे तब मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। नित्य नियमानुसार सभागृह को समझ्यों से प्रकाशित करने का ध्यान सेवकों को नहीं रहा था। लेकिन जो अन्धकार मुझे घेरे हुए था, वह उन टिमटिमाती समझ्यों से भला क्या दूर होता !

कुछ समय तक तो ऐसा लगता रहा मानो मैं नींद से जागा हूँ। खिन्न मन से उठकर मन्द मन्द चरण रखता हुआ मैं सभागृह से बाहर जाने लगा। अंशुकों के ढेर में पड़े विविध रंग के वस्त्रों को धूमिल सन्ध्या प्रकाश में देखते समय मुझको अपना जीवन भी वस्त्रों के उस ढेर-सा लगा। परन्तु पीताम्बर जैसा चमकीला तेजस्वी वस्त्र एक भी तो उसमें नहीं था।

सभागृह के महाद्वार पर पहुँचते ही अपने निर्माण से लेकर आज तक वैभवपूर्ण, तेजस्वी, अभिमानास्पद और गौरवास्पद अनेक अवसर देखनेवाले उस भवन पर आज की घटनाओं की स्मृतियों के चिह्न कैसे अंकित हुए हैं—यह देखने के लिए मैंने पीछे मुड़कर देखा। पुरुष-भर ऊँचा सुवर्ण सिंहासन प्रकाश न होने के कारण चमक नहीं रहा था, सारे रिक्त आसन नदी-किनारे अस्त-व्यस्त पड़े हुए काले पाषाणों जैसे कलाहीन लग रहे थे। केवल दूर एक आसन पर हत्थे पर सिर रखकर कोई मेरे बाद भी सभागृह में ऐसे-बैठे हुए था, जैसे शरीर में प्राण ही न रहे हों। आसन के क्रमांक के अनुसार वह दुःशासन था, यह निश्चित था। नहीं तो कोई और क्यों इतने समय तक वहाँ पड़ा रहता ? वह इतना अचेत बैठा था कि उसमें और अंशुकों के निश्चल ढेर में कोई अन्तर ही प्रतीत न हुआ। एक निःश्वास छोड़कर मैं महाद्वार से निकला। गंगा-तट पर जाकर नियमानुसार सन्ध्याकालीन अर्घ्यदान करने की भी मेरी इच्छा नहीं हुई। आकाश की सम्पूर्ण पश्चिम दिशा काली-काली घटाओं से घिरी हुई थी।

मेरे पैर ऐसे उठ रहे थे मानो बड़ी-बड़ी जंजीरों से जकड़ दिये गये हों। महल की ओर जानेवाले सोपान की सीढ़ियाँ चढ़कर मैं महल के द्वार पर आया। विष्णु-मन्दिर के गर्भगृह के सामने मेघमाला तिरछी झुककर चंचुपात्र से इंगुदी का तेल समई में भर रही थी, समई पूरी भरते ही उसने उसकी बाती प्रज्वलित की। उसका केतकी जैसा मुखमण्डल समई की प्रकाश-किरणों से दमक उठा। उसको देखते ही मुझको प्रातःकाल उसकी असावधानी के कारण हाथ से गिरे हुए अल्पना-पात्र का स्मरण हो आया। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ मैं सीधे गर्भगृह के सामने पहुँचा। मुझको देखते ही मेघमाला सँभलकर दूर हट गयी। गर्भगृह के सम्मुख रखी पत्थर की समई उठाकर नीचे फ़र्श पर उस स्थान को मैंने देखा जहाँ अल्पना बिखरी थी। वहाँ से धवलवर्णी अल्पना उड़ गयी थी। पीतवर्णी हल्दी उड़ गयी थी। शेष रह गयी थीं केवल रक्तवर्णी कुंकुम की गहरी रेखाएँ। इतस्ततः बिखरी हुई। खिन्नता से हँसकर मैंने उस बिखरे हुए कुंकुम को उँगलियों से स्पर्श किया। बड़ा विचित्र-सा लगा वह। उठकर समई मेघमाला के हाथ में देकर मैं सीधे शयनागार की ओर चल दिया।

न जाने कहाँ से शोण मेरे सामने आ गया। उसको देखते ही मेरी इच्छा हुई कि उसे भुजाओं में कस लूँ और बचपन के वसु की तरह उससे पूछूँ, "शोण, मैं कौन हूँ?" परन्तु प्रातःकाल गंगा-किनारे उसका स्नेहपूर्ण हाथ मैंने कितनी निष्ठुरता से झिड़क दिया था ! उससे कुछ भी न कहकर मैं शयनागार की ओर मुड़ा, परन्तु वह स्वयं ही सामने आकर बोला, "भैया, ठहरो !" आखिर वह मेरा सगा भाई था। अग्रज होकर भी मुझको उसके उपदेश के सभी बोल अब सुनने थे ! मैं खड़ा हो गया।

"भैया, सबने आज तुमसे प्रातःकाल गंगा में खड़े होकर अर्घ्यदान करने का आग्रह क्यों किया था यह अब भी ज्ञात हुआ या नहीं?"

"शोण, वह ज्ञात भी हो जाये तो उससे अब कोई लाभ नहीं।"

"परन्तु जिनके लिए तुम जीवन के सभी आदर्श दावें पर लगा देते हो, वे तुम्हारे बारे में क्या सोचते हैं, यह तो तुम्हें ज्ञात होना ही चाहिए।"

"क्यों भेजा था सबने आज प्रातःकाल आग्रहपूर्वक मुझको गंगा किनारे ? तुम बताओ?"

"आज के द्यूत के पासों की कौड़ियाँ भीमवधित जरासन्ध के हाड़ों की थीं। जिसको तुमने द्वन्द्व में जीवनदान दिया था।"

"क्या? कह क्या रहे हो शोण ? क्या जरासन्ध के हाड़ लाने के लिए दुःशासन मगधों के राजगृह गया था ?" मैंने उसे कन्धे से पकड़कर झकझोरा ।

"हाँ ! तुम्हारे शब्दाघात के साथ ही कौड़ियाँ थरथराती हैं, यह अच्छी तरह जानकर सबने तुमको द्यूत समाप्त होने तक बड़ी चतुराई से आज सभागृह के बाहर रखा था । कौड़ियाँ तुमसे और भीमसेन से ही थरथराती थीं।"

"तुमने यह सब कैसे जाना ?"

"सत्यसेन से । दुर्योधन तुमको गंगा तट पर भेज देगा यह बात सत्यसेन पहले ही जानता था।" आज का पूरा दिन ही आश्चर्य का रहस्यमय जाल बुननेवाला दिन था।

"शोण, जाओ तुम । परन्तु...परन्तु ध्यान रखना शोण, प्रातःकाल मैंने तुमको झिड़क दिया था इसलिए मेरे प्रति तुम अन्यथा भाव न रखना। सारा संसार प्रतिकूल हो जाये, चिन्ता नहीं, परन्तु तुम मेरे भाई हो, हम दोनों एक ही माता के रक्त-मांस के पिण्ड हैं, यह मत भूलना।

"भैया, तुम्हारे चरणों पर मृत्यु भी आये तो मैं उसको ऐसे हृदय से लगा लूँ जैसे गंगा के तट की सीपियों को अंजलि में भरकर मैं हृदय से लगा लेता था।" आगे बढ़कर उसने हाथ से मेरे चरणों का स्पर्श किया।

गर्भगृह के पास अवगुण्ठन में खड़ी हुई मेघमाला की ओर उँगली उठाकर मैंने उससे कहा, "जाओ शोण, उससे कहना कि अल्पना पुँछ गयी है। पुँछ जाने के लिए ही होती है वह ।"

वह धीरे-धीरे चला गया ।

शयनागार के प्रवेश-द्वार से तल्प पर बैठी हुई वृषाली को देखते ही मुझको जीवन में पहली बार अपने ही ऊपर लज्जा आयी। सभागृह की अप्रिय घटनाओं का स्मरण कराके अपने प्रश्नों के आघात से अब वह मुझको आहत करेगी। क्या उत्तर दूँगा मैं उसको ? अपने पति के सम्बन्ध उसने आज क्या सोचा होगा?

भीतर प्रवेश किया। मानो उसको देखा ही नहीं, यह प्रदर्शित कर मैं गवाक्ष से बाहर अन्धकार में दिखाई न पड़नेवाली गंगा की ओर देखने लगा।

सदैव की तरह आकर पीछे खड़ी होती हुई वह आश्चर्य से बोली, "अरे ! आपका उत्तरीय कहाँ है आज ? किसी को दे दिया क्या ?"

"हाँ, देना चाहता था, किन्तु दे न सका। परन्तु एक साधारण उत्तरीय के लिए तुम क्यों आज यह प्रश्न कर रही हो ?"

"साधारण ? नहीं नहीं, यह अनेक स्मृतियाँ सँजो रखनेवाला उत्तरीय था। गंगा तट से पागलों की तरह जिसको मैं उठा लायी थी-वह आपका और मेरा दोनों का ही प्रिय उत्तरीय था। कहाँ गया वह ?"

"वह गया, सदा के लिए गया। उस वस्त्र से भी अधिक मूल्यवान् वस्त्र इस संसार में हैं, यह विश्वास मुझको दिलाकर वह आज सदा के लिए चला गया है।"

"चला गया तो चला जाये। पति ही स्त्री का सबसे बड़ा वस्त्र है।" मेरी पीठ पर कपोल रखकर वह सदा की भाँति प्रेमपूर्ण आदर से बोली । तो सभागृह की एक भी घटना यह जान नहीं पायी थी। मैंने मुक्ति की साँस ली।

"आपने अपना उत्तरीय जाने की आश्चर्यजनक बात मुझको बतायी; मैं उससे भी अधिक आश्चर्यजनक वार्ता सुनाकर आज आपको चकित कर दूंगी। वह कह रही थी, किन्तु मेरे सामने तो निरन्तर सभागृह घूम रहा था। नीले, पीले, हरे और लाल रंग थे।

"कौन-सी ?" उससे दूर हटकर एक दूसरे गवाक्ष के द्वार पर खड़े होते हुए मैंने पूछा।

"आप सदैव कहते रहते हैं कि पांचाली आपका तिरस्कार करती है। परन्तु...!"

"वृषाली ! इस विषय पर कुछ भी सुनने की मुझे अब आवश्यकता नहीं रही है। मैंने जो कुछ किया, उसकी कोई इस प्रकार परीक्षा करे, जैसे तट पर खड़े प्रेक्षक तैरनेवाले की करते हैं, मैं यह नहीं चाहता।

"लेकिन सुनिए तो ! पांचाली ने हृदय से आपका तिरस्कार कभी नहीं किया।" मुझको बीच में ही रोककर वृषाली बोली।

"यह तुम कैसे कह सकती हो ?"

"आज स्वयं मुझको पता चला कि..."

"क्या पता चला तुम्हें ?"

"आज तीसरे प्रहर हम सब अन्तःपुर में बैठी हुई थीं। उस समय द्रौपदी स्नान कर अन्तःपुर में पहुँची। आपकी पत्नी होने के कारण बड़े ही स्नेह से उसने मेरी पूछताछ की। वृषसेन के कान से हाथ लगाकर तो उसने यहाँ तक कहा कि 'सचमुच ही, तुम्हारे इस पुत्र को कुण्डल क्यों नहीं हैं ?' मैं भी क्या उत्तर देती ? 'यह तो इसके पितृदेव ही जानें।' यह कहकर मैंने किसी तरह बात टाली। परन्तु आपका उल्लेख करते ही उसने तत्क्षण अपना सिर झुका लिया।"

"क्यों झुका लिया, वृषाली ? यह बात तुम कभी नहीं समझ पाओगी।" बाहर अन्धकार के सागर में नेत्रों के बाण दूर तक फेंकता हुआ मैं बोला।

"मुझे भी यही सन्देह हुआ था कि कदाचित् मेरे सामने भी वह, आपका उपहास करना चाहती थी। इसीलिए जब वह केशभूषा के लिए दर्पण की ओर मुड़ गयी तब सत्यासत्य परखने के लिए मैंने उसकी हिरण्मयी नामक सखी को पास बुलाया। उसने जो कुछ बताया, उसको सुनकर ही तो मेरी यह दशा हुई है। मैं सोचने लगी कि किस तरह आपको अति शीघ्र से सब बातें बताऊँ और आपके मन का सन्देह दूर कर दूँ। मृणाल को भेजकर मैंने आपको ढूँढ़वाया भी, परन्तु उस समय आप सभागृह में मग्न थे।

"ऐसी कौन-सी आश्चर्यजनक बात उसने तुम्हें बतायी ?"

"सबके साथ राजसूय यज्ञ लिए आप एक बार इन्द्रप्रस्थ गये थे। उस समय मायावी पदार्थों के कक्ष में सोपान पर से आपके कुण्डल-मण्डित मुख का सरोवर में पड़ा हुआ आंशिक प्रतिबिम्ब देखकर पांचाली ने धीरे से उसके कान में कहा था कि..."

"क्या कहा था उसने ? बताओ, वृषाली ! उस समय भी मैं भ्रम में पड़ा हुआ था और आज भी पड़ा हुआ हूँ।"

"उसने फुसफुसाकर कहा था कि, 'हिरण्मयी, इन कवच-कुण्डलों का पत्नीत्व प्राप्त करने का सौभाग्य यदि प्राप्त हो जाता तो मेरे जीवन-उद्यान में कितने वसन्त खेल जाते ! अंगराज कर्ण यदि पति के रूप में प्राप्त हो जाते तो पाँच पतियों के सहवास में विषमता से बाँटे गये वर्ष...दो-दो महीनों के सम-सहवास में विभक्त न हो जाते क्या ?' पीछे से आकर उसने मेरी पीठ पर सिर टेक दिया। पीछे मुड़कर 'पांचाली' कहकर वृषाली का मुख दोनों हथेलियों में लेता हुआ मैं भानरहित होकर तड़प उठा।

"पांचाली नहीं वृषाली !" मेरे हाथों पर अपने हाथ रखती हुई वृषाली बोली, "कम से कम अब तो पांचाली को गलत समझने से सन्तप्त रहनेवाला आपका मन शान्त रहेगा न?" समई के धुंधले प्रकाश में मेरी आँखों में भीतर तक झाँकती हुई वह कुछ ढूँढ़ने लगी।

अनेक प्रकार की मिश्रित भावनाओं से मन अशान्त हो गया। प्रातःकाल से ही सत्यासत्य के द्वन्द्व में, मात्र दैवयोग से ही, मैं सत्य से वंचित होकर असत्य की ओर क्या नहीं फेंका गया था ? क्या लाभ था अब सत्य समझकर ? पांचाली की भावना को समझकर ?

"वृषाली !" उसको अंक में भरता हुआ मैं धीरे से बुदबुदाया ।

"कितने महान् हैं आप ! पांचाली भी मुझसे ईर्ष्या करती होगी !" मेरी छाती में मस्तक छिपाती हुई वह बोली ।

"मैं और महान् ? वृषाली, महान् था; परन्तु आज नहीं हूँ।

"मेरे लिए तो आप सदा-सर्वदा महान् ही रहेंगे।" बन्धन से स्वयं को मुक्त करती हुई वह झोंके की तरह शयनगृह से बहर चल दी। मेरे लिए कुछ न कुछ लाने जा रही यह जानकर मैं उससे बोला, "वृषाली, मेरे लिए कुछ मत लाना। मुझको भूख नहीं है।"

उसके बाहर जाते ही तेज़ी से आगे बढ़कर मैंने शयनगृह का द्वार भीतर से बन्द कर लिया और पलंग पर लेट गया। मन का, शरीर का सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया था। जैसे अनन्त क्षितिज का पता लगाने के लिए समुद्रपक्षी पानी से निकलकर झपटता हुआ आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही मेरा मन भविष्य का पता लगाने के लिए जी-जान से दौड़ रहा था, परन्तु सीमा का पता न चलने से फिर देह के पिंजड़े में आ जाता था और चोंच फाड़कर हाँफता हुआ निश्चेष्ट हो जाता था। वह कराह रहा था—“पांचाली क्षमा कर ! पांचाली क्षमा कर !"

सुकोमल शय्या के मृदु स्पर्श से ऐसे अवसर पर मन और अधिक अशान्त तथा व्याकुल हो जाता है। इसीलिए हिमशीतल फर्श पर घुटने टेककर मैंने अपना सिर पलंग की पाटी पर रख दिया। परन्तु क्षण-भर में ही सारा दिन सूर्य किरणों की तरह चिलचिलाता हुआ मेरी आँखों के आगे खड़ा हो गया। शरीर की आँखें बन्द की जा सकती हैं, परन्तु मन की आँखें तो कभी बन्द नहीं हो सकतीं। घटनाओं के चित्रपक्षी विविध वर्गों के पंख फड़फड़ाते हुए आँखों के आगे नाचने लगे। बीच-बीच में चीत्कार करने लगे। "मेघाच्छादित आकाश ! अल्पना का पंचपात्र ! किकियाती दौड़ती हुई टिटहरी ! निस्तेज कुण्डल ! यज्ञकुण्ड पर बैठा कौआ ! काला-एकदम किट्टकाला दिन ! पांचाली के बिखरे हुए काले केश, अश्रु और रक्त-बिन्दु ! आह, रक्त और अश्रुओं की नदियाँ ! थरथरानेवाली कौड़ियाँ ! मन्दोन्मत्त हाथी-जैसा दुःशासन ! और...और अविवेकी, मार्गच्युत, अधःपतित कर्ण ! आसपास क्रन्दन, आक्रोश, अन्याय ! विडम्बना ! चमकता हुआ पीताम्बर और और पैरों तले रौंदा गया उत्तरीय !

बिखरी हुई अल्पना की शुभ्र धवल छटा ! बचा हुआ कुंकुम ! केवल रक्तवर्णी गहरा कुंकुम ! चरणों पर मस्तक रखनेवाला शोण ! पीठ पर मस्तक रखनेवाली वृषाली ! वर्ष का दो-दो महीनों में विभाजन करने की इच्छुक पांचाली ! पांचाली ! पांचाली !"

असह्य भाव से मैंने सिर उठाया। चारों ओर समई का टिमटिमाता प्रकाश था। बुभुक्षित व्यक्ति कदन्न मिलने से ही बौरा उठता है। उसी व्याकुलता से मन का अन्धकार दूर करने के लिए मैं समई की ज्योति की ओर देखने लगा। उस ज्योति में भी पांचाली खड़ी थी। अतिशय सौम्य मुद्रा में वह विनम्रता से मुझसे कह रही थी, "अंगराज, मैंने आज सभा में आपके आगे हाथ नहीं फैलाया, इसका आपको हार्दिक दुख हुआ होगा। पांचाली ने फिर मुझको ठुकराया है यह सोचकर आपके मन के टुकड़े-टुकड़े हो गये होंगे। परन्तु...परन्तु सच तो यह है कि किस मुँह से मैं आज आपसे अभय माँगती ? क्या अधिकार था मुझको ? आपके चमकते कुण्डलों को किसी समय मैंने अपनी सुगन्ध के मद में क्या ठुकराया नहीं था ? मेरी अंगभूत सुगन्ध की तरह ही आपके अंगभूत कवच-कुण्डल मूल्यवान् हैं, यह बात मैं बड़ी देर से समझ सकी। और जब मैंने यह जाना तब कोई उपाय नहीं रह गया था। मैंने आपको धिक्कारा था, इसकी असह्य वेदना हृदय में लिये यदि मैं आपके सम्मुख सभागृह में हाथ पसारती और आप मुझको ठुकरा देते तब ? तो उस यातना की पीड़ा मैं कैसे सह पाती ? केवल इसीलिए, अपनी ही लज्जा के कारण मैं आपके आगे हाथ नहीं पसार सकी। आपका तिरस्कार करने के लिए नहीं, आपका अपमान करने के विचार से नहीं, परन्तु ...परन्तु ...आपने मुझको विलासिनी, वारांगना और कुलटा कहा। पाँच पतियों से रमण करनेवाली स्वैराचारिणी कहा। बताइए, माता की आज्ञा पालन करनेवाला पति जब अपनी पत्नी को अपने भाइयों की भी पत्नी बना देता है, तब उस ज्येष्ठ पति की बात माननेवाली स्त्री कुलटा कैसे हुई ? कहिए, क्या मैं वारांगना हूँ ? क्या विलासिनी हूँ ? क्या कुलटा हूँ ? स्वयं अपने मन से पूछकर मुझको उत्तर दीजिए।"

ज्योति क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है, यह भान होने पर आँखों पर हाथ रखकर मैं चिल्लाया, "नहीं पांचाली, तू कुलटा नहीं है। तू पतिव्रता है। वृषाली जितनी ही तू भी पवित्र है।"

बाहर घना अन्धकार था, फिर भी मैं उठ पड़ा। शयनगृह, महल पीछे छोड़कर सोपान उतरता हुआ राजभवन की प्राचीर के महाद्वार पर आया। ऊँघते हुए द्वारपालों को बिना उठाये ही महाद्वार की अर्गला अलग कर द्वार खोला, फिर बढ़ने लगा गंगा की ओर। सारे हस्तिनापुर को जैसे अन्धकार ने निगल लिया था। मार्ग परिचित होने के कारण पथभ्रष्ट नहीं हो रहा था। यही यथेष्ट था।

गंगा के किनारे अपने चिरपरिचित पाषाण पर जाकर बैठ गया। उस शान्त जलवाहिनी के किनारे घने खड़े हुए वृक्षों में से किसी कदम्ब वृक्ष पर यदा-कदा कोई कारण्डव पक्षी पंख

फड़फड़ाता हुआ मर्मभेदी चीत्कार कर उठता था। परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आवाज किनारे पर नीरव निस्तब्ध शान्त वातावरण में जाने कहाँ खो जाती थी। आकाश का नीला पारिजात वृक्ष छोटे-छोटे तारकपुष्पों से खचाखच भरा हुआ था। उन्हीं में से कुछ पुष्प प्रतिबिम्ब के रूप में गंगा में बिखरे पड़े थे। बहुत देर तक उस पाषाण पर बैठा रहा। परन्तु अन्तरतम का सम्भ्रम और कोलाहल कब रुकेगा, इसका कोई उत्तर मुझको प्राप्त नहीं हुआ। लपलपाती हुई लहरें उत्तर कभी दे भी सकती थीं। मैं खिन्न मन से गंगातट छोड़कर महल की ओर लौटा। तड़पता हुआ न जाने कब निद्राधीन हो गया। निद्रा सबसे अधिक उदारहृदयी माता है। विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न दुख वह समान ममता से, कुछ समय के लिए ही सही, पर निश्चित रूप से अपने विशाल उदर में समा लेती है।

तेरह

किसी खट्खट की आवाज़ से जब मैं जाग्रत हुआ तब गवाक्ष से शयनगृह में प्रविष्ट अरुणोदय की मोहक किरणशलाकाओं को देखकर मैं विस्मयचकित हो गया। इतनी देर तक मैं कभी सोया था, मुझे तो याद नहीं। कल की घटनाओं ने क्या मेरी दिनचर्या में भी परिवर्तन कर दिया है ?—इस सन्देह से पलंग पर से झटपट उठकर, गवाक्ष के झरोखे से बाहर झाँककर, मैंने यह देखा कि सूर्यबिम्ब पूर्व क्षितिज पर कितना चढ़ आया है। द्वार बाहर से फिर खटखटाया गया। बाहर से दरवाज़ा खटखटाने का साहस कौन कर रहा है, इस सन्देहवश मैं जल्दी जल्दी द्वार के पास गया। मैं जानता था कि वह वृषाली नहीं थी, सुप्रिया नहीं थी, मेघमाला भी नहीं थी। सत्यसेन और शोण तो कभी मेरे शयनगृह की ओर आ ही नहीं सकते। सम्भावना राधामाता की ही थी। 'कौन, हो सकता है ?' मन ही मन यह प्रश्न पूछते हुए द्वार की अर्गला दूर की। द्वार में अश्वत्थामा को देखकर हँसता हुआ मैं बोला, "तुम आज आओगे, यह मैं जानता था। तभी तो इतनी देर से उठा हूँ। नहीं तो गंगा के किनारे होता मैं।"

"इतने अन्तर्यामी कब से हो गये हो ? व्यर्थ ही बातें बनाकर मुझको बहलाओ मत। अभी-अभी भाभीजी ने बताया है कि रात अर्धरात्रि के बाद तुम लौटे थे। अरे, दुख छिपाने चाहिए अवश्य परन्तु थोड़ी कुशलता से।"

"गुरुपुत्र होने के कारण तुम चाहे जहाँ और जब प्रवेश कर सकते हो, अश्वत्थामन्, इसलिए तुम सभी जानकारी प्राप्त कर सकते हो। लेकिन इतना तो मुझे बतलाओ कि पहले तो कभी नहीं आये, आज ही सवेरे-सवेरे मेरे पास कैसे आना हुआ ?"

"इसलिए आया हूँ, क्योंकि आये बिना मुझसे रहा नहीं गया।"

"क्यों ? क्या हुआ ?" मैंने उसको आसन पर बैठने का संकेत करते हुए पूछा ।

"पाण्डव पांचाली के साथ वनवास के लिए काम्यक अरण्य की ओर आज चले गये। आज ही सूर्योदय से पहले । यह सुनते ही वेदना की और एक नयी लहर हृदय में उठ गयी। "कल की घटना के बाद भी क्या मामा ने उनको वनवास के लिए भेजने की हठ की थी ?" मैंने दुखी होकर उससे पूछा।

"नहीं ! स्वयं युधिष्ठिर ने ही यह निर्णय लिया है, वचनपूर्ति के लिए ! वृषवर्मा, महामन्त्री विदुर, पितामह और संजय ने उसको लौटाने के लिए अनेक प्रकार से समझाया। परन्तु उसने किसी की भी न सुनी । "हमारा इन्द्रप्रस्थ का राज्य अब तुम्हारा है," दुर्योधन से कहकर उसने राजवस्त्र देह से उतार महाराज के चरणों पर रख दिये।"

"अश्वत्थामा, हम सब क्या रह रहे हैं—यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

"यदि यही समझ में आ जाता तो फिर जीवन का अर्थ ही क्या रह जाता? भविष्य में अवश्य ही कुछ न कुछ विलोभनीय है, इस सुखद आशा में ही सम्पूर्ण चराचर सृष्टि का दैनिक कार्यक्रम अव्याहत चलता रहता है। युधिष्ठिर गया। उसको जाना ही था। उसके स्वभाव की जन्मजात विशेषता ही यही है।"

"स्वभाव की विशेषता कैसे ?"

"सत्यप्रियता और संयम।"

"संयम ? यह कैसा संयम है अश्वत्थामन् ? दिग्विजय कर प्राप्त किया हुआ राज्य दुन्दुभी की डण्डी की तरह क्षण-भर में फेंककर चलते बनो ?"

"हाँ ! यह केवल युधिष्ठिर ही कर सकता है। उसके अगाध संयम का और एक उदाहरण देखना हो तो कल सभा में जिस आसन पर वह बैठा था, उसके सामने के लौह-चरणासन को जाकर देखो ।"

"क्या है उस चरणासन पर ?"

"उसने भीम को रोकने लिए दृढ़मन से उस चरणासन पर दायें पैर का जो अँगूठा दबाया था, उसका गहरा गड्ढा ।"

"अँगूठे का गड्ढा ?"

"हाँ ! राजमाता कुन्तीदेवी ने युधिष्ठिर का शान्त स्वभाव देखकर उससे छोटे चारों पाण्डवों को उसके पैर के अँगूठे की ओर देखकर ही निर्णय लेने की आज्ञा दी है । युधिष्ठिर के पैर का अँगूठा ऊपर उठते ही वे चारों भाई किसी पर भी बिजली । की तरह एक साथ टूट पड़ते हैं।"

"तो फिर कल उसने अपने पैर का अँगूठा क्यों नहीं ऊपर उठाया ?" जैसे यह रहस्य जानकर मैं अब अत्यधिक व्याकुल होने लगा।

'कल यदि उसने अँगूठा उठा लिया होता, तो शायद वह स्वयं सदैव के लिए नीचे गिर गया होता। क्या हुआ होता, इसका अनुमान भी कोई नहीं कर सकता। और फिर माता की दृष्टि में युधिष्ठिर विश्वासघाती हो जाता।

"तुम कहना क्या चाहते हो ? वे चारों कल वहाँ सभी को धूल चटा देते ?"

"यह बात तो नहीं, परन्तु भीम ने कल दुःशासन का तो निश्चित ही वध कर दिया होता। क्योंकि जिस आसन पर वह बैठा हुआ था उसके लोहे के हथ्थे को उसने क्रुद्ध होकर मोड़ दिया था, यह भी आज सभागृह में देखा जा सकता है।"

"अश्वत्थामा, कल की अनहोनी घटना के बाद भी क्या तुम्हारे मन में मेरे प्रति घृणा नहीं है ?"

"बिलकुल नहीं ! हाँ, एक बात पर हार्दिक दुख अवश्य हुआ है मुझको।

"कौन-सी बात पर ? मैंने द्रौपदी को कुलटा कहकर अवहेलना की, इस पर ?"

"नहीं ! तुमने यदि यह न कहा होता तो हस्तिनापुर कभी जान ही नहीं पाता कि द्रौपदी कितनी असाधारण स्त्री है। आज तो द्रौपदी विकर्ण द्वारा वर्णित देवयानी, तपती, गिरिजा, सुदक्षिणा आदि महारानियों से भी अधिक वन्दनीय हो गयी है नगर में। मेरा दुख द्रौपदी के लिए नहीं, तुम्हारे लिए है।"

"मेरे लिए ? अपने एक प्राणप्रिय सखा ने जिह्वा का सन्तुलन खो दिया था, इसलिए ?"

"नहीं, इसलिए भी नहीं ! परन्तु आज सभी नगरजन तुम्हारे सम्बन्ध में जिह्वा का सन्तुलन खो बैठे हैं, इसलिए ! यह तुम्हारा बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि हस्तिनापुर के आधे से अधिक लोग आज असन्दिग्ध रूप से यह मान रहे हैं कि तुम भी इस कपट-द्यूत के षड्यन्त्र में सम्मिलित थे, बल्कि इस कल्पना का केन्द्रबिन्दु तुम्हीं थे।"

"आह ! यह तो सर्वथा असत्य है अश्वत्थामा ! वास्तव में भूल मैंने ही की। द्वन्द्व में जरासन्ध को मेरे द्वारा जीवनदान देना ही नहीं था। तब ये परिस्थितियाँ पैदा ही नहीं होतीं। न वे कौड़ियाँ आयी होतीं, न वे पासे आये होते।"

"तुमसे यह नहीं हो सकता और आगे भी नहीं हो सकेगा। शत्रु पर दया दिखाना तुम्हारा जन्मजात स्वभाव है। यही तुम्हारी विशेषता है। आज तक तुम यही करते आये हो।"

"अब तुम पाण्डवों के वनवास की जो बात कर रहे हो, वह तो एकदम अनपेक्षित है। कल द्यूतवाली घटना की पीताम्बर ने समाप्ति कर दी थी—पाण्डवों को यह समझ लेना चाहिए था।"

“समझना चाहिए था, परन्तु समझे नहीं। उनके मन किस वस्तु के बने हैं—यही जानना बड़ा कठिन है। क्योंकि वनवास जाने से पहले अपनी माता के दर्शनों के लिए वे इन्द्रप्रस्थ भी नहीं गये। अर्जुन ने तो अपनी माता को स्पष्ट सन्देश भेज दिया है कि सुभद्रा के साथ अभिमन्यु को लेकर वह द्वारका में श्रीकृष्ण के पास चली जाये। द्रौपदी ने अपने पाँच पुत्रों को पांचाल देश ले जाने के लिए अपने भाई धृष्टद्युम्न को सन्देश भेजा है।

क्षण-भर पहले सारा पाण्डुकुल एक स्थान पर था, अब कैसा बारहबाट हो गया ?”

“अश्वत्थामन् ! किसी और से कभी नहीं पूछता, परन्तु तुमसे क्या एक नितान्त मार्मिक प्रश्न पूछू ?”

“अवश्य पूछो !” मेरा प्रश्न क्या होगा, यह अनुमान करते समय उसके मस्तक पर सूक्ष्म रेखाएँ खिंच गयीं।

“यदि मैं इसी क्षण रथ दौड़ाता हुआ वायुगति से जाऊँ और सच्चे हृदय से पांचाली से क्षमा माँगूँ तो पाण्डव पुनः लौट आयेंगे क्या ?”

“असम्भव ! वीरों के निर्णय चाप से छूटे हुए बाण जैसे होते हैं। अब तुम्हीं क्या, यदि पितामह भीष्म भी चरणों पर नाक घिसें, फिर भी पाण्डव नहीं लौटेंगे। कहते हैं न कि व्याधि से पहले औषध लेनी चाहिए। परन्तु पाण्डवों के साथ व्यवहार करते समय तो किसी ने कभी वह ली ही नहीं। पितामह भीष्म, महाराज, आचार्य, इतना ही नहीं स्वयं मेरे...मेरे पिताजी ने भी। अब पक्षी स्वच्छन्द चारों दिशाओं में उड़ानें भर चुके हैं नीड़ की ओर जल्दी वापस न लौटने का कटु निश्चय कर।

“इसका उपाय क्या है ?” उसकी यह कल्पना कि पक्षी उड़ानें भर चुके हैं, मुझको बड़ी भयंकर लगी।

“कुछ भी नहीं। उपस्थित परिस्थिति का डटकर सामना करना। इसका यही एकमात्र उपाय है।” अपनी हनु ऊपर कर उसने सिर पर बँधी हुई पट्टी की ढीली गाँठ कसकर बाँधी।

तुम सदैव सिर पर यह पट्टी क्यों बाँधे रहते हो ?” क्षण-भर इच्छा हुई कि उससे यह पूछूँ, परन्तु फिर यह सोचकर कि यह क्षुद्रता होगी, मैं टाल गया।

“आज एक और आश्चर्यजनक अनुभव मुझको हुआ।” गाँठ बाँधकर वह बोला।

“क्या?”

पाण्डव इन्द्रप्रस्थ के राजा थे, लेकिन कुरुओं के इस हस्तिनापुर के अनेक प्रजाजन उनके साथ वनवास जाने को चल पड़े, यह और बात है कि युधिष्ठिर ने ऐसे सब लोगों को अनुनय-विनय कर सीमा पर से ही वापस भेज दिया। अकेले धौम्य ऋषि ही उन छह जनों के साथ जा सके हैं।”

"जाते समय युधिष्ठिर ने तुमसे कुछ कहा था क्या ?"

"उसने कुछ नहीं कहा। परन्तु मैंने ही उसके अनावृत पैरों की ओर देखकर कहा..."

"क्या कहा तुमने ?"

"मैंने कहा, युधिष्ठिर, तुम्हारे पैर देखकर मुझको इस समय कर्ण की याद आ रही है। वास्तव में यदि कर्ण-जैसी अभेद्य त्वचा तुम्हारे चरणों की होती, तो इस वनवास में तुमको कण्टक आदि से होनेवाले कष्ट न सहने पड़ते ।" अश्वत्थामा मेरे चरणों को ध्यान से देखता हुआ बोला।

कण्टकादि के प्रसंग में मेरी अभेद्य त्वचा का उल्लेख—यह कल्पना अश्वत्थामा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। मैंने भी अपने पैरों की ओर देखा । वे आगे की ओर बाण के फल की तरह संकुचित होते गये थे, इसपर मुझको सदैव आश्चर्य भी होता रहा था।

एक हाथ में मन्द-मन्द जलती आरती, फूल, कुंकुम, अक्षत आदि से युक्त थाल और दूसरे हाथ में गाय के धारोष्ण दुग्ध से परिपूर्ण चषक लेकर वृषाली धीरे से अन्दर आयी। प्रभात काल में गुरुपुत्र का दर्शन उसकी दृष्टि में स्त्री-मन का महोत्सव था । स्त्रियाँ सदैव श्रद्धालु होती हैं।

आरती उतारकर अश्वत्थामा के भाल पर कुंकुम-तिलक लगाकर उसने उसके सिर पर चार अक्षत डाले। दो चम्पकपुष्प भक्ति से उसके चरणों पर चढ़ाये । अश्वत्थामा ने तत्परता से झुककर उनको हाथ में उठा लिया। अंशुक का छोर दायें हाथ में लेकर वृषाली जब उसको वन्दन करने के लिए झुकी तब उसने तुरन्त अपने पैर आसन पर सिकोड़कर रख लिये।

"भाभीजी, क्या आप मेरी आयु कम करना चाहती हैं ? मैं तो आपसे छोटा हूँ।" हाथ हिलाता हुआ वह बोला।

"तुम अवस्था में भले ही छोटे हो, लेकिन गुरुपुत्र हो ! ऋषिकुमार हो ! इसीलिए तुमपर श्रद्धा है।" मैंने वृषाली का ही समर्थन किया।

"नहीं, कुछ भी हो, यह मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता।" वह भी दृढ़ता से बोला।

"श्रद्धा नहीं तो न सही, दूध का चषक तो स्वीकार करोगे ?" मैं उसके स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था। ऐसा आचरण वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता था।

वृषाली ने चषक उठाकर उसके हाथ में दे दिया। हनु के नीचे वस्त्र की गाँठ के आगे निकले हुए छोर को बायें हाथ से पीछे सरकाकर वह दूध पीने लगा। इसी बीच उसके सिर पर बँधे वस्त्र की सिकुड़न में अटका हुआ अक्षत का एक दाना लुढ़ककर दूध के झाग में गिर पड़ा। चषक बायें हाथ में लेकर दायें हाथ की अंगुली से उसको निकालने के लिए उसने

दी-तीन बार चषक में अँगुली डाली । अन्त में फेन की बूँद उसकी अँगुली पर से उड़कर अक्षत के दाने समेत नीचे फ़र्श पर जा पड़ी।

दूध की वह बूँद देखते ही मुझे एकाएक राधामाता की याद आ गयी। उसके दूध पर ही मेरा शरीर, वैभव, धैर्य-सब कुछ पला था ! लेकिन मैं कल रात अपनी विचित्र मनोदशा के कारण गंगा के किनारे चला गया था और उसके पैरों के तलवों में चन्दन मिश्रित तेल की मालिश करना भूल गया था। अब सबसे पहले उसका दर्शन करना आवश्यक था। माता का अर्थ है-ममता के परममंगलमय मन्दिरों का परिपूर्ण तीर्थस्थान ।

"मैं चलता हूँ अश्वत्थामन् ! तुम बैठो।" मैं द्वार की ओर मुड़ता हुआ बोला ।

"मुझको भी चलना चाहिए। आज अमावस्या है, मुझको आज दिन-भर यज्ञकुण्ड के पास बैठकर महामृत्युंजय मन्त्र का पुरश्चरण करना है। वह भी उठ पड़ा।

हम दोनों एक साथ ही बाहर निकले ।

चौदह

पाण्डव वनवास के लिए चले गये। इस घटना पर मुझको विश्वास ही नहीं हो रहा था। परन्तु सत्य सदैव वैसा ही नहीं होता, जैसा लगा करता है। चले गये थे। जैसे कोई सर्प चमकती केंचुली छोड़कर सहज ही सरसराता हुआ दूर चला जाये, वैसे ही दिग्विजय द्वारा समृद्ध इन्द्रप्रस्थ छोड़कर वे चले गये थे। केंचुली जैसे पूरी की पूरी छोड़ी जाती है, वैसे ही उन्होंने अखण्ड राज्य छोड़ दिया था। रत्न, माणिक्य, मोती, प्रवाल, पन्ना, पुखराज, हीरे, नीलमणि, गोमेद, बिल्लौर, वैदूर्य, सुवर्ण गायें और सेवक-सेविकाएँ - इनमें से कुछ भी उन्होंने अपने साथ नहीं लिया। इतना ही नहीं, देह पर से राजवस्त्र भा उतारकर वे चले गये। अश्वत्थामा के कथनानुसार तो वे पैदल चले गये थे।

जीवन-भर के अनुभव से मैं यह जान गया था कि कुछ घटनाएँ होती ही अटल हैं। साथ ही यह भी सत्य था कि कुछ घटनाओं के परिणाम टाले जा सकते हैं। इसके लिए किसी को लगन से प्रयत्न करना आवश्यक है। अखाड़े में अर्जुन के गले में पड़नेवाली माला को कोई आगे बढ़कर रोक सकता था। स्वयंवर में मेरी अवहेलना को धैर्यपूर्वक आगे बढ़कर कोई रोक सकता था। सभा में पांचाली का अकारण ही जो घोर अपमान हुआ, उसको भी कोई टाल सकता था और पाण्डवों के वनवास को भी दृढ़तापूर्वक कोई रोक सकता था...परन्तु...परन्तु इसके लिए कोई आगे नहीं बढ़ा। यह सब इस प्रकार घटित होता चला गया जैसे सबको एक विशिष्ट मार्ग से एक विशिष्ट स्थान पर पहुँचना हो । अब कभी भी उस विशिष्ट मार्ग को कोई छोड़ नहीं सकता था। अश्वत्थामा के कथनानुसार उसका एक ही

उपाय था। जो कुछ सामने आये, उसका सामना करने के लिए धैर्यपूर्वक खड़े रहना। उसी के लिए मैं मन के धागे एकत्र करने का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु... परन्तु वे भी बिखर गये थे। मेरा दुख एक नहीं था। मृगनक्षत्र की एक ही बौछार के बाद जैसे चारों ओर अंकुर फूट उठते हैं, वैसे ही मेरे दुख अनन्त थे, असंख्य थे। घटना की एक-एक नयी बौछार पड़ रही थी। प्रश्नों के नये-नये अंकुर सिर उठा रहे थे। फिर भी मेरा चुप रहना आवश्यक था। मेरे आस-पास की परिस्थिति इतनी संकटापन्न थी कि स्पष्ट निर्णय के लिए पर्याप्त अवकाश तक नहीं था। दुर्योधन का मुझपर जो स्नेह था, वह प्रगाढ़ विश्वास में परिवर्तित हो गया था। मैं अच्छी तरह जानता था कि विश्व के प्रलय में वह अकेला ही मेरा साथ निभायेगा। और मैं उसका ! अन्य किसी को भी मैं छोड़ सकता था, परन्तु उसको छोड़ने की कल्पना भी मुझसे सहन नहीं होती थी। बार-बार मैं यह सोचता था कि दुर्योधन को अपने विचारों में, स्वभाव में, व्यवहार में समय रहते ही परिवर्तन कर लेना चाहिए। नहीं तो...!

परन्तु स्वभाव रथ का घोड़ा थोड़े ही है, जिसको जो चाहे जब बदल दे।

मैं सुन्न हो गया था। मेरे भविष्य का जो चित्र मेरे सामने खड़ा हो रहा था, वह मुझको कहीं पागल तो नहीं कर देगा ? इस प्रतीति से कभी-कभी यह इच्छा होती थी कि मन के संचित कुम्भ को चकनाचूर कर दूं। पहली बार निराशा के काले पक्षी मन के प्रांगण में उतर रहे थे। ऐसे घुटते हुए मन को एक ही जगह शान्ति मिल सकती है-नर्तकियों के पदन्यास में अथवा मद्य के चषक में। कर्ण के लिए अब यही मार्ग लगभग निश्चित-सा हो गया था। कर्ण, जो कभी राजहंस और गरुड़ की तरह जीवन बिता रहा था, वही कर्ण अब कौए की तरह मद्य के काले खोंतर में सिर झुकाकर प्रवेश करनेवाला था। आँखों से तेज का रस प्राशन करनेवाला कर्ण अब आँख मूंदकर सोमवल्ली का रस प्राशन करनेवाला था। मन की आग बुझाने के लिए उदर में मद्य की आग भरनेवाला था। जाग्रत आँखों के आगे अन्धकार देखने के बजाय मन के अन्धकार में मत्त होकर डूबना चाहता था। उस अन्धकार में कोई भी मुझे सूतपुत्र कहनेवाला नहीं था, तूने भूल की, तू नीच है—यह कहकर कोई वाग्बाण चलानेवाला नहीं था।

इसीलिए एक दासी द्वारा मैंने प्रभंजन को आकर मिलने का सन्देश भेजा। दुर्योधन के कारण वह मुझसे निश्चित रूप में विश्वासपूर्ण व्यवहार करेगा।

थोड़ी ही देर में प्रभंजन मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। आश्चर्य की एक सूक्ष्म-सी रेखा उसके उठे हुए भोले भाल पर खिंच गयी थी। मैंने उसको पहली बार बुलवाया था।

“प्रभंजन, मुझको अतिशीघ्र सोमरस और मैरेयक चाहिए। जाओ।” मैंने उसकी सिर ओर पीठ करके आज्ञा दी। मैं नहीं चाहता था कि उसकी मोटी भौंहे प्रशंकित होकर मेरी दृष्टि में पड़े।

आज्ञापालनार्थ वह चला गया होगा, यह सोचकर मैं मुड़ा। परन्तु उसको सिर झुकाये हुए पूर्ववत् ठिठाई के साथ सामने खड़ा देखकर मेरे शरीर में आग लग गयी।

“प्रभंजन, सुना नहीं क्या ?” उसके पास जाता हुआ मैं चिल्लाया।

“महाराज...आप भी...” उसका सिर अब भी झुका हुआ था ।

“प्रभंजन, मैं सोमरस के घूंट चाहता हूँ, उपदेश के नहीं। दास आज्ञा पालन करते हैं, यह भूल गया क्या ?”

झुककर अभिवादन कर वह चला गया। भारी साँकलों से पैर बँधे हाथी की तरह ।

कुछ देर बाद एक दासी सोमरस और मैरेयक के चंचुपात्र लेकर भवन में आयी। मध्यस्थ आसन पर उनको रखकर वह अवगुण्ठन में खड़ी रही। प्रभंजन की यह टाल-मटोल अपमानजनक लगी। एक तुच्छ दास भी क्या आज मेरा मार्गदर्शक बनना चाहता है !

“जाओ ! उसी को भेज दो !” मैं दासी पर झल्लाया । विवश होकर प्रभंजन फिर भवन में आया ।

“प्रभंजन ! सोमरस से चषक भर ! तेरे नाम से भी अधिक भयानक प्रभंजन मेरे मस्तिष्क में है ! तू ही...चषक देने के लिए तू ही योग्य है।”

उसने सिर झुकाकर एक चषक भरा और मेरे सामने ले आया। मैंने दृढ़ता से वह हाथ में ले लिया। उस परिपूर्ण रस में झाँककर देखा तो राधामाता, वृषाली, शोण, सुप्रिया, सत्यसेन, मेघमाला, पुष्पावती, अश्वत्थामा और...और पांचाली...इन्हीं के असंख्य चेहरे मुझको उसमें दिखाई देने लगे। उन क्षणचित्रों को देखकर भी मेरा मन विचलित न हुआ। विचलित होने के लिए भी तो मन में कुछ चेतना होनी चाहिए न !

चषक होठों के पास लाते ही उसके रस की उग्र गन्ध से नासिका रन्ध्र सुन्न से हो गये। क्षण-भर को मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे उस रस में सूर्यबिम्ब की प्रतिमा हो-फिर भी...फिर भी उस चषक को होठों के पास लाकर मैंने आँखें बन्द कर ली।

“अंगराज !” किसी ने द्वार में से प्रवेश करते हुए आवाज़ दी ।

उस आवाज़ की निकटता से मैं चौंक पड़ा और...और चषक मेरे हाथ से छूटकर धरती पर गिर पड़ा। सारा द्रव इधर उधर फैल गया।

कौन है ?” मैं तत्क्षण मुड़ा। मेरा सारा शरीर वृषभ की त्वचा की तरह सिहर रहा था।”

“मैं हूँ !” वे संजय काका थे। बचपन में कभी बताया हुआ उनका जातिवन्त घोड़े का लक्षण मुझको एकदम याद आया। 'जातिवन्त घोड़ा कभी नीचे बैठता ही नहीं।

“काका, आप ?” मैं आश्चर्यचकित हो गया। क्या कहा जाये यही समझ में नहीं आया। चतुर प्रभंजन ने अवसर देखकर सोमरस की गन्ध दूर करने के लिए झटपट सुरपुन्नाग के

पुष्पों के अर्क की एक सुगन्धिक शीशी दर्पण के पास उलट दी। सोमरस की उग्र गन्ध न जाने कहाँ विलीन हो गयी ! सुरपुन्नाग की रोमहर्षक गन्ध ही भवन में महकने लगी। मेरे कानों की गुफा में वही एक कथन पुनः पुनः प्रतिध्वनित होने लगा। "जातिवन्त घोड़ा कभी नीचे बैठता ही नहीं ! जातिवन्त घोड़ा कभी नीचे बैठता ही नहीं !!"

"क्यों ? मुझको देखकर आश्चर्य हो रहा है ? कर्ण संसार के लिए अंगराज होगा, मेरे लिए तो अधिरथ का पुत्र कर्ण है, यह बात क्या अब याद नहीं रही ?" आसन पर बैठकर मेरी आँखों में भीतर तक झाँकते हुए उन्होंने मुझसे पूछा।

"नहीं। यह तो कभी हो ही नहीं सकता।" आगे बढ़कर उनकी चरणधूलि मैंने सिर से लगायी।

"मेरे यहाँ आगमन की अपेक्षा और अधिक आश्चर्यजनक आगमन एक अद्भुत व्यक्ति का आज हस्तिनापुर में हुआ है। उससे सावधान रहने का संकेत देने के लिए मैं यहाँ आया हूँ।"

"किसका आगमन ?" पाण्डव वनवास चले गये हैं, यह वार्ता द्वारका में पहुँचने पर कहीं श्रीकृष्ण तो नहीं आ गये, यह सोचकर मैंने उत्सुक होकर पूछा।

"ऋषिवर्य दुर्वासा का।" शान्तिपूर्वक संजय काका बोले।

मुझको कोई आश्चर्य नहीं हुआ। क्यों होता ? ऋषि-मुनियों के ऐसे आगमन मैंने आज तक हस्तिनापुर में देखे नहीं थे क्या ? उन्हीं में से एक दुर्वासा।

"अंगराज, इन दुर्वासा के साथ रहने से या तो जीवन का कल्याण हो जायेगा या सम्पूर्ण विनाश। इसलिए उनको टाल देना ही अच्छा है, यह सुझाने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ।"

"सच पूछो तो मेरी तो अब किसी के पास जाने की इच्छा ही नहीं होती। फिर दुर्वासा का प्रश्न ही क्यों ? लेकिन काका, आपके एक विचार की सत्यासत्यता मुझको एक बार परखनी है।"

"किसकी ?" अपना तेजस्वी भाल कुछ ऊँचा कर उन्होंने पूछा।

"एक पैर मोड़कर निद्रा लेनेवाला घोड़ा लम्बे प्रवास के लिए क्या सचमुच ही बेकार हो जाता है ?"

"हाँ। परन्तु अपनी हस्तिनापुर की अश्वशाला में एक भी ऐसा घोड़ा नहीं है। यदि होगा भी तो मुझको उसका कोई ज्ञान नहीं !"

मैंने यों ही अपने पैरों की ओर देखा। वे आगे की ओर सिकुड़ते क्यों चले गये थे, इसका उत्तर मुझे आज तक नहीं मिला था।

पन्द्रह

सभागृह की उस एक ही घटना ने जीवन के सत्य पर से मेरा विश्वास समाप्त कर दिया। वृषाली ने मेरे प्रति पांचाली के जो विचार बताये थे, उनसे तो उसको और अधिक बल मिला। भ्रम के घेरे में पड़ने के कारण कहो या सुलगते मन के उद्वेग के कारण, मैंने अधमातिअधम गति को प्राप्त होकर पांचाली से अपशब्द कहे थे। मेरा वह सर्वप्रथम अधःपतन था। उससे जो बात उत्पन्न हुई थी, उसको अब कोई भी नहीं रोक सकता था। वह बात थी पाण्डवों से वैर। कभी न मिटनेवाला अखण्ड वैर। अश्वत्थामा ने जो कुछ कहा था वह नितान्त सत्य था। पक्षी नीड़ से चारों दिशाओं में उड़ानें भर चुके थे। उनके पंख जहाँ ले जायें, वही उनकी दिशा थी।

और इस सत्य का दोष कोई कितना ही गरजकर मुझ अकेले के ही मत्थे मढ़ने का प्रयत्न करे, फिर भी मेरा मन मुझसे स्पष्ट कह रहा था कि आपस का यह वैर भले ही अब सुलग उठा हो, लेकिन उसका कारण अकेला कर्ण निश्चय ही नहीं था। मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता था, क्योंकि वास्तव में सत्य को समर्थन की आवश्यकता ही नहीं होती। सत्य क्या था ?

बचपन से ही कौरव-पाण्डव और मैं—इनकी मनोरेखाएँ भली प्रकार परखने में विफल रहनेवाले गुरु द्रोण क्या इसके लिए कम उत्तरदायी थे ? अपने ही संसार में रमनेवाला अर्जुन क्या इसके लिए बिलकुल दोषी नहीं था ? अपनी जीभ पर जो कभी अंकुश नहीं रख सका, उस भीम का क्या इसमें कुछ भी हाथ नहीं था ? प्रभावशाली व्यक्तित्व होने पर भी उसका-औरों के दोष कम करने के लिए—दण्ड की तरह कभी उपयोग न कर सकनेवाले भीष्म पितामह क्या कम उत्तरदायी थे ? वेदविद्या का अध्ययन कर जीवन का तत्त्वज्ञान सदैव दूर खड़े रहकर मधुर शब्दों में प्रस्तुत करनेवाले आचार्य विदुर को ही कोई उससे कैसे अलग कर सकता था ? कुशल राजनीति के आवरण में कौड़ियों की कपट-क्रीड़ा खेलनेवाले शकुनि मामा का इसमें कोई हाथ नहीं था क्या ? और....और श्रीकृष्ण जैसे महान् प्रज्ञावान् के साहचर्य में रहकर धर्म, सत्य, नीति, संयम आदि सभी चुने हुए सद्गुणों को अपनी बपौती समझनेवाला युधिष्ठिर, ऋषिमुनियों ने भी समय-समय पर साधुवाद या महान् कहकर जिसकी कीर्ति का ढिंढोरा पीटा था, वह युधिष्ठिर जब द्यूत की बलि बन गया, तब भी क्या वह निर्दोष ही था ? जिन सामाजिक रूढ़ियों से घिरी होने के कारण पांचाली ने, 'मैं कभी सूत की पुत्रवधू नहीं बनूँगी, कर्ण स्वयंवर में भाग नहीं ले सकते' यह कहकर मेरे उत्साही तरुण मस्तक पर धधकता अंगार रख दिया था, वे लौहभित्ति-जैसी सामाजिक रूढ़ियाँ क्या बिलकुल कारणीभूत नहीं थीं ? अन्धे महाराज धृतराष्ट्र और महारानी गान्धारी देवी-वे दोनों भी क्या इस घेरे से मुक्त किये जा सकते थे ? पुत्रों का उचित मार्ग-दर्शन न कर सकनेवाली

राजमाता कुन्ती देवी को भी अलग रखने का साहस कौन बुद्धिमान् कर सकता था ? इनके अतिरिक्त और न जाने कितने कारण-जिनको मैं नहीं जानता था इस महाभयानक सत्य के पीछे खड़े होंगे, यह कोई भी नहीं बता सकता था।

परन्तु....परन्तु सबको दिखाई पड़ा था अकेला कर्ण । दृश्यस्वरूप में बोलनेवाला। मैं अच्छी तरह जानता था कि मैं बिलकुल निर्दोष नहीं हूँ। परन्तु मेरे सदोष होने का कोई न कोई कारण अवश्य था । प्रत्येक घटना में मेरा आचरण मात्र एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। राजधानी के अन्य किसी भी व्यक्ति के पास क्या ऐसा कोई कारण था, जिसे वह अपने आचरण समर्थन में प्रस्तुत कर सके ? बिलकुल नहीं। कौरव-पाण्डवों का वैर केवल कर्ण के कारण उत्पन्न हुआ, पनपा, पुष्ट हुआ और फैला-यह बकवास करनेवाले लोगों को 'मैं निर्दोष हूँ ! मैं निर्दोष हूँ !' कहने की इच्छा भी मेरी नहीं होती थी। इस वैर के सम्बन्ध में कोई भी निर्दोष नहीं था, यह मैं अच्छी तरह जानता था।

अब कौरव और पाण्डव गुरुकुल के एक-दूसरे के लिए आप्त नहीं रहे थे। मगधों के जरासन्ध में और मथुरा के श्रीकृष्ण में उतना वैमनस्य नहीं होगा, जितना कि सभागृह की उस एक ही घटना ने कौरव और पाण्डवों के बीच उत्पन्न कर दिया था। मैं उसमें कौन हूँ ? यह जब मैं विचार करता हूँ तो राजा दुर्योधन द्वारा घोषित 'एक सौ एकवाँ कौरव' यही एक मार्ग अपने लिए निश्चित कर पाता हूँ। जीवन के किसी भी महाभयानक सत्य से घबराकर मुझे उस मार्ग से दूर नहीं भागना था, साक्षात् मृत्यु से भी। द्रौपदी के लज्जाहरण की कटु-कल्पना से उत्पन्न होनेवाले सभी परिणाम मुझे भोगने थे, अकेले ही। उसके लिए मैं अपने मन को तैयार कर रहा था। और वह करते समय आदर्श के रूप में मुझको पितामह, आचार्य विदुर, गुरु द्रोण, अश्वत्थामा, वृषवर्मा-ये ही नहीं बल्कि राजा दुर्योधन भी योग्य नहीं लग रहा था। उसके लिए मेरे मन का झुकाव अनजाने एक ही व्यक्ति की ओर हो रहा था। शकुनि मामा की ओर। राजनीति के घोर अरण्य में शकुनि मामा-जैसे मार्गदर्शक की ही आवश्यकता होती है। पहले मुझे मामा के विचार कपटपूर्ण और क्रूर लगते थे। जीवन में कुछ आदर्श होते हैं। रक्त-मांस के खाद से उनका पालन किया जाता है-यह सोचकर मैं उनकी प्रत्येक राजनीतिक चाल का विरोध किया करता था....परन्तु दीर्घ काल के अनुभव से मुझको अब यह विश्वास हो गया था कि जो व्यक्ति बुद्धि का आदेशात्मक उपयोग कर सकता है, वही व्यक्ति संसार के सूत्र सँजो सकता है। अब मैं मामा को यह दिखा देना चाहता था कि मैं उनसे भी अधिक भयानक कल्पनाएँ कर सकता हूँ। आज तक दुर्योधन मामाजी के संकेतों पर नाचता आया था, अब मैं ही उसको चलानेवाला था।

आदर्श, आदर्श रटकर अनेक कल्पनाएँ हृदय में सँजो रखनेवाले कर्ण को मारकर उसका शव नियति ने सभागृह के वस्त्रों के ढेर में पहले ही कसकर लपेट दिया था। अधःपतन ! वह एक बार हुआ या सौ बार-बात एक ही है।

सोलह

ऋषिवर्य दुर्वासा का हस्तिनापुर में आगमन हो चुका था। अत्यन्त क्रोधी और सनकी होने के कारण कोई भी उनके पास जाने का साहस नहीं कर रहा था। परन्तु राजा दुर्योधन स्वयं इतने भक्तिभाव से उनकी सेवा कर रहा था कि इतनी सेवा उसने माता-पिता की भी न की होगी। मैं भी महर्षि दुर्वासा से मिलना चाहता था। इन्द्रप्रस्थ में राजभवन की भित्ति पर जो चित्र मेरी समझ में नहीं आया था, उसका रहस्य यदि मिल सके तो उसे मैं जानना चाहता था। परन्तु अपनी ओर से उनसे मिलने जाना मुझको अच्छा नहीं लगा। अकेले दुर्योधन को छोड़कर अन्य किसी से मिलने की मेरी इच्छा ही नहीं होती थी।

आखिर एक दिन दुर्वासा से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। वह भी दुर्योधन के ही आग्रह के कारण। अपने तत्पर सेवाभाव से उसने दुर्वासा-जैसे ज्वालामुखी को भी मन्द-मन्द जलनेवाली ज्योति में रूपान्तरित कर दिया था। जरा-जरा-सी बात पर क्रोध से बरस पड़नेवाले दुर्वासा ऋषि दुर्योधन से बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार कर रहे थे। दुर्योधन ने किस जादू से उनको अल्पावधि में ही अपने वश में कर लिया था, यह एक महान् आश्चर्य ही था। एक दिन उसके आग्रहवश मैं उसके साथ गंगा-तट पर स्थित ऋषिवर्य की पर्णकुटी में गया। हाँ, यह मैंने निश्चय कर लिया था कि अपनी ओर से मैं कुछ नहीं कहूँगा।

हम लोग जिस समय वहाँ पहुँचे, उस समय वे पद्मासन लगाये एक व्याघ्र-चर्म पर ध्यानस्थ बैठे हुए थे। लकड़ी के कुन्दे-जैसे उस कृश शरीर से सभी लोग इतना क्यो घबराते हैं, यही मैं समझ नहीं पाया। लगभग आधी घड़ी बाद उन्होंने अपनी आँखें खोलीं। तत्परता से आगे बढ़कर दुर्योधन ने उनके चरणों पर मस्तक टेक दिया। दुर्योधन भी किसी के आगे अपना मस्तक झुकाता है—यह आश्चर्यजनक सत्य मैंने जीवन में पहली बार ही देखा।

दुर्योधन ने भले ही उनके आगे मस्तक झुकाया हो, परन्तु उन्होंने अपनी आँखें एकटक मुझपर ही लगा रखी थीं। उस शरीर में कितना सामर्थ्य था, यह उनकी आँखों की ओर देखकर ही ज्ञात हुआ। सूर्यकिरणों में चमकनेवाली पुखराज मणि की तरह उनकी आँखें चमक रही थीं।

"कर्ण !" धनुष की टंकार का-सा एक ही शब्द उनके होंठों से बाहर निकला।

"हाँ, कर्ण ही। मेरा परम मित्र अंगराज कर्ण !" ऊपर उठते हुए दुर्योधन ने उत्तर दिया।

"तेरा मित्र ? अंगराज ? राजा, यह किसी का भी मित्र नहीं है। अंगराज भी नहीं है। यह केवल कर्ण है। सारा संसार इसको कर्ण के रूप में जानता है और अनन्त काल तक कर्ण के रूप में ही जानता रहेगा।" वे संक्षेप में और असम्बद्ध कुछ कह रहे थे। यह उनके सनकी स्वभाव के अनुकूल ही था। एक बार मेरी इच्छा हुई कि उनको वन्दन करूँ, परन्तु ऐसे

सनकी व्यक्ति के सम्मुख नत होने के लिए कर्ण का मस्तक नहीं है यह सोचकर मैं ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

दुर्योधन ने उनसे उनकी आवश्यक वस्तुओं की सूचना राजभवन भेज देने के लिए प्रार्थना की। हम फिर पर्णकुटी से बाहर आये। दुर्योधन विचार-मग्न था। दुर्वासा ऋषि ने मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उसका चिन्तन करता हुआ मेरी मित्रता के विषय में वह कदाचित् उलझन में पड़ गया था। उसके कन्धे पर हाथ रखकर चलते-चलते ही मैं उससे बोला, “यह भस्म-विभूषित ऋषि हमारी मित्रता पर टीका-टिप्पणी करनेवाला कौन होता है ? तुम अपनी मित्रता को कमण्डलु के जल की तरह चंचल समझते हो क्या ? समय आने पर मैं एक बार कवच और कुण्डलों का भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु सूर्य-प्रतिमा के सम्मुख तुमको आजीवन स्नेह का जो वचन दिया है, उसको मैं कभी भंग नहीं होने दूंगा।”

“नहीं राधेय, तुम्हारी वचन-प्रियता में मुझको तिल-भर भी सन्देह नहीं है। मैंने उसका विचार भी नहीं किया है। परन्तु द्रौपदी के वस्त्रहरण से उत्तेजित पाण्डव चौदह वर्ष बाद तो निश्चय लौटेंगे ही।”

“लौटने दो। फिर द्यूत का निमन्त्रण देकर युधिष्ठिर को फँसा लेना।”

“एक कल्पना मुझे सूझी है। तुम यदि उससे सहमत होगे तो मैं उसपर आचरण करूँगा।”

“कैसी कल्पना ?”

“दुर्वासा ऋषि का वडवानल मैं पाण्डवों पर डालना चाहता हूँ। इतनी तत्परता से मैं उनकी सेवा व्यर्थ ही नहीं कर रहा हूँ, इतना मूर्ख नहीं हूँ मैं।”

“दुर्वासा पाण्डवों का क्या करेंगे ? पाँच पर्वतों जैसे एक-जुट योद्धाओं को तुम बल्वज की सूखी लकड़ी से उखाड़ना चाहते हो, तुम्हारी यह कल्पना अभी अच्छी तरह मेरी समझ में नहीं आयी। बल्कि मुझको तो यह कुछ हास्यास्पद ही लगती है।”

“नहीं। वह हास्यास्पद नहीं है। दुर्वासा अपने सोलह सहस्र शिष्यों के साथ द्वैतवन पाण्डवों की पर्णकुटी की ओर जायेंगे। और जब वे उस पर्णकुटी के सामने अड्डा जमा देंगे तब आतिथ्य करने के लिए पाण्डवों को उन सबके भोजन की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। उस निर्जन अरण्य में वे वह व्यवस्था कैसे करेंगे? उस स्थिति में यह कोपिष्ठ ऋषि क्रोध से उनको शापदग्ध कर देगा। तुम्हारा क्या विचार है ?”

“दुर्योधन, अपनी समझ के अनुसार तुम चाहे जो कहो, मैं तो तुमसे इतना ही कहता हूँ कि वास्तव में ही तुम यदि पाण्डवों का विनाश करना चाहते हो तो यही अनुकूल समय है। पाण्डवों का प्रताप क्षीण है अभी, अचानक आक्रमण करके उनको सदा के लिए नष्ट कर डालो।

"वह तो सबसे अन्तिम मार्ग है। चलो। आज दुर्वासा प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं। आज ही उनसे वैसा वचन लिया जा सकता है।" मेरा हाथ पकड़कर उसने मुझको उस सनकी ऋषि की पर्णकुटी की ओर फिर मोड़ा।

द्वार से भीतर घुसते ही पुनः वन्दन कर वह हाथ जोड़कर दुर्वासा के सामने खड़ा हो गया।

"कहो ! क्यों लौट आये ? क्या चाहिए ?" भौंहें ऊपर करते हुए उस ऋषि ने पूछा।

"गुरुदेव, एक प्रार्थना है।"

"प्रार्थना क्यों करता है ? वर माँग ।"

"यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरी एक ही इच्छा है कि जबतक चाहें तबतक यहाँ रहें, उसके बाद हिमालय की ओर लौटते समय आप अपने शिष्यगणों के साथ द्वैतवन में पाण्डवों के यहाँ भी एक सप्ताह रहने की कृपा करें।"

"बस इतनी-सी बात ! अरे, एक सप्ताह क्या हम तो एक पक्ष तक उनके यहाँ ठहर सकते हैं।"

दुर्योधन क्षण-भर हँसा। कमर झुकाकर ही वह पर्णकुटी से बाहर जाने लगा। मैंने द्वार से अलग हटकर उसको निकलने के लिए मार्ग दिया। मेरे हटने के कारण दुर्वासा ऋषि ने मुझे भी देख लिया।

"बोल कर्ण, तुझको क्या चाहिए ?" उनकी भौंहें फिर ऊँची उठ गयीं।

"मुझे कुछ नहीं चाहिए।" दुर्योधन के पीछे-पीछे पर्णकुटी की नीची चौखट से बचने के लिए झुककर बाहर निकलता हुआ मैं धीरे से बोला। फिर भी भीतर से आज्ञार्थी स्वर आया, "कर्ण !" दुर्योधन ने मुझको हाथ से ही पुनः भीतर जाने का संकेत किया। अनिच्छापूर्वक केवल उसकी बात मानने के लिए मैं पुनः भीतर गया।

"कर्ण, मैं जो कुछ कहता हूँ, वह ध्यान से सुन । आजकल सूर्य को अर्घ्यदान करने की तू उपेक्षा कर रहा है, सँभल । प्रतिदिन रात में एक चषक में जल ले, उसमें सभी वर्ण के कमल-पुष्प रखकर प्रातःकाल उस कमल-जल में सुवर्ण-पत्तियों की भस्म मिलाकर नियमपूर्वक पान करता रह।"

मैं अत्यन्त चकित होकर पर्णकुटी से बाहर आया। मैं अर्घ्यदान की उपेक्षा कर रहा हूँ, यह बात इन तपस्वी को कैसे ज्ञात हुई ? और मैं अर्घ्यदान करता हूँ, यही इनको कैसे मालूम हुआ ? ये सारे रहस्य एक दूसरे का हाथ पकड़कर अकेले मेरे ही चारों और चक्कर काटते हुए कब तक नाचते रहेंगे ? इसके लिए नगर में अन्य कोई योद्धा क्या उनको मिला ही नहीं ? सुवर्ण जल का यह महत्त्वपूर्ण रहस्य मुझी को बताने की इच्छा उन दाढ़ीधारी ऋषि को क्यों हुई ? उन्होंने वह दुर्योधन को क्यों नहीं बताया ?

सत्रह

पूरे दो महीने हस्तिनापुर में ठहरकर ऋषिवर्य दुर्वासा ने नगर छोड़ दिया। इस बीच वे केवल दो ही व्यक्तियों से मुक्त मन से बोले थे। दुर्योधन से और अश्वत्थामा से। मैं तो फिर कभी उस विचित्र ऋषि की पर्णकुटी की ओर गया ही नहीं। लेकिन उनके कथनानुसार बिना भूले नित्य प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व सुवर्णजल का पान करने लगा। अर्घ्यदान का कार्यक्रम जो थोड़ा-सा शिथिल हो गया था, वह भी ठीक हो गया।

दुर्योधन का संकेत पाकर प्रभंजन भी दुर्वासा के पीछे-पीछे द्वैतवन की ओर चला गया था। ऋक्ष, काम्यक, हिमालय आदि सभी पर्वतों पर स्थित अपने आश्रमों के सहस्रों शिष्य साथ लेकर दुर्वासा ऋषि द्वैतवन में पाण्डवों की पर्णकुटी के सामने पहुँचनेवाले थे। उनके भोजन में थोड़ी सी भी अव्यवस्था होते ही स्वभाव-धर्म के अनुसार क्रोध से जटाएँ बिखेरकर वे तपस्वी पाण्डवों को शाप दे देंगे। और इस समस्त कथा का सविस्तार वर्णन उनके पीछे पीछे टोह लेनेवाला प्रभंजन सरपट घोड़ा भगाता हुआ आकर दुर्योधन को बता देगा। परन्तु मुझे दुर्योधन की इस कल्पना में कुछ भी रोचकता नहीं लग रही थी।

पाण्डव ! यह शब्द सीटी सी बजाते हुए मेरे मस्तिक में भ्रमण कर रहे थे। पाण्डवों के अस्तित्व से हतधैर्य दुर्योधन की दयनीय अवस्था मुझसे देखी नहीं जाती थी। उसके कण्ठ के चारों ओर लिपटे हुए इस पाश को मुझे मुक्त करना था। दुर्योधन और कर्ण-ये दोनों अब एक ही राजमुद्रा के दो पक्ष बन गये थे। पृथ्वीतल पर या तो पाण्डवों का अस्तित्व रहेगा या फिर कर्ण ही, इस भावना से मुझे दुर्योधन की सहायता करनी थी।

एक महीने बाद प्रभंजन द्वैतवन से राजधानी की ओर लौटा। दुर्वासा और उनके प्रचण्ड शिष्य समूह के पीछे-पीछे सावधानी से यात्रा करते हुए उसने समस्त वृत्तान्त हस्तगत किया था।

आर्यावर्त के अपने सभी शिष्यों के साथ हस्तिनापुर से चलकर विभिन्न आश्रमों की यात्रा करते हुए पन्द्रह दिन में ही ऋषिवर्य द्वैतवन में पाण्डवों की पर्णकुटी के सामने जा धमके। उस विचित्र ऋषि ने प्रतिदिन भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्वान्नों की माँग कर पाण्डवों को सन्त्रस्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु एक अद्भुत थाली ने सबपर पानी फेर दिया। पांचाली के पास एक ऐसी थाली थी कि उससे प्रत्येक पक्वान्न अपने आप उत्पन्न हो जाता था। सभी बुभुक्षितों की क्षुधा शान्त करके भी वह थाली ज्यों की त्यों भरी ही रहती थी। अन्त में प्रभंजन ने बताया कि वह थाली पांचाली को सूर्यदेव ने दी थी। द्वैतवन छोड़ते समय स्वयं दुर्वासा ने उस रहस्यमय थाली को वन्दन किया और शाप के बजाय पाण्डवों को वरदान देकर वे हिमालय की ओर चले गये। महर्षि दुर्वासा दुर्योधन को सन्तुष्ट नहीं कर सके थे।

पीठ पर हाथों को बाँधकर उस समस्त वृत्तान्त को सुनते हुए पिंजड़े में बन्द शार्दूल की तरह दुर्योधन महल में चक्कर लगाने लगा। भौहें तानकर अपने उस विश्वस्त और प्रिय सेवक को फटकारता हुआ वह चिल्लाया, "मूर्ख ! यह अप्रिय समाचार अपने सम्राट् को सुनाने के बजाय पुरोचन की तरह वहीं जलकर क्यों नहीं मर गया तू ?"

प्रभञ्जन तत्क्षण थर-थर काँपने लगा। परन्तु उसका भी क्या दोष था ! आज्ञा का पालन तो उसने किया ही था।

"तू जा ।" मैंने उसको आज्ञा दी। सिर झुकाकर खिन्न मन से वह चला गया। व्याकुल विह्वल दुर्योधन की ओर क्षण-भर एकटक देखता हुआ मैं उससे बोला, "राजन्, पाण्डवों के कारण क्या सचमुच इतने व्याकुल हो उठे हो ? यदि ऐसा है तो राजसभा आमन्त्रित कर युद्ध का ही निर्णय तुम क्यों नहीं करते ? कोई साथ न दे, लेकिन मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम्हें यह पर्याप्त लगता है या नहीं ?"

"अंगराज, मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि गैरिक पर्वत की-सी दृढ़ता से पाण्डवों का सामना करनेवाला, सिंह की-सी छातीवाला, एक ही योद्धा आज हस्तिनापुर में है और वह है कर्ण।"

"तो फिर कभी सत्य न होनेवाली सेमल की रुई की तरह अन्य कल्पनाएँ क्यों करते हो ?"

"यह तुम कभी नहीं जान पाओगे। परन्तु फिर भी तुम्हारे कथनानुसार एक बार आमन्त्रित कर कुरु-योद्धाओं के विचार परखने में कोई हानि नहीं है।"

मेरे विचार से सहमत होकर, तुरन्त ही कार्यवाही करने का निश्चय पहली ही बार किया जा रहा था। उससे विदा लेकर लौटते समय दुर्योधन से सम्बन्धित एक बात प्रयत्न करने पर भी मेरे मन के प्रांगण से क्षण-भर के लिए भी दूर नहीं हो रही थी। ऐसी कौन-सी दिव्य भक्ति की साधना कर पांचाली ने सूर्यदेव से वह अद्भुत थाली प्राप्त की थी। यदि सचमुच ही उसकी भक्ति का मार्ग मुझको ज्ञात हो जाता तो बड़ी कठोरता से मैं उसका अवलम्बन करता। कोई थाली प्राप्त करने के लिए नहीं, शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए भी नहीं। केवल मुझे मार्ग दिखलानेवाले उन गुरु के अधिक समीप जाने के लिए, अपने जीवन को अधिक प्रकाशमय कर लेने के लिए।

अठारह

निश्चयानुसार दुर्योधन ने राजसभा आमन्त्रित की। इस सभा में सभी सदस्यों की खरी परख होनी थी। पाण्डवों से आँखमिचौली का अन्तहीन खेल कब तक खेलना था, यह तय होना था।

सभागृह पूर्ण होते ही अमात्य ने सभा का प्रयोजन बताया। अमात्य के तुरन्त बाद दुर्योधन उठा। अपनी पुष्ट छोटी उँगलियों की दृढ़ मुट्ठी बाँधकर उसने सभी सभासदों को सुनाया-“कुछ भी हो जाये लेकिन पाण्डव कुरुओं के सिंहासन को स्पर्श नहीं कर सकेंगे। आज एक महान् रहस्य का भेद मैं कुरुओं के प्राचीन और पवित्र सिंहासन को साक्षी बनाकर खोलूँगा। पितामह, महामन्त्री विदुर काका, महाराज और महारानी, गुरुदेव द्रोण और अश्वत्थामन्, अंगराज कर्ण और महावीर शोण, शकुनि मामा और राजनीति कुशल कणक आदि सबके सम्मुख मैं यह कह रहा हूँ। पाण्डव महाराज पाण्डु के औरस पुत्र नहीं हैं। जिस भयंकर शाप के भय से दिग्विजयी महाराज पाण्डु हस्तिनापुर छोड़कर अरण्य में चले गये थे, वह शाप क्या था, यह मैं बताता हूँ। सभी सभासद सावधान होकर उसको पुनः सुनें-वह शाप था-‘राजन्, प्रणय की इच्छा से जिस समय तू अपनी स्त्री को अंक में लेगा, उस समय मेरी तरह ऐसे ही तड़प-तड़पकर मर जायेगा ?’ फिर राजमाता कुन्ती और माद्री को पुत्र-प्राप्ति कैसे हो गयी ? इस सभागृह का एक भी सभासद क्या इस ज्वलन्त असत्य का समर्थन करने को तैयार है ? पाण्डव कुन्ती और माद्री के कलंकित पुत्र हैं, वे महाराज कुरु के इस पवित्र सिंहासन पर अपना अधिकार घोषित करते हैं, तो क्या आप सब लोग उसको स्वीकार कर लेंगे ? द्यूत में पाण्डवों के हारने पर सहानुभूति से जिनके हृदय पिघल उठे थे, उनको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि खाण्डव वन में इन्द्रप्रस्थ का राज्य स्थापित करने की पात्रता पाण्डवों में नहीं है। इस सभागृह के महाद्वार पर सेवक रूप में भी पाण्डवों को खड़ा करने का अर्थ है—पीढ़ियों से रक्तसिंचित इस पवित्र राजसिंहासन पर कालिमा पोतना ! बताओ, वे सामर्थ्यवान् हैं, केवल इसीलिए पाण्डवों के आगे नतमस्तक होकर, क्या मैं इस राज्य का आधा भाग या खाण्डव वन का राज्य इन्द्रप्रस्थ उनको दे दूँ ? आकाश को अपने कन्धों पर उठा लेनेवाले अंगराज कर्ण-जैसे महारथी जब कुरुओं की सहायता के लिए उपस्थित हैं, तब कुरुओं को पाण्डवों से भयभीत होने का कारण ही क्या है ? मैं तो उनको ‘पाण्डव’ कहने को भी तैयार नहीं हूँ। क्योंकि उनको पाण्डव कहने से महाराज पाण्डु की अवहेलना होती है। मैं तो उनको ‘कौन्तेय’ और ‘माद्रेय’ कहकर ही पुकारूँगा। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को समय रहते नष्ट करने के लिए मैं आज इस सभागृह के सभी सभासदों को आमन्त्रित करता हूँ। कुरुओं के वीर योद्धाओ ! जब तक कौन्तेय एकाकी और असहाय हैं, तभी तक क्या आपको उनका उन्मूलन नहीं कर देना चाहिए ? आप ही बताइए ।” दोनों हाथ अधर में फड़काते हुए उसने सभी सभासदों से प्रश्न किया।

दुर्योधन ने जो शब्द फेंके उनसे सभागृह के सभी योद्धा ऐसे उठ खड़े हुए जैसे किसी ने गदा का प्रहार कर दिया हो। कुछ लोग तो हाथ उठाकर चिल्लाये, “राजन, द्वैतवन की ओर जानेवाला मार्ग हमको इसी समय बताओ ! कौन्तेय नष्ट होने ही चाहिए। महाराज पाण्डु के पवित्र नाम का नीचतापूर्वक उपयोग करनेवाला कोई भी प्राणी इस हस्तिनापुर राज्य में जीवित नहीं रह सकेगा !”

आवेश में भरे सभी योद्धाओं के कोलाहल से सभागृह गूँज उठा। दुर्योधन की योजना का सभी योद्धाओं ने समर्थन कर दिया। सभी योद्धाओं का इतना ठोस समर्थन राजा दुर्योधन को आज ही मिल रहा था ।

"ठहरो !" पाषाण पर जैसे बाण का फल टकराया हो, ऐसा तीव्र स्वर आया। थरथराते हुए पितामह ने महाराज धृतराष्ट्र के हाथ से राजदण्ड अपने हाथ में ले लिया । पहले एक बार अखाड़े में मेरे लिए बोलते समय उन्होंने ऐसे ही वह राजदण्ड हाथ में ले लिया था। वही आवेश और वही तेज उस वृद्ध शरीर के कम्पन से उफन-उफनकर बह रहा था। निश्चित ही कोई चौंका देनेवाला सत्य अब सुनाई पड़ेगा। पाण्डवों के लिए प्रेमभावना सँजो रखनेवाला यह ज्येष्ठ कुरु सब किये कराये पर पानी फेर देगा। हाथ में राजदण्ड को ऊँचा करते हुए उस वृद्ध ने शब्दों के जिह्म बाण छोड़े।

"कुरुओं के योद्धाओ ! पिछली आधी घड़ी से दुर्योधन इस सभागृह में जो कुछ कह रहा है, वह जब से यह राजसदन बना है तब से आज तक किसी दास अथवा दासी ने भी न कहा होगा - महारानी कुन्ती कलंकित है। इसी सभागृह में विकर्ण ने जिन राजस्त्रियों का उल्लेख किया था, उन गिरिजा, सुदक्षिणा, तपती, नलिनी से या पांचाली से—इन सभी राजस्त्रियों से महारानी कुन्ती श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं, वरन् आज कोई मुझसे यह पूछे कि 'कुरुओं का सर्वश्रेष्ठ योद्धा कौन है ?' तो अभिमान से मैं उत्तर दूंगा—'कुन्ती !' क्योंकि एक स्त्री होकर भी, हिमालय-जैसे जिस उत्तुंग धैर्य के साथ उसने अनेक आपत्तियों का सामना किया है, वह धैर्य तुम लोगों में से एक भी योद्धा में मुझे कभी दिखाई नहीं दिया । इसीलिए जिस सत्य को मैं जीवन भर अपने हृदय में छिपाये रहा हूँ, कुरुओं के वंशवृत्तान्त का वह रहस्यमय सत्य आज विवश होकर मुझको कहना ही पड़ेगा। हाँ, तुम्हारे उफनते हुए क्रोध पर इस सत्य का शीतल जल छिड़कते हुए मेरा मन अत्यधिक सन्तप्त हो रहा है। जिस राज्य की रक्षा की योजना का नाम देकर दुर्योधन ने आपको भड़का दिया है, वह राज्य किसका है ? कौन हैं उसके वास्तविक वंशज ? धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कौरव ? या पाण्डु पाँच पुत्र पाण्डव ? किसको देना चाहिए यह राज्य ? इस राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार वास्तव किसका है ? यह राजदण्ड किसके हाथ में रखना चाहिए ? सम्पूर्ण आर्यावर्त को अपने शौर्य से थर्रा देने वाले कुरु योद्धाओ ! यह सत्य सुनते समय तुम्हारे हृदय आज

विस्मय से विदीर्ण हो जायेंगे कि जिस अनादि कुरुवंश की तुम्हारे पितरों ने सेवा की है उसके वंशज..." अपना शुभ्र केशांकित मस्तक उन्होंने चारों ओर घुमाया ।

चारों ओर उत्सुकतापूर्ण शान्ति छा गयी । किसका नाम सुनाई देगा ? कौरवों का या पाण्डवों का?

“उसके वंशज-कौरव भी नहीं और पाण्डव भी नहीं हैं !”

सबने साँस रोक ली। रीढ़ की हड्डी सीधी कर मैं भी चौकन्ना हो गया। मेरे सारे शरीर पर अभेद्य कवच क्यों है, इस बात पर मुझको उतना आश्चर्य नहीं हुआ था, जितना आश्चर्य जीवन-भर की धारणा का उन्मूलन कर देनेवाले उस महान् सत्य को सुनते हुए मुझे हुआ। हम सब यह क्या सुन रहे थे ? उस कथन पर कैसे विश्वास हो सकता था ? लेकिन कहनेवाले तो पितामह थे। अर्थात् वह सत्य ही था।

"तो फिर कौन है कुरुकुल का सच्चा वंशज ?" किसी ने धैर्यपूर्वक सभागृह की शान्ति को भंग किया।

"मैं !" हाथ में थरथराता हुआ राजदण्ड सँभालते हुए पितामह भीष्म के रूप में हिमालय का वह उच्च शिखर बोलने लगा। उनका एक-एक शब्द उस शिखर से गिरनेवाला भीतिदायक प्रपात ही था—“तुम्हारे सामने खड़ा हुआ यह भीष्म ही अन्तिम कुरु है, जो इस अवस्था में भी आशा की किरण ढूँढ़ रहा है। कौरव-पाण्डव कुरु-कुलोत्पन्न नहीं हैं। फिर भी वे आज न जाने क्या सोचकर जन्म-जन्म के वैरियों की तरह अपने मस्तिष्क एक-दूसरे से टकरा रहे हैं, इसके कारण का पता लगाते हुए मेरा मन विषण्ण हो रहा है। इसीलिए कुरुकुल का सत्य वंशवृत्तान्त बताने के लिए ही मैं अपने मन पर भारी पाषाणों का भार रखकर खड़ा हूँ। ध्यान देकर सुनिए कि धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—ये एक-दूसरे के भाई हैं। उनका पिता एक ही है। पराशरपुत्र व्यास । हाँ, माताएँ अलग-अलग थीं। इस सभागृह में बैठे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र व्यास के वंशज हैं। युवराज दुर्योधन भी। और पाण्डव पाण्डु के पुत्र नहीं हैं, यह जितना सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि वे पाप के भी पुत्र नहीं हैं। महारानी कुन्ती और माद्री को ऋषिवर्य दुर्वासा के शक्तिमान् मन्त्रों से प्राप्त हुए पाण्डव पाप से उत्पन्न हैं, यह कौन कह सकता है ? और इससे भी अधिक भयानक सत्य यह है कि जैसा कि आप लोग समझते हैं, वैसे पाण्डव पाँच ही नहीं हैं ! एक और 'छठा-पाण्डव' भी है, लेकिन वह संसार को कभी दिखाई नहीं दिया...क्योंकि...क्योंकि मैंने उसको अपने जन्म से ही दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ा हुआ देखा है। उसके लिए मेरा हृदय तिल-तिलकर टूटता रहा है।

“इसीलिए अन्तिम बार मैं कहता हूँ...तुम कुरु लोगों के अन्तिम के रूप में कहता हूँ कि जिस राज्य का दिग्विजयी पाण्डु ने विस्तार किया और इस धृतराष्ट्र ने जिसका पालन-पोषण किया, उस राज्य को कौरव और पाण्डव आधा-आधा बाँट लें। कौरवों का नेतृत्व

करनेवाले और कुशल गदावीर के रूप में प्रसिद्ध दुर्योधन को कम से कम अपने गदागुरु का आदर्श ही आँखों के आगे सदैव जाग्रत रखना चाहिए। उसका गुरु बलराम अपने भाई श्रीकृष्ण का परामर्श लिये बिना तिनका तक नहीं तोड़ता। कौरवों पाण्डवों को बलराम श्रीकृष्ण का सम्बन्ध आँख खोलकर देखना चाहिए। और जिस कर्ण का दुर्योधन ने गौरवपूर्ण उल्लेख किया है, उस वीर कर्ण को भी आकाश में एक सौ पाँच सीढ़ियाँ खड़ी कर उनपर अपना पैर रखने का कर्तृत्व दिखाना चाहिए। इस सभागृह के एक भी सभासद को यह नहीं भूलना चाहिए की राजमाता कुन्ती पवित्र है और उसके पुत्र तेजस्वी महावीर हैं।" थर-थर काँपते हुए पितामह नीचे बैठ गये।

सभा का काम आगे कैसे चला, इस ओर किसी का ध्यान नहीं था। बाद में महामन्त्री विदुर, अमात्य एवं महाराज बोले, परन्तु किसी का भी मन इतना स्वस्थ नहीं था जो उनकी बातें सुनता, हाँ, महारानी गान्धारी देवी को अकस्मात् खड़ी होते देखकर सबके आश्चर्य की सीमा न रही। वे जैसे-तैसे एक ही वाक्य कह पायीं, "दुर्योधन, अब भी चेत जा और पाण्डवों को वन से वापस बुला ला ।" आच्छादित आँखोंवाला मुख क्षण भर सभागृह पर घुमाकर वे भी आसनस्थ हो गयीं।

सभा विसर्जित हो गयी। सभागृह छोड़ते समय मेरा मन केवल एक ही बात की ओर चक्कर काट रहा था । पितामह ने जिसका उल्लेख किया था वह 'छठा पाण्डव' कौन था ? यदि पाण्डवों से समझौता असम्भव ही हो जाये, तो वह अचानक कहीं से आकर अपने भाइयों की सहायता करेगा क्या? जैसे सभी पाण्डव मन्त्रशक्ति से उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही वह भी क्या मन्त्र से ही उत्पन्न हुआ होगा ? कितना सामर्थ्यशाली होगा वह ? उससे लड़ते समय मैं कहीं दुर्बल तो नहीं पढ़ूँगा ? जन्म से ही वह अभागा कैसे है ? और अन्य पाण्डवों को भी सौभाग्यशाली कौन कहेगा ? विचारों के आवर्त में मेरा मन शुष्क पर्ण की तरह चक्कर काट रहा था। पाण्डव और कौरव-इनमें से कोई भी कुरुकुल का नहीं है। पितामह भीष्म यदि अन्तिम कुरु हैं, तो राजसिंहासन किसका है, यह प्रश्न क्या अब और अधिक जटिल नहीं हो गया था ? कौन सुलझायेगा इस गुत्थी को ? मेरे मन के प्रांगण पर शंकाओं के घोड़े स्वच्छन्द चौकड़ी भरने लगे ? किसको रोका जाये, यही समझ में नहीं आता था। सिर झुकाकर बोझिल चरणों को धीरे-धीरे रखता हुआ मैं सभागृह के बाहर बने हुए शुभ्र पाषाणों के फर्शवाले चबूतरे को पीछे छोड़ता जा रहा था । अस्त होते हुए सूर्य की किरणें राजप्रासाद की चहारदीवारी के ऊपर से फिसलती हुई उस फर्श पर गिरकर बिखरने के कारण एक विचित्र रंग पैदा कर रही थीं। मेरे कन्धे पर पड़े हुए अतलसी उत्तरीय का एक छोर खिसककर नीचे गिर पड़ा था, वह फर्श पर फरफराता आ रहा था। उत्तरीय का जो छोर देह पर था, वह मैंने चलते-चलते ही कलाई के चारों ओर कसकर लपेट लिया। कुछ

भी समझ में नहीं आ रहा था। संसार में किसी के दुख किसी के हृदय में क्यों कसक पैदा करते हैं ? यह संसार आखिर है क्या ?

उत्तरीय को अचानक झटका लगा। वह किसी में उलझ गया होगा, यह सोचकर उसको छुड़ाने के लिए मैं मुड़ा। उत्तरीय का छोरे हाथ में कसकर पकड़े हुए अश्वत्थामा खड़ा था। मुझको देखते हुए वह हँस पड़ा। मुझको आश्चर्य हुआ। क्षण-भर पहले सभा में जो कुछ हुआ था, उसका कोई भी परिणाम उसके मन पर क्यों नहीं पड़ा था ?

"किस विचार में डूबे हुए हो इतने ?" आगे बढ़कर उत्तरीय मेरे कंधे पर लपेटता हुआ वह सदैव की भाँति स्नेह से बोला।

"विचार में ? कहाँ ?" मैंने अटपटा-सा उत्तर दिया। इतना उत्तर सुनकर वह मानेगा नहीं, यह मैं जानता था।

"चलो नगर के बाहर कुछ दूर घूम आये। तुम बहुत ही अस्वस्थ दिखाई पड़ रहे हो।"

"नहीं। इस समय कहीं जाने की इच्छा नहीं हो रही। तुमको यदि संगी की आवश्यकता हो तो शोण को ले जाओ।" मैं कहीं नहीं जाना चाहता था।

"शोण और कर्ण में महान् अन्तर है। मैं कर्ण के साथ जाना चाहता हूँ। चलो।" उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेते हुए राजभवन के महाद्वार की ओर उँगली उठायी। विवश होकर मुझको उसके साथ जाना पड़ा। क्योंकि मेरे अतिरिक्त किसी अन्य से वह ऐसा आग्रह कभी नहीं करता।

उसके साथ चलते-चलते महाद्वार की देहरी पार करते हुए ही मुझसे रहा न गया और मैंने उससे पूछा, "आज पितामह भीष्म ने जिसका उल्लेख किया था, वह छठा पाण्डव कौन होगा, तुम्हारा क्या विचार है ?"

"यह कैसे बताया जा सकता है ? पाण्डव छह हैं, इस सत्य पर वास्तव में विश्वास नहीं हो सकता, परन्तु चूँकि पितामह ने कहा है, इसलिए वह निश्चय ही सत्य होगा। यह छठा पाण्डव कौन है, यह जानकर हमें करना ही क्या है—हाँ, वह कैसा होगा यह अनुमान कोई भी कर सकता है।" उसने भी महाद्वार की देहरी पार की। हम लोग पैदल ही नगर के बाहर चल दिये।

"कैसा होगा वह ?" अश्वत्थामा जीवन का गम्भीर विवेचक था।

"वह निश्चय ही पाण्डवों-जैसा नहीं होगा।"

"तो फिर कैसा होगा वह ? पाण्डवों से भिन्न उसमें क्या होगा ?"

"सब कुछ ! हो सकता है कि वह पाँचों पाण्डवों से अधिक सरस हो। शायद वह उन पाँचों से छोटा हो। जिस वातावरण में वह पला होगा, वही उसका जीवन होगा। क्योंकि

संस्कार ही जीवन है। फूलों के परागदण्ड में छिपा हुआ कृमि भी सत्संगति से देवमूर्ति पर चढ़ाया जाता है।"

"किसी व्यक्ति के प्रति हमारे विचार बड़े अनुकूल होते हैं, लेकिन किसी-किसी के प्रति हमें बिलकुल स्नेह नहीं होता। अकारण ही ऐसा क्यों होता है, अश्वत्थामन् ?" मैंने उससे पूछा।

"किसी भी व्यक्ति के प्रति हमारे विचार बचपन से ही बना करते हैं। प्रसंगानुसार कभी कभी उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन भी हो जाता है। परन्तु बचपन में अनादर की जो भावना बन जाती है वह पैर में कंकड़ लगने के बाद जमे हुए रक्त की तरह होती है। आगे चलकर यह जमा हुआ रक्त ही एक कठिन गाँठ बन जाती है। बचपन में जो अनादर की भावना होती है, वह युवावस्था में और भावी आयुष्य में और दृढ़ होती जाती है। इस कठिन गाँठ के अटल कष्ट से अच्छे-अच्छे सशक्त व्यक्ति को भी मैंने लँगड़ा-लँगड़ाकर चलते हुए देखा है, अंगराज ! इसीलिए जीवन के निर्माण में मैं बचपन को एक महत्त्वपूर्ण काल मानता हूँ।"

"इसका अर्थ यह है कि नवजात शिशु का मन बिलकुल सुवर्णताल-जैसा निर्मल होता है। उसको संसार की—मानवीय उलझनों की—बिलकुल जानकारी नहीं होती है, परन्तु आस-पास की परिस्थिति अपने अशुभ करों से जब एक बार ही उसका स्पर्श कर लेती है, तब उन करों के चिह्न उस ताल पर भी स्पष्ट उभरने लगते हैं, क्या तुम यही कहना चाहते हो ?"

"केवल चिह्न उभरते ही नहीं हैं, राधेय ! बल्कि सुवर्ण की तेजोमय पृष्ठभूमि में वे भी सूर्यप्रकाश में चमकने लगते हैं। गुणों के साथ ही अनजाने दोष भी प्रकट होने लगते हैं। क्योंकि नवजात शिशु का मन धोकर साफ़ किये हुए सूखनेवाले वस्त्र-जैसा होता है। नाम को भी कहीं एक भी सिकुड़न उस पर नहीं होती। परन्तु प्रौढ़ का मन धोने के बाद सूखे हुए और सिकुड़नों से भरे हुए वस्त्र-जैसा होता है। उसमें श्रद्धा का, मांगल्य का जो जल होता है, वह वाष्प होकर उड़ जाता है। घनीभूत हो जाते हैं केवल उलझे हुए शुष्क धागे ! कितने धागे—कितनी सिकुड़नें ! जैसे उनका कोई अन्त ही न हो ! द्वेष, तिरस्कार, स्वार्थ, असूया, एषणा, दम्भ, ढोंग, क्रूरता, क्रोश, किंकर्तव्यता, अज्ञान, अहंभाव, आसक्ति, आत्मश्लाघा, करुणा, वात्सल्य, ममता, प्रेम, काम, विवशता, उद्वेग, आत्मपीड़न, मत्सर, मोह, असहनशीलता, निराशा और विफलता ! कितनी सिकुड़नें हैं ये ! हर व्यक्ति के जीवन-वसन को घेरे हुए।"

कभी-कभी अश्वत्थामा इतनी तेजस्वी बात कहता था कि मेरी इच्छा होती थी कि उसकी बातें निरन्तर सुनता ही रहूँ।

"तो फिर इसमें से मार्ग निकालने का क्या कोई भी उपाय नहीं ? ये सिकुड़ने ही क्या जीवन हैं ?" इस प्रश्न का वह जो भी उत्तर देगा, वह अमृतस्नात और अत्यन्त स्वच्छ ही होगा।

"मार्ग क्यों नहीं है ? अवश्य है ! तुमने मछुए का जाल देखा है न ? कितना गुल्मगुल्म होता है वह परन्तु उस जाल में इच्छानुसार घूमनेवाले मछुए को उसमें फँसकर मरते देखा है कभी तुमने ? शरीरस्थ मन के इन असंख्य धागों में कभी न फँसनेवाला एक मछुआ तुममें, मुझमें, समस्त चराचर में है।"

"वह कौन है ?"

"आत्मा ! और इस आत्मा का स्थायी भाव है प्रकाश। प्रकाश का अर्थ ही है शरीर की चेतना ! वह चेतना जो कभी किसी बन्धन में फँस ही नहीं सकती। परन्तु यह चेतना क्या है। यह जानने की उत्कट इच्छा होनी चाहिए। इसके लिए जीवन पर अटूट श्रद्धा आवश्यक है।"

"कोई ऐसी श्रद्धा का जीवन में पालन करने का प्रयत्न करे, परन्तु उसकी श्रद्धा को प्रचण्ड आघात देनेवाले सत्य आस-पास घिर आये और उसकी श्रद्धा डगमगाने लग जाये तथा इच्छा न होने पर भी वह श्रद्धाहीन हो जाये तो इसमें उसका कुछ दोष ? यदि दोष हो भी, तो वह परिस्थिति का है, यही कहा जायेगा।"

"नहीं राधेय, यह नहीं कहा जा सकता, तुमने श्रद्धा का अर्थ अच्छी तरह नहीं समझा है। मृत्यु के महाद्वार पर भी जिस श्रद्धा पर आँच नहीं आती, वही तो सच्ची श्रद्धा है ! सच्चा श्रद्धावान् कभी श्रद्धाहीन नहीं होता और न परिस्थिति पर दोषारोपण ही करता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति केवड़े के उस व्यर्थ बालों-जैसा होता है जो सुगन्धित केवड़े के भीतर रहकर भी गन्धहीन रहता है। ऐसा व्यक्ति सौ वर्ष की आयु पाकर भी सचमुच कुछ भी नहीं पाता !

उसकी आँखों से तेज के स्फुलिंग बरसने लगे। मुखमण्डल ब्रह्मतेज से दीप्त हो गया।

"श्रद्धा ! मनुष्य किस-किस पर श्रद्धा रखे ? और श्रद्धा का ठीक अर्थ क्या है?" उसको उत्तेजित कर उसकी वाणी को पुष्पित करना मेरा नित्य का नियम था ।

"श्रद्धा है कँटीले जीवन की हरियाली ! अपने ऊपर श्रद्धा होनी चाहिए। जिसकी अपने ऊपर, अपने दिव्यस्वरूप पर श्रद्धा नहीं है, वह संसार के लिए, औरों के लिए कुछ भी नहीं कर सकता।"

"दुर्योधन ने पाण्डवों को राज्य देने का प्रबल विरोध किया, वह राज्य केवल कौरवों का है, पाण्डवों का नहीं, इस बात पर उसको मन ही मन श्रद्धा है इसीलिए तो ?"

"कदापि नहीं ! स्वार्थ का अर्थ अपने ऊपर श्रद्धा करना नहीं है। ठीक यही तो भूल होती है।"

"स्वार्थ ही सही, लेकिन वह अनुचित कैसे है ? प्रकृति ने ही तो यह विचार मनुष्य को दिया है ?"

“हो सकता है कि स्वार्थ का विचार करना भूल न हो। परन्तु इस विचार की मर्यादा तो होनी ही चाहिए। एक इन्द्रिय जीभ को देखो। यदि कोई यह निश्चय कर ले कि संसार के सभी रसों का आस्वाद लेना है जी भरकर। और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह जीवन-भर राक्षसी प्रयत्न करता है। पर क्या फिर भी, उसके जीवन में उसकी इच्छा की पूर्ति कभी हो सकती है ? सभी स्वार्थी विचार ऐसे ही होते हैं। चारों दिशाओं में व्याप्त विधाता के इस असीम जगत् को कोई व्यक्ति कभी अकेला ही बाँहों में भरना चाहे, तो यह सम्भव नहीं। क्योंकि आदिशक्ति ने ही मनुष्य को सभी क्षेत्रों में सीमित कर दिया है। राजभवन की प्राचीर के पास उगे हुए तृणांकुर को राजभवन की जितनी जानकारी है, वास्तव में ठीक उतनी ही जानकारी मनुष्य को जगत् की है। श्रीफल जितनी मानव की बुद्धि विश्व को अपनी बाँहों में कभी नहीं भर पायेगी।”

“तो फिर जीवन आखिर है क्या ? केवल एक दुर्घटना !” मैंने विषय को थोड़ा बदला।

“नहीं ! जीवन है जन्म-मरण के प्रवाह में सतत बहनेवाली सरिता ! परमात्मारूपी सागर से मिलने को व्याकुल। मुक्ति के लिए छटपटाती हुई।”

“मुक्ति, यानी केवल वेदनाहीन मृत्यु-मुक्ति के सम्बन्ध में तुम्हारा यही विचार है क्या ?

“नहीं ! मुक्ति है अविरत अखण्ड प्रकाश। चेतनामय, प्रकाशमय, शरीरहीन, भावहीन अस्तित्व ! आत्मा का केवल एकमात्र भाव-प्रकाश ! आँखें खोलकर यदि अपने चारों ओर देखो तो समस्त सजीव चराचर प्रकाश के एक-एक कण के लिए कितना तरस रहा है—यह देखकर तुम दिङ्मूढ़ हो जाओगे। कृमिकीटक दीपज्योति पर ही क्यों टूटते हैं ? वनस्पतियाँ, लता-बेलें, तृणांकुर सभी अपना-अपना मुख आकाश की ओर उठाकर प्रकाश के लिए ही क्यों छटपटाते हैं ? यह भूलकर किसी का भी काम नहीं चल सकेगा कि जीवन का स्थायी भाव प्रकाश है।

“फिर यह प्रकाश मनुष्य को सहज प्राप्य क्यों नहीं है ? जीवन का यदि यही मूल उद्देश्य है तो फिर वह इतना दुष्प्राप्य क्यों है ?”

“जीवन का उद्देश्य प्रकाश है, परन्तु वह एकदम अन्तिम उद्देश्य है। उसको प्राप्त करने के लिए अनुभूति आवश्यक है। भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव-विभावों की अनुभूति ! विविध अनुभव लेने के बाद भी 'मैं जो ढूँढ़ रहा हूँ, वह यह नहीं है !' यह जान लेने के बाद मानव अन्त में अपनी अन्तरात्मा की ओर मुड़ेगा। इस प्रकार मुड़ने के लिए वह विवश है। मानव जाति के आगे अध्यात्म ही एकमात्र ऐसा अटल मार्ग रहेगा जो उसको विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा।”

“नहीं अश्वत्थामन् ! काल के कितने ही पट फाड़कर भविष्य की एक झलक पाने के लिए मैंने बुद्धि पर बल दिया है, परन्तु जिस शुभ दिन का तुमने उल्लेख किया है, वह कभी उदित

होगा, इसपर मैं ही क्या कोई भी विश्वास नहीं करेगा, ऐसा मुझको लगता है। आशा-आकांक्षाओं को हृदय से लगाकर दौड़ते रहने में क्या रखा है ?"

"अब भी तुम भ्रम में ही पड़े हुए हो। लेकिन इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। वास्तव में मानव का मन ही बड़ा विचित्र है। रथ के चक्र की तरह ! इस चक्र में अनेक आरे होते हैं। परन्तु सच्चा आलोचक उस विशिष्ट धुरे पर ध्यान देता है, जिसके चारों ओर ये आरे घूमा करते हैं। तुम्हारा कहना है कि भविष्य की एक झलक पाने के लिए तुमने काल के असंख्य पट फाड़कर देखे हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वास्तव में ही काल के असंख्य पट होते हैं ? या हम अपनी सुविधा के लिए दिन, महीना, ऋतु और वर्ष—इस कारावास में काल को व्यर्थ ही बन्द करना चाहते हैं। मुझको ऐसा लगता है कि भवितव्य मनुष्य द्वारा निर्मित एक भयानक भूल है। थोड़ी गम्भीरता से विचार करके देखो । काल कभी भूत और भविष्य होता है क्या ? काल अखण्ड है और अखण्डत्व का ज्ञान ही वास्तव में मनुष्य को निर्भय कर सकता है।" उसकी दिव्य प्रज्ञा उमड़-उमड़कर बहने लगी। बातें करते-करते हम कब नगर से आधा योजन दूर आ गये, इसका हमें पता भी न चला। नगर के बाहर स्थित विष्णु-मन्दिर आ गया। जब आये हैं तो दर्शन करके ही जायें, यह सोचकर हमने मन्दिर में प्रवेश किया। सन्ध्या घिरती आ रही थी। गुलाबी रंग की पश्चिमीय क्षितिज की पृष्ठभूमि पर कुछ सारंग पक्षी कोलाहल करते हुए घरों की ओर लौट रहे थे।

दर्शन करके हम मन्दिर से बाहर आये। अश्वत्थामा ने गर्भगृह का जो घण्टा बजाया था, उसके अनुकम्पित कुछ गूढ़ रम्यस्वर मेरे कानों में गूंज रहे थे।

मन्दिर से बाहर आते ही ऊपर देखते हुए उसने शिखर की ओर अपनी उँगली उठायी, "वह देखा क्या ?" अचल खड़े होकर उसने पूछा ।

"हाँ, अस्त होती हुई किरणों में शिखर पर रखा सुवर्णकुम्भ चमक रहा है, बड़ा आकर्षक लग रहा है।"

"नहीं । शिखर पर रखे सुवर्णकुम्भ के बारे में नहीं। उसके नीचे मन्दिर के सिर पर पाषाण की पतली-सी दरार में हाल ही में उगे हुए पीपल के उस पौधे को देखो।"

"क्या उपयोग है उसका ?"

"उपयोग ? तुम्हारी दृष्टि में भले ही न हो, परन्तु मेरी दृष्टि में बहुत है। सुकोमल लाल पत्तियाँ हिलाकर वह कह रहा है कि इस पाषाण के माथे पर पैर रखकर भी मुझको जीना है । हवा के झोंकों से जूझना है, प्रतिकूलता के पाषाण के आगे एक साधारण पौधा भी सिर झुकाने को तैयार नहीं है इस प्रकृति में। और मनुष्य है कि..."

कहते-कहते वह बीच में ही रुक गया। हम लोग नगर की ओर मुड़े। मार्ग में ही युद्धशाला आयी जहाँ उसकी पर्णकुटी थी। प्रेमपूर्वक मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर वह थपथपाता

हुआ बोला, “राधेय, भूल जाओ सब, जो कुछ मैंने कहा है। न तो मैं कोई बड़ा ब्रह्मज्ञानी हूँ और न तुम्हारा ही जन्म जीवन के गूढ़ रहस्यों पर विचार करने के लिए हुआ है। तुम्हारा जन्म केवल कृत्य के लिए है। क्योंकि जीवन के जिस मार्ग पर तुम चलते आये हो, वह केवल देदीप्यमान कृत्यों से ही भरा हुआ है।” मेरा हाथ छोड़कर वह युद्धशाला के महाद्वार के पुरुष-भर ऊँचे उपद्वार से भीतर चला गया। उस ठिंगने उपद्वार को पार करते समय उसके सिर पर का बँधा हुआ वस्त्र द्वार की चौखट से कुछ छू गया। क्षण में ही वह द्वार के पीछे अन्तर्धान हो गया। कितना गम्भीर विवेचन था उसका ! जीवन के अनेक प्रश्नों को वह समय-समय पर मुझको बताया करता था। उसने जाते-जाते कहा था, “तुम्हारा जन्म केवल कृत्य के लिए है।”

यों तो सभी का जन्म कृत्य के लिए ही होता है। परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से जीवन का अर्थ लगाता रहता है।

मैं लौटा। राजभवन की प्राचीर से अन्दर जाते समय अश्वशाला में पिताजी दिखाई दिये। घोड़ों को खाद्य देनेवाले सेवकों को कुछ आदेश दे रहे थे। वृद्धावस्था के कारण अब उनका शरीर जर्जर हो गया था। कमर झुक गयी थी, परन्तु मन का उत्साह अभी ज्यों का त्यों था। मैं उनसे कई बार अच्छी तरह कह चुका था कि 'अब आप विश्राम करें।' परन्तु उनका एक ही निश्चित उत्तर था, “वसु, शरीर थक जाता है, परन्तु मनुष्य का मन कभी नहीं थकता, उसको तो कुछ न कुछ उद्योग चाहिए ही।”

उनके बताये हुए ऐसे ही मौलिक विचारों से मेरा जीवन निर्मित हुआ था। उन्हीं के अपार कष्टों से मेरे जीवन की पर्णकुटी एक भव्य राजभवन में परिणत हो गयी थी। जहाँ तक मेरी जानकारी थी, निखिल आर्यावर्त में मैं पहला ही ऐसा सूतपुत्र था, जिसके सिर पर सुवर्णकिरीट रखा गया था और उसका एकमात्र श्रेय मेरे माता-पिता को था। सम्पत्ति, कीर्ति, पारिवारिक सुख, पुत्रसुख—सभी कुछ मेरे चरणों पर लोट रहा था। परन्तु इन सबसे अधिक सुख मुझे माता-पिता की इतने लम्बे समय तक मिली हुई स्नेहच्छाया ने ही प्रदान किया था। भवन पर सभी लोग राधामाता को राजमाता कहते थे। यह सुनकर वृषाली मेरे प्रति प्रेम से अभिभूत होकर मुझसे कहती थी, “आपके कारण ही सब लोग उन्हें राजमाता कहते हैं।” परन्तु वह बावरी क्या जाने कि मेरी माता के कारण ही सब लोग मुझको 'कर्ण' कहते थे, अंगराज कहते थे, महाराज कहते थे।

इसीलिए मैं अश्वशाला में गया। सिर झुकाकर मुदु स्वर में बोला, “पिताजी, आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया? इन सब कामों को सेवक अच्छी तरह कर ही रहे हैं, और फिर उनके ऊपर देखभाल के लिए संजय काका हैं ही।”

डगमग करती ग्रीवा सँभालते हुए वे बोले, “कौन, वसू ? बेटा, जन्म-भर की आदत इतनी जल्दी नहीं छोड़ सकता है कोई । तू छोड़ देगा अपने हाथ के धनुषबाण? भवन में मन नहीं

लगता है। घोड़ों में रहा हूँ, घोड़ों में बड़ा हुआ हूँ। उनका खुरफुर करना ही मेरा संगीत है। देख तो, यहाँ कितने प्रकार के घोड़े हैं। उनकी ओर देखने मात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट हो जाता है।"

"परन्तु....अब सन्ध्या हो गयी है। अब भवन में चलिए। मैं भी ऊपर ही जा रहा हूँ।"

"चल," उन्होंने अपना हाथ मेरे हाथ में दे दिया। मेरे हाथ का आधार लेकर वे चलने लगे। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते जितनी बन सके, उतनी उनकी सेवा करना मेरा प्रथम कर्तव्य था। मेरे कन्धे पर भार डालते हुए राजभवन की एक-एक सीढ़ी वे धीरे-धीरे चढ़ने लगे। जिस दिन मैं हस्तिनापुर में आया था, उस प्रथम दिन भी उनका हाथ पकड़कर ही मैं इन सीढ़ियों पर चढ़ा था। आज वे मेरे कन्धे का आधार लेकर उनपर चढ़ रहे थे।

उन्नीस

पिताजी को उनके महल में पहुँचाने के लिए मैं गया। वहाँ राधामाता को घेर कर सुषेण, वृषकेतु, सुशर्मा व मीनाक्षी-ये सब बैठे हुए कथा सुन रहे थे। मुझको देखते ही सबके सब आनन्द से तालियाँ पीटने लगे। सबसे छोटा वृषकेतु तो दौड़ता हुआ आया और मेरे पैरों से ही लिपट गया। और अब सब पर्याप्त समझदार हो चुके थे। अवस्था छोटी होने पर भी मेरे वे पुत्र हृष्ट-पुष्ट होने के कारण बड़े प्रतीत होते थे। मेरे प्रति उन सबके मन में जितना भय, जितना आदर था, उतना ही प्रेम भी था।

वृषकेतु के सिर पर हथेली थपथपाते हुए मैं बोला, "इनकी तरह तू कब बड़ा होगा?"

"हम छोटे ही लहेंगे।" वह तोतले स्वर में बोला।

"क्यों रे?"

"बले लोगों को महामाता को नमस्कार कलना पलता है। मैं तो उनकी गोद में बैठता हूँ।" छोटे होने से उसको जो लाभ थे, वे बड़े रोचक थे। उसको उठाकर मैंने स्नेह से उसके मस्तक का अवघ्राण किया। उस नटखट ने भी दोनों हाथों से मेरे कुण्डलों को सदैव की भाँति हिलाये-डुलाये। राधामाता को अभिवादन कर मैं वहाँ से चल दिया। नातियों में रमी हुई माता को देखकर मैं धन्य हो जाता था, मेरा शरीर रोमांचित हो उठता था।

मैं अपने महल में आया। पाकशाला में भोजन तैयार करने में लगी हुई वृषाली को मेरे आगमन की सूचना मृणाल ने दी होगी। यों तो पाकशाला में भोजन बनाने के लिए अनेक सेविकाएँ थीं, परन्तु फिर भी मेरी रुचि के विशेष व्यंजन वृषाली स्वयं पाकशाला में बैठकर तैयार करवाती थी। मृणाल से सूचना पाते ही वह झटपट महल में आयी। मैंने सिर से मुकुट

उतार लिया था। वह मेरे हाथ में था। आगे बढ़कर मेरे हाथ से मुकुट लेती हुई वह बोली, “आज क्या इतनी देर तक सभा का काम-काज चल रहा था ?”

“नहीं वृषाली....गुरुपुत्र के साथ आज पैदल ही नगर के बाहर घूमने चला गया। अश्वत्थामा का नाम सुनते ही उसकी प्रश्नावलि रुक गयी। किरीट उसने धीरे से लकड़ी के आसन में जमा दिया।

भोजन के थाल लगने की सूचना देकर मृणाल पिताजी को बुलाने चली गयी। उनका हाथ पकड़कर वह धीरे-धीरे उनको ले आयी। उनके पीछे-पीछे वृषसेन, प्रसेन, भानुसेन, सुशर्मा, सुषेण, चित्रसेन—सभी आ गये। विगत चौदह वर्षों से नित्य ऐसा ही होता आ रहा था। हम सब पुरुष लोग एक स्थान पर बैठकर भोजन करते थे। पिताजी जब पहला कौर ले लेते, तभी अन्य सब प्रारम्भ करते थे। हमारे बाद स्त्रियों की पंक्ति बैठती थी। वे भी जबतक राधामाता पहला कौर नहीं ले लेतीं, तबतक अन्न को स्पर्श नहीं करती थीं।

वृषाली प्रतिदिन नये-नये व्यंजन तैयार करवाती थी। भोजन के सन्दर्भ में सब उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते थे। कभी वह अपूप, परिवाप, पक्ती, क्षीरौदन आदि पदार्थ बनवाती। कभी-कभी गोरस में प्लाशुक, मुद्गौदन आदि तैयार करवाती। इनके अतिरिक्त आमिक्षा, दधि, नवनीत, पयस्य, पीयूष, फास्ट आदि गाय के दूध के विविध पदार्थ होते। मुद्गको अपूप और नवनीत—ये पदार्थ बड़े अच्छे लगते। उनको भोजन में बार-बार देखकर शोण तिरछी दृष्टि से मेरी ओर देखता हुआ वृषाली से कहता, “भाभीजी, बार-बार खाने के कारण ये अपूप अब हमको भी अच्छे लगने लगे हैं। अब वे वास्तविक रसिक के भाग में कम ही आयेंगे।” और तब दूसरे दिन भोजन में शोण का प्रिय पदार्थ क्षीरौदन अवश्य होता। कभी-कभी मालढोक पक्षी के सुस्वादु मांस का रसा भी होता।

“सत्यसेन कहाँ है ?” वह पंक्ति में दिखाई नहीं दिया इसलिए मैंने पूछा।

उसकी पत्नी पुष्पावती ने सिर झुकाकर कहा, “कुरुओं का एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर मद्रदेश की राजधानी शाकल नगर को गये हैं वे।” मद्रराज शल्य मिलकर लौटने में उसको आठ दिन तो लग ही जायेंगे। अब आठ दिन तक पंक्ति में उसकी थाली रखी जायेगी और फिर उसका भोजन ज्यों का त्यों गाय को दे दिया जायेगा।

परन्तु मेरा मन भोजन की ओर नहीं था। और सब बड़े स्वाद से खाद्य पदार्थों पर हाथ मार रहे थे। केवल शोण ही यह जान सका कि मैं नित्य की तरह भोजन नहीं कर रहा हूँ। उसने वृषाली से कहा भी, “भाभीजी, सब लोग यह कहते हैं न कि पुत्र-प्राप्ति के बाद स्त्रियों का पति पर प्रेम कम हो जाता है, यह मिथ्या नहीं है। नहीं तो, भैया आज जिस प्रकार भोजन कर रहे हैं, यह आप अवश्य जान जातीं।”

“नहीं शोण, उसकी कोई भूल नहीं है।” मैं उसको टोकता हुआ बोला।

"क्यों वसू, आज तो अपना प्रिय पदार्थ खाने में भी तुम्हारी रुचि नहीं दिखती ?" पिताजी ने आखिर पूछ ही लिया ।

"नहीं तात, एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर रहा हूँ मैं। उसको सुनकर आपको भी आश्चर्य होगा।"

"कैसा प्रश्न ?"

"छठे पाण्डव का। आपको यह ज्ञात है क्या कि पाण्डव पाँच नहीं हैं, छह हैं।" सागवान के पत्ते पर जैसे शिराएँ होती हैं वैसे ही घनी सिकुड़नों से भरे उनके मस्तक की ओर देखकर मैंने पूछा । मुँह में रखा हुआ कौर निगलकर उत्तर देने के लिए उन्होंने मुँह खोला। परन्तु उनसे कुछ कहते न बना। तत्क्षण उनकी आँखों में पानी आ गया। वृषाली ने झटपट आगे बढ़कर जल का चषक उनके होंठों से लगा दिया। पानी का एक छूट भरते ही उनका कण्ठ साफ हो गया ।

"तुमसे किसने कहा यह ?" काँपती हुई आवाज में उन्होंने पूछा ।

"अकेले मुझे ही नहीं, सारे सभागृह को पितामह ने आज यह बताया है।"

"पितामह ने । तब यह सत्य ही होगा। पाण्डव पाँच नहीं होंगे।"

"इतना ही नहीं, कौरव या पाण्डव इनमें से कोई भी कुरुकुल का नहीं है, यह भी आज उन्होंने कहा। उनके इस कथन से अब सचमुच ही राजसिंहासन भुजदण्ड के बल पर हल होनेवाला प्रश्न बन गया है।"

"वसू, जब पितामह ने कहा है तब यह भी सत्य ही होगा। आज एक और सत्य मैं पहली बार तुझको बता देना चाहता हूँ। क्योंकि अखाड़े में सबने तुझको चिढ़ाया था और मैंने चुपचाप सहन किया था।" वे क्षण-भर रुके। उनका कथन सुनकर मैंने कानों की प्रत्यंचा तान ली।

"वसू, सूतपुत्र कहकर सबने तेरा अपमान किया; और इसीलिए तूने बड़े धैर्य से सबका सामना किया। आज राजभवन में महामन्त्री के रूप में विदुरजी का कितना सम्मान है? उनका शब्द कभी खाली नहीं जाता।" उनके वे तीन वाक्य मुझको असम्बद्ध लगे; फिर भी मैंने कहा, "हाँ तो....परन्तु वे भी कुरुकुल के नहीं हैं, यह स्वयं पितामह ने कहा है। उन्होंने कहा, "आज हस्तिनापुर में कुरुराज के वंश का अकेला मैं ही अन्तिम वंशज हूँ।"

"नहीं वसू, यह सत्य है कि महामन्त्री विदुर दासीपुत्र हैं; परन्तु पितामह अकेले ही अन्तिम कुरु हैं, यह पूर्ण सत्य नहीं है। एक और कुरु-जिसकी धमनियों में कुरुवंश का रक्त दौड़ रहा है -इस हस्तिनापुर में ही है, परन्तु सामाजिक परम्परा से बँधा वह साधारण बन रहा है।"

"कौन है वह अन्तिम कुरु ?" मैंने आश्चर्य से भौंहे तानते हुए पूछा ।

वृषाली ने जो चषक रख दिया था, उसको उठाकर एक चूट भरकर वे भरपूरी आवाज़ में बोले, "मैं।"

"आप?"

"हाँ ! मेरे पिता सत्कर्मा दिग्विजयी कुरु ययाति के वंशज थे। परन्तु....परन्तु माता की ओर से वे सारथी थे। इस नगर में दासीपुत्र विदुर को महामन्त्रिपद प्राप्त हो गया.....परन्तु ययाति के वंशज अधिरथ को अश्वशाला ही मिली। वसू ! यह सत्य है। तू अंगराज हो गया है —बस यही देखकर मैं अपने को धन्य मान लेता हूँ।" कुछ रुककर उन्होंने फिर एक छूट पानी पिया। जिस रहस्य को जीवन-भर छिपा रखा था, वह अपना जन्म-रहस्य मेरे सन्तोष के लिए उन्होंने मुझको बता दिया था ।

मैं उसी समय भोजन छोड़कर उठ खड़ा हुआ। हम ययाति महाराज के वंशज हैं, यह सत्य मेरे मन को कहीं सुख पहुँचा रहा था। परन्तु उससे मन प्रफुल्लित हो जाये, इतना आनन्द मुझे नहीं हो पा रहा था। अब मेरा मन इतना भोलाभाला नहीं रहा था कि हर एक आश्चर्यजनक घटना पर प्रसन्नता से नाच उठे।

हाथ धोकर शयनगृह में जाकर पलंग पर लेटा । अश्वत्थामा ने सहज ही जो विचार व्यक्त किया था, उसपर बार-बार मेरा मन स्थिर हो जाता था। पीपल के पौधे को पाषाण की दरार में भी उल्लास से बढ़ते हुए देखकर उसने कहा था, “पाषाण के प्रतिकूल मस्तक पर पैर जमाकर वह पौधा मानो कह रहा है-मुझको जीना है, वायु के झोंकों से जूझना है।

मैंने भी निश्चय कर लिया कि अपने लिए उस पौधे को आदर्श मानूंगा। परिस्थिति का रोना रोने में कोई सार नहीं था।

बीस

अश्वत्थामा के जीवनविषयक तत्त्वज्ञान पर मैंने रात-भर बहुत विचार किया। उसका तत्त्वज्ञान सुनने में बड़ा ही मधुर था। परन्तु संसार के कितने लोग तत्त्वज्ञान को उपयोग में लाते हैं ? संसार को प्रत्येक के सहयोग की आवश्यकता होती है, परन्तु संसार अपना सहयोग किसी को देने को तैयार नहीं होता। अपने पूरे जीवन-भर मैंने यही अनुभव किया था। पाण्डव वनवास पर थे, लेकिन वे धार्मिक यात्रा कर पुण्य कमाने थोड़े ही गये थे। तेरह वर्ष बाद वे निश्चित ही लौटेंगे। वे चोट खाये हुए पाँच भुजंग थे। तेरह वर्ष अरण्य में छिपकर फिर कभी न कभी प्रकट होकर वे दुर्योधन के साथ ही कर्ण के पैर को भी डँसेंगे ही। वे अरण्य में चले गये हैं, यह सोचकर यदि मैं चुपचाप बैठा रहता तो कल को वह एक महान् मूर्खता ही कहलाती। जीवन कलह में पहले तो किसी से शत्रुता उत्पन्न न होने दे और फिर

होने के बाद उसे सुलगती न रहने दे। कभी न कभी उसमें मवाद पड़ ही जाता है। कर्ण अथवा पाण्डव—यह एक ही विकल्प मुझको स्वीकार था। पाण्डवों के भय का सदैव लटकता हुआ खड्ग मैं दुर्योधन के मस्तक पर रखना नहीं चाहता था। पितामह गरज-गरजकर कह रहे थे कि राज्य का आधा भाग पाण्डवों को दे दो। मैं उनके इस विचार से बिलकुल सहमत नहीं था। राज्य अखण्ड रहना चाहिए। फिर वह कौरवों का हो या पाण्डवों का। आगे बढ़कर कुछ करने का जब समय था, उस समय तो पितामह चुप रहे थे। परन्तु आज यह जानकर कि पाश पाण्डवों के कण्ठ को घेर रहा है, वे उनके प्रेम से व्याकुल होकर बोल उठे हैं। सभागृह के सभी सभासदों का उत्साह उन्होंने समाप्त कर दिया था। परन्तु कर्ण उनकी शब्द फेंकनेवाली भुशुण्डि में कभी नहीं फँस सकता। सभागृह का कोई भी योद्धा भले ही साथ न दे, उसकी चिन्ता न कर मैं अकेला ही अब पाण्डवों के विरुद्ध अभियान करनेवाला था। वे पाँच वीर कैसे हैं, यह मैं एक बार देखना चाहता था। अपना निश्चय दुर्योधन के कानों तक पहुँचाने के लिए मैं अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। परन्तु वह राजभवन में अकेला कभी मिलता ही नहीं था। शकुनि मामा, दुःशासन, प्रभञ्जन, अमात्य, महारानी भानुमति, युवराज्ञी दुःशला देवी, सभागृह के अन्य कुरु योद्धा—इनमें से कोई न कोई उसको सदा घेरे रहता था। जो कुछ कहना चाहता था, वह कहने के लिए मुझको एकान्त नहीं मिल रहा था।

उससे एकान्त में मिलने की सम्भावना केवल एक ही योजना से पूरी हो सकती थी और वह योजना थी मृगया की। इसलिए शोण को भेजकर मैंने वारणावत के अरण्य में मृगया के लिए जाने की अपनी इच्छा उस तक पहुँचायी। उसे भी यह अच्छा लगा।

दो-तीन दिन बाद हम लोग मृगया के लिए राजभवन से बाहर जानेवाले थे। हमें गंगा और इक्षुमती इन दोनों नदियों को पार कर इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर स्थित वारणावत के घने अरण्य में जाना था। जो कोई कभी मृगया के लिए राजभवन से बाहर निकले उसको बिना मृगया लाये राजभवन की ओर नहीं लौटना है—यह परम्परा थी। किसी-किसी योद्धा को तो इसे पालन करने के लिए मृगया की खोज में एक-एक महीने तक अरण्य में भटकना पड़ा था।

इक्कीस

हम लोग केवल मृगया के लिए ही बाहर नहीं निकले थे। मैं दुर्योधन से पूर्ण एकान्त में बातें करना चाहता था। हमने अपने साथ केवल पचास के लगभग निष्णात अश्वसाद लिये थे, बस। इस मृगया के लिए मैंने शोण को भी टाल दिया था।

ठीक दोपहर को चिलचिलाती धूप में हमारी हस्तिदन्त वर्ण की श्वेत घोड़ी अपनी ग्रीवा तिरछी कर नगर के मार्ग पर दौड़ने लगी। वैशाख की गर्मी से व्याकुल नगरजन द्वार की किवाड़ें आधी बन्द कर अपने-अपने घरों में विश्राम कर रहे थे, इसलिए इतने प्रशस्त मार्ग पर एक भी नगरजन कहीं घूमता हुआ दिखाई नहीं दे रहा था। हम कहाँ और किस लिए जा रहे थे, यह बात अकेले सेनापति को छोड़कर और किसी को भी ज्ञात नहीं थी। हमारे साथ जो अश्वसाद थे, वे भी यह अच्छी तरह नहीं जानते थे। एक मार्गदर्शक अश्वसाद हमारे आगे दौड़ रहा था। शेष सब वल्गाएँ थामे हुए हमारे पीछे-पीछे थोड़ा अन्तर रखकर दौड़ रहे थे।

वर्षा में लबालब भरा रहनेवाला गंगा का विशाल पात्र ग्रीष्म की मार से कृश होकर स्थान-स्थान पर कल-कल कर रहा था। हमने वह पार किया। उसके क्षीणकाय प्रवाह में अपने श्वेतशुभ्र शरीरों के प्रतिबिम्बों की एक लहराती रेखा खींचती हुई, पानी उछालती हुई, हमारी घोड़ियों ने उसको लाँघा। आगे जो इक्षुमती थी वह भी पीछे रह गयी। इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर की सीमाएँ जहाँ मिलती थीं, वह वारणावत का घनघोर अरण्य अब प्रारम्भ हो गया था।

वारणावत की सीमा में घुसते ही पूर्वनिश्चयानुसार अश्वसाद चारों दिशाओं में बिखर गये। हाथों में तेज़ी से भाले चलाते हुए वे अब ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाएंगे तथा सारे अरण्य को घेरकर कोलाहल से कँपा देंगे। उनके कोलाहल से भड़के हुए हरिण आवाज की प्रतिकूल दिशा में ऊँची-ऊँची छलाँगें मारते हुए दौड़ेंगे। हम लोग एक टीले पर बैठकर सामने के पठार पर दौड़ते हुए उन भयभीत हरिणों को बाण से अचूक भेदेंगे। यह निश्चित हुआ था कि जैसे ही हम टीले पर निशाना लगाने के लिए स्थान ग्रहण करें, चारों ओर से कोलाहल करनेवाले अश्वसादों को संकेत करने के लिए, जिनकी पूँछ में बजनेवाले धुंघरूँ बँधे हैं, ऐसे चार बाण मैं चारों दिशाओं में छोड़ूँगा और तब कोलाहल करनेवाले एक साथ कोलाहल प्रारम्भ कर देंगे।

निशाना लगाने के लिए हमने एक कछार में एक टीले पर स्थान चुना। सामने हरी घास का विस्तृत पठार था। सब ठीक-ठाक होते ही एक-एक बाण धनुष पर चढ़ाकर, वीर-आसन लगाकर मैंने चारों बाण चारों दिशाओं में फेंके। 'सूँ ऽऽ, कल, कल सूँ ऽ' आवाज करते हुए वे अरण्य में चारों दिशाओं में लहराते हुए दौड़े। बिखरे हुए अश्वसादों को संकेत मिल गया। हल्ला-गुल्ला करते हुए, ढिंढोरा पीटते हुए वे अरण्य के सभी प्राणियों को अपना शान्त शीतल निवासस्थान छोड़ने को विवश करने लगे। सम्पूर्ण अरण्य रुग्ण व्यक्ति की तरह कराह उठा। चित्र-विचित्र ध्वनियाँ आपस में मिल गयीं। सारंग, चित्ररथ क्रौंच, कपोत, श्येन, कोकिल, पत्ररथ आदि विविध पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड अरण्य से बाहर जाने के लिए चीत्कार कर झपटते हुए हमें टीले पर से ही दिखाई देने लगे। थोड़ी ही देर में चीं ऽऽ चीं

ss करते अपने भारी-भरकम शरीरों को सँभालते हुए हाथियों का एक विशाल झुण्ड अकस्मात् पठार पर कछार में आ गया।

हम दोनों टीले पर घास में वीरासन लगाये धनुष की प्रत्यंचा तानकर तैयार थे ही। झुण्ड के एक विशालकाय हाथी पर निशाना लगाने के लिए दुर्योधन अपने हाथ के धनुष को हाथी की गतिविधि के साथ घुमाने लगा। परन्तु मैंने हाथ से संकेत कर उसको रोका। हाथी मारकर कोई लाभ नहीं था। उसको उठाकर ले चलने के लिए हम अपने साथ पर्याप्त सेवक भी नहीं लाये थे। पर्वतीय प्रदेश में जैसे नदी का पात्र मोड़ लेता हुआ चलता है वैसे ही वह झुण्ड चीत्कार करता हुआ, सँड़ों को इधर-उधर फटकारता हुआ पठार पार कर चलता बना।

थोड़ी ही देर में अरण्य की घनी झाड़ियों की ओर से चालीस-पचास हरिणों का एक झुण्ड, ऊँचाई से गिरनेवाले झरने के पानी के तुषार की भाँति लयबद्ध छल्लों लगाता हुआ पठार पर दौड़ने लगा। धनुष सँभाले हुए हमारे हाथ उनके मर्मस्थानों पर निशाना साधते हुए उनकी दौड़ के साथ ही हिलने-डुलने लगे। हमारा आसन और झुण्ड-इनके बीच की दूरी का विचार कर लक्ष्यभूत हरिण की गति को अचूक पकड़नेवाली गति से बाण को हरिण के मुख के कुछ आगे ही छोड़ना चाहिए था।

'सूँ sss ! सूँ sss !' हम दोनों के ही धनुषों से निरन्तर बाण छूटने लगे। औदुम्बर के वृक्ष से पके फल हवा के झोके से जैसे टपटप नीचे गिरते हैं वैसे ही अनेक हरिण उर में बाण लिये कछार में गिरने लगे। शेष हरिणों का झुण्ड अपने साथियों की ओर मुड़कर भी न देखता हुआ छल्लों लगाता कछार से बाहर हो गया। मृगया हो चुकी थी। हमने सन्तोष की साँस ली।

"तुमने कितने बाण छोड़े हैं ?" दुर्योधन ने मेरी ओर देखते हुए पूछा ।

"छह । तुमने ?" पठार की ओर देखते हुए मैंने पूछा ।

"पाँच !" उसने भी चरागाह की ओर देखते हुए उत्तर दिया ।

"तो फिर कछार में ग्यारह हरिण मिलने चाहिए। या फिर पाँच हरिणों की देह में दो-दो और एक हरिण की देह में एक बाण तो होना ही चाहिए !" मैं वीरासन छोड़कर ऊपर उठता हुआ बोला ।

"हाँ। चलो देखें।" वह भी अपना वीरासन छोड़कर ऊपर उठने लगा परन्तु वह पूरा उठ ही नहीं सका। अचानक ही 'कर्णsss !' यह हृदयविदारक चीख उसके मुख से निकली और वह पैरों के नीचे घास में एकदम ऐसे गिर पड़ा जैसे पर्वत की चोटी फिसल पड़ती है। क्षण-भर में पहले रस ले-लेकर मृगया की चर्चा करनेवाले गदावीर को क्षण-भर में ही क्या हो गया जो ऐसे चीख रहा है, यह समझ में न आने के कारण घबराकर नीचे झुककर उसको

ऊपर उठाने के लिए मैंने उसकी काँख में हाथ डाला....परन्तु सामने का दृश्य देखते ही मेरा हृदय भी धक् से रह गया। मृगया के पीछे स्वयं को भूले हुए दुर्योधन का, वीरासन में घुटने पर टिके हुए, बायें पैर का पिछला भाग घास में छिपे हुए एक लम्बे विशाल अजगर ने घुटने तक निगल लिया था। पैरों में चमड़े के जूतों के कारण दुर्योधन को उसके जबड़े के स्पर्श का भी पता नहीं चला था। भक्ष्य कहीं हाथ से निकल न जाये, इस विचार से उस लम्बे अजगर ने अपना पुच्छभाग भी क्षण-भर में ही ऊपर उठाकर दुर्योधन के समस्त शरीर पर लपेट लिया था। हस्तिनापुर के भावी सम्राट् को एक अजगर ने खरगोश के बच्चे की तरह अपने अंक में दबोच रखा था। मस्तक का मुकुट चरागाह की धूल में पड़ा था। पानी के बाहर स्थित मछली की तरह उछलता हुआ दुर्योधन छुटकारे के लिए छटपटा रहा था। परन्तु उसके प्रत्येक प्रयत्न के साथ ही वह प्राणी विक्षुब्ध होकर उसको और अधिक जकड़ता जा रहा था। वे दोनों घास पर गड्ढमगड्ढ लुढ़क रहे थे। घृणित मृत्यु की भयंकर प्रतीति से दुर्योधन 'कर्णऽऽऽ ! कर्णऽऽऽ !' कहकर चीखता हुआ अपने हाथ में लगे बाण का फल वह सपासप उस प्राणी की कुण्डली में होंठ चबाता हुआ घोंपने लगा। भूल से अपने पैर में भी वह लग सकता है, इसकी चिन्ता भी उसे न थी। क्षण में दुर्योधन, क्षण में अजगर, दिखाई देते। विचित्र ! रोमांचक ! पैर पटकता हुआ, उस मृत्यु-पाश को छुड़ाने के लिए दुर्योधन पूरा बल लगा रहा था। नीचे की घास उद्ध्वस्त हो गयी। और इतने बड़े सामर्थ्यशाली गदावीर को मेरे देखते ही देखते उस प्राणी ने लकड़ी के गट्टर की तरह अपने पाश में जकड़ डाला। 'कर्णऽऽ ! प्राणों की आशा छोड़कर दुर्योधन चीख पड़ा। उसकी यह अन्तिम चीख इतनी हृदयविदारक थी कि गगन को भी भेद जाये। और चीखकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपनी देह झटकाकर वह मूर्छित हो गया।

अब मेरा रुका रहना असम्भव था। परन्तु क्या कर सकता था मैं ? कोई झटपट उपाय सोच ले, इतना सरल अबसर वह नहीं था ? किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मैंने उस विशाल अजगर की ओर देखा। केवल बुलबुलाहट थी। भक्ष्य के लिए तड़पनेवाली ! मेरे हाथ में बचे हुए बाणों के अतिरिक्त और कोई शस्त्र ही नहीं था। और यदि होता भी तो उसका क्या उपयोग हो सकता था ! अजगर की कुण्डली में छटपटाते हुए दुर्योधन को सुरक्षित रखकर कोई कैसे शस्त्र चला सकता था ! चीमड़ चर्मवाले उस भयानक सर्प पर बाण नहीं चल सकता था, मुझको कुछ भी नहीं सूझ रहा था। मैं एक पाषाण पर बैठ गया और क्या करना चाहिए, यह विचार करने लगा। सन्ध्या घिरती आ रही थी, इसीलिए एक-एक क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण था। जिसने मुझको वैभव के शिखर पर पहुँचाया था, मेरे उस प्राणप्रिय मित्र के जीवन-मरण का प्रश्न था। सन्ध्याकाल होने में कितनी देर है, यह जानने के लिए मैंने पश्चिम क्षितिज पर दृष्टि डाली। दो पर्वत-शिखरों के मध्य सूर्यनारायण अपनी अक्षय-अखण्ड किरणों को पृथ्वी के मस्तक पर उँडेलते हुए खड़े थे। मेरे सारे शरीर में एक विचित्र-सी सिहरन दौड़ गयी। अननुभूत ! अवर्णनीय ! अकम्पनीय ।

अधिक सोच विचार न कर मैं तुरन्त उठा। आगे बढ़कर हाथ से धनुष दूर फेंक दिया और दुर्योधन सहित उस अजगर को उठाकर एकदम कन्धे पर रख लिया। उस आर्द्र-से प्राणी का स्पर्श साक्षात् मृत्यु ही थी। आह ! मृत्यु कितने विभिन्न रूप धारण कर जीवन के पीछे हाथ धोकर पड़ी रहती है। जन्म-मृत्यु के उस द्वन्द्व को कन्धे पर रखकर अस्त होती हुई किरणों में उस ऊँचे टीले से मैं स्वयं को सन्तुलित करता हुआ उतरने लगा। मन में विचारों का वात्याचक्र चल रहा था। इस विकट स्थिति से यदि दुर्योधन बच नहीं सका तो ? मेरे और हस्तिनापुर के भविष्य में रह क्या जायेगा ? कुछ भी नहीं सूझ रहा था। फिर भी दृढ़ता से मैं पठार पर चलता जा रहा था। पठार पर कछार में पड़े हुए मृगया के हरिणों को एकत्रित करते हुए अश्वसाद मुझको दूर से दिखाई दे रहे थे। जैसे भी हो, उन तक तो पहुँचना ही पड़ेगा-यह सोचकर दो प्रचण्ड शिलाओं के समान भारी और विचित्र दिखाई देनेवाले उस अजगर को कन्धे पर रखे हुए मैं तेजी से पैर रख रहा था। मेरा सारा जीवन ही ऐसी कठोर परीक्षाएँ लेनेवाली विकट घटनाओं में से होकर चलता आया था। उन सब घटनाओं में आज की घटना मुझको विशेष रूप से रोमांचित कर देनेवाली लगी।

मैं कन्धे पर कुछ लेकर आ रहा हूँ और कोई बड़ी मृगया ही होगी, यह सोचकर कछार के सभी अश्वसाद एकत्रित होकर हाथ उठाकर आनन्द से संकेत करते हुए चिल्लाने लगे। परन्तु जैसे जैसे मैं उनके समीप पहुँचने लगा, वैसे ही वैसे आँखें फाड़-फाड़कर वे पाषाण की मूर्ति की तरह निश्चल मेरी ओर देखने लगे। उनमें से आधे से अधिक जनों ने तो मुझको निश्चय ही मूर्ख समझा होगा। मेरे मस्तिष्क में विचारों का तूफान चल रहा था, "दुर्योधन को कैसे बचाया जाये ?"

उन सबके पास पहुँचते ही घुटने टेककर मैंने वह अजगर नीचे घास में डाल दिया। अधरीय के छोर से मस्तक का स्वेद पोंछते हुए मैंने उसकी ओर देखा। मरण-प्राय यातनाओं से मूर्छित हुए दुर्योधन का केवल सिर ही अजगर की कुण्डली से बाहर था। लकड़ी के कुन्दे की तरह वह निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। कुण्डली चुलबुला रही थी। क्षण-प्रतिक्षण वह अधिक कसती जा रही थी। आँखें निकालकर मैं सभी अश्वसादों पर जोर से चिल्लाया, "कायरों की तरह देख क्या रहे हो ? हस्तिनापुर के राजा को अजगर निगल गया है, यह सुनते ही राजभवन के सभी लोग तुम्हारे मुँह पर थूकेंगे और तुम्हारे केश मुड़ाकर, गधे पर बैठाकर तुम्हें नगर में घुमायेंगे। पकड़ो उस क्रूर प्राणी को और राजा के चारों ओर की उसकी लपेट को खोलो।"

वे चालीस-पचास अश्वसाद उस शब्दाघात से सावधान हुए। आगे बढ़कर दस-दस जनों ने बड़े प्रयत्न से उस विशालकाय प्राणी की कुण्डली का एक-एक घेरा खोला। परन्तु....परन्तु अपने जबड़े में एक बार पकड़े हुए दुर्योधन के पैर को वह बड़े-बड़े विरोध के बावजूद छोड़ने को तैयार नहीं था। निरन्तर ऐंठता हुआ वह शक्तिशाली सर्प अपने एक-एक

प्रहार से दस-दस जनों को दूर फेंकने का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु प्रत्येक ने उसको जहाँ मिला वहीं रस्सी की तरह कसकर पकड़ रखा था। अधरीय का फेंटा बाँधकर मैं आगे बढ़ा।

वह प्राणी आँखें मींचकर, पहले कभी अनुभव न किये हुए, तीव्र विरोध का सामना करने के लिए उतनी ही तीव्रता से तैयारी करने लगा। उसके मुँह के पास जाकर मैंने अपनी उँगलियाँ उसके जबड़े की दृढ़ पकड़ में घुसेड़ दी। थोड़ा-सा आधार मिलते ही पूरी शक्ति लगाकर एक ही झटके में दोनों जबड़े ऊपर और नीचे की ओर कर दिये। मेरी भुजाओं के सभी स्नायु तनतनाकर फूल उठे थे। होंठ दाँतों के नीचे दबे थे। उनसे टपकता हुआ रक्त अधरीय पर फैल रहा था।

"अरिष्टसेन ss ! पैर बाहर निकाल ।" मैंने चिल्लाकर एक अश्वसाद को आदेश दिया। फुर्ती से आगे बढ़कर उसने दुर्योधन का आधी घड़ी तक जबड़े में अटका हुआ पैर बाहर निकाला और राजा की मूर्च्छित देह दस हाथ दूर ले जाकर रख दी ।

"उन हरिणों में से एक हरिण लेकर उसका पैर उसके जबड़े में दे दो।" मेरी भुजाओं पर जो तनाव था, वह अब असहाय होता जा रहा था । हरिणों की ओर भौंहों से संकेत करते हुए मैंने उससे कहा।

अरिष्टसेन झटपट एक हरिण को घसीटता हुआ लाया और एक के बजाय उसके दोनों पैर उसने मेरे द्वारा चौड़ा किये गये उस जबड़े में ठूस दिये। मैंने तनाव कम किया। अजगर ने हरिण को पकड़ लिया। मेरा मस्तक स्वेद से भीग गया था। नसें थरथरा रहीं थीं। हाथ से उस जबड़े को छोड़कर ऊपर उठते हुए मैंने मस्तक से स्वेद पोंछा। एक क्षण को ही रुका। कछार में मूर्च्छित पड़े हुए दुर्योधन को देखकर मन विषण्ण हो गया। कौन राजा ? कैसा राजा ? सब मन की भ्रामक कल्पनाएँ हैं। मन विचारों के असत्य कूल हैं। हस्तिनापुर का वह भावी सम्राट् एक कछार में लकड़ी के कुन्दे की तरह अचेत पड़ा हुआ है। असहाय ! एकाकी ! एक साधारण अजगर आज उस सम्राट् के प्राणों का ग्राहक बन गया।

मैं दौड़ता हुआ उसके पास पहुँचा। जबड़े में आधी घड़ी तक रहे हुए उसके पैर पर ममता से हाथ फेरते हुए पैर टूटे हुए अजगर के दो दाँत मेरे हाथ में आये। उस मन्द-बुद्धि घृणित प्राणी ने अपने दाँत टूट जाने दिये थे, परन्तु एक बार गड़ाये हुए दाँत उसने किसी भी भय से भक्ष्य से बाहर नहीं निकाले थे। मैंने उन दाँतों को निकाल दिया। सभी अश्वसाद इस घटना से क्रुद्ध होकर इधर-उधर से पत्थर लाकर उस जर्जर सर्प को मारने लगे। उनको रोकने के लिए मैं हाथ उठाकर चिल्लाया, "रुको !" आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने हाथों से पत्थर नीचे डाल दिये । उनको अपने राजा का फिर ध्यान आया। उस सर्प को वहीं छोड़कर वे दुर्योधन के मूर्च्छित शरीर की ओर दौड़ते हुए मेरे पास आये।

मैंने एक बार उस चेतनाहीन सर्प पर दृष्टि डाली। मुझको उसने वहाँ एक मौलिक विचार दिया था। दाँत जहाँ-तहाँ नहीं गाड़े जाते और एक बार गाड़ने के बाद, बाहर नहीं निकाले

जाते, भले ही टूट जायें।

"राजा को घोड़े पर रख लो।" मैंने सबको लक्ष्य कर आज्ञा दी। सबने दुर्योधन को धीरे से उठाकर एक विशाल घोड़े पर औंधा लिटा दिया। मैंने मुक्ति की साँस ली।

"मृगया में कितने हरिण मारे गये अरिष्टसेन ?" एक अश्वसाद से पूछा । आज की मृगया अविस्मरणीय थी। मेरे बाण के भी चूक जाने की सम्भावना थी।

"छह !" सिर झुकाकर वह आदरपूर्वक बोला ।

"प्रत्येक के शरीर में कितने-कितने बाण हैं ?"

"एक ही एक, महाराज !" वह पुनः झुककर बोला । उस भयंकर घटना के बाद भी मुझको क्षण-भर के लिए हँसी आ गयी। मेरे हँसने का कारण उन अश्वसादों में से कोई भी नहीं जान सका। जान सकना सम्भव भी नहीं था। यदि सचेत होता तो केवल दुर्योधन ही यह जान सकता था।

एक हरिण अजगर के भक्ष्य के रूप में छोड़कर और पाँच साथ लेकर हम पठार से चले। जिस कारण मृगया के नाम पर मैं दुर्योधन को राजधानी से बाहर लाया था, वह सब धरा रह गया। अनपेक्षित घटनाओं के कारण मैं दुर्योधन से कोई बात ही न कर सका।

अरण्य पार करते समय एक झरने के किनारे थोड़ी देर के लिए हम रुके । मुँह पर शीतल जल छिड़कते ही दुर्योधन सचेत हो गया। आँखें फाड़कर मेरी ओर देखते हुए उसने मुझसे पूछा, "हम लोग कहाँ हैं ?" उसके भाल पर सिकुड़नों का जाल था।

"यह वारणावत का अरण्य है। हम लोग मृगया करने आये हैं। मृगया हो चुकी ।" मैंने उसको केवल मृगया का ही स्मरण कराया ।

"मृगया ! कितने हरिण हैं अपने साथ, कर्ण ?" उसने होश में आते ही ठीक यही प्रश्न पूछा।

"पाँच !" मैं हँसता हुआ बोला ।

एक हरिण तो हमको पीछे छोड़ना ही पड़ा था। उसको क्यों गिना जाये ? यह विचार मैंने मन में ही रखा।

"पाँच । प्रत्येक के शरीर में बाण कितने हैं ?"

"एक-एक !" जो सत्य था, वही मैंने कहा।

"एक-एक ! सुन्दर !"

थोड़ी देर पहले जो भयंकर संघर्ष हुआ था, उसको वह क्षण-भर में भूल गया । कम से कम उसने वैसा दरसाया। उस सम्बन्ध में कुछ पूछा नहीं। अपने पाँच वाणों से ही पाँच हरिण मरे हैं, यह सोचकर वह उस असक्त अवस्था में भी ज़ोर लगाकर कूदकर घोड़े की

पीठ पर चढ़ गया। अरण्य छोड़कर नगर की ओर हमारे घोड़े स्वच्छ चाँदनी में दौड़ने लगे। लगभग मध्यरात्रि में हमने पुनः दोनों नदियाँ पार कर फिर हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

सीमा पार करते समय मैंने सभी अश्वसादों को रोककर कठोर शब्दों में चेतावनी दी। "ध्यान रखो, अरण्य की एक भी बात भवन में किसी को ज्ञात नहीं होनी चाहिए। जाओ !"

बाईस

"महाराज ने आपको स्मरण किया है।" अमात्य वृषवर्मा अलख सवेरे ही मेरे सामने खड़े थे।

"यह सन्देश लेकर कुरुओं के अमात्य स्वयं क्यों आये हैं ? सेवक क्या केवल पाकशाला में अन्न पर हाथ साफ़ करते रहते हैं ?"

"नहीं। मैं आया हूँ आपका अभिनन्दन करने के लिए। आपके कारण ही कल युवराज दुर्योधन के प्राण बचे। धन्य है आपकी धीरता !" हाथ ऊपर फड़काते हुए वे बोले।

"अमात्य ! आपसे किसने कहा यह ?" शब्दों की कठोरता का पता चल जाये, इतनी तीव्रता से मैंने कहा।

"स्वयं युवराज ने ही।" वे मन्द स्वर में बोले ।

"ठीक है ! महाराज से मिलने के लिए मैं जा रहा हूँ। आप दुग्धपान करके ही जायें।" मैंने व्यर्थ ही कठोर शब्द प्रयुक्त किये, यह जानकर अब यथाशक्ति मृदु स्वर में मैंने उनसे कहा। मृणाल ने सुवर्ण तबक लगा दूध का रुपहला चषक और फलों की थाली अमात्य के सामने रख दी। राजवस्त्र परिधान करने के लिए मैं वस्त्रागार में गया । महाराज ने इतनी जल्दी क्यों बुलाया था, इसका कारण समझ में नहीं आ रहा था ।

वस्त्र परिधान करते ही अमात्य के पीछे-पीछे महाराज के महल की ओर चल दिया। उनके महल से पहले युवराज्ञी दुःशलादेवी का महल था। वे प्रातःकालीन स्नान कर सामने सौध पर अपने आर्द्र केशों को कोमल किरणों में सुखाती हुई खड़ी थीं। उनके बालों पर कंघी फेरती हुई उनकी दासी ने हमारे आने की सूचना उनको दे दी होगी। वे दोनों ही तत्परता से सौध पर से महल में चली गयीं। अपनी ससुराल सिन्धुदेश से युवराज्ञी हाल में ही वसन्तोत्सव के लिए पीहर आयी थीं।

उस महल के द्वार से गुजरते समय किसी वस्तु को मेरे पैर की ठोकर लगी। उतावली में भीतर जाते समय दासी कंघी भूल गयी थी। मैंने झुककर वह उठा ली। उसके दाँत बड़े तीक्ष्ण थे। कठोर शीशम की लकड़ी थी वह। उसके दाँतों की तीक्ष्णता एक बार देखने की

इच्छा से मैंने यों ही उसपर तर्जनी फेरी। सौध के प्रशस्त पाषाण पर वह कंघी पुनः रखकर मैं थोड़ा आगे बढ़ गये अमात्य को पकड़ने के लिए तेजी से चलने लगा।

महाराज के महल प्रवेश करते ही अमात्य ने खाँसकर किसी के आने की सूचना चतुराई से उनको दी। उस आवाज को महाराज ने पहचान लिया। अपनी जन्म से ही दी हुई आँखों को हिलाते-डुलाते हुए वे बोले, “कौन ? अमात्य ? क्या हुआ ?”

“अंगराज आये हैं महाराज ! युवराज दुर्योधन के पैरों पर औषध-चूर्ण बाँधने के लिए मैं राजवैद्य के पास जा रहा हूँ।”

“जाइए आप।”

अमात्य चले गये। महल में क्षण-भर नीरव शान्ति छायी रही।

“बैठिए अंगराज !” आसन की ओर सफल निर्देश करते हुए वे बोले ।

“वन्दन करता हूँ महाराज ।” मैं झुककर अभिवादन कर आसन पर बैठ गया । जिस दिन मैं हस्तिनापुर में आया था, उस दिन इसी राजा ने प्रेम से मुझको पास बुलाकर अपने हाथों से मेरे कुण्डलों को टटोला था। समय आने पर सम्माननीय योद्धाओं में मेरी और मेरी धनुर्विद्या की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। राजदण्ड उठाकर अखाड़े की शस्त्रास्त्र स्पर्धा में भाग लेने का अवसर मुझको दिया था। मेरे और वृषाली के विवाह में दान के लिए कुरुओं का भाण्डार खोल दिया था। महाराज यही थे। मुझ-जैसे नगण्य व्यक्ति को उन्होंने विशुद्ध प्रेम ही दिया था।

“मुझको क्यों स्मरण किया है महाराज ने ?” उनकी शुभ्र दाढ़ी की ओर देखते हुए मैंने विनय से पूछा।

“अंगराज,....”

“नहीं महाराज, अंगराज नहीं। कर्ण !” मैंने उनको बीच में ही टोका।

“कर्ण, तुम्हारे इन अद्वितीय गुणों से ही मुझे आशा की एक सूक्ष्म किरण दिखाई देती है। तुम्हारी विनय, तुम्हारा पराक्रम, तुम्हारी सहन-शीलता-सब कुछ तुम्हारे कुण्डलों की तरह ही अद्भुत हैं। कल की मृगया में तो तुमने हमारे ऊपर अगणित उपकार....’

“महाराज, उपकार कैसा ? मैं दुर्योधन को अपने शोण से कम नहीं मानता।”

“तुम्हारे उससे ये सम्बन्ध और बढ़े। कल मृगया में तुमने उसका जो साथ दिया, वही जीवन-भर देना। तुम्हारा अवलम्बन मिलने पर ही कुछ आशा है, नहीं तो....”

“नहीं तो क्या महाराज ?”

“पाण्डव वनवास से लौटने पर उसको जीवित नहीं छोड़ेंगे। इसीलिए मेरा मन भय से थरथर काँपता है। मैं सोचता हूँ कि राज्य का आधा भाग उनको देकर मुक्त हो जाऊँ।”

"पाण्डव ! पाण्डव ! उन्होंने दुर्योधन के वध की प्रतिज्ञा की है, इसलिए आप भी सबकी तरह उनको अजेय समझते हैं क्या ? समय आने पर मैं अच्छी तरह उनसे कह दूंगा कि 'दुर्योधन कर्ण की सुदृढ़ म्यान का धारदार खड्ग है।' किसी समय मेरी भी यह उत्कट भावना थी कि राज्य का आधा भाग उनको दे देना चाहिए। परन्तु जिस राज्य के उत्तराधिकारी न वे हैं और न कौरव हैं, दोनों में से कोई नहीं है, उस राज्य का राज्यदण्ड कौन अपने हाथ में रखे, इसका निर्णय अब पौरुष करेगा। युद्धभूमि में ही इसका निर्णय होगा।"

"नहीं कर्ण ! पाण्डवों के प्रति जो वैराग्नि सुलग रही है, उसको अकेला दुर्योधन नहीं सह पायेगा। उसकी पीठ के पीछे तुम सर्वदा तन-मन-धन से खड़े रहोगे क्या ?"

"महाराज, यह वचन तो मैं दुर्योधन को बहुत पहले ही दे चुका हूँ। आज आपके सन्तोष के लिए पुनः आपसे कहता हूँ कि पाण्डवों की शक्ति बढ़ने से पूर्व ही द्वैतवन में उनका विनाश करके ही मैं लौटूंगा।"

"राधेय, तुम्हारे मुख से यह तीक्ष्ण निश्चय सुनकर यह बात सत्य नहीं लगती कि तुम अधिरथ के पुत्र हो। राधा तुम्हारी माता होगी, इसपर मुझको विश्वास ही नहीं होता।"

"नहीं महाराज ! मैं उन्हीं का पुत्र हूँ और आज मुझे उनपर गर्व भी है। क्योंकि पिताजी, जैसा कि आप समझते हैं, सूत नहीं हैं। वे साक्षात् महाराज ययाति के वंशज हैं।"

"क्या कह रहे हो कर्ण ? तुम्हारे पिता अधिरथ महाराज ययाति के वंशज हैं ?" थोड़ी देर रुककर महाराज गम्भीरतापूर्वक फिर बोले, "तो फिर पितामह भीष्म के बाद तुम्हीं एक कुरु हो ! कर्ण, यदि यह सत्य है तो तुम्हारा कथन मुझको भी सदैव मान्य रहेगा।" वे तत्क्षण आसन से उठकर खड़े हो गये।

"हाँ, महाराज। मैं सत्य ही कह रहा हूँ। इसीलिए पाण्डवों से समझौता अब असम्भव-सा है। चलता हूँ मैं। अभी मुझको प्रातःकालीन दैनिक कृत्य करने हैं।" मैंने आसन से उठकर उनको अभिवादन किया।

"जाओ।" उन्होंने हाथ उठाकर मुझको विदाई दी।

मैं उनके महल से बाहर निकला। आते-आते दुःशला देवी के महल के सामने सौध पर कंघी देखने के लिए मैंने सहज ही उस ओर देखा। वहाँ कुछ भी नहीं था।

द्वैतवन के पाण्डव युद्ध के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे, यह विचार करते हुए ही मैं अपने महल में आया। मृगया में धूल से सने हुए मेरे वस्त्र एकत्रित कर, उनको धोने के लिए सुप्रिया एक दासी को दे रही थी। उनमें से एक अधरीय हाथ में उठाकर वह विनोदपूर्वक बोली, "इस अधरीय पर रक्त के धब्बे हैं। मृगया के हरिण क्या आप ही ढोकर लाये थे ?"

"नहीं। ये हरिण के रक्त के धब्बे नहीं हैं।"

"फिर किसके हैं ?"

"यह तुम्हें बताना ही पड़ेगा क्या ?"

"आपको बताने की आवश्यकता ही नहीं है। वे अजगर के रक्त के हैं, यह मैं जानती हूँ।"

"तुमको किसने बताया यह ?" मैंने यह सुना था कि स्त्रियाँ अपने पास कुछ भी गुप्त नहीं रख पातीं; परन्तु दूसरों से भी रहस्य को इतनी सरलता से प्राप्त कर सकती हैं, इसका अनुभव मैं पहली ही बार कर रहा था।

"महारानी भानुमति ने !" उसने हँसते हुए उत्तर दिया। संसार की सभी स्त्रियाँ दूसरी स्त्रियों के वश में होती हैं, यह कथन असत्य नहीं था। दुर्योधन-भानुमति इस प्रकार अजगर की घटना अब सुप्रिया तक आ पहुँची थी। एक दिन में ही वह सम्पूर्ण राजभवन को ज्ञात हो जायेगी। मैंने जैसे हिमालय ही उलटा कर दिया हो यह सोचकर, घिघियाते हुए अनेक लोग अब मेरी अमर्याद स्तुति करेंगे। जिससे मुझको घृणा थी, वह मुझको अब यत्र-तत्र-सर्वत्र सुननी पड़ेगी।

दासी वस्त्र लेकर चली गयी। मैंने सुप्रिया के पास जाकर उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखों में झाँकते हुए कहा, "सुप्रिये, तुम महारानी की सखी थी, इसलिए उन्होंने तुमको सब कुछ बता दिया। परन्तु अब तुम उनकी सखी नहीं हो, मेरी पत्नी हो। जो मैं कहूँगा, वही तुमको मानना पड़ेगा।"

"अर्थात् ? मैं आपकी बात कभी मानती ही नहीं हूँ, यह कहना चाहते हैं क्या आप ?"

"नहीं। लेकिन तुमको भानुमति ने जो कुछ बताया है, यह तुम अन्य किसी से मत कहना। समझी ? मेरे कुण्डलों की शपथ लो। इसमें से एक भी शब्द वृषाली को ज्ञात नहीं होना चाहिए।"

"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है मुझको !" झुककर मेरे आगे बढ़ाये हुए कुण्डलों पर हाथ रखकर वह बोली।

"काका SS!" ठीक इसी समय अपनी माता के साथ महल में आयी हुई मीनाक्षी ने मुझको पुकारा। हमारा एकान्त भंग हो रहा है, इस विचित्र विचार से उसकी माता-शोणपत्नी मेघमाला-आँखें निकालकर उसको डाँट रही थी। मीनाक्षी की बाँह पकड़कर वह जैसी आयी थी, वैसी ही महल से बाहर जाने के लिए मुड़ी। मेघमाला सचमुच ही शोण की पत्नी की तरह शोभा देती थी। अपने लिए औरों को कुछ कष्ट हो, यह वह बिलकुल नहीं चाहती थी। उसको रोकने के लिए मैंने मीनाक्षी को पुकारा, "मीनू !"

वे दोनों ही रुक गयीं। मेरी गोद में खेली हुई मीनाक्षी "काका S !" कहती हुई दौड़कर मेरे पास आयी। आठ-दस वर्षीया उस बालिका का स्वभाव निर्झर-जैसा निर्मल था। अपने

नन्हे-नन्हे हाथों से मेरे हाथ की अँगुलियाँ पकड़ती हुई वह बोली, “काका, नगर के मन्दिर में तुम चलोगे क्या ?”

“मन्दिर में ? मीनू, मेरा मन्दिर तो इस समय प्रतिदिन गंगा के किनारे होता है, क्या यह तुम्हें मालूम नहीं ?” वह क्यों मन्दिर चलने को कह रही थी, यह समझ में न आने के कारण मैंने सुप्रिया की ओर देखा ।

“हम दोनों अब मन्दिर जायेंगी।” मीनाक्षी को पकड़ती हुई मेघमाला की ओर देखकर सुप्रिया ने स्पष्टीकरण किया।

“क्यों ?” मैंने मीनू के हाथ से उँगलियाँ छुड़ाते हुए कहा ।

“आपके प्रिय भाई के लिए मेघमाला ने एक व्रत रखा है। नगर के उमा-मन्दिर में आज उसकी पूर्ति है। देवर शोण सचमुच बड़े भागवान् हैं।” वह हँसकर मेघमाला की ओर देखती हुई बोली।

“वाह ! मेघमाले, अपने पति के कल्याण के लिए कितनी सावधान हो ! शोण सचमुच ही भाग्यवान् है। नहीं तो एक मैं भी हूँ-मेरी दो पत्नियाँ हैं, फिर भी...” मैंने सुप्रिया को निरुत्तर करने के लिए परिहास करते हुए कहा ।

“साक्षात् देवता के लिए कैसा व्रत रखा जाये ? और किस देवता का रखा जाये?” सुप्रिया सिर झुकाकर बोली, मैं ही निरुत्तर हो गया ।

यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ अन्धश्रद्धालु होती हैं, यह नितान्त असत्य है। वे ही अधिक यथार्थवादी होती हैं। परमेश्वर को खोजने के लिए अश्वत्थामा-जैसे तत्त्वचिन्तक अव्यक्त की ओर दौड़ते हैं, परन्तु सुप्रिया-जैसी कुशल स्त्रियाँ उस असीम परमेश्वर को भी अपने पति में ही बाँध रखती हैं। परमात्मा के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति के विचार भिन्न-भिन्न होते हैं, यह बात अश्वत्थामा ने मुझसे बार-बार कही थी। मैंने भी मान ली थी। परन्तु सुप्रिया का विचार सुनकर मुझको उसकी तीव्र अनुभूति हुई। परमात्मा के सम्बन्ध में पुरुषों के और स्त्रियों के विचारों में महान् अन्तर होता है। जब कुछ नहीं सूझता है तब किसी सशक्त और धैर्य देनेवाले विचार को पाने के लिए पुरुष आकाश के नीले खोखलेपन की ओर देखता है। परन्तु ऐसे समय में स्त्रियाँ सिर झुकाकर धरती के हरे पाँवों की ओर देखती हैं। विचारों में यह मूल अन्तर है। पुरुष सदैव अव्यक्त की ओर, स्त्री सदैव व्यक्त की ओर आकर्षित होती है। पुरुष का आदर्श है आकाश, स्त्री का धरती।

सुप्रिया ने नयी अतलसी साड़ी पहनी। मेघमाला के साथ वह उमा के मन्दिर की ओर चल दी। उन दोनों ने ही झुककर मुझको वन्दन किया। अबोध मीनाक्षी पास पूर्ववत् खड़ी थी। उसका हाथ पकड़कर उसकी माता मेघमाला उसको मेरे चरणों पर मस्तक रखने के लिए बलात् डाँटने लगी। मैंने मीनाक्षी की भुजा पकड़कर उसको उठाकर उसके बालमस्तक का

अवघ्राण किया। मेरे मन में आया--जीवन मीनाक्षी की तरह अबोध और निरागस होना चाहिए ।

वे तीनों महल से बाहर चली गयीं। सूर्य-किरणों के लिए तृषार्त मेरी पीठ मुझको महल में चुपचाप नहीं बैठने दे रही थी। सूखे वस्त्र लेकर मैं भी बाहर निकला ।

तेईस

मृगया के समय मैं दुर्योधन से जो नहीं कह सका था, वह विवश होकर अब तो बताना ही था। महाराज के मन में पाण्डवों का काँटा खटक रहा था और मेरा मन ? वह तो इतस्ततः भड़के हुए वड़वानल में चक्रवाक पक्षी की तरह झुलस रहा था। उनके कारण ही केवल पाण्डवों के कारण ही—अपमान के स्याह काले मेघों ने मेरे सम्पूर्ण जीवनाकाश को घेर रखा था। अश्वत्थामा का कथन सत्य था। बचपन में जमा हुआ रक्त अब एक कठोर गाँठ बन चुका है। अब मेरी सरलगति भी जगत् को वक्र ही दिखाई देती। ऐसी स्थिति में टेढ़ा चलना ही क्या बुद्धिमत्ता नहीं थी ? पाण्डवों के सम्बन्ध में मेरा मन अब भावना-शून्य हो गया था। जैसे भी बने वैसे उनकी जूती उन्हीं के सिर पर रखी जाये-शकुनि मामा की स्पष्ट राजनीति का यह मार्ग मुझे भी मुग्ध कर रहा था। उनके भय का सुतीक्ष्ण खड्ग सिर पर टंगा होने पर दुर्योधन का राज्य कर सकना सम्भव नहीं था। वह यज्ञ में समिधा अर्पण करनेवाला ऋषि तो था नहीं।

अर्घ्यदान कर लौटते ही मैंने प्रभंजन द्वारा उसके पास सन्देश भिजवाया। 'कुछ महत्त्वपूर्ण बातें करनी हैं' यह सुनते ही अपने घायल पैर पर पट्टी बाँधने के लिए आये हुए राजवैद्य को खड़ा का खड़ा छोड़कर श्येन पक्षी की तरह झटपट चलता हुआ वह क्षण-भर में मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उसकी गति की यह दृढ़ता ही उससे पहली बार मिलते समय मुझे अच्छी लगी थी। उसका निर्णय कभी-कभी गलत हो जाता था—परन्तु जिस दृढ़ता से वह अपने विचारों को थामे रहता था, वह दृढ़ता कौरवों-पाण्डवों में केवल दुर्योधन में ही थी। मेरी दृष्टि में राजा कहलाने योग्य दो ही योद्धा थे—एक दुर्योधन और दूसरे श्रीकृष्ण ।

"कहो अंगराज !" हाथ की गदा उसने सहजता से घोड़े की पाषाणमूर्ति के सहारे टिका दी। वैशाख की उष्णता से कपाल पर झलकनेवाले स्वेद बिन्दुओं को उसने उत्तरीय से पोंछा।

"दुर्योधन....।" कुछ कहना चाहिए यह सोचकर मैंने होंठ खोले। परन्तु नित्यनियमानुसार प्रभंजन भी पाषाणमूर्ति की तरह वहीं खड़ा था। उसकी ओर देखते ही मैं रुक गया। मैं चाहता था कि मेरा कथन युवराज के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ज्ञात न हो।

"प्रभञ्जन !" दुर्योधन बिजली की तरह कड़का । उस पाषाणमूर्ति पर बिजली पड़ते ही वह जैसे नष्ट हो गयी। क्षण-भर शान्ति रही।

"दुर्योधन, पितामह के वक्तव्य से तुम भी पाण्डवों से डर रहे हो ?" मैंने पूछा ।

"कर्ण, पितामह का पाण्डव-प्रेम आज का नहीं है, यह युगों-युगों का है, यह क्या जानता नहीं। उनका कोई भी सत्य कथन अब मेरी दृष्टि से कौड़ी मोल का भी नहीं है। उनके बताये हुए सत्य को इतना समय बीत चुका है कि नापुर का राज्य सीधा पुरुषार्थ की स्पर्धा बन गया है।"

"तो फिर उसको जीतने के लिए कुरुओं के अन्य योद्धाओं की प्रतीक्षा करते रहोगे क्या तुम ?"

"नहीं ! परन्तु बहुत सोच-विचार करने पर भी अन्य कोई मार्ग सूझ नहीं रहा है। भीम के सामर्थ्यमेरु को बाँधने के लिए कौन-सी रस्सी लाऊँ ?"

"इसके लिए सोचना क्या ? मैंने कल ही ससैन्य द्वैतवन में पाण्डवों पर आक्रमण करने का निश्चय किया है। यदि तुम न आ सको तो अपनी सेना मेरे पीछे खड़ी कर दो। अकेले भीम को ही नहीं-उन पाँचों व्यक्तियों का कर्ण निश्चय ही नाश कर देगा। यदि इस बात पर तुम्हें विश्वास न होता हो तो....

"विश्वास क्यों नहीं, मैं जो गरज-गरजकर संसार से यह कहता हूँ कि कर्ण और दुर्योधन एक ही राजमुद्रा के दो पहलू हैं-यह क्या असत्य है ? तुम्हारी ही तरह मेरी भी यही इच्छा है, परन्तु इस आक्रमण में पाण्डव हमसे लड़ने नहीं आयेंगे।"

"क्यों नहीं आयेंगे ? यदि वे वीर होंगे, तो जैसे भी हो, चुनौती स्वीकार करेंगे।"

"नहीं। हमारी सेना के आहत पाते ही वे द्वैतवन छोड़कर दूसरे वन में चले जायेंगे। उनको लड़ने के लिए विवश करने का एक ही मार्ग है।"

"कौन-सा ? द्वन्द्वयुद्ध का तो नहीं ?"

"नहीं ! राधेय, तुम्हारे द्वन्द्व की चुनौती भी वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। उनको उकसाने का एक ही उपाय है-दारिद्र्य आने पर मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके सामने यदि कोई किसी तरह वैभव का प्रदर्शन कर दे, तो वह क्रोध से पागल हो उठेगा।"

"अर्थात् ? उनको चिढ़ाने के लिए 'तुम अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन वन्य पशुओं से भरे हुए उस घोर अरण्य में करोगे क्या ?"

"हाँ ! प्रदर्शन ही ! परन्तु सुवर्णालंकारों से सजी हुई अनेक सुन्दर दासियों का । उन दासियों के साथ मेरे भाई पाण्डवों के सामने सरोवर में जलक्रीड़ा करेंगे और तब, अन्य किसी से न सही, परन्तु भीम से द्रौपदी क्रुद्ध होकर अवश्य कहेगी कि, "जो दासियाँ कल

तक मेरे पैर दबाती थीं, वे ही आज अलंकार-सज्जित होकर जलक्रीड़ा कर रही हैं, यह देखने की अपेक्षा तुम मुझको इस पर्णकुटी में बन्द कर जला क्यों नहीं देते ?" इस भर्त्सना से यदि कोई भड़केगा तो अकेला भीम ही। और तब वह मन्दबुद्धि तुरन्त ही दासियों पर टूट पड़ेगा।

"दुर्योधनsss ! ठीक है, भीम अवश्य ही दौड़कर आयेगा। सरोवर के किनारे हरे खादर के अखाड़े को मैं उसके उन्मत्त रक्त से लथपथ कर दूंगा। सत्यसेन के प्रतोद को सपासप उसकी पीठ पर फटकारते हुए मैं कहूँगा कि, 'आज सचमुच ही मैंने हाथ में प्रतोद लिया है और उसे तुझ-जैसे वन्य घोड़े की पीठ पर मारा है'।

"अंगराज, तुम यह सरलता से कर सकते हो। इसलिए इस घोष-यात्रा में तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी को मैं साथ नहीं लेना चाहता। समय-कुसमय के सहायता के रूप में कुछ पदाति और थोड़े-से सशस्त्र अश्वसाद साथ रहेंगे, यही पर्याप्त है। जो दासी साथ होंगी, वे भी इन्द्रप्रस्थ की। अन्यथा द्रौपदी की क्रोधाग्नि भड़केगी नहीं।"

"राजन्, तुम केवल मामाजी के संकेतों पर चलते हो, मैं भी यही सोचने लगा था। परन्तु आज विश्वास हो गया कि तुम्हारी भी कुछ योजनाएँ होती हैं। नितान्त मौलिक ! और वे भी बुद्धिप्रसूत !"

"जीवन का अर्थ ही योजना-प्रतियोजनाओं का अखाड़ा होता है। सारा हस्तिनापुर कहता है कि मामा ने कपट से युधिष्ठिर का राज्य जीत लिया, परन्तु यह बात उनके ध्यान में नहीं आती कि युधिष्ठिर केवल दावें गँवाने के लिए ही थोड़े बैठा था ! यदि हम हार जाते तब ? पाण्डव हमारी क्या पंचारती उतारते ?"

"नहीं राजन्, उस द्यूत की स्मृतियाँ अब फिर नहीं। उन पासों की चर्चा अब नहीं!"

मुझको अकारण ही लगा जैसे छाती में कोई तीव्र पीड़ा कसक उठी हो। कहीं कुछ चुभ रहा था, कुछ व्याकुल कर रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे मैं प्रकाश से दूर जा रहा होऊँ ! द्रौपदी ! आह, तीन अक्षरों का वह शब्द त्रिमुखी बाण की तरह हृदय में छिद रहा था। नहीं, वह नाम अब नहीं ! वह वस्त्रों का ढेर अब नहीं !

"चलता हूँ मैं ! राजवैद्य मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" आसन से उठकर अपने पैर की ओर देखता हुआ वह बोला ।

महल के द्वार से बाहर जाते हुए उसके पृष्ठभाग की ओर देखकर मुझे अखाड़े की स्पर्धावाला दिन याद आ गया। ठीक वही अमर्ष आज भी उसकी नस-नस में ज्यों का त्यों था। वर्ष के बाद वर्ष बीत जाते हैं। साम्पत्तिक, वैवाहिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में मनुष्य अपना स्थान निश्चित करता जाता है, परन्तु स्वभाव ! वह ज्यों का त्यों रहता है। कुछ छटाएँ बदल जाती हैं, परन्तु मूल रंग वे ही रहते हैं।

वह चला गया और मेरा मन उसकी गदा की तरह चक्कर काटने लगा। जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह क्या ठीक है ? घोष-यात्रा के निमित्त जाकर पाण्डवों से द्वन्द्वयुद्ध करना क्या उचित है ? मैं अधःपतन की ओर एक-एक सीढ़ी तो नहीं उतरता जा रहा हूँ।

और यदि ऐसा हो भी तो उसमें अनुचित क्या है ? भिक्षा के निमित्त जाकर स्वयं श्रीकृष्ण ने भीम द्वारा जरासंध को क्या मरवाया नहीं था ? पाण्डव और कर्ण-यह संघर्ष कब तक अधर में लटका रखा जा सकता था, इसकी भी तो कोई सीमा थी। जो कुछ घटित हो, उसको चुपचाप देखने के लिए मैं न तो पितामह था और न महामन्त्री विदुर । मैंने द्वैतवन चुना था, क्योंकि मेरे लिए वही एक मार्ग था ।

चौबीस

अलंकार-भूषित सैकड़ों दासियों का झुण्ड कलकल करता हुआ द्वैतवन की ओर चला गया। उनके साथ अकेला प्रभंजन था। इतनी बड़ी संख्या में सज-धजकर राजभवन की चुनी हुई सुन्दरी दासियाँ कहाँ जा रही हैं, यह जानने के लिए अनेक ने प्रभंजन को टोका, उसने कुछ न कुछ उत्तर देकर सभी के मुँह बन्द कर दिये, परन्तु महाद्वार में, प्रातःकालीन नित्यकर्म कर लौटते हुए पितामह से उसकी भेंट हो गयी। उनके पूछते ही सत्य बात कहनी पड़ी, परन्तु वह उसने बड़ी कुशलता से साधकर बतायी ।

"ये द्वैतवन में जलक्रीड़ा के लिए जा रही हैं। ग्रीष्म की उष्णता असह्य हो गयी है, इसलिए युवराज ने ही उनको यह आज्ञा दी है।"

"तो फिर उसके लिए द्वैतवन ही क्यों ? जा, दुर्योधन से कहना कि जल्दी ही मुझसे मिल ले !" पितामह वृद्ध हो गये थे। रस्सी जल गयी थी, पर अधिकार की ऐंठन अभी नहीं गयी थी। उन्होंने दुर्योधन को बुलवाया ।

"दुर्योधन, भवन की सुन्दर दासियाँ कहाँ जा रही हैं ?" दुर्योधन के आते ही उन्होंने श्वेत भौंहें तानते हुए पूछा।

"जलविहार के लिए द्वैतवन में।"

"इसके लिए द्वैतवन ही क्यों चुना है ? खाण्डव वन और वारणावत ठीक नहीं थे क्या ?"

"ऐसी कोई बात नहीं थी। इन स्थानों पर एक-एक बार पहले जलक्रीड़ा हो चुकी है। द्वैतवन सबसे अधिक प्रकृतिरम्य होने के कारण इस बार वह चुना गया है।"

"ध्यान रख, उस वन में पाण्डव रह रहे हैं। उनसे रार बढ़ाने का व्यर्थ प्रयत्न मत कर। नहीं तो द्यूत से चिढ़ा हुआ भीम उसी सरोवर में तुझे जलसमाधि दे देगा। जा! सँभलकर रहना।

कन्धे उचकाता हुआ दुर्योधन उनके निवासस्थान से बाहर आया। कुचले हुए भुजंग की तरह। उसका रक्तवर्णी मुख शंकाओं के असंख्य जालों से ऐसा ढका हुआ था जैसे कमललताओं की जड़ों से सरोवर ढक जाता है।

"क्यों-क्या हुआ ?" उसको व्याकुल देख, सशंक होकर मैंने पूछा ।

"अब इस वृद्धावस्था में जप-तप, दान-धर्म और पूजा-पाठ छोड़कर इन पितामह के प्राण पाण्डवों के आस-पास ही क्यों चक्कर काटते रहते हैं, यही समझ में नहीं आता। भीम का डर दिखाकर उन्होंने कठोर शब्दों में मुझसे कहा है कि उनकी ओर पैर भी मत रखना।"

"उनके मन का झुकाव तो सदैव पाण्डवों की ओर था, है और रहेगा। राजा के रूप में तुमको भी कुछ करने का अधिकार है या नहीं ?"

"कर्ण, दुर्योधन एक बार जो निश्चय कर लेता है, वह अटल होता है, फिर रास्ते में मृत्यु स्वच्छन्द विचरण कर रही हो तो भी कोई चिन्ता नहीं। अरिष्टसेन, अश्वसादों को गुप्तमार्ग से राजभवन छोड़कर द्वैतवन की ओर दौड़ने की आज्ञा दे !" उसने समीप खड़े हुए अरिष्टसेन को द्वैतवन की ओर हाथ उठाकर आज्ञा दी। सिर झुकाकर अरिष्टसेन दौड़ता हुआ अश्वशाला की ओर चला गया।

क्षण-भर बाद ही राजभवन के गुप्तमार्ग से बाहर निकले हुए चार-पाँच सौ अश्वसाद धनछड़ी पक्षियों की तरह एक पंक्ति में दौड़ते हुए हमको सौध पर से दिखाई देने लगे। घोड़ों के चंचल खुरों से उड़ायी गयी धूल का एक बादल चलचिलाती धूप में गंगा की ओर विशाल छाया अंकित करता हुआ अदृश्य हो गया। हम राजभवन के सोपान उतरकर नीचे आये।

दुर्योधन अपने अश्व की और मैं अपने प्रिय वायुजित् की वल्गा हाथ में लेकर उनकी पीठ पर छलौंग लगाकर चढ़ बैठे। प्राचीर से बाहर निकलते ही हम उनको वायुगति से दौड़ानेवाले थे।

वायुजित् अपनी गरदन को राजहंस की तरह सुन्दर मोड़ देकर प्रथम प्रहर की कोमल किरणों को सादर अभिवादन कर अपने स्वामी की यात्रा के लिए जैसे प्रतीक्षा-रत था। रमणी के सुकोमल केशपाश को भी लज्जित करनेवाले उसके चमचमाते हुए शुभ्र अयाल उसके प्रत्येक पैर के साथ प्रभावशाली ढंग से हिल-डुल रहे थे। वह ध्वनि के सूक्ष्म स्पन्दन को भी ग्रहण करने की सामर्थ्य लिये हुए था। उसके कान चपलता से चारों ओर हिल रहे थे । भवन के सभी पशुओं में वह सबसे उत्तम था। शकुनि मामा उसको गान्धार देश से विशेष रूप से लाये थे। उत्तम था इसीलिए मैंने उसको अपने लिए चुना था। अनेक बार उसकी पुष्ट पीठ पर आरूढ़ होकर मैं यात्रा कर चुका था।

मेरे जीवन-क्रम की आधी से अधिक कटु-मधुर स्मृतियों से उस प्राणी का सम्बन्ध था। पशु मनुष्य से भी अधिक प्रामाणिक और एकनिष्ठ होते हैं यह अनेक बार मेरे सामने

प्रमाणित कर चुका था।

एक लय में मन्द-मन्द पैर रखता हुआ, हिचकोले देता हुआ वह मुझे प्राचीर से बाहर ले जा रहा था। अपने भवन के गवाक्ष से, मैं कहाँ प्रस्थान कर रहा हूँ, इसका विचार करती मेरी ओर देखती हुई सुप्रिया से मैंने मौनभाषा में आँखों से ही विदाई ली। महाद्वार की देहरी पर, उसको पार करते समय, वायुजित् अगले दोनों पैरों के खुर मुड़ जाने के कारण गप्प इतना नीचे फिसला कि उसकी छाती धरती से लग गयी। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। एक हाथ से वल्गा खींचते हुए मैंने दूसरे हाथ से खिसकते हुए किरीट को जैसे-तैसे सँभाला। शंका की टिटहरी मेरे मन के नदी-तीर पर क्षण-भर कर्कश स्वर में चिल्लायी-"यह कोई अपशकुन है क्या ?" छिः, मैंने धैर्य का पाषाण फेंककर उसको भगा दिया। हाथों से खींचकर झुकायी हुई चीमड़ वृक्ष की डाल हाथ का तनाव छोड़ते ही पुनः यथास्थान जाकर मन्द-मन्द स्पन्दित होती हुई जैसे स्थिर हो जाती है, वैसे ही वायुजित् तुरत तनकर खड़ा हो गया। उसकी त्वचा क्षण-भर सिहरी, पूँछ इधर-उधर घूमी। वह एक बार फुरफुराया। मैंने अपने पंजे का अग्रभाग जरा-सा उसके पेट पर रगड़ा। मैं आगे गये हुए दुर्योधन को पकड़ना चाहता था। वायुजित् अपने नाम के अनुरूप ही वायु के साम्राज्य को जीतता हुआ हवा से बातें करने लगा।

पच्चीस

द्वैतवन की घनी झाड़ियाँ दिखाई पड़ने लगीं। दूर से शान्त दिखाई देनेवाला वह घोर वन गर्भ में अनेक क्रूर पशुओं का पालन कर रहा था। घोड़े से नीचे उतरकर हम लोग पदस्थ हो गये। वल्गाएँ हाथ में लेकर चलने लगे। यात्रा से और ग्रीष्म की अंग झुलसा देनेवाली उष्णता से सभी के शरीरों पर के राजवस्त्र स्वेद से तर हो रहे थे। विश्राम करने के विचार से झरने के किनारे एक विशाल असन वृक्ष के नीचे थोड़ी देर के लिए हम रुके। वृक्ष के तने से घोड़े की वल्गा अटकाता हुआ दुर्योधन बोला, "राधेय, अपने चार-पाँच सौ अश्वसाद तुम्हें कम तो नहीं लगते ?"

"हम लोग युद्ध करने नहीं आये हैं ! आज तो प्रकट रूप से द्वन्द्व-युद्ध होगा। एक से नहीं पाँचों से !" झरने में उतरकर अंजलि भरकर ठण्डे पानी का छिड़काव मुँह पर करते हुए मैंने उसको उत्तर दिया। इतने में ही परले किनारे से झरने के उथले पानी को मथित करते हुए एक घोड़े पर प्रभंजन हमारी ओर ही आता हुआ दिखाई दिया। घोड़े को दौड़ाते समय उसके जो चंचल क्रियाकलाप हो रहे थे, उनसे किसी महान् भय की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी। पास आते ही, नीचे उतरे बिना ही, वह रास और श्वास दोनों को एकदम रोकता

हुआ, झरने के मध्य में खड़ा होकर वहीं से डरता डरता चिल्लाया; “महाराज, वन के सरोवर में गान्धर्वस्त्रियाँ पहले ही से क्रीड़ा कर रही हैं। सरोवर के किनारे उनमें और हमारी दासियों में गुत्थमगुत्था हो रही है। कोई किसी से हार नहीं मान रहा है ?”

“चलो प्रभंजन, तुम आगे चलो। हम अभी आ रहे हैं।” हाथ उठाकर दुर्योधन ने उसको वापस भगा दिया।

हमारे घोड़े भी झरने का पानी काटते हुए द्वैतवन की ओर दौड़ने लगे। रास्ते में आगे निकली हुई लताएँ हमारी खुली भुजाओं पर सपासप टकराने लगीं। प्रभंजन के घोड़े के खुरों का अनुसरण करते हुए अनेक कठिन मोड़ों को पीछे छोड़कर हम लोग वन के मध्यभाग में स्थित समतल पठार पर सरोवर के किनारे आये। सामने जो दृश्य देखा, उसको हम दोनों भी अच्छी तरह नहीं समझ पाये। दासियाँ और गान्धर्वस्त्रियाँ मुट्ठी में प्राण लेकर सरोवर के किनारे पंक्ति में खड़ी थीं। अवाक् और निश्चल ! पठार पर मुक्त प्रांगण में हजारों गन्धर्व सैनिकों से हमारे अश्वसाद घोर युद्ध कर रहे थे। अपनी संख्या और सामर्थ्य का उन्होंने बिलकुल भी विचार नहीं किया था। उनको उतना अवसर भी न मिला होगा। गन्धर्वों की सेना के बीच एक लम्बा और सुन्दर सेनानायक हस्तस्थ खड्ग को बिजली की तरह अपने चारों ओर घुमाता हुआ गरज-गरजकर अपनी सेना को प्रोत्साहित कर रहा था।

“चित्रसेन !” उसको देखते ही दुर्योधन बुदबुदाया। वह गन्धर्वनायक चित्रसेन था। द्वैतवन ही क्या, आसपास के समस्त प्रदेश में उसके नाम का इतना दबदबा फैला हुआ था कि अरण्य में रहते हुए भी कोई राक्षस कभी उसके पास फटकने का साहस नहीं कर सका था। हमारी दासियों ने उसकी प्रिय स्त्रियों को छोड़कर बड़े भारी संकट को निमन्त्रण दे दिया था !

वीरतापूर्वक लड़नेवाले हमारे अश्वसादों को गन्धर्वसेना चारों ओर से प्रतिक्षण घेरती चली आ रही थी।

“दुर्योधन, तुम इस पंक्ति को तोड़ो !” दायीं ओर से गन्धर्वसेना पर खड्ग निकालकर झपटते हुए मैंने उसको बायीं ओर संकेत किया। सोच-विचार करने को समय नहीं था।

सपासप वार करता हुआ सेना में घुस गया। अपने घिरे हुए सैनिकों को मुक्त करने के लिए मैंने जोरदार आक्रमण कर एक बार को तो उनके आस पास के घेरे को तोड़ भी दिया, परन्तु दूसरे ही क्षण उनको उत्साह से भरे हुए नये गन्धर्वों ने फिर घेर लिया। कहीं से गर्जना करता हुआ स्वयं चित्रसेन मेरे सामने आ डटा। क्रोध से सन्तप्त होने के कारण वह पलाशवृक्ष-जैसा रक्तवर्णी दिखाई पड़ रहा था।

“कर्ण, अपने सैनिकों को लेकर इस वन से चलते बनो, या फिर मरने को तैयार हो जाओ !” कण्ठ की नसें तानता हुआ वह जोर से चिल्लाया-

"चित्रसेन ! मैं कर्ण हूँ। पवन के झोंकों से पर्वत-शिखर हिला नहीं करते ! तैयार हो जाओ !" उसकी अहंकार भरी घोषणा से मैं क्रुद्ध हो उठा।

क्रुद्ध होकर वह मुझपर टूट पड़ा। जैसे ही हम दोनों में भिड़न्त हुई, दोनों पक्षों के सैनिक दूर हो गये। घड़ी-डेढ़ घड़ी तक तो खनखनाते हुए खड्ग ही विद्युत की तरह एक दूसरे पर टकराते रहे। उनके टकराते हुए फलों से चिनगारियाँ उड़ रही थीं। चित्रसेन का खड्ग स्थान-स्थान पर मेरे शरीर को स्पर्श कर रहा था। परन्तु उसकी जिह्वा को चाटने के लिए रक्त की एक बूंद तक नहीं मिली थी। पैरों के नीचे घास उद्ध्वस्त हो गयी थी। अचानक रुककर खड़े-खड़े युद्ध देखते हुए अपने गन्धर्व सैनिकों को चित्रसेन ने आज्ञा दी, "यह अभेद्य कवचवाला हस्तिनापुर का कर्ण है। यह खड्गयुद्ध में, धनुयुद्ध में, गदायुद्ध में किसी से भी नहीं मरेगा। इसको चारों ओर से घेरकर जीवित पकड़ लो।"

अब वहाँ ठहरना व्यर्थ था।

"अश्वसादो, दासियों को लेकर लौटो।" उसके सैनिक मुझको घेरें, उससे पूर्व ही, पूँछ हिलाकर घास चरते हुए वायुजित् की पीठ पर आरूढ़ होता हुआ मैं चिल्लाया। प्रत्येक अश्वसाद ने एक-एक दासी को घोड़े पर बैठा लिया और मेरे पीछे दौड़ना प्रारम्भ कर दिया। सहस्रों गन्धर्वों ने हाथ में लगे हुए शस्त्रों को अन्तिम प्रहार के रूप में हमारे ऊपर छोड़कर शस्त्रों की वर्षा कर दी। उनके अचूक प्रक्षेपण से बहुत से अश्वसाद धड़ाधड़ धरती पर गिर पड़े। जो सुरक्षित रहे, वे दौड़ने लगे। पुनः सपासप टकराती हुई लताओं के आघात सहते हुए हम एक के बाद एक मोड़ों को पीछे छोड़ने लगे। घोड़े दौड़ रहे थे, धूल उड़ रही थी परन्तु मेरा मन टूक टूक हो गया था। यह पराजित होकर रणभूमि से पलायन था या सुरक्षा के लिए सावधानीपूर्वक पीछे हटना था—कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। किस उत्साह से मैं राजभवन से बाहर निकला था और अब क्या साथ लेकर लौट रहा था। महाद्वार की देहरी पर लचकता हुआ वायुजित् मेरे जीवन-क्रम में पहली पराजय की कहीं नान्दी तो नहीं थी? क्या ? पराजय ! पलायन ! पीछे हटना ! अपूर्ण सामर्थ्य से लड़ने की अपेक्षा पीछे हटना क्या उचित नहीं था ? चित्रसेन मुझको पकड़ लेता तब ! सुदामन के क्रूरवध का पाप फिर अर्जुन के गले में कौन डालता ? मेरा शत्रु कौन था ? अर्जुन या चित्रसेन ? मेरा मन मेरे निर्णय में अचूक व्यवहार ढूँढ़ रहा था। अर्जुन का कण्ठच्छेद करने के लिए मेरा जीवित रहना आवश्यक था। वायुजित् के टापों के साथ ही विचारों के अनेक मोड़ मन से पीछे छूट रहे थे। घोषयात्रा कर्ण की दृष्टि से आज दोषयात्रा का रूप धारण कर रही थी। जीवन का अश्व कीर्ति के महाद्वार पर कहीं लचक रहा था। पराजय ! पहली पराजय ! परिस्थिति द्वारा निर्मित ! चाहे जिस कारण हो, पीछे हटने का अर्थ पराजय ही है। कर्ण-पराजय । पराजय-कर्ण ? कुछ भी सूझ नहीं रहा था। सूझ भी रहा था तो मन उसको स्वीकार नहीं कर रहा था। अब दुर्योधन क्या सोचेगा ? किन शब्दों में वह मेरा स्वागत करेगा ? दुर्योधन ! उसका

स्मरण होते ही मैंने वायुजित् की वल्का एकदम खींची। जहाँ हम विश्राम करने के लिए रुके थे, वह झरना आ गया था। मैंने पीछे मुड़कर देखा, भागनेवालों में दुर्योधन कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था। मेरे हृदय में भय की एक विचित्र सिहरन-सी दौड़ गयी। सहस्रों गन्धर्वों के बीच युद्ध के झमेले में दुर्योधन अकेला फँसा तो नहीं रह गया। उसको कहीं कुछ हो गया तो ! कौन-सा मुँह लेकर मैं हस्तिनापुर लौटूंगा?

“अरिष्टसेन, राजा पीछे अकेला रह गया है। घोड़े लौटाओ।” सबको रोककर मैंने पुनः द्वैतवन की ओर हाथ उठाया।

“महाराज, गन्धर्वसेना असीम है। राजधानी पहुँचकर फिर सेना लेकर लौटेंगे। नहीं तो....!”

“नहीं तो क्या ?”

“नहीं तो हम लोगों की चर्चा तक हस्तिनापुर नहीं पहुँचने पायेगी।”

उसका कथन उपयुक्त था। क्या किया जाये, यह समझ में नहीं आ रहा था। यदि फिर द्वैतवन की ओर लौटा जाये तो शायद कोई भी हस्तिनापुर नहीं लौट सकेगा। यदि राजधानी को जाया जाये, तो वह भी यहाँ से अनेक योजन दूर रह गयी थी। झरने के किनारे उसी असन वृक्ष के नीचे काले पाषाण पर मैं बैठ गया। अरिष्टसेन को राजधानी भेजकर सेना लाये बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता था। उसके साथ नगर जाकर अपनी हँसी उड़वाने में भी कोई तुक नहीं थी। अरिष्टसेन को राजधानी की ओर भगाया। मैं न तो द्वैतवन में ही था और न राजधानी में ही था। बीच में ही त्रिशंकु की तरह लटके हुए मेरी दशा बड़ी विकट हो गयी थी। एक-एक क्षण महत्त्वपूर्ण था। मस्तिष्क की भुशुण्डि विचारों के पाषाण फेंक रही थी। मैं मस्तक को कसकर दबाये बैठा हुआ था। विवशता ! विवशता क्रूर मार्जार-जैसी होती है। वह मनुष्य को चूहा बना देती है। न तो मरने ही देती है, न जीवित ही छोड़ती है। आज चित्रसेन का रूप धारण कर अनपेक्षित रूप में वह मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई थी।

अरिष्टसेन को गये आधी-एक घड़ी हो चुकी थी। दुर्योधन का पता नहीं था। अब रुकना व्यर्थ था। उठकर वायुजित् की रास हाथ में लेकर मैं अकेला ही द्वैतवन में प्रवेश करने लगा। किसी भी अश्वसाद को मैं अपने साथ मरण के महाद्वार पर नहीं ले जाना चाहता था। यदि दुर्योधन की मृत्यु गन्धर्वसेना के हाथ से होनेवाली हो, तो कर्ण को भी अपने लिए वही मृत्यु स्वीकार थी। पीछे मुड़कर देखे बिना ही मैंने पुनः द्वैतवन में प्रवेश करने के लिए घोड़े पर छलाँग लगायी। मेरा मन अब शान्त और गम्भीर था। किसी प्रकार की उथल-पुथल उसमें नहीं थी। धीरे-धीरे पैर रखता हुआ वायुजित् भी जड़ मन से चलने लगा। वह घनी झाड़ी में होकर भीतर घुसने ही वाला था कि दुर्योधन बाहर निकला। उसके दोनों हाथ रामेटा के फूलों की चीमड़ बेलों से कसकर बँधे हुए थे। जीवन में पहली बार मैं उसको नतमस्तक देख रहा था। कभी कभी सत्य कल्पना से भी अधिक भयानक होता है। उसकी देह पर के

राजवस्त्र यत्र-तत्र कट गये थे। घिसटता हुआ भारी पैरों से वह जैसे-तैसे चलता हुआ आ रहा था। अयाल कटे हुए सिंह-जैसा।

"राजन् !" उसको सुरक्षित देखकर आनन्द से घोड़े से कूदकर उसको आलिंगन में भरता हुआ मैं जोर से चिल्लाया। लेकिन उसका सिर फिर भी ऊपर न उठा। जल्दी-जल्दी उसके हाथ के चारों ओर लिपटी हुई लताओं को खोलता हुआ, उसको सन्तुष्ट करने की इच्छा से मैं बोला, "तुमको मुक्त कराने का दृढ़ निश्चय करके ही मैं लौटा था, और तुमको ढूँढ़ रहा था।" फिर भी आनन्द से उसका मुखकमल खिला नहीं। भीगकर झुकी हुई वृक्ष की शाखा की तरह उसका झुका हुआ सिर उठा ही नहीं। वह मेरे सम्मुख पाषाण-प्रतिमा की तरह निःशब्द खड़ा था। दुर्योधन ! योद्धाओं के साम्राज्य का गदादण्ड की तरह सुदृढ़ वीर, डण्ठल से टूटे हुए कमलपुष्प की तरह सिर झुकाये खड़ा था। उसको मेरी एकनिष्ठ मित्रता पर भी क्या सन्देह होने लगा था ? वह इसको कर्ण का पलायन ही मान रहा था क्या ?

"अंगराज, मैं अब हस्तिनापुर लौटकर नहीं जाऊँगा। इस वृक्ष के नीचे ही आसन लगाकर मैं अपने प्राण त्याग दूँगा।" उसका प्रत्येक शब्द पैरों में बँधी हुई भारी शृंखला-जैसा लग रहा था।

"क्यों ? क्या हुआ ? राजा के प्राण ऐसी कोई नौका नहीं होती, जिसको जब चाहे मृत्यु की महानदी में छोड़ दिया जाये, यह राजधर्म क्या तुम भूल गये ?..."

"कैसा राजधर्म ? कैसा राजा ? जो सम्मानपूर्वक संसार में जी नहीं सकता, वह राजा कैसा ?"

"हुआ क्या है ? तुम्हें अकेला पाकर चित्रसेन ने यदि तुम्हारा अपमान किया हो तो मैं उसको...."

"नहीं कर्ण, चित्रसेन यदि मेरे सिर को धड़ से अलग कर पैरोंतले रौंद देता तो रणभूमि की उस वैभवशाली मृत्यु को मैं विहँसकर स्वीकार कर लेता; परन्तु...परन्तु साक्षात् शत्रु के हाथ से जीवन की भिक्षा लेकर मैं इस बद्धहस्त दशा में लौटा हूँ। वीर के मरण से वीरत्व का मरण भयानक होता है। मैं राजा नहीं हूँ। गदावीर नहीं हूँ। सम्मान सहित जीनेवाला साधारण सैनिक भी नहीं हूँ। तुमने अभी-अभी जो लताएँ खोली हैं, इनके पत्तों के बराबर भी अब मेरे जीवन का महत्त्व नहीं रहा है।"

"क्यों...ऐसी बातें क्यों करते हो ? किसने दी है तुम्हें जीवन की भिक्षा ? और तुमने वह कैसे ली ?"

"तुम लोगों के जाते ही मैं अकेला रह गया। गन्धर्वसेना ने मुझको घेर लिया । एक ही समय सहस्रों गन्धर्व मुझपर टूट पड़े। उन्होंने मेरे अस्त्र छीन लिये और दोनों हाथ लताओं से बाँधकर मुझको बन्दी बना लिया। लगभग सभी गन्धर्व सरोवर छोड़कर विजय की घोषणाएँ

करते हुए निकल गये। चित्रसेन और चार-पाँच सौ पदाति मुझको लेकर अज्ञात स्थान की ओर चले। इतने में ही..."

"इतने में ही क्या हुआ ? कौन आया ?"

"अर्जुन ! उसने बिना किसी सोच-विचार के चित्रसेन को ललकारा। और... और उसके गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों से सरोवर पटने की नौबत आ गयी। चित्रसेन मुझको उसी अवस्था में छोड़कर भाग गया। हाथ बँधे हुए थे, अन्यथा चित्रसेन को रोककर मैं स्वयं ही अर्जुन पर टूट पड़ता। चित्रसेन के जाते ही वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। "भैया के आदेश से मैंने तुमको मुक्त किया है। फिर कभी द्वैतवन की ओर मत आना।' उसने मिथ्या विजय के अहंकार से ऐसे लहजे में मुझसे कहा जैसे द्वैतवन उसके पिता का राज्य हो। उसके साथ एक विरूप राक्षसपुत्र था, वही मुझको यहाँ लाकर छोड़ गया है। मुझको मुक्त करनेवाले अर्जुन ने मुझको अपमानित करने के लिए इन लताओं को यों ही रहने दिया था। कहो कर्ण, राजा के रूप में क्या मुँह लेकर अब मैं नगर की ओर लौटूँ ? टूटे हुए पंखवाले गरुड़ को पर्वतशिखर की कामना क्यों करनी चाहिए ? मैं यहीं प्रायोपवेशन करूँगा। जाओ तुम ।' उसके आहत मन का रक्त शब्दों का रूप धारण कर होठों से बाहर टपक रहा था। इतनी तीव्र निराशा उसके जीवन को कभी छू तक नहीं पायी थी। उसकी कलाई लताओं की ऐंठन से और मन अर्जुन के शब्दों से काला पड़ गया था। साक्षात् शत्रु से जीवन का दान लेते समय जो मरणप्राय यातनाएँ हुई थीं, उनका अनुभव वही कर सकता था, जिसके पास दुर्योधन-जैसे हस्तिनापुर के सम्राट का मन हो। उसको सान्त्वना देने के लिए मेरे पास भी उचित शब्द नहीं थे।

"तुमको नगर की ओर लौटना ही पड़ेगा। तेज की अखण्ड आग उँडेलनेवाले सूर्यनारायण को भी कभी-कभी ग्रस्त होना पड़ता है। बादल जिससे जन्म लेते हैं। उसी महासागर पर पागलपन-भरे अहंकार से कृपा की जलवृष्टि करते हैं, क्या यह देखा नहीं है तुमने ? कौन किसको जीवन-दान देता है ! जरासन्ध के सत्रह आक्रमणों से परेशान होकर मथुरा छोड़कर द्वारका का रास्ता पकड़नेवाले कृष्ण को संसार ने क्या भगोड़ा माना ? पितामह भीष्म द्वारा विजित जमदग्निपुत्र परशुराम क्या पराजित योद्धा माने गये? पराजय के चक्र से जो बच नहीं सका था तथा जिसको नहुष महाराज ने पालकी में जोत लिया था। उस देवराज इन्द्र को तुम जानते नहीं हो क्या ? क्षत्रिय प्रायोपवेशन कर नहीं मरा करते । समरांगण में तपते हुए सूर्य की किरणों में शरीर की चेतना-किरण विलीन करने के लिए ही उनका जन्म होता है। यह पकड़ो !" अरिष्टसेन द्वारा लाये गये घोड़े की रास मैंने उसके हाथ में दे दी।

थोड़ी देर बाद दुर्योधन सचेत हुआ।

“कर्ण, नगरजन तुम्हें सूतपुत्र कहते हैं। लेकिन तुम्हारी बातों को सुनकर इसपर बिलकुल विश्वास नहीं होता। मैं यहाँ कृमि कीटकों की तरह नहीं मरूँगा। चलो !” वह कूदकर घोड़े पर आरूढ़ हो गया। मैंने मुक्ति की साँस ली, वायुजित् पर आरूढ़ हुआ। हमारे घोड़े फिर नगर की ओर दौड़ने लगे। उनके खुरों के नीचे धूल उड़ रही थी। परन्तु हवा के कारण वह आसपास के पेड़-पौधों के पत्तों पर ही जम रही थी। मेरा मन शान्त था। उसमें पराजय की ग्लानि नहीं थी, पलायन की पीड़ा नहीं थी, सफलतापूर्वक पीछे हटने का मिथ्या सन्तोष भी नहीं था। पिछली बार मृगया से लौटते समय मैं जितना स्थिरचित्त था, उतना ही इस समय भी हो गया था। बल्कि घोषयात्रा का प्रसंग टल गया, यह सोचकर एक विचित्र अकल्पनीय समाधान हो रहा था।

नगर में जाने पर जिह्वा पर संयम न रख सकनेवाली कोई दासी कानाफूसी कर उठेगी, “अंगराज कर्ण युद्ध से भाग खड़े हुए।” परन्तु अब मुझे उसकी चिन्ता नहीं थी। मेरा मन मुझसे कह रहा था कि परीक्षा की घड़ियों में से यह भी एक अविस्मरणीय घड़ी थी। अनपेक्षित रूप से घटित हो जानेवाली घटना थी।

छब्बीस

“महाराज, पितामह की आज्ञा है कि सभा के लिए आप सभागृह में उपस्थित हों !” महामन्त्री विदुर का सेवक भूर्जपत्र पर लिखा आज्ञापत्र मेरे सामने करता हुआ सिर झुकाये खड़ा था। द्वैतवन से राजधानी में लौटे हमें एक दिन भी नहीं हुआ था कि पितामह द्वारा स्वयं बुलायी गयी यह पहली ही सभा आमन्त्रण का एक विचित्र रूप धारण कर मेरे सामने उपस्थित हुई थी। वह आमन्त्रण नहीं था—आज्ञापत्र था। सभा महाराज ने नहीं बल्कि पितामह ने बुलायी थी और उस भूर्जपत्र पर सभा का प्रयोजन भी लिखा नहीं था। क्षण-भर क्रोध की उमड़ती हुई भावनाएँ मन में ऊधम मचाती रहीं। उस भूर्जपत्र को फाड़ डालने के विचार से मैंने उसको आड़ा पकड़ा-परन्तु तभी उसपर चिपटा हुआ, अतलसी वस्त्र पर बुना हुआ सुवर्ण-धागों का, छोटे आकार का सूर्यबिम्बांकित राजचिह्न चमक उठा। वह कुरुओं की आदरणीय राजमुद्रा थी। उस राजमुद्रा की परम्परागत ख्याति ऐसी थी कि सभी के सिर उसके सामने झुक जाते थे। व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो, परन्तु राजमान्य प्रतीक के सम्मुख उसको झुकना ही पड़ता है। मैंने अपना विचार बदल दिया।

“जाओ तुम !” वह भूर्जपत्र को एक तबक में रखकर लाया था। उसी तबक में एक लकड़ी के आसन पर मोम का गोला रखा हुआ था। उस गोले को उठाकर, आज्ञापत्र प्राप्त

होने का संकेत के रूप में मैंने तर्जनी में पहनी हुई अँगूठी का चिह्न उसपर अंकित कर दिया। गोला पुनः तबक में रखकर अभिवादन कर तबक सँभालता हुआ वह चला गया।

पितामह द्वारा आमन्त्रित पहली राजसभा ! उसके लिए मुझको आज्ञापत्र ! क्या है पितामह के मन में ? देह पर राजवस्त्र धारण करते हुए मेरा मन अनेक मार्गों से ऐसे दौड़ रहा था जैसे पर्वत-शिखर से ढरता हुआ पानी अनेक प्रवाहों में, जिधर रास्ता मिलता है उधर ही दौड़ता जाता है। सभा का कारण ही समझ में नहीं आ रहा था।

सदैव की भाँति सभागृह में जाने से पहले मैंने उस दिन भी राधामाता की चरणधूलि सिर से लगायी। दुर्योधन के साथ ही मैंने सभासदों से भरे हुए सभागृह में प्रवेश किया। सभी कुरु योद्धा उपस्थित थे; परन्तु सभा किस लिए बुलायी गयी है, यह किसी को भी विदित नहीं था। सभागृह पूर्ण होते ही कार्यक्रम के नियमानुसार प्रस्तावना के रूप में अमात्य वृषवर्मा बोलने लगे, “आज की राजसभा पितामह ने बुलायी है। कुछ कुरु योद्धाओं को वे भावी संकट की गम्भीर चेतावनी देना चाहते हैं। उनका प्रत्येक शब्द सबके लिए शिरसा वन्द्य है। वे जो कुछ कहें, उसको सभी योद्धागण ध्यानपूर्वक सुनें, इसका उद्देश्य किसी का अपमान करना नहीं है। पितामह के गगनभेदी पराक्रम का तथा हस्तिनापुर राज्य के लिए उन्होंने जो अद्वितीय त्याग किया है, उसका वर्णन करने का यह समय नहीं है। फिर भी हमारे राज्य का प्रभाव उनके ध्वजदण्ड-जैसे जीवन के कारण ही आर्यावर्त में वृद्धिगत हुआ है, यह कोई भी न भूले। इस सभागृह में वे सबसे ज्येष्ठ वृद्ध हैं। वृद्धों के अनुभवी वचन ओषधि-जैसे होते हैं। मन की विकृत विचारों की व्याधि को उखाड़ फेंकते हैं। द्वेष भी ऐसी ही एक व्याधि है। इस व्याधिरूपी मृगजल के पीछे पड़ने के कारण देवता आदि के वैभवसम्पन्न राज्य भी धूल में मिल गये हैं। आपस में झगड़ना तो ऐसा ही है जैसे अपने ही दाँतों के नीचे अपनी जीभ का दब जाना। जो सुज्ञ और द्रष्टा होते हैं, वे इस प्रकार दबी हुई जीभ को कुशलता से दाँतों की पकड़ से निकाल लेते हैं। इसके लिए प्रेम और संयम आवश्यक है। क्योंकि द्वेष से कपट, कपट से क्रोध और क्रोध से युद्ध जन्म लिया करता है। युद्धों से प्रश्न कभी नहीं मिटते-बल्कि उनमें से नये-नये जटिल प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इसीलिए प्रेम और संयम ही सच्चा धर्म है। आज हम सभी को आँखें खोलकर उसका पालन करना चाहिए। नहीं तो...नहीं तो कल द्वेष की मशाल लपलपाती हुई चारों ओर से सभी को दग्ध कर देगी। इसीलिए सभी शान्तिपूर्वक पितामह की आज की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उदात्त सूचनाओं को ध्यान से सुनें-” शुष्क होंठों पर जीभ फेरते हुए वे बैठ गये। उनका एक-एक शब्द तीक्ष्ण था। इतने मर्मभेदी वचन इन्होंने पहले कभी नहीं कहे थे।

सभागृह में क्षण-भर भयंकर शान्ति छायी रही। अमात्य के कथन से पितामह क्या कहेंगे, इसका कुछ आभास सभी को हो गया।

पितामह उठकर खड़े हुए। आज प्रारम्भ से ही उन्होंने कुरुओं का राजदण्ड महाराज के हाथ में देने के बजाय अपने ही हाथ में रखा था। उनका शरीर बोलते समय सदैव की भाँति थरथरा नहीं रहा था। वे हिमालय के उन्नत शिखर की तरह अचल खड़े थे। क्षण-भर में ही उस शिखर के मुख से शब्दों की गंगा-यमुना सभागृह के सभी योद्धाओं पर गिरने लगी।

"वीरो, अपने जीवन में यह पहली ही सभा मैंने आमन्त्रित की है—हो सकता है कि यह अन्तिम भी हो। मैं आपके सम्मुख कुरुओं के योद्धा के रूप में नहीं खड़ा हुआ हूँ, न पितामह के रूप में, न परशुराम के शिष्य भीष्म के रूप में, जिस राज्य का मैंने कभी उपयोग नहीं किया उस राज्य के सेवक के रूप में भी नहीं, बल्कि आपकी ही तरह एक आँख में विजय के आनन्दाश्रु और दूसरी में पराजय के दुःखाश्रु लेकर जीवन-संघर्ष को देखनेवाले एक साधारण व्यक्ति के रूप में मैं खड़ा हुआ हूँ। अवस्था के अनुपात से यह संघर्ष मैंने आपकी अपेक्षा अधिक काल तक देखा है। मेरे जीवन के सभी निकटवर्ती साक्षी व्यक्ति कभी समाप्त न होनेवाली अनन्त यात्रा पर चले गये हैं, मैं पीछे घिसट रहा हूँ, केवल इसीलिए कि यह बात तुम्हें तुम्हारी ही भाषा में स्पष्ट रूप से बता दूँ कि प्रकृति ने मानव-मन की रचना कितनी विचित्रता से की है। वह दिन आ गया है।

"ध्यान रखिए, स्वार्थ मनुष्य को सर्वाधिक क्रूर बना देता है। भूख से व्याकुल सिंह अपनी भूख शान्त करने के लिए किसी प्राणी को मारकर खाता है। परन्तु वह कभी दूसरे सिंह को मारकर नहीं खाता। लेकिन स्वार्थ से व्याकुल मनुष्य एक-दो नहीं, बल्कि लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतारने में आगा-पीछा नहीं देखता। मनुष्य को कोई नैतिक अधिकार नहीं है कि वह सिंह को क्रूर कहे। विधाता द्वारा निर्मित इस जीवसृष्टि में मनुष्य ही सबसे अधिक क्रूर प्राणी है। फिर भी विद्वान् लोग मनुष्य को सुसंस्कृत मानते हैं। मानव श्रेष्ठ प्राणी है, लेकिन कब ? उस समय, जब वह अपना स्वार्थभाव छोड़कर दूसरों के लिए अपने रक्त की एक-एक बूँद बहा दे। अन्यथा मनुष्य धर्म, भाग्य, राजनीति आदि का कितना ही ढिंढोरा क्यों न पीटे, उसका मूल्य दो कौड़ी का भी नहीं। मनुष्य को सबसे बड़ा यदि कोई शाप मिला हुआ है, तो वह स्वार्थ का ही शाप है।

"भयंकर स्वार्थ से जकड़ा हुआ मनुष्य परिश्रम का परित्याग कर कपट का आश्रय लेता है। एक ऐसे दृश्य की कल्पना कीजिए जिसमें संसार के सभी व्यक्ति परिश्रम न करके केवल कपटबुद्धि के बल पर, स्वार्थ को ही कुशलता का नाम देकर, जी रहे हों। क्या दिखाई देगा ? इस रमणीय पृथ्वी का मनुष्य के ही कारण बना हुआ नरक। ऐसे स्वार्थ का उचित समय पर निषेध करना चाहिए। इसलिए मैंने यह सभा आमन्त्रित की है।

"प्रजा का भविष्य उसके राजा पर अवलम्बित होता है। तुम्हारे और मेरे सभी के दुर्भाग्य से ऐसे ही कपटमय स्वार्थ ने आज अपने राज्य को चारों ओर से घेर लिया है। कौन किसको दोष दे ? सभी लोग तो मार्गभ्रष्ट हैं। इसमें पहला और अक्षम्य दोष है आपके राजा का—

इस धृतराष्ट्र का। अपने प्रिय भाई पाण्डु ने दिग्विजय कर इस राज्य को वैभव के शिखर पर पहुँचाया है—यह बात वह आज बिलकुल ही भूल गया है। उसने कभी एक भी शब्द से अपने पुत्रों को नहीं रोका। मैंने यह सुन रखा था कि सत्ता के लोभ से मनुष्य अन्धे हो जाते हैं; परन्तु इस बात को असत्य सिद्ध करनेवाला सत्य तुम्हारे राजा के रूप में सामने उपस्थित है। दुर्भाग्य से यह अन्धा राजा सत्ता के लोभ में आँखवाला बन गया है। अपने पुत्र को आगे कर, उसके राज्याभिषेक के असम्भव स्वप्नों को वह दिन में भी साकार देखता है। धन्य है उसकी राजनिष्ठा।

“अमात्य वृषवर्मा ने कहा है कि वृद्धों के वचन ओषधि-जैसे होते हैं—मैं कहता हूँ कि वह ओषधि कितनी ही गुणकारी क्यों न हो, लेकिन जबतक व्याधिग्रस्त व्यक्ति सावधानी से पथ्य का पालन नहीं करता, तब तक उसका कोई उपयोग नहीं। सरल और स्पष्ट शब्दों में मैं पूछता हूँ कि धृतराष्ट्र अब भी अपने अन्तर्मन की आँखें खोलेगा या नहीं? उसका पुत्र दुर्योधन कम से कम अब राजकीय पथ्य का पालन करेगा या नहीं? क्या आप सब लोग शान्त मन से कभी सत्यासत्य का विचार करेंगे?

“हम लोग जिस सभागृह में बैठे हुए हैं उस सभागृह ने अभिमान के कितने प्रसंग देखे हैं, यह बात क्या आज एक को भी याद है? महाराज हस्ति का यह हस्तिनापुर सैकड़ों वर्षों से मस्तक उन्नत किये हुए आर्यावर्त का नेतृत्व करता आया है। इस राजसिंहासन को तपतिपुत्र कुरु, शुभांगी पुत्र विदूरथ, सम्प्रियापुत्र अनश्वन, अमृतापुत्र परीक्षित, सुवेषापुत्र भीमसेन, सुकुमारीपुत्र प्रतीप और मेरी महामाता सुनन्दा के पुत्र महाराज शान्तनु-जैसे बलशाली और विशालहृदय वीरों ने सुशोभित किया है। उनकी कीर्ति का डिण्डिम, दिग्विजय कर, पाण्डु ने गुंजा दिया है...और आज! आज यह स्थिति है कि प्रत्येक घटना हमको सिर झुकाने को विवश कर रही है। इसी सभागृह में द्रौपदी की जो क्रूर विडम्बना हुई थी, वह कौन-सा पुरुषार्थ था? द्यूत के पासों से पाण्डवों के ही बसाये हुए सम्पन्न राज्य को हड़पकर उनको पेट के लिए देश-देश की ठोकें खाने देना किस राजधर्म के अन्तर्गत आता है? इतना करने के बाद भी दुर्योधन शान्त नहीं बैठा है? क्या इसके लिए इस धृतराष्ट्र ने कभी मुँह खोला है? नहीं! इसीलिए विवश होकर मुझको कहना पड़ रहा है।

“दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण, चित्रसेन, दुःसह, जय, सत्यव्रत, दुर्मर्षण, पुरुमित्र और विवंशति-महारथी धृतराष्ट्र-पुत्रो! शकुनि, अश्वत्थामन्, जयद्रथ आदि अतिरथियो! हम लोग कहीं रुकेंगे या नहीं?

“दुर्योधन, लोग द्वेष का महावृक्ष कहकर तुम्हारी निन्दा करें, इससे तो अच्छा है कि सामर्थ्यशाली गदावीर के रूप में तुम कीर्ति अर्जित करो। पाण्डवों का विषय अपने मस्तिष्क से निकाल दो, क्योंकि कल ही तुम द्वैतवन से जीवित बचकर आये हो, वह केवल अर्जुन के कारण....कर्ण के कारण नहीं। मन में जिस उद्देश्य को लेकर तुम द्वैतवन में गये थे, उसे

चित्रसेन गन्धर्व ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। कर्ण युद्धभूमि से भाग आया है। जिसके पुरुषार्थ पर तुम्हें मिथ्या विश्वास रहा है, उस कर्ण ने अपने जीवन में आज तक ऐसा कौन सा नेत्रदीपक पराक्रम किया ? अर्जुन अजेय धनुर्धर है। किरातरूपधारी साक्षात् शंकर को उसने पराजित किया है। खाण्डव वन में इन्द्रप्रस्थ का राज स्थापित करते समय क्रुद्ध होकर आक्रमण करनेवाले वरुण को भी उसने जीत लिया है-उससे अक्षय बाणों के तरकश सहित गाण्डीव धनुष प्राप्त कर लिया है। स्वयंवर में मत्स्यभेद अर्जुन ने ही किया था और कल तो अपने प्राण संकट में डालकर तुमको गन्धर्व के हाथ से छुड़ाकर उसी ने प्राणदान दिया है। अर्जुन को जीतना सरल नहीं है। जिस पर तुम अभिमान कर रहे हो, वह कर्ण अर्जुन के पासंग में भी नहीं बैठेगा। इसीलिए मैंने इस समय महारथी-अतिरथियों की सूची में उसका उल्लेख नहीं किया।

“युवराज, सभी अच्छे-बुरे विचारों की उत्पत्ति मन से हुआ करती है। सारे संसार को एक बार सरलता से जीता जा सकता है, परन्तु मन को जीतना अत्यन्त कठिन है। इसलिए यदि तुम सच्चे वीर हो तो अपने मन के अर्जुन को पहले जीतो। राज्यलोभ का विचार मन से निकाल दो। पाण्डव और कौरव दोनों एक-दूसरे की ओर सहायता का हाथ बढ़ायेंगे, तभी यह राज्य टिकेगा। अभी समय नहीं बीता है, सेनापति को भेजकर वन से पाण्डवों को समझा-बुझाकर वापस बुला लो !

“यदि ऐसा नहीं हुआ तो जिस राजदण्ड को अपने हाथ में रखने की तीव्र लालसा से उत्तेजित होकर तुम एक के बाद एक पाण्डव-विनाश की भयकर क्रूर योजनाएँ बना रहे हो, उसका परिणाम सभागृह के इन शत-शत योद्धाओं के सिंह-जैसे प्राणों को भुगतना ही पड़ेगा। धेनु, धाम, धन, धरती-इन सबकी अपेक्षा वीरों के प्राण हजार गुने मूल्यवान् होते हैं। क्योंकि राज्य का यश बढ़ाने का कार्य वे ही किया करते हैं।

“दुर्योधन, तुम इन सब वीरों को मृत्यु महानद की ओर ले जा रहे हो। भीम को विष देने की कल्पना, दुर्योधन, तुम्हारी ही थी। वारणावत में लाक्षागृह में कुन्ती सहित पाण्डवों को दग्ध करने का कपट तुम्हीं को सूझा था। राज्य माँगनेवाले पाण्डवों को खाण्डव वन का दान देने की लोक विलक्षण उदारता तुम्हारी ही थी। पासे की कौड़ियाँ फेंककर ऊपर उछलते हुए शकुनि के हाथ पर ताली मारने के लिए सबसे पहले जो हाथ पड़ा था, वह तुम्हारा ही था। जिस स्त्री के चरणों की धूल मस्तक से लगानी चाहिए, ऐसी साध्वी द्रौपदी को अनावृत जंघा दिखानेवाले गदावीर तुम्हीं थे। जिस जीभ से देवमन्त्र उच्चरित करते हुए अनाथों को दान दिया जाता है, उसी जीभ से सूर्यप्रकाश-जितनी पवित्र राजमाता कुन्ती को कलंकित कहकर भरी सभा में ठठाकर हँसनेवाले तुम्हीं थे। और....और कल इस पराक्रमशून्य सूतपुत्र कर्ण का हाथ अपने हाथ में लेकर इन्द्रप्रस्थ की दासियों के साथ पाण्डवों को

चिढ़ाने के लिए जानेवाले तथा वहाँ से लताओं से हाथ बँधवाकर लौटनेवाले, पुरुषार्थहीन जलक्रीड़ा करनेवाले भी तुम्ही थे।

“दुर्योधन, कर्ण ! यह राजदण्ड ही यदि तुम लोगों को मदान्ध बनाकर कुरुओं के भावी वैभवस्वरूप इन शत-शत वीर योद्धाओं के प्राणों से क्रूर द्यूत खेलने के लिए पुनः-पुनः इतना प्रवृत्त कर सकता है, तो यह राजदण्ड इन सबके प्राणों की अपेक्षा कितना क्षुद्र है, यह बात तुम्हारे साथ ही इन सभी योद्धाओं को स्पष्ट दिखाने के लिए मैं शान्तनुपुत्र भीष्म उसको इस प्रकार फेंके देता हूँ।”

हाथ ऊँचा कर उन्होंने सुवर्ण का राजदण्ड सभागृह के मध्य भाग में फेंक दिया। नीचे फर्श पर खड़-खड़ करता लुढ़कता हुआ वह दुर्योधन के पैर के पास आकर रुक गया। दुर्योधन सहित सभी योद्धा एकदम उठकर ऐसे खड़े हो गये जैसे देह पर बिजली गिर पड़ी हो। खिन्न मन से अकेला मैं ही बैठा रहा था। राजदण्ड फेंकनेवाला वह वृद्ध योद्धा ऊँचे देवदार वृक्ष की तरह अब थरथर काँप रहा था। उसके मस्तक पर सिकुड़नों के बीच स्वेद-बिन्दु चमक रहे थे।

अखाड़े का लक्ष्यवेध, काम्पिल्य नगर का मत्स्यभेद, इन्द्रप्रस्थ का शिशुपालवध और....और इसी सभागृह में द्रौपदी का वस्त्र-हरण-इनमें से कोई घटना मुझको इतनी रोमांचक नहीं लगी थी, जितनी आज की यह घटना लगी थी।

मन्द-मन्द स्पन्दित होनेवाले उस राजदण्ड की ओर देखते हुए कहीं से विचारों का एक कम्पन मेरे मन में तैर गया। झट से आगे बढ़कर वह राजदण्ड हाथ में लेकर मैंने ऊँचा उठा दिया। मिश्रित भावों की विविध छटाएँ सभासद् योद्धाओं की आँखों में उफन-उफनकर आ रही थीं। अब क्या करूँगा मैं ? यही प्रश्न वे मौन भाषा में मुझसे पूछ रहे थे।

"बैठ जाइए।" मैंने शब्दों की गदा फेरी। जैसे समुद्र का ज्वार उतर जाता है, उसी तरह वे सब नीचे बैठ गये। मेरे शरीर में रक्त के कण तेजी से भ्रमण करने लगे, आँखों के कोने यज्ञकुण्ड की तरह प्रज्वलित हो उठे थे। कानों के रणक्षेत्र पर कोई शब्दों के शंख, कुण्ठ की नसें फुला-फुलाकर फूंक रहा था-"कर्ण अर्जुन के पासंग में भी नहीं बैठेगा। पराक्रमशून्य, पराजित, पलायन करनेवाला कर्ण ! ऐसा कौन-सा नेत्रदीपक पराक्रम कर्ण ने किया है ! अर्जुन अजेय धनुर्धर है।" एक हाथ कान पर रखकर उठाये हुए हाथ को हिलाकर मैं यथाशक्ति तीव्र स्वर में बोला, "मैं पराक्रमशून्य नहीं हूँ। मैंने पलायन नहीं किया ! कर्ण अर्जुन के पासंग में भी नहीं है, यह कहनेवाले पितामहजी को मैं दिखा दूँगा कि अर्जुन कर्ण के सामने खड़ा भी नहीं रह पायेगा। युद्ध में प्राप्त होनेवाली विजयों की संख्या ही यदि पराक्रम की कसौटी हो तो, अंगराज के रूप में नहीं, राजा दुर्योधन के मित्र के रूप में नहीं, आप कुरुजनों के सभागृह के एक योद्धा के रूप में नहीं, बल्कि सूतपुत्र राधेय कर्ण के रूप में मैं यह राजदण्ड समस्त आर्यावर्त में अजेय बनाकर घुमा दूँगा। जितने देश और जितने

राजाओं को अमात्य वृषवर्मा जानते हैं, उन सभी को मैं इस पवित्र राजदण्ड सम्मुख नतमस्तक कर दूंगा। वर्षा ऋतु समाप्त होते ही मैं यह राजदण्ड लेकर नगर की सीमा से बाहर चल दूंगा-एक ऐसी दिग्विजय के लिए जो पहले किसी ने कभी नहीं की होगी। ययाति महाराज के इस हस्तिनापुर में यशस्वी होकर ही पुनः पैर रखूँगा.....अन्यथा....अन्यथा समरांगण में अपनी बलि दे दूंगा। परन्तु कोई कुछ और न समझे इसलिए इस सभागृह में मैं फिर एक बार अच्छी तरह कहे देता हूँ कि विजय में उन्मत्त होकर मैं श्रीकृष्ण के मथुरा और द्वारका इन दो राज्यों पर आक्रमण नहीं करूँगा। यह घोषणा मैं मरण या पराजय के भय से नहीं कर रहा पर मैं यह क्यों कर रहा हूँ, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह घोषणा केवल श्रीकृष्ण के लिए है। अब पुनः कोई कर्ण और अर्जुन की तुलना करने का प्रयत्न न करे। मैंने अखाड़े में द्वन्द्व की जो चुनौती दी थी, वह अब भी ज्यों की त्यों जीवित है। श्रीकृष्ण के बिना अर्जुन टूटा हुआ नादशून्य खड्ग है। उसी प्रकार पितामह ने राजा दुर्योधन पर जो आरोप लगाये हैं, वे भी एकांगी हैं। बचपन में ही दुर्योधन के चार-चार भाइयों को जलक्रीड़ा के बहाने प्राण निकलने तक पानी में डुबो रखनेवाला भीम क्या पितामह को दिखाई नहीं दिया था ? अखाड़े में मुझसे 'हाथ में प्रतोद ले' कहकर ठठाकर हँसनेवाले भीम के विकट हास्य को क्या वे भूल गये हैं ? राजसूय यज्ञ से युवराज दुर्योधन को पशुओं की गणना कर उनपर दृष्टि रखने का आदेश देते समय उनकी यह न्यायप्रियता कहाँ चली गयी थी ? 'अन्धे पिता के पुत्र भी अन्धे होते हैं।' कहनेवाली पांचाली को वे जानते नहीं हैं क्या ? और कल,....कल अर्जुन ने स्वयमेव राजा दुर्योधन को गन्धर्वों से मुक्त नहीं किया है, बल्कि उसने युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन मात्र किया है....अन्यथा दुर्योधन के हाथों पर लिपटी हुई लताओं को वह स्वयं ही खोल देता। मुझे ऐसा लगता है कि कौरवों और पाण्डवों का मिलना उतना ही असम्भव है जितना दिन और रात का मिलना ।

"पितामह कहते हैं कि यह राजदण्ड क्षुद्र है। मेरे विचार से यह राजदण्ड स्वर्ग के राज्य से भी अधिक श्रेष्ठ है। स्वयं उन्होंने इस राजदण्ड की निष्कलंक प्रतिष्ठा के लिए अपने गुरु जमदग्निपुत्र परशुराम से घोर युद्ध किया था। इस बात को वे भूल सकते हैं, परन्तु हम....कम से कम मैं तो नहीं भूला । और गुरुजन के ज्येष्ठ के नाते से भविष्य में सबसे पहले उन्हीं को इस राजदण्ड के सम्मुख झुकना नहीं पड़ेगा, यह भी भला कौन कह सकता है !

“यों तो अरण्य में घासों का घना जाल बिछा रहता है, परन्तु देवमूर्ति पर चढ़ायी जाती है दूर्वा ही। ऐसे ही संसार में अनेक पर्वत हैं, किन्तु हिमालय हिमालय ही है। उसी प्रकार स्त्रियाँ बहुत-सी होती हैं, परन्तु चरण-धूलि माता की ही ली जाती है। इस हस्तिनापुर में वीर बहुत से हैं, परन्तु....परन्तु इस राजदण्ड को फेंकने का साहस अकेले पितामह की कर सकते हैं। आकाश में यों तो अनेक तेजोगोलक हैं, परन्तु सूर्यदेव एक ही हैं। ऐसे ही—

बिलकुल ऐसे ही यही एक राजदण्ड श्रेष्ठ है। और इसलिए प्राणों की बाजी लगाकर आगे बढ़कर मैंने इसको उठाया है। यह कभी नीचे नहीं गिरने पायेगा। यदि ऐसा कोई अवसर आया भी तो खड़ग से खड़ग भिड़ जायेंगे, गदाओं से चिनगारियाँ छूटेंगी, बाणों की वर्षा होगी, चक्रों के आरे फिरेंगे, रक्त की नदियाँ बहेंगी, परन्तु यह राजदण्ड उनपर भी तैरता ही रहेगा। क्योंकि यह कुरुओं का है। हस्तिनापुर का है। परम्परा का है। केवल इसलिए मैंने यह अपने हाथों में थामा है। जिस उत्कट कोटि की निराशा से पितामह ने उसको नीचे फेंका था, उसी उत्कट कोटि के निश्चय से, उन्हीं के चरणों की शपथ लेकर, मैं इसे आकाश के समान उन्नत कर दूंगा। वर्षा ऋतु के बाद ।" मेरा सम्पूर्ण अंग थरथरा रहा था। मैंने क्या कहा, कितना कहा, कैसे कहा, इसका मुझको कुछ भी भान नहीं था। शरीररूपी हाल तप्त होकर उज्ज्वल हो रही थी।

"अंगराज कर्ण की SSS!"

"जय हो !"

सभागृह की छत योद्धाओं की घोषणाओं से प्रकम्पित हो रही थी। मेरा हाथ मिश्रित भावनाओं के स्पन्दनों से थरथरा रहा था।

"शान्त होइए।" राजदण्ड ऊपर उठाये हुए मेरे हाथ से किसी का हाथ सटा।

वह दुर्योधन था। दूसरे हाथ से वह सबको शान्त होने का संकेत कर रहा था। सबके शान्त होते ही उसने थोड़े-से शब्दों में महत्वपूर्ण बात कही।

"दिग्विजय के लिए सीमा से बाहर प्रस्थान करनेवाले अपने परम मित्र कर्ण के पीछे मैं कुरुओं की चार अक्षौहिणी सशस्त्र सेना खड़ी कर दूंगा। इस सेना में सतासी सहस्र चार सौ अस्सी रथ तथा इतने ही हाथी, दो लक्ष छह सहस्र चार सौ चालीस उत्तम अश्वारोही और चार लक्ष सैंतीस सहस्र चार सौ पदाति योद्धा-कुल मिलाकर आठ लक्ष चौहत्तर सहस्र आठ सौ की सैन्य-शक्ति होगी। इस वर्षा ऋतु के बाद नदियों में पानी कम होगा, किन्तु कुरुओं के कीर्ति-समुद्र में ज्वार आयेगा। बस पितामह द्वारा आमन्त्रित इस प्रथम राजसभा को मैं भी पहली ही बार विसर्जित करता हूँ। सभी आमन्त्रित महानुभाव वापस जा सकते हैं।" उसने राजदण्ड मेरे हाथ से सादर अपने हाथ में ले लिया। अब वह उसी के हाथ में रहना था ।

शोण

□

मूसलाधार वर्षा ने राजधानी के कोट, बुर्ज, गोपुर और कलशों पर अपने प्रहार प्रारम्भ कर दिये। वर्षाऋतु के आगमन से सैनिकों के खुले प्रांगण में होनेवाले शूल, तोमर, गदा और खड्ग के व्यायाम अपने-आप ही बन्द हो गये। समस्त दिनचर्या में शिथिलता आ गयी। कुछ कृषकगण खेतों में जुताई बुआई करने के लिए पलाशवृक्ष के पत्तों के छोटे-छोटे छत्र धारण कर प्रातः-सन्ध्या जाते-आते दिखाई देने लगे। आषाढ़-श्रावण मास बीत गये। महाबाढ़ का गन्दा मटमैला पानी गंगा पात्र में उफनता-गरजता हुआ दौड़ने लगा। उसकी गरजती हुई लहरों पर उड़ते हुए तुषारों से किनारे पर स्थित शालियों की कलमों के हरे-हरे पत्ते धुलकर स्वच्छ होने लगे। मेरा मन भी अपने शूर भाई की दिग्विजय की प्रतिज्ञा से सन्तुष्ट होकर लबालब भर आया। राजभवन में सबके मुख पर एक ही बात थी। अंगराज कर्ण की दिग्विजय। सब लोग यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि गंगा का पानी कब उतरेगा और कब पात्र में समायेगा। भैया तो गवाक्ष के कपाटों के पास खड़े होकर घण्टों तक गंगा की लहरों के दिनानुदिन कम-कम होते हुए स्तर को देखते रहते थे। लौहागार में सैकड़ों लौहकार बाण, परशु, भाले, खड्ग आदि के सुतीक्ष्ण फलक बनाने के लिए भट्टियाँ जलाकर अहर्निश घनाघात करने लगे। वर्षाऋतु में उत्पन्न होनेवाले अकूर और अकला रोगों से घोड़ों के खुरों को बचाने के लिए अश्वपाल उनपर ओषधि-वनस्पतियों का रस डालकर उनकी रक्षा कर रहे थे। टिकाऊ होने के कारण साग वृक्ष की लकड़ियों के तख्ते चीरकर बढ़ई नौकाएँ बना रहे थे। मैं स्वयं भैया के घोड़े वायुजित् की देखभाल कर रहा था।

भाद्रपद और आश्विन महीने बीत गये। वर्षा की झड़ी कम हो गयी। गंगा का उफनता हुआ पात्र, सागर को अपने प्रेम का स्वच्छन्द दान देकर, फिर सामान्य हो गया। खेतों में शस्यों के पौधे अंगड़ाई ले उठे। वृक्षों के पत्तों पर जलबिन्दुओं की अविरत टपटप रुक गयी, सीटी बजानेवाला पवन अपनी सीटी का स्वर ढूँढ़ता हुआ कहीं दूर चला गया। सम्पूर्ण धरा हरे सुकोमल अंकुरों के नूतन परिधान धारण कर सुसज्जित हो गयी। कार्तिक मास समाप्त हुआ और पक्षियों ने पंख फटकारे। पाँच महीनों के दीर्घ वियोग के बाद सूर्य-किरणों ने राजभवन के शुभ्र धवल शिखरों को प्रथम स्पर्श किया। वर्षा ऋतु समाप्त हुई। लहलहाते खेतों के आस पास कपोत और भारद्वाज चक्कर काटने लगे।

एक दिन मैंने और भैया ने जाकर नदी का पात्र देखा। अब नौकाओं की सहायता से उसको पार किया जा सकता था। राजभवन के घोड़ों ने अश्वशाला में हिनहिनाकर, खुरों से

धरती कुरेदकार, पैरों के नीचे गड्ढे करना प्रारम्भ कर दिया। दिग्विजय के लिए राजनगर से बाहर निकालने का शुभ समय आ गया। राजज्योतिषियों से पूछकर प्रस्थान का मुहूर्त निकलवाया गया। मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी का दिन नियत हुआ।

शुक्ला चतुर्थी की रात को सभी योद्धाओं, सैनिकों, भारवाहकों और सेवकों को तैयार करने की आज्ञा दे दी गयी। मेरा मन उत्साह की फुहारों से स्वच्छ होने लगा। भैया दिग्विजय के लिए सीमा से बाहर निकलनेवाले थे। बचपन में सबने उनको एक पाषाण के सिंहासन पर बैठाया था। पाषाण की तरह ही दृढ़ रहकर उन्होंने अंगदेश का सिंहासन विभूषित किया था। और अब...अब वे अखिल आर्यावर्त की दिग्विजय कर सभी योद्धाओं के मन के प्रेमसिंहासन को जीतने जा रहे थे। अंगराज ! कर्ण ! छिः- मेरे वसुभैया । वसुभैया अब देश देशान्तरों के राजाओं को दाँतों तले तृण दबाकर शरण आने को विवश कर देंगे। उनकी इस सम्पूर्ण दिग्विजय में उनका सारथ्य मुझी को करना था। सौ युवराज, शकुनि मामा, अश्वत्थामा, जयद्रथ, सेनापति—इनमें से किसी को साथ न लेकर ये अकेले ही बाहर निकल रहे थे। केवल मुझी को साथ लेकर। उनका मेरा साथ तो जन्म जन्मान्तरों का था। उनके कानों में कुण्डल थे, शरीर सुवर्ण वर्ण का था, कपोल गुड़हल के फलों जैसे थे, आँखें गहरे नीलेवर्ण की तथा दाँत सुवर्णमय थे। मैं श्यामवर्णी था, परन्तु, भूलकर भी कभी मुझको इस बात पर खेद नहीं हुआ था। बल्कि बचपन में उन्होंने जो एक आश्वासन दिया था, उसको मैं कभी भूल नहीं सका था।

उन्होंने कहा था, "मैं भी गरुड़पक्षी की तरह ऊँचा और ऊँचा जाऊँगा। इतना ऊँचा कि तुमको दिखाई भी नहीं दूँगा।"

उनके कथनानुसार दिग्विजय की यह उड़ान ही उनके जीवन की सबसे ऊँची उड़ान होनेवाली थी। क्योंकि उनके आत्मविश्वासपूर्ण स्वभाव से मैं अब भली भाँति परिचित हो गया था। बस, उनके आत्मविश्वास को उफाननेवाला कोई सशक्त कारण होना चाहिए। राजसभा के रूप में पितामह भीष्म ने उसका भी निर्माण कर दिया था। अब उनकी दिग्विजय को कोई रोक भी नहीं सकता था। चाहे कुछ भी हो जाये, लेकिन वे अब कथनानुसार कुरुओं के राजदण्ड को समस्त आर्यावर्त में अजेय के रूप में घुमाकर ही लौटेंगे। शुक्ला चतुर्थी की रात भी हमको अब युग जैसी लग रही थी। पुत्र से मिलने को तड़पनेवाली माता, पति से मिलने को व्याकुल स्त्री-इनकी अपेक्षा युद्ध के लिए युद्धभूमि पर जानेवाला योद्धा अधिक उतावला होता है।

दो

और मार्गशीर्ष मास का शुक्ला पंचमी का वह क्रान्तिकारी दिवस उदित हुआ। भारद्वाज पक्षी के शुभसूचक दर्शनों से सभी को आनन्द हुआ। अश्वसाद, गजाति, पदाति, रथी और महारथी राजभवन के बाहर मैदान में अनुशासन-बद्ध खड़े हो गये। सबके पराक्रम का संचित बाँध अब टूटनेवाला था। देश-देशान्तर में अब उसको भ्रमण करना था। अंगराज कर्ण दिग्विजय के लिए आज कुरुओं के हस्तिनापुर नगर से बाहर प्रस्थान करनेवाले थे। बचपन में सीपियाँ इकट्ठी कर उसे सम्पत्ति रूप में राधामाता को दिखानेवाले हम कर्ण-शोण अब हीरे, माणिक्य, मोती, प्रवाल, गोमेद और वैदूर्य से भरी हुई गाड़ियाँ लाकर, यह सम्पत्ति सविनय उनके चरणों पर अर्पित करेंगे। फिर भी वह भैया से कहेगी ही, “वसु, इस दिग्विजय में कभी गंगा के पानी में तो नहीं उतरा था न ?” सीधे-सादे मनुष्य थे हम। दारिद्र्य में और वैभव में एक-दूसरे से समान प्रेम करनेवाले।

नगाड़े की मन्द-मन्द ध्वनि प्रत्यूषा से ही राजभवन के भव्य प्रांगण में गूँज रही थी। वर्षा ऋतु में पेटिका में रखा हुआ, अतलसी वस्त्र का, नहुष महाराज के समय से ही सँभालकर रखा गया, कुरुओं का त्रिकोणी राजध्वज महामन्त्री विदुर के हाथों, पुष्पमाला से युक्त कर, राजभवन के शिखर पर चढ़ा दिया गया था। सूर्य ने पूर्व दिशा को प्रकाशित किया। उसकी सुनहली किरणशलाकाओं में वह भगवाध्वज चमकने लगा। वायु के साथ वह फहराने लगा। वह उस ऊँचे राजभवन के शिखर पर से भी अपना सिर उठाकर दृष्टिक्षेत्र में आनेवाले सभी राजाओं से कह रहा था-“सावधान ! अभेद्य कवचवाला, कुण्डलधारी हस्तिनापुर का वीर आज प्रस्थान कर रहा है। शरणागति या रणांगण में बलिदान-इसके अलावा अब आपका अन्य कोई भविष्य है ही नहीं। सावधान!”

प्रत्यूषा में ही उठकर भैया ने स्वयं सेना का निरीक्षण किया। अश्वसादों को और गजातियों को नदियाँ पार करने के सम्बन्ध में विशेष आदेश दिये। गजदल के हाथियों को घेरकर उनको छेदते हुए शत्रु पर कैसे छोड़ा जाये, यह सब पदातियों को समझाया। अन्न पकानेवालों को ओदन कम मात्रा में पकाने को कहकर मांसाहार पर विशेष जोर देने की सूचना भी उन्होंने दी। उस आहार के पश्चात् स्फूर्ति के लिए उचित परिमाण में सभी सैनिकों को सोमरस वितरित हो सके, इस ओर भी ध्यान रखने को उन्होंने कहा।

उनकी केवल एक झलक पाकर ही वीर योद्धाओं की भुजाएँ स्फुरित हो रही थीं। जिन-जिन पथकों में होकर वे घूमे उन-उन पथकों के कुछ सैनिक तो एकदम आगे बढ़कर उनके सुनहले संकुचित होते गये चरणों को छूकर श्रद्धा से वन्दन कर रहे थे। उनका एक हलका-सा स्पर्श अथवा एक शब्द मात्र या सान्निध्य ही सबको अभिभूत कर देता था। सेनापति का आकर्षक व्यक्तित्व भी सैनिकों के लिए प्रेरणादायी होता है।

सारा निरीक्षण पूरा होते ही वे अकेले ही अर्घ्यदान के लिए गंगा के किनारे गये। वह तो उनका जीवन-भर का व्रत था। उदित होते हुए दिनकर को अंजलि से अर्घ्यदान और आँखों

से श्रद्धा अर्पण कर वे घड़ी भर में ही पुनः राजभवन लौट आये। उनका मुखमण्डल प्रखर सूर्यकुसुम जैसा हिरण्यवर्णी दिखाई पड़ रहा था। कपोलों का रक्तवर्ण पलाशवृक्ष के रक्तपुष्पों को भी लज्जित कर रहा था। आँखों की नीली पुतलियों से अर्घ्यदान से संचित प्रकाश की किरणें बाहर निकल रही थीं। कुण्डल पके कोकमफल जैसे लाल दिखाई दे रहे थे।

पुरोहितजी ने विधिपूर्वक उनको सेनापति बनाया। मन्त्र घोषित कर पवित्र नदियों का जल उनके मस्तक पर डाला। राजा दुर्योधन ने रजनीगन्धा के ताजे फूलों की माला हँसते हँसते उनकी कलाई पर बाँधी। गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने, विशेषरूप से मढ़वाया गया लौह-शिरस्त्राण, स्वयं उनके मस्तक पर रखा। सभी योद्धाओं ने अनन्त, पारिजात, चम्पक आदि विविध प्रकार के पुष्प अपने प्रिय सेनापति पर बरसाये। सम्पूर्ण अंग पर लौहकवच धारण कर वे गुरुजनों के आशीर्वाद लेने के लिए राजप्रासाद के एक-एक भवन में घूमे। पितामह भीष्म, महाराज धृतराष्ट्र, राजमाता गान्धारी देवी, महामन्त्री विदुर, गुरु द्रोणाचार्य-इन सबके आगे उन्होंने आशीर्वाद के लिए श्रद्धा से सिर झुकाया। अन्त में वे राधामाता और पिताजी के सामने आकर खड़े हो गये। वृषाली भाभी ने तत्परता से आगे बढ़कर नीराजन की प्रसन्न ज्योतियों से हमारी आरती उतारी। काँपते हाथों से उनके और मेरे भाल पर कुंकुम-तिलक लगाये। मस्तक पर अक्षत बिखेरते समय उनके नेत्र डबडबा आये। बायें हाथ से अंशुक का छोर आर्द्र नेत्रों से लगाती हुई वे धीरे से बोली, "प्रति सप्ताह आपका समाचार यहाँ आना चाहिए। देवर, ध्यान रखना।"

"वृषाली, सुप्रिया का ध्यान रखना। पुत्रों को नियमपूर्वक व्यायामशाला में जाना चाहिए।" भैया ने धीर-गम्भीर शब्दों में उनसे कहा। सुप्रिया भाभी की ओर एक दृष्टि डालकर दुःखावेग सहन करने की मौन सूचना दी।

आगे बढ़कर हम दोनों ही ने श्रद्धापूर्वक पिताजी और माताजी को वन्दन किया। भैया को पास खींचकर राधामाता बोली, "वसूऽऽऽ, देह पर से लौहकवच कभी मत उतारना। शत्रुन्तप को एकाकी मत छोड़ना।" मुझको वह शोण कभी नहीं कहती थी।

"मात ! तुम्हारी कृपा का कवच और अभेद्य शरीर होने पर डर किस बात का ? हमको आशीर्वाद दो !" कातर स्वर में भैया बोले। माता ने हमारे मस्तकों का अवघ्राण किया। भैया ने वृषसेन, प्रसेन, भानुसेन, चित्रसेन, सुषेण और वृषकेतु के लम्बे घुघराले बालों में प्रेम से उँगलियाँ फेरी। मेरी कन्या मीनाक्षी को एकदम ऊपर उठाते हुए वे बोले, "मीनू, अपने पिताजी से कहो कि मेरा रथ अच्छी तरह हाँके। हम लौटते समय तुम्हारे लिए सुन्दर वर लायेंगे।"

"वर माने क्या है ताऊजी ?" उसने उनके कुण्डलों को हाथ से छूते हुए कहा। हम सबको हँसी आ गयी।

बारम्बार बहने को उद्यत आँसुओं को बड़ी कठिनाई से रोककर भारी हृदय से हमने अपने स्नेही कुटुम्बियों से विदा दी।

आँखों ही आँखों से मैंने मेघमाला से कहा, “चलता हूँ।” आँखों के आँसू सबके सामने पोंछने में कठिनाई अनुभव होने के कारण वह धीरे से द्वार की ओट में हो गयी। हम एकदम सेना की दिशा में मुड़े। अब मुड़कर नहीं देखा जा सकता था। मोह के पास सदैव पराक्रम को बाँधने का प्रयत्न करते हैं। निश्चयरूपी सशक्त हाथों से उनको एक दिन तोड़ना ही पड़ता है। राजभवन के कलश पर फहराते हुए भगवाध्वज की ओर देखकर मुझको ऐसा लगा कि वह सम्भवतः यही बात कह रहा है। श्वेतशुभ्र वायुजित् पर ज़री-जटित वस्त्र का पर्याण कसा हुआ था। भैया उछलकर क्षण-भर में उसपर आरूढ़ हो गये। शिखर के सिरे पर बैठे हुए गरुड़-जैसे राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा केवल ये दो ही गंगा तक साथ देने के लिए चलनेवाले थे। वे भी अपने घोड़ों पर आरूढ़ हो गये। कुरुओं का युद्धध्वज मेरे हाथ में देते हुए भैया ने पीछे खड़े हुए गजाति, अश्वसाद और पदातियों की दीर्घ, लम्बी, सशस्त्र सैनिकों की पंक्तियों पर एक बार दृष्टि डाली। सब ठीक-ठाक है, यह विश्वास होते ही सभी सैनिकों को लक्ष्य कर उन्होंने दिशा दिखाने के लिए हाथ में लगे राजदण्ड को ऊपर उठाकर गर्जना की, “पांचाल राज्य ।”

पूर्व क्षितिज पर स्थित साक्षात् सूर्यदेव-जैसे ही वे मुझको लगे। अपनी पुष्ट जंघाओं में वायुजित् को कसकर जैसे ही उन्होंने पंजे से संकेत किया, अपनी झब्बेदार पूँछ फुलाता हुआ वह चल पड़ा; उसी समय शंख, आनक, गोमुख, डिण्डिम आदि की ध्वनियाँ आपस में मिल उठीं।

पीछे आती हुई चार अक्षौहिणी सेना के असंख्य मुखों से निःसृत जय-जयकार से राजभवन की भित्तियों के पाषाण तक सिहर उठे।

“अंगराज कर्ण SS...”

“जयतु।

कुरुओं का राजदण्ड चमचमाती सूर्यकिरणों में चमकने लगा। पूर्ण रूप से खुले हुए महाद्वार से वायुजित् बाहर निकला। उस समय संयोग से एक शुभ्रवर्णी गाय भैया के सामने आ गयी। उन्होंने फिर वल्गाएँ खींची। एकदम नीचे कूदकर उन्होंने झुककर उसके खुरों से हाथ लगाकर वन्दन किया। कलाई पर बँधी हुई निशिगन्धा के फूलों की माला झट से तोड़कर श्रद्धापूर्वक उसके काले खुरों पर अर्पण की। कुरुओं का राजदण्ड क्षण-भर को उसके मस्तक की शुभ्र त्वचा से लगाया। वह दृश्य देखकर पराक्रमोत्सुक सैनिकों ने पुनः घोणणा की-

“सेनापति कर्ण महाराज SS....

"जयतु !"

मेरा वक्षस्थल अभिमान से फूल उठा। इतना मनमोहक प्रसंग मैंने अपने जीवन में पहले कभी नहीं अनुभव किया था। हम सारथी-पुत्र होकर भी आज अभिमान से वीर क्षत्रियों का नेतृत्व कर रहे थे। वे भी आनन्दोल्लास से हमारा गगनभेदी जय-जयकार कर रहे थे। हमारे पीछे दौड़ रहे थे। बातों ही बातों में गंगा का किनारा आ गया। आगे गये हुए नौकापथक ने सैकड़ों सुदृढ़ नौकाएँ हाथियों की पीठ पर से उतार लीं। चटपट उनको पात्र में डालकर उनके चप्पू हाथों में ले लिये। उत्साहित पदाति उन नौकाओं से फटाफट दूसरे तटों पर पहुँचने लगे। हाथी और घोड़े तैरते हुए नदी पार करने लगे। घड़ी-भर में ही सभी पथक उस पार पहुँच गये। हम चार जने ही पीछे रह गये। वायुजित् पर से उतरकर भैया ने युवराज दुर्योधन को प्रगाढ़ आलिंगन दिया। अश्वत्थामा का आलिंगन करते हुए वे बोले, “गुरुपुत्र, तुम्हारा कथन सत्य है। मनुष्य का जीवन ओस की बूंदों-जैसा ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार पराक्रम की किरणें संसार पर परावर्तित करने का प्रयत्न जीवन-भर करता रहता है। तुम्हारी शुभ कामनाएँ साथ होने पर दिग्विजय कर दिग्विजयी कर्ण के रूप में ही मैं लौटूंगा....’

“कर्ण, मुझको विश्वास है, तुम यशस्वी होओगे। जाओ ! मेरी शुभ कामनाएँ सदैव तुम्हारे साथ हैं।” गुरुपुत्र ने हाथ उठाया। उसके मस्तक पर वस्त्र का छोर वायु के झोंकों के साथ फरफरा रहा था। आँखें सजल दिखाई पड़ रही थीं।

"चलता हूँ।"

वायुजित् को पानी में छोड़कर नौका में चढ़ते हुए हमने हाथ उठाये। वे दोनों ही किनारे पर भीगी बालू में निःशब्द खड़े अपने उठाये हुए हाथों को कलाई पर से हिलाने लगे। हम हस्तिनापुर से दूर जाने लगे। गंगा की असंख्य लहरें भी हमारी नौकाओं पर धड़ाधड़ टकराती हुई ‘कर्ण-शोण’ कहकर हमको विदा कर रही थीं। दूर राजभवन के ऊँचे शिखर पर भगवाध्वज शान से फरफरा रहा था।

तीन

गंगा पार करते ही दिग्विजय की रोमांचक यात्रा प्रारम्भ हो गयी। पूर्व दिशा में बीस योजनों पर सबसे पहला नगर भद्रवती आया। इस नगर का राजा था श्वेतपर्ण। गुप्तचर के द्वारा हमारी दिग्विजय की सूचना उसको पहले ही मिल चुकी थी। युद्ध का प्रसंग टालने के लिए आम्रशाखाओं से स्वागत-द्वार सजाकर सुवर्ण पात्र में हीरे, माणिक्य आदि लेकर अपने सचिव के साथ हमारे स्वागत को वह स्वयं आया था। दिग्विजय का प्रारम्भ ही एक शुभ

शरणागति से हुआ। उसकी भेंट की हुई सम्पत्ति को गाड़ियों में डालकर हमारी सेना पूर्व की ओर बढ़ने लगी। इसके बाद ही आनेवाला प्रथम प्रबल राष्ट्र पांचालों का था। श्वेतपर्ण का राज्य छोड़कर पांचाल देश पहुँचने के लिए हमको गंगा नदी पुनः पार करनी थी। इस यात्रा में सबसे बड़ी कठिनाई नदियों की थी। इसीलिए हमने अपना नौकापथक शक्तिशाली बनाया था। इस पथक में कुशल तैराक और लम्बे-तडंगे मछुए ही मुख्य रूप से भरती किये गये थे। साक्षात् युद्ध में इस पथक को कभी भाग नहीं लेना था। वरन् ऐसे समय तो छावनी के शिविरों में इस पथक के योद्धाओं को विश्राम करना था। देश-देशान्तरों के नगरों में भ्रमण कर नदियों के प्रवाहों को कहाँ-कहाँ पार किया जा सकता है, यह जानकारी चतुराई से उनको प्राप्त करनी थी। टूटी-फूटी नौकाओं का संस्कार करना था।

भोजन पकानेवालों का भी अलग पथक था। वे तथा प्रेतदहन करनेवाले भी युद्ध में भाग लेनेवाले नहीं थे। ये पथक ढाल की तरह सैनिक योद्धाओं के उपयोग में आनेवाले थे। हमारा दिग्विजय सैन्य चलता-फिरता एक नगर ही था। उसमें सभी प्रकार के लोगों का समावेश था और उन सभी की अपने सेनापति में प्रगाढ़ निष्ठा थी। समस्त सेना अनुशासन और श्रद्धा से परिपूर्ण थी।

हम लोग पांचालों की ओर पवनवेग से बढ़ते जा रहे थे। उस देश का राजा था द्रुपद । पाण्डवपत्नी द्रौपदी का पिता। राजपुत्र धृष्टद्युम्न कभी हमारी शरण में नहीं आ सकता था। युद्ध करके उसको पराजित करना ही था। बीच की यात्रा सात दिनों की थी। स्थान-स्थान पर हमारे शिविर लग रहे थे। प्रत्येक योजन बाद सृष्टि का सौन्दर्य मनमोहक रूप में आ रहा था। कुम्भ, कमरख, कुंकुम, सतीना, हलवण, पलाश, पाटल आदि विविध वृक्ष हरे चँवर डुलाते हुए हमारे सैन्य को उल्लसित कर रहे थे। कितना ही प्रयास क्यों न किया जाये, लेकिन कोई भी थकता नहीं था। न ठण्डा और न उष्ण-ऐसा समशीतोष्ण उत्साहवर्धक वातावरण विजिगीषु मन की कलियाँ खिला रहा था। हस्तिनापुर छोड़ने के बाद दसवें दिन हम पुनः गंगा के तीर पर आये। अपने हाथ में लगा राजदण्ड मेरे हाथ में देकर, पदस्थ होकर भैया ने घुटने टेककर गंगा के विशाल पात्र को वन्दन किया।

"शोण, यह नदी नहीं है। माता है-यही प्रतीति मुझको नित्य होती रही है। क्यों होती है, यह कभी समझ में नहीं आया। तुम्हें याद है, चम्पानगरी में बचपन में मैं इसकी लहरों की ओर कैसा एकटक देखता रहता था। उस समय तुम सीपियाँ एकत्र किया करते थे।" भैया ने मुझको स्मरण कराया ।

"हाँ। जब हम चम्पानगरी में थे, तब एक बार तो तुम रात-भर इसके पात्र में खड़े रहे थे। प्रातःकाल लौटने पर राधामाता ने इस सम्बन्ध में तुमसे बार-बार पूछा था। सचमुच भैया, तुमको इस गंगा के प्रति इतना आकर्षण क्यों है ?"

"राजहंसों को मानस का, गरुड़ों को पर्वत शिखरों का, विद्युतों को आकाश का आकर्षण क्यों होता है, यह क्या बताया जा सकता है ? नहीं । शोण, इस नदी के प्रति मुझको इतना आकर्षण क्यों है, यह मैं कभी नहीं बता सकूँगा। देखो ।" उन्होंने अपने भुजदण्ड पर बँधी हुई चाँदी की पेटिका खोलकर मेरे सामने कर दी। "यह पेटिका राधामाता ने चम्पानगरी छोड़ते समय मुझे दी थी। क्यों? इतनी छोटी सी यह पेटिका ही उसने मुझे क्यों दी, यह तुम्हीं बता सकोगे क्या ?" उस पेटिका को गंगा के पानी में धोकर स्वच्छ करते हुए उन्होंने मुझसे पूछा। उत्तर के लिए जब उन्होंने मेरी ओर देखा तो वह छूटकर पात्र में गिर पड़ी। किन्तु चौड़े पेंदे के कारण वह तैरती रही। हिचकोले खाती हुई।

"सँभालो उसे । नहीं तो राधामाता की जिस भेंट को तुमने प्रेम से सँभाल रखा है, वह किसी और के ही हाथ में चली जायेगी।" मैं उस तैरती हुई पेटिका की ओर उँगली दिखाता हुआ बोला। उन्होंने आगे झपटकर वह पेटिका पुनः हाथ में ले ली और मैंने उसे पुनः उनके भुजदण्ड पर बाँध दिया।

"शोण, इस नदी-तट से मेरी अनेक स्मृतियाँ आबद्ध हैं-इसी नदी के दूसरे तीर पर मेरे प्रथमपुत्र सुदामन ने चिर विश्रान्ति ली है।"

सुदामन की स्मृति से क्षण-भर को मेरा मन भी द्रवित हो गया। उनका कथन उपयुक्त ही था। सुदामन को आश्रय देनेवाली उदार आश्रयदात्री के रूप में मैंने भी उसको वन्दन किया। भैया की भावनाओं से समरस हो गया। अब हमारा पांचालों के प्रबल राज्य में प्रवेश हो गया था।

चार

काम्पिल्य नगर ! पांचालों की राजनगरी हमको सामने स्पष्ट दिखाई देने लगी। अब महान् संघर्ष प्रारम्भ होनेवाला था। इसी नगर में स्वयंवर का मत्स्ययन्त्र गरगराया था, सुदामन धराशायी हुआ था । जो नहीं होना चाहिए था, वह घटित हुआ था—पांचालों की इसी राजनगरी में।

द्रुपदराजा के पास भेजे गये हमारे दूत को धृष्टद्युम्न का जो विचित्र उत्तर मिला, उसको सुनते ही सभी को क्रोध आ गया। हमारे दूत से उसने कहा था, 'अपने सेनापति से कहना कि तेरे अभेद्य कवच को जला डालने के लिए अग्निपुत्र धृष्टद्युम्न सदैव तैयार है।' उस सन्देश को सुनते ही सभी पथक-प्रमुख आगबबूला हो गये।

"काम्पिल्य नगर !" नगर की ओर उँगली उठाकर भैया ने सेना को टूट पड़ने की आज्ञा दी। नगर के बाहर भव्य रणांगण में पांचालों की और हमारी सेना के बीच टक्कर हुई।

युधामन्यु, सुरथ और शत्रुंजय-अपने इन बन्धुओं के साथ धृष्टद्युम्न पांचाल-सैन्य के अग्रभाग में खड़ा था।

उसके शरीर पर बाणों की वर्षा करते हुए सन्तप्त भैया गरज उठे, "धृष्टद्युम्न, यह कवच जलनेवाला नहीं, जलानेवाला है।" उन दोनों में घोर संग्राम प्रारम्भ हो गया। बाण फेंकते-फेंकते धृष्टद्युम्न थक गया। खड़ग लेकर वह क्रोध में भैया पर टूट पड़ा; परन्तु उनके आगे उसकी एक न चली। सूर्यास्त हो जाने से उस दिन का युद्ध बन्द हो गया। सैनिक शिविर की ओर लौटे।

दूसरे दिन पहले युधामन्यु सामने आया, परन्तु विजय के लिए बौखलाये हुए भैया ने उसको क्षण में ही भगा दिया। फिर धृष्टद्युम्न से मुठभेड़ हो गयी। जैसे-जैसे सूर्य प्रकाश में चढ़ने लगा, वैसे ही वैसे धृष्टद्युम्न का भैया के सामने खड़ा रहना भी असम्भव होने लगा। दोनों ही सैन्यों के अश्वसाद, गजाति और पदाति एक-दूसरे से पूरी शक्ति से भिड़े हुए थे। मेरे सामने पांचालपुत्र सुरथ खड़ा था। भैया ने धृष्टद्युम्न को निःशस्त्र कर दिया। सिर झुकाकर वह सूतपुत्र के आगे दीनभाव से खड़ा हो गया। काम्पिल्य नगर के नायक-रहित सैनिक पलायन करने लगे। पांचाल देश का पतन हो गया। अरिष्टसेन ने वृद्ध द्रुपदराज को भैया के सम्मुख उपस्थित किया। उसके हाथ बँधे हुए थे। हमारी विजयी सेना ने कुरुओं के राज्य का आकाश-मण्डल गुँजाते हुए उच्च स्वर से जयघोष किया।

"खोलो ! राजा के हाथ खोलो !" तीव्र असहमति के स्वर में अरिष्टसेन को आज्ञा हुई।"

द्रुपदराज ने आश्चर्य से सिर ऊपर कर पूछा, "क्या अपेक्षा है अंगराज ?"

"कर !" द्रुपद के स्वर्णिम किरीट पर अपनी दृष्टि स्थिर कर हमारे सेनापति ने कहा।

"क्या दूँ ? गोधन, सुवर्ण, रत्न, हीरे या दास-दासी ?" द्रुपद का सिर झुका हुआ था।

"राजन् यह सारी सम्पत्ति तो आज कुरुओं के भण्डार में पड़ी-पड़ी सड़ रही है। मैं जो माँग रहा हूँ, वह कर और ही है।" भैया ने भौंहे ऊँची करते हुए उससे कहा।

"कौन-सा ?" आश्चर्य से उस वृद्ध के सिकुड़न-भरे भाल पर सिकुड़ने और अधिक बढ़ गयीं। भय से क्षण-भर को उसकी आँखें थरथरा गयीं।

"मेरे पुत्र की समाधि का ! तुम, राजन्, तुम्ही स्वयं मेरे सुदामन की समाधि बनाकर खड़ी करो—इस काम्पिल्य नगर में ही। गंगा के किनारे। बोलो, है स्वीकार ? आज ही-एक ही रात में।" उनका दृढनिश्चयी स्वर शिविर के पटलों को कम्पित करने लगा।

उस वृद्ध राजा की श्रान्त मुद्रा गतकाल की कटु स्मृति से थकित हो गयी। उसने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाकर अपनी सहमति प्रदर्शित की। कुरुओं के राजदण्ड को पाण्डवों के श्वसुर ने मान्य किया। एक रात में सुदामन की समाधि गंगा के किनारे तैयार हो गयी। हम काम्पिल्य नगर छोड़ने की तैयारी करने लगे। प्रातःकाल पांचालों का सचिव कर में थाल

लेकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उन थालों को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। भैया ने तो अन्य किसी भी कर की माँग उनसे की नहीं थी। फिर भी उन्होंने वह भेज दिया था। इतने दीर्घ काल बाद द्रुपद कर्ण को पहचान पाया था।

पाँच

सुदामन की मृत्यु के पश्चात् लगभग पन्द्रह वर्ष बाद बनायी गयी उस धवल समाधि पर पांचालों के राज्य के एक विशेष प्रसिद्ध मधुमालती के फूल चढ़ाकर हमने काम्पिल्य नगर छोड़ दिया। पांचाल देश के पतन की सूचना लेकर दूत हस्तिनापुर की ओर चला गया। वह वृषाली भाभी को सुदामन की समाधि का सम्पूर्ण वृत्तान्त बतानेवाला था। यह सूचना मैंने ही उसको दी थी। उस व्याकुल माता को इतने से कुछ तो मानसिक सन्तोष मिल सकेगा।

पांचाल देश छोड़ते ही हमारी सेना पूर्व दिशा में कोसलों के राज्य की ओर आगे बढ़ने लगी। विजय के उन्मेष से सैनिकों का आत्मविश्वास द्विगुणित हो गया था। वे ऐसे दौड़ रहे थे जैसे चाप से बाणों की धाराएँ छूटती हैं। हस्तिनापुर छोड़े अब हमको पन्द्रह दिन हो गये थे। विजयानन्द से उन्मत्त योद्धागण महाबाढ़-भरी नदी की गति से दौड़ा करते हैं। कालकूटों के राज्य की सीमाएँ प्रारम्भ हो गयीं। अब हमारे सामने सबसे कठिन जो समस्या थी, वह थी नैमिषारण्य की। इतने घोर घने अरण्य को इतनी अपार सेना के साथ कैसे पार किया जाये ? इसको पार किये बिना कोसलों के राज्य में प्रवेश करना सम्भव ही नहीं था। या फिर मार्ग बदलकर काशी राज्य को लक्ष्य बनाकर चलना पड़ेगा। गंगा के किनारे-किनारे अनेक दिनों घोड़े दौड़ाने के बाद काशी राज्य आता। यदि हम उस दिशा से आगे बढ़ जाते तो कालकूट, कोसल और किरात—ये तीनों ही राज्य हमारे दिग्विजय के मार्ग से एकदम अलग पड़ जाते। इसीलिए पहले कोसलों को लक्ष्य बनाकर हमारा ध्वज दौड़ रहा था नैमिषारण्य का आह्वान स्वीकार कर।

मार्गशीर्ष का कृष्णपक्ष प्रारम्भ हो गया था। चन्द्रिका न होने के कारण रात की दौड़ बन्द हो गयी थी। स्थान-स्थान पर छावनियाँ पड़ जातीं। कृष्ण चतुर्थी को ही हमने गोमती नदी पार कर ली थी। अब सामना था नैमिषारण्य का। तीन दिन की कष्टमय यात्रा कर कृष्णा सप्तमी की ठण्ड से जमा देनेवाली प्रातःवेला में हम लोग नैमिषारण्य के पास आये। उस अरण्य की ओर देखते ही सभी अवाक् रह गये। कोहरे से ढका हुआ असंख्य वृक्ष-महावृक्षों का मानो एक पर्वत ही इस ओर से उस छोर तक हाथ-पैर फैलाये खड़ा था। धरती समतल अवश्य थी, परन्तु अरण्य अति सघन था। हमारे शिविर उसके आगे बहुत ही क्षुद्र लग रहे थे।

अरुणोदय हुआ। गोफन से कंकड़ फेंकते ही जैसे पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड आकाश में उड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यकिरणों ने कोहरे के बादलों को उड़ा दिया। कोहरा छूट जाने से स्पष्ट दिखाई देनेवाला वह हरा-भरा अरण्य और अधिक भयानक लगने लगा। श्येन, सारंग, धनछड़ी, चित्ररथ, चण्डोल, भारद्वाज, पत्ररथ, कोकिल आदि अनेक पक्षी सहसा ही चहचहाने लगे। रात्रिकीट अपना नाम असत्य सिद्ध करने के लिए दिन में भी किर्र-किर्र कर रहे थे। रह-रहकर हिंसक जीव गरज-गरजकर सबों को दहलाने की चेष्टा करने लगे।

हमारे सम्मुख उपस्थित था प्रकृति का भयंकर आह्वान ।

क्या करना चाहिए ? अब सामने स्थित घोर अरण्य कैसे पार किया जाये? मार्ग निकालने के लिए सभी पथक प्रमुख मेरे शिविर में उपस्थित हुए । वे सभी युद्ध नीतिज्ञ थे परन्तु उनको भी कुछ नहीं सूझ रहा था। अरिष्टसेन, संघमित्र, हिरण्यवर्मा, व्याघ्रशर्मा, वीरदत्त-किसी को भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। अब इतनी सेना लेकर पीछे लौटना तो सम्भव नहीं था। भाल पर सिकुड़नें डालकर हम लोग चिन्तित बैठे थे इतने में ही प्रातःकालीन नित्यकर्म से निवृत्त होकर भैया हँसते हुए शिविर में आये । सभी लोग सिर झुकाये ही खड़े रहे ।

"क्यों शोण, तुम सभी इस तरह चुप क्यों हो?" उन्होंने सुनहली भौंहें ऊँची करते हुए पूछा।

"यह अरण्य कैसे पार किया जाये ? सेना का मार्ग अब बदलना पड़ेगा।" मैंने नैमिषारण्य की ओर उँगली उठाकर अपनी और सबकी व्यथा बतायी।

"अरण्य !" बायीं गुलाबी हथेली पर बायें हाथ की दृढ़ मुट्ठी एक-दो बार मारकर अपने पैरों की ओर देखते हुए वे क्षण-भर विचारमग्न रहे। उनके पैरों की लम्बी, पुष्ट, तेजस्वी अँगुलियों में हलचल हो उठी। फिर सहसा सिर उठाकर वे दृढ़ता से हिरण्यवर्मा से बोले, "हिरण्यवर्मन्, अच्छी तरह दौड़नेवाला एक शक्तिशाली घोड़ा लो और इस अरण्य में घुसकर पहले यह पता लगाओ कि किसी ऋषि का कोई आश्रम और कोई नदी यहाँ है क्या ? जल्दी जाओ।"

"जो आज्ञा ।" हिरण्यवर्मन् खड्ग सँभालता हुआ तत्क्षण शिविर से बाहर चला गया। अरण्य की ओर दौड़ते हुए घोड़े के खुरों की टप-टप् आवाज अस्पष्ट होती गयी। हम सभी लोग आश्चर्य से अपने सेनापति की ओर देखने लगे। ऋषि की तपस्या के प्रभाव से अरण्य जलाने की कल्पना वह कर रहे थे क्या ?

"शोण, अपनी सेना को मद्य की पूर्ति करनेवाले प्रमुख का नाम क्या है ?" उन्होंने असम्बद्ध प्रश्न पूछा।

"सोमपर्ण ।" मैंने आश्चर्य छिपाते हुए उत्तर दिया।

"बुलवाओ उसको।"

एक सैनिक को भेजकर मैंने क्षण-भर में ही सोमपर्ण को सामने खड़ा कर दिया। जैसे ही वह सामने पहुँचा, उसके पास जाते हुए भैया ने पूछा, "सोमपर्ण, मद्य को अधिकाधिक मादक करने के लिए तुम सोमरस में क्या डालते हो?"

"महुए के मादक फूल।"

"जाओ, अपने सेवकों को इसी समय इस अरण्य में भेजकर अधिक से अधिक महुए के फूल और सोमवल्लो लाने का आदेश दो।"

"जो आज्ञा!" सोमपर्ण चला गया। शिविर की दरार में से उसके पथक से सेवक अरण्य की ओर जाते हुए हमें दिखाई पड़े।

भैया की असंगत कल्पनाओं का कुछ भी अर्थ मेरी समझ में नहीं आ रहा था। हम लोग दिग्विजय के लिए बाहर निकले हैं या मद्य पीने के लिए। इस शंका ने मुझको चुप न रहने दिया। मैंने पूछा, "यह क्या कर रहे हैं आप?"

"शोण, हमारी सेना में सतासी सहस्र हाथी हैं। उनमें से चालीस सहस्र हाथियों को अब सोमपर्ण मटकियाँ भर-भरकर बनाया गया मादक द्रव्य पिलायेगा। मद्य पीकर उन्मत्त हुए हस्तिदलों को भालाधारी सैनिक पीछे से निरन्तर भालों की नोकों से छेदते रहेंगे। वेदनाओं से विक्षुब्ध हाथी चीत्कार करते हुए इस अरण्य में घुसेंगे। उनकी प्रचण्ड सामर्थ्य के आगे ये ऊँचे-ऊँचे वृक्ष धड़ाधड़ टूटकर धरती पर गिर पड़ेंगे। हमारे विराट गजदल के उन्मत्त हाथी आगे दौड़ने के लिए, गिरे हुए वृक्षों के इस ढेर को भी सूँड़ से दूर कर देंगे। उनको प्रेरणा मिलती रहे, इसलिए इस हस्तिदल में आधे से अधिक हथिनियाँ भी होंगी। वक्षस्थल पर हाथ बाँधे वे सब पर दृष्टि घुमाते हुए बड़ी सहजता से कह रहे थे। शान्त भाव से ! सेनापति की दृढ़ता उनके पुष्ट और तेजस्वी गोलाकार चेहरे से सतत प्रवहमान हो रही थी। नीली आँखें चमक रही थीं।

"तो फिर हिरण्यवर्मा को किस लिए आगे भेजा गया है ? ऋषि के आश्रम का और नदी का क्या सम्बन्ध?"

"इस अरण्य में यदि कोई ऋषि-आश्रम हो तो इन विक्षुब्ध हाथियों के पैरों तले वह उद्ध्वस्त न हो जाये, यह सावधानी हमें रखनी चाहिए। जिससे कि ऋषि हमारे सैन्य को शापदग्ध न कर दें।" उन्होंने हमको आश्चर्यचकित कर दिया।

"और नदी का क्या होगा?" मुझको उनकी कल्पना बड़ी सुखद लगी। उनके भव्य कपाल की ओर देखते हुए मैंने प्रश्न किया। उनके बुद्धिमान् नेतृत्व पर मुझको अत्यन्त अभिमान हुआ।

"आगे जाकर ये विक्षुब्ध हाथी उस नदी में जी भरकर डुबकियाँ लगायेंगे, जल-विहार से वे तृप्त होंगे, उनकी मस्ती धीरे-धीरे उतर जायेगी। हमारी यात्रा आगे चलती ही रहेगी, मार्ग न बदलते हुए।" उनकी नीली आँखें एक अपूर्व तेज से चमक रही थीं। उनके असीम शक्ति-सामर्थ्य की प्रतीति यों तो हमें अनेक बार हो चुकी थी, परन्तु एक सेनापति में कितनी योजना कुशलता होनी चाहिए, यह बात मैं उनमें पहली ही बार देख रहा था। उनकी प्रगल्भ बुद्धि का इतना उत्कर्ष मुझको कभी किसी में दिखाई नहीं पड़ा था। बुद्धिमान् सेनापति की ऐसी एकाध कल्पना से ही सैनिकों की असंख्य बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

आधी घड़ी के बाद ही हिरण्यवर्मा अरण्य से वापस आ गया। उसके शरीर पर वस्त्र जगह-जगह फट गये थे, छाती ऊँची-नीची हो रही थी।

"महाराज, अरण्य में कहीं भी आश्रम नहीं है—परन्तु बहुत दूर चलकर एक बड़ी नदी है। मेरा अनुमान है कि वह सरयू नदी ही होगी।" उसने साँस रोकते हुए अभिवादन करके निवेदन किया। अपने फटे हुए वस्त्रों का भी उसको ध्यान नहीं था।

हमारे सेनापति के गोलाकार मुख-मण्डल पर मुसकान की रेखा खिंच गयी। आँखें चमकने लगीं।

"यही हम चाहते हैं। आश्रम नहीं, नदी ही चाहिए।" आसन से उठकर अँगुली से नीलमणि की अंगूठी उतारकर हिरण्यवर्मा की ओर फेंकते हुए भैया ने सोल्लास कहा।

हम सभी लोग शिविर से बाहर आये। अरण्य पार करने का दृढ़ निश्चय कर।

छह

चालीस सहस्र हाथी और हथिनियों का मिश्रित झुण्ड। उनकी पीठ पर रखी हुई अम्बारियाँ और नौकाएँ उतार ली गयीं। महावर्तों ने उनके अंशुक निकाल लिये। सोमपर्ण महुए के फूल सोमरस में भिगोकर मादक मद्य तैयार करने में लीन हो गया। एकदम सैन्य-रचना बदल दी गयी। मुक्त हाथियों का दल आगे कर लिया गया।

"इन हाथियों के पीछे अश्वसाद रख लिये जायें तो?" सूंडों की अविरत हलचल करनेवाले उस मुक्त अपार गजसैन्य की ओर अंगुली दिखाते हुए मैंने अंगराज से पूछा।

"नहीं ! हाथियों के पीछे भार-वहन करनेवाले सभी पदाति रहेंगे। उनके पीछे अश्वसाद जायेंगे।"

"क्यों....ऐसा क्यों ?" मुझको उनके विचार में सुरक्षितता दिखाई नहीं दे रही थी।

"आगे के हाथी कितने ही विध्वंसकर क्यों न हों, किन्तु अरण्य की कँटीली लताएँ उनके वश में नहीं होंगी। इन कँटीली लताओं से कुछ भारवाहक आहत होंगे। उनके पीछे चलनेवाले अश्वसाद ऐसे घायलों को उठाकर घोड़ों पर रख लेंगे। इस तरह एक भी सैनिक पीछे नहीं रहेगा।" उन्होंने सदैव की भाँति शान्ति से कहा। अपने प्रत्येक सैनिक की वे कितनी दक्षता से चिन्ता कर रहे थे, यह देखकर मैं चकित हो गया।

उनकी सूचना के अनुसार अग्रभाग में मुक्त हस्तिदल, उनके पीछे भालाधारी भाला-पथक, भारवाहक, पदाति, उनके पीछे अश्वसाद और सबसे पीछे बचे हुए सभी हाथियों का पथक-इस प्रकार विचित्र रचना हमको उस अरण्य के कारण करनी पड़ी।

समस्त सैन्य-रचना होते ही आगे के हाथियों को घड़े भर-भरकर मादक मद्य पिला दिया गया। उनकी असंख्य सूँड़ें जल्दी-जल्दी ऊपर-नीचे हलचल करने लगीं। निरन्तर चींऽऽ चींऽऽ चीत्कार कर कल्लोल करते हुए उन्होंने अरण्य के पक्षियों की और हमारी सेना के वाद्यों की आवाज़ भी पी डाली। देह में मद्य का असर होते ही भालाधारियों ने भालों से उनको पीछे से सतत गोदना प्रारम्भ कर दिया। वे बौखलाये हुए सहस्रों प्राणी अपने भारी शरीरों को संभालते हुए पर्वतीय निर्झर की तरह अरण्य में घुस गये। "काडऽऽ काडऽऽ धप्पऽऽ" आवाजें गूँजने लगीं।

कांचन, किंशुक, कर्णिकार, हेला, हरड, अशोक, पुन्नाग, ताल, तमाल, खदिर, औदुम्बर, गम्भारी, सतोना, डण्डणी, पाटल, महुआ, पलाश, सिरिस, पिप्पल, किंजल आदि अनेक प्रकार के वृक्ष कड़कड़ ध्वनि करते हुए धरती पर गिरने लगे। हाथियों के चीत्कारों से भयभीत पक्षी घोंसले छोड़कर भय से किकियाते हुए दूर उड़ गये। सूर्य किरणों के लिए तरसनेवाली, उस अरण्य से आच्छादित धरती पावन हो गयी। उसको आज पहली ही बार सूर्य-दर्शन हो रहा था। क्षण-भर पहले हमको किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देनेवाला वह अरण्य भी मार्ग दे रहा है यह देखकर मुझसे रहा न गया और हाथ उठाकर मैंने उद्घोष किया- "सेनापति अंगराज कर्ण ऽऽ..."

"जयतु !" चारों ओर से सबने मेरा साथ दिया। हाथियों के पीछे अरण्य में प्रवेश करते हुए लक्ष-लक्ष मुखों ने मुझको प्रत्युत्तर दिया। वह आवाज इतनी घोर थी कि हाथियों के चीत्कारों को भी भेद गयी। नैमिषारण्य के उस विशाल राज्य को हमने पदाक्रान्त कर दिया।

नैमिषारण्य पार कर हम सरयू नदी के तट पर आये। अरण्य को पराजित करनेवाले विजयी हाथी अन्धाधुंध चीत्कार करते हुए एक साथ ही सरयू के पात्र में सघनता से घुस गये। उनकी जल-क्रीड़ाओं से सरयू का स्वच्छ जल गँदला हो गया। अब दो दिन तक डुबकियाँ लगाने का अवसर दिये बिना उनको पात्र से बाहर नहीं निकालना था। उनको सरयू के पात्र में देखते हुए मुझको यों ही हस्तिनापुर का स्मरण हो आया।

अब हम कालकूटों के राज्य में थे। इस राज्य में जीतने योग्य कुछ था ही नहीं। और विरल मानव-बस्तीवाले इस राज्य से कोई विशेष कर भी मिलना नहीं था। फिर भी उन्होंने हमारी आहट पाते ही अरण्यफल और मधुर मद्य हमारी सेना को भेंट के रूप में भेज दिया।

इससे आगे का नगर था अयोध्या। कोसलों की राजधानी। कोसल निश्चय ही विरोध करनेवाले थे। अब मार्गशीर्ष समाप्त होता आ रहा था। हस्तिनापुर ठोड़े एक मास हो गया था। हमने नैमिषारण्य पार कर लिया है यह सूचना लेकर दूत कुरुओं के राज्य की ओर चला गया।

सात

सरयू के तट पर पुनः पहले की सैन्य-रचना की गयी। विश्रान्ति लेकर प्रफुल्ल हुए सैनिक पुनः दुगुने उत्साह से आगे के प्रयाण के लिए तैयार हो गये। रणभेरी, शंख गोमुख और तुरहियों से सरयू की लहर-लहर थिरकने लगी। सेनापति का जयघोष हुआ। सरयू नदी के तट पर ही अयोध्या है, यह जानकारी गुप्तचर ला चुके थे। इसीलिए उसके किनारे-किनारे हमारी सेना पूर्व की ओर दौड़ने लगी। ध्वज फहराने लगा। राजदण्ड चमकने लगा।

दो दिन की दौड़ के बाद अयोध्या दृष्टिपथ में आयी। इस नगर पर दशरथपुत्र राम के वंशज शिघ्र का राज्य था। उसका मरुनामक पुत्र भी प्रसिद्ध योद्धा था। हमारे हस्तिदल द्वारा गैदला किये गये सरयू के जल को, जो आगे बहता गया था, देखकर ही वह सावधान हो गया था। नगर के चारों ओर की खन्दक उसने पानी से लबालब भर ली थी। परन्तु गंगा, यमुना और गोमती-जैसी विशाल नदियों को पार कर लेनेवाली हमारी सेना इस बित्ता-भर की खाई से पीछे हटनेवाली नहीं थी।

सबने एकजुट गर्जना करते हुए खन्दक पार की। राजा शिघ्र अपने पुत्र मरु के साथ खन्दक घेरकर युद्ध करने के लिए दृढ़ता से खड़ा था। वह चाप सँभालते हुए चिल्लाया, "प्रभु श्रीराम कीSS...."

"विजय हो !" उसकी घोषणा का उसकी सेना ने प्रत्युत्तर दिया। हमारे खड्गों से उनके खड्ग भिड़ गये। कुरुवंशजों के बाण रघुवंशजों से टकराये। भैया के सामने राजा शिघ्र खड़ा था। मेरे सामने उसका पुत्र मरु। घनघोर संग्राम प्रारम्भ हो गया। बाणों से खन्दक पटने लगी। हमारे हाथियों में मद्य का असर अब भी शेष था। वे कोसलों की पैदल सेना को पैरों तले रौंदते हुए राजभवन के बन्द महाद्वार से भिड़ गये। टक्कर मारकर उन्होंने वह महाद्वार तोड़ डाला। भवन के शिखर पर लगा हुआ कोसलों का राजध्वज, जिसके लिए इक्ष्वाकु, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अतिथि, निषध, नल, नभ, पुण्डरीक, क्षेमधन्वा,

देवानीक, पारियात्र, सहस्राश्व, बल, स्थल, वज्रनाभ, खगण, विधृती, हिरण्यनाभ, पुष्य, ध्रुवसन्धि, सुदर्शन और अग्निवर्ण-जैसे प्रसिद्ध नरवीरों ने रुधिर की नदी बहा दी थी, वह राजभवन के शिखर पर लगा हुआ मानध्वज किसी ने नीचे उतारा। भैया के अचूक और अमोघ बाणों से राजा शिघ्र घायल होकर रथ में ही गिर पड़ा था। मरु को हमारे सैनिकों ने बन्दी बना लिया था। केवल कुछ घण्टों में ही कोसल देश का पतन हो गया। खन्दक का पानी रक्तरंजित हो गया। अयोध्या-रामचन्द्र की विख्यात नगरी।

वायुजित् पर से उतरकर, पदस्थ होकर भवन की उस प्राचीन वास्तु में प्रवेश करते हुए भैया क्षण-भर को महाद्वार पर ही ठिठक गये। उनके मुख पर विजयी सेनापति के भाव नहीं थे।

"रुक क्यों गये ?" मैंने कौतूहल से पूछा।

"शोण, पाण्डव भी वनवास में गये हैं, परन्तु द्यूत खेलकर। इस महाद्वार से शताब्दियों पहले एक ऐसा वचनप्रिय राजा वनवास के लिए बाहर निकला था, जिसकी पितृभक्ति से सभी का मन द्रवित हो जाये। केवल पिता का वचन पूर्ण करने के लिए ही इस महाद्वार से दशरथपुत्र राजा रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण तथा पत्नी सीता के साथ चौदह वर्ष के वनवास के लिए हँसते-हँसते बाहर निकले थे। यही है वह अयोध्या यही है वह महाद्वार !" उन दिव्य महापुरुष की स्मृति से हम क्षण-भर को युद्ध की भयंकरता भी भूल गये।

राजभवन में प्रवेश करते ही रघुवंशज राम द्वारा विभूषित राजसिंहासन को भैया ने घुटने टेककर वन्दन किया। मैं उनके इस कृत्य से और अधिक सम्भ्रम में पड़ गया। जेता विजितों के सिंहासन के आगे एकदम घुटने टेक दे, यह विचित्र ही था। परन्तु भैया द्वारा कुछ भी क्यों न घटित हो, वह मुझको सदैव मान्य ही था। केवल राज सिंहासन को वन्दन करके ही वे नहीं रुके, बल्कि झटपट सभी सीढ़ियाँ चढ़कर वे राजप्रासाद के मस्तक पर सीधे ईषादण्ड के पास पहुंचे। अपने हाथों से कोसलों का ध्वज, जो किसी ने नीचे उतार दिया था, उन्होंने स्वयं ऊँचा चढ़ाया। ध्वज की डोर हाथ में लेकर वे वहीं से गरजे, "राजा श्रीरामचन्द्र कीSS..."

"विजय हो !" हमारी और चकित कोसलों की—दोनों की ही सेनाओं से जय जयकार की ध्वनि पूँज उठी। सरयू की देह भी रोमांचित हो गयी। राजा शिघ्र की आँखों में अश्रुबिन्दु छलक आये। काहे के थे वे ? पराभव के, खेद के ? अपने पूर्वजों की स्मृति के ? या...या एक अद्वितीय वीर पुरुष के दर्शन से धन्यता अनुभव करनेवाले उसके क्षत्रिय मन के ? यह कोई नहीं जान पाया।

ध्वजदण्ड के पास से नीचे आते ही शिघ्र भैया के सामने पहुंचा। उसने आवेग से हमारे सेनापति को दृढ़ आलिंगन में कस लिया। मैंने मरु के बन्धन खोलकर उसको मुक्त कर दिया। उसने भी मुझको आलिंगन दिया। राजा राम की उस पवित्र नगरी में हमने दो दिन

तक आतिथ्य ग्रहण किया। हमारी नसों में विजय की मादकता नहीं थी। जय-पराजय की भावनाएँ मन को स्पर्श नहीं कर सकीं। यों संसार में न कोई जेता होता है, न जित, यही सत्य है।

तीसरे दिन अयोध्या छोड़ते समय जिस सिंहासन पर पादुका रखकर राजा भरत ने चौदह वर्ष राज्य किया था, उस सिंहासन को सुगन्धित पुष्प समर्पित कर हमने अयोध्या छोड़ी। अब पौष माह शुरू हो गया था। गोधूम शस्य की लम्बी पत्तियाँ हर खेत में फैली हुई थीं। वे हवा के झोंके के साथ हिल रही थीं। अब हमारी सेना किरातों के राज्य की ओर प्रस्थान कर रही थी।

आठ

इरावती नदी पार कर कुशीनगर, श्रावस्ती, कपिलवस्तु-कोसलों के ये प्रसिद्ध नगर हमने पीछे छोड़ दिये। अब हमारे सैनिकों का मुख कुछ हिमालय की ओर मुड़ गया था। किरातों के राज्य में काठमण्डप नामक नगर पर हमको आक्रमण करना था। उसके लिए बीच में गण्डक नदी हमको पार करनी थी। एक के बाद एक रोमहर्षक विजय प्राप्त होने से सभी सैनिकों में चण्डोल पक्षियों-जैसा उत्साह संचरित था। खड्ग पौने हो गये थे।

हम लोग गण्डकी नदी के किनारे पर आये। इस नदी को पार करते ही किरातों के राज्य में प्रवेश हो जायेगा। किरातों का नेतृत्व सात बलशाली राजा कर रहे थे। वे ठण्डे प्रदेश के अधिक अभ्यस्त थे। अब हमारे नौका-पथकों को शीघ्र गति से नदियाँ पार करने का अभ्यास हो चला था। जिस प्रदेश में हम पहुँचते उसी प्रदेश का अन्न पकाकर सैनिकों को नियमित रूप से दिया जाता था। किरातों के देश में सेना को मद्य अधिक मात्रा में देना था। अन्यथा रक्त जमा देनेवाली ठण्ड में सैनिक टिक नहीं सकते थे। सोमपर्ण बड़े उत्साह से वह कार्य पूरा कर रहा था।

हम लोगों ने गण्डकी नदी पार की। किरातों को दिग्विजय की आहट नहीं लगी थी, इसलिए उनको जीतने में हमको कठिनाई नहीं हुई। एक ही उड़ान में काठमण्डप पहुँच गये।

सामने सैन्य ही सैन्य देखकर घबराये हुए किरात राजा हमारी शरण में आ गये।

काष्ठमण्डप से पाँच योजन पर ही हिमालय था। वहाँ से बर्फीली हवाएँ चल रही थीं, उनकी तीव्र अनुभूति हो रही थी, परन्तु कहीं से भी हिमालय का एक भी शिखर दृष्टिपथ में नहीं आ रहा था। इच्छा होने पर भी उस हिमपर्वत के दर्शन सम्भव नहीं थे, क्योंकि सावधान होने से पहले ही आगे के विदेहों को हम पादाक्रान्त करना चाहते थे।

नौ

काष्ठमण्डप छोड़ते ही सेना ने विदेहों को सामने लाने का निश्चय किया। इस देश की राजधानी थी मिथिला। निमिवंश के मिथि राजाओं की ऐश्वर्यनगरी। इस निमिवंश में मिथि नामक एक राजा हो गया था। उसके नाम पर ही विदेहों की राजनगरी का नाम मिथिला पड़ा था। उससे पहले उस नगर का नाम वैजयन्त था। उस निमिवंश के सभी राजा जनक कहे जाते थे। इनमें से सीरध्वज राजा रामपत्नी सीता का पिता था। इस मिथिला के सिंहासन पर निमि से लेकर धृति तक लगभग सौ राजाओं ने अकण्टक राज्य किया था। इस समय वहाँ बहुलाश्व राजा था। उसका पुत्र कृती अतिरथी था। उन दोनों का ही हमको सामना करना था। बहुलाश्व और कृती।

काष्ठमण्डप से मिथिला-इस दीर्घ भूखण्ड में एक भी नदी नहीं थी। सम्पूर्ण प्रदेश पठारमय था। हरित कछार विस्तृत घेरा बनाकर क्षितिज तक फैला हुआ था। हमारे अपार हस्तिदल से उसका विनाश होने लगा। एक-दो पड़ावों के बाद ही तीसरे दिन मिथिला सामने आ गयीं। सीता की नगरी। इस नगरी के चारों ओर खन्दक नहीं था, क्योंकि उसको भरने के लिए आसपास कोई नदी ही नहीं थी। समस्त नगर के चारों ओर काले पाषाणों की सुदृढ़ प्राचीर थी। उस प्राचीर के तट से बहुलाश्व के सैनिक भुशुण्डि और शतघ्नी से पत्थर फेंकने लगे। महाद्वार की रक्षा के लिए स्वयं बहुलाश्व और उसका पुत्र कृती दोनों रथों में सज्जित होकर चुने हुए सैनिकों के साथ खड़े थे। महाद्वार भीतर से अर्गला लगाकर बन्द कर दिया गया था। वे दोनों पिता-पुत्र एक साथ ही भैया पर टूट पड़े। हम लोग प्राचीर के तट को घेरकर भुशुण्डि चलानेवाले सैनिकों को वाणों का लक्ष्य बनाने लगे। औदुम्बर के पके फल डण्ठल टूटते ही जैसे नीचे गिर पड़ते हैं, वैसे ही वे तट पर से टपटप नीचे गिरने लगे। हमारे सैन्य के डिण्डिम और नगाड़े केवल ये भेदक वाद्य ही वजने लगे। महाद्वार पर अकेले भैया उन दोनों अतिरथियों को सन्त्रस्त कर रहे थे। तट पर से होनेवाली पत्थरों की वर्षा से हमारे सैनिक घायल हो गये। बहुत-से गतप्राण हो गये। अब तक की यात्रा में मिथिला का युद्ध हमको भारी पड़ रहा था।

इतने में ही महाद्वार पर कृती को निःशस्त्र कर भैया ने अपना धनुष उसके गले में फाँसे की तरह अटकाकर खींचा। वह अपने रथ से धड़ाम से नीचे गिर पड़ा अपना पुत्र काम आ गया—इस भ्रान्त धारणा से बहुलाश्व घबरा गया। हाथ से धनुष फेंककर वह कृती की मूर्छित देह की ओर देखता हुआ तटस्थ खड़ा रहा। हिरण्यवर्मा ने उसको रथसहित उठाकर अलग किया। हमारे साथियों ने मिथिला के निरन्तर सौ पीढ़ियों तक निमिवंशीय जनक राजाओं को अखण्ड आश्रय देनेवाले मिथिला के उस भव्य महाद्वार को तोड़कर गिरा दिया। प्राचीर के पास लड़ती हुई कुरुसेना महाद्वार की ओर दौड़ती हुई चिल्ला उठी-

"सेनापति कर्ण महाराज !..."

"जयतु !"

विदेहों की मिथिला जीत लेने की शुभ सूचना लेकर दूत हस्तिनापुर की ओर दौड़ पड़ा। उस समय पौष माह का शुक्ल पक्ष समाप्तप्राय था ।

जिस खेत में सीरध्वज जनक को सीता प्राप्त हुई थी, वह खेत देखकर और बहुलाश्व से रत्न, हीरे, माणिक्य, सुवर्ण आदि का विपुल कर लेकर हमने मिथिला छोड़ दी। इसी विदेह राज्य में दूसरा ख्यातनाम नगर था कुसुमपुर। हिरण्यवती नदी के तीर पर बसे हुए इस नगर में भी हमने अपने राजदण्ड की उत्सव-यात्रा निकाली। वह पौष मास की पौर्णमासी का दिन था। रात में धवल ज्योत्स्ना में भैया और मैं हम दोनों हिरण्यवती नदी के घाट पर बुर्ज पर बैठे हुए थे। सामने पात्र में लहरें अखण्ड नृत्य करती हुई चन्द्रकिरणों से आँख-मिचौली खेल रही थीं। तीर पर कदम्ब और बच के वृक्ष खड़े थे। भैया के कानों के कुण्डल धीरे-धीरे लय में हिल रहे थे। उनके प्रकाश-वलय धवल चाँदनी में भी चमचमा रहे थे।

"हस्तिनापुर छोड़े हमको लगभग डेढ़ मास होने को आया था। इस बीच तुमको एक बार भी राजनगरी की याद नहीं आयी ?" मैंने हिरण्यवती की लहरों की ओर देखते हुए उनसे पूछा।

"यह निष्कर्ष तुमने कैसे निकाला ? अरे मैं भी तो एक मनुष्य ही हूँ !"

"यह बात नहीं। तुम तो सदैव सेना का अनुशासन, रचना, खाद्य, शस्त्र-इनमें ही तल्लीन रहते हो, इसलिए कहा।

"भले ही मैं इन सबमें तल्लीन रहता होऊँ, लेकिन हस्तिनापुर के सभी लोगों की याद भी मुझको आती ही है। हाँ, संग्राम में लगे होने पर फिर कुछ और नहीं सूझता।

"मैं चाहता हूँ कि अब इस नगर से जानेवाले दूत के साथ तुम दुर्योधन को पत्र भेज दो। आनन्द से पागल हो जायेगा वह।"

"नहीं। उसको कोई पत्र न भेजकर अकस्मात् एक दिन उसके सामने खड़ा होकर ही मैं उसको चकित करना चाहता हूँ। अंगदेश का अभिषेक कर उसने मुझको जितना उपकृत किया है, उससे दसगुना मैं उसको उपकृत करूँगा। दिग्विजय की यह सम्पत्ति उसके चरणों पर डालकर।" कहते-कहते ही वे बुर्ज पर से उठ खड़े हुए।

"हमारी इस दिग्विजय के लिए, वहाँ हस्तिनापुर में वृषाली भाभी देवता के सभागृह के सम्मुख प्रतिदिन नन्दीदीप जलाती होंगी। हमारे दूत की आतुरता से राह देखती होंगी।" मैं भी उठा। हम शिविर की ओर चलने लगे।

"बस इतना ही सोचा है तुमने ? तो फिर सुनो, मेरा पत्र लेकर दूत प्रतिदिन हस्तिनापुर की ओर जाता है।"

"आँ ! थोड़ी देर पहले तो तुमने....!"

"वे पत्र राजभवन के किसी व्यक्ति के लिए नहीं होते।" धीरे-धीरे पैर उठाते हुए तथा चन्द्रिका में निखरे हुए रुपहले कुसुमपुर की ओर देखते हुए उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा।

"फिर किसके लिए होते हैं ? अश्वत्थामा के लिए ?" मुझको उन दोनों का घनिष्ठ प्रेम याद आया। उसके अतिरिक्त किसी अन्य को उनका पत्र भेजना सम्भव नहीं लगा।

"नहीं ! वे पत्र युद्ध में काम आये हुए सैनिकों के माता-पिताओं के लिए होते हैं। वह दूत राजभवन के किसी व्यक्ति से नहीं मिलता।" सरकता हुआ उत्तरीय कन्धे पर फेंकते हुए वे बोले । यद्यपि मैं नित्य उनके साथ रहता था, तथापि उसके मन की थाह मैं भी नहीं पा सका था, यही सत्य है।

दस

कुसुमपुर छोड़कर हम विदेहों की सीमा से बाहर आये । इससे आगे का देश था कौशिकी कच्छ। इस देश की राजनगरी थी विक्रमशिला—गंगा तट पर बसी हुई।

जह्म ऋषि के आश्रम का चक्कर लगाकर हमने कौशिकी नदी पार की। विक्रमशिला नगर आया। इस देश का राजा शरण में आ गया, इसलिए युद्ध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हुआ। विजयी सैन्य आगे बढ़ने लगा। यह आर्यावर्त अब भी कहीं समाप्त हुआ है या नहीं ? यह सन्देह होने लगे, पूर्व की ओर हम लोग इतनी यात्रा कर चुके थे। पुण्ड्रवर्धन नगर भी हमने पार किया। कौशिकों की सीमाएँ समाप्त हो गयीं।

अब मार्ग पर देवदारु, शीशम, सुरुपर्ण, अशोक, शाल आदि शीत प्रदेशीय वृक्ष दिखाई देने लगे। लम्बी पूँछवाले श्वेत पक्षी दिखाई देने लगे। इससे आगे का देश था कामरूप । करतोया नदी पार करते ही विश्राम करने के लिए हमने पड़ाव डाल दिया। क्योंकि अब जो लोहिता या ब्रह्मपुत्र नदी आनेवाली थी, वह अब तक हमारे द्वारा पार की गयी नदियों में सबसे अधिक विशाल थी। उसको नदी कहते ही नहीं थे। वह विशाल पात्र का एक नद था ब्रह्मपुत्र ।

हाथी भी उस नद में जाने को तैयार नहीं थे, फिर घोड़ों का प्रश्न ही क्या । उनको करतोया नदी के तट पर ही छोड़कर चुने हुए सैनिक लेकर हमने नौकाओं से ब्रह्मपुत्र नद बड़े कष्टों से पार किया। कामरूप राज्य में हमारा प्रवेश हो गया। इस राज्य में एक ही बड़ा नगर था प्रागज्योतिषपुर । राजा था भगदत्त ।

जिन संकटों का सामना करते हुए हमने ब्रह्मपुत्र पार किया था, उनको सफल करने के लिए हम अब साक्षात् इन्द्र से भी प्राणपण से लड़ने को तैयार थे। इसलिए भगदत्त का भय किसी को नहीं लग रहा था। इस कामरूप देश का वातावरण अत्यन्त ठण्डा था, फिर भी ब्रह्मपुत्र पार करते ही हमने दो दिन में ही प्रागज्योतिषपुर नगर घेर लिया। भगदत्त ने उत्कट कोटि का युद्ध किया; परन्तु वह अधिक काल तक टिका न रह सका। उससे कर स्वीकार कर हम लौटे। पूर्व की ओर यह सबसे अन्तिम छोर था। ब्रह्मपुत्र तट पर बसा हुआ।

त्रिपुरा, कामलका, सुवर्णग्राम आदि नगरों को पीछे छोड़ते हुए हम पुनः ब्रह्मपुत्र पार कर पीछे आये। करतोया के तट पर हाथी और घोड़ों पथक पुनः एकत्र मिल गये। अब विवश होकर थोड़ा दक्षिण की ओर मुड़ना था।

हमको पुनः करतोया पार कर गंगा उत्तीर्ण करनी थी। हमारी यात्रा में गंगा का वह दूसरा दर्शन था। लेकिन अब जो गंगा मिलनेवाली थी, वह सागर-जैसी असीम विस्तृत होगी। अनेक मुखों से वह जहाँ पूर्वसमुद्र में मिलती है, वह बंगदेश हमको जीतना था।

बंगदेश में प्रवेश करने के उद्देश्य से हमने गंगा का विशाल पात्र उत्तीर्ण किया। हिमालय के कन्धों पर से धड़ाधड़ कूदनेवाली उद्गम के समीप की गंगा, जो उस स्थान पर अल्हड़ बालिका-सी लगती है; प्रयाग के पास यमुना और सरस्वती से उनकी गुप्त बातें पूछनेवाली वही गंगा नटखट किशोरी लगती है। परन्तु आगे समतल प्रदेश पर पात्र की चौड़ाई बढ़ाती हुई मन्द-मन्द आगे बढ़नेवाली गंगा शीघ्र ही होनेवाले पति के दर्शनों से लजाकर चूर-चूर होनेवाली तथा धीमे-धीमे पैर रखनेवाली किसी मुग्धा जैसी लगती है।

ऐसी गंगा के तट पर कलिका देवी का कलिका नगर आया। बंगदेश की इस राजनगरी पर समुद्रसेन और चन्द्रसेन; दो भाई राज्य कर रहे थे। मानवबस्ती थोड़ी ही थी तथा अन्य राज्यों से अलग पड़ने के कारण बंगदेश युद्धशास्त्र में बहुत पिछड़ा हुआ था। फिर भी उनके वीर नेताओं ने हमारा प्रखर विरोध किया। समुद्रसेन और चन्द्रसेन वीरता से लड़े, परन्तु समुद्र-जैसी हमारी सेना को वे कभी नहीं जीत सकते थे। इस युद्ध में चन्द्रसेन मारा गया। समुद्रसेन के मूर्छित होते ही बंगों की सेना शस्त्र डालकर शरण में आ गयी। बंग का पतन हो गया। अपना नगर छोड़े हुए हमको दो महीने हो गये थे। पहली बार पूर्वसमुद्र के रोमांचक दर्शन हुए। उफनती हुई, गरजती हुई प्रचण्ड लहरों का ताण्डव-नृत्य देखते समय उनके आगे हमको अपनी दिग्विजयी भी क्षुद्र लगी। मानव पराक्रम के कितने ही पर्वत खड़े कर दे, प्रकृति के सामने वह नगण्य ही है। पूर्वसमुद्र की लहरों में थपेड़े खाते हुए हिचकोले खानेवाले जलबिन्दु की तरह।

कलिका नगर में एक दिन रहने को भैया की उत्कट इच्छा होने के कारण सागर का गूढरम्य, घरघर करता हुआ संगीत सुनते हुए हमने वहीं पड़ाव डाल दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर देखा तो भैया शिविर में ही नहीं थे। सैनिकों से पूछताछ करते हुए वे सेना में ही कहीं होंगे, यह सोचकर मैंने सभी पथक ढूँढ़ मारा परन्तु कुछ पता नहीं चला। भय की एक अशुभ शंका मेरे मन में झाँकने लगी। अनेक राजाओं से हमारी शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी-कहीं किसी ने विश्वासघात तो नहीं किया ? क्षण-प्रतिक्षण मेरी अस्वस्थता बढ़ने लगी। सेनापति के बिना सेना आगे कैसे बढ़ेगी ? और अन्य सब लोगों के तो वे सेनापति थे किन्तु मेरे तो प्रिय भाई भी थे। उनको ढूँढ़ने के लिए सभी कुशल गुप्तचर मैंने चारों दिशाओं में भेज दिये। परन्तु सेना को इस बात का कोई पता नहीं था। सब आगामी प्रयाण के लिए तैयारी करने में लगे हुए थे।

एक घड़ी बाद, मैंने जो दूत भेजे थे उनमें से कीर्तिध्वज वापस आया। उसकी प्रसन्न मुद्रा देखकर उसके लाये हुए समाचार को सुनने को मैंने अपने कान खड़े कर लिये।

"महाराज सकुशल हैं। पूर्वसमुद्र की लहरों में तुषार में कमर-भर पानी में खड़े होकर वे अर्घ्यदान कर रहे हैं। उनकी साधना भंग न करके मैं तुरन्त ही पीछे लौट आया।"

मैंने मुक्ति की साँस ली।

ग्यारह

कलिका नगर छोड़ते ही जो देश प्रारम्भ होनेवाला था, वह था ताम्रलिप्त । इस देश की राजनगरी का नाम था ताम्रलिप्त नगर। राजा था ताम्रलिप्त । ताम्रलिप्त और मल्ल, ये देश इतने छोटे थे कि उन राज्यों का घेरा हस्तिनापुर नगर के बराबर भी नहीं था। इसीलिए विरोध का भय नहीं था। इससे आगे हमारा प्रखर विरोध करने का सामर्थ्य केवल एक ही राज्य में था और वह था-मगध ।

कलिका नगर के पतन की सूचना पाकर थर्राया हुआ ताम्रलिप्त सन्धि के लिए तत्काल तैयार होकर हमारे स्वागत के लिए राजनगरी के द्वार पर खड़ा था। उसने जो भेंट दी थी उसमें असंख्य मोती थे। उसका राज्य ही पूर्वसमुद्र के ठीक किनारे पर था। वह सागरतट मोतियों के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ के प्रजाजन मोतियों का व्यवसाय करते थे, समस्त आर्यावर्त में मोतियों की पूर्ति करते थे।

ताम्रलिप्त नगर छोड़कर ओड़ों के राज्य की ओर मुड़ा जाये क्या-यह प्रश्न हमारे सामने आ खड़ा हुआ। परन्तु अब वह विचार छोड़कर हम मल्लों के छोटे राज्य की ओर मुड़ने को विवश थे, क्योंकि ओड़ और ताम्रलिप्त के मध्य त्राक्षपर्वतों की दुर्लघ्य पंक्ति फैली हुई थी। मल्लदेश को लक्ष्य कर चलने के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही हमारी सेना के सामने नहीं था। और उस मार्ग से जाने के लिए हम भी उत्सुक थे। क्योंकि मल्लदेश से परे था अंगदेश ।

राजा दुर्योधन ने जिसके अभिषिक्त राजा के रूप वसु भैया को घोषित किया था, वह देश । भैया ने उस देश की राजधानी बदलकर चम्पानगरी कर दी थी। अनेक वर्षों के दीर्घ कालखण्ड के बाद हम बचपन में जहाँ खेले थे, लड़े-झगड़े थे, बड़े हुए थे, उस चम्पानगरी के दर्शन होनेवाले थे।

मल्लपर्वत के पास से गुजरते हुए हम मल्लदेश पहुँचे। भैया हस्तिनापुर में ही रहते थे, इसलिए उन्होंने अंगदेश राज्य का कार्यभार प्रत्यक्ष देखने के लिए एक माण्डलिक नियुक्त कर रखा था। वह हमारा स्वागत करने के लिए मल्लदेश में आया था। उसने भैया को सादर वन्दन किया। हमारे सैनिक अंगदेश की सीमा में जाने के लिए उत्सुक हो उठे थे। वे जानते थे कि अंगराज इस देश से कम से कम चार दिन तक तो हिलेंगे नहीं। सबको यथेष्ट विश्राम करने का अवसर मिलेगा।

माण्डलिक के साथ हम अंगदेश की सीमा पर आये। अंगराज कर्ण-दिग्विजयी अंगराज कर्ण, अंगदेश की सीमा पर खड़े थे। सहस्रों अंगदेशीय नगरजन स्वागत के लिए हाथों में विविध प्रकार के फूल लेकर इकट्ठे हुए थे। सुहागिनें जलपूर्ण कुम्भ लेकर सामने आयीं। अपने देश राजा के दर्शनों से उन्मत्त हुए सहस्रों ने गगनभेदी जयघोष किये। "अंगराज कर्ण महाराज की विजय हो।" "चम्पानगराधिपति वसुसेन महाराज की ss"

"विजय हो !"

बचपन में पाषाणसिंहासन पर जो घोषणा की गयी थी-वह सत्य हो गयी। फूल बरसाये गये। जब से हस्तिनापुर छोड़ा था, तब से एक भी बार कुंकुम के पवित्र केशरी तिलक नहीं लगे थे, वे पुनः हमारे भाल पर लगे। आरती उतारी गयी। कुरुओं की सेना ने वाद्यों के शोर और घोषणाओं के कोलाहल में अंगदेश में प्रवेश किया। मेरा मन तो उस घटना से पर की तरह हलका हो गया। सौख्य का अतिरेक सहन करने के लिए भी मन में एक विशिष्ट सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। परन्तु भैया सदैव की भाँति शान्तिपूर्वक रथ में बैठे हुए थे। दोनों हाथ जोड़कर विनम्रभाव से वे अपने नगरजनों के विशुद्ध प्रेम को स्वीकार कर रहे थे। कहीं किसी भी प्रकार की उत्तेजना नहीं थी। उनका मुखमण्डल सूर्यबिम्ब की तरह ही चमचमा रहा था। हमारे रथ के सिर पर जगत्पिता आदित्य भी तेज का रस उँडेलते हुए उस दृश्य को अपने सभी चक्षु खोलकर यथाशक्ति देख रहे होंगे। और "जयतु, जयतु कर्ण !" यह कह रहे होंगे—मुझको ऐसा प्रतीत हुआ ।

सन्ध्याकाल के लगभग हम चम्पानगरी के पास आये। तीस वर्ष बाद उस नगरी का हम प्रथम दर्शन कर रहे थे। इस नगर में ही हम सारथियों की पर्णकुटियाँ थीं। हमारे बचपन की स्मृतियाँ इस नगर ने ही प्रेम से सँभाल रखी थीं। यहाँ की पर्णकुटी ने हमारे ऊपर आश्रय का छत्र धारण किया था। हँसाते-खिलाते हमें पाला-पोसा था। जो सिखाना चाहिए-वह सिखाया था ।

पक्षियों के झुण्ड देखते हुए गंगा तट पर पड़ी सीपें इकट्ठी करने के लिए रथ में जानेवाले कर्ण-शोण, धनुष से लता वृक्षों पर लक्ष्यवेध करनेवाले कर्ण-शोण, अरण्य से रथ की लकड़ी लानेवाले कर्ण-शोण, राधामाता को एक-दूसरे के अभियोग सुनानेवाले कर्ण-शोण, क्रीडांगण में राजसभा के खेल के दौरान वृषभ का सामना करने के लिए एक ही पाषाण पर खड़े होनेवाले कर्ण-शोण और रथ में बैठकर हस्तिनापुर को जाते समय पुनः पुनः पीछे मुड़कर अपने भाई की ओर देखनेवाला कर्ण और रथ के पीछे रुआँसा होकर हाथ उठाये सीमा तक दौड़नेवाला शोण ! सबकी सब घटनाएँ वहाँ की लता-बेलों ने और पशु-पक्षियों ने भी देखी थीं। और आज.... ।

आज दिग्विजयी अंगराज कर्ण और उनका दायाँ हाथ शोण—दोनों भरे हुए मन से उसी नगरी में प्रवेश कर रहे थे। प्रेमाभिभूत होकर नगरजन उनकी निरन्तर जय-जयकार कर रहे थे, सुवर्ण-पुष्प बरसा रहे थे। आह ! जीवन का अर्थ कितना महान् उलट-फेर होता है। यहाँ कर्ण-जैसे बीज से महान् वटवृक्ष लहलहाने लगते हैं। कनिष्ठिका जैसी धार से गंगा-यमुना दौड़ने लगती हैं। मैं सत्य अनुभव कर रहा था या स्वप्न देख रहा था, यह मैं स्वयं ही समझ नहीं पा रहा था।

मन के एक कोने में बचपन की स्मृतियाँ और एक कोने में दिग्विजयी यात्रा की स्मृतियाँ बारम्बार दुहराते हुए हम रथ में चम्पानगरी के मार्ग पर चले जा रहे थे। इन तीस वर्षों में इस नगरी का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया था। राजनगरी का महत्त्व प्राप्त हो जाने से भव्य भवन निर्मित हो गये थे। फिर भी भैया की आँखें घूमती हुई कुछ ढूँढ़ रही थीं। उनके हाथ सबके प्रेम को स्वीकार कर रहे थे; परन्तु आँखें किसी को खोज रही थीं। वाद्यों के निनाद से चम्पानगरी पुलकित हो उठी थी। उनके नाम के जयघोष की वर्षा हो रही थी।

अचानक हाथ उठाकर भैया ने मुझको रथ रोकने की आज्ञा दी। मैंने वल्गाएँ खींचीं। नीचे उतरकर वे झटपट भीड़ में होकर भीतर घुस गये। मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। मार्ग के आसपास भवनों का जल्दी-जल्दी चक्कर लगाते हुए वे पीछे स्थित मुक्त क्रीडांगण तक पहुँचे। वह-वही क्रीडांगण था जहाँ बचपन में हमने राजसभा का खेल खेला था। उनके लिए हमने जिस पाषाण का सिंहासन बनाया था, वह पाषाण एक कोने में पूर्ववत् पड़ा हुआ था। नये भवन बनाते समय किसी ने उसको उलटा कर उसका आसन-जैसा भाग धरती की ओर कर दिया था। आसपास घास उग आयी थी। पाषाण पर काई जम गयी थी।

"शोण, वह देखो, अपने वसुभैया का सबसे पहला सिंहासन !" राजदण्ड अपने हाथ से मेरे हाथ में देकर जल्दी-जल्दी उस पाषाण के पास जाकर उन्होंने उसे सीधा कर दिया। फिर मेरे हाथ से वह राजदण्ड लेकर-जिसने देश-देश के राजाओं का गर्वहरण कर लिया था उन्होंने सहसा उसे पाषाण के ऊपर रख दिया। उनके मन में क्या था, यह बता पाना कठिन था।

"चम्पानगराधिपति वसुसेन महाराज की...." यह कहने के लिए वहाँ बचपन के वे मित्र भी नहीं थे। उस आवाज से बौखलाकर आनेवाला भड़का हुआ वृषभ भी नहीं था। थीं केवल स्मृतियाँ, जो सत्य हो गयी थीं। साकार हो गयी थीं।

क्षण-भर बाद उन्होंने राजदण्ड उठाया। एक बार फिर उस सिंहासन पर दृष्टि जमा दी। फिर हम लौट आये। पुनः रथारूढ़ हुए। जन-समुदाय राजमार्ग पर पुनः आगे बढ़ने लगा। हम बचपन में जहाँ रहते थे, वे पर्णकुटियाँ आयीं। भैया का आदेश पाकर माण्डलिक ने उनको अच्छी तरह व्यवस्थित कर रखा था। उन पर्णकुटियों में माण्डलिक के सारथी रहते थे। पर्णकुटी के द्वार पर खड़े होकर वे हमारी दिग्विजयी सेना की ओर अभिमान से देख रहे थे। सेनापति के दर्शन कर रहे थे। जिस पर्णकुटी में हम रहते थे, उसके द्वार में एक अत्यन्त वृद्ध सारथी खड़ा था। मैंने स्मृति के रूप में उस पर्णकुटी को वन्दन किया और गंगा तट पर बने हुए माण्डलिक के भवन में जाने के लिए घोड़ों की पीठ पर प्रतोद उठाया।

भैया ने पीछे से उसे ऊपर ही ऊपर पकड़ लिया।

"शोण, नीचे उतरो !" स्वयं नीचे कूदते हुए उन्होंने मुझे आज्ञा दी।

किसी की ओर ध्यान न देते हुए वे सीधे उन पर्णकुटियों में ठीक अपनी पर्णकुटी के पास गये। उनको सम्मुख देखते ही वह वृद्ध सारथी घबरा गया। अपने-आप ही भीतर चला गया। उसके पीछे-पीछे भीतर प्रवेश करते समय भैया का मस्तक तोरण से टकरा गया। जैसे वे लम्बे हो गये थे वैसे ही वह द्वार थोड़े ही ऊँचा हो गया था। उन्होंने अपनी ऊँचाई उस तोरण से नापकर देखी। सिर झुकाकर वे भीतर घुसे। मैं भी अन्दर गया।

घबराया हुआ माण्डलिक पहली बार ही उस पर्णकुटी में आया। वृद्ध द्वारा बिछाये गये कम्बल पर कुरुओं की आठ लाख सेना का दिग्विजयी, कवच-कुण्डलधारी, सुन्दर सेनापति-अंगदेश का साक्षात् राजा-पैर सिकोड़कर बैठा था, यह देखकर क्या कहा जाये, यह माण्डलिक भी न जान पाया।

"महाराज, आप राजभवन चले।" वह कर्तव्यबुद्धि से बोला।

"नहीं ! मैं यहीं इसी पर्णकुटी में जी भरकर तीन-चार दिन रहना चाहता हूँ। जो ये सारथी खाते हैं, वही अन्न खाना चाहता हूँ। गंगा तट पर जाकर अर्घ्यदान करना चाहता हूँ। तुम लोग मेरे कारण पुनः यहाँ आने का कष्ट मत करना। सैनिकों का प्रबन्ध अच्छी तरह करो। जाओ।" भैया पर्णकुटी की घास भरी छत की ओर देखते हुए बोले।

"जो आज्ञा।" माण्डलिक द्वार से बाहर जाता हुआ सिर झुकाकर बोला।

मैंने लज्जित होकर सिर झुका लिया। मैं जिस पर्णकुटी से कतरा रहा था, भैया ने उसको अपना लिया था।

"शोण, ऊपर आओ-इस कम्बल पर !" उन्होंने मुझको पास बैठा लिया। इतने में ही माण्डलिक पुनः भीतर आया। उस वृद्ध को आज्ञा देते हुए उसने कहा, "ए, तुम जरा बाहर जाओ। महाराज को विश्राम करने दो।"

"नहीं ! ये बाबा भी यहीं रहेंगे। तुम जाओ !" माण्डलिक को कठोर स्वर में आज्ञा दी गयी।

मैं भैया के पैरों की अँगुलियों की ओर देखता हुआ विचारमग्न हो गया। बचपन से लेकर समस्त जीवन ही घेरा बनाकर उस पर्णकुटी में मेरे चारों ओर नाचने लगा। अपने जीवन में मैंने एक बात अच्छी की थी। एक अथाह मनवाले अद्वितीय योद्धा का सारथ्य मैंने अंगीकार किया था।

बारह

चम्पानगरी में चार दिन कैसे बीत गये, इसका हमको पता भी न चला। पर्णकुटी छोड़ते समय भैया ने मोतियों का कण्ठहार उतारकर उस वृद्ध के हाथ पर रख दिया। "दूर देश में रहनेवाले अपने सम्बन्धियों को बुलवाकर यह पर्णकुटी सदैव मनुष्यों से जाग्रत् रखना" यह सूचना उसको दी। माण्डलिक को जो सुवर्णकर दे रहा था, उसे अस्वीकार कर, उलटे उसी को दिग्विजय की सम्पत्ति में से विपुल हीरे, माणिक्य देकर चम्पानगरी की शोभा और अधिक बढ़ाने की सूचना भी दी गयी।

अब कब होगा इसका दर्शन ? यह कौन कह सकता था और कैसे कह सकता था ? अश्रुपूर्ण नेत्रों से हमने चम्पानगरी छोड़ी।

इससे आगे का साम्राज्य था रणकुशल मगधों का। आर्यावर्त में कुरुओं के हस्तिनापुर राज्य के पश्चात् सामर्थ्य की दृष्टि से मगधों का ही क्रम आता था । जरासंध के नेतृत्व में किसी समय उन्होंने मथुरा पर सत्रह आक्रमण किये थे। आसपास के सभी राज्य मगधों की प्रभुता स्पष्ट स्वीकार करते थे। जरासन्ध ने तो भोजराजाओं को पराजित कर सैकड़ों राजाओं को नरयज्ञ में बलि देने के लिए कारागृह में बन्द कर रखा था। मगधों की सशस्त्र सेना भीमकाय योद्धाओं का गरजता हुआ महासमुद्र ही थी। गदा, शूल, तोमर, शतम्बी, खड्ग, चाप, बाण, भाला, त्रिशूल, गज, अश्व, भुशुण्डि-सभी प्रकार के पथक कुशल लड़ाकों से भरे हुए थे। उनकी सैन्य-संख्या पाँच अक्षौहिणी थी। अर्थात् लगभग दस लाख योद्धाओं से हमारा सामना था। ये मगध पुरुवंशीय थे। उनकी राजनगरी थी गिरिव्रज । यह गिरिव्रज नगर वसुराजा ने गंगा के किनारे बसाया था। उसके बाद उसका पुत्र बृहद्रथ सिंहासन पर बैठा। इस बृहद्रथ के पुत्र जरासंध ने अपने अपार सामर्थ्य से सभी राज्यों पर

मगधों का आतंक स्थापित कर अपने राज्य को विशाल साम्राज्य का रूप प्रदान किया था। भीम के द्वारा जरासन्ध का वध करने के कारण गिरिव्रज नगर पर जरासन्ध का पुत्र सहदेव राज्य कर रहा था। हमारी सेना से उसकी टक्कर होनी थी। चम्पानगरी छोड़ते समय हमने वहाँ के जानकार सैनिकों के कुछ पथक अपने साथ लेकर अपना सामर्थ्य भी बढ़ा लिया था। हमारी सैन्य संख्या अब दस लाख के लगभग हो गयी थी। उनमें वे सैनिक भी थे जो पराजित राजाओं ने उपहारस्वरूप दिये थे। टक्कर जोड़ की थी। पौष का शुक्ल पक्ष समाप्त होते ही योजनों के बाद योजन मार्ग आक्रान्त करते हुए दुर्वासा ऋषि के आश्रम के समीप होकर हम गिरिव्रज नगर की सीमा पर आ पहुँचे। पहुँचते ही मगधों की रणकुशलता का चकाचौंध कर देनेवाला अनुभव हमको हुआ। समस्त नगर के चारों ओर जो खाई थी, वह उन्होंने लकड़ियों से किनारे तक भरकर, उन लकड़ियों में आग लगा दी थी। अग्नि की ज्वालाओं के मण्डल में गिरिव्रज की प्राचीन अभेद्य प्राचीर सिर उठाये तनकर खड़ी भयंकर दिखाई दे रही थी। चुप बैठने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही हमारे सम्मुख नहीं था। एक-दो दिन तड़तड़ जलती हुई लकड़ियाँ खाई में धधकते हुए अंगारों का रूप धारण कर नष्ट हो गयीं। उन अंगारों की अग्नि बुझने की राह देखते हुए खाई के किनारे हम दो दिन तक पड़ाव डाले रहे। परन्तु तीसरे दिन प्रातःकाल देखते हैं कि नये अंगारे तैयार करने के लिए लकड़ियों का नया ढेर एक रात में खाई में पुनः भर दिया गया था। पुनः प्राचीर को चाटनेवाली प्रचण्ड ज्वालाएँ तैयार हो गयीं। "इस तरह यह कितने दिन चलेगा ? मगधों का पतन हो सकेगा या नहीं ?" यह कानाफूसी हमारे सैनिकों में होने लगी।

आठ दिन खाई के बाहर पड़े-पड़े सैनिक ऊब गये। कुछ करना अनिवार्य था। नौवाँ दिन उदित हुआ। खाई में से उड़नेवाले राख के कण हमारे सैनिकों की आँखों में घुसने लगे। खाई के उस पार प्राचीर के छिद्रों से मगध सैनिक हमारी दुर्गति बड़े चाव से देखने लगे। हमें तो कुछ भी नहीं सूझ रहा था।

हारकर सभी पथक-प्रमुखों की, उपसेनापति के नाते, मैंने अत्यावश्यक बैठक आमन्त्रित की। भैया अपने शिविर में विचारमन स्थिति में चुपचाप बैठे हुए थे। उनके सम्मुख जाने का साहस किसी को नहीं हो रहा था। इसलिए उनकी अनुपस्थिति में ही मेरे शिविर में बैठक के लिए इकट्ठे हुए पथक-प्रमुख बैठे हुए थे। हमारी प्रतिष्ठा दावँ पर लगी हुई थी। कुछ न कुछ निर्णय लेना आवश्यक था। युद्ध, या फिर पीछे हटना।

जैसे ही सभी पथक-प्रमुख एकत्रित हुए, मैंने सबसे सुझाव माँगे कि अंगारों से भरी हुई खाई कैसे पार की जाये। सभी लोग बुद्धि पर जोर देने लगे। कोई कहता था कि हाथियों पर गंगा का पानी लाकर खाई में उँडेल दिया जाये। कोई कहता था कि सैनिकों के पैरों से भीगे वस्त्र लपेट दिये जायें। एक ने तो यह प्रश्न किया, "इस राज्य को यदि यों ही छोड़कर आगे बढ़ जायें तो क्या बिगड़ जायेगा ?" सभी जन किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये थे।

एक विचार सबके सामने रखा गया। "सब लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, इससे तो अच्छा है कि कुछ व्यक्ति अपनी देह सीधी अंगारों पर डाल दें। उनकी पीठ पर होकर शेष सहस्रों सैनिक खाई पार कर लें।"

इस विचार का कुछ लोगों ने समर्थन किया। इस उपाय से हमारे चार-पाँच सौ सैनिक अवश्य काम आ जायेंगे, परन्तु अन्य जन उनका बलिदान व्यर्थ नहीं जाने देंगे। अपने साथियों के अंगारों से दग्ध शरीरों के ऊपर होकर गुजरनेवाले सैनिक निश्चय ही मगधों पर टूट पड़ेंगे। उनकी धज्जियाँ उड़ा देंगे।

सभी पथक प्रमुखों को वापस उनके पथक में भेजकर, ऐसे बलिदान के लिए तैयार होनेवाले सैनिकों की नामावलि तैयार करने की मैंने आज्ञा दी। एक-दो नहीं, सहस्रों सैनिकों ने अपने नाम देकर कीर्ति का वह रोमांचकारी मार्ग स्वीकार किया। उनका चुनाव करने का प्रश्न हमारे सम्मुख आ खड़ा हुआ। जो अधिक विशालकाय थे, वे चुन लिये गये। ऐसा मर्मस्पर्शी निर्णय किसी ने किसी युद्ध में नहीं लिया होगा। चुने हुए सैनिकों को अनुशासन में खड़ा कर, अपनी इस कल्पना पर स्वयं प्रसन्न होता हुआ, मैं यह कहने के लिए सिर झुकाकर भैया के शिविर में प्रविष्ट हुआ।

शिरस्त्राण उतारकर रख देने के कारण उनके धुंधराले सुनहले बाल स्वच्छन्द बिखरे हुए थे। आँखें बन्द थीं। हनु को हथेलियों में लिये वे चिन्तन कर रहे थे।

"अंगराज, अब चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। खाई पार करने की योजना निश्चित हो चुकी है।" मैंने उनके पास बैठकर उनको अपनी रोमांचकारी योजना बतायी।

"नहीं शोण, नहीं; ऐसा नहीं किया जा सकता।" वे तत्क्षण आसन से उठकर शिविर के संकुचित स्थान में ही इधर से उधर चक्कर लगाते हुए व्याकुल होकर बोले।

क्षण-भर शान्ति छा गयी। उनके नकार का विरोध करने का साहस मुझमें नहीं था। जो वे कहेंगे, वही होगा।

"मगधों की धूर्त योजना पर मैं अपने एक भी योद्धा को इस तरह बलि नहीं होने दूंगा। यदि मरना होगा तो मेरा प्रत्येक योद्धा समरांगण में ही लड़ता हुआ मरेगा।" उन्होंने निश्चय से कहा।

"फिर....फिर खाई पार करने का मार्ग कौन-सा है?" मैंने पूछा।

क्षण-भर स्तब्धता रही। अपना मस्तक दोनों हथेलियों में कसकर दबाकर चक्कर लगाते-लगाते वे एकदम रुक गये....केवल क्षण-भर के लिए ही। आँखें बन्द कर उनको खोलते हुए वे विहँसकर शान्ति से बोले, "है, मार्ग है।"

"कौन-सा?" मैंने जल्दी से पूछा।

"जाओ शोण, अपने नौकापथक की सहस्र नौकाओं में से आधी नौकाओं को उखड़वाकर उनकी लकड़ी की फाँके अलग करने का आदेश दे दो। उनको अंगारों पर बिछाकर ही आज हमारी सेना, अपना एक भी योद्धा न गँवाती हुई, खाई पार करेगी।" उन्होंने शिरस्त्राण पहन लिया। नीली आँखें चमकने लगीं। कुण्डल मोहक ढंग से हिलने लगे।

श्रद्धा से उनके चरणों को स्पर्श कर मैं शिविर से बाहर निकला। चुने हुए सैनिकों के पास जाकर उनसे कहा, "तुम्हारा चुनाव अंगारों पर शरीर सुलाने के लिए नहीं हुआ है। वह काम नौकाओं का है। जाओ, नौकाएँ उखाड़कर उनकी लकड़ी की फाँके शीघ्रता से अलग करो।"

खाड़ SS खाड़ SSS खाड़ SSS! आघात पर आघात होने लगे। जिन नौकाओं की सहायता से हमने अनेक नदियाँ पार की थीं, वे उखाड़ी जाने लगीं। फाँकों के ढेर देखकर सभी पथकप्रमुखों की आँखें आनन्द से चमकने लगीं। कितनी सरल युक्ति थी, परन्तु अब तक किसी के ध्यान में नहीं आ सकी थी।

शिरस्त्राण पहने हुए हमारे सेनापति ने आगे बढ़कर स्वयं एक एक फाँक सैनिकों के हाथ में देना प्रारम्भ किया। उनको ग्रहण करते समय, मानो अमृतलाभ हो गया हो, इस आनन्द से कुरु सैनिक जयघोष करने लगे, "सेनापति अंगराज कर्ण SSS !"

"जयतु ! जयतु !"

हमारी समस्त सेना को खाई पार करते हुए देखते ही प्राचीर पर मगध सावधान हो गये। प्राचीर के छिद्रों से वे बाणों की वर्षा-सी करने लगे। हाथी घोड़ों सहित हमारी पूरी सेना खाई पार कर नगर की प्राचीर तक जा पहुँची। मगधों की एक-एक अद्भुत युद्धयोजना हमको सुन्न कर रही थी। बाणों की पुच्छों में पलाश के पत्तों की थैलियाँ लटकाकर, उनमें लाल-लाल चींटियाँ भरकर, वे उनका प्रहार हमारे हस्तिपथक पर करने लगे। उन चींटियों ने जैसे ही हाथियों के कान के कोमल परदों को जोर से काटा, नैमिषारण्य को कुछ न गिननेवाले हमारे विशालकाय हाथी मर्माहत होकर धड़ाधड़ नीचे गिरने लगे। कितना कुटिल युद्धतन्त्र था उनका !

"शोण, सभी हाथियों के कानों में वस्त्रों के गोले भरवा दो।" भैया हाथ उठाकर चिल्लाये। महावर्तों ने देह पर से उत्तरीय फाड़कर उन वस्त्रों से हाथियों के कान ढक दिये। एक समस्या समाप्त हो गयी। पथक आगे बढ़ने लगे।

मगधों ने प्राचीर पर से पत्थर फेंकना प्रारम्भ किया। जलती हुई पूँछवाले बाण आने लगे। फिर भी किसी की चिन्ता न करते हुए भैया एक प्रचण्ड हस्तिपथक के साथ नगर के

महाद्वार से भिड़ ही गये । अरिष्टसेन, व्याघ्रवर्मा, हिरण्यवर्मा-इन्होंने प्राचीर को घेर लिया। अब कुछ भी हो जाये, विजय मिलकर ही रहेगी। विजय !

हम महाद्वार के सामने पहुंचे अवश्य, परन्तु ऐसा विशाल सुदृढ़ महाद्वार कि सामने देखते ही हमारी आशा पर फिर पानी फिर गया। उस बन्द महाद्वार में बाहर से नुकीली लोहे की कीलें ठुकी हुई थीं। कोई बौखलाया हाथी उसपर टूट पड़ता था तो तुरन्त ही उसका गण्डस्थल उन कीलों में ही अटक जाता था। अपने घायल बन्धु के शरीर पर टक्कर मारने के लिए दूसरा हाथी तैयार ही नहीं होता था। कीलों में अटके हुए हाथी को मुक्त करते हुए सैनिक श्रान्त हो रहे थे। पुनः समस्या ! पुनः आह्वान ! मगधों का महाद्वार ! अजेय महाद्वार !

भैया क्षण-भर रुके। एक हाथी की पीठ हाथ से थपथपाते हुए वे विचारमग्न हो गये। और.....और तुरन्त ही अपने अंग पर से लौहत्राण उतार कर आगे बढ़कर उन्होंने एक कील पर टाँग दिया। उनके पीछे-पीछे सभी ने अपने-अपने लौहत्राण कीलों से सटाकर टाँग दिये। क्षण-भर में सभी कीलें ढक गयीं। दस हाथियों को भालों की नोकों से जैसे एकदम छेदा, उन्होंने बड़ी जोर की एक टक्कर मारी। मगधों का अजेय महाद्वार टूटकर धूल में गिर पड़ा। अब तक सहनशक्ति की सीमा देखकर बौखलाये हुए हमारे कुरु सैनिक अपने सेनापति की जय-जयकार करते हुए लाखों लाखों की अपार संख्या में गिरिव्रज में ऐसे घुसे जैसे क्रुद्ध भुजंग बाँबी में घुसते हैं। मगध साम्राज्य फिर एक साधारण राज्य रह गया।

घनघोर संग्राम हुआ। जरासन्ध-पुत्र सहदेव भैया से द्वैरथ, गदा, खड्ग शूल, तोमर आदि सभी प्रकार के युद्ध करके थक गया। मेरे सामने मगध सेनापति खड़ा था। सन्ध्याकाल तक मगधों का पूर्ण विनाश हो गया। धरती प्रेतों से पट गयी। बाणों के, त्रिशूलों के, खड्गों के भग्न फल बिखर गये।

निःशस्त्र सहदेव के हाथ बँधे हुए थे। इसी स्थिति में व्याघ्रदत्त ने उसको अंगराज के सम्मुख उपस्थित किया। जिसके पिता ने अनेक राजाओं के हाथ बाँधकर उनको कारागृह में बन्द कर दिया था, वह स्वयं बद्धहस्त स्थिति में सचिव के साथ कुरुओं के सेनापति के सामने खड़ा था। उसका सेनापति तो गतप्राण ही हो गया था। इतनी मर्मभेदी पराजय मगधों ने इससे पहले कभी अनुभव न की होगी। उनका राजध्वज नीचे उतर गया था।

“बोलो सहदेव, क्या कर दोगे ?” हमारे शूर सेनापति ने पराजित राजा से पूछा।

“जो आप कहें।” धूर्त सचिव ने उत्तर दिया।

“राजन, तुम बोलो। हीरे, मोती, सुवर्ण, पाचू, प्रवाल, धान्य, गाय-यह कर तुमको देना ही होगा। लेकिन कैसे दोगे, जानते हो ?”

"आज्ञा, अंगराज !" सहदेव धीरे से बोला । उसका सिर झुका हुआ था। कारागृह में बन्दी बनाये गये राजाओं का दुख वह आज अनुभव कर रहा था।

"जितनी नौकाएँ तोड़कर तुम्हारी धधकती हुई खाई पार करनी पड़ी है, उतनी नौकाएँ बनवाकर, उनको भरकर यह कर हमारे उपसेनापति को अर्पित करो।" मेरी ओर उँगली उठाकर आज्ञा दी गयी। सिर हिलाकर स्वीकृति प्रदर्शित करते ही सहदेव के हाथ मुक्त कर दिये गये। वीर योद्धाओं के मगध देश का पतन हो गया। माघ महीना प्रारम्भ हो गया था। हस्तिनापुर छोड़े दो मास बीत गये थे। हमने सहायता के लिए जो अंगदेशीय सैनिक लिये थे, उनको चम्पानगरी की ओर वापस भेज दिया। मगधों के पतन की शुभ सूचना लेकर गुप्तदूत हस्तिनापुर की ओर भागता चला गया।

उस रात से ही मगधों के और हमारे कारीगर अहर्निश नौकाएँ तैयार करने लगे। उनकी ठोका-पीटी से जिनको नींद नहीं आती थी, वे सैनिक मगधों की राजनर्तकी का विलोभनीय नृत्य मशालों के प्रकाश में देखते हुए अपनी सुध-बुध खोने लगे।

तेरह

जिस कारागृह में जरासन्ध ने राजाओं को बन्दी बना रखा था, उसे एक बार देख, नौकाओं सहित कर ग्रहण कर, हमने गिरिव्रज छोड़ दिया। निरंजना नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ते हुए कीकट, मन्द, पूर्वदशार्ण, उत्कल आदि राज्यों को जीतते हुए ऋक्षपर्वत के निकट से हम पुनः पूर्वसागर की ओर चल दिये। माघ महीने का शुक्ल पक्ष समाप्त हो गया था।

ऋक्षपर्वत पर कलम्ब, मैनफल, पाण्डल, उद, खैर, असन, कटक, नाना, शमी, जलनीम, पुन्नाग आदि अनेक प्रकार के वृक्ष थे। उनके पत्तों का संगीत पूर्वसागर का नटखट पवन हमें सुना रहा था। वैतरणी नदी पार करते ही पुण्ड्र देश में हमारा प्रवेश हो गया। पग-पग पर आर्यावर्त के प्राकृतिक सौन्दर्य के विविध रूप देखते हुए हम आगे बढ़ रहे थे। कितने प्रकार के पक्षी, लताएँ, वृक्ष, नदियाँ, सरोवर, फूल, शस्य, पर्वत-इनसे यह देश भरा हुआ है, यह कोई कभी नहीं बता पायेगा। मनुष्य के राज्यों को पराजित करते हुए हम चले जा रहे थे, किन्तु निसर्ग के राज्य को हम श्रद्धापूर्वक मान-वन्दना देते जा रहे थे।

पुण्ड्र देश में प्रवेश करते ही, अपने मुट्ठी-भर सैनिकों के साथ उस देश का राजा पौण्ड्रक वासुदेव हमसे आ भिड़ा। परन्तु हिरण्यवर्मा ने ही उसे पराजित कर दिया, इसलिए हमको शस्त्र भी धारण न करना पड़ा।

इसके बाद का देश था कलिंग। राजा दुर्योधन के श्वसुर चित्रांगद का देश । इस देश पर सेना लेकर कैसे चढ़ाई करें ? इससे दुर्योधन की भावनाओं को ठेस पहुँचेगी, यह विचारकर

मैंने अपने सेनापति से कहा, “यह कलिंग देश महारानी भानुमति का....और....और सुप्रिया भाभी का है, इसको यदि छोड़ दिया जाये तो ?”

“नहीं ! मैं द्वारका और मथुरा....इसके अतिरिक्त अन्य किसी राज्य को नहीं छोड़ सकूँगा। यह राजदण्ड समस्त कुरुओं का है। मेरी, तुम्हारी, राजा दुर्योधन की-किसी की भी भावनाओं की अपेक्षा उसकी प्रतिष्ठा का मूल्य अधिक है। वहाँ कौन-सा राजा उपस्थित है ? भानुमन्त या उसका पिता ?”

“भानुमन्त ! महारानी भानुमति का भाई।”

“उसको सन्देश भेजो कि शरण में आये। यदि वह शरण में नहीं आया तो....”

“तो फिर क्या ?”

“उसकी भी वही गति होगी जो मगधों के सहदेव की हुई है-यह उसको लिख भेजो।”

उनकी आज्ञानुसार सन्देश लेकर दूत कलिंग की राजनगरी राजपुर को चला गया। वास्तव में यह राजपुर नगर सुप्रिया भाभी के कारण भैया को प्रिय लगना चाहिए था; परन्तु सेनापति के अतिरिक्त अन्य किसी भी नाते का विचार करने को वे तैयार नहीं थे। सन्देश लेकर गया हुआ दूत लौटकर क्या सन्देश लाता है, यह जानने के लिए हम मन से उसकी राह देख रहे थे।

चौदह

दूत वापस आया। कलिंगराज भानुमन्त ने हमारी बात स्वीकार कर ली थी। अपना नगर सजाकर वह महानदी के तट पर आकर हमारा स्वागत करनेवाला था। भाग्य से उसको यह सुबुद्धि आ गयी थी।

अपनी अजेय सेना के साथ हमने वाद्यों के कोलाहल में उस राजपुर नगर में प्रवेश किया जिस नगर से राजा दुर्योधन ने महारानी भानुमति का हरण किया था। इस नगर में ही अंगराज ने जरासन्ध को द्वन्द्व में जीवनदान दिया था। महानदी के तीर पर बसा हुआ यह नगर प्रशान्त और रमणीय था। राजा भानुमन्त ने सम्मुख आकर मुसकराते हुए हमारे झंझावाती सेनापति का हाथ अपने हाथ में लेकर अपने राजरथ पर चढ़ा लिया। कुरुओं के योद्धा के रूप में नहीं, दुर्योधन के सखा के रूप में नहीं, सुप्रिया भाभी के पति के रूप में नहीं, बल्कि दिग्विजयी कर्ण के रूप में। हमारी वात्रा का आधे से अधिक प्रवास समाप्त हो चुका था। हृदय विजय के उत्साह से आकण्ठ भरे हुए थे।

नगर में प्रवेश करते ही भैया ने सुप्रिया भाभी के वृद्ध माता-पिता से मिलकर विनयपूर्वक उनका वन्दन किया। भानुमन्त के आग्रह पर राजपुर में एक दिन रुकने का निश्चय किया गया। माघ मास की कृष्णा पंचमी का दिन था। सन्ध्या समय हमारे दूत-पथक का प्रमुख हस्तिनापुर से आये हुए एक अश्वसाद को लेकर मेरे सामने आया। वह अश्वसाद गुरुपुत्र अश्वत्थामन् का पत्र लेकर आया था। मगधों के राज्य से वायुवेग से दौड़ता हुआ वह हम तक पहुँचने का निरन्तर प्रयत्न कर रहा था। अतलसी वस्त्र में लिपटा हुआ पत्र उसके हाथ से लेते हुए मैंने उससे हस्तिनापुर की कुशल पूछी। वैसे हस्तिनापुर से सन्देश पर सन्देश आ रहे थे, लेकिन पत्र यह पहला ही था। तत्क्षण भैया के पास जाकर वह मैंने उनके हाथ में दिया।

उसको बिना खोले ही उन्होंने पूछा, “कहाँ से आया है?”

“हस्तिनापुर से, अश्वत्थामन् का है।”

“क्या लिखा है उन्होंने, पढ़ो।” उन्होंने वह ज्यों का त्यों फिर मेरे हाथ में दे दिया।

अतलसी वस्त्र का आवरण हटाकर भूर्जपत्र पर लिखा हुआ वह पत्र मैं उत्सुक होकर पढ़ने लगा :

“मित्र,

तुम्हारी गगनभेदी विजय की चर्चाएँ प्रति सप्ताह आकर राजभवन से टकरा रही हैं। सर्वत्र यही चर्चा है कि इस दिग्विजय से तुम कीर्ति के शिखर पर पहुँच गये हो। तुम-जैसे दिग्विजयी वीर को मुझ-जैसा ऋषिकुमार क्या लिख सकता है? फिर भी इस पत्र को दिग्विजयी कर्ण के रूप में मत पढ़ना, एक मित्र के रूप में पढ़ना। मुझे विश्वास है कि तुम इस पत्र का अवश्य स्वागत करोगे। तुम्हें मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मित्र के पत्र में कोई त्रुटि होने पर तुम क्रुद्ध नहीं होगे।

पांचाल, कोसल, विदेह, कौशिकी, कच्छ, कामरूप, बंग, मगध आदि देश जीतते हुए तुम अश्वगति से चले जा रहे हो। क्षण-भर को जबतक तुम उनके राज्य में होते हो, तबतक वे तुम्हारे अधिकार को मान्य करते हैं। परन्तु जैसे ही तुम आगे बढ़ जाते हो, वे पुनः अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्न करने लगते हैं। ध्यान रखो, सबको अपनी संस्कृति प्राणप्रिय होती है। और वह होनी भी चाहिए, क्योंकि वही सजीवता का लक्षण है। अस्तित्व गँवाकर जीने के लिए क्षुद्र कौआ भी तैयार नहीं होता। इसलिए सबको जीता जा सकता है केवल प्रेम से ही। यों मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुमने अपने व्यवहार से भी सबको जीत लिया होगा। धन, सम्पत्ति, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की प्राचीरें कितनी ही दृढ़ क्यों न हों, किन्तु अन्त में मृत्यु के महादिग्विजयी सम्राट् से वे मनुष्य की रक्षा कर ही नहीं सकतीं। उसके लिए एक ही प्राचीर समर्थ सिद्ध होती है, और वह है मन की।

स्वधर्म के अनुसार इस छोटे-से पत्र में भी तुमको तत्त्वज्ञान ही सुनाने लग गया हूँ। यह पढ़कर शायद तुम उकता जाओगे। इसलिए तत्त्वज्ञान अब इतना ही रहे।

समस्त सेना के साथ मार्गक्रमण करते समय इस रमणीय देश का विविध स्वरूपों में तुम दर्शन करते होगे। इससे तुम्हारा प्रकृति-प्रेमी मन सदैव आनन्दित रहता होगा। किसी कलकल करती बहती हुई नदी का दर्शन करते समय होनेवाला आनन्द, विविध वर्गों के पूर्ण विकसित कमलों से भरे हुए सरोवर पर चक्कर काटते हुए पुष्ट भ्रमरों के गुंजन सुनते समय होनेवाला आनन्द, पंख पसारकर प्रफुल्ल प्रकृति को स्नेहपूर्ण आह्वान देनेवाले मयूर को नृत्यमग्न देखते समय होनेवाला आनन्द, आकाश के नीले वस्त्र को अपनी सतरंग की किनारी लगानेवाले इन्द्रधनुष को देखते हुए होनेवाला आनन्द-ये सब आनन्द मेरी दृष्टि में दस युद्धों में मिली हुई विजय के आनन्द से भी अधिक सरस हैं। इस दृष्टि से तुम्हारी दिग्विजय तो दुहरी सफलता है। अस्तु।

अब थोड़ा-सा हस्तिनापुर के सम्बन्ध में :

- मैं सदैव नगर के बाहर विष्णु-मन्दिर में देव-दर्शन के लिए जाता हूँ। वहाँ पत्थरों की दरार में उस पीपल के पौधे का भी दर्शन होता है, जो मैंने तुम्हें दिखाया था। इन दो महीनों में कितनी तेजी से बढ़ा है वह। यहाँ आने के बाद जब तुम उसको देखोगे, तब तुम भी उसकी प्रशंसा ही करोगे। वह मुझको सदैव तुम्हारा स्मरण करा देता है। अस्तु।

हम सब तुम्हारे आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन सब जनों में वृषाली भाभी और तुम्हारे कुटुम्बी जन भी हैं। शोण को स्नेहपूर्ण वन्दन। अरे हाँ, इस पूरे पत्र में महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त आया ही नहीं। इधर तुम दिग्विजय के लिए निकले, उधर दूसरे ही दिन द्वारका से राजमाता कुन्तीदेवी नगर में आ गयीं। महामन्त्री विदुर की पर्णकुटी में ठहरी हैं वे। मुझे तो ऐसा लगता है कि महामन्त्री ने ही उनको बुलवा लिया है। उनके दर्शन भी कभी-कभी हो जाते हैं। विशेष बात यह है कि एक बार यों ही मुझको विदुर की पर्णकुटी में जाने का अवसर मिला, उस समय राजमाता के रूप में उनकी वन्दना करते हुए उनके चरण देखकर मुझको बड़ी तीव्रता से तुम्हारी याद आयी। कितनी समता है तुम्हारे और उनके संकुचित होते हुए चरणों में !

ठीक है, अब पत्र समाप्त करता हूँ। क्योंकि जो कुछ तुमको बताने योग्य है, वह सबका सब यदि लिखा जाये तो इस भूर्जपत्र के विपुल पन्ने भर जायेंगे। शेष कुशल।

तुम्हारा सस्नेह,
अश्वत्थामा"

अन्त में उन्होंने पत्र में 'स्नेहबद्ध' शब्द काटकर उसके स्थान पर 'सस्नेह' परिवर्तन कर दिया था। बन्धन की कोई भी कल्पना मन पर लाद लेना, यह शायद उनके आध्यात्मिक मन

को अच्छा न लगा होगा। उस पत्र ने मेरे मन को विलक्षण प्रसन्नता दी। परन्तु भैया विचारमग्न और कुछ अस्वस्थ से हो गये।

"पत्रोत्तर क्या भेजा जाये ?" मैंने पूछा।

"नहीं। उनको कोई भी उत्तर मत भेजो।"

पन्द्रह

राजा भानुमन्त के सचिव ने कलिंग राज्य में प्रेक्षणीय स्थलों की नामावलि बताते समय महेन्द्र पर्वत का भी उल्लेख किया। पर्वत और प्रेक्षणीय यह विचार कम से कम मुझे तो विचित्र ही लगा। वो पर्वत प्रेक्षणीय होते हैं, परन्तु दूर से। क्योंकि उनका उल्लंघन करते समय कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका अनुभव हम कर ही रहे थे। मैंने सचिव से पूछा, "आपका वह महेन्द्र हिमालय की अपेक्षा भी प्रेक्षणीय है क्या ?"

"निश्चय ही। जैसे सूर्य-किरणों में हिमालय के शिखर चमकते हैं, वैसे ही इस महेन्द्र के शिखर पर एक परशु चमकता है।

"परशु ? कैसा ?"

"हाँ, परशु ही। जमदग्नि-पुत्र परशुराम आश्रम स्थापित कर इस पर्वत पर निवास कर रहे हैं। प्रत्येक अमावस्या और पौर्णिमा को महेन्द्र की चढ़ान पर धीरे-धीरे उतरकर अपना वरूणद्वत पूर्ण करने के लिए वे पूर्वी समुद्र के फेनिल जल में छाती तक खड़े होकर वहाँ सूर्य को अर्घ्यदान करते हैं। उनके दर्शनों के लिए अमावस्या और पौर्णिमा को सागर किनारे भीड़ का पार नहीं होता। स्याह काली घनी दाढ़ी में लहरों के तुषार कल संचित कर लेनेवाले भगवान परशुराम बड़े ही विलोभनीय दिखाई देते हैं।"

"भगवान परशुराम !" महेन्द्र पर्वत पर जाया जाये क्या-एक विचार क्षण-भर को मन में झाँक गया, परन्तु सैन्य को छोड़कर स्वयं कैसे जाया जाये, भैया का यह प्रश्न मेरे लिए नितान्त अपेक्षित था। राजपुर छोड़कर हम लोगों ने महेन्द्र पर्वत का चक्कर लगाया। उस पर्वत के नीले-नीले शिखर दृष्टि से ओझल होने लगे। कर्णिकार, कटकरंजा, नन्दी, धावा, धामनी, जामुन आदि विविध प्रकार के वृक्षों को आश्रय देनेवाले वे उदारहृदय शिखर सिर पर तुषार का शुभ्र किरीट धारण कर भगवान् परशुराम के आश्रम की शुचिता प्रकट कर रहे थे।

महानदी के किनारे-किनारे दक्षिण कोसलों का राज्य पार कर हम विदर्भ की सीमा पर जा पहुँचे। विदर्भ ! श्रीकृष्णपत्नी रुक्मिणी का देश ! हस्तिनापुर की पूर्व दिशा का सम्पूर्ण

प्रदेश समाप्त हो गया था। अब दक्षिण दिशा की दिग्विजय प्रारम्भ हो गयी थी। माघ समाप्त होकर फाल्गुन का आगमन हो जाने कारण दोनों तटों पर नीम, पीपल, शाल्मली आदि के वृक्ष सुकोमल पल्लवों से मृदुल सरसर करके यह सूचना देने लगे थे कि अब जल्दी ही वसन्त ऋतु आयेगी। वसन्त के स्वागत से पहले विदर्भराज रुक्मी को अंगराज कर्ण का स्वागत करना पड़ेगा। रुक्मी श्रीकृष्ण का आप्तेष्ट था। हमारे सेनापति की तीव्र इच्छा थी कि वह सन्धि कर ले। इस आशय का सन्देश देकर विदर्भ की राजनगरी कुण्डिनपुर को दूत भी भेजा गया था। परन्तु उसने सन्धि करने से इनकार कर दिया। वीणा और भद्रा नदी पार कर हमारी सेना विदर्भ की सीमा में घुसी।

पयोष्णी नदी के तीर पर स्थित कुण्डिनपुर को प्राप्त करने के लिए पवनवेग से हम मार्ग द्वारा आक्रमण कर रहे थे, परन्तु बीच में ही भोजकोट नगर में रुक्मी की अपार सेना फैली हुई देखकर हम सबको आश्चर्य का आघात लगा। यह राजा राजनगरी छोड़कर यहाँ बीच में ही कैसे रुका हुआ है, इसका पता लगाते समय जो विदित हुआ वह तो एकदम चकित कर देनेवाला था।

भगिनी रुक्मिणी श्रीकृष्ण-जैसे गोपाल को नहीं, शिशुपाल को देनी चाहिए-इस बात के लिए इस हठी राजा ने अपने पिता राजा भीष्मक का स्पष्ट विरोध किया था। उस स्थिति में, जब श्रीकृष्ण ने कुण्डिनपुर से रुक्मिणी का हरण किया था, उस समय यह घोर प्रतिज्ञा करके वह नगर से बाहर निकला कि रुक्मिणी को मुक्त कर वापस लाकर शिशुपाल को ही दूँगा, अन्यथा कुण्डिनपुर में पुनः पैर भी नहीं रखूँगा। उसने रथ में रुक्मिणी को बैठाकर भागनेवाले श्रीकृष्ण को राज्य से बाहर भी न जाने दिया तथा बीच में ही रोककर उनपर प्रबल आक्रमण कर दिया। श्रीकृष्ण ने उसको पराजित कर उसका सिरच्छेद करने के लिए अपना खड्ग उठाया। रुक्मिणी ने बीच में पड़कर अपने बन्धु के प्राण बचाये। तब से आज तक अनेक वर्ष बीत गये, वह कुण्डिनपुर में गया ही नहीं। यह भोजकोट बसाकर अकेला ही वहाँ रहता था। उसके निग्रही विरोध का अनुभव हमें भी करना ही था।

श्रीकृष्ण के सामने जाकर युद्ध करनेवाला रुक्मी हमारी शरण में आ जायेगा, यह सम्भव नहीं था। बल्कि कुण्डिनपुर से विदर्भ की अपार जीवट सेना लेकर आये हुए उसके रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली-ये चार अतिरथी कनिष्ठ बन्धु भोजकोट में आकर उससे मिल गये थे। इसलिए और अधिक निश्चय से वह युद्धप्रवृत्त होकर अपनी सेना में चक्कर काट रहा था और सेना को सावधान कर रहा था।

हम आशा कर रहे थे कि मगध के बराबर विरोध करने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं होगा; परन्तु रुक्मी उस धारणा को मिथ्या सिद्ध करने के लिए हमारे सामने आ डटा था। मगधों की तरह घात-प्रतिघात न करते हुए सीधा समरांगण में आया हुआ रुक्मी मुझे मगधों से श्रेष्ठ लगा। भोजकोट के निकट विशाल युद्ध-भूमि पर उसके और हमारे सैनिकों की मुठ

भेड़ हुई। मानो दो सैन्य-समुद्र ही एक-दूसरे से भिड़ गये हों। विदर्भ ने ऐसा संग्राम कभी देखा न होगा।

स्वयं भैया गर्जना करते हुए रुक्मी राजा से जा भिड़े। एक-दूसरे से टकरानेवाले बाणों से स्फुलिंग उड़ने लगे। मानो वे कह रहे थे कि 'हम विदर्भीय हैं ! भीष्मक राजा के पुत्र ! रुक्मिणी के बन्धु !' पहले पूरे दिन उन दोनों में तुमुल धनुयुद्ध हुआ। कोई किसी को पराजित नहीं कर सका।

दूसरा दिन उदित हुआ। हाथ में गदा लेकर रुक्मी अपने सैन्य को सचेत करता हुआ विक्षुब्ध होकर कुरुसेना से टकराया। गदा लेकर, रथ से उतरकर-पदस्थ होते हुए अंगराज भी उसके सामने पहुँचे। शंखों के घोष कानों के परदे फाड़ने लगे। मृदंग की ध्वनि पर वे दोनों ही प्रभावशाली ढंग से मण्डलाकार घूमने लगे। राधामाता की सूचना के अनुसार मैं युद्ध के अवसर पर भैया के समीप ही रहने का यथाशक्ति प्रयत्न किया करता। इसलिए उनको समरांगण में चपलतापूर्वक लड़ते हुए देखकर, मीनाक्षी को कन्धे पर बैठाकर खिलानेवाले वसु भैया यही हैं क्या, यह सन्देह मुझको हो रहा था। जितनी सरलता से मैं घोड़े की पीठ पर प्रतोद उठाता था, उतने ही सहज भाव से वे हाथ में लिये गदा को घुमा रहे थे। बीच-बीच में रुक्मी के प्रहार व्यर्थ करने के लिए ऊँची उछाल भर रहे थे। उन दोनों को क्रुद्ध-आरक्त नेत्रों से एक-दूसरे पर आक्रमण करते देखकर ऐसा आभास हो रहा था जैसे दो उन्मत्त हाथी एक-दूसरे से भिड़ रहे हैं। वे निरन्तर अविश्रान्त भाव से प्रहार पर प्रहार कर रहे थे, नियमानुसार प्रभावशाली ढंग से मण्डलाकार घूम रहे थे। बीच-बीच में स्वेद के कारण किसी न किसी के हाथ की गदा छूटकर नीचे गिर रही थी, वह जबतक उसको उठा न लेता, तबतक दूसरा व्यक्ति प्रहार न करते हुए केवल मण्डलाकार घूमता ही रहता। उनके भुजदण्डों के स्नायु तनकर फूले हुए थे। कपाल से स्वेद के निर्झर बह रहे थे। दूसरा दिन भी अस्त हुआ। कोई भी पराजय स्वीकार नहीं कर रहा था।

तीसरे दिन खड्ग युद्ध और चौथे दिन तोमर युद्ध हुआ, फिर भी रुक्मी हटा नहीं। भैया भी हार नहीं मान रहे थे। इन चार दिनों में दोनों सेनाओं के सैकड़ों वीर धराशायी हो गये थे। क्या किया जाये ? युद्ध का निर्णय नहीं हो पा रहा था। पाँचवाँ दिन किरणों की सेना लेकर आया। दोनों सेनाएँ जैसे ही आमने-सामने आकर खड़ी हुई, हाथ उठाकर अंगराज ने वाद्यों की ध्वनि बन्द करवायी। हमारे वाद्य बन्द होते ही विदर्भों ने भी वाद्य-ध्वनि बन्द कर दी।

"रुक्मी, विदर्भ राज्य जीते बिना मैं यहाँ से वापस नहीं जाऊँगा। दोनों सेनाओं का विनाश यदि रोकना है तो नीचे उतरो और इस कर्ण से सीधा द्वन्द्व खेलो।"

खाड़ऽऽ खाड़ऽऽ...

भैया के रथ से आह्वान के बाद ताल ठोंकने की जोरदार आवाज गूँज उठी।

"कर्ण, तुम विदर्भ को जीत नहीं पाओगे। आओ, किसी भी युद्ध के लिए रथ से नीचे उतरों। मैं तैयार हूँ।" खाड़ SSS खाड़ SSS ! उस आह्वान का रुक्मी की ओर से उत्तर मिला। आखिर वह रुक्मिणी का भाई था।

क्षण-भर में रक्तवर्णी मिट्टी बिछाकर द्वन्द्व का अखाड़ा तैयार किया गया। अपने-अपने सेनानायकों पर दृष्टि केन्द्रित कर दोनों सेनाएँ ज्यों की त्यों खड़ी हो गयीं। तटस्थ ! तटस्थ सेनाओं के मध्य एक-दूसरे के मस्तक से मस्तक भिड़ाकर वे इस प्रकार द्वन्द्व-युद्ध करने लगे जैसे दो पर्वतों के बीच क्रुद्ध शार्दूल टकरा रहे हों। विदर्भों की राजनगरी अनेक योजन दूर थी, परन्तु उसकी प्रतिष्ठा उस अखाड़े की मिट्टी पर झोंके खाने लगी। वे एक-दूसरे को आहत करने के लिए ऐसे गुंथ पड़े जैसे दो अजगर एक-दूसरे को कुण्डली में लपेट रहे हों। प्रथम प्रहर समाप्त हुआ। सूर्य ऊपर चढ़ने लगा। दोनों की देह पर स्वेद पोंछने के लिए बार-बार राख मली गयी। राख के लेप से वे दोनों ही विद्रूप दिखाई देने लगे। द्वितीय प्रहर समाप्त हुआ। ...अब रुक्मी भैया की देह का स्पर्श टालने लगा। उसके हावभाव ऐसे होने लगे जैसे अग्नि का स्पर्श हो रहा हो। इतने में ही भैया ने अत्यन्त चपलता से हलचल की। बाहुकण्टक से पहले होनेवाली हलचल थी वह। बाहुकण्टक ! प्राण घातक दावँ ! मैं यह विचार कर ही रहा था कि हमारे वीर सेनापति ने रुक्मी को गठरी की तरह बाँधकर जाँघों के नीचे दबा लिया। हाथों के पाश उसके गले के आसपास कसे जाने लगे। एड़ियाँ घिसता हुआ वह गतप्राण होनेवाले भुजंग की तरह छटपटाने लगा। असहाय ! दयनीय ! प्राणान्तक!

"रुक्मी, शरण आओ !" भैया गरज उठे। दायें हाथ का अंगूठा उठाकर रुक्मी शरण में आया। पाश शिथिल हुआ। प्राणदान मिला।

"अंगराज कर्ण !"

"जयतु !" हमारी सेना के अवरुद्ध श्वास घोषणाओं से बाहर निकलने लगे। तटस्थ सैनिक कुण्डिनपुर की ओर जाने के लिए छूट पड़े-हरिणों के झुण्ड की तरह।

पराजित रुक्मी सिर झुकाकर वापस लौट जायेगा, हमारा यही अनुमान था; परन्तु अंगराज का दायँ हाथ पकड़कर उसको ऊँचा उठाता हुआ वह दोनों सेनाओं से बोला, "अंगराज कर्ण-जैसा वीर सम्पूर्ण आर्यावर्त में नहीं है। मैं विदर्भराज रुक्मी उनका स्वागत करता हूँ। मुड़कर उसने हमारे सेनापति को आलिंगन में बाँध लिया।

वह अपूर्व दृश्य देखकर उन्मत्त होकर मैंने भी घोषणा दी, "विदर्भराज रुक्मी की.."

"जय हो !" दोनों सेनाओं ने साथ दिया।

अश्वत्थामा के पत्र के कुछ विचार मेरे मन में चक्कर लगा रहे थे, "प्रत्येक को अपनी संस्कृति प्रिय होती है...और होनी भी चाहिए। यही जीवन का लक्षण है। ...सबको प्रेम से ही

जीता जा सकता है। तुम्हारी दिग्विजय दुहरी यशस्वी है।..."

सोलह

रुक्मी को साथ लेकर ही हमने कुण्डिनपुर में प्रवेश किया। अपनी सेना की पराजय हो गयी है, इस खेद की अपेक्षा, पुत्र पैंतीस वर्ष बाद नगर में लौट आया है। यही सन्तोष भीष्मकराज को अधिक हुआ। विदर्भ के पुरातन राजभवन की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते अंगराज एक विशेष सीढ़ी पर रुक गये, जैसे पहले मिथिला में रुके वे वैसे ही। वही भाव! वही विचारमग्न शान्ति। वे ही भावपूर्ण पानीदार नीली आँखें।

"रुक क्यों गये?" मैंने पूछा।

"शोण, सब लोग यह मानते हैं कि श्रीकृष्ण ने बलात् रुक्मिणी का हरण किया; परन्तु वह अनुचित है। उन्होंने रुक्मिणी की रक्षा की है। रुक्मिणी का विवाह यदि शिशुपाल से हो जाता, तब ? निश्चय ही पीहर छोड़ते ही वह इस पयोष्णी नदी में कूद पड़ी होती। इसी सीढ़ी पर, श्रीकृष्ण के साथ बाहर निकलते समय आनन्द के तथा अपने भाई के मन को ठेस पहुँचाने के कारण दुख के मिश्रित आँसू उस वीर स्त्री के नेत्रों से ढुलक पड़े होंगे।" वे क्षण-भर भावविभोर हो गये। एकटक उस सीढ़ी की ओर देखने लगे।

मन ही मन वन्दन कर हम उस सीढ़ी पर चढ़े। भीष्मक राजा ने लटवाक पक्षियों के मधुर मांस का भोजन आग्रहपूर्वक सबको परोसा। वह दिन फाल्गुन की पौर्णिमा का था, इसलिए सन्ध्या समय के लगभग हम कुण्डिनपुर छोड़कर पुलिन्दों के राज्य की ओर चल पड़े। रुक्मी ने सीमा तक आकर हमको विदा किया। जय-पराजय की सीमारेखाएँ खेह में विलीन हो गयीं।

तापी नदी पार कर विन्ध्यपर्वत की ओर हमारा प्रवास प्रारम्भ हो गया। इस विन्ध्यपर्वत के किनारे से एक मार्ग दक्षिण की ओर गया था। उसको दक्षिणापथ कहते थे। उस मार्ग से दक्षिण की ओर बहुत नीचे जाने पर अश्मक, गोप और मल्ल-इन तीन राष्ट्रों का मिलकर महारट्ट देश था। दक्षिणापथ इतना संकीर्ण था कि उसपर हमारे अजस्र हाथी चल नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त मध्य में घनघोर दण्डकारण्य था। इस जैसा घना अरण्य इससे पहले हमको कहीं दिखाई नहीं दिया था। इसीलिए महारट्ट देश छोड़कर हम पुलिन्द देश को लक्ष्य बनाकर उत्तर की ओर मुड़ गये थे। वैसे महारट्ट की गणना आर्यावर्त के अन्तर्गत होती भी नहीं थी।

दक्षिणापथ छोड़कर विन्ध्य के किनारे से हमारी सेना ने नर्मदा पार की। निषध पर्वत सामने आया। इस निषध पर्वत पर ही निषादराज हिरण्यधेनुक का पुत्र एकलव्य रहता था।

गुरु द्रोण को दक्षिणा के रूप में हाथ का अँगूठा देकर सभी शिष्यों में अग्रस्थान प्राप्त करनेवाला एकलव्य सिंह की तरह उस पर्वत पर निर्भय विचरण करता था। अँगूठा न होते हुए भी बीच की दो उँगलियों से प्रत्यंचा तानकर हिंस्र पशुओं को तथा शत्रुओं को लक्ष्य बना रहा था। हमारे कुशल दूत सभी जानकारी प्राप्त कर प्रतिदिन हमारे पास आया करते थे। उन्होंने एकलव्य को देखा था। पर इच्छा होने पर भी वह अवसर हम लोगों को मिल ही नहीं सका।

निषध और शुक्तिमत् इन दो पर्वतों के बीच एक घाटी थी। उसी में से होकर अपनी सेना को पुलिन्द ले जाने के लिए हम विवश थे। पहले पदाति बाहर निकालकर हमने इस बात की आहट ली कि सम्मुख स्थित पुलिन्द राज्य सचेत हो गया है क्या। वे शान्त थे। कदाचित् उन्होंने सुविधानुसार यह सोच लिया होगा कि हमारी सेना विन्ध्य, निषध और शुक्तिमत् इन पर्वतों की लम्बी आड़ी पंक्ति लाँधकर नहीं आयेगी। परन्तु बाँबी में से जैसे चींटियाँ अविरत बाहर दौड़ती रहती हैं, वैसे ही बाटी से बाहर निकलकर फैले हुए लक्ष-लक्ष सैनिकों को देखते ही पुलिन्द नगर के अधिपति सुकुमार और सुमित्र दोनों भाई सावधान हो गये। पुनः संग्राम, पुनः रक्तपात, पुनः बाण-वर्षा। अब तो यही हमारा जीवन हो गया था। जो कोई मिले, उसका सामना करने के लिए ही हम बाहर निकले थे। एक दिन में ही पुलिन्द का पतन हो गया। उनको इतना भी अवसर नहीं मिला था कि धैर्यपूर्वक प्रतिकार करने के लिए संगठित होते। सुकुमार और सुमित्र दोनों ही युद्ध में मूर्छित हो गये। हमारे वैद्यों ने ही उन्हें सचेत किया। यों हमारी शत्रुता तो किसी से नहीं थी। जो विरोध था, वह चैतन्य शरीर के भीतर 'अजेय-अजेय' कहलानेवाले अहंकारी मन से था। अचेतन शरीर से नहीं। हमारे सेनापति ने हमको यही शिक्षा दी थी। निःशस्त्र, मूर्छित, शरणागत, सेवक और स्त्रियों पर शस्त्र चलानेवाले के लिए एक ही दण्ड था। उसी शस्त्र को वह अपने हाथों से अपने ही ऊपर समस्त सेना के सामने चला ले। निःशब्द भाव से, प्राण छूटने तक। परन्तु ऐसा अवसर कभी हमारे किसी सैनिक पर नहीं आया। उसका श्रेय सेनापति के अनिन्द्य, निष्कलंक चरित्र को था। उनका आदर्श हिमालय की भाँति सबके सम्मुख शुभ्रभाव से खड़ा था, वे जिसको अर्घ्यदान देते थे उस अलाँछन, दीप्तिमान् सूर्य की तरह।

पुलिन्दराज से सम्पत्ति के रूप में कर ग्रहण कर हमने शिशुपाल के नगर शुक्तिमती की ओर प्रयाण किया। दिन और रात के धवल-श्याम पुष्प गूँथता हुआ कालरूपी माली, माला बनाने का प्रयत्न करता हुआ पालथी मारे बैठा था। इन चार महीनों में उसने कितने पुष्प अपनी माला में गूँथे थे, इसका हमें पता नहीं था।

सत्रह

दशार्णा नदी में नागरमोथा के पौधों को कुचलते हुए हमने चेदिराज शिशुपाल की शुक्तिमती राजनगरी को चारों ओर से घेर लिया। शिशुपाल इन्द्रप्रस्थ में मारा जा चुका था, इसलिए उसका पुत्र धृष्टकेतु चेदियों का नेतृत्व कर रहा था। जीवन-भर श्रीकृष्ण से वैर करनेवाले राजा का पुत्र था वह।

उसने अपनी भगिनी करेणुमती नकुल को दी थी, इसलिए पाण्डवों से उसके सम्बन्ध घनिष्ठ हो गये थे। वह हमारा विरोध करेगा, यह निश्चित था; परन्तु जो विजय पर विजय ही प्राप्त करते जा रहे थे, ऐसे कुरु सैनिक अब किसी के भी सामने झुकनेवाले नहीं थे।

शुक्तिमती का रक्षण करने के लिए धृष्टकेतु अपने बन्धुओं सुकेतु, करकर्ष तथा शरभ के साथ एक एक दिशा से होकर हमारी सेना से भिड़ गया।

वेत्रवती के किनारे पुनः अस्त्रों के स्फुलिंग अन्तरिक्ष में उड़ने लगे। वीर योद्धाओं की गर्जनाओं से वेत्रवती की थिरकती हुई लहरें और अधिक स्पन्दित होने लगीं। पात्र बाणों से भरा जाने लगा। धृष्टकेतु महान् योद्धा था। इतनी चपलता से वह चारों दिशाओं में घूमकर अपनी सेना को प्रोत्साहित कर रहा था कि सभी सैनिकों को बार-बार उसके दर्शन हो रहे थे। हमारे सैनिक तो यह समझने लगे कि धृष्टकेतु चार हैं। अपने पिता की साहसी दृढ़ता उसकी नस-नस में भरी हुई थी; परन्तु हमारा सेनापति स्थान-स्थान पर उसको पकड़कर निःशस्त्र कर रहा था। दो प्रहर तक चेदि दृढ़ता से लड़ते रहे; परन्तु जैसे ही भैया के एक मर्मभेदी बाण से धृष्टकेतु घायल होकर नीचे गिरा, उनका आत्मविश्वास टूट गया। महाबाढ़ में जैसे वेत्रवती का जल स्वच्छन्द दौड़ता है, वैसे ही वे भागने लगे। घायल अवस्था में भी वीर धृष्टकेतु घाव को हाथ से दबाकर अपनी सेना को रोकने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। चेदि देश का पतन हो गया। हमारी विजयी सेना ने शुक्तिमती में घुसकर वेत्रवती के जल को मथकर गैदला कर दिया।

इस नगर के ठीक उत्तर में मथुरा राज्य था। उस मार्ग से दूत हस्तिनापुर की ओर सूचना लेकर चल पड़ा। जाते हुए वह मथुरा में रुककर श्रीकृष्ण द्वारा सिंहासन पर बैठाये गये उग्रसेन राजा को हमारे अतलसी राजवस्त्र तथा सुवर्ण मुद्राएँ भेंट करनेवाला था। भैया की प्रतिज्ञा के अनुसार हमें मथुरा पर आक्रमण नहीं करना था। इसीलिए यह विशिष्ट भेंट थी।

चेदिराज्य छोड़कर भोजराज्य की ओर हमारी यात्रा प्रारम्भ हो गयी। राजा थे पिता-पुत्र कुन्तिभोज और पुरुजित्। उनका राजनगर भोजपुर अश्वनदी के तीर पर बसा हुआ था। फाल्गुन मास समाप्त होने जा रहा था। अब वसन्त ऋतु का राज्य अवनीतल पर अवतरित होनेवाला था। वसन्त के कारण प्रफुल्लित धरती के पूर्णांग सौन्दर्य को जी भर देखते हुए, पारा-पातालवती आदि नदियाँ पार करते हुए हम भोज राज्य में चर्मण्वती के किनारे पर आये। चर्मण्वती ! निषध पर्वत की घाटियों को चीरती हुई दौड़नेवाली जलदायिनी। टेढ़ी-मेढ़ी मुड़ती हुई वह आगे चलकर यमुना में मिल जाती है और फिर यमुना से गंगा में।

जिस स्थान पर चर्मण्वती हमारे सामने आयी थी, वह था अश्वनदी का और चर्मण्वती का मनोरम संगम। अश्वनदी ! यों तो हमने अपनी यात्रा में अनेक नदियाँ पीछे छोड़ी थीं। उनके नाम भी अब मुझको अच्छी तरह याद नहीं। परन्तु अश्वनदी का नाम मैं कभी भूल नहीं सकता था। हो सकता है कि सारथिपुत्र होने के कारण उसके नाम का 'अश्व' मुझे बहुत अच्छा लगा हो। कुछ भी हो, उस नाम में निश्चय ही आकर्षण था। संगम तीर पर खड़े रहते समय भैया के मन का भाव जानने के लिए मैंने उनसे पूछा, “अश्वनदी-यह नाम तुम्हें कैसा लग रहा है ?”

“वह अश्व की तरह दौड़ रही है, इसलिए यह नाम उचित ही है। इसके पानी पर पलनेवाले भाग्यवान् भी जीवन-भर अश्व की तरह ही दौड़ते रहते होंगे।” उन्होंने अश्वनदी की ओर देखते हुए उत्तर दिया। इतने में ही एक गोपकन्या पानी पिलाने के लिए शुभ्रवर्णी गाय को लेकर वहाँ आयी। एक मोहक बछड़ा भी उस गाय के साथ था। वह उसके थनों पर आघात करने का प्रयत्न कर रहा था; परन्तु गाय जल्दी-जल्दी पानी में घुस गयी थी, इसलिए वह अपनी पूँछ का गुच्छ ऊपर उठाकर उसके बाहर आने की राह देख रहा था। अश्वनदी में एक सूखी हुई लकड़ी का कुन्दा हिचकोले खाता हुआ बहता जा रहा था। गोपकन्या का आँचल हवा के झोंकों से फरफरा रहा था। मुझे तो दृश्य बड़ा ही मनमोहक लगा। कितना सहज-सुन्दर था वह ! शुभ्र ! सबकी वन्दनीय गाय । निरागस वत्स । कलकल बहती हुई नदी। मैं तो स्तब्ध हो गया था।

परन्तु हमारे सेनापति को न जाने क्या हुआ ! वे वायुजित् पर से सहसा कूद ही पड़े। आगे बढ़कर, संगम के पानी में घुसकर वे उस गाय का कण्ठबन्ध पकड़कर उसको खींचते हुए पानी से बाहर ले आये। शायद वे उस बछड़े की विवशता देख नहीं सके। वे गाय को जल से बाहर लाये तो सही, परन्तु योद्धा का वेष होने के कारण उनसे बिदका हुआ वह बछड़ा उछलता-कूदता कहीं दूर चला गया। न जाने कहाँ ! नदी में लकड़ी का कुन्दा भी हिचकोले खाता हुआ दूर जाने लगा। गाय का कण्ठबन्ध ज्यों का त्यों हाथ में पकड़े हुए हमारा दिग्विजयी सेनापति अश्वनदी में हिचकोले खाते जानेवाले कुन्दे की ओर अपलक दृष्टि से देखता हुआ ज्यों का त्यों खड़ा रहा। उसके एक हाथ में कुरुओं का राजदण्ड था और दूसरे में गाय का कण्ठबन्ध ।

“जाने दो। किसी-किसी का भाग्य ही ऐसा होता है। तुमने जिसके लिए इतना परिश्रम किया वह बछड़ा ही भाग गया।” मैंने उनके कन्धे पर हाथ रखा।

“भाग्य ? दिग्विजयी सेना लेकर युद्ध करते फिरते हो और फिर भी भाग्य के ही गीत गाते हो ?” वे बुरी तरह गरज पड़े।

“भाग्य नहीं तो और क्या ?” मैंने सिर झुका लिया। मैंने क्या अनुचित कहा था यही मेरी समझ में नहीं आया।

"शोण, भाग्य मानव द्वारा निर्मित सबसे अधिक भयंकर भूल है। उसको मनुष्य के जीवन से जोड़कर प्रत्येक व्यक्ति सदैव सत्य से दूर भागना चाहता है। नदी में बहते हुए उस कुन्दे को देखो। सभी का जीवन ऐसा है। लहरों का सामना करते हुए जीना ही वास्तव में जीना है।" उन्होंने नदी की ओर अँगुली उठायी। हाथ से कण्ठबन्ध छूट जाने से गाय चली गयी।

अठारह

कुन्तिभोज और पुरुजित् को धूल चटाने के लिए हमने चर्मण्वती पार की; अश्वनदी का संगम भी लाँघा। भोजराजा का राजनगर भोजपुर दृष्टिपथ में आया। महामन्त्री विदुर के कथनों में हमने बारम्बार यह सुना था कि इसी नगर में बचपन में राजामाता कुन्ती देवी रहती थीं।

श्रीकृष्ण की बुआ कुन्ती देवी के सम्बन्धी होने के कारण विदर्भराज भीष्मक ने दूत भेजकर कुन्तिभोज और पुरुजित् को सन्धि कर लेने का सत्परामर्श पहले ही दे दिया था। हमने समझा था कि वे हमसे पूरी शक्ति से लड़ेंगे, क्योंकि भोजराज्य दक्षिण आर्यावर्त में मगधों के बराबर ही सम्पन्न राज्य था। शक्तिशाली सैन्यदल और श्रीकृष्ण का आधार-इसलिए भोजपुर में हमको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा, यह दृढ़ निश्चय करके ही हमने चर्मण्वती पार की थी; परन्तु जो कुछ घटित हुआ वह सर्वथा अनपेक्षित था। और फिर यह विश्व, मानवी जीवन और दिग्विजयी युद्ध-यह त्रयी अनपेक्षित आघात देनेवाली ही है।

पुरुजित्-कुन्तिभोज ने हमारे कण्ठ में पारिजात की मालाएँ डालीं। पारिजात की मधुर सुगन्धित मालाओं की सुगन्धसहित हमने भोजपुर में प्रवेश किया। भोजपुर ! चर्मण्वती के संगम के लिए उत्सुक अश्वनदी के तट पर बसी हुई रमणीय नगरी। अपनी यात्रा में हमको भोजपुर-जैसा आकर्षक दूसरा नगर अब तक दिखाई ही नहीं दिया था। सभी भवन योजनाबद्ध बनाये गये थे। मार्ग प्रशस्त थे। दोनों ओर अशोक और आम्र के विशाल घेरेवाले वृक्ष छाया कर रहे थे। वसन्त के आगमन से वे बौराये थे। उनकी काषाय मधुर गन्ध चारों ओर महक रही थी। उससे पुलकित हुए कोकिल सप्तस्वरोँ में तान ले रहे थे। अब उनके ही दिन थे-उड़ानों के, कूकने के।

एक कोकिला की तान सुनकर हमारे प्रकृतिप्रेमी सेनापति ने राजमार्ग पर जाते हुए राजरथ में ही मुझसे कहा, "शोण, इन कोकिलों को सप्तस्वरोँ में कूकते देखकर तुम उनकी आवाज से भावाभिभूत मत हो जाओ। अरे, ये मादा कौआ के घोंसले में पले हुए होते हैं !"

"होने दो ! उनके रहने से उलटा मादा कौआ का घोंसला ही पवित्र हो जाता है।" मैंने कहा।

नगर में भवनों के सौध-सौध पर आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष उत्सुक होकर अनुपम सौन्दर्यशाली, अद्वितीय शौर्यपुरुष हमारे सेनापति के दर्शन करने के लिए सटकर घिचपिच खड़े थे। सदैव दोनों हाथ जोड़कर सबके प्रेम को स्वीकार करनेवाले भैया भोजपुर के राजमार्ग पर अपनी उस राजयात्रा में कन्धे पर पड़ा हुआ सुवर्णमण्डित 'विजय' धनुष एक हाथ से ऊँचा उठाकर भोजराज्य के नागरिकों के प्रेम को स्वीकार कर रहे थे। दूर अश्वनदी का एक मोड़ सूर्य-किरणों में चमक रहा था। समस्त नगर लताओं, आम्रशाखाओं और कमलपुष्पों की घनी मालाओं से सुसज्जित था। नन्हे-नन्हे बकुलपुष्पों की बौछार वायुजित् पर पड़ रही थी।

भोजों का नेतृत्व करनेवाले पिता-पुत्रों के साथ हम राजभवन पहुँचे। भोजपुर का राजप्रासाद यद्यपि प्राचीन था तथापि अत्यन्त सुदृढ़ था। जिस समय हमने उस भवन में प्रवेश किया, उस समय सन्ध्या हो चली थी। अस्त होती हुई लम्बी सुनहली किरणें उस पुरातन प्रासाद के शिखर को स्पर्श कर रही थीं। महाद्वार में पैर रखते समय भैया एक क्षण को वहीं ठहरे। अपना नियम उन्होंने कभी तोड़ा नहीं था। उस राजप्रासाद के महाद्वार में से ही उन्होंने सूर्यदेव को सन्ध्या-वन्दन किया।

रात्रि के भोजन के उपरान्त भैया ने उन पिता-पुत्र से कुछ बातचीत की। अन्त में किसी ने सोने की सूचना दी। बहुत दिनों बाद हम मृदुल शय्या पर सोनेवाले थे। लेटते ही प्रगाढ़ निद्रा आनेवाली थी; परन्तु निद्रादेवी मुझपर प्रसन्न नहीं हुई। प्रासाद में किसी एक दासी का सद्योजात शिशु रात-भर अविश्रान्त चिल्लाता रहा। वह उसे शान्त करने का उत्कट प्रयत्न कर रही थी। साथ ही पवन से प्रासाद की गवाक्षं हवा के झकोरों से धड़ाधड़ टकरा रही थीं। हमारे शयनगृह में पत्थर की समई की लौ पवन से जूझती हुई फरफर करती जल रही थी।

लेकिन भैया शान्तिपूर्वक सो रहे थे।

प्रातःकाल नगर छोड़ने से पहले भोजराज ने अपना पुरातन प्रासाद हमें दिखाया। उसमें एक दीवार पर राजा कुन्तिभोज का विशाल चित्र था। उसमें यह दिखाया गया था कि एक वृद्ध दासी राजा के चरणों पर जल उड़ेल रही है। कुन्तिभोज का ऐसा चित्र एक वही था। मुझे वह दासी कहीं देखी हुई-सी लग रही थी। परन्तु निश्चित रूप से कुछ याद नहीं आ रहा था।

"यह वृद्धा कौन है?" भैया ने उस चित्र को देखते ही पूछा। उनके भव्य कपाल पर सिकुड़ने लगी थीं।

"यह यहाँ की धात्री नामक एक विश्वसनीय दासी थी। कुन्तीदेवी के समय वह इस भवन में रहती थी। पाण्डवमाता कुन्तीदेवी जिस समय यहाँ से गयीं, उस समय उनकी यह दासी भी विश्वस्त सेविका के रूप में उनके साथ ही चली गयी। भवन में जो पुराने लोग हैं, वे उसकी बातें सुनाते हैं।" पुरुजित् ने उत्तर दिया।

उस कक्ष के कोने में एक पत्थर की छूटी थी। पुरुजित् ने उसको जैसे ही सरकाया, पुरुष-भर ऊँचा भाग तत्काल दूर हट गया। भीतर भूमार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा।

"यह भूमार्ग कहाँ जाता है ?" भैया ने भीतर झाँककर पूछा। इतने में ही भीतर से एक छोटी चमगादड़ फड़फड़ाती हुई बाहर आयी और हमसे टकराती हुई कक्ष के गवाक्ष से बाहर चली गयी, बड़े ही सहज भाव से। उसके टकराने से भैया का किरीट धक्का पाकर थोड़ा सरक गया।

"यह मार्ग सीधा अश्वनदी के किनारे जाता है।" पुरुजित् ने जानकारी दी। भैया के सौन्दर्यशाली बलदण्ड व्यक्तित्व से वह अभिभूत हो गया था। समस्त जानकारी स्वयं ही बता रहा था।

"इस नदी का नाम अश्वनदी क्यों है ?"

"इसलिए कि यहाँ के अश्व इस नदी के अतिरिक्त अन्य कहीं का पानी नहीं पीते।" पिता-पुत्र एकदम बोले ।

समस्त राजभवन देखकर हम सामने के विशाल प्रांगण में पहुंचे। वहाँ बहुत-से कुंज थे। उनमें से बाहर निकलते समय पत्थर के एक टुकड़े से भैया के पैर को जोर की ठोकर लगी। अभेद्य कवच के कारण घाव नहीं हुआ, इतना अच्छा हुआ। उनके सुनहले केश गरदन पर बिखर गये। भौहें ऊँची कर उन्होंने देखा ।

"ये पत्थर यहाँ बीच में ही क्यों पड़े रहने दिये हैं ?" उन्होंने उस टुकड़े की ओर देखते हुए दोनों राजाओं से पूछा । हमको विदा करने के लिए वे हमारे साथ राजभवन से बाहर आ रहे थे।

"जान-बूझकर पड़े रहने दिये हैं ये। पहले जब कुन्ती यहाँ थी तब महर्षि दुर्वासा एक बार यहाँ आये थे। उन्होंने यहाँ एक महान यज्ञ किया था। ये पाषाण उस यज्ञ-कुण्ड के ही हैं। यहीं कहीं विक्षिप्त दुर्वासा के लिए एक पर्णकुटी भी बनायी गयी थी। सचिव का कहना है कि उनका यज्ञ महान् था। निश्चय ही उससे कुछ महान् ही निष्पन्न हुआ होगा ।" कुन्तिभोज ने जानकारी दी। उनकी शुभ्र दाढ़ी के केश कुंज की मन्द वायु के झोंकों से हिलने डुलने लगे।

"दुर्वासा ! शोण, मैं भूल ही गया। इन....इन्हीं दुर्वासाजी ने मुझे सुवर्ण पत्तियों की भस्म कमल-जल में प्रतिदिन बिना भूले प्राशन करने को कहा था। प्रवास में वह छूट गया; अब अगले विश्राम-स्थल से तुम मुझे स्मरण कराते रहना ।" भैया ने मुझसे कहा।

कुन्तिभोज और पुरुजित् से स्नेह-पूर्वक विदा लेकर हमने चैत्र से सुसज्जित भोजपुर नगरी छोड़ दी—अवन्ती के विन्दानुविन्द को जीतने के लिए, सुराष्ट्र राज्य पर टूट पड़ने के लिए।

कुछ दिनों में ही निषध पर्वत की पादभूमि में चर्मण्वती के उद्गम के पास बसी हुई विन्द और अनुविन्द, बलाढ्य बन्धुद्वय की विख्यात नगरी अवन्ती आ गयी। हिमालय के अखण्ड, सम शिखरों जैसे उन बन्धुद्वय ने हमारा डटकर विरोध किया। परन्तु तीन दिन बाद श्रीकृष्ण के वे फुफेरे भाई—राजधी देवी के पुत्र—भी हमारी शरण में आ गये। अवन्ती का पतन हो गया।

उन्नीस

अवन्ती के बाद माही नदी पार कर मालव देश होते हुए हम मार्गक्रमण कर रहे थे। असन, लोध्र, ढेरा, पानावलि आदि के वृक्ष वसन्तऋतु के आभूषण पहनकर लहलहा रहे थे। पश्चिमीय सागर पर से आता हुआ शीतल पवन सेना को कष्ट दे रहा था। मालवों को पराजित करते हुए स्तम्बतीर्थ पार कर हम सुभ्रमती नदी के तट पर आये। यहाँ मालवों का राज्य समाप्त होता था। यहाँ से आगे दो छोटे देश प्रारम्भ हो रहे थे—आनर्त और सुराष्ट्र।

आनर्त में पश्चिमीय सागर के तट पर—श्रीकृष्ण की द्वारकानगरी। द्वारका जाना नहीं था, इसलिए आनर्त का प्रश्न ही नहीं उठता था। सुभ्रमती के तट पर पड़ाव डाल देने के कारण शिविर में सैन्य की हलचलों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ। सेनापति की सम्मति थी कि सुराष्ट्र देश पर आक्रमण करने से पहले द्वारका दूत भेजकर देख लिया जाये कि श्रीकृष्ण वहाँ हैं या नहीं। तथा उस दूत के हाथों रत्न, हीरे, सुवर्ण और राज्य-वस्त्र से भरे थाल भेंट-स्वरूप द्वारकाधीश को भेजे जायें। उनकी सम्मति अर्थात् आज्ञा ही थी। उस आज्ञा के अनुसार भेंट लेकर पाँच दूत द्वारका की दिशा में मार्गस्थ हो गये। सेनापति कर्ण ने द्वारकाधीश को वह भेंट क्यों भेजी थी, इसका हमको पता नहीं चला। कभी चलनेवाला भी नहीं था।

दूत क्या सूचना लाते हैं, उत्सुक होकर इसकी राह देखते हुए हम सुभ्रमती के तीर पर ही रुक गये। इससे आगे सुराष्ट्र में प्रवेश करते समय थोड़ी-सी मरुभूमि से होकर जाना था, इसलिए अश्वसाद सुभ्रमती में ही अपने अश्वों को धने-नहलाने में लग गये। इस प्रदेश में हाथियों का कोई उपयोग ही नहीं था, क्योंकि धूल के कण आँखों में पड़ने से वे कष्टप्रद ही सिद्ध होते। इसलिए सुराष्ट्र पर हस्तिपथक का प्रयोग न कर पदाति लेकर जाना ही अधिक श्रेयस्कर था। यही निर्णय हमने लिया था। सुराष्ट्र से लौटते समय ये पथक बीच के मार्ग से आगे आकर हमसे मिलनेवाले थे। इसके अतिरिक्त सुराष्ट्र में रैवतक पर्वत पर सिंहों का वास अधिक था। हाथियों को उनसे कोई कष्ट न हो, यह उद्देश्य भी उसमें निहित था।

द्वारका को गये हुए दूत चार दिन बाद लौटे। वे जो सूचना लाये थे उसके अनुसार द्वारकाधीश श्रीकृष्ण द्वारका में नहीं थे। वे बलराम के साथ पाण्डवों से मिलने के लिए द्वैतवन की ओर गये हुए थे। इसलिए हमारी भेजी हुई भेंट उनके पुरोहित ब्रह्मगार्ग्य ऋषि ने स्वीकार की थी। नगर में श्रीकृष्ण-पत्नी रुक्मिणी, सत्यभामा, मित्रवृन्दा, कालिन्दी, लक्ष्मणा, भद्रा और सत्या उपस्थित थीं। उनके पुत्र प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, भानु, भौमरिक, चित्रगु, वेगवत, अश्वसेन, प्रहरण, जय, आयु, अनिल, उन्नाद, हर्ष ओज, प्रघोष, महाशक्ति, सुबाहु, भद्र और शान्ति-सबने तत्काल एक राजसभा आमन्त्रित कर हमारी भेंट का स्वागत किया। श्रीकृष्ण के चचेरे भाई उद्धव ने उस सभा में हमारे दिग्विजयी सेनापति का गौरव-गान किया।

अब आनर्त देश को छोड़कर सुराष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए हम स्वतन्त्र हो गये थे। प्रभास क्षेत्र जीतकर, रैवतक पर्वत का चक्कर लगाकर हमने गिरिनगर को पराजित किया। वहाँ का राजा सुरथ शरण में आया।

विजय के इतने पुष्प हम अपनी दिग्विजय की माला में गूँथ चुके थे कि माला आधे से अधिक पूर्ण होने लगी थी। सुराष्ट्र से प्रवालों का कर लेकर सुभ्रमती के किनारे-किनारे हम आगे बढ़ने लगे। हमारा जो हस्तिदल पीछे रह गया था, वह हमसे सौवीरों के राज्य में आकर पुनः मिल गया। फिर आगे का भ्रमण प्रारम्भ हुआ। धूल उड़ने लगी।

सिद्धपुर नगर पीछे छोड़कर हम पारियात्र पर्वत की पादभूमि में स्थित वशिष्ठ ऋषि के आश्रम के पास आये। हमने सुना था कि पारियात्र पर्वत गुफाओं का आगार है। यह पर्वत दक्षिणोत्तर दिशा में अनेक योजनों तक फैला हुआ था। जितनी विशाल मरुभूमि इस पर्वत को घेरकर फैली हुई थी उतनी सुराष्ट्र में नहीं थी। पर्वतों की लम्बाई तो बहुत थी, परन्तु शिखर उदास-नग्न खड़े थे। अन्य पर्वतों पर प्राप्त होनेवाली गहरी नीली झाड़ियाँ यहाँ नहीं थीं। केवल अखरोट, नीम आदि के वृक्षों से तथा सेहुड़, तोरण आदि के झंखाड़ों से ढके हुए काले-सफेद पाषाणों के टीले दिखाई दे रहे थे। इस देश का नाम ही मरुस्थल था। पानी का अभाव होने के कारण पचास-पचास योजनों के बाद कहीं कोई ग्राम मिलता था। इसलिए युद्ध का प्रश्न ही नहीं था। पड़ोस में जयद्रथ का सिन्धुदेश था। उसने कुरु सेना की सामर्थ्य देखकर पहले ही कर भेज दिया।

इससे आगे देश था विराटों का मत्स्य। इस देश की राजनगरी पर विराट राजा का राज्य था। उसका पुत्र उत्तर युद्धकुशल नहीं था, इसलिए मत्स्यदेश का नेतृत्व विराट के वृद्ध कन्धों पर ही था। सिन्धुदेश के शिबिनगर से हम पुनः मरुस्थल लाँघते हुए वापस लौटे, विराट पर चढ़ाई करने के लिए !

पुष्कर, उपप्लाव्य आदि पारियात्र पर्वत की उपत्यका में बसे हुए नगरों को पीछे छोड़ते हुए मरुस्थल समाप्त होते ही लहलही घास के विशाल कछार दीखने लगे। इन कछारों की

विपुलता के कारण विराटों का गोधन आर्यावर्त के किसी भी देश की अपेक्षा अधिक सम्पन्न था। स्थान-स्थान पर पुष्ट गायों के झुण्ड कछार में चरते हुए दिखाई देने लगे।

मत्स्यदेश की सीमा आयी। लगभग पाँच योजनाओं के बाद मुख्य केन्द्र विराटनगर आया। विराटों की सामर्थ्य कितनी ही विराट क्यों न हो, फिर भी हमें अपनी विजय का पूरा विश्वास था। अब हम हस्तिनापुर के इतने निकट आ गये थे कि केवल यमुना नदी पार करते ही अपने कुरुराज्य में प्रवेश कर सकते थे। इसलिए किसी भी प्रकार की सहायता हस्तिनापुर से हमें अल्पावधि में प्राप्त हो सकती थी। मत्स्यों की पराजय सरलता से हो सकती थी।

विराटनगर के एक मध्यस्थ पठार पर विराट राजा से हमारी मुठभेड़ हुई। समतल प्रदेश पर हुए उस घनघोर युद्ध में हमारे प्रचण्ड हस्तिदल ने विरोधियों में आतंक मचा दिया। विराटों के सेनापति कीचक ने उन्हें रोकने के लिए अपने हस्तिपथक बीच में डाले, परन्तु हमारी प्रचण्ड हस्ति-संख्या के आगे उसके हाथी टिकते ही न थे। उन विशालकाय विक्षुब्ध प्राणियों के पैरोंतले सैकड़ों विराट कुचले जाकर गतप्राण हो गये। भड़की हुई गायें जिधर सींग समाये, उधर ही दौड़ने लगीं। गोचरभूमि उद्ध्वस्त हो गयी। पूर्व अभ्यास के अनुसार, हमारे सेनापति ने विराटराज को निःशस्त्र कर धनुष का फन्दा उसके कण्ठ में अटकाकर जोर से हिलाते हुए पूछा, “राजन्, तुम अकेले ही इतनी गायों का क्या करोगे ? जितनी सम्भव हो सके उतनी गायें आज ही मध्यमार्ग से हस्तिनापुर को भेज दो।” पराजित विराट ने सिर हिलाकर स्वीकृति दी। कुरुओं के कीर्तिध्वज के सम्मुख मत्स्यराज विराट नतमस्तक हो गया। हस्तिनापुर की दक्षिण दिशा में भी हमारी दिग्विजय पूर्ण हो गयी थी। अब थी पश्चिम दिशा। चैत्र मास समाप्त होने जा रहा था। ग्रीष्म ऋतु में हिमालय के पिघलने से उधर की नदियों में बाढ़ आने से पहले ही कुलिन्द, त्रिगर्त, वाल्हीक, मद्र, रोहतक, केकय और कम्बोज देशों को अधिकृत करने की हमारी योजना थी। 'कर' रूप में सैनिक भी प्राप्त होने से हमारी सैन्य शक्ति दिनानुदिन बढ़ती जा रही थी।

विराटनगर छोड़ने के लिए हम राजप्रासाद के महाद्वार पर आये। घोड़े पर आरूढ़ होकर अंगराज के पीछे-पीछे मैं वल्गाएँ खींचता हुआ मन्द गति से चल रहा था। पीछे से हस्तिदल आ रहा था। महाद्वार की देहरी पार करते समय मैं क्षण-भर ठहरा ताकि अंगराज अच्छी तरह आगे जा सकें। इतने में ही पीछे से निरन्तर सूड घुमानेवाले एक हाथी ने मेरे शिरस्त्राण को अपनी सूंड में उछाल दिया। नीचे पाषाण के फर्श पर गिरकर खनखन करता हुआ वह स्थिर हो गया। उसकी ध्वनि सुनकर अंगराज ने तत्क्षण पीछे मुड़कर पूछा, “क्या हुआ शोण ?”

“शिरस्त्राण गिर पड़ा।” मैं नीचे उतरकर उसको उठाने के लिए झुका।

“यह क्या कोई अपशकुन है ?” यह वे कह ही रहे थे कि उस बढ़ते मत्त हाथी ने अपना पैर उस शिरस्त्राण पर रख ही दिया। मेरे हाथ में आने से पहले ही शिरस्त्राण कुचल गया।

बीस

विराटनगर छोड़ते ही हम द्रुत गति से बढ़े। कुरुक्षेत्र होकर दृषद्वती नदी पीछे छोड़ते हुए सेना ने कुलिन्दों की राजनगरी चन्दनावती को घेर लिया। राजा कुलिन्द वृद्ध था अतः उसका पोष्य पुत्र चन्द्रहास रथारूढ़ होकर कुलिन्दों का नेतृत्व करने के लिए आ डटा था। राजा कुलिन्द को चन्द्रहास अरण्य में प्राप्त हुआ था। अपने पिता का ऋण चुकाने के लिए उसे यह, अवसर मिला था। उसने यह नहीं सोचा कि उसका नाम यदि चन्द्रहास है, तो हमारे सेनापति भी सूर्यशिष्य हैं।

सरस्वती नदी के तीर पर संग्राम प्रारम्भ हुआ। चन्द्रहास एक निपुण अश्वसाद था। अपनी सेना में वह विद्युत् की तरह चमक रहा था। गर्जना करता हुआ वह कुलिन्दों को धैर्य बँधा रहा था। उस पराक्रमी वीर योद्धा पर हिरण्यवर्मा ने एक अचूक बाण फेंका। उसके घोड़े की गरदन में तीर घुस जाने के कारण वह वीर सेनापति घोड़े के साथ ही सीधा सरस्वती के जल में किंशुक वृक्ष की तरह उन्मूलित होकर गिर पड़ा। अपने तरुण नेता को कहीं न देख पाकर कुलिन्द सेना इतस्ततः भागने लगी।

हमने जो राज्य जीते थे उनमें एक भी ऐसा नहीं था, जिसके योद्धा सेनापति के आहत होने पर भी धैर्यपूर्वक लड़ सके हों। यह अनिष्टकारी अभ्यास अपनी सेना में भी किसी को न पड़ जाये, इसलिए कभी-कभी हमारे सेनापति घोड़े से नीचे उतरकर मुझसे यह भ्रान्ति कि 'सेनापति अंगराज आहत हो गये।' सेना में फैलाने को कहते थे। पीछे लौटने के जो मार्ग थे, उनपर स्वयं पैदल जाकर चपलतापूर्वक तिरछे खड़े हो जाते थे। जो पथक पीछे भागने के लिए मुड़ते उनके लिए कठोर दण्ड था। भागनेवाले पथकों के योद्धाओं को उस दिन समस्त सेना के लिए स्वयं भोजन बनाना पड़ता था। इसलिए केवल प्राणपण से लड़ने के सब अभ्यस्त हो गये थे। हम अनुशासन में इतने बँध गये थे कि इस बात को भी मैं भूल गया था कि कुलिन्द देश मेघमाला का है।

चन्दनावती का पराभव कर वाह्लीक और त्रिगर्त राज्यों को जीतते हुए हम शतद्रु नदी के पास आये। इससे आगे जो देश था उसमें रोहतक, केकय, यदु ये छोटे-छोटे राज्य थे। सामर्थ्यसम्पन्न एक ही राज्य था। शल्य का मद्रराष्ट्र ! इन सभी देशों को मिलाकर पंचनद कहा जाता था। यह नाम सार्थक ही था। क्योंकि हिमालय से निकलकर पश्चिमीय सागर से मिलनेवाली शतद्रु, पुरुष्णी, चन्द्रभागा, वितस्ता और सिन्धु-इन पाँच नदियों के विपुल जल से यह प्रदेश वैभवशाली बन गया था। इनमें से मद्र को पराजित करते ही उसकी प्रतिक्रिया छोटे-छोटे देशों पर होगी और वे सभी शरण में आ जायेंगे, यह सोचकर हमने मद्रराज शल्य को लक्ष्य बनाया था। सहदेव और नकुल का सगा मामा । ऋतायन का पुत्र । इसीलिए शाकलनगर पहुँचने के लिए हम लोगों ने शतद्रु को त्वरित गति से पार किया।

चन्द्रभागा और वितस्ता के मनोहर संगम पर मद्रों की राजनगरी शाकल बसी हुई थी। शल्य से टक्कर अवश्यम्भावी थी। उनके राज्य पर कुरुओं की सेना आक्रमण करने आ रही है, यह पता चलते ही वह नगर छोड़कर अपने पुत्र रुक्मांग और रुक्मरथ को साथ लेकर हमें मध्यस्थ पुरुष्णी नदी पार न करने देने का निश्चय कर, ऊपरी तट पर अड्डा जमाकर बैठ गया। अब तक हमको जितने प्रतिस्पर्धी मिले थे, उन सबमें अकेला शल्य ही दावें पेच में अतिशय कुशल और बुद्धिमान् था ।

उसका सामना करने के लिए हमने सशस्त्र सैनिकों से युक्त सैकड़ों नौकाएँ पुरुष्णी में छोड़ दीं। अभी वे नदी के मध्यभाग तक भी पहुँचने न पायी थीं कि ऊपर की ओर से बहकर आते हुए बड़े-बड़े वृक्षों से अचानक वे टकराने लगीं। नौकाओं का सन्तुलन बिगड़ गया और वे उलटने लगीं तथा घास के पत्तों की तरह पुरुष्णी की धार में बहने लगीं। बहकर जानेवाले सैनिकों को शल्य के बाणधारी पथक ने लक्ष्य बनाना आरम्भ कर दिया। कुछ इने-गिने योद्धाओं को छोड़कर समस्त नौकापथक इस तरह काम आ गये। शल्य की चाल सफल रही।

उनके वृक्षों की मार को हाथी झेल लेंगे, यह सोचकर हमने पाँच सौ हाथियों का एक शक्तिशाली पथक नदी में उतार दिया; परन्तु शल्य ने एक और उपाय कर उसको भी तहस-नहस कर दिया। नदी में छोड़े हुए वृक्षों में उसने नुकीले फलक उलटे ठोक दिये थे। जैसे ही वे फलक त्वचा में घुसे, हाथी बिदककर दिशा बदलकर धारा में बह चले। उनके रक्त से पुरुष्णी का जल लाल हो गया। वे हाथी कहाँ चले गये यह पुरुष्णी ही जाने । दूसरे किनारे पर शल्य हस्तस्थ चमकते स्वर्णिम राजदण्ड के कारण भैया को ठीक-ठीक पहचान रहा था।

तीन दिनों तक हम उस नदी को पार करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते रहे, परन्तु सफलता नहीं मिली। हमारे उत्साही मन पर निराशा की कालिमा छाने लगी। प्रतिदिन सैकड़ों सैनिक नदी पार करने का प्रयत्न करते हुए अकारण प्राण गँवा रहे थे । इसका कहीं न कहीं अन्त होना आवश्यक था। युद्ध के अतिरिक्त अकारण प्राण-हानि सह्य नहीं थी।

चौथे दिन परले किनारे से एक शुभ्रवेषधारी व्यक्ति नाव में आता हुआ दिखाई दिया। सबने शस्त्र सँभाल लिये—मन में संचित उफान को बाहर निकालने के लिए।

"ठहरो !" अपने सेनापति की निग्रही आज्ञा सुनकर सभी जन विस्मय-चकित हो गये। नौका के पास आते ही सब अपनी भ्रान्ति को जान गये। वह शल्य का सन्देश लेकर आनेवाला राजदूत था ।

नौका से उतरकर मद्रों का वह साहसी राजदूत सीधा हमारे सेनापति के सामने आकर खड़ा हो गया। उसने साधारण वन्दन भी नहीं किया। कानों के कुण्डलों के कारण उसने हम सबके बीच भी हमारे सेनापति को सहज पहचान लिया।

"सन्देश ! मद्राज शल्य महाराज का।" रुक-रुककर बोलते उसने एक पुलिन्दा अंगराज के हाथ में दे दिया। उन्होंने उसको ज्यों का त्यों मेरे हाथ में देते हुए कहा, "उपसेनापति, सन्देश पढ़िए !"

आतुर मन से ऊपर का अतलसी वस्त्र हटाकर मैंने वह सन्देश पढ़ा : "युद्ध कर्म बुद्धिमान् क्षत्रियों का कर्म है। सूतपुत्रों का नहीं। जैसे आये हो वैसे ही लौट जाओ।

क्रोध से मेरे मस्तक की नसें तन गयीं। इतना घोर आह्वान और अपमान ! और वह भी किसका ! दिग्विजय में असंख्य राजाओं को धूल में मिला देनेवाले मेरे प्रिय बन्धु का ! शल्य जैसे तुच्छ व्यक्ति के द्वारा !

सन्देश के उस भूर्जपत्र को फाड़कर पैरोंतले रौंदने के लिए मैंने उसे तिरछा पकड़ लिया।

"ठहरो शोण, यहाँ लाओ !" अंगराज ने वस्त्रसहित वह भूर्जपत्र अपने हाथ में ले लिया। केवल वह अतलसी वस्त्र ही मद्रों के दूत के हाथ में देकर, बिना कुछ कहे, पुरुष्णी की ओर अंगुली उठाकर उसको जाने की मूक सूचना दी गयी। वह जैसे आया था वैसे ही नाव से चला गया। भूर्जपत्र को अंगराज ने कटिवस्त्र के छोर में अच्छी तरह बाँध लिया।

"कल सबको आदेश दिये जायेंगे। इस समय आप जाइए।"

हमने सन्तप्त मन के भाव छिपाते हुए उनकी आज्ञा का पालन किया। रण में गर्जना करनेवाले हमारे वीर सेनापति ने वह सम्पूर्ण दिन एक योगी की तरह पुरुष्णी के जल में खड़े होकर अंजलि भर-भरकर अर्घ्यदान करते हुए बिताया। अब दिग्विजय के गाल पर डिठीना लग जायेगा यह सोचकर खिन्नता की धनी छाया सारी सेना पर फैल गयी थी। रात भर पुरुष्णी के पात्र में भैया की अंजलियाँ जलदान करती रहीं, हम शिविर में निरन्तर करवटें बदलते रहे।

पाँचवाँ दिन प्रारम्भ हुआ। सबको आश्चर्य हुआ क्योंकि अंगराज रात भर नदी में ही खड़े रहे थे। आह्वान का विचार करते हुए या अपने आराध्य देवता को श्रद्धा के पट अर्पित करते हुए यह समझना दुष्कर था।

नदी से बाहर निकलते ही निश्चयपूर्ण स्वर में बोले, "धीरो, मद्रों के शाकलनगर को अब हम अवश्य ही जीतेंगे।"

"कैसे ?" मैंने हर्षोत्सुक होकर पूछा। सभी पथक प्रमुखों के मुखों पर आश्चर्य और जानन्द की सीमा नहीं थी। "शोण, तुम अपना चमकता हुआ राजदण्ड लेकर सेना में अविरत घूमते रहोगे। उस राजदण्ड को देखकर परले किनारे पर शल्य यही समझेगा कि सेना में मैं ही हूँ। पृष्ठभाग की ओर से दो अक्षौहिणी सेना लेकर मैं पिछले मार्ग से पुनः शतद्रु पार करूँगा। उसके किनारे किनारे उद्गम की ओर जाकर कुलूत और द्रुह्य के राज्यों में होकर उद्गम के पास पुरुष्णी और चन्द्रभागा पार कर रोहतक राज्य में जाऊँगा। शाकलनगर

मध्य में रहेगा। एक ओर तुम्हारी सेना रहेगी और दूसरी ओर पीछे से मेरी सेना-दोनों के बीच शल्य निस्सन्देह फंस जायेगा।"

"परन्तु इसमें तुम्हें एक सप्ताह लग जायेगा। तब तक हम क्या करें ?"

"तुम ! तुम सौ सौ हाथियों के पथक प्रतिदिन पुरुष्णी में छोड़कर शल्य को उलझाये रखना। जब शल्य जल्दी जल्दी परले किनारे को छोड़ने लगे, तब तुम यह समझ ही जाओगे कि मैंने उस ओर से उसका शाकलनगर घेर लिया है।"

"परन्तु ...परन्तु, यह आक्रमण क्या असावधान राजा पर किया गया आक्रमण नहीं होगा ?"

"नहीं ! शाकलनगर में पहुँचते ही मैं शल्य के पास दूत भेजूंगा, जैसे उसने भेजा था वैसे ही, और दूत भेजकर स्पष्ट कह दूँगा कि 'यदि सामर्थ्य हो तो अपनी राजनगरी की रक्षा करने के लिए अब पुरुष्णी छोड़कर जल्दी से पीछे लौट आ !' यदि वह नहीं आया तो युद्ध का अवसर ही नहीं आयेगा, क्योंकि शाकलनगर में शल्य की अधिक सेना बची नहीं होगी। फिर उसके राजभवन पर से उनका ध्वज उतारकर और कुरुओं का ध्वज चढ़ाकर ही मैं लौटूँगा।"

"आदेश !" मैंने कुरुओं का राजदण्ड उनके हाथ से ले लिया और वायुजित् पर आरूढ़ हो गया। अपने अग्रभाग की सेना में घूमने लगा। हस्तस्थ राजदण्ड को जान-बूझकर इतना ऊँचा करने लगा कि वह चमक सके। सच तो यह था कि वायुजित् पर आरूढ़ होते समय मन सकुचाया था।

हमारे सैन्य के पृष्ठभाग में जो सेना थी, वह धीरे से पीछे की ओर लौट पड़ी। युद्ध के अवसरों पर इसका विशेष प्रयोग न किये जाने के कारण वह अधिक बलशाली थी। भैया का नेतृत्व प्राप्त करके तो वह और अधिक उत्साही हो गयी। शत्रु पार कर वे पंचनद की पाँच नदियों के उद्गम की ओर चल दिये। मेरे घूमने के साथ ही परले किनारे पर शल्य का ध्वजधारी रथ कुशलता से हलचल कर रहा था। उसने यही समझा कि मैं हाथ में राजदण्ड लेकर शुभ्र वायुजित् घोड़े पर निरीक्षण करनेवाला अंगराज ही हूँ। प्रतिदिन सौ-सौ हाथियों के पथक हम पानी में नियमपूर्वक छोड़ रहे थे। शल्य उनका निपात कर रहा था। वह अपनी सेना में प्रसन्नता में झूमता घूम रहा था।

पाँच दिन बाद परले किनारे पर शल्य की सेना एकदम विचित्र हलचल करने लगी। घड़ी-दो घड़ी बाद ही सारा का सारा परला किनारा निर्जन होने लगा। अंगराज ने झंझावात की तरह जाकर परली ओर से शाकलनगर घेर लिया है इस बात का यह स्पष्ट संकेत था। शल्य ने पुरुष्णी का किनारा ऐसे छोड़ दिया जैसे यक्षिणी ने छड़ी फिरा दी हो।

आनन्दित होकर नौकाओं के अनगिनत पथकों को पानी में धकेलते हुए हमने जयघोष किया- "सेनापति अंगराज कर्ण महाराज की SS!"

"विजय हो !"

इस घोष से आज तक हमारे असंख्य हाथियों को बहा ले जानेवाली उन्मत्त पुरुष्णी भी काँप गयी होगी।

इक्कीस

शाकलनगर के पास रणांगण में शल्य की सेना से मुठभेड़ हुई। उस युद्ध में शल्यसैन्य का सफाया हो गया। स्वयं मैंने ही शल्य को बद्धहस्त कर अपने सेनापति के सम्मुख युद्धबन्दी के रूप में उपस्थित किया। उसकी पुष्ट ग्रीवा अवनत हो गयी थी। परन्तु उसको नत करने के लिए हमको हिरण्यवर्मा और व्याघ्रदत्त खोने पड़े।

"इसको मुक्त कर दो।" आज्ञा हुई। शल्य के बँधे हुए हाथ मुक्त कर दिये गये।

"शल्य, आखिर हो तो तुम भी शशक, यवन और बर्बर-जैसे असभ्य राज्यों से घिरे हुए मद्रदेश के ही नायक। तुमसे किसी भी प्रकार की उदारता की अपेक्षा हमें न कभी थी, न कभी होगी। पर्वत के नीचे खड़खड़ करते हुए बहनेवाले तुम-जैसे नाले के जल से पर्वत शिखरों का अभिषेक कभी नहीं हुआ करता, यह कभी मत भूलना। सदा शान्त रहनेवाले हमारे सेनापति की नीली आँखें आग बरसा रही थीं। गाल कँटीले सेंहुड़ की कली-जैसे एकदम लाल हो गये थे। कपाल पर नसें तन गयी थीं। उनसे स्वेद टपक रहा था। उनकी नासिका का अग्रभाग क्रोध से रक्तवर्णी दिखाई देने लगा। उनका वह सात्त्विक सन्ताप केवल शल्य के कारण ही हमें देखने को मिला।

"शोण, पुरुष्णी नदी के जल में अपने कितने हाथी और नौकाएँ बह गयी हैं?"

"लगभग सात सौ !" मैंने उत्तर दिया।

"उन सबकी पूर्ति इस मद्र राजा से करवा लो...और..." उन्होंने कटिवस्त्र में से शल्य का वही भूर्जपत्र निकाला। उसको मेरे हाथ में देकर, शल्य के कण्ठ में अपने विजयी धनुष की माला डालकर उसको जोर से हिलाते हुए वे बोले, "क्षत्रियत्व के अहंकार से अन्धे हुए इस असभ्य राजा से इसी भूर्जपत्र के पृष्ठभाग पर एक बार नहीं बल्कि पाँच बार लिखवा लो कि सूतपुत्र भी बुद्धिमान् होते हैं और युद्धकर्म अच्छी तरह जानते हैं। कभी-कभी तो नामधारी क्षत्रिय से भी अधिक।"

उनके मस्तक की नसें फूल उठी थीं। संकुचित होती हुई हनु थरथरा रही थी।

बाईस

शल्य के पराजय की सूचना अपने आप ही पंचनद में सर्वत्र फैल गयी। आस-पास के बर्बर, यवन, शशक, कम्बोज राज्य स्वयं ही शरण में आ गये। सबसे कर-भार लेकर और शल्य से समस्त हानि की पूर्ति कराके ही हम पंचनद से बाहर निकले। पश्चिम दिशा भी समाप्त हुई। मानो शल्य ही उस दिशा का मुख्य रक्षक था।

वैशाख मास शुरू हो गया था। हमको बाहर निकले पाँच मास हो गये थे। सौख्य के और युद्ध के दिन कैसे बीत जाते हैं, इसका पता भी नहीं चलता। कम से कम योद्धाओं के ध्यान में तो यह बात कभी आती नहीं।

अब एक ही दिशा शेष बची थी-उत्तर। उस दिशा की ओर केवल पाँच ही राज्य थे। वैशाख में उनको हस्तगत कर वर्षाऋतु से पहले हम हस्तिनापुर में वापस पहुँच जाना चाहते थे। हमारी योजना यह थी कि हमारी सेना कहीं भी वर्षाऋतु की मूसलाधार वर्षा के आघात में न पड़ने पाये।

उत्तर दिशा के काश्मीर देश को लक्ष्य बनाकर हम निरन्तर द्रुत गति से बढ़ते जा रहे थे। काश्मीर ! सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्राकृतिक सौन्दर्य से इतना परिपूर्ण कोई दूसरा देश नहीं था। यहीं पर पर्वतराज हिमालय का प्रथम दर्शन होनेवाला था। कोहरे से आच्छादित घाटियों में हमारे सेनापति के जयजयकार की प्रतिध्वनियाँ गूँजनेवाली थीं। आर्यावर्त के रूप में खड़ी हुई यौवन-सम्पन्न प्रकृति देवी के भाल पर मानो सौभाग्य-तिलक ही था काश्मीर। कुछ कवियों को, पण्डितों को मैंने हस्तिनापुर की राजसभा में काश्मीर का वर्णन करते हुए देखा-सुना था कि काश्मीर स्वर्ग का पृथ्वीतल पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है। परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर मुझको कुछ और ही अनुभव हुआ। स्वर्ग के निदर्शक आकाश का केवल एक ही रंग था, नीला। परन्तु काश्मीर की भूमि पर इतने रंग एकत्रित हो गये थे कि यदि स्वर्ग में रहनेवाले देवतागण किसी समय अपने नीले राजमहल के गवाक्ष खोलकर नीचे देख लेते तो निश्चय ही वे स्वर्ग का त्याग कर देते। ऐसे दिव्य, मनोहारी, विविधवर्णी मुक्त सौन्दर्य से विभूषित प्रतिस्वर्ग ही था काश्मीर।

जिस समय हमने काश्मीर में प्रवेश किया, वह ठीक वसन्त ऋतु का समय था। वसन्त ऋतु में काश्मीर को देखनेवाला कितना ही पाषाण-हृदय क्यों न हो, वह प्रकृति के उस उन्मत्त रूप को देखकर उसके सम्मुख निश्चय ही नत हो जायेगा। यदि अश्वत्थामा हमारे साथ होता तो प्रसन्नता से पागल होकर वह अपने मस्तक पर का वस्त्र खोलकर तुरन्त आकाश में उड़ा देता। हरी सुकोमल घास के अतलसी वस्त्र धारण किये हुए पठार पर वह मुक्त मन से अपना शरीर डालकर, आकाश की गहन-गम्भीर नीलिमा को घण्टों तक देखता

हुआ पड़ा रहता। पुष्पित-प्रकृति को देखकर कलरव करते हुए विविध पक्षिगण मधुर स्वर में क्या-क्या कह रहे हैं, यह वह कान लगाकर सुनता। घाटियों में होकर घूमते समय छोटे-छोटे फूलों के अगणित वन फैले हुए देखकर उसने अनेक बार अंगराज से पूछा होता कि 'कौन-सा शस्त्र लाकर तुम इन फूलों के राज्य को जीतोगे ? इन घाटियों की गहराई नापोगे ? शिखरों की ऊँचाई पर पहुँचोगे ? नहीं अंगराज, मानव सब कुछ जीत सकता है, परन्तु प्रकृति के इस असीम भण्डार को कोई कभी नहीं जीत पायेगा।' प्रकृति-प्रेम तो उसका जन्मजात स्वभाव था। भैया को भी उसने अपने उस आस्वाद का चसका लगा दिया था। भगवान् जानें, वहाँ की इस सुन्दरता का नाश न हो, कहीं यह विचार करके ही तो हमारे सेनापति ने हाथियों के पथक को साथ न लेकर पीछे छोड़ दिया था। हमारे केवल पदाति काश्मीर के वैभव-सम्पन्न राजनगर, सूर्यनगर की ओर मार्गस्थ हो गये थे।

मार्ग में स्थान-स्थान पर अनेक सरोवर दिखाई देने लगे। वे नील, पीत, सुवर्ण, धवल, रक्त, काषाय आदि विविध वर्णों के कमल-पुष्पों से आच्छादित थे। उनका मकरन्द सेवन करते हुए पुष्ट भ्रमरों के झुण्ड गुंजार कर रहे थे तथा विसतन्तु खाते हुए जलक्रीड़ा करनेवाले राजहंसों के पास चक्कर काट रहे थे। राजहंसों को उसका पता भी न था। सरोवर का जल तैरते हुए कमल-पत्रों से आच्छादित था। जो स्थान खुला हुआ था, वह पराग कणों से आवृत हो गया था। सरोवर, फूल, पक्षी, लता वृक्ष, कछार-इनका चमत्कृत कर देनेवाला सम्मिलन था काश्मीर।

सूर्यनगर जीतकर हम हिमालय के दर्शन करने चल दिये। देवदारु, सुरुपर्ण, चीड़ आदि के गगनचुम्बी वृक्ष पीछे छूटने लगे। चण्डोल, चक्रवाक, चातक, कपोत, मयूर, भारद्वाज, सारंग आदि अनेक पक्षी हमें यह सन्देश देने लगे कि 'हिमालय की ओर जा रहे हो तो विनम्र होकर जाओ।' कदली, निशिगन्धा, मदनशर आदि की फुलवारियाँ पीछे छूटने लगीं। अन्त में भूभाग समाप्त हुआ और हिममय प्रदेश दृष्टिपथ में आया। हिमालय ! मानव को आतंकित करने के लिए मानो विश्वविधाता स्वयं अपना धारदार खड्ग म्यान से बाहर निकालकर हमारे सम्मुख एक शिखर के रूप में खड़ा था। हिम पिघलकर जलरूप में झर रही थी, उससे चमकते हुए शिखर के सौन्दर्य को किसी की दृष्टि न लग जाये इसलिए श्वेत-शुभ्र वारिदों ने उसको घेर रखा था या दूरस्थित कैलास पर्वतरूपी शंकर से लज्जित होकर स्वयं उमा उस धवल वारिदरूपी वस्त्र को सँभाल रही थीं।

भिन्न-भिन्न स्थलों से देखने पर उस शिखर के विविध रूप दिखाई पड़ रहे थे। कभी शुभ्र वस्त्र परिधान किये हुए ध्यानमग्न ऋषि-जैसा, कभी ध्वज-दण्ड की तरह सीधा ऊँचा, तो कभी अधीर धरित्री द्वारा आकाश को आलिंगन में भरने के लिए उठाये हुए तेजस्वी हाथ-जैसा भावपूर्ण।

अंगराज ने घुटने टेककर उस पर्वतशिखर को भक्तिभाव से वन्दन किया। धीरे-धीरे कुछ कहते हुए क्षण भर आँखें बन्द कर वे उसी स्थिति में घुटने टेके बैठे रहे। हाथ जुड़े हुए थे। मुखमुद्रा धीर-गम्भीर और शान्त थी। जलमय हिम पर कानों के कुण्डलों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। क्षण-भर बाद वे उठे।

हम आगे दारद देश की ओर चलने लगे।

दारदों का राज्य जीतकर हिमालय के नीचे होकर हमारी यात्रा प्रारम्भ हो गयी। पीछे छूटे हुए हस्तिपथक आगे तंगण राज्य में आकर मिलनेवाले थे। हिमालय के विविध रूप देखकर मन मुग्ध हो रहा था। कितने योजनों तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था ! दुग्धवर्णी धवल । एकदम निथरा हुआ। असीकी नदी का स्वच्छ पात्र पार कर तंगण राज्य में प्रवेश करते हुए ठण्ड की तीव्रता अनुभव होने लगी। ठीक वैशाख में जब इतनी ठण्ड थी, तो शरद् ऋतु में कितनी होगी, यह सोचकर वहाँ धैर्यपूर्वक रहनेवाले तंगणों पर हमें आश्चर्य हुआ।

तंगणों की सैन्यशक्ति कम थी। उन्होंने कर-भार देकर हमारा स्वागत किया। बोरास फूल का स्वादिष्ट खाद्य दिया। हिमवान् प्रदेश में जाने के लिए तंगण देश छोड़ते हुए मन में भावनाओं की भीड़ लग गयी। हिमवान् प्रदेश में अब हमें गंगा का उद्गम स्थल देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। जगत्पालिनी गंगा का जन्मस्थान । पुण्यदायिनी गंगा का उद्गम स्थल-गंगोत्री।

चुने हुए सैनिकों को लेकर हमने हिमवान् राज्य में प्रवेश किया। शेष सेना को हस्तिनापुर की ओर प्रयाण करने का आदेश देकर यह सूचना दे गयी कि जबतक हम न आर्यें तबतक सीमा के बाहर रुके रहें। हिमवान् प्रदेश में छोटे-बड़े अनेक तीर्थक्षेत्र थे। किसी का भी एकसंघ राज्य हिमसम्राट् उस हिमालय की छाया में स्थापित हो ही नहीं सकता था। हम ही क्या, यदि आर्यावर्त के सभी राजागण एक संघ बनाकर आ जायें, तब भी यह सम्भव नहीं था ।

और सच बात तो यह थी कि अब आक्रमण समाप्त हो गया था और यात्रा प्रारम्भ हो गयी थी।

केदारलिंग पीछे छोड़कर हम पैदल ही यमुनोत्री पहुंचे। यमुनोत्री-आगे चलकर यमुना के उल्लसित यौवन को जीवनरस देनेवाली जीवनदायिनी अनन्त काल से हिममय शिखर से द्रवित होनेवाली। हिम के धवल प्रांगण में कलकल करती उछलती कूदती हुई।

यमुना-जल हाथ में लेकर अंजलि से उसका अर्घ्य अर्पण करने के लिए भैया ने योद्धा का वेश उतारा और एक सादा अधरीय धारण किया। दिग्विजय के युद्धों में सतत शस्त्र चलाने के कारण उनके जो भुजदण्ड अधिक बलशाली हो गये थे, वे अब निरावृत हो गये।

उनके स्वच्छ हाथों के सम्पुट से यमुना का स्वच्छ जल नीचे स्वच्छ जल में गिरने लगा ! 'ॐ भूर्भुवः स्वः ssss' उनकी आँखें बन्द हो गयीं। हिमालय का धवल वर्ण अधिक चमक रहा था या उनकी खुली भुजाओं की अभेद्य त्वचा का सुवर्ण वर्ण, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वे दिग्विजयी सेनापति हैं या त्यक्तसर्वासक्ति आत्मनिग्रही संन्यासी, यही पता नहीं चल रहा था।

यमुनोत्री के पास एक दिन रहकर आगे गंगोत्री की यात्रा प्रारम्भ हो गयी। यहाँ मानवी कोलाहल का स्पर्श तक नहीं था। सुनाई पड़ती थी तो केवल हिमालय के ऊपर से गिरनेवाले प्रपातों की झरझर। हिमालय के चरणों में भला कौन क्या दिग्विजय करेगा ! यहाँ यात्रा ही करनी पड़ती है।

गंगोत्री की विख्यात 'भगीरथ शिला' आयी। नदी में स्नान कर हमारा दिग्विजयी नायक उस शिला पर आसीन हुआ । घड़ी-भर बाद उठकर गंगा के कलकल करते हुए जल में जाकर खड़ा हो गया। उनकी पीठरूपी सुवर्ण ढाल सूर्य-रश्मियों से तप्त होने लगी। सिर उठाकर वे एकटक सूर्यबिम्ब की ओर ही देख रहे । चारों ओर शान्ति थी। क्षण-भर को मेरी इच्छा हुई कि मानवरूपी खिलौनों को नचानेवाला काल-चक्र यहीं रुक जाये। गगनभेदी पराक्रम के, अनिन्द्य आचरण के, निष्कलंक सौन्दर्य के साकार रूप मेरे अशरण, अडिग वसु भैया ऐसे ही रहें। उनके मस्तक पर सहस्ररश्मि-सूर्य ऐसे ही चमकता रहे। उनके चरण पखारनेवाली गंगा अपनी कलकल ध्वनि से 'जयतु, जयतु कर्ण !' कहती रहे। पर्वतों के हिमालय के पास मानवों का हिमालय ऐसे ही हाथ जोड़कर खड़ा रहे और कालचक्र रुक जाये।

तीन दिन गंगोत्री तट पर रहकर हम बदरीद्वार के पास आये । मार्ग में अनेक शिवलिंग थे। उनपर फूल चढ़ाकर शोणितपुर से हरिद्वार आये। हरिद्वार सरयू का उद्गम स्थल है। हमारी दिग्विजयी यात्रा के अन्तर्गत वह अन्तिम नगर था। उत्तर दिशा भी समाप्त हुई। अब हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान । संग्राम, युद्ध और यात्रा में चकित-श्रान्त शरीरों और मनो को विश्राम । सरयू को वन्दन कर हम हस्तिनापुर की ओर चलने लगे।

वैशाख समाप्त हो रहा था। नगर से बाहर निकले छह-सात मास बीत चुके थे। इस काल में हस्तिनापुर में क्या हुआ, उसका हमें कुछ भी पता नहीं था। मेरा मन तो अपने नगर की ओर खिंचा चला जा रहा था। युद्ध के कोलाहल में मन के किसी कोने में पड़ी हुई कुटुम्बी जनों की स्मृतियाँ अब उफन-उफनकर उभरी आ रही थीं। मन के चारों ओर जमा होकर चक्कर लगा रही थीं।

तेईस

हरिद्वार से गंगा पार कर हम हस्तिनापुर की सीमा पर आये। छह महीने बाद राजनगर का वह पहला ही दर्शन हमारे मन में मिश्रित भावनाओं की असंख्य फुहारें उड़ा रहा था। अग्रभाग में पदाति, बीच में अश्वसाद तथा सबके अन्त में गजदल-इस प्रकार आकर्षक और अनुशासनबद्ध रचना करके हमारे सैनिक हमारे ही आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। नगर में होकर दिग्विजयी सेना की उत्सव-यात्रा निकलने वाली थी। चित्रकारों द्वारा सभी हाथियों की सूड़ें, गण्डस्थल, कान आदि अंगों पर, मध्य अवकाश सुन्दर रंगीन चित्रकारी करवा ली गयी थी। हाथियों की पीठ पर सुघड़ अम्बारियाँ चढ़ा दी गयी थीं। महावतों ने युद्धवेश उतारकर सुन्दर राजवेश धारण कर लिये थे। उनके हाथों में लगे अंकुशों पर सुवर्ण-पत्र चढ़ा दिये गये थे। घोड़ों की पीठ पर ज़री से जटित चमकीले पर्याण कस दिये गये थे। चर्म की वल्गाएँ निकालकर रेशमी धागों से तैयार की हुई रज्जुओं की आकर्षक वल्गाएँ चढ़ा दी गयीं थीं। हाथी, घोड़े सबके सारे पथक पुष्पमालाओं से सजा दिये गये थे। उनके मस्तक पर कुंकुम बिखेर दिया गया, इससे उनपर तत्क्षण दृष्टि जा पड़ती थी। योद्धाओं ने लौहत्राण उतारकर सुन्दर राजवेष धारण कर लिये थे। उनके हाथों में खड्ग, भाले, त्रिशूल आदि थे। उनके सुतीक्ष्ण फल सूर्योदय की किरणों में चमककर हस्तिनापुरवासियों से मानो कह रहे थे "उठो, इस दिग्विजयी सेनापति का स्वागत करो।"

इस सम्पूर्ण दिग्विजय में जो शस्त्र हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ था, वह था बाण। इसलिए सभी पथक प्रमुखों ने सैन्य की रचना बड़ी कुशलता से बाण के आकार की ही की थी। इस बाण का अग्रभाग अब हस्तिनापुर के उदर में घुसनेवाला था।

हमारा स्वागत करने के लिए नदी किनारे सीमा पर केवल तीन ही व्यक्ति थे—राजा दुर्योधन, अश्वत्थामन् और सत्यसेन।

हाथ उठाकर झटपट चलकर आते हुए, हँसते-हँसते पैरों के नीचे बालू रौंदते हुए, 'मैं कौरवराज हूँ' यह भूलकर, राजा दुर्योधन ने अंगराज को प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। हाथ की पुष्पमाला को अंगराज के कण्ठ में डालने का भी स्मरण उनको क्षण-भर नहीं रहा। पश्चात् उन्होंने भैया के गले में माला डाली। निशिगन्धा की एक छोटी सी माला कलाई पर बाँधते हुए वे कांपती हुई भर्रायी आवाज में बोले, "अंगराज ! आज मेरा स्वप्न साकार हो गया। एक-एक दिशा लेकर दिग्विजय करनेवाले पाण्डव अब समझ जायेंगे कि इन चारों दिशाओं में एक बार ही दिग्विजय करनेवाला भी कोई वीर इस आर्यावर्त में जीवित है, और वह कौरवराज दुर्योधन का सखा कर्ण है।" उसका अधरीय गंगा की वायुलहरों से फूल उठा था।

कुछ न कहकर दिग्विजयी सेना का सेनापति केवल मुसकराया।

अश्वत्थामा के मस्तक पर सदैव की भाँति श्वेत वस्त्र नहीं है, यह देखते हुए भौंहें ऊँची कर उन्होंने गुरुपुत्र को आलिंगन में भर लिया और पूछा, "अश्वत्थामन्, आज तुम्हारा वस्त्र गुलाबी क्यों है ?"

"कर्ण, तुम-जैसे दिग्विजयी योद्धा का स्वागत करने के लिए वैराग्य-निदर्शक धवल वस्त्र पहनकर कैसे आता मैं ? इसलिए वैभव का निदर्शक यह गुलाबी बल ही मैंने चुना है। आज पहली बार ही मैंने अपने मस्तक पर बंधनेवाले वस्त्र में परिवर्तन किया है। क्या यह तुम्हें अच्छा नहीं लगा ?"

"ऐसी बात नहीं है। मुझे वह अच्छा लगा है।"

सत्यसेन ने आगे बढ़कर भैया के चरणों से हाथ लगाया।

"क्यों सत्यसेन, घर-बार सब कुशल से है ?" इन छह महीनों में कुटुम्बियों की कुशल पूछनेवाला वह पहला ही प्रश्न था। वह भी सत्यसेन से।

"सब कुशल से हैं, महाराज !" सत्यसेन ने विनम्रतापूर्वक कहा।

दुर्योधन के हाथ में एक हाथ डालकर, बाणाकार सैन्य-रचना के मुखाग्र के पास अंगराज मन्द-मन्द पैर रखते हुए पहुंचे। उनके दूसरे हाथ में कुरुओं का मानबिन्दु, सभी राजाओं को धूल चटानेवाला, पुरातन राजदण्ड था। वह राजदण्ड, वह मानबिन्दु, सूर्योदय की कोमल किरणों में चमकने लगा।

राजयात्रा की पूरी तैयारी गंगा किनारे हो चुकी थी। वर्षा ऋतु के आगमन की आहट पाकर चातक पक्षी उत्कण्ठित होकर कदम्ब वृक्ष की धनी पर्णराजि से आकाश की ओर लपकते हुए भेदक कर्कश स्वर निकाल रहे थे। वर्षा ऋतु आनेवाली थी। अपनी जल-सम्पत्ति का दान मुक्त हस्त से संसार को करनेवाली यह वर्षा ऋतु तो मुझे सब ऋतुओं में दानवीर लगती आयी थी।

अल्पना से शुभ-सूचक स्वस्तिक चिह्न बनाकर, आयोजकों ने ऐसी पूर्ण व्यवस्था की थी कि सेनापति का रथ बाणाकार सैन्य-रचना के ठीक मुखाग्र पर खड़ा हो सके। उस स्वस्तिक चिह्न की चारों रेखाएँ जहाँ मिलती थीं, ठीक उस मध्य-बिन्दु पर जाकर भैया खड़े हो गये। उनके पीछे अपार सेना-सागर बाण के दण्ड और पुच्छ का आकार लेकर खड़ा था।

एक सुसज्जित रथ लेकर राजसारथी प्रातिकामन् सामने आया। उस रथ में छह घोड़े जोतने की व्यवस्था होते हुए भी उसमें पाँच घोड़े जोते गये थे। वे सभी धवलवर्णी थे; परन्तु रिक्त प्रथम स्थान तत्क्षण दृष्टि खींच लेता था।

"क्यों प्रातिकामन्, रथ में पाँच ही घोड़े क्यों ?" स्वस्तिक में खड़े हुए सेनापति ने मस्तक ऊँचा करते हुए पूछा।

“इस रथ की यही प्रथा है। पहले इस रथ का उपयोग राजमाता कुन्ती देवी करती थीं। तब से सभी सारथी इसमें पाँच ही घोड़े जोतते आये हैं। इसलिए मैंने भी उतने ही घोड़े जोते हैं, महाराज !” प्रातिकामन् काँप रहा था। कदाचित् वह अपने को निरपराध बताना चाहता था।

“तो फिर यहाँ लाने के लिए तुम्हें दूसरा रथ नहीं मिला ?”

“अंगराज, ऐसी बात नहीं है। यों तो सैकड़ों रथ हैं, परन्तु मैंने ही प्रातिकामन् को यह आज्ञा दी थी। मैं चाहता हूँ कि सभी नगर-निवासी तुम्हारे दर्शन करें। इसके लिए किसी न किसी रथ की छतरी निकालनी ही थी, तो वह राजमाता कही जानेवाली कुन्ती के रथ की निकाल दी जाये तो क्या बिगड़ जायेगा ?” राजा दुर्योधन ने हँसते हुए कहा। उसकी कंजी आँखें चमक रही थीं।

“बहुत अच्छे, राजन् ! जितनी चतुराई से मैंने अपने सैनिकों को मरने से बचाया है, उतनी ही चतुराई से तुमने रथ चुनकर कुरुओं का एक रथ बचा लिया है। परन्तु पाँच घोड़ों से वह विशोभित दिखाई देता है, यह बात तुम्हारे ध्यान में कैसे न आ सकी? उसी एकमात्र अपूर्णता को अब मैं स्वयं दूर किये देता हूँ, अपना वायुजित् उसमें जोतकर।” स्वस्तिक के मध्य से बाहर आते हुए अंगराज ने वायुजित् की वल्गाएँ मेरे हाथ से अपने हाथ में ले लीं। वे वायुजित् को खींचते हुए ले गये और स्वयं उस राजरथ में रिक्त स्थान पर उसको बाँध दिया। आर्यावर्त में उड़ानें भरनेवाला तेज वायुजित् शेष पाँच घोड़ों की अपेक्षा कुछ ऊँचा ही दिखाई देने लगा। देश-देश के पराजित राजाओं द्वारा चढ़ाये गये विविध आकार के आभूषण, ज़री-जटित पर्याण, मस्तक पर अनेक रंग के पंखों का चूड़ालंकार तथा हिमालय के स्वच्छ स्फटिक जैसी हिम शुभ्रवर्ण-इनसे वह सभी की दृष्टि में तत्क्षण आ सकता था। वह इतना सुन्दर लग रहा था कि किसी की भी दृष्टि लग जाये।

रथ स्वस्तिक चिह्न पर खड़ा हुआ। सदैव की भाँति इस राजयात्रा में भी अपने प्रियबन्धु का सारथ्य करने के विचार से मैं रथनीड़ पर चढ़ने लगा। मुझको रोकते हुए वसुभैया बोले, “शोण, अब तुम सारथी नहीं हो। इस दिग्विजयी सेना के उपसेनापति हो। ऊपर आओ और यह राजध्वज हाथ में लो। सारथ्य सत्यसेन करेंगे।”

रथनीड़ छोड़कर पिछले आसनोंवाले भाग में चढ़कर मैं राजध्वज हाथ में लेता हुआ अंगराज के दायें हाथ खड़ा हो गया। राजा दुर्योधन बायीं ओर खड़े हो गये। उनके बायें अश्वत्थामा खड़े थे। उनका गुलाबी वस्त्र फरफरा रहा था। सबके मध्य में अंगराज दोनों हाथ जोड़कर खड़े हुए। उन्होंने सेनापति का वेष उतारने से इनकार कर दिया था, इसलिए उनकी देह पर कुछ-कुछ मैला-सा वेष था। परन्तु उस वेष में भी वे हम चारों में अलग दिखाई पड़ रहे थे। एक तो उनके हाथ में राजदण्ड था, इसके अतिरिक्त वे हम सबमें अधिक ऊँचे भी थे।

आसपास खड़े योद्धाओं ने चम्पक, निशिगन्ध, पारिजात, अनन्त और सुरंग के सुगन्धी पुष्प रथ पर बिखेरे। मुठियाँ भर-भरकर कुंकुम फेंकने से आकाश आच्छादित हो गया। किसी ने तीव्र स्वर में घोषणा की, “दिग्विजयी सेनापति अंगराज कर्ण महाराज की SSS...”

"विजय हो !"

बाणाकार सैन्यरचना के लक्ष-लक्ष कण्ठ गर्जना करने लगे। आकाश का भव्य नीला वितान भी उन गर्जनाओं से थरथराने लगा। वृक्षों के पत्ते, तृणों की गाँसों स्पन्दित होने लगीं। वे भी गरजने लगीं, "जय ! जय !" मृदंग, शंख, रणभेरी, डिण्डिम, आनक, तन्तुवीणा, गोमुख आदि एक-दूसरे को मात करनेवाले वाद्य एकबारगी बजने लगे। घोषणाओं में और उन वाद्यों में मानो जोरदार स्पर्धा ही होने लगी। जैसे ही सत्यसेन ने प्रतोद फटकारा, रथ के घोड़े गतिमान् हुए। बाण सरकने लगा। राजयात्रा प्रारम्भ हो गयी। मेरा मन अभिमान, आनन्द, प्रेम-भाव, वीरश्री आदि विविध भावनाओं से भर गया। आर्यावर्त में सर्वश्रेष्ठ यही वह हस्तिनापुर था, जहाँ संकुचित मन से मैंने और वसुभैया ने पहला कदम रखा था। और आज...आज नगर के प्रत्येक मार्ग पर, प्रत्येक चौक में, प्रत्येक सौध पर अनेक नगरजन अपने नेत्रों की नीराजना से मेरे ज्येष्ठ बन्धु की आरती उतारेंगे, मैं उनके पार्श्व में खड़ा-खड़ा यह देलूँगा। बस, एक क्षण को मेरी इच्छा हुई कि अब जीवन की यात्रा समाप्त हो जाये। सबसे श्रेष्ठ मृत्यु कौन-सी है ? मन के समाधान के अत्युच्च शिखर पर पहुँचकर मानव जिसको प्राप्त कर सकता है, वह ! इन बातों को सोचकर मेरी दोनों आँखों में आँसू छलछला आये। इन सब प्रसंगों का भैया के मन पर कितना गम्भीर परिणाम हो रहा होगा, यह देखने के लिए मैंने उनकी मुद्रा की ओर देखा। वे सर्वथा शान्त थे। नदी के दह की तरह निस्पन्द । आत्माभिमान से, अन्यो का अपने ऊपर अटल प्रेम देखकर किसी के भी मन में उत्पन्न होनेवाली भावना की सहज कातरता, स्वमुख का अजीब-सा कोलाहल, उमड़न-ऐसी कोई अस्पष्ट छाया भी उनके मुख पर नहीं थी। कुरुओं की राजसभा में रखी सूर्य की सुवर्ण प्रतिमा-जैसा उनका मुख केवल तेज के वलय विकीर्ण कर रहा था।

बाण धीरे-धीरे नगर की ओर आगे सरकने लगा। हम दो सूतपुत्रों को पराक्रमी सेनापतियों में रूपान्तरित कर हमारे स्वागत के लिए सज्जित हस्तिनापुर छह महीनों की दीर्घ कालावधि के बाद हमारे सामने आया। घोषणाओं की वर्षा हो रही थी। आनन्दोर्मियों के क्षेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे। कण-कण चेतना से आन्दोलित हो रहा था। इस नगर ने ऐसा शुभ दिन अपने निर्माण से लेकर आज तक क्या कभी देखा होगा ? सहस्रों क्षत्रियों ने सूतपुत्रों का इतना निश्छल, निरामय स्नेह-भरा, भक्ति-सिंचित जय-जयकार क्या कभी किसी राज्य में किया होगा ? इन विचारों से ही आनन्दाश्रुओं की झड़ी आँखों से बहने लगी। जीवन के कृतकृत्य होने का महान् समाधान उसमें समाया हुआ था। उन अश्रुधाराओं को

पोंछने की भी इच्छा नहीं हो रही थी। मेरे मन में आया कि वे बहती ही रहें, अनन्त काल तक ऐसे ही अविरल बहती रहें।

अश्रुपूर्ण नेत्रों से सामने स्थिर नगर मुझे अस्पष्ट दिखाई देने लगा। वृक्ष, भवन, गोपुर, मन्दिर सभी धूसरित प्रतीत होने लगे; परन्तु...परन्तु एक पर्णकुटी की अस्पष्ट आकृति दिखाई देते ही मैंने उत्तरीय से आँखें पोंछीं। पर्णकुटी की असीम महिमा भैया ने चम्पानगरी में मुझे बता दी थी, इसीलिए मैं एकटक उस पर्णकुटी की ओर देखने लगा। वह विदुरजी की पर्णकुटी थी। द्वार में एक धवल वस्त्रधारिणी ठिगनी स्त्री मूर्तिवत् खड़ी थी। दूर से वह अच्छी तरह पहचानी नहीं जा रही थी। परन्तु राजयात्रा देखने के लिए, सूतपुत्र को कर्तृत्ववान् सेनापति के रूप में देखने के लिए वह स्त्री पंजे उचका रही थी। हमारा रथ विदुरजी की पर्णकुटी के सामने आया। वह स्त्री अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगी। नगर की कोई भी स्त्री इस ढंग से एकदम द्वार में खड़ी होने का साहस नहीं कर सकती थी, इसलिए आश्चर्य से मैंने देखा। वे राजमाता कुन्ती देवी थीं। पर्णकुटी से एक आश्रमकन्या जलपूरित कुम्भ लेकर झटपट बाहर आयी। उसको रोककर राजमाता ने उसके हाथ में एक करण्डक देते हुए उससे कुछ कहा—यह मैंने देखा।

आगे बढ़कर आश्रमकन्या ने जलपूरित कुम्भ घोड़ों के खुरों पर रिक्त कर दिया। सत्यसेन से वह बोली, “सेनापति थोड़ा नीचे उतरने का कष्ट करेंगे क्या ? मैं उनके भाल पर कुंकुम तिलक लगाना चाहती हूँ।”

“नहीं।” सत्यसेन ने कहा। शायद दुर्योधन ने सत्यसेन को यह आदेश दे रखा होगा।

“सत्यसेन । वल्गाएँ खींचो ! मैं नीचे उतरूँगा।” अंगराज की धीर-गम्भीर आवाज गूंज उठी।

रथ रुकते ही भैया कूदकर नीचे उतरे। उस धृष्ट आश्रमकन्या ने उनके भव्य भाल पर कुंकुम तिलक लगाया। यह बात मेरे भी ध्यान में नहीं आयी कि यद्यपि राजयात्रा की सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं, तथापि किसी ने भी हमारे सेनापति के भाल पर मंगल-तिलक नहीं लगाया था। बस वही एक कमी उस आश्रमकन्या ने अनायास दूर कर दी थी। अंगराज ने कनिष्ठिकांगुलि से पुष्कराज से मढ़ी हुई अँगूठी उतारकर उस कन्या के कुंकुम-करण्डक में रख दी। राजयात्रा आगे बढ़ी। सूर्य ऊपर चढ़ने लगा।

अपने राज्य के राजदण्ड को अजेय बनाकर लौटनेवाले अंगराज का स्वागत कुरुओं को करना था। समस्त नगर में स्थान-स्थान पर शोभाद्वार बनाये गये थे। वे अशोक और आम्रशाखाओं से सुसज्जित किये गये थे। सुहागिनों ने आँगन में अल्पनाएँ चित्रित कर मार्ग पर कस्तूरी-केशरमिश्रित पानी का छिड़काव किया था। पुष्पमालाओं से सज्जित पताकाएँ आकाश से बातें कर रही थीं। प्रत्येक सौध पर से नगरजन सुवर्ण पुष्प बरसा रहे थे। तारों की तरह वे राजमार्ग पर खचाखच भर गये थे। जलपूरित कुम्भ वायुजित् के खुरों पर रिक्त

हो रहे थे, हमारे मन के कुम्भ कृतार्थ होकर बहने लगे। घोषणाओं की डण्डियाँ आकाशरूपी नगाड़े पर टकरा रही थीं। 'सेनापति अंगराज कर्ण ऽ, जयतु । सेनापति कर्ण...ऽऽ जयतु ! वीर कर्ण ऽऽ...जयतु !"

मेरा शरीर उत्तरीय के अतलसी धागे-जैसा हलका हो गया था। इन जयघोषों के समुद्र पर मैं मानो तैर रहा था, हिचकोले खा रहा था। हमारी सेना का बाण आगे-आगे सरकता जा रहा था। सत्यसेन का सम्पूर्ण अंग कुंकुम से ढक गया था। मूलरूप में धवलवर्णी घोड़े कुंकुमवर्णी दिखाई दे रहे थे। इतना मस्त कर देनेवाला, क्वचित् भानरहित कर देनेवाला, विशुद्ध गर्व की भावना को भी जाग्रत करनेवाला दिन हम दोनों के ही जीवन में कभी नहीं आया था। भविष्य में आयेगा, ऐसा भी नहीं लगता था। इतना विराट् प्रेम ! इतना गगन-स्पर्शी उत्साह !

साधारण पाषाण से देवमूर्ति गढ़ देनेवाली भव्य स्थिति और क्या होगी !

जिसके माथे पर महामन्त्री विदुर द्वारा चढ़ाया गया त्रिकोणी भगवा राजध्वज फरफरा रहा था, वह राजप्रासाद आया। क्या नहीं घटित हुआ था। इस राजभवन में ? क्या नहीं देखा था पाषाणों के इस राजपुरुष ने ? 'सूतपुत्र' कहकर ठुकराया गया वसु भैया ! गुरु द्रोण द्वारा उपेक्षित धनुर्विद्या का शिष्य ! राजस्त्रियों द्वारा वरण योग्य, परन्तु सारथि-कन्या के सामने वेदी पर खड़ा हुआ वह वीर ! उत्तरीय कन्धे पर डालकर पैदल ही नदी किनारे पहुँचनेवाला श्रद्धावान् भक्त ! सभी कुछ तो उस राजभवन के पाषाणों ने देखा। परन्तु वे पाषाण आज जो कुछ देख रहे थे, वह निश्चय ही अपूर्व था। वे आज दिग्विजयी कर्ण को देख रहे थे।

महाद्वार पर पितामह खड़े थे। राजयात्रा रुकी। वाद्यों की सम्मिश्र ध्वनि लुप्त हो गयी। पितामह को देखते ही, उनके द्वारा राजसभा में राजदण्ड फेंकनेवाला दृश्य ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने फिर गया।

विगत बातों को भूलकर विशाल मन का वह कुरु-नहीं-एक उच्च कुलीन धनुर्योद्धा अन्य एक धनुर्योद्धा के स्वागत के लिए महाद्वार पर खड़ा था।

अंगराज ने रथ से उतरकर आगे बढ़कर अपने हाथ का राजदण्ड पितामह के हाथों में दे दिया। एक क्षण को उन्होंने उनके दाढ़ी-भरे भव्य मुख की ओर देखा। और...और घड़ी-भर को, इतने उफनते हुए उत्साहपूर्ण नगरजनों के स्वागत से जिसके मन का एक भी कोना द्रवित नहीं हुआ था, वह हमारा वीर सेनापति पिघल गया। उसके नीलवर्णी नेत्रों में अश्रुबिन्दु झलक उठे। पुरातन महाद्वार की देहरी पर वे तत्क्षण गिर पड़े। झुककर पितामह के चरणों को हाथ लगाता हुआ वह गद्गद स्वर में बोला, "आशीर्वाद पितामह !"

"जयतु कर्ण, जयतु !" पितामह ने उसके कन्धे पकड़कर ऊपर उठाया। उनके वृद्ध हाथों में राजदण्ड स्पन्दित हो रहा था। दाढ़ी के लम्बे शुभ्र केश थरथरा रहे थे। हमने छह महीने

बाद उस राजप्रासाद की देहरी पार की।

भीतर की सीढ़ियों पर राधामाता, पिताजी और वृषाली भाभी सहित सभी जन उपस्थित थे। वे अपनी आँखों से हमें बहुत पहले ही आलिंगन में कस चुके थे। उनके सामने हम खड़े हो गये। कोई कुछ भी नहीं कह पा रहा था। चारों ओर नितान्त निस्तब्धता थी। फिर भी यह शान्ति सब कुछ प्रकट किये दे रही थी। हम एक ही हाड़-मांस के मनुष्य थे। यहाँ बिना कुछ कहे ही सब कुछ समझ में आ रहा था।

आरती उतारते समय वृषाली भाभी के हाथ इस प्रकार काँपने लगे कि थाल में रखी हुई नीराजना जहाँ की तहाँ खड़खड़ करने लगी। भैया ने रोकने का बहुत प्रयत्न किया, फिर भी दी अश्रुबिन्दु टुलककर थाल में रखी हुई नीराजना की ज्योति पर पड़कर चर्रर SS की आवाज करते हुए लुप्त हो गये।

हमने पिताजी को वन्दन किया। उनके हाथ की लकुटी और अधिक काँपने लगी। आशीर्वाद के लिए भी उनके होंठों से शब्द नहीं निकल रहे थे। बड़ी कठिनता से उन्होंने अपना हाथ हमारे सिर पर फेरा। राधामाता के चरणों की धूल सिर से लगाने के लिए हम झुके। उनकी आँखों से निकला हुआ एक-एक अश्रुबिन्दु हमारे मस्तकों पर पड़ा। शरीर पुलकित हो गया। हमारी दिग्विजय सच्चे अर्थों में पूर्ण हो गयी, पवित्र हो गयी।

"कर्ण SS शत्रुंजय SS" हम दोनों को छाती से लगाती हुई गद्गद स्वर में माता बोली।

"नहीं मात, वसु और शोण कहो।" मैंने उसको अपने वास्तविक नामों की याद दिलायी।

पूर्ण मध्याह्न काल होने से सूर्यदेव अब तक ठीक सिर के ऊपर आ चुके थे। गरमी के आकरणा स्वेद से भीगा राजा दुर्योधन आगे आया। अंगराज का हाथ अपने हाथ में लेकर वह उनसे सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते ही दिग्विजय का वृत्तान्त पूछने लगा। केवल एक सीढ़ी शेष रह गयी थी, वह ठीक एक सौ पंचवीं सीढ़ी पर ठहर गया।

'अंगराज, तुम्हारी दिग्विजय से मेरा मन इतना अभिभूत हो गया है कि इस आनन्दोपलक्ष्य में मैंने प्रीतिभोज का आयोजन किया है। तुम, शोण, अश्वत्थामा आदि हम सभी जन कल सहभोजन ग्रहण करेंगे। अपूप और नवनीत तुम्हें अच्छे लगेंगे न?"

थोड़ी देर ठहरकर उसने आगे कहा, "मैं चाहता हूँ कि हम लोग अब राजसूय यज्ञ भी जल्दी कर लें। क्यों, ठीक है न?"

"हाँ-हाँ ! यज्ञ अवश्य होगा। परन्तु मुझको अपूप और नवनीत अच्छे लगते हैं, यह बात तुम कैसे जान गये राजन् ?"

"इस बात पर आश्चर्य हो रहा है तुम्हें ? अंगराज, शल्य से युद्ध करते समय हताश होकर जिस रात तुम पुरुष्णी में खड़े रहे थे, उस रात तुमने कितनी अंजलियों का अर्घ्यदान किया था, यह भी मैं निश्चित बता सकता हूँ। समस्त आर्यावर्त में मेरे दूत घूमते हैं। एक बात और

कहूँ कर्ण ! आज राजदण्ड पितामह के हाथ में देने के बजाय यदि मेरे हाथ में देते, तो अधिक अच्छा होता।"

"राजन्, उसको तुम अपने हाथ में ही समझो। अब घोर संकट का कोई भी अवसर आने पर, पितामह तुम्हारे ही लिए शस्त्र उठायेंगे। ऐसा करने के लिए वे विवश हो जायें, इसीलिए जान-बूझकर मैंने उनके हाथ में ही दिया। अंगराज, दुर्योधन और पितामह—यह त्रिकोण अब कभी नहीं टूट सकेगा।"

उन्होंने अन्तिम सीढ़ी पर पैर रखा। सदैव रहस्यमय बातें करनेवाला अश्वत्थामा किसी गम्भीर विचार में मग्न था। हम सभागृह में सूर्य-प्रतिमा का दर्शन करने चले। बाहर वैशाख की कड़ी धूप तप रही थी। लपटें लपलपा रही थीं।

चौबीस

दूसरे ही दिन रात को सहभोज का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। राजा दुर्योधन, दुःशासन, मामा, जयद्रथ, युवराज आदि सभी जन उपस्थित थे। आश्रम में अपना अन्न स्वयं पकाकर खाने के नियम के कारण केवल अश्वत्थामा ही नहीं आया था।

अंगराज ने अपूप और नवनीत का आकण्ठ भोजन किया, अन्य सबने लटवाक पक्षी के मांस से बने पदार्थों पर यथेच्छ हाथ साफ किया। ताम्बूल सेवन से पूर्व पुराने मधु का मद्य लेकर प्रभंजन भोजन-गृह में आया। सबके हाथ में एक-एक चषक देकर लम्बे चंचुपात्र वह उन चषकों को भरता गया। राजा दुर्योधन आसन से उठकर चषक ऊँचा कर कहने लगे, "मेरे सखा अंगराज कर्ण ने दिग्विजय करके इतनी अपार कीर्ति कुरुराज्य को प्राप्त करा दी है, जितनी कि पितामह, गुरु द्रोण, कृपाचार्य और महाराज पाण्डु ने कभी नहीं करायी थी। मेरी कामना है कि उनका यह पराक्रम इसी तरह बढ़ता रहे। दिग्विजय का आनन्द मनाने के लिए हाथ के मधुर सोमरस का आप सब कुरु प्राशन करें। दिग्विजयी अंगराज कर्ण ss"

"जयतु ! जयतु !"

उन्होंने चषक होंठ के पास ले जाकर एक यूंट में ही उसका प्राशन करने से पूर्व उद्धोष किया।

सबने चषक रिक्त किये। प्रभंजन ने चपलता से पुनः भर दिये। किसी का उत्साह भंग न हो इसलिए हम दोनों आँखें मूंदकर उस तीव्र द्रव के घुट भरने लगे। एक चषक जैसे-तैसे समाप्त कर मैंने अंगराज के हाथ के चषक की ओर देखा। प्रभंजन ने उसको पुनः भर दिया। यों तो हम युद्ध से पहले उत्साहवर्धन के लिए सोमरस लिया करते थे, परन्तु वह

इतना मादक नहीं होता था। परन्तु इस समय हमारे चषकों में जो मद्य भरा गया था, वह अत्यधिक मादक था, इसलिए मैंने फुसफुसाते हुए अंगराज को सूचना दी, "यह सोमरस नहीं है। अधिक मत लो ।" उन्होंने उसको पैरोंतले लुढ़का दिया। परन्तु प्रभंजन ने सबके साथ उसको पुनः भर दिया। भैया विवश हो गये। सब लोग सहभोजन के लिए एकत्रित हुए थे या मद्य पीने के लिए यही समझ में नहीं आता था। सौ युवराज, शकुनि और जयद्रथ— सभी पानी की तरह मद्य पीने लगे। लगभग आधी घड़ी के अन्दर ही बैठक का स्वरूप बदल गया ।

मामा झूमते हुए उठे और हाथों की पोली मुट्ठी कान के पास ले जाकर उसको ऐसे हिलाने लगे जैसे उसमें द्यूत के पासे हों। भैया के सामने आकर तोतले शब्दों में वे बोले, "क ss र्ण, टेरी जैसी ss पचासों ss डिग्विजयें ss मैं s: इन पासों से ss करके दिखा दूंगा s । बो ss ल टे ss रा क्या दाँव है ? क्या ss कहा? पाँचssच, यह देखो ss पाँच टो पाँच !"

हाथ में कुछ भी नहीं था, फिर भी उन्होंने पासे फेंकने का अभिनय किया। "पाँच ss" वे झूमते हुए ही जोर से चिल्लाये। पासे तो वहाँ थे ही नहीं, उनको इकट्ठा करने के लिए वे धड़ाम से नीचे गिर पड़े।

मुझको उनपर बड़ी दया आयी।

दूसरे एक कोने में तो दुःशासन एक पाषाण-स्तम्भ को स्त्री समझकर उसके वस्त्र उतारने के लिए चारों ओर घूम रहा था। "डा ss सी डा ss सी !" बुदबुदा रहा था। खिलखिलाकर हँस रहा था।

क्षण-भर में ही सभी युवराज बहकने लगे। हमने यद्यपि पर्याप्त मात्रा में मद्य नहीं लिया था, फिर भी चक्कर आने की दशा हो गयी। कोई हाथ-पैर पटकता हुआ छोटे बच्चे की तरह आक्रोश कर रहा था, कोई लुढ़कता हुआ लोट रहा था। दिग्विजय में किसी राजा ने यदि हमारा पराभव कर दिया होता, तब भी मुझको इतना बड़ा आघात नलगा होता जितना कि प्रचण्ड आघात उन सबों का बकवास सुनकर लगा।

अन्त में स्वयं राजा दुर्योधन ही बड़बड़ाते हुए उठे। "अंगराज ss, तुमारी डिग्विजय s व्यर्ट है !। जिस अर्जुन ss ने किराटरूपधारी ss शंकर को पराजित कर दिया, वह अर्जुन अजे ss य है। उसको तुम कैसे जीतोगे ? केवल अर्घ्य देने से क्या लाभ ? अर्जु ss न ! अर्जु ss न !" उनका सन्तुलन बिगड़ रहा था। शरीर आँधी में झूमनेवाले बाँसों के झुण्ड की तरह हिल रहा था। शब्दों के रूप में अजीब कर्कश ध्वनि निकल रही थी।

"दुर्योधन !" भैया इतनी जोर से चिल्लाये कि प्रभंजन के हाथ से चंचुपात्र छूटकर नीचे गिर पड़ा। शल्य द्वारा भूर्जपत्र पर लिखवाते समय जो सात्त्विक सन्ताप उनके नेत्रों से उफनकर बहा था, उससे कई गुना अधिक वे इस समय सन्तप्त हो उठे थे। नासिका का

अग्रभाग आरक्त हो गया था। आग बरसानेवाली आँखें तेजी से घूम रही थीं या मस्तक की धमनी अधिक वेग से झंकृत थी, यही समझ में नहीं आ रहा था। उनके शब्द उनके बाणों की अपेक्षा अधिक वेगवान् थे। हाथ में लगा हुआ चषक थरथर काँप रहा था। तत्क्षण अपने आसन से उठकर-जैसे वर्षा ऋतु में मृग नक्षत्र धारासार बरसता है वैसे ही वे बोलने लगे, “युवराज कहलानेवाले मदान्ध मद्यपियो ! मद्य यदि तुम-जैसे क्षत्रियों को भी गर्दभ बना सकता है, तो धिक्कार है उस मद्य को और तुम मद्यपी लोगों को। पाण्डवों जैसे बलशाली शत्रुओं के जीवित होते हुए जिस मद्य ने तुमको उनकी स्मृति तक भुला दी है, उस मद्य को धिक्कार है। मैं अंगराज कर्ण आज यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जबतक मैं अर्जुन का वध नहीं कर लूँगा, तबतक भूलकर भी मद्य नहीं पीऊँगा। मांस नहीं खाऊँगा। इतना ही नहीं, क्योंकि केवल उसके रक्त से ही पैर धोने हैं, इसलिए मैं अपने पैर भी तब तक नहीं धोऊँगा। अर्जुन को अजेय कहनेवाले दुर्योधन, मेरी दिग्विजय यदि तुमको पर्याप्त न लगती हो, मेरी सूर्याराधना भी यदि उसके लिए कम सिद्ध हो रही हो, मेरे पुण्य कम प्रतीत हो रहे हों, तो अब भविष्य में मैं दानधर्म से अपने पुण्यों की कमी दूर कर दूँगा। परन्तु अर्जुन के भय से दबे हुए दुर्बल, मैं उसको निश्चय ही जान से मारूँगा।” भैया कुछ देर रुके और दृढ़ता से फिर गरजे, “आज से कोई याचक अंगराज कर्ण के द्वार से कभी रिक्त हाथ वापस नहीं जायेगा, जबतक इस देह में प्राण हैं।” हाथ में लगे चषक को फेंककर वे झटपट कक्ष से बाहर चले गये, प्रज्वलित पुच्छवाले बाण की तरह।

उनकी वह घोर प्रतिज्ञा सुनकर मेरा दिग्विजय का आनन्द ठण्डा पड़ गया ! न जाने क्या होनेवाला है, इस सन्देह से मैं भी खिन्न मन से उनके पीछे-पीछे बाहर आया। झंझावात के बाद आम्रवृक्ष के नीचे जैसे फलों का अस्त-व्यस्त ढेर लग जाता है, वैसे ही कुरुओं के सौ युवराज इस समय संज्ञाहीन पड़े हुए थे। उनका बड़बड़ाना बन्द हो गया था।

पच्चीस

वैशाख समाप्त होने के कारण वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गयी। नगर के कोट, बुर्ज, गोपुर और भवन के शिखरों पर मूसलाधार वर्षा ने जल बरसाना प्रारम्भ कर दिया। भैया की दान की प्रतिज्ञा की सूचना सम्पूर्ण नगर में फैल गयी। सुबह-सुबह ही याचक राजभवन आकर भीड़ लगाया करते। कोई वर्षा से रक्षा करने के लिए घर का सामान, कोई जल के कारण अकूर व्याधि से मरे हुए घोड़े के बदले में दूसरा घोड़ा, कोई धन, कोई धान्य, कोई धेनु-इस प्रकार अनेक माँगें लेकर याचक आने लगे। प्रातःकाल के नित्य कर्म समाप्त कर वसु भैया पहले सभी याचकों को दान करने के बाद ही भोजन करते। याचकों के अविरत आवागमन से

राजभवन को व्यापार-वीथी का रूप प्राप्त हो गया। दुर्योधन के चरणों में दिग्विजय में प्राप्त सम्पत्ति पर्याप्त चढ़ाकर भी जो बची थी, वह भी अनेक गाड़ियों भरी थी। आर्यावर्त के सभी राज्यों के याचक भी यदि आ जाते, तब भी वह समाप्त न होती। उस सम्पत्ति का दान कर अब जन-मन के राज्य जीतने लगे। दीन, दुर्बल, अपंग, सन्त्रस्त, पीड़ित, ब्राह्मण, अनाथ, व्याधिग्रस्त, सबको बस एक ही आधार मिल गया-दानवीर कर्ण !

दानवीर कर्ण !

राजभवन के सामने चौक में पत्थर के चबूतरे पर वे बैठ जाते। वे जो-जो वस्तुएँ माँगते, उनको देते समय मुझे वसु भैया पर विलक्षण आश्चर्य होने लगा। पहले वे प्रत्येक याचक का मधुर मुसकराहट से स्वागत करते। जो कभी सैनिकों को देखने को नहीं मिला था, वह अब याचकों को मिल रहा था। जो सम्पत्ति वन-वन भटककर उन्होंने प्राप्त की थी, उसे वे अब मुसकराते हुए सहज ही सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को देने लगे।

अश्वत्थामा ने अपने पत्र में यह कहा था कि प्रकृति के मनोरम दृश्य देखकर जो आनन्द होता है, वह दस दिग्विजयों के आनन्द से भी अधिक श्रेष्ठ होता है—यह मुझको अच्छी तरह स्मरण था। एक वृद्धा को ज़री-जटित वस्त्र देते हुए अंगराज ने हमारे पास ही खड़े हुए अश्वत्थामा से पूछा, “गुरुपुत्र, दस दिग्विजयों का आनन्द, अनेक प्रकृतिरम्य दृश्य देखते समय होनेवाला आनन्द, और...और ऐसी एक अनाथ, निराश्रित, त्रस्त, पीड़ित दुर्बल के आँसू पोंछते समय होनेवाला आनन्द—इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन-सा है ?”

अश्वत्थामा के पास इसका उत्तर नहीं था। वह केवल हँस दिया ।

आर्द्रा नक्षत्र के कारण आकाश में घिरे हुए मेघ अचानक ही बरसने लगे। मानो वे मेघ स्वयं कह रहे थे कि “दुर्बल को दान देकर सबल बनाने का आनन्द ही सर्वश्रेष्ठ है।

वर्षा की धारों से भीगनेवाले याचकों में हलचल मच गयी। अंगराज ने सिर पर छत्र धारण करनेवाले सेवक को दूर कर भीगते-भीगते ही दान देते रहना स्वीकार किया। मुझे तो ऐसा लगा जैसे मूसलाधार वर्षा और दान पर दान करते हुए वसु भैया दोनों में दातृत्व के सम्बन्ध में स्पर्धा हो रही हो ।

सुवर्ण, मोती, प्रवाल, हीरे, वैदूर्य आदि मुट्ठी भरकर वे याचकों की झोली में मुक्त मन से देने लगे। राजभवन के सौध पर से पितामह और महामन्त्री विदुर यह देख रहे थे इसका उनको पता भी नहीं था। उनका दान याचक की झोली में अच्छी तरह पड़े, इसलिए अश्वत्थामा प्रत्येक याचक को झोली साधने में सहायता करने लगे। हम वर्षा में भीग रहे हैं, इसका भान हम तीनों में से किसी को भी नहीं था।

सभी याचक दान लेकर 'दानवीर कर्ण चिरायु हों' कहते हुए महाद्वार से बाहर चले गये। केवल दो ही याचक शेष रह गये। वे दोनों ही इतने वृद्ध थे कि भीगने के कारण ठिठुर रहे

थे। उनमें से एक का शरीर नीलवर्ण का था। युवराज अर्जुन और यादवराज श्रीकृष्ण के अतिरिक्त नीलदेह के अन्य किसी व्यक्ति को मैंने कहीं देखा हो—मुझे तो स्मरण नहीं था। याचक होने के कारण ऐसी कोई बात उससे पूछी भी नहीं जा सकती थी। दूसरे वृद्ध की मुखमुद्रा गोल थी। वह एकटक अंगराज के पैरों की ओर ही देख रहा था।

'दानवीर कर्ण, दान दो !' नील शरीरवाले उस वृद्ध ने हाथ की लकड़ी को हिलाते हुए कहा।

"क्या दूँ बाबा ? धन, धान्य, धरती, धाम?"

"ये सब वस्तुएँ तभी काम में आ सकती हैं, जब जीव का अस्तित्व सुरक्षित रहे। वर्षा में भीग जाने के कारण हम ठण्ड से ठिठुरकर मरे जा रहे हैं। हम को एक गट्टर सूखी लकड़ियाँ दे दो !" दाँत कटकटाते हुए उस वृद्ध ने अपनी व्यथा बतायी।

"सूखी लकड़ियाँ ?" अंगराज ने चौंककर अश्वत्थामा की ओर और मेरी ओर देखा। वृद्ध की लठिया हिल रही थी। श्वेत दाढ़ी से पानी की बूंदें टपक रही थीं। यदि उसकी माँग पूरी न की जाती तो वह निश्चय ही ठिठुरकर मर जाता।

"शोण, इनको इस समय लकड़ियाँ कहाँ से दी जायें ? आर्द्रा नक्षत्र की इस वर्षा में सूखी हुई लकड़ियाँ कहाँ मिलेंगी ?" अंगराज चिन्तित होकर मेरी ओर देखने लगे। दिग्विजय के समय उनकी आश्चर्य चकित कर देनेवाली कल्पनाओं को मैं भूला नहीं था। मैं उनको क्या बताता ? कुछ सूझ सकता था तो वह स्वयं उन्हीं को।

"ठहरो शोण, इनको यहीं रोक रखो ! दान इनको अवश्य मिलेगा।" मोतियों से भरी मुट्ठी अकस्मात् थाल में रिक्त कर वे चबूतरा छोड़कर झपाझप सीढ़ियाँ चढ़ते हुए अपने महल में चले गये।

"थाड SSS थाड SSS" अजीब-सी आघात की आवाजें उनके महल से निकल कर राजभवन की प्राचीर में गूँजने लगीं।

आधी घड़ी बाद ही वे सीढ़ियाँ उतरते हुए पुनः चबूतरे की ओर आने लगे। उनके कन्धे पर लकड़ियों का गट्टर था। रणांगण में वायुजित् पर आरूढ़ होकर हस्तस्थ खड्ग को विद्युत् की तरह घुमानेवाला सेनापति कर्ण और कन्धे पर लकड़ियों की गठरी रखकर जैसे कोई निषध पर्वतीय भील पर्वत के ढाल पर उतरता है, वैसे ही सीढ़ियाँ उतरता हुआ यह दाता कर्ण—दोनों एक ही व्यक्ति हैं, यह बात वहाँ केवल मुझे ही विदित थी। अपने महल की छत में आधार के लिए तिरछी लगी हुई चन्दन की दो बल्लियों को स्वयं ही निकाल कर, परशु से उनको अच्छी तरह फाड़कर तथा वायुजित् की वल्गा में बाँधकर गठरी का वह लोक-विलक्षण दान कन्धे पर रखकर वे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतर रहे थे। मेरा मन अनेक प्रकार की

भावनाओं से भर उठा। क्षण भर को मन में आया कि उनका सहोदर बन्धु कहलवाने की पात्रता मुझमें नहीं।

"यह रहा आपका दान । मेरे कारण बहुत देर तक आपको खड़ा रहना पड़ा।" कन्धे पर रखी हुई गठरी नीली देहवाले वृद्ध के चरणों पर रखते हुए हाथ जोड़कर भैया ने कहा।

"जयतु दानवीर कर्ण !" उस वृद्ध ने भैया के मस्तक पर हाथ ऊँचा करते हुए आशीर्वाद दिया।

गठरी उठाते समय वह वृद्ध सौध पर स्थित पितामह और महामन्त्री विदुर की ओर देखकर क्यों हँसा, यह मैं समझ नहीं सका। उसके साथी गोलमुख मुद्रावाले वृद्ध ने जाते-जाते पुनः एक बार भैया के पैरों पर दृष्टि डाली। झुकी हुई कमरवाले वे दोनों ही वृद्ध गठरी लेकर महाद्वार से बाहर निकले । नीली देहवाला वह वृद्ध महाद्वार के उपद्वार को पार करते ही एकबारगी तनकर खड़ा हो गया, यह देखकर क्षण-भर को मुझको ऐसा आभास हुआ कि वह वेष बदले हुए कहीं श्रीकृष्ण तो नहीं थे ? और उनका साथी वह दूसरा वृद्ध, युधिष्ठिर तो नहीं था ?

दान समाप्त हो गया था। वर्षा की धाराएँ रुक गयी थीं, परन्तु मेरे मन में विचारों की धाराएँ अब भी बह रही थीं। भैया का सारथ्य स्वीकार कर मैंने बड़ी भूल की थी। उससे मैं भैया का रथ तो हाँक सका था, परन्तु उनका सेवक नहीं बन सका था। यदि बन सका होता तो दिन-भर दान के लिए खड़े रहने कारण थक जानेवाले उनके तलवों पर चन्दनमिश्रित तेल मलने का अपूर्व सौभाग्य मुझको मिल गया होता। छोटे भाई के नाते यह करने की बात कहता तो भैया इसके लिए तैयार न होते ।

छब्बीस

दौड़ते हुए रथ के चक्र के आरे जैसे एक के बाद एक आगे सरकते हैं, वैसे ही वर्ष के बाद वर्ष सरक रहे थे। दिग्विजयी कर्ण-भैया की यह कीर्ति पीछे रह गयी और दानवीर कर्ण-यह कीर्ति चर्चा का विषय बन गयी। दानवीर के सुपुत्र होने के कारण सभी जन उनके सभी पुत्रों के साथ आदरपूर्ण व्यवहार करते थे। हिमालय के पर्वत शिखरों की तरह वे अब विशालकाय हो गये थे। पिता की तरह युद्धशास्त्र में निष्णात हो गये थे। सबसे ज्येष्ठ वृषसेन ने तो अन्य कौशल सहित बाहुकण्टक तक हस्तगत कर लिया था। वृषसेन, सुषेण और वृषकेतु-वृषाली भाभी के ये तीन पुत्र तो माता-पिता के सभी गुण लेकर आये थे। चित्रसेन, सुशर्मा, प्रसेन और भानुसेन—सुप्रिया भाभी के ये चार पुत्र भी विशेष गुणों में कहीं कम नहीं थे। वे सप्तपुत्र व्यायामशाला की ओर जाने से पहले दान देने के लिए खड़े हुए भैया के

चरणों का स्पर्श करते—तदुपरान्त आगे जाते । उनको देखकर मुझको यह सन्तोष होने लगा कि भैया का जीवन कृतार्थ हो गया। अश्वत्थामा की तरह मैंने जीवन का गहन अध्ययन नहीं किया था; भैया की तरह सुख-दुखों की घटनाओं के रस से भरे हुए चषक मैंने पचाये नहीं थे। मेरा जीवन तो लहलहाती हुई फसल के पौधों से सुशोभित खेत की मेंड़ पर उगी हुई घास की तरह ही बढ़ा था। दूर से देखनेवाले को वह घास भी फसल की तरह ही लगती है। अंगराज के बन्धु होने की बात यदि छोड़ दी जाये, तो मेरी स्वतन्त्र योग्यता ही क्या थी ? केवल उनके कारण ही मैं भी सबमें प्रसिद्ध हो गया था। इसीलिए मुझे सदैव यही अनुभूति होती थी कि जीवन एक महान् योगायोग है।

पूर्वजन्म के पुण्यों के ऋणानुबन्ध के बल पर ही हम दोनों ने राधामाता की कुक्षि में जन्म लिया था। जीवन-भर हाथ में हाथ लेकर विशुद्ध मन से साथ निभाया था। मिट्टी के घड़े के टुकड़े ने प्रयाग क्षेत्र में वृषाली भाभी का अंगराज से नाता जोड़ दिया था। आगे चलकर उन्होंने जीवन के घड़े प्रेमरस से परिपूर्ण किये थे। अब तो वे आकण्ठ भर गये थे।

सामाजिक रूढ़ियों के वशीभूत होकर जिस धनुर्धर कर्ण को गुरु द्रोण ने दूर धकेल दिया था, उसी कर्ण को उन्हीं के पुत्र अश्वत्थामा ने अपना प्राणप्रिय मित्र माना था। पितामह भीष्म ने कर्ण को एक बार धिक्कारा था, फिर उसका दिग्विजयी योद्धा के रूप में स्वागत भी किया था। परस्परविरोधी घटनाओं का द्वन्द्व देखते हुए मेरे मन में एक ही विचार आता था कि 'जीवन एक महान् योगायोग है।

यह विचार जब मैंने भैया से कहा तो वे बोले, "नहीं शोण, जीवन योगायोग नहीं, जन्म योगायोग है। जीवन योगायोग की अपेक्षा कर्तृत्व पर अवलम्बित है।"

उनका प्रत्येक विचार, प्रत्येक कल्पना इतनी बेजोड़ होती थी कि विरोध के लिए स्थान ही नहीं रहता था। फिर भी वे अनेक बार मुझसे सम्मति क्यों लेते थे, यही मेरी समझ में नहीं आता था।

"शोण, मैं दान देता हूँ। सभी मुझे दानवीर कहते हैं, परन्तु मेरी यह दानवीरता तुमको क्या संकुचित नहीं लगती ? हस्तिनापुर और आसपास के चार राज्य—इनके अतिरिक्त बाहर के आवश्यकतावालों को मैं क्या दे सकता हूँ ? दिग्विजय के लिए हम सारे आर्यावर्त में घूम आये; परन्तु क्या दान देने के लिए भी धूमे ? बताओ, इसका उपाय बताओ।" उन्होंने एक बार मुझसे पूछा।

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो इसका एक ही मार्ग है। तुम्हारे सात पुत्रों का विवाह। और वे भी दूरदेशीय सारथि कन्याओं से। इस निमित्त से सभी राज्यों के याचक यहाँ निमन्त्रित किये जा सकेंगे। जो आने में असमर्थ होंगे, उनके लिए अपने नये सम्बन्धियों द्वारा हम धन, धान्य, वस्त्र आदि भिजवा सकेंगे।" मेरी बड़ी इच्छा थी कि उनके पुत्रों के विवाह यथासम्भव शीघ्र ही हो जायें। क्योंकि वे सब अब विवाह योग्य हो गये थे।

"ठीक है; तुम्हारा विचार उचित है। तुम और सत्यसेन जाओ और वधूकन्याएँ पसन्द कर आओ। अवन्ती, कामरूप, काम्बोज, कश्मीर आदि दूर देशों की वे हों। सत्यसेन पश्चिम और उत्तर की ओर जायेंगे। तुम पूर्व और दक्षिण की ओर जाओ। और एक बात का ध्यान रखना। मीनाक्षी के लिए हमारे पुत्रों से भी अधिक सुस्वरूप वर ढूँढ़कर लाना होगा। अब वह सयानी हो गयी है।"

"इतना सुस्वरूप वर कहाँ मिलेगा?"

"क्यों नहीं? यदि तुमसे न हो सके तो यह काम मैं करूँगा। कम से कम इसी निमित्त से मैं मथुरा तो जा सकूँगा। मैं ही देख लूँगा उसके लिए योग्य वर।" उन्होंने मेरी कन्या के लिए वर ढूँढ़ने का काम अपने ऊपर ले लिया।

सत्ताईस

देश देश में घूमकर मैंने और सत्यसेन ने वधूकन्याएँ पसन्द कीं। भैया ने मीनाक्षी के लिए मथुरा में वर चुना। सर्वत्र निमन्त्रण भेजे गये। उन निमन्त्रणों में नये सम्बन्धियों से आग्रहपूर्वक प्रार्थना की गयी थी कि वे अधिकाधिक संख्या में अनाथ और अपंगों को लेकर आयें। राजज्योतिषी और पुरोहितों द्वारा बताया गया शुभ दिन आया।

राजनगरी में सर्वत्र घूमकर वृषाली और सुप्रिया भाभी ने अक्षत बाँटे थे और सबको निमन्त्रण दिया था। नगर के बाहर विदुर की पर्णकुटी में जाना भी वे भूली नहीं थीं।

प्रातःकाल से ही राजभवन में नगाड़ों की ध्वनि गूँज रही थी। अपने दिग्विजयी सेनापति और दानवीर महामानव के पुत्रों के विवाह का आनन्द व्यक्त करने के लिए सभी ने अपने-अपने निवासस्थान सजाये। ये सूतपुत्रों के विवाह हैं, यह कहने का साहस अब किसी राजा में न था। राजभवन तो किसी नववधू की तरह सजाया गया था। हमारे थकित माता-पिता शरीरों के कष्ट भूलकर नातियों के विवाह में बनाये गये भव्य मण्डपों में वेदियों के आसपास रखे मंगलकलशों पर श्रीफल रख रहे थे। जीवन भ्रान्त हो गया था। हमारे ऊपर मुक्त हस्त से सुख का दान कर रहा था। दिग्विजय के सभी राजागण हस्तिनापुर में आये हुए थे। जो नहीं आ सके थे, उन्होंने अपने प्रतिनिधि के रूप में अमात्य, सचिव या सेनापति-किसी न किसी को भेजा अवश्य था। वे सभी लोग वधूवरों को देखने के बजाय मण्डप के बाहर ब्राह्मण, ऋषिमुनि, अनाथ, आपद्-ग्रस्त आदि को खड़े-खड़े दान देते हुए अंगराज को देखने के लिए ही अधिक भीड़ करने लगे।

"महाराज धृतराष्ट्र की तरह यदि मैं नगर का अधिपति होता तो हस्तिनापुर नाम बदलकर इस नगर का नाम कर्णपुर ही रख देता।" समस्त उत्सव को देखकर अभिभूत विदर्भराज

रुक्मी मुझसे बोला।

विवाह सम्पन्न हुए। देश-देश के तृप्त याचक 'जयतु कर्ण, जयतु !' कहकर आशीर्वाद देते हुए चले गये। उस रात सम्पूर्ण नगर में समझ्यों का जो प्रकाश किया गया था, उसको देखते समय मुझे यह भ्रम हो गया कि स्वर्ग आकाश में है या धरती पर। अपनी पुत्रवधुओं को आशीर्वाद देते हुए भैया ने जो कुछ कहा था, उनका वह कथन मेरे कानों में गूंज रहा था :

"राजभवन में आने पर भी यह कभी मत भूलना कि तुम सारथिकन्याएँ हो।" यह था वह कथन । इसको स्मरण करते समय मैं जगत् को भूल गया। अपवादस्वरूप मन के कोने में कहीं दूर पाण्डवों की स्मृति चुलबुला रही थी। उनको वनवास गये दस वर्ष हो गये थे। किसी अरण्य में किसी जीर्ण पर्णकुटी में अन्धकार का काला वस्त्र ओढ़कर वे सो रहे होंगे। मन अस्वस्थ था ।

मीनाक्षी को पतिगृह भेजते समय जो दुख हुआ था, उसको मैं उस जैसी सात मीनाक्षी पुत्रवधुओं के रूप में भवन में घूम रही हूँ, यह देखकर-पी गया। याचकों को देने से जो कोठरियाँ रिक्त हो गयी थीं, वे विवाह में मिले उपहारों से पुनः भर गयी थीं। गंगा के प्रवाह की तरह भैया का दानयज्ञ अब भी अखण्ड चल रहा था। एक भी याचक विमुख नहीं लौटता था। न भविष्य में ही लौटनेवाला था।

पतिगृह जाते समय मीनाक्षी ने अंगराज के लिए अपने वन्दनीय ताऊजी के लिए एक सन्देश दिया था। विवाह की धूमधाम में मैं वह उनको बता नहीं पाया था। वह सन्देश था, "आपके कुण्डलों से खेलनेवाले पोतों को देखने के लिए मैं जल्दी ही लौटकर आऊँगी।" यह कहकर उनके प्रसन्न मुख पर हास्य-छटा देखने के लिए मैं उनके महल के द्वार में खड़ा था। परन्तु...परन्तु सूर्योदय होने पर भी उनके भवन का द्वार बन्द ही था। आठ-दस बार खटखटाने पर भी भीतर से उत्तर नहीं आया। सन्देश से मन आच्छादित हो गया। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था।

"भैया ss, द्वार खोलो !" मैंने भयभीत होकर जैसे-तैसे कहा।

"कौन ss शोण ?" अर्गला दूर हुई। द्वार खुल गया। सुनहले बालों की कुंचित लटें बिखर जाने के कारण उनका सदैव प्रसन्न रहनेवाला मुख चिन्ताग्रस्त दिखाई दे रहा था। पीठ-पीछे हाथ बाँधकर वे महल में निरन्तर इधर से उधर आकुल होकर चक्कर काटने लगे।

"क्यों, क्या बात है ? तुम्हारा मुख इतना म्लान क्यों है ?" मुझसे रहा न गया, इसलिए मैंने पूछा।

"कुछ...कुछ भी सूझ नहीं रहा है, शोण !"

"किस सम्बन्ध में कह रहे हो तुम?"

"स्वप्न के। रात मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा।"

"कैसा स्वप्न? अरे, स्वप्न सत्य नहीं होते।"

"नहीं, शोण ! मेरा मन मुझसे कह रहा है कि यह स्वप्न अवश्य सत्य होगा। इस में साक्षात् सूर्यदेव से मेरा वार्तालाप हुआ है।"

"क्या-क्या वार्तालाप हुआ है ?"

"उन्होंने कहा है कि कल साक्षात् इन्द्र याचक बनकर तुम्हारे द्वार पर आयेगा। धन, सम्पत्ति, वस, गाय जादि कुछ न माँगकर वे माँगनेवाले हैं..."

"कवच और कुडल, शोण ! कवच और कुण्डल । और वे भी अर्जुन के लिए!" वे द्रुतगति से चक्करकर लगाने लगे।"

नहीं भैया, कुछ भी हो जाये, यह दान तुम कभी मत देना। यह दान नहीं यह तो दासता बन जायेगी।" मैं लगभग चीख-सा पड़ा। मेरा शरीर थर-थर काँप रहा था।

"यही बात सूर्यदेव ने भी मुझसे जोर देकर कही है। उन्होंने बार-बार स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यादे तुमने कवच-कुण्डल दे दिये तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा।"

"फिर तुमने उनको क्या उत्तर दिया ?"

"शोण, मैंने जो उत्तर दिया है, वह तुन्हें अच्छा नहीं लगेगा-सुन भी न सकोगे।"

"कहो! शीघ्र न बताया तो मेरी साँस रुक जायेगी।"

"सूर्यदेव को वन्दन कर मैंने कहा है कि यदि प्रत्यक्ष देवराज इन्द्र याचक बनकर मेरे द्वार पर आयेंगे तो ऐसे याचक को उसकी महत्ता के अनुरूप कवच-कुण्डलों का दान में अवश्य दूंगा।" उनके शब्द तप्त लौहरस-जैसे मेरे कानों में घुसे।

"क्यों ? किस लिए तुम प्राणों से भयानक यह द्यूत खेलना चाहते हो?"

"शोण, यह बात तुम अभी नहीं जान पाओगे। यह दान केवल कीर्ति के लिए दूँगा।

"कीर्ति ! कीर्ति ! अब तक तुम्हें क्या कम कीर्ति मिली है ? कीर्ति का अर्थ अन्ततः क्या है ? और कैसी कीर्ति चाहते हो तुम ?"

"बल और वृत्रासुर को जान से मारनेवाले, स्वर्ग के अधिपति, देवों के भी देव कहे जानेवाले इन्द्र का वरदाता कर्ण-यह कीर्ति मैं सम्पादित करना चाहता हूँ। शोण, कल साक्षात् स्वर्ग इस पुरातन धरित्री के पास भिक्षा माँगने आयेगा। इस वैभव के लिए कवच-कुण्डल ही क्या, मैं तो प्राणों की भी आहुति दे दूँगा। जन्म-मृत्यु के सम्बन्ध में वीरों की कल्पनाएँ कुछ और ही होती हैं। कीर्तिहीन मनुष्य जीवित होते हुए भी मृतवत् ही होता है। कीर्तिवान् के लिए ही स्वर्ग के द्वार खुलते हैं। कीर्ति मनुष्य को स्मृति के रूप में अमर नवजीवन देनेवाली दूसरी माता होती है। कीर्तिहीन जीवन जीवन्मृत का जीवन होता है। दिन-रात भोजन, निद्रा, धन, प्रेम आदि के लिए भागते रहने का ही नाम आयुष्य नहीं है।

आयुष्य की गिनती कीर्ति के मानदण्ड से ही हुआ करती है। यों तो महासागर में सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहनेवाले देवमत्स्य नहीं होते हैं क्या? परन्तु कोई भी उनको अमर नहीं कहता। केवल जीवित रहना ही जीना नहीं है। जीवन कैसा होना चाहिए, यह कीर्ति बताया करती है। यों तो पृथ्वी के इस विशाल पृष्ठभाग पर प्रतिदिन सहस्रों जीव जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनके लिए आँसू बहाने तक को किसी के पास समय नहीं होता है। परन्तु जिनके जाने से प्रत्येक के मन के कुम्भ वियोग की विदारक यातना से भंग हो जाते हैं, वे ही सच्चे कीर्तिवान् हैं। वे ही सच्चे अर्थों में जीये और सच्चे अर्थों में मरे। इसीलिए जीवन और कीर्ति इसमें से क्या चाहते हो, यह पूछनेवाले सूर्यदेव को मैंने उत्तर दिया-कीर्ति !" कीर्ति को कलंकित कर प्राप्त होनेवाला जीवन मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगा।"

"तो फिर कीर्ति दिलानेवाले इस दान को देते समय तुम इतने व्याकुल क्यों हो गये हो ? भैया, जीवन की आशा सभी आकांक्षाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है, इससे इनकार मत करो। जीवित रहते हुए यदि कीर्ति मिल जाये तो आत्मसम्मान का सुख भी मिल जाता है, परन्तु मृत्यु के बाद उस कीर्ति का क्या उपयोग ? यदि शव पर सुगन्धित पुष्पों की माला चढ़ा दी जाये तो उस सुगन्ध का अनुभव वह शव कर नहीं सकता। जगत् में अस्तित्व बनाये रखना-किसी भी मार्ग से अस्तित्व बनाये रखना ही सच्चा पराक्रम है। वही सच्चा जीवन है। तुम्हारे द्वार पर जो इन्द्र को भेज रहे हैं, उनकी ही और कौन-सी उदात्त कल्पना है ? वे केवल जीवित रहना चाहते हैं। जीवित रहना प्राणी का स्थायीभाव है और इसीलिए तुम्हारा मन आज कातर हो गया है जीने के लिए। क्योंकि तुम भी यह जानते हो कि कवच-कुण्डलों के कारण तुम युद्ध में अवध्य हो। अर्जुन जैसा धनुर्धर भी तुम्हारा पराभव नहीं कर पायेगा। भैया, मन के सत्वस्वरूप का साथ दो। कवच-कुण्डल मत दो। कम से कम अर्जुन-वध की प्रतिज्ञा को तो स्मरण रखो।

"शोण, बहुत कह गये। मेरे साथ रहकर जो बातें कभी नहीं कही थी, वे भी कह दीं। सरोवर में खिले हुए कमल-पुष्पों के मकरन्द की मधुरता को सरोवर का जल भी नहीं जानता। उसको जानते हैं दूरस्थ भ्रमर । तुम्हारी भी यही स्थिति है। जीवन-भर मैंने कैसा आचरण किया है, यह तुम भी नहीं जान सके, इसपर मुझको आश्चर्य हो रहा है। मेरे साथ रहकर, कन्धे से कन्धा मिलाकर जीवन बिताते हुए भी तुम इस तरह की बातें करते हो ? प्राणों के भय से मैं कातर हो गया हूँ, व्याकुल हो गया हूँ और इसीलिए मुझको कुछ सूझ नहीं रहा है, तुम भी यही समझोगे? शोण, मैं कातर हो गया हूँ, व्याकुल हो गया हूँ, मुझको कुछ सूझ नहीं रहा है—यह सब सत्य है, पर प्राणों के भय से नहीं..."

वे रहस्य के जाल को और अधिक उलझा रहे थे।

"शोण, देह पर स्थित इस अभेद्य कवच को और इन चमकनेवाले कुण्डलों को देवराज इन्द्र यदि माँगते हैं, तो उनको ये कैसे और किस स्थान से काटकर दूँ, यही नहीं सूझ रहा है,

इसलिए मैं अस्वस्थ हूँ। इस अभेद्य शरीर पर कैसे शस्त्र चलाऊँ ? सामने उपस्थित हुआ कार्ति का यह कुम्भ कवच-कुण्डलों के अभेद्य होने का कारण कहीं भग्न हो जायेगा क्या ? केवल यही सोचकर मैं अस्वस्थ हूँ। रात-भर विचार करता रहा हूँ, परन्तु अभी तक कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। बताओ शोण, इस कवच को मैं कैसे और किस स्थान से काट सकूँगा ?" वे पुनः पीछे-पीछे हाथ बाँधकर चक्कर लगाने लगे।

मैंने सिर झुका लिया। उनके गगनस्पर्शी विचारों के सम्मुख मुझे अपने विचार अतिशय क्षुद्र लगे बहुत देर तक हम दोनों चुप रहे। अन्त में मुझे उसी स्थिति में भवन में छोड़कर वे अर्घ्यदान के लिए सूखा उत्तरीय लेकर चले गये।

वृषाली भाभी सहित सभी को यह वार्ता सुनाकर उन्हें सचेत करने के लिए मैं प्रत्येक महल में घूमने लगा। पर उनके दृढ़ निश्चय से सभी पूर्ण परिचित थे। कवच-कुण्डलों के दान के निर्णय से उन्हें विमुख करने की शक्ति हममें से किसी में भी नहीं थी।

अट्ठाईस

नियमानुसार स्नान आदि दैनिक कृत्य तथा अर्घ्यदान समाप्त कर वे दान के चबूतरे पर आकर खड़े हो गये। याचकों की पंक्ति दूर तक फैली हुई थी। उनमें कहीं देवेन्द्र दिखाई देते हैं क्या—यह सोचकर मैंने उनपर दृष्टि डाली। वे कहीं दिखाई नहीं दिये। सन्तोष की साँस ली। जो वस्तु अंगराज मुझसे माँग रहे थे, वही उनके हाथों में दे रहा था। सुवर्ण, वस्त्र, मोती, धान्य, तेल आदि पदार्थ मुक्त हस्त से दान किये गये। सभी याचक पूरे हो गये। सौध पर चिन्तातुर खड़े हुए माता-पिता, वृषाली भाभी तथा सप्तपुत्र मुक्ति की साँस लेकर भीतर लौट गये। 'तो स्वप्न केवल स्वप्न ही निकला !' यह बुदबुदाते हुए मैंने नीचे गिरे हुए चार मोती थाल में डाले। इतने में ही कृश देहयष्टि का एक ब्राह्मण महाद्वार के गर्भद्वार से भीतर प्रविष्ट हुआ और क्षण-भर वहीं रुका रहा। मेरा मन शंका से काँप उठा।

'कौन है ?' अंगराज ने पूछा।

"एक दरिद्र ब्राह्मण ! एक याचक !"

"आओ बन्धु, शीघ्रता करो। दान का समय समाप्त हो रहा है, शीघ्र आओ।" कटि पर दोनों हाथ रखकर झुकता हुआ वह ब्राह्मण चबूतरे के पास आया। आँखे मिचमिची कर पोपला मुँह चलाता हुआ वह खड़ा हो गया।

"ब्रह्मज्ञ क्या दूँ ? धन, धेनु, धरती, धाम, अश्व, अन्न, वस्त्र ? फल, पुष्प, मधुर रस ? सेवक, सेविका या ग्रन्थ-लेखक के लिए भूर्जपत्र ? क्या दूँ ? आज्ञा कीजिए?"

"कर्ण, तुम दानवीर हो, तुम्हारा यश सुनकर मैं दूर देश से आया हूँ। मुझको धन नहीं चाहिए, मैं धनलोभी नहीं हूँ। धेनु नहीं चाहिए, मैं गोपाल नहीं हूँ। धरती नहीं चाहिए, मैं राजा नहीं हूँ। जहाँ चला जाऊँ, वही धाम है, इसलिए मुझको धाम भी नहीं चाहिए। अश्व, अन्न, फल, पुष्प-कुछ भी नहीं चाहिए। मैं ग्रन्थ-लेखन करनेवाला ऋषि भी नहीं, इसलिए तुम्हारे भूर्जपत्रों की भी मुझको आवश्यकता नहीं।"

"तो फिर क्या चाहिए ? क्या मैं स्वयं आपका सेवक बनूँ ? आपकी आज्ञानुसार क्या आपका अनुसरण करूँ ? ब्रह्मवर्य, आज्ञा दें, संकोच न करें। सागर के द्वार से मेघ विमुख लौट जाये, यह सम्भव हो सकता है; परन्तु कर्ण के द्वार से याचक विमुख होकर नहीं लौट पायेगा।

"यह तुम्हारा मिथ्या दम्भ है। तुम्हारी कीर्ति कलंकित न हो, इसलिए मैं वापस जा रहा हूँ, क्योंकि मैं जो कुछ माँगूंगा, वह तुम मुझे कभी दे नहीं सकोगे। ब्राह्मण लौटकर महाद्वार की ओर जाने लगा। अंगराज ने चबूतरा छोड़कर दौड़ते हुए जाकर उसके चरण पकड़ लिये।

"मेरी धवल कीर्ति को इस प्रकार कालिमा मत लगाइए। इस मस्तक को भी मैं आपके चरणों पर उतारकर रख दूंगा। परन्तु आप रिक्त-हस्त न लौटें। आज्ञा कीजिए, आपकी क्या इच्छा है ?

"दानवीर कहलानेवाले कर्ण, अपनी दानवीरता पर यदि तुम्हें इतना गगनभेदी अभिमान है, तो दे दो मुझे अपने कवच कुण्डलों का दान !" ब्राह्मण ने हाथ पसारे ।

भैया तत्क्षण ऐसे उठ खड़े हुए जैसे अग्नि का चटक लग गया हो। उनके नील-नेत्रों में आँसू भर आये थे, होंठ थरथराने लगे।

"देवराज इन्द्र ! इस कर्ण-जैसे साधारण सूतपुत्र के द्वार पर आप ! एक वृद्ध ब्राह्मण के वेष में ! मैं कहाँ हूँ ? यह धरती है या स्वर्ग ? स्वर्ग में अमृत का प्राशन कर अप्सराओं के बीच रमण करनेवाला देवों का राजा मर्त्यलोक के एक सूतपुत्र के द्वार पर हाथ पसारे खड़ा है। यह सत्य है या स्वप्न ? शोण, आज...आज हमारी दिग्विजय वास्तविक अर्थ में पूर्ण हुई। चारों दिशाओं के ऊपर एक पाँचवीं दिशा होती है। आज वह भी पराजित हुई। अंगराज के द्वार पर साक्षात् देवराज याचक के रूप में खड़े हैं। आइए, देवाधिदेव, मैं आपका स्वागत करता हूँ और कवच-कुण्डलों का दान आपकी झोली में डालता हूँ। परन्तु...परन्तु इसके लिए बड़ी झोली लेकर आइए, देवराज ! मेरा यह सर्वांग अभेद्य है। इसपर शस्त्र नहीं चल सकता। इसलिए...इसलिए प्राण निकलने तक साँस रोककर अपना मृत शरीर ही उस झोली में डाल दूंगा। स्वर्ग में जाने के बाद अपने राज्य के चारों ओर लगी हुई स्वर्णिम बाड़ पर इसे सूखने को डाल देना। मेरा शीतल रक्त वाष्प बनकर उड़ जायेगा। यह सुवर्ण-कवच अखण्ड रूप में आपको मिल जायेगा, जैसा आप चाहते हैं।"

अंगराज कुछ देर रुके, फिर बोले, “परन्तु किस लिए चाहिए ये आपको ? स्वर्ग के भण्डार में सुवर्ण का संचय कम होने लगा है, इसलिए ? या आपके सिंहासन का व्याघ्राजिन जीर्ण हो गया है, उसके स्थान पर नया डालना है, इसलिए ? या आपके वज्र के समान समर्थ दूसरी एक वस्तु भी कवच के रूप में विश्व में है, इसलिए ? कहिए, देवराज ! स्वर्ग की जिन सीढ़ियों से उतरकर आप आज धरती पर आये हैं, उनपर पाँवड़े के रूप में बिछाने के लिए तो आपको मेरा यह सुवर्ण कवच नहीं चाहिए न ? क्यों...आप बोलते क्यों नहीं ? नहुष महाराज के बाद पृथ्वी पर आपकी यह पहली ही फेरी है। बोलिए महेन्द्र, स्तब्ध क्यों हैं ? यह कवच आपके चरणों पर रख सकूँ-इसका उपाय भी मुझे बता दीजिए ! क्योंकि...क्योंकि मुझ-जैसे सूतपुत्र के प्राणों के लिए स्वर्ग में भला कहाँ स्थान होगा ! केवल कवच और कुण्डल ही लेकर जायेंगे न आप ? तो फिर उनको मैं अलग कैसे करूँ, क्योंकि वे तो जन्म से ही शरीर में जुड़े हुए हैं ? इनको कैसे अलग करूँ ? मस्तिष्क की सभी तन्त्रियों को तानकर मैं उपाय ढूँढ़ रहा हूँ, परन्तु वह मिल नहीं रहा, इसलिए यह सोचकर कि मेरी निर्मल कीर्ति कलंकित हो रही है, मैं लज्जित मुख लेकर आपके सम्मुख खड़ा हूँ।”

“नहीं कर्ण, तुम्हारी कीर्ति कलंकित नहीं होगी। कटि से खड्ग खींच लो और अपने कमलदल-जैसे सुकोमल मुख में उसके तीक्ष्ण फल को चलाओ। कवच की एक पपड़ी अलग होकर तुम्हारे हाथ में आ जायेगी। उसको पकड़कर अपने हाथों से कवच को उतारकर अलग कर दो, वैसे ही जैसे वृक्ष की छाल उतारते हैं। कर्ण, पाँचों दिशाओं की दिग्विजय केवल तुम...तुम्हीं कर सकते हो।”

“देवराज, आपके ऋण से मैं कैसे उऋण होऊँ ? यह तो मुझे सूझ ही नहीं सका। आप धन्य हैं।” उनकी आँखें अद्भुत आनन्द से चमक उठीं।

जल्दी जल्दी चलते हुए वे चबूतरे पर निश्चित स्थान पर आये। उन्होंने सर्र से खड्ग म्यान से बाहर निकाला। उस आवाज के साथ ही भय की एक गम्भीर सिहरन मेरे सम्पूर्ण शरीर में दौड़ गयी। उनके हाथ के खड्ग को रोकता हुआ मैं व्याकुल होकर बोला, “भैया, नहीं-नहीं। आपके कानों के कुण्डल आज पुनः निस्तेज हो गये हैं।

“शोण, कुण्डल आज सदैव के लिए निस्तेज हो जायेंगे। परन्तु आज उनके निस्तेज हो जाने की चिन्ता मुझे तनिक भी नहीं है। उनके सामने आज स्वर्ग भी निस्तेज हो जायेगा। दूर हटो।” उन्होंने खड्ग खींच लिया। मैंने उनके चरणों पर मस्तक रख दिया और धड़ाधड़ उसको पटकता हुआ चीखने लगा, “भैया, इतनी भिक्षा मुझे भी दे दो। कवच पर शस्त्र मत चलाओ।” मेरा मस्तक भिन्ना रहा था।

उनका किसी की भी ओर ध्यान नहीं था। पासे फेंकते समय शकुनि मामा इतने उन्मत्त नहीं थे, जितने कि इस समय भैया हो गये थे। सहभोज के समय मद्यपी दुर्योधन इतना उन्मत्त नहीं हुआ था, जितने इस समय कर्णराज थे।

आँखें बन्द कर, सूर्यस्तोत्र पढ़ते हुए अपने खोले हुए मुख में उन्होंने खड्ग का तीक्ष्ण फल खप से भोंक लिया। रक्त की एक-दो बौछारें देवेन्द्र के कटि-वस्त्र पर भी पड़ी।

"भैया SSS भैया SSS!" मैं बड़ी तीव्रता से चीख पड़ा। बचपन में उनके रथ के पीछे दौड़ते समय भी मैं इतना व्याकुल होकर नहीं चीखा था। परन्तु जैसा उस समय उनको मेरा क्रन्दन सुनाई दे गया था, वैसा आज सुनाई नहीं दिया। जैसे वृक्ष से छाल उतारते हैं वैसे ही वे अपने ही हाथों से अपना कवच अलग करने लगे। अंजीर का फल काटते ही अन्दर का रक्तवर्णी गर्भ जैसे अनावृत हो जाता है, वैसे ही उनका मांसल शरीर क्षण-प्रतिक्षण अनावृत होने लगा। गंगा के घाट पर बुर्ज जैसे जल से भीग जाता है, वैसे ही उनका शरीर उष्ण रक्त से भीग गया।

मेरी सम्पूर्ण देह में ऐसी यातनाएँ हो रही थीं जैसे कोई असंख्य बाणों की नोकों को चुभो रहा हो। आँखों के आगे चबूतरा घूम रहा था। मुझे चक्कर आ रहे थे। सिर दबाकर और फिर घुटनों में छिपाकर मैं तत्क्षण नीचे बैठ गया। अब सभी को ही नीचे बैठना था।

जैसे वस्त्र उतारते हैं वैसे ही हँसते-हँसते कवच उतारकर उन्होंने देवराज के हाथों में दे दिया। क्षण-भर में ही कुण्डल भी काटकर उसपर रख दिये। वे मन्द मन्द मुसकरा रहे थे। ऐसा कौन-सा आनन्द मिल गया था उनको ? हम सबकी आशा-आकांक्षाओं पर अंगारे डालकर उन्होंने देवेन्द्र के चरणों में पुष्प बिखरे थे। उनको क्या सुख मिला है—यह जानने के लिए मैंने सिर उठाकर उनकी मुद्रा देखी। मृत्यु भी इतनी बीभत्स नहीं होगी। सम्पूर्ण देह पर से कवच उतार देने के कारण अपने अनावृत रक्तरंजित शरीर से तथा कानों के कटे हुए निचले भागों से वे इतने विद्रूप दिखाई दे रहे थे कि मैं अवाक रह गया। वे चबूतरे पर ऐसे खड़े थे जैसे दावानल में आधा जलकर बुझा हुआ वृक्ष खड़ा हो। स्वयं को जैसे-तैसे सँभालता हुआ मैं उठा। मैं जीवित हूँ या मृत, यही समझ में नहीं आता था। वे वीर धनुर्धर, दिग्विजयी सेनापति, दानवीर कर्ण- आह अब वे कुछ भी नहीं थे ! वे तो विरूपता का एक विकृत पुतला मात्र दिखाई दे रहे थे। मेरी ओर देखकर वे सदैव की भाँति हँसे। परन्तु मुझे उनकी हँसी सदैव जैसी नहीं दिखाई दी। रक्तवर्णी मुख के भीतर से बाहर झाँकते हुए उनके चमचमाते सुनहले दाँत भयानक दिखाई दे रहे थे। सिर सुन्दर सुनहले केश कवच के साथ चले जाने के कारण वह गदा की तरह केवल गोल दिखाई दे रहा था। कानों के कटे हुए निचले भागों के पास पहले की तरह बैजनी सुनहली किरणें नहीं थीं। वहाँ थे संचित रक्त-बिन्दु। केवल रक्त-बिन्दु !

'वसु SSS !' उनको उस विरूप अवस्था में देखकर राजभवन की सीढ़ियों पर मूर्छित होकर गिरती हुई राधामाता लुढ़ककर चीखती हुई चौक में जा टकरायीं। उस विरूप दशा में भी आगे बढ़कर उन्होंने राधामाता को सँभालने का प्रयत्न किया। परन्तु उष्ण रक्त के स्पर्श से उनकी देह पर फफोले उठ रहे हैं, यह देखकर वे पुनः दूर हो गये। उस रक्तरंजित विरूप

शरीर में विशाल मन देखकर हँसा जाये या दैव की गति पर रोया जाये, यही मेरी समझ में नहीं आया। कवच-कुण्डल हाथ में पकड़े हुए इन्द्र के हाथ भी जल गये थे। परन्तु उनके मन की जलन शान्त हो गयी थी। उनका अर्जुन सुरक्षित हो गया था इसलिए ? या एक अद्वितीय दानवीर के दर्शन हो गये थे—इसलिए ? यह जान सकना सम्भव नहीं था। राजभवन की सीढ़ियाँ उतरकर वृषाली और सुप्रिया भाभी दानवीर की ओर दौड़ीं। परन्तु वे भी उनका स्पर्श नहीं कर सकती थीं। दूर से ही “ना SS थ ! महा SS रा SS ज !” कहकर हृदय-द्रावक रुदन कर रही थीं। मस्तक सुन्न हो रहा था। राजभवन के समस्त सौध भर गये थे। दिग्विजयी सौन्दर्यशाली वीर का विरूप पुतले में रूपान्तर सभी जन आँखों से अश्रु बहाते हुए देख रहे थे। लेकिन भैया चबूतरे पर निश्चल खड़े थे। जहाँ उनके हाथ से दान लेते समय तृप्त याचकों के अश्रु गिरे थे, उसी चबूतरे पर उनका गाढ़ा रक्त जम गया था। सभी जन 'हाय-हाय' कहकर व्याकुल हो उठे। मैंने कानों को हाथों से आच्छादित कर लिया। मेरे कानों को उनके जय-जयकार के अतिरिक्त और कुछ सुनने का अभ्यास नहीं था। उनकी विरूपता की अपेक्षा सबकी यह सहानुभूति मुझे असह्य लग रही थी।

चबूतरा छोड़कर वे देवेन्द्र के पास आये, धीरे धीरे। देवेन्द्र के चरणों से हाथ लगाते हुए वे बोले, "देवराज, किसी हृदय को यातना देते हुए मैं जीना नहीं चाहता। मेरे लिए इन सबका हृदय तिल-तिल कर टूट रहा है। यदि कर सको तो मेरे शरीर को सुरूप कर दो...नहीं तो यह खड्ग इस कण्ठ पर चला दो। अब मेरा मस्तक सहज ही धड़ से अलग हो जायेगा।" हाथ में लगा हुआ खड्ग भी उन्होंने देवराज के चरणों पर रखकर सिर झुका दिया। सदैव सुवर्ण की तरह चमकनेवाली उनकी प्रखर पीठ अब तप्त लोहे-जैसी दिखाई दे रही थी।

"उठो ! अंगराज कर्ण, तुम धन्य हो ! मैं सन्तुष्ट होकर तुम्हें एक अमोघ अस्त्र देता हूँ। वैजयन्ती अस्त्र !" देवेन्द्र ने उनको ऊपर उठाया और उनके सर्वांग पर हाथ फेरा। उनका शरीर धीरे-धीरे सुरूप दिखाई देने लगा। जैसे कुहासा छंट जाता है, वैसे ही रक्तवर्ण दूर हो गया। कवच चला गया, त्वचा आ गयी।

"जयतु दानवीर कर्ण !" आशीर्वाद देकर ब्राह्मण वेशधारी देवेन्द्र महाद्वार से बाहर चले गये। कवच-कुण्डल लेकर और अपनी पराजय उस चबूतरे पर पीछे छोड़कर।

अंगराज का कवच चला गया है, यह भूलकर अनेक जनों ने तुरत आगे बढ़कर उनको आलिंगनपाश में बाँध लिया। किसी ने घोषणा की—“दानवीर कर्ण !” "जीवेत् शरदः शतम् !" मुझको वे घोषणाएँ सुनाई नहीं दे रही थीं। कवच से टपके हुए अन्तिम रक्त-बिन्दुओं को मैं अनिमेष दृष्टि से जी भरकर देखने लगा। बधिर होकर। राजभवन के सौध पर ऊपर से फूल बरसाये गये—वे स्वर्ग से बरसाये गये थे या अन्यत्र कहीं से—यह देखने के लिए किसी के पास अवसर नहीं था। सबने स्नेहपूर्वक उनको घेर रखा था। वे क्या अनुभव कर रहे थे, यह बताना असम्भव था। आगे बढ़कर उन्होंने राधामाता को वन्दन किया।

"वसु SS!" राधामाता का कण्ठ अवरुद्ध हो गया था।

“वसु नहीं-वैकर्तन, मात !” उन्होंने शान्त भाव से कहा।

राधामाता ने उनके कटे हुए कानों को टटोलकर देखा। बावरा था उनका मातृ प्रेम । राधामाता को सँभालते हुए वे राजभवन की सीढ़ियों पर शान्तिपूर्वक चढ़ने लगे। उनके पुत्र, पुत्रवधू, आप्तेष्ट, मैं किसी का भी उनको भान नहीं था। दोनों ओर खड़े मुग्ध प्रेक्षक भावनावेग से उन माता-पुत्रों पर पुष्पवर्षा कर रहे थे। हाँ, उनका कवच-कुण्डलहीन शरीर सूर्य देखना नहीं चाहते थे, इसलिए वे पश्चिम क्षितिज से समय से कुछ पूर्व ही ढल चुके थे। चारों ओर सन्ध्याच्छाया घनीभूत हो रही थी। कवच-कुण्डल दान करके भैया ने क्या प्राप्त किया था ? किसी भी एक महान् योद्धा को गतप्राण कर देनेवाला इन्द्र का अमोघ वैजयन्ती अस्त्र ! और दिगन्तव्यापी दिव्य कीर्ति !

कर्ण

□

"मेरी सभी आशा-आकांक्षाओं पर तुमने पानी फेर दिया। किस लिए किया तुमने कवच-कुण्डलों का दान ? इस दान से दानवीर के रूप में त्रैलोक्य में तुम्हारी कीर्ति का डंका बज गया होगा; परन्तु अंगराज, इसी दान से वीर के रूप में समर्थों के राज्य का दावँ आज तुम्हारे प्रतिकूल पड़ा है। कवच-कुण्डलों के बिना कर्ण वैसा ही है जैसे फन के बिना भुजंग। अयाल के बिना सिंह। शिखर के बिना हिमालय। अब युद्ध में अर्जुन के सामने तुम कैसे खड़े हो सकोगे ?"

मेरे कानों के कटे हुए निचले भाग को देखकर राजा दुर्योधन का हृदय तिल-तिल कर टूट रहा था। मेरे सामने वह निरन्तर आहत व्याघ्र की तरह चक्कर काट रहा था।

"कवच कुण्डलों पर ही मेरा पराक्रम अवलम्बित था, तुम क्या यह समझते हो ? राजन्, कवच-कुण्डलों के बिना मैं अर्जुन का अन्त करूँगा।" मैं उसे सान्त्वना देने के लिए जाने क्या-क्या कह रहा था, परन्तु मेरे मन में भी दूर कहीं असमर्थता की टिटहरी कर्कश स्वर में टिटिया रही थी ही। सामर्थ्य के बिना योद्धा अर्थात् सुवादौत के विना हाथी। मेरे कवच-कुण्डल मेरी सामर्थ्य थे। कीर्ति के कठिन सोपान पर चढ़ने के लिए मैं उनका त्याग कर बैठा था।

'कवच कुण्डलों को सँभालना !' कहनेवाले पितामह को क्या उत्तर दूंगा। किसी भी परिणाम की आशंका से मेरा मन कम्पित नहीं हो रहा था। प्रत्युत् मेरे मन को अपने कृत्य पर अभिमान ही हो रहा था। उसको शब्दों में बाँधकर दुर्योधन को समझा देना सम्भव नहीं था। भाषा कितनी ही समृद्ध क्यों न हो, किन्तु मन के सभी भावों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। दुर्योधन का राजनीतिक मन भावना की तीव्रता को समझ ही नहीं सकता। वह व्याकुल होकर चक्कर काट रहा था।

"कर्ण, है ! तुम्हारे सामर्थ्यशाली बनने का केवल एक ही मार्ग अब शेष है।" बीच में ही रुककर मोटी भौंहों को ऊपर तानते हुए उसने जल्दी-जल्दी कहा ।

"कौन सा ?" मैंने आश्चर्य से पूछा ।

"ब्रह्मास्त्र प्राप्ति का।"

"किसके पास है वह ? बताओ राजन्, मैं उसके लिए आकाश-पाताल एक कर दूंगा।"

"कर्ण, मेरी इच्छा है कि तुम हम सबके लिए इस ब्रह्मास्त्र को प्राप्त कर लो। वह तुम्हें मिले या मुझे- -वात एक ही है। मेरी दृष्टि में नहीं एक ऐसे धनुर्धर हो जो ब्रह्मास्त्र के लिए

सर्वथा योग्य हो। श्वेत शुभ्र सुदृढ़ सुवादौत सदा बलवान् हाथी को ही शोभा देते हैं।"

"मेरे पास ब्रह्मास्त्र नहीं है, इस बात को तुम यदि इतनी तीव्रता से अनुभव कर रहे हो, तो फिर मैं उसे प्राप्त करके ही रहूँगा। चाहे कुछ भी करना पड़े, मैं उसको अवश्य प्राप्त करूँगा। इस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या योजना है, वग इतना बता दो।"

"इसके लिए तुम्हें गुरु द्रोण के पास जाना होगा। हस्तिनापुर में एकमात्र द्रोण ही ब्रह्मास्त्र विद्या जानते हैं। सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मपुत्र भगवान परशुराम ने ही उन्हें यह विद्या दी है, इसलिए तुमको गुरु द्रोण के पास ही जाना चाहिए।"

"राजन्, यह तुम क्या कह रहे हो ! जिन्होंने लक्ष-लक्ष नगरजनों के सम्मुख मेरे मन पर अपमान के धधकते हुए तप्त अंगारे रखे, मैं विवश होकर उन्हीं की शरण में जाऊँ ? जिनके हृदय में इस कर्ण के प्रति ममता का एक शब्द भी शेष नहीं, उनके आगे नतमस्तक होकर खड़ा होऊँ ? इन्द्र को याचक के रूप में द्वार पर खड़ा करानेवाला मैं द्रोणजी के द्वार पर भिक्षुक बनकर खड़ा रहूँ ? यह तुम क्या कह रहे हो !"

"हाँ कर्ण, जीवन कुम्भकार के चाक जैसा है। काल कुम्भकार का रूप धारण कर इस चाक को मनमानी गति से घुमाता रहता है। वहाँ किसी की इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसीलिए तो कालरूपी वह कुम्भकार चाहे जैसे घट यार कर लेता है। जीवन में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जबकि अपान को एक ओर रखकर कर्तव्य का निर्वाह करना ही पड़ता है। तुम यदि आज इस बात से इनकार कर दोगे तो..."

"तो क्या होगा ?"

"इस दुर्योधन के जीवन में भी वह एक पराजय मानी जायेगी। मैं शकुनि मामा को तुम्हारे सम्बन्ध में वचन दे आया हूँ, तुमसे बिना ही।"

"क्या वचन दिया है तुमने उनको ?"

"मेरे लिए कर्ण गुरु द्रोण के पास जाकर ब्रह्मास्त्र अवश्य सीखेंगे। यदि वे नहीं गये तो....तो मैं स्वयं जाऊँगा। परन्तु उस समय कर्ण और दुर्योधन के सम्बन्ध टूट चुके होंगे।"

"राजन्, क्या यही कसौटी बनायी है तुमने मेरे लिए ? तुम्हारे प्रेम के लिए मैं समय आने पर त्रैलोक्य को भी ठुकरा सकता हूँ, परन्तु उन द्रोण के द्वार पर हाथ जोड़कर मैं कैसे खड़ा होऊँ ? कर्ण एक बार मरण स्वीकार कर सकता है, परन्तु अपने स्वाभिमान को, अपने व्यक्तित्व को वह कभी नहीं मरने देगा। कैसे विचित्र जाल में उलझा दिया है तुमने मुझे ? क्या करूँ मैं ?"

"नहीं ! तुमको यदि इतनी पीड़ा हो रही हो, तो मैं द्रोण के पास जाने के लिए तुमसे बिलकुल आग्रह नहीं करूँगा। परन्तु ध्यान रखना अंगराज कर्ण, दुर्योधन जैसे प्रेम करता है,

वैसे ही वह कठोर कटुता भी जानता है। अब भविष्य में अंगराज कर्ण आर्यावर्त के एक सामान्य राजा के रूप में ही दुर्योधन के सामने आयेंगे, मित्र के रूप में नहीं। चलता हूँ मैं।"

"ठहरो, राजन् ! मैं जाने को तैयार हूँ। अपने लिए जो मैं तीनों काल में कभी नहीं करता, उसको केवल तुम्हारे लिए मैं करूँगा। जिन्होंने मुझे सदैव उपेक्षा के खारे समुद्र में प्राण घुटने तक डुबोया, उन्हीं द्रोण के द्वार पर एक शिष्य के रूप में मैं खड़ा होऊँगा। केवल तुम्हारे लिए। तुम्हारी और अपनी मित्रता के लिए। आज ही राजज्योतिषियों को बुलवा लो और जाने के लिए शुभ मुहूर्त दिखवा लो। वह ब्रह्मास्त्र है, शुभ घड़ी देखकर जाना ही अच्छा।"

"साधुवाद कर्ण !" उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर आनन्दातिशय से दबाया। उसकी उस पकड़ में मेरे प्रति उसकी भावना तीव्रता से प्रकट हो रही थी। उसकी आँखें आनन्द से चमक रही थीं। मेरी ओर वह भावाभिभूत होकर एकटक देख रहा था। उसकी कंजी आँखों से कृतज्ञता की ऐसी भावनाएँ प्रकट हो रही थीं, जो मैंने पहले कभी नहीं देखी थीं।

मेरे मन के गर्भगृह में केवल 'ब्रह्मास्त्र ! ब्रह्मास्त्र !' शब्द चक्कर लगाते हुए उलटे-सीधे नाचने लगे। अश्वत्थामा से मैंने यह सुना था कि वह अस्त्र भयंकर मानव-संहारक है। मेरा मन उलटे सीधे विचारों के चंगुल में फँस गया। किस लिए इस ब्रह्मास्त्र का निर्माण हुआ होगा ? वह केवल मानव-संहारक ही नहीं था, बल्कि उस अस्त्र से समस्त दृश्य वस्तुओं का अक्षरशः सर्वनाश हो सकता था। इस रमणीय सृष्टि के निर्माण में लाखों वर्ष लग गये होंगे, परन्तु इस ब्रह्मास्त्र से वह सृष्टि क्षण-भर में ही अस्तित्वहीन हो जायेगी। प्रकृति ने सुख से जीने के लिए मनुष्य को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बुद्धि दी थी या...या अपना विनाश करने के लिए ? क्या ब्रह्मास्त्र प्राप्त करना चाहिए ?—यह प्रश्न यदि मुझसे पूछा गया होता, तो उसका मैंने यही उत्तर दिया होता कि 'नहीं !' क्योंकि मेरा मूल स्वभाव ही शान्तिप्रिय था। स्वयं जीयें, सम्मान से जीवित रहें और अन्यो को जीने दें-यही मेरी वास्तविक विचारधारा थी। समय आने पर मैं अपनी मृत्यु स्वीकार कर सकता था, परन्तु केवल स्वार्थहेतु जीने के लिए ही अन्यो को पैरों-तले कुचलने की बात मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता था। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व-यही मेरी मूल प्रकृति थी। परन्तु...

परन्तु मेरी इच्छा का प्रश्न अब शेष रहा ही नहीं था। वह अस्त्र अर्जुन के पास था। मुझको सदैव सन्तप्त करनेवाले प्रतिद्वन्द्वी के पास। यदि मैं उसको प्राप्त न करता तो ? अपने प्रतिद्वन्द्वी को मैं कैसे रोक सकता था ? जीवन की सभी समस्याओं का समाधान तत्त्वज्ञान की चिकनी भूमि पर ही तो खड़े रहकर नहीं किया जा सकता। उसके लिए कभी-कभी व्यवहार के कठिन काले पाषाण पर खड़ा होना पड़ता है। मेरे लिए अब केवल एक ही अटल मार्ग शेष रह गया था और वह था ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लेना। मेरी इच्छा हो या न हो-

आस-पास की परिस्थिति ने ही मुझे उसके लिए विवश कर दिया था। काल ने ही मुझे तैयार किया था। काल सदैव एक क्रूर व्याघ्र की तरह होता है। मानव जाति के अनेक रम्य स्वप्नों को वह सदैव सहजभाव से अपनी पीठ पर मृगया की तरह डालकर तीव्र गति से दौड़ता रहता है। क्या निष्पन्न होगा इस ब्रह्मास्त्र से ? सचमुच ही क्या उपयोग है इन विध्वंसक अस्त्रों का ? लेकिन कौन देगा इसका उत्तर ? सभी तो काल के दास हैं। इस अस्त्र से किसका कल्याण होगा ? जहाँ सभी कुछ जलकर राख हो रहा हो, वहाँ कैसा सुख ? और शान्ति भी कैसी ?

मेरा मन ऐसे प्रश्नों के प्रहारों से एकदम उद्विग्न हो गया। दुर्योधन को स्वीकृति देकर मैंने कोई भूल तो नहीं की ? हजारों बार यह प्रश्न मैंने अपने-आपसे पूछा; परन्तु एक बार भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। मुझको अश्वत्थामा की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उसके मुख से निःसृत अमृतमय चार शब्द सुनकर एक अवर्णनीय अनुपम समाधान प्राप्त होता था। दुविधाग्रस्त मनोदशा में उसका सहज तत्त्वज्ञान मुझे सदैव धैर्य प्रदान करता आया था। मनुष्य भावनाओं पर जीता है, यह बात सत्य हो सकती है, परन्तु वह केवल भावनाओं पर ही जीवित नहीं रहता। तत्त्वज्ञान एक ऐसा मार्ग है जो समय आने पर उसे अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। मैंने ब्रह्मास्त्र प्राप्त करने का जो निर्णय किया था, वह तत्त्वज्ञान का ही एक भाग नहीं था क्या ? व्यवहार या तत्त्वज्ञान ? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैंने सिर पर से राजमुकुट उतारा। देह पर से राजवस्त्र उतारे। एक सादा वस्त्र पहनकर, कन्धे पर उत्तरीय डालकर अश्वत्थामा के पास जाने के विचार से युद्धशाला के मार्ग से पैदल ही चल दिया। मैं राजा के वेष में नहीं था और रथ जोतने के लिए भी मैंने नहीं कहा था-यह देखकर दास-दासियाँ सब मेरी ओर आश्चर्य से देख रहे थे।

विचारों की तन्द्रा में ही चलते-चलते कब मैं युद्धशाला के समीप आ गया, इसका भी मुझे पता न चला। भीतर परिसर भूमि में तीन-चार पर्णकुटियाँ थीं। उनमें अश्वत्थामा, गुरु द्रोण और कुछ ऋषिकुमार रहते थे। वैसे मैं जब-तब अश्वत्थामा की पर्णकुटी में आता-जाता रहता था; परन्तु कार्यवशात् । ऐसे समय वह सदैव हँसता हुआ मेरा स्वागत करता था। भूमिचम्पा के फूल-जैसा उसका स्वभाव चारों ओर से आनन्द उत्पन्न करनेवाला था। गुरु द्रोण सदैव एकाकी एक पर्णकुटी में रहते थे। उनकी वह पर्णकुटी मध्यभाग में थी। उनके पास ही अश्वत्थामा की पर्णकुटी थी।

सदैव की भाँति मैं उसकी पर्णकुटी के सामने जाकर खड़ा हो गया। वहाँ उस सजीव दृश्य को देखकर ब्रह्मास्त्र के सम्बन्ध में मेरे अनेक तुच्छ विचार ऐसे ही तितर-बितर हो गये जैसे पवन से मेघ विकीर्ण हो जाते हैं।

कठिनता से समझ में आनेवाले जीवन, मुक्ति, आत्मा, संयम आदि विषयों पर सदैव बातें करनेवाला, मुझे सदैव आकाश की तरह विशाल लगनेवाला अश्वत्थामा एक छोटे बालक

की तरह आठ-दस दिन पहले जन्मे एक मोहक बछड़े से तुतली भाषा में बातें करता हुआ स्वयं को भूल गया था। उस बछड़े की झब्बेदार पूँछ को वह बीच-बीच में अपने स्वच्छ गालों पर फेर रहा था। मुझको देखते ही वह गम्भीरता से उस बछड़े से बोला, "वृषभपुत्र, अपने यहाँ कौन आये हैं, देख लिया ? वचनपूर्ति के लिए देवराज इन्द्र को कवच-कुण्डलों का दान करनेवाले, हस्तिनापुर के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हैं ये ! सूर्यदेव के लाइले शिष्य हैं ! द्वार पर आये हुए प्रत्येक अतिथि का ये स्वागत करते हैं। तुम भी उनका स्वागत करो। लेकिन भाई, केवल सूखा स्वागत करने से काम नहीं चलेगा। अपने भाग का आधा गरम-गरम दूध आज तुमको इन्हें देना होगा। तैयार हो न ?" उसने उस बछड़े के कान के पास अपना मुँह ले जाते हुए उससे पूछा ।

उस बछड़े ने भी अपनी बेर-जैसी बड़ी बड़ी आँखें मुझपर लगाते हुए क्षणभर को कान खड़े कर लिये। पूँछ का गुकुमार झब्बा ऊपर उठाकर उसे एक मोहक झटका दिया और 'हम्मा SS' कहकर वह जोर से रँभाया। मानो अश्वत्थामा की भाषा वह समझ ही गया हो। उसके कथन को उसने स्वीकृति दे दी थी। अश्वत्थामा उसके रंभाने से अत्यन्त प्रसन्न हो गया। उसने बछड़े के कपाल पर की सुकुमार मृदु रोमराजि को अपनी लम्बी उँगलियों से भण-भर खुजाया। मैं उन दोनों की ओर मुग्ध होकर देखता रहा। मुझे वे चेतना के दो विलोभनीय रूप ही प्रतीत हुए। क्षण-भर को विचार आया कि यदि मैं भी ऋषिकुमार हुआ होता तो मेरा जीवन भी क्या ऐसा ही न होता ? अश्वत्थामा जैसा।

उसकी पर्णकुटी में मृगाजिन पर बैठकर हमने अनेक विषयों पर गप्पें मारी। बातों ही बातों में मैंने सहज ही ब्रह्मास्त्र का उल्लेख किया, तत्क्षण ही वह अत्यन्त गम्भीर होकर बोला, "कर्ण, जीवन केवल श्वेत-कृष्ण रंग की पट्टियों से चित्रित वस्त्र नहीं है। इस पर मटमैले रंग की कुछ घनी घटाएँ भी हैं।" उसने क्या कहा, यह मैं अच्छी तरह समझ नहीं पाया, परन्तु मैंने अपनी उत्सुकता बढ़ने नहीं दी। उसने दूध लाकर दिया । दूध पीकर, उससे अनुमति लेकर पर्णकुटी से बाहर निकला। बाहर उज्ज्वल स्वच्छ चाँदनी छिटकी हुई थी। राजभवन की ओर जाते-जाते मेरे मन में विचार आया कि जीवन केवल श्वेत-कृष्ण रंग की पट्टियों से चित्रित वस्त्र नहीं है। कभी-कभी उस पर मटमैले रंग की घनी घटाएँ भी पड़ जाती होंगी,...परन्तु उस वस्त्र की किनारी निश्चय ही रुपहली होनी चाहिए। क्योंकि उस स्वच्छ, शीतल ज्योत्स्ना में समस्त चराचर पर रुपहली झालर चढ़ी हुई थी। धरतीरूपी बालक चाँदनी के सरोवर में जी भरकर डुबकियाँ लगा रहा था।

धीरे-धीरे चरण रखता हुआ, चन्द्रिका का जी-भर आनन्द लूटता हुआ, बड़ी देर बाद मैं राजभवन के महाद्वार के पास आया, द्वारपाल ने मुझको बिना पहचाने ही रोका, "कौन है ?"

सिर उठाकर मैंने उसकी ओर देखा। मेरे कानों के कटे हुए निचले भाग हिल उठे। उनको देखते ही उसने मुझे तुरन्त पहचान लिया। मैं कुछ समझ सकूँ, इससे पहले ही वह मेरे चरणों पर लोट गया और आकुल स्वर में बोला, “महाराज, क्षमा करें ! आज आपके इस वेष के कारण मैं आपको बिलकुल ही पहचान न सका।”

कुछ न कहकर उसके भुजदण्ड पकड़कर मैंने ऊपर उठाया। पास ही पड़ा हुआ उसका भाला उसके हाथ में पुनः दे दिया। क्षण-भर उसके कन्ध को थपथपाकर मैंने महाद्वार के भीतर पैर रखा। यों ही मेरे मन में आया-जीवन केवल श्वेत-कृष्ण रंगों की पट्टियों से रँगा हुआ वस्त्र नहीं होता है, कभी-कभी उस पर मटमैले रंग की बनी घटा भी होती है, उसकी रुपहली किनारी भी होती है। और ऐसी किनारी का एकाथ निकला हुआ धागा यों ही बाहर लटकता रहता है...उस पागल द्वारपाल की तरह।

प्रातःकाल मुझे शोण से पता चला कि ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति के लिए गुरु द्रोण के पास जाने का सुमुहूर्त राज-ज्योतिषियों से पूछकर राजा दुर्योधन ने निकलवा लिया है। सौभाग्य से वह रविवार ही था। सन्ध्या समय गोधूलि वेला के मुहूर्त में मुझे उनके पास जाना था। अब शायद भविष्य में गुरु द्रोण के साथ युद्धशाला में ही मुझे रहना पड़े। मेरी अनुपस्थिति में अंगदेश की सभी राजव्यवस्था दुर्योधन ने स्वयं देखने का निश्चय कर लिया था। हमारी यह योजना मेरे, दुर्योधन तथा शोण के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ज्ञात नहीं थी।

दो

रविवार का दिन उदित हुआ। भोर के समय से ही मैं गंगा के जल में खड़ा था। प्रातःकाल से दोपहर तक मेरा मुख पूर्व की ओर था। दोपहर के बाद मैंने उसको पश्चिम की ओर मोड़ा। दोपहर के बाद जैसे ही सूर्यदेव नीचे की ओर ढलने लगे, मैंने शान्तिपूर्वक आँखें बन्द कर लीं। निमीलित नेत्रों के सम्मुख तेजस्वी किरणों का अपार समुद्र फैला हुआ था। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश था। तेजस्वी प्रकाश और निस्तब्ध नीरवता। इस असीम जगत् ही बातें मुझे सत्य प्रतीत होती थीं। एक तो अनादि काल से अपने दिव्य प्रकाश से चराचर को विभासित करनेवाले सूर्यदेव और दूसरी उनकी प्रकाश किरणों से अणु-अणु तक प्रफुल्लित होती आयी यह धरती। असंख्य स्वरूपों में सुसज्जित पुरातन धरती। सूर्यदेव और धरती...धरती और सूर्यदेव ! इन दोनों के बीच मैं कौन था ? दोनों को जोड़नेवाली एक प्रकाश किरण या धरती पर मिट्टी का केवल एक कण ? विचारों के चक्र घूम रहे थे, जीवन-निर्माण का उद्देश्य ढूँढ़ रहे थे।

आँखों के आगे वह तेजस्वी प्रकाश धूमिल होता जा रहा है, यह प्रतीत होते ही मैंने आँखें खोली। पश्चिम क्षितिज पर पर्वतशिखरों के उस पार परशु के आकार की एक कला आकाश में खड़ी थी। किनारे पर आर्द्र बालुका में दुर्योधन मेरी राह देखता हुआ खड़ा था। वह कब आया था और कितनी देर से खड़ा था, भगवान् जानें। उसके हाथ में फलों से भरा हुआ एक थाल था। उसमें दूध-भरा एक बड़ा पात्र भी था। उसे देखते ही मेरा मन भिन्न प्रेम से भर आया। मेरे लिए फलों का थाल हाथों में लेकर खड़ा रहनेवाला वह हस्तिनापुर का युवराज है-क्या इस बात को कोई कभी सच मान सकता था ? कितना सचेत और तत्पर था वह ! ब्रह्मास्त्र प्राप्ति के लिए हम दोनों जो प्रयत्न कर रहे थे, उसका पता किसी अन्य को न चले इसलिए उसने फलों का थाल उठाने के लिए भी किसी दास को साथ नहीं लिया था। उसके उस निश्छल प्रेम का साक्षी कौन था ? केवल गंगा ही ।

जल से बाहर आया। किनारे पर रखा हुआ सूखा वस्त्र वायु से उड़ गया था। पास पहुँचते ही दुर्योधन मेरे हाथ में थाल देता हुआ बोला, “कर्ण, पहले फलाहार करके दूध पी लो। प्रातःकाल से तुमने कुछ भी नहीं खाया।”

मैंने उसके हाथ से थाल ले लिया। एक मित्र के रूप में वह मुझे वटवृक्ष की रह ही विशाल लगा। एक कुरुश्रेष्ठ वीर एक क्षुद्र सूतपुत्र के लिए हाथ में थाल लेकर घण्टों तक गंगा के निर्जन तट पर प्रतीक्षा करता हुआ खड़ा रहा था। दुर्योधन को बुरा कहनेवाले लोग वज्रमूर्ख हैं। सच्चे अर्थों में वह वीर है और मित्र तो है ही। मैंने थोड़े-से फल खाकर दूख पिया। इसी बीच मेरे दूर रखे हुए वस्त्र को दुर्योधन ले आया। मुझे तत्क्षण शोण की स्मृति हो आयी ।

देह पर के भीगे वस्त्र बदले। दुर्योधन ने अपने कन्धे पर का उत्तरीय मेरे कन्धों पर डाल दिया। मुझसे रहा न गया। मैंने उससे कहा, “राजन्, तुम अब वापस जाओ । मैं ब्रह्मास्त्र अवश्य प्राप्त करूँगा। विश्वास रखो, यह कर्ण का वचन है।

उसने एक बार मेरी ओर देखा। उसकी घनी भौंहे क्षण-भर को जहाँ की तहाँ फड़क उठीं। अस्त होते हुए सूर्यदेव की एक भूली-भटकी किरण उसके मुख पर पड़ रही थी। उस किरण में उसकी रक्तवर्णी मुद्रा एक विचित्र ही आनन्द से दमक रही थी। उसने अपनी पुष्ट हथेलियों से मेरे कन्धे पकड़ लिये। क्षण-भर उनको जोर से हिलाकर बिना कुछ कहे ही वह लौट गया। परन्तु उसकी सतेज आँखें स्पष्ट रूप से मुझसे कह रही थीं। “जाओ, मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।” वह मुड़ा और राजभवन की ओर चल दिया। नीचे बालू में अपने दृढ़ पैरों को गाड़ता हुआ, धीर-गम्भीर भाव से।

राजभवन के मार्ग पर उसकी लम्बी विशाल आकृति पश्चिम की ओर धीरे-धीरे क्रमशः छोटी होती गयी। दृढ़ पैरों की एक स्पष्ट रेखा दूर तक नीचे आर्द्र बालू में अंकित होती गयी। मैंने मन ही मन धीरे से कहा, “दुर्योधन, कर्ण जिस दिशा में चल देता है, उसको अपनी

बनाकर छोड़ता है। निश्चिन्त रहो।' गुरु द्रोण की पर्णकुटी की ओर मैंने पैर रखा। मन शान्त और गम्भीर था। आकाश में कारण्डव पक्षियों के इक्का-दुक्का जोड़े कलकल करते हुए किनारे पर बच्चा-वृक्षों पर बने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। चारों ओर सन्ध्याछाया फैली हुई थी। मैं युद्धशाला की दिशा में गुरु द्रोण की पर्णकुटी की ओर जा रहा था। उस मार्ग में अनेक टेढ़े-मेढ़े मोड़ थे। जीवन भी ऐसे ही मोड़ लेती हुई जानेवाली पगडण्डी है-मुझको ऐसा ही प्रतीत हुआ। मेरे जीवन में आज का यह मोड़ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। दुर्योधन के लिए मैं शिष्य के रूप में द्रोणाचार्यजी के द्वार पर खड़ा होने जा रहा था। सचमुच ही जीवन-यात्रा में किस मोड़ पर किससे भेंट हो जायेगी इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताया जा सकता। और इन भेंटों से क्या-क्या निष्पन्न होगा—यह बताना तो और भी असम्भव है। चार दिन पहले, इन्द्र से भेंट होगी और वे कवच कुण्डलों का दान माँगेंगे, इस बात को ही भला किसने सोचा था ? परन्तु वह हुआ था। उस घटना के कारण ही आज मुझे गुरु द्रोण के द्वार पर खड़ा होना पड़ रहा था।

विचारों में डूबा हुआ मैं गुरु द्रोण की पर्णकुटी के सामने आया। सन्ध्याकाल की नीरव-निःशब्द शान्ति सर्वत्र छापी हुई थी। युद्धशाला के चारों ओर पाषाण-निर्मित प्राचीर की दरारों में कहीं झींगुर लय में किरकिर कर रहे थे। कुछ भूले-भटके पक्षी अब भी नीड़ों की ओर लौट रहे थे। पर्णकुटी में शान्ति थी। एक कोने में अग्निकुण्ड था। उससे उड़नेवाली तप्त चिनगारियाँ पर्णकुटी की विरल भित्तियों के कारण वाहर से स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। थोड़ी देर बाहर ही खड़ा रहा। मुझे अखाड़े का वह दिन स्पष्ट रूप से याद आया वह प्राणलेवा अपमान अब भी मेरे मन के कुण्ड में कहीं ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। वह अब क्षण-प्रतिक्षण उमड़-उमड़कर आने लगा। मनुष्य एक बार मुख और आनन्द के क्षणों को भूल सकता है, परन्तु दुख के और विशेष रूप से अपमान के क्षणों को तो वह प्रयत्न करने पर भी भुला नहीं पाता। अपमानित मन का अर्थ है अविरत तड़पन । जिन गुरु द्रोण ने एक बार, चाहे अनजाने ही, सहस्रों नगरजनों के सम्मुख मुझे अक्षरशः ठुकराया था, क्या उन्हीं के पास विवश होकर फिर जाया जाये ? स्वाभिमान की बलि देकर क्या झूठ-मूठ को हँसा जाये ? छिः, जीवन यदि एक मनमौजी बालक नहीं है तो और क्या है ? बालक हाथ में लगे खिलौने से इच्छानुसार खेलता है पर जब मन में आता है तभी फेंक भी देता है। इसी प्रकार जीवन भी मनुष्य को इच्छानुसार घुमाता रहता है। जहाँ चाहता है वहाँ फेंक देता है। क्या ऐसा एक भी मनुष्य इस जगत् में होगा, जिसके हाथ में अपने जीवन की सम्पूर्ण बागडोर हो ? सम्भव ही नहीं। मनुष्य पराधीन है। वह निश्चित रूप से किसके अधीन है, यह नहीं बताया जा सकता; परन्तु वह किसी न किसी के अधीन है अवश्य। मनुष्यरूपी इस गुड़िया को न जाने कौन घुमाता है ! और यह अखण्ड तथा अविरत प्रयत्न किस लिए हो रहा है, वह भी कुछ बताया नहीं जा सकता। क्या यह केवल जीने के लिए हो रहा है ? हो सकता है कि ऐसा ही हो, परन्तु मनुष्य को ही जीने की इतनी तीव्र इच्छा क्यों होती है ? इस तीव्र

इच्छा के वशीभूत होकर ही क्या मैं गुरुद्रोण के द्वार पर खड़ा हुआ हूँ? आह ! मैं अपने लिए नहीं आया; मुझको अपने परमप्रिय मित्र के मनोरथ पूर्ण करने थे। जो अपने लिए जोता है वह कैसा मनुष्य ? दूसरे के सुख के लिए मुझे अपने अभिमान का आज शान्त मन से होम करना था। कभी-कभी अपमान को एक ओर हटा देना पड़ता है। यदि उसको पूर्ण रूप से एक ओर हटा देना सम्भव न हो तो कुछ समय तक तो उसे चुपचाप निगलना ही पड़ता है।

निश्चय करके पर्णकुट के बन्द किवाड़ को बायें हाथ से भीतर धकेलकर मैंने पूर्णकुटी में पैर रखा। मेरे जीवन में यह पहला ही अवसर था कि मैं इस पर्णकुटी में आया था।

गुरु द्रोण एक व्याघ्रचर्म पर आँखें बन्द किये, पद्मासन लगाये, शान्त बैठे हुए थे। मेरे पैरों की तथा किवाड़ की आवाज सुनकर उन्होंने धीरे से आँखें खोली । मैंने झटपट आगे बढ़कर उनको वन्दन किया। कैसे भी क्यों न हों, वे अब मेरे गुरु होनेवाले थे।

"कौन है ?" पर्णकुटी में रखे मिट्टी के दीपक के प्रकाश में मेरी मुखमुद्रा अच्छी तरह दिखाई न देने के कारण उन्होंने ग्रीवा ऊँची कर पूछा।

"मैं कर्ण हूँ।" मैंने सिर झुकाकर उत्तर दिया। मेरे हाथ जुड़े हुए ही थे। अन्तरतम में असंख्य यातनाएं हो रही थी-परिस्थितियों द्वारा वैरी हुई, जीवन द्वारा सम्मुख रखी गयी विवशता की।

"कर्ण! इस असमय में?"

"ब्रह्मास्त्र विद्या सीखने के लिए मैं अत्यधिक इच्छुक हूँ। मैं चाहता हूँ कि आपके चरणों में रहकर उसको प्राप्त करूँ।

"ब्रह्मास्त्र विद्या ! यह विद्या केवल क्षत्रियों के लिए है, यह क्या तुम जानते नहीं ?" उनके सम्मुख यन्नकुण्ड में चिनगारियाँ तड़तड़ कर रही थीं।

"मैं भी अब क्षत्रिय ही हूँ। मैं अंगदेश का अभिषिक्त राजा हूँ। दिग्विजयी वीर हूँ। अपने कवच कुण्डलों का दान मैंने देवराज इन्द्र को किया है, गुरुदेव !"

"तुम क्षत्रिय नहीं हो। अंगदेश के राजा हो जाने के कारण क्या अपने को क्षत्रिय समझते हो ? व्याघ्र का चर्म पहनने से कोई गर्दभ को व्याघ्र नहीं कहता।"

"सभी नगरजन अब मुझको क्षत्रिय ही मानते हैं। दिग्विजयी होने के कारण मेरे सम्मुख प्रणत होते हैं। दानवीर कहकर मेरा आदर करते हैं।"

"वे तुम्हें कुछ नहीं समझते। वे समझते हैं दुर्योधन के राजदण्ड को। तुम दुर्योधन की दृष्टि में क्षत्रिय हो सकते हो, परन्तु जग की दृष्टि में एक सूतपुत्र ही हो। हीन हो। क्षुद्र हो। गाँव के परिसर में रहकर भूँकनेवाले सारमेय को वनराज की समता कभी नहीं करनी चाहिए। जाओ।

उनका एक-एक शब्द शूल के अग्रभाग की तरह मेरे हृदय में चुभ रहा था। मेरा मन ऐसे क्रन्दन कर रहा था जैसे कँटीली डण्डी से पीटा जा रहा हो। कौन है सिंह और कौन है सारमेय ? इसकी कसौटी क्या है ? केवल कुल ! कुल की श्रेष्ठता का वही पुरातन मैला-कुचैला ध्वज आज भी हाथ में नचाते हुए ये लोग किस-किसको पैरोंतले रौंदेंगे ? मेरी एक-एक नस सर्-सर् तप्त होने लगी। फिर भी संयम से स्वयं को सँभालता हुआ मैं बोला, “मैं सूतपुत्र हूँ, यह क्या मेरा दोष है ? किस कुल में जन्म लिया जाये, यह क्या मनुष्य के हाथ में है ? मैं एक शिष्य के रूप में सदैव आपके चरणों के पास रहूँगा। ब्रह्मास्त्र के लिए आप जो कहेंगे, वही महान् पराक्रम करूँगा। शिष्य बनकर आपकी सेवा करूँगा।”

“तुम सूतपुत्र हो । तुम्हारे हाथ में ब्रह्मास्त्र देने का अर्थ है मर्कट के हाथ में मशाल देना।” उन्होंने आँखें बन्द कर ली।

उनके अहंकार से भरे हुए उन क्रूर शब्दाघातों से मेरा साधक मन टूक-टूक हो गया। किसी ने यदि खड्ग के एक ही प्रहार से मेरे मस्तक को धड़ से अलग कर दिया होता, तब भी मुझे इतना दुख न हुआ होता, इतनी असह्य यातनाएँ न हुई होती। सहनशीलता सद्गुण हो सकता है, किन्तु विवश स्तब्धता भी क्या दुर्गुण नहीं ? मेरे तप्त मस्तक की नसें तन उठीं। आँखों में जैसे यज्ञकुण्ड प्रज्वलित हो उठे। सारी शक्ति को एकत्रित कर मैं जैसे-तैसे चिल्लाया, “गुरु द्रोण, आप यह बात किससे कह रहे हैं ? मैं सूतपुत्र हूँ यही आप पुनः-पुनः चिल्लाकर कहना चाहते हैं क्या ! तो फिर आज से मैं ही गरज-गरजकर संसार से कहूँगा कि 'मैं सूतपुत्र हूँ ! मैं सूतपुत्र हूँ !! जन्म दैव के अधीन है, परन्तु पुरुषार्थ मेरे हाथ में है, मेरे हाथ में ।' मुझे आपके ब्रह्मास्त्र की बिलकुल आवश्यकता नहीं। और यदि आवश्यकता पड़ी भी तो उसको मैं एक सूतपुत्र के रूप में ही प्राप्त करूँगा। स्वतन्त्र रूप में, बिना आपके ।”

पर्णकुटी के किवाड़ पैर से धकेलकर मैं दुखी हो बाहर आया। कुटी के बाहर अश्वत्थामा आकर न जाने कब खड़ा हो गया था। हमारा मर्मभेदी बार्तालाप उसने सुन लिया होगा। वह अपने दोनों हाथ फैलाकर मुझे रोकने लगा। मैंने उसके हाथों को झिड़क दिया। अब...अब मैं किसी का तत्त्वज्ञान नहीं सुनना चाहता था। “कर्ण, ठहर ! कर्ण, ठहर !” कहता हुआ वह आर्त स्वर में चिल्ला रहा था। उसके शब्द मात्र मेरे कानों में घुस रहे थे। उनका अर्थ कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था। अपमान ! अपमान ! अपमान ! मन आक्रोश से भरा था। मेरा जीवन क्या केवल अपमान ही है ? कर्ण, 'सूतपुत्र-सूतपुत्र' कहकर तेरी घोर अवमानना कर यह संसार क्या तुझे घोट-घोटकर मार ही देगा ? संसार से 'सूतपुत्र' कहलवाने के लिए ही क्या तेरा जन्म हुआ है ? आह, यदि मैं सूतपुत्र हूँ तो फिर मुझे ये शब्द ऐसे क्यों लगते हैं जैसे किसी ने हृदय में बाण मार दिया हो ? मैंने एक बार अपमान सहन कर लिया है, इसका संसार ने क्या अर्थ लगाया ? मुझे चाहे जब छोड़ा जा सकता है, चाहे जो मन में आये वह कहा जा सकता है—संसार यही समझता है क्या ? आज संसार कर्ण के सम्बन्ध में आखिर

क्या सोचता है ? वह हीन है, क्षुद्र है, स्वाभिमान नाम की कोई वस्तु उसके पास है ही नहीं, उसका अपना कोई स्थान नहीं है क्या सब यहीं समझते हैं ? मेरे मस्तक में प्रश्नों के असंख्य रथ मनमाने दौड़ने लगे। शरीर का रक्त सनसनाकर तप्त हो उठा था। छाती में बाण लगे हुए कृष्ण मृग की तरह सुन्न मन से राजभवन की ओर तीव्र गति से चला जा रहा था। चारों ओर अन्धकार था। जीवन पर से विश्वास को नष्ट कर देनेवाला अन्धकार । प्रकाश की असंख्य किरणों को पचाकर शेष रह जानेवाला कालाकिट्ट अन्धकार । अपने हाथ में काल की काली सुइयाँ लेकर काले धागों से काले वस्त्रों की अखण्ड कालिमा निर्माण करनेवाला कालाकिट्ट अन्धकार । मेरे हृदय में अपमान भरा था, आसपास किट्टकाला अन्धकार था। अन्धकार और अपमान । अपमान और अन्धकार । मेरे प्राण क्षण-प्रतिक्षण घुटने लगे। आसपास रात्रि के अन्धकाररूपी सम्राट के सहायक होकर झींगुर पूरी शक्ति लगाकर चिल्ला रहे थे। ये काले घृणित प्राणी ! क्षुद्र कीट ! ये भी आज मुझे 'सूतपुत्र ! सूतपुत्र !' कहकर चिढ़ा रहे थे। आज जग ही उलटा हो गया है क्या ? प्रत्येक यथाशक्ति कर्ण को पीड़ित करने का ही प्रण कर रखा है ? अपमान की वास्तविक पराकाष्ठा कब होती है ? जिस समय वह पहली ही बार सहन किया जाता है उसी समय । जिसने किसी भी कारणवश एक बार अपमान सहन कर लिया, उसने अपने व्यक्तित्व के जीवित मरण की चिता की नींव स्वयं ही रख दी। भविष्य में वह पराक्रम के कितने ही पर्वत खड़े क्यों न कर दे, परन्तु संसार की दृष्टि में उनका मूल्य शून्य ही रहता है। जग उसकी ओर अवमानित तथा त्याज्य की दृष्टि से देखा करता है। आह, कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? हृदय को दग्ध करनेवाली इस व्यथा को किससे कहूँ ? अपमान ! अपमान ! अपमान ! पग-पग पर अपमान ! मैंने यह सहन कैसे कर लिया ? सचमुच मैं जीवित हूँ या प्रेतवत् हो गया हूँ ? चारों ओर से शब्दों के और विचारों के घनाघात मेरे मस्तिष्क पर हो रहे थे । अन्तरात्मा व्याकुल थी। मस्तक सुन्न हो गया था। कुछ भी नहीं सूझ रहा था। सामने कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। पीछे मुड़कर देखने की इच्छा नहीं होती थी। जिसके वस्त्रों में आग लग जाती है वह मनुष्य घबरायी हुई स्थिति में जैसे नाक की सीध में ही दौड़ता जाता है, वैसे ही मैं भी नाक की सीध में भागा चला जा रहा था।

मेरा मन जल रहा था। मेरा कुल मुझको असह्य बना रहा था। मैं सूतपुत्र हूँ। किस लिए बना मैं सूतपुत्र ? इससे....इससे तो जन्म ही न लेता तो क्या बिगड़ जाता ? अरे, यह क्या जीवन जो घोर कलंक लिये हुए है ? यदि विधाता ने पासे न फेंके होते तो यह जीवनेतिहास क्या सूना रह जाता ? किस लिए मैंने सूत के घर में जन्म लिया ? ठीक है, जन्म लिया सो लिया--मुझे घोड़े और प्रतोद के प्रति आकर्षण होने के बजाय इन शस्त्रास्त्रों के प्रति आकर्षण क्यों लगता रहा है ? मैं अंगराज भी किस लिए हुआ ? इस हस्तिनापुर में ही क्यों आया ? अरे, यह क्या वीरों का नगर है ? जिसकी न्यायान्याय के प्रति रुचि होती है, यह क्या वैसा नगर है ? गुरु द्रोण-जैसे वृद्ध वृषभ से मन की और किस महत्ता की अपेक्षा अब

की जाये ? कालरूपी विशाल पुरुष से मार खा-खाकर जिनका वृद्ध मन नीरस हो गया हो, वे अब जगत् को क्या ज्ञान देंगे ? मेरे धधकते मन से उत्तेजक विचारों की ज्वालाएँ बाहर निकल रही थीं। पैरों के नीचे ढेलों को रौंदता हुआ मैं राजभवन की ओर चला जा रहा था। मैं दिग्विजयी नहीं था, एक सर्वमान्य योद्धा भी नहीं था। था एक सूतपुत्र ! केवल सूतपुत्र ! रथ की धूल के समान सूतपुत्र !

जीवन को श्रीफल की मधुर उपमा देनेवाला अश्वत्थामा अब मुझे महामूर्ख लगने लगा। जीवन क्या कभी श्रीफल-जैसा हो सकता है ? और जैसा कि मैं उसको सदैव बताता आया हूँ, तदनुसार वह समरांगण भी नहीं। क्योंकि समरांगण में तो केवल सामर्थ्य का मूल्य होता है। पागल अश्वत्थामन्, जैसा कि तुम कहते हो, जीवन ओस की बूंदों जैसा तो निश्चय ही नहीं है। जीवन केवल एक दावानल है। किसी के द्वारा किसी भी तरह प्रज्वलित। किसी न किसी को जला देनेवाला। और कभी न कभी अपने-आप ही बुझ जानेवाला। वही दावानल आज मुझे दग्ध कर रहा है। मेरी इस विशाल देह के कवच-कुण्डल अब नहीं हैं, तो क्या इस देह की बस राख ही बनेगी ! नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं दग्ध नहीं होऊँगा। नष्ट नहीं होऊँगा। मैं ब्रह्मास्त्र प्राप्त करके ही रहूँगा।

बौखलायी हुई सारिकाएँ जैसे सर्प का पीछा करती हैं वैसे ही झंझावाती विचार मेरा पीछा कर रहे थे। उसी दशा में मैं राजभवन के महाद्वार पर आया। दुर्योधन अब भी मेरी राह देखता हुआ वहाँ खड़ा था। उसे देखते ही मेरा मन सुन्न हो गया। क्या उत्तर दूँ मैं उसे ? उसने मुझे रोककर उत्कण्ठित होकर पूछ ही लिया, “कर्ण, क्या हुआ? इतनी जल्दी कैसे लौट आये ?”

“राजन, आर्य स्त्री अपना वैधव्य अपने ही मुख से नहीं कहा करती। सैनिक योद्धा अपना अपमान अपने ही मुख से नहीं कहते। जाने दो मुझे।” मैंने उसके हाथ को भी झटक दिया। मुझे आज किसी के प्रति कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा था। जल के चक्रवाती भ्रमर में पड़े हुए सूखे तिनके की तरह मन एक ही विचार के चारों ओर निरन्तर घूम रहा था। सूतपुत्र ! अपमान ! सामर्थ्य की कसौटी पुरुषार्थ !

“अपमान ! कर्ण, तुम-जैसे बलदण्ड और दिग्विजयी वीर का अपमान किसने किया, क्यों किया ?” मेरी बाँहें कसकर पकड़कर उनको जोर से हिलाते हुए उसने भौंहों की कमान तानते हुए पूछा।

“कौरवों के वन्दनीय गुरुदेव ने। आचार्य द्रोण ने। क्यों किया, कैसे किया, मुझसे कुछ भी मत पूछो। जगत् के कटु सत्यों से मेरे प्राण अब घुटने लगे हैं। इस समय तुम मुझे अकेला ही छोड़ दो !” उसके हाथों की पकड़ को मैंने अँगुलियों से छुड़ाया।

“तुम्हारी पीड़ा मैं समझता हूँ। परन्तु इससे तुम उद्विग्न हो जाओगे तो कैसे काम चलेगा ? जिस ब्रह्मास्त्र के लिए आचार्य द्रोण ने तुम्हारा अपमान किया है, वह ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर तुम्हें

उनका ऋण चुकाना ही होगा। कर्ण का 'कर्णपन' केवल इसी में है, यह , ध्यान रखना।" मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर वह बोला।

"उसे तो मैं प्राप्त करूँगा ही। उसके लिए मैं साक्षात् भगवान् परशुराम के पास महेन्द्र पर भी जाऊँगा। परन्तु इस समय पल-भर को भी मुझे यहाँ मत रोको। अपने मनःक्षोभ का मैं वर्णन नहीं कर सकता। मुझे छोड़ दो।" मैंने अपना हाथ छुड़ा लिया और धड़ाधड़ राजभवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। चढ़ते समय उत्तरीय कन्धे पर से सरककर नीचे सीढ़ियों पर गिर पड़ा। परन्तु उसको उठाने की भी मेरी इच्छा नहीं हुई। पैरों के तलवे तप्त हो गये थे। वे सीढ़ियों के अत्यन्त शीतल स्पर्श को अनुभव कर रहे थे। तप्त तलवे उन चिकने पत्थरों के शीतल स्पर्श से क्षण-भर को तो शीतल हो रहे थे, परन्तु मेरा जलता हुआ मन ? आह ! जलता हुआ नहीं, धधकता हुआ ! वह कैसे शान्त होगा ? उसको सान्त्वना कौन देगा ?

मैं महल में आया। किवाड़ बन्द कर लिये। मैं पूर्ण एकान्त चाहता था। एकान्त ही अब मुझे शान्त कर सकता था। परन्तु क्या सचमुच ही उससे मन को शान्ति मिल सकती थी ? अपमानित मन की स्वस्थता एकान्त में बिलकुल ही उद्ध्वस्त हो जाती है। अस्वस्थ मन के नगाड़े पर तड़तड़ करनेवाले निरर्थक विचारों की डण्डियाँ जैसे मुझे क्षण प्रतिक्षण अशान्त बनाने लगीं। विचारों के अविरत मन्थन से केवल एक ही निर्णय पक्का हो रहा था, दृढ़ हो रहा था। ब्रह्मास्त्र ! महेन्द्र पर्वत ! भगवान् परशुराम ! ब्रह्मास्त्र ! ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लेनेवाला समर्थ कर्ण ! शक्तिशाली कर्ण ! सूतपुत्र सही; परन्तु सामर्थ्यशाली सूतपुत्र कर्ण ! परशुराम का शिष्य कर्ण !

तीन

दूसरे ही दिन किसी से मिले बिना, केवल शोण को बताकर, वायुजित् पर आरूढ़ हो हस्तिनापुर से निकलते समय मेरे मन में केवल परशुराम के विषय में ही विचार चक्कर लगा रहे थे। कैसे होंगे वे ? बहुतों के मुख से उनका जो वृत्तान्त सुना था—वह प्राण कँपा देनेवाला था। क्षत्रियद्वेष्टा, शीघ्रकोपी तथा दृढ़ाग्रही-ऐसे ही सबने उनका वर्णन किया था। श्रीकृष्ण ने मामा का वध इसलिए किया था कि वह अन्यायी था। परन्तु परशुराम ने अपनी माता रेणुका का वध किया था। पिता की आज्ञा थी इसलिए। वे पितामह के तो धनुर्वेद के गुरु थे। और इक्कीस बार, कार्तवीर्य के सौ पुत्रों का विनाश करने के लिए उन्होंने हैहय राजाओं को सहज ही पराजित कर दिया था। अन्त में इतना पराक्रम करके प्राप्त किया हुआ राज्य अपने गुरु कश्यप ऋषि के चरणों पर दुन्दुभि की डण्डी की तरह फेंककर वे महेन्द्र पर्वत पर आश्रम-स्थित हो गये थे। ऐसे, सुनते ही भयावह लगनेवाले, महापुरुष के

पास मैं जा रहा था। मन उनकी काल्पनिक मूर्ति रेखांकित कर रहा था, परन्तु वह ठीक तरह सध नहीं रही थी। घोड़ा महेन्द्र की ओर दौड़ रहा था।

जिन मार्गों से जाना था उनपर दिग्विजय काल में जा ही चुका था, इसलिए कोई साथी न लेकर मैं अकेला ही चल दिया। मार्ग में पांचाल, काशी, पूर्व दशार्ण आदि राज्य पड़ते थे। किसी भी देश के राजनगर में रुकने की अब इच्छा नहीं थी। किसी मन्दिर में ठहरा जाये, विश्राम किया जाये और फिर मार्गाक्रमण करते हुए यथाशीघ्र महेन्द्र पर्वत पर पहुँचा जाये-यही मैंने निश्चय किया। महेन्द्र पर्वत के कलिंग राज्य में होने के कारण मेरे सामने समस्या जटिल हो गयी थी। राजा भानुमन्त सहित सभी नगरजन मुझे वहाँ अच्छी तरह पहचान सकते थे। इसलिए सन्ध्याकाल की धूमिल वेला में मैं उनके राज्य में प्रवेश करनेवाला था। कोई विश्वस्त नगरजन देखकर वायुजित् को उसके अधीन किये बिना महेन्द्र पर चढ़ जाना मेरे लिए सम्भव नहीं था।

प्रवास की इस प्रकार योजना बनाते-बनाते ही मैं पांचालों के राज्य में आया। काम्पिल्य नगर में गंगा-किनारे सुदामन की समाधि मुझे आकर्षित करने लगी, परन्तु यदि किसी ने मुझे वहाँ देख लिया तो, पांचालराज द्रुपद को सूचना दे देगा और मेरी आगे की यात्रा रुक जायेगी। उनका स्वागत और आदरातिथ्य स्वीकार करने के लिए मेरे पास समय नहीं था। मन महेन्द्र पर्वत के दर्शनों के लिए अत्यधिक आतुर था, ब्रह्मास्त्र के लिए तड़प रहा था। इसलिए किसी को पता न लगे, ऐसी स्थिति में मैं पांचाल देश छोड़नेवाला था। फिर भी कुछ जिज्ञासु प्रवृत्ति के पांचाल सन्देह-भरी दृष्टि से मेरी ओर घूरकर देख रहे थे। कानों के कटे हुए निम्न भाग को देखकर नकारसूचक सिर हिला देते। देह पर जो राजवस्त्र थे, वे अन्य लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेंगे, यह सोचकर उनको एक संन्यासी को देते हुए मैंने उसके वस्त्र माँगे। अपने भगवा वस्त्र मेरे हाथों में देता हुआ वह बोला, "इन वस्त्रों में ही कहीं मेरी आसक्ति अटकी तो नहीं रह गयी है, यह परीक्षा लेने के लिए ही परमेश्वर ने तुम्हें मेरे पास भेजा है। लो, ये वस्त्र लो और अपने उन मूल्यवान् राजवस्त्रों को गंगा को अर्पण कर दो। जाओ।" उसने भिक्षा की झोली का वस्त्र लज्जारक्षण के लिए अपनी कटि में लपेटकर मेरे हाथ में अपना भगवा अंगोछा दे दिया। उसको देह पर धारण करते समय मेरा मन उसके उदात्त विचारों से दब-सा गया। उसका आदर रखने के लिए काम्पिल्य नगर छोड़ते समय मैंने अपने राजवस्त्र गंगा को अर्पण कर दिये। मन में किसी प्रकार की उथल-पुथल नहीं थी। किसी प्रकार का उद्वेग नहीं था। देह पर भगवा वस्त्र था। ऊपर नीला आकाश था। सामने महेन्द्र का मार्ग।

काम्पिल्य नगर छोड़कर काशीराज्य की ओर चलने लगा। अब मैं दिग्विजयी सेनापति नहीं था। मेरे पीछे लक्ष-लक्ष योद्धा नहीं थे। हाथी-घोड़ों के चीत्कार करनेवाले,

हिनहिनानेवाले पथक नहीं थे। इतना ही नहीं, भार बने हुए कवच कुण्डल भी अब मेरे शरीर पर नहीं थे। था वह भगवा वस्त्र । शान्त मनं । सिर पर नीला आकाश ।

काशीराज्य की सीमान्तर्गत प्रयाग आया। वह वृषाली का नगर था । परन्तु मुझको नगर में जाना नहीं था। वायुजित् को पानी पिलाने के लिए गंगा, यमुना और सरस्वती के त्रिकोण संगम पर उसे लाया। लौटते समय ठीक उसी स्थान पर वायुजित् रुका जहाँ वृषाली से प्रथम भेंट हुई थी। वहाँ वृषाली नहीं थी, शोण नहीं था, फूटा हुआ घड़ा नहीं था। उसको पहली बार देखते समय मेरे मन में अबोध भावना की जो अद्भुत खलबली मची थी वह नहीं थी, सब कुछ नितान्त शान्त था। हाँ, अपवादस्वरूप एक विचार तीव्रता से मन में झाँक गया। वृषाली के उस फूटे घड़े का वह टुकड़ा यदि मेरे पास होता, तो मैंने जहाँ से उसे उठाया था उसी स्थान पर, त्रिवेणी संगम को प्रणाम कर, हलके हाथों से पुनः ज्यों का त्यों रख दिया होता ।

स्मृतियों के सभी द्वार बन्द करने का प्रयत्न मैं कर रहा था, परन्तु सफल नहीं हो रहा था। उनसे जूझते-जूझते काशीराज्य छोड़ दिया ।

पूर्व दशार्ण देश पीछे छोड़ते ही महानदी के उस पार स्थित पूर्व सागर के सान्निध्य में बसा हुआ कलिंग देश आया। सुप्रिया का देश होने के कारण वस्तुतः उसके प्रति आकर्षण होना चाहिए था, परन्तु वह लग नहीं रहा था। सम्पूर्ण नगरी को एक ओर छोड़कर समीपवर्ती मार्ग से एक दिन सूर्यास्त के समय शान्त वातावरण में महेन्द्र की पादभूमि में आया। उसके सु-नील शिखरों के दर्शन से मन पुलकित हो गया। मस्तिष्क में विचारों का बवण्डर रुक गया। अब सब कुछ भूल जाना है। वह अखाड़ा, वह स्वयंवर, वह द्यूत, वह दिग्विजय, वह दान-सत्र, वे कवच-कुण्डल । सब कुछ भूलने के लिए मन ही मन निश्चय किया- शिष्य के रूप में परशुराम के आश्रम के सामने खड़ा होने के लिए। उसी निश्चय से परन्तु विनम्रता से पर्वतशिखर पर चढ़ना है।

कन्धे पर हल रखे लौटनेवाले एक कृषक के दर्शन से, वायुजित् का प्रश्न अब सुलझ जायेगा, यह सोचकर मन निश्चिन्त हो गया। पर्वत के चरणों में कृषि कर्म करके जीवन-यापन करनेवाला वह श्रमजीवी वायुजित् की देखभाल अच्छी तरह कर सकता था। आसपास लहलहाती घास में चरने को छोड़कर उस पर दृष्टि रख सकता था।

"कृषकवर, मेरे आने तक मेरे इस अश्व की देखभाल तुम कर सकोगे क्या ?" मैंने उसको रोककर वायुजित् की पीठ पर थाप मारते हुए प्रश्न किया। वायुजित् की धवल पीठ क्षण-भर सिहर उठी। सघन केशों की पूँछ हलचल कर उठी।

"कौन हो तुम? कृषकवर ने मेरे भगवा वस्त्रों की ओर तथा कटे हुए कानों की ओर देखते हुए पूछा।

"मैं 'वैकर्तन' हूँ ! मेरे इन कटे हुए कानों के कारण तुम मुझे सरलता से फिर पहचान सकोगे।"

"संन्यासी हो ! लाओ अपना घोड़ा। मैं सँभाल लूँगा।" उसने वायुजित् की वल्गा अपने हाथ में ले ली। प्रामाणिकता से साथ निभानेवाले उस एकनिष्ठ पशु की पीठ मैंने दो बार थपथपायी। उसके अयाल के शुभ्र केशों को उँगलियों से सहलाते समय मेरा अविचल मन द्रवित हो उठा।

"जाओ, सुखी रहो।" मैंने उससे भी विदा ली।

सूर्यास्त की दीर्घ सुनहली किरणों में महेन्द्र की खड़ी चढ़ाई चढ़ने लगा। शाल, किंशुक, पुन्नाग, तमाल, सतोना, डण्डणी आदि वृक्षों पर बने अपने नीड़ों में पहुँचने के लिए चित्तर, सारंग, लटवाक, चण्डोल, चक्रवाक आदि के झुण्ड पंख चलाते हुए कोलाहल करते लौट रहे थे। ढलान पर पशुओं को चराकर लौटनेवाले गोपाल गायों के घण्टानाद के साथ बाँसुरी पर आलाप ले रहे थे। समस्त चराचर विश्रान्ति के लिए आतुर हो उठा था।

"संन्यासी, रुको !" पीछे से कोई मुझे ही पुकार रहा था, इसलिए मैं ठहर गया। मेरे-जैसे ही भगवा वस्त्र पहने हुए एक मानवी आकृति धीरे-धीरे आगे सरक रही थी।

"कहाँ जा रहे हो तुम ?" समीप आते ही उस व्यक्ति ने पूछा। शायद वह एक आश्रम-शिष्य था, मुझसे कुछ अधिक वयस्क।

"भगवान् परशुराम के आश्रम की ओर।" बिना परिचय के ही पुकारनेवाले उस आश्रम-शिष्य की ओर आश्चर्य से देखते हुए मैंने उत्तर दिया।

"मैं भी वहीं जा उन्हीं का शिष्य हूँ मैं। मेरा नाम है अकृतव्रण। चलो, साथ ही चलें दोनों।" उसने मेरे कानों की ओर देखते हुए कहा।

हम दोनों ही चढ़ाई चढ़ने लगे।

"किस लिए आये हो तुम हमारे आश्रम की ओर ? भगवान् के दर्शन के लिए ?" उसने चढ़ते-चढ़ते पूछा।

"नहीं, केवल दर्शनों के लिए ही नहीं। अध्ययन के लिए भी आया हूँ मैं। शिष्य के रूप में।"

"शिष्य के रूप में ? तुम ब्राह्मणकुमार हो न ? भगवान् की प्रतिज्ञा है- ब्राह्मणकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी को भी वे शिष्य नहीं बनाते हैं। परन्तु तुम कौन-सी विद्या सीखने के लिए आये हो ?"

"ब्रह्मास्त्र !" मैंने उत्तर दिया; परन्तु 'मेरी आशाओं पर पानी फिर जायेगा क्या?' यह प्रश्न मन में घूम रहा था। मैं ब्रह्मकुमार नहीं था।

"ब्रह्मास्त्र ! तब तो तुम निश्चय ही ब्रह्मकुमार होगे। व्यर्थ ही मैंने तुमसे ऐसा प्रश्न किया। परन्तु...परन्तु तुम्हारे कानों का निचला भाग कटा हुआ क्यों है ?" उसने पुनः प्रश्न किया।

उसको ज्यों का त्यों वहाँ छोड़कर, दौड़ता हुआ चढ़ाई उतरकर, पुनः वायुजित् पर आरूढ़ हो सीधा हस्तिनापुर को चल दूँ-क्षण-भर को मेरे मन में आया । परन्तु...परन्तु ब्रह्मास्त्र के बिना मेरा वापस हस्तिनापुर लौटना अब सम्भव ही नहीं था।

"स्वर्ग का विशाल छिद्र बन्द करने के लिए कानों का मांस मैंने एक भिक्षुक को दे दिया है।" उसके प्रश्न का उत्तर देना ही था, इसलिए मैंने कहा।

"मैं समझ नहीं सका!" वह आश्चर्य से बोला।

"समझ सकते भी नहीं।" मैं उसका समाधान नहीं कर सकता था। भगवान् परशुराम ने यदि पूछा तो मैं अपने को किस कुल का ब्राह्मणकुमार बताऊँगा ? मन मार्ग ढूँढ रहा था। कुछ सूझ नहीं रहा था।

परिस्थिति ने मुझसे एक असहाय अबला की लज्जा पर बहुत खरी-खोटी सुनाने का पाप करवा लिया था। अब वह मुझसे असत्य बोलने का पाप भी करवाने को तैयार हो गयी थी। साक्षात् परशुराम के सम्मुख खड़ा होकर असत्य बोलूँ या जिस मार्ग से आया हूँ उसी मार्ग से रिक्तहस्त लौट जाऊँ ? फिर समस्या ! फिर सम्भ्रम ! फिर जीवन अवरुद्ध करनेवाली उलझन !

इन्द्र को कवच-कुण्डलों का दान देकर मिला हुआ पुण्य भगवान् परशुराम से असत्य बोलते समय दग्ध हो जानेवाला था। फिर मैं सूतपुत्र ही रहनेवाला था। जैसा हूँ। महेन्द्र पर्वत के शिखर से गिरनेवाले जल-प्रपात-जैसे विचार मेरे अन्तर्मन पर गिरने लगे। क्या किया जाये ? वापस लौटा जाये ? हाँ, लौटना ही चाहिए।

"तो लौटता हूँ मैं।" मैंने बीच में ही रुककर अकृतव्रण को आश्चर्य का आघात दिया।

"क्यों ? घबरा गये ? भगवान् परशुराम के आश्रम में प्रवेश करने के लिए सिंह की छाती होनी चाहिए। केवल भृगुकुल के ऋषि कुमार-जैसी गोल मुखमुद्रा लेकर चला आया था क्या ?" वह आश्रम-शिष्य होने के कारण निर्भयता से कह गया।

"भृगुकुल ! सिंह की छाती ! नहीं-नहीं, ब्रह्मास्त्र लिये बिना वापस नहीं जाना है। परशुराम की प्रतिज्ञा भंग करने का सामर्थ्य एक सूतपुत्र में है—इस बात को जगत् अब देख लेगा। क्या कर लेंगे कोपिष्ठ परशुराम असत्य बोलनेवाले कर्ण का ? जलाकर राख कर दें। परन्तु वह राख भी कह देगी कि ब्रह्मास्त्र के लिए तरसनेवाले एक सूतपुत्र ने भगवान् परशुराम से भी उनकी प्रतिज्ञा भंग करा दी।

मन का एक कोना 'नहीं' कह रहा था, फिर भी मैं पुनः चढ़ाई चढ़ने लगा। यदि परशुराम मुझसे मेरा कुल पूछे, तो 'भृगु' कुल बता दूँगा। यदि नाम पूछे तो 'भार्गव' कह देना है, यह

मैंने मन ही मन सोच लिया ।

अब चाँदनी में ज्योत्स्ना-धवलित महेन्द्र भयावह लगने लगा। क्योंकि भक्ष्य ढूँढ़ने के लिए बाहर निकले हुए वन्य पशु गर्जना करते हुए चाँदनी को भी कंपाने लगे।

महेन्द्र पर अकृतव्रण की पर्णकुटी के सामने हम दोनों खड़े हो गये। उस समय रात का पूर्वार्द्ध व्यतीत हो चुका था। पूरा आश्रम छोटी-बड़ी अनेक पर्णकुटियों से भरा हुआ था। परिसर के चारों ओर संरक्षण के लिए गोलाकार कँटीली लताओं की सुदृढ़ बाड़ थी। सभी दिशाओं से जो आश्रम के मध्य भाग में पड़ता था ऐसा एक भव्य यज्ञकुण्ड था। मैंने कितने ही यज्ञकुण्ड देखे थे पर इतना भव्य यज्ञकुण्ड मुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिला था। एक कोने में गायों का लम्बा खरक तटस्थ खड़ा था। महेन्द्र पर्वत पर चरकर थकी हुई गायें उस खरक में बैठी हुई शान्तिपूर्वक शायद रौंथ कर रही थीं। दर्योकि बीच में ही रह-रहकर आनेवाली उनकी गले की घण्टियों की आवाज से नीरव शान्ति भंग हो रही थी। सभी पर्णकुटियाँ पैर सिकोड़कर विश्राम करनेवाले हाथियों के झुण्ड-जैसी दिखाई दे रही थीं। शिष्यगणों के निद्राधीन होने के कारण कहीं समई का भी प्रकाश नहीं था। चन्द्र के रुपहले रस का घट आकाशरूपी महापुरुष पृथ्वी के सर्वांग पर उँडेल रहा था। आश्रम के चारों ओर बाड़ के कूड़े-करकट में झींगुर लयबद्ध किर-किर कर रहे थे।

केवल एक ही पर्णकुटी के यज्ञकुण्ड में तड़तड़ानेवाली चिनगारियाँ बाहर से स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। अस्पष्ट मन्त्रोच्चार सुनाई दे रहे थे। जैसे कोई बुदबुदा रहा हो। अर्धरात्रि हो गयी थी फिर भी कोई जाग्रत था। ध्यानपूर्वक साधना कर रहा था ।

"कौन है उस पर्णकुटी में ?" मैंने अकृतव्रण के पीछे-पीछे उसकी पर्णकुटी में प्रवेश करते हुए पूछा।

"भगवान् । कल पौर्णिमा है। अपना वरुणव्रत पूर्ण करने के लिए उनको प्रत्येक पौर्णिमा और अमावस्या की पूर्वरात्रि को इस प्रकार यज्ञकुण्ड के सामने बैठकर सवितृ-मन्त्र का गायत्री छन्द में अखण्ड पुरश्चरण करना पड़ता है। तदुपरान्त दूसरे ही दिन वे महेन्द्र से उतरकर नीचे कलिंग राज्य में जाते हैं। पूर्वसमुद्र के फेनिल कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर दिन-भर सूर्य को अर्घ्यदान करते हैं। उनके दर्शन करने के लिए पौर्णिमा और अमावस्या को कलिंगजन सागर-किनारे टूट पड़ते हैं। अनेक बार मैं भी उनके साथ सागर-तट पर गया हूँ। तुमको भी एकाध बार यह अवसर मिल जायेगा।" दर्भ के दो छोटे-छोटे बिस्तर बिछाकर उनपर दो कम्बल रखता हुआ अकृतव्रण बोला।

सत्यसेन, शोण, अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि अनेक व्यक्ति मेरे जीवन-क्रम में आये थे। उनमें अकृतव्रण भी सम्मिलित हो गया। फलाहार कर दर्भ की उस शीतल शय्या पर शरीर को विश्रान्त करते हुए मेरे मन में एक ही प्रश्न घूम रहा था। भगवान् परशुराम ने यदि कल ही मुझे कलिंग राज्य में चलने के लिए कहा तो क्या होगा ? क्या उत्तर दिया जाये उनको ?

सभी कलिंगजन मुझे अच्छी तरह जानते हैं। उनके साथ कलिंग राज्य में कैसे जाया जाये ? विचार करते-करते ही निद्राधीन हो गया। महल शय्या पर भी न आयी होती इतनी शान्त थी भगवान् परशुराम के आश्रम की पर्णकुटी में प्रथम रात्रि की वह निद्रा ।

चार

प्रातःकाल हुआ। "ॐ ss ईशावास्यमिदं सर्वं sss" शिष्यगणों के मुख से बाहर निकलनेवाले प्रार्थना के मधुर आलापों से मैं जाग्रत हो गया। दैनिक कृत्य निपटाकर सबके साथ भगवान् परशुराम की पर्णकुटी के सम्मुख पंक्ति में खड़ा हो गया। सूर्योदय हुआ और जैसे गुफा से अयारधारी सिंह बाहर निकलता है वैसे ही दाढ़ीधारी परशुराम पर्णकुटी से बाहर निकले। उनके कन्धे पर रखे हुए परशु का तीक्ष्ण भव्य फल चमचमा उठा। दान-सत्र के तथा दिग्विजय के समय यों मैंने अनेक ऋषि देखे थे। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में तो धौम्य, धनंजय, सान्दीपनी, कण्व, ब्रह्मगार्ग्य-जैसे महान् तपस्वी दिखाई दिये थे। कोपिष्ठ के रूप में प्रसिद्ध ऋषि दुर्वासा से भी मिल चुका था। परन्तु कन्धे पर चमचमाते परशु को धारण करनेवाला किट्टकाली सघन दाढ़ीवाला इतना भव्य ऋषि मैं आज प्रथम बार ही देख रहा था। मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे कैलास छोड़कर दाढ़ी-जटाधारी भगवान् शंकर ही उस पर्णकुटी से बाहर निकले हों। इन शंकर ने मस्तक परं से चन्द्रकला निकालकर उसे त्रिशूलदण्ड में लगाकर, परशु के रूप में अपने सशक्त एवं विशाल कन्धे पर रख लिया था। नेत्र इतने तेजस्वी थे मानो विश्व को भेद देंगे। श्रीकृष्ण के नेत्रों से वे अधिक मिलते-जुलते थे।

पूर्वसागर की ओर जाने के लिए मन्द-मन्द चरण-निक्षेप करते हुए वे चलने लगे। पुष्पों की अंजलियाँ उनके चरणों पर अर्पित कर उनके श्रद्धावान् शिष्य धड़ाधड़ उनके आगे साष्टांग प्रणाम करने लगे। सबके अन्त में मैं खड़ा था।

सामने आते ही मैंने उनके चरणों को स्पर्श कर उनकी चरणधूलि सिर से लगायी । वह क्षण मुझे बड़ा भाग्याशाली लगा।

"कौन है तू ?" जैसे गदा पर गदा टकराती हो, ऐसी थी उनकी आवाज ।

"मैं ss मैं भार्गव । भृगु कुल का ।" मेरा अन्तर्मन रथ के नीचे आये हुए रक्तरंजित हाथ की तरह लज्जा से स्याह पड़ गया था। गहन कोने में कोई सत्यप्रिय कर्ण तिलमिला रहा था।

“यहाँ किस लिए आया है ?”

"ब्रह्मास्त्र सीखने के लिए।

बड़ी देर तक आश्चर्ययुक्त दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए गुरुदेव ने अपने नेत्र मूंद लिये । क्षण-दो क्षण बीतते ही पुनः तीव्र दृष्टि से देखते हुए बोले, "आश्रम के नियमों का पालन कठोरता से करना पड़ेगा। कर लेगा?"

"आज्ञा गुरुदेव !"

"ठीक है। जा, प्रवास से मलिन हुए वस्त्रों को स्वच्छ धोकर तैयार रह। वापस आते ही मैं तुझे आज शुभ मुहूर्त में ब्रह्मास्त्र के पूर्व के नमन-मन्त्र सिखाऊँगा।"

धीर-गम्भीर पदक्षेप करते हुए वह विशालकाय जमदग्निपुत्र आश्रम से बाहर निकला। चमचमाता परशु परावर्तित किरणों के वलय फेंकता हुआ सबकी दृष्टि से ओझल हो लगा। साथ-साथ अकृतव्रण भी चलने लगा। उनके पृष्ठभाग की ओर देखते हुए मेरे मन के किसी गहन कोने में पराभव की प्रतीति कसक रही थी—ऐसा मुझे आभास हुआ। जीवन में पहली ही बार। कहीं कोई भयंकर भूल हो रही थी। जीवन जिह्मबाण की तरह टेढ़ा-मेढ़ा चला जा रहा है—ऐसा लगने लगा।

पाँच

एक के बाद एक दिन बीत रहे थे। राजभवन में योद्धाओं के जीवन का अभ्यस्त इतनी जल्दी नहीं हुआ था, जितनी जल्दी आश्रम के शिष्य-जीवन का अभ्यस्त हो गया। किसी की भी स्मृति मेरे मन को प्रक्षुब्ध नहीं कर सकती थी। ब्रह्मास्त्र के महामन्त्र आधे से अधिक कण्ठस्थ हो गये । हो सकता है कि उसके परिणाम स्वरूप ही हो, परन्तु मन शान्त होता गया। राजभवन की ओर लौटने की भी इच्छा नहीं होती थी। जीवन्मुक्ति के लिए अहर्निश प्रयत्न करनेवाले असंख्य सहकारियों के सहवास में घटिकाएँ और पल उज्ज्वल होते जा रहे थे। अकृतव्रण का साथ तो ठीक अश्वत्थामा का ही स्मरण करा देनेवाला था। जीवन के सभी अंगों का उसने गहन अध्ययन किया था। उसकी बातें सुनते समय मुझे काल का भान नहीं रहता था।

महीने के अन्त में एक दिन ऐसा होता था कि उस दिन सभी शिष्यों को गुरुदेव से कोई भी प्रश्न पूछने का अवसर दिया जाता था। जीवन की यात्रा में चलते हुए मनुष्य सभी निर्णय केवल अपनी ही बुद्धि के बल पर सार्थक कर लेगा, ऐसी बात नहीं है। इसीलिए उस दिन अनेक विषयों पर चर्चा होती थी। शंकाएं रखी जाती थीं। जो कुछ मैं आज तक सीख नहीं पाया था, वह ऐसी चर्चाओं से सीखने को मिल गया। ऐसे ही एक निश्चित दिन मैंने भगवान् परशुराम से प्रश्न पूछा, "भगवन्, सबसे श्रेष्ठ आनन्द क्या है?"

"पहले तू ही बता !" उन्होंने उलटे मुझी से प्रश्न किया।

"दान का !" मेरे आगे कवच-कुण्डलों के दान का प्रसंग खड़ा हो गया।

"नहीं ! दान में भी 'मैंने किसी को दान किया है'-अहन्ता की यह प्रतीति रह ही जाती है। इसलिए पहले यह अच्छी तरह परख लेना चाहिए कि सबसे श्रेष्ठ क्या है ? भार्गव, सबसे ऊँचा पर्वत कौन-सा है ?"

"हिमालय, गुरुदेव !" मैं बोला ।

"नहीं ! सबसे ऊँचा पर्वत है मन का। मन की ऊँचाई के आगे हिमालय भी ठिगना है। इसीलिए मन सुदृढ़ होना चाहिए। ऐसा सुदृढ़ मन बलवान् शरीर में ही हो सकता है। बलवान् को ही सर्वश्रेष्ठ आनन्द प्राप्त होता है। बलहीन को न आनन्द है, न सुख है, न मुक्ति। इसीलिए अपने आश्रम में शस्त्रास्त्रों की भी शिक्षा दी जाती है। यह ज्ञान मानवता के संहार के लिए नहीं है। परन्तु शस्त्रास्त्रों का यह ज्ञान मानवता के उद्धार में बाधा डालनेवाले क्रौर्य का संहार करने के लिए निश्चय ही है। तुम्हें मैं ब्रह्मास्त्र विद्या सिखा रहा हूँ, वह भी इसीलिए।"

"गुरुदेव, जगत् में मानव का भी अस्तित्व अन्ततः क्यों ? केवल कोटि-कोटि वर्षों तक जीने के लिए ? ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिए मैं जीवन का सर्वश्रेष्ठ आनन्द क्या है, यह जान लेना चाहता हूँ। आप जो कह रहे हैं, मन का वह आनन्द ही अन्तिम है क्या ?"

"नहीं ! उससे भी अधिक श्रेष्ठ आनन्द है। वह अन्तिम ही नहीं बल्कि अखण्ड आनन्द भी है। वह आनन्द मन के वेष्टन में अवगुण्ठित बैठे हुए आत्मा का है। हम कौन हैं ? इस विश्व में क्यों आये हैं ? कहाँ जाना है ? यह चराचर विश्व किस सूत्र में पिरोया हुआ है ? अपने आश्रम की गायों के ये सुन्दर बछड़े किस लिए उछलते-कूदते हैं ? एक दिन का ही जिनका जीवन है, वे फूल भी लताओं की शाखों पर हँसते-हँसते क्यों डोलते हैं ? मेघ क्यों गरजते हैं ? पवन किस कारण बहता है ? वर्षा किससे होती है ? सम्पूर्ण विश्व का एक-एक कण चेतना के प्रणवगीत गाता हुआ अविरत कैसे गतिमान् रहता है ? असीम जीवसृष्टि का यह अखण्ड अक्षयदीप कौन-सा जीवनरस लेकर सतत जलता रहता है ?—यह सब जानने के लिए, यह सब देखने के लिए एक अद्भुत, सुप्त नेत्र अपने इस शरीर में ही है। उसका नाम है आत्मा । इच्छाशक्ति के बल पर जिस समय यह नेत्र हम खोल लेते हैं, उस समय सभी समस्याएँ मिट जाती हैं। समस्त विश्व एक दिखाई देने लगता है। महाभयानक प्रतीति होनेवाले विध्वंस से दुख नहीं होता। महान् निर्माण को मूर्तरूप देखकर होनेवाला मिथ्या आह्लाद भी शेष नहीं रहता। शेष रहता है केवल प्रकाश । सूर्य-किरणों जैसा तेजस्वी प्रकाश । इसीलिए आत्मानन्द ही सर्वश्रेष्ठ आनन्द है।" उन्होंने अपने विशाल नेत्र एकदम मूंद लिये मानो उस प्रकाश के साम्राज्य जाने के लिए उनको तीव्रतम आकर्षण लग रहा हो। उनका नेत्र मूंद लेना, प्रश्न बन्द कर देने का संकेत है, यह हम अच्छी तरह जान गये थे।

सवने हाथ जोड़े। “ॐ ऽ ईशावास्यम् ऽऽ इदम् ऽऽऽ” प्रार्थना की धीर-गम्भीर ध्वनि आश्रम के परिसर के बाहर जाकर महेन्द्र के कोने-कोने में गुंजित होने लगी।

छह

एक वर्ष बीत गया, इसका पता भी न चला। भगवान् परशुराम के साहचर्य में रहने का भाग्य इतना महत्त्वपूर्ण था कि मैं एक दिग्विजयी सेनापति हूँ, एक दानवीर हूँ--मन को उन्मत्त बना देनेवाले ये विचार कब के लुप्त हो गये थे। मैं एक शिष्य बन गया, एक यात्री बन गया। जो कुछ चमकता है, वह सभी सुवर्ण नहीं होता, यह मैं जान गया। केवल पराक्रम ही जीवन का अर्थ नहीं होता। जाग्रत् चिन्तन भी होना चाहिए, यह मेरी समझ में आया।

शीघ्र ही मैं गुरुदेव का प्रिय शिष्य हो गया। अन्य शिष्य मुझसे ईर्ष्या करने लगे—ऐसा वातावरण निर्मित हो गया। आश्रम का प्रत्येक दिन, मेरे पूर्वजन्मों के पुण्यों के कारण परशुराम भगवान् के साहचर्य में उज्ज्वलतर होता जा रहा था। अनेक बार गुरुदेव मुझसे कलिंगों के राज्य में चलने के लिए आग्रह करते। परन्तु कुछ न कुछ निमित्त बताकर मैं उनकी बात टाल देता। ऐसा करते समय मुझे बड़ी यातना होती थी। और दूसरी जो बड़ी बात कसकती रहती थी, वह थी अपने कुल के सम्बन्ध में असत्य कथन। कभी-कभी उस प्रतीति से आसपास की पर्णकुटियाँ जैसे मुझे काटने दौड़ पड़ती थीं। मन अत्यधिक कुण्ठित हो जाता। ऐसा लगता जैसे मुझे किसी कोने में दबोचा जा रहा हो। ऐसे समय शान्त करने के लिए, कहीं घड़ी दो घड़ी मन को उलझा दिया जाये-यह सोचकर धनुष लेकर मैं मृगया हेतु महेन्द्र के अरण्य में निरन्तर घूमता रहता। जो कुछ मृगया होती थी वह एक भील को देकर, भाल पर से स्वेद पोंछता हुआ, पुनः चढ़ाई चढ़कर आश्रम लौट आता। जी भरकर भटकने के कारण वह दिन उल्लास में व्यतीत होता। पुनः नये उत्साह से आश्रम-जीवन आरम्भ होता।

ऐसे ही एक बार, मन अत्यधिक अस्वस्थ था इसलिए, धनुष उठाकर मैं आश्रम के बाहर अरण्य में चल पड़ा। दोपहर टल चुका था। शाखा पर शाखाओं की रगड़ से उत्पन्न चिनगारी दूर कहीं आग सुलगा उठी थी, उसके धुएँ का बादल मुझे महेन्द्र के एक किनारे की ओर स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। उस उष्णता से पक्षीगण कुछ चैन पाकर शायद शान्त गये थे। सन्ध्या समय तक यथेष्ट भटकने पर भी एक भी पशु दिखाई नहीं दिया। इसलिए मन उदास हो गया। खिन्नता से लौटकर आश्रम पहुँचने के विचार से महेन्द्र की चढ़ाई चढ़ने लगा। कानों के कटे हुए निचले भागों से, स्वेद बिन्दु शीघ्र नीचे नहीं टपकते थे। दो छोर होने के

अपनी गाय के मस्तक में बाण घुसा हुआ देखकर एकबारगी वह बड़ी जोर से चीख पड़ा। उसके आक्रोश से, रणांगण में वीरों के और वाद्यों के कोलाहल को सह लेने वाला मेरा गम्भीर मन भी काँप उठा। मैंने आँखें कसकर बन्द कर लीं।

"शुभदे, किस चाण्डाल ने तेरे मर्मस्थल पर यह प्राणान्तक बाण छोड़ा है ?" आगे बढ़कर गाय के मस्तक से बाण को निकालने का वह भी व्यर्थ प्रयत्न करने लगा। उस यातना से वह और अधिक तड़पने लगी। गगनभेदी स्वर में डकारने लगी। खुर पटकती हुई आँखें चढ़ाने लगी। उसके मुख से निरन्तर फेन गिरने लगा। "अब अपने कुटुम्ब का भार किस पर डालूँ ? तेरे दूध पर पोषित यह शरीर किस लिए जीवित रखूँ ?" वह वृद्ध गाय के मुँह को सहलाता हुआ सिसकने लगा। हृदय को भेद देनेवाली इतनी करुणा मैंने कभी नहीं देखी थी। मेरी मृगया से ही वह उत्पन्न हुई थी। आवाज का लक्ष्यभेद करनेवाली जिस कला ने एक बार मुझे अखाड़े में गौरव के शिखर पर चढ़ाया था, वही कला आज मुझे रौरव नरक के गहन गर्त में धकेले दे रही थी। मैं कर्ण, दिग्विजयी सेनापति, दानवीर, भगवान् परशुराम का प्रिय शिष्य-आह, मैं अब केवल एक गो-हत्यारा था! महापापी था। अनिवार्य घटनाओं द्वारा ठुकराया गया निर्माल्य था।

प्राणान्तक यन्त्रणाओं से छटपटाकर, खुर पटककर गाय ने अन्तिम हिचकी ली। श्वेत कमल-जैसा गोल मस्तक लुढ़काते हुए, फेनिल जीभ ऐंठते हुए उसके प्राण निकल गये। उसकी आँखों को निष्प्राण पुतलियाँ, मामा के चूत के पासों से भी अत्यधिक भयानक लगी मुझे। क्षण-भर में ही उसके शव को हस्तगत करने के लिए वनमक्षिकाओं ने उसके चारों ओर भिनभिनाना प्रारम्भ कर दिया। मैंने अपना मुख लज्जा से, विदारक पीड़ा से दोनों हथेलियों में छिपा लिया।

"संन्यासी, तुम्हें क्या हूँ मैं ? मैं ही आज लुट गया हूँ।" उस वृद्ध ने कन्धों पर हाथ रखकर कहा। उस स्पर्श से मेरा सम्पूर्ण शरीर पानी-पानी हो गया। मैंने ही उसकी गाय का वध किया है—मेरे वस्त्रों के कारण यह बात उसने बिल्कुल भी न सोची होगी। झुककर उसके चरणों पर हाथ रखकर मैं व्याकुल होकर बोला, "ब्रह्मन्, क्षमा करें। आपकी शुभदा....आपकी गाय, मेरे....मेरे ही बाण से प्राण गँवा बैठी है। मृगया करते समय भूल से, वन्य पशु समझकर, मैंने असावधानी से उसपर बाण छोड़ दिया। मुझे क्षमा कीजिए। मैं आपको पाँच गायें दूंगा।"

जीवन में पहली ही बार मैं याचक बना। दीन बना। विवश बना।

"दूर हो।" उसने मुझको तत्क्षण धक्का दिया। क्षण भर पहले अपनी गाय के लिए बालक की तरह रोनेवाला वह वृद्ध दूसरे ही क्षण यज्ञकुण्ड की तरह सन्तप्त हो गया। उसके होंठ थरथरा रहे थे। आँखें आग वरसा रही थीं, "संन्यासी होकर मृगया करता है ? देह पर पहने हुए भगवा वस्त्र जला क्यों नहीं डालता ? एक गाय के लिए पाँच गायें देनेवाले गो-

हत्यारे, अपनी एक माता के मर जाने पर तू संसार की पाँच स्त्रियों को माता कह देगा क्या ? मैं तुझे आज दिखा दूँगा कि तेरी संन्यासी तपस्या से मेरा ब्रह्मतेज अधिक प्रखर है।"

"नहीं, नहीं ss ! मैं....मैं संन्यासी नहीं। मैं एक योद्धा हूँ। भगवान् परशुराम का शिष्य हूँ।" मैंने पुनः उसके चरण पकड़ लिये ।

"दूर हट । तेरा स्पर्श भी गो-हत्या के समान ही भयानक है। 'योद्धा योद्धा' कहकर उन्मत्त होकर गाय पर बाण छोड़नेवाले अधम, तेरे रथ का चक्र भी ऐन युद्ध के समय भूमि में गड़ जायेगा, इस गाय के मस्तक में गड़े हुए तेरे इस बाण की तरह ही। प्राण-पण से कितना ही प्रयत्न करेगा, लेकिन वह कभी बाहर नहीं निकलेगा। जा, चलता बन ।" वह धड़ाधड़ पैर पटकता हुआ स्वयं ही चला गया। अपनी गतप्राण शुभदा को यों ही छोड़कर । मेरा लक्ष्यभेद कर, मेरी मृगया कर ।

उसके शाप से मेरा मन सुन्न और बधिर हो गया। ऐसा लगने लगा जैसे देह पर पहने हुए भगवा वस्त्र, वस्त्र न होकर चारों ओर स्वच्छ लपलपानेवाली अग्नि-ज्वालाएँ हों। सम्पूर्ण जीवन ही समस्याओं की ज्वाला लेकर मेरे चारों ओर चक्कर लगाता हुआ नाच रहा था। कहाँ जानेवाला था मैं ?

शरीर के भार को उठाकर आश्रम की ओर चलते समय अभिशप्त मन निराशा से भर उठा था। आज क्रूर दैव ने मेरे अन्दर के वीर कर्ण की मर्मभेदी मृगया की थी। मुझे ऐसा लगने लगा जैसे उस शाप से सारा जीवन ही कहीं गहराई में जा धंसा हो। मन उस गाय की तरह ही छटपटा रहा था-चीख रहा था। चुपचाप। निःशब्द भाव से भीतर ही भीतर।

जिस भील को प्रतिदिन की मृगया दिया करता था, उसको गाय की मृतदेह धरती में गाड़ने को कहकर उसके हाथ में अशुभ धनुष विसर्जित करता हुआ उससे बोला, "आज से मृगया समाप्त ।

महेन्द्र की चढ़ाई चढ़ते हुए पिण्डलियों के स्नायु पहली बार कस उठे। आश्रम के परिसर में पैर रखते समय गायों के गोष्ठ की मंजुल घण्टियाँ मुझे सदैव की तरह मधुर नहीं लगीं, वरन् श्मशान-वाद्यों की तरह भयानक और बीभत्स लगीं। बिना कुछ खाये ही, प्रार्थना भी न कर, उसी दशा में दर्भ की शय्या पर शरीर डाल दिया। निद्रा की आराधना करने की भी इच्छा नहीं हो रही थी। मृत्यु को भी लज्जित करनेवाली शुष्कता मन को घेर रही थी। आश्रम के चारों ओर झींगुर कर्कश स्वर में किर्-किर् कर रहे थे।

सात

उस एक ही घटना से मेरे मन में इतनी गहन पीड़ा हुई जितनी कि कवच-कुण्डल अलग करते समय भी नहीं हुई थी। आश्रम में वह दुख किसी को भी बताया नहीं जा सकता था। कुछ दुख ऐसे होते हैं जिन्हें चुपचाप सहना पड़ता है। स्मृति के ऐसे दुखों का काला वस्त्र उधेड़कर धागे निकालने में कोई कभी सफल नहीं हो सकता। फिर भी उनके कालेपन को कम करने का प्रयत्न मन करता रहता है। इसी को जीवन कहना चाहिए। आनन्द की वृद्धि न सही, फिर भी दुख की तीव्रता कम करने का ही नाम जीवन है।

उस मनःस्थिति में अकृतव्रण की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई। अल्पावधि में ही हम दोनों के बीच घनिष्ठ स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मेरे सभी कार्यों को वह बड़े अपनत्व से कर रहा था। नये विचार दे रहा था। उनको सुनकर गो-हत्या की कटुस्मृति भी धूमिल होने लगी।

दिन और रात के श्वेत-कृष्ण अश्वों को दौड़ाता हुआ काल का रथचक्र घटनाओं के आरे घुमाता हुआ निरन्तर दौड़ रहा था। मनुष्य जहाँ रहता है, वहाँ की सभी वस्तुओं के प्रति उसे एक अज्ञात आकर्षण हुआ करता है। समीपता लगा करती है। महेन्द्र पर्वत के प्रति मुझे ऐसी ही निकटता का आभास होने लगा। समिधा एकत्रित करने के लिए उसकी खाइयों में तथा चोटियों पर घूमते समय कभी-कभी कछार में तृणपर्णों पर चमकती हुई सघन ओस की बूंदों को देखकर, 'जीवन ओस की बूंदों जैसा ही होता है' कहनेवाले अश्वत्थामा की याद आ जाती थी। उसने अनेक अवसरों पर जो दिव्य विचार सुनाये थे, मन में उफन-उफन आते। "कर्ण, तुम कौन हो, यह आत्म-परीक्षण से जानो। अपने अन्तरंग को एकाग्र करो। गम्भीर बनो।" उसके विचार मेरी दृष्टि से क्या अविस्मरणीय नहीं? उसी प्रकार जब कभी पर्वत पर कोई सतेज वनकदली वृषाली का स्मरण करा देती, वनकेवड़ा का खड़ा दण्ड देखकर निश्छल प्रेम-भरा शोण आँखों के सामने आ खड़ा होता। डौलदार वटवृक्ष को देखकर मन पितामह के जीवन की उससे तुलना करने में तल्लीन हो जाता। महानदी का शान्त जल माता-पिता की स्मृति जाग्रत कर देता परन्तु जब उस जल में भ्रमर देखता था, तब तो उसमें मुझे राजा दुर्योधन ही दिखाई देता था। किसी कँटीली भूमि को देखकर गुरु द्रोण की और दलदल-भरी भूमि में हरा शैवाल देखकर अनिवार्य रूप में शकुनि मामा की मूर्ति आँखों के आगे खड़ी हो जाती थी। स्मृतियाँ अपनी छाया-जैसी होती हैं। वे मन का निरन्तर इसी तरह पीछा करती हैं। भगवान् परशुराम को देखकर श्रीकृष्ण का स्मरण होता था और आँखों के आगे शिशुपाल-वध का प्रसंग स्पष्ट खड़ा हो जाता था। उस दिन के बाद एक बार भी श्रीकृष्ण से मैं मिल नहीं पाया था। अब उनसे मिलने का आकर्षण भी उतना नहीं रहा था।

अब यह आश्रम-जीवन काल के हाथों में हाथ डाले चला जा रहा था। रात को निद्राधीन होते समय, बचपन से लेकर अब तक घटी हुई घटनाओं के दर्शन कर थका हुआ मन

भवितव्य को लक्षित करने की खटपट करता; परन्तु इस प्रकार कोई कभी उसे अचूक लक्षित कर सका है क्या ? अज्ञात भवितव्य में क्या-क्या छिपा हुआ है, यदि यह मनुष्य जान सका होता तो....तो जीवन का अहर्निश चलनेवाला संघर्ष, कोलाहल, खटपट-सब कुछ कब का रुक गया होता। परन्तु यह हो नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति, आशा के सहारे जीवित रहता है, मैं भी वही आशा हृदय में रखकर ब्रह्मास्त्र की आराधना कर रहा था। हस्तिनापुर छोड़े हुए दो वर्षों से अधिक समय बीत गया था। ब्रह्मास्त्र के दिव्य-मन्त्र पूर्ण होते आ रहे थे। इस शस्त्र से सूर्य-किरणों पर भी विजय प्राप्त की जा सकती थी। दिव्य तथा दीप्तिमान् प्रकाश-पुंज के अतिरिक्त प्रत्येक कठिनतम वस्तु उससे पिघलायी जा सकती थी। सभी अस्त्रों में श्रेष्ठ अस्त्र था वह ।

और यह सामर्थ्यशाली विद्या भगवान् परशुराम ने एक पौर्णिमा को अभिचार मन्त्र सहित सम्पूर्ण रूप से मेरे अधीन कर दी। आचमन-जल मेरे हाथ पर डालते हुए वे गम्भीरतापूर्वक बोले, “भार्गव, यह ब्रह्मास्त्र विद्या है। दुर्बल और निःशस्त्र पर इसको कभी मत छोड़ना । यदि ऐसा प्रयत्न करोगे तो यह तुम पर ही उलट जायेगी। सामर्थ्य का अर्थ ही दुर्बल के अधिकार की रक्षा करना है।”

"जो आज्ञा, भगवन् !" मैंने माता-पिता के अतिरिक्त पहली ही बार एक दिव्य महापुरुष के चरणों पर श्रद्धा से अपना मस्तक रख दिया। मुझे लगा जैसे मेरा जीवन धन्य हो गया हो। मेरी आँखों से धन्यता के अश्रु उनके पुण्यपावन चरणों पर गिर पड़े।

"और तुम्हारे सौभाग्य से आज ही मेरा वरुणव्रत समाप्त हो रहा है। उसकी पूर्ति के लिए मैं आज पूर्वसागर में दिन-भर खड़ा रहूँगा। रात-भर गायत्री मन्त्र का पुरश्चरण करते करते आँखें पथरा गयी हैं। विगत चार दिन उपवास में बीते। इसलिए आज तुम्हीं मेरे साथ कलिंग राज्य चलो। शरीर कुछ थका हुआ है।" उन्होंने व्याघ्रचर्म पर से उठते हुए मुझे आज्ञा दी।

मेरे सम्मुख यक्ष प्रश्न उपस्थित हो गया। मन को पक्का कर मैंने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया। टाल-मटोल नहीं की। महेन्द्र छोड़कर जाते समय, उनकी इस अन्तिम आज्ञा को किसी व्याज से टालना मुझे अच्छा नहीं लगा। शिष्यगणों की जय-जयकारों की घोषणाओं के बीच ही हम दोनों आश्रम छोड़ने लगे। अकृतव्रण से विदा लेते समय मेरा हाथ काँपने लगा।

प्रथम प्रहर प्रारम्भ हो ही रहा था कि हमने आश्रम की बाड़ को पार किया। कवच न होने के कारण अब मुझे धूप की तीव्रता का अनुभव होने लगा था। फिर भी गुरुदेव के साथ महेन्द्र की ढलान पर उतरते हुए मन समाधान से पूर्ण था। ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति के कारण सामर्थ्य की प्रतीति शायद सुखद लग रही थी।

"भार्गव, तुमसे कभी पूछा नहीं है परन्तु आज एक प्रश्न पूछने की इच्छा हो रही है।"

"पूछिए गुरुदेव ! यथामति उत्तर दूंगा।" मैंने भी सविनय उनसे कहा।

"तुम्हारे कानों के निचले भाग कटे हुए क्यों हैं ?" मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे मस्तक पर उनके परशु का आघात हुआ हो।

"एक वृद्ध ब्राह्मण को मेरे कानों के कुण्डलों की आवश्यकता थी। कान काटे बिना वे दिये नहीं जा सकते थे। इसलिए मैंने इन्हें काट दिया।" मैंने सत्य कह दिया।

"उत्तम ! भृगुकुल के अनुरूप ही तुम्हारा आचरण है। मैं समझता हूँ कि तुम्हारे हाथ में मेरी ब्रह्मास्त्र-विद्या सुरक्षित है।" उनके परशु का फल चमक रहा था, मेरा कण्ठ शुष्क हो गया था। उन्होंने यदि उस ब्राह्मण का नाम पूछ लिया तो ? परन्तु उन्होंने कुछ न कहा।

चलते-चलते हम अन्त में एक विशाल वटवृक्ष के नीचे आये। पर्वत की ढलान पर उतरने में होनेवाले कष्टों से हम स्वेद से तर हो गये थे। वटवृक्ष की घनी छाया विश्राम के लिए मन को लुभा रही थी।

"भार्गव, हम बहुत श्रान्त हो गये। इस वटवृक्ष के नीचे थोड़ा विश्राम कर लें। उसके बाद ही आगे बढ़ेंगे।" गुरुदेव ने आज्ञा दी। चार दिनों के उपवास से वे श्रान्त हो गये थे, आवाज क्षीण थी। वृक्ष की छाया में देह पर धारण किया हुआ व्याघ्रचर्म बिछाकर, वे लेट गये। उपवास, जागरण और पर्वत पर उतरने से होनेवाले परिश्रम से वे अत्यधिक श्रान्त हो गये थे। उनके वरुणव्रत का आज अन्तिम दिन था। "भार्गव, सिर के नीचे रखने के लिए कोई पाषाण ले आओ।" आँखें बन्द करते हुए मुझसे बोले।

मैंने इधर-उधर पाषाण देखा। कहीं दिखाई नहीं दिया। जिसने मुझे ब्रह्मास्त्र विद्या दी, उस महान् तपस्वी की इतनी क्षुद्र माँग भी पूरी नहीं हो पा रही थी, इसलिए मन खिन्न हो गया।

तत्क्षण आगे बढ़कर, नीचे बैठकर उनके जटाधारी विशाल मस्तक को श्रद्धा से उठाते हुए मैंने अपनी जंघा पर रख लिया। जंघा के भगवा वस्त्र के स्पर्श से उन्होंने आँखें खोलकर मेरी ओर अभिमान से देखते हुए कहा, "भार्गव, इसे ही तुम्हारी गुरुदक्षिणा मानता हूँ मैं। परन्तु निद्रा पूरी हुए बिना मुझे उठाना मत। निद्रा और वचन कभी अधूरे नहीं रहने देना चाहिए।"

वह महान् योद्धा, दिव्य तपस्वी, जमदग्निपुत्र, वीरों में वीर, मेरी,...सूतपुत्र कर्ण की, गोद में शान्तिपूर्वक निद्रा लेने लगा। मेरे भावुक मन में भावनाओं का कोलाहल मच उठा। बहुतों ने मेरे ऊपर पुष्पवर्षा की थी, मेरा जयघोष किया था। परन्तु परम सौभाग्यशाली ऐसा दिन सम्पूर्ण जीवन में मैंने कभी अनुभव नहीं किया था। महान् से महान् क्षत्रियों को भी थरा देनेवाला क्षात्रतेज मेरी गोद में विश्राम कर रहा था।

उनकी दाढ़ी चमक रही थी, श्वास मन्द गति से चल रही थी। लेकिन मेरे विचार-चक्र वायुगति से दौड़ रहे थे। वह दिन जीवन की कृतार्थता का दिन था। धन्यता का दिन था।

एक घड़ी बीत गयी। वटवृक्ष की शाखाओं से छनकर कुछ प्रखर किरणें उनके दाढ़ीधारी तेजस्वी मुखमण्डल पर पड़ीं। उनकी निद्रा भंग होने का लक्षण दिखाई देते ही मैंने दोनों हाथों का छत्र उन प्रखर किरणों को रोकने के लिए बीच में रख लिया। गुरुदेव की साँस पूर्ववत् लयबद्ध मन्द गति से चलने लगी।

तीव्र किरणों की जलन हाथों पर सहन करते हुए मैंने निःश्वास छोड़ा। इच्छा होती थी कि निरन्तर दौड़ती हुई नियति यहीं कहीं इसी तरह ठहर जाये। अन्यायी और अत्याचारी नराधमों को अपने परशु से मौत के घाट उतारनेवाला वह वीर योद्धा मेरी गोद में इसी प्रकार निद्रा लेता हुआ लेटा रहे। अनन्त काल तक।

उन्होंने परशु समीप ही रख लिया था। उसके तीक्ष्ण फल पर मैंने श्रद्धा से दृष्टि डाली। उसपर तीक्ष्ण दाँतोंवाला एक काला कीटक अपने पैरों की हलचल करता हुआ फिर रहा था। उसकी शरीर-रचना देखकर मैं समझ गया कि वह कीटक लकड़ी को काटनेवाला तीक्ष्ण दाँतों का अलर्क था। मनोरंजनार्थ मैं उस क्षुद्र कीटक की हलचलों को बैठा-बैठा ही एकटक देखने लगा। परशु के फल पर उसने सहज ही एक-दो चक्कर लगाये। उसको देखते समय मुझे लगा कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन इस कीटक-जैसा ही होता है। संसाररूपी परशु पर वह ऐसे ही चक्कर काटा करता है।

अकस्मात् वह अलर्क परशु की धार से नीचे फिसल गया। भगवान् परशुराम के मस्तक के नीचे रखी हुई मेरी जंघा की ओर ही वह धीरे-धीरे सरकने लगा। मन में एक विचार आया कि हाथों से उसको दूर उड़ा दूँ; परन्तु इससे मेरा शरीर हिल सकता था तथा ऊपर से प्रखर किरणें छूटकर गुरुदेव के मुख पर पड़ सकती थीं। उनकी निद्रा भंग हो सकती थी। “निद्रा और वचन कभी अधूरे नहीं रहने देने चाहिए। मैं इसे ही तुम्हारी गुरुदक्षिणा मानता हूँ।” उनका यह कथन कान में गूँज रहा था। अतः ज्यों का त्यों निश्चल बैठा रहा, जो भी अवसर आये उसका दृढ़ता के साथ सामना करने के लिए।

धीरे-धीरे अलर्क सीधा ठीक मेरी जाँघ के नीचे आ गया। भगवा वस्त्रों को कुतरकर उसने अपने तीक्ष्ण दाँत कन्च से मेरी जंघा की त्वचा में घुसा दिये। असह्य वेदना की एक तीव्र लहर सर्र से जंघा से मस्तक तक तैर गयी। इस समय देह पर अभेद्य कवच होता तो कितना अच्छा होता—क्षण-भर को यह विचार भी मन में आया; परन्तु तुरन्त ही मैंने उसे दूर कर दिया। अब आगे का सम्पूर्ण जीवन मुझे केवल कर्ण के रूप में धैर्यपूर्वक बिताना था। अपने पराक्रम के बल पर। यदि ऐसा होता तो और वैसा न होता तो—इसका रोना लेकर नहीं बैठना था। अलर्क निरन्तर जंघा की एक-एक नस को कुतरने लगा। रक्तप्रवाह से भगवा वस्त्रों का रंग रक्तिम हो गया। वेदना के असंख्य बाण जंघा से निकलकर क्षण-प्रतिक्षण

मस्तक में घुसने लगे। कवच दान करते समय इतनी यातना नहीं हुई थी, जितनी भयंकर यातना इस समय हो रही थी। परन्तु आँखें बन्द कर, होंठों को दाँतों-तले दबाकर उनको सहन किये बिना गुरुदक्षिणा पूर्ण नहीं हो सकती थी। जैसे भ्रमर वृक्ष की डाल खोखली कर देता है, वैसे ही वह अलर्क कणशः मेरी जंघा को खोखली कर रहा था। जिस रक्त को बारणावत के घने अरण्य में बाघ भी नहीं पी सका था, उसे वह क्षुद्र कीट जी भरकर पी रहा था। तिल-भर भी हिला नहीं जा सकता था। मन की दृढ़ता और शरीर की वेदना- इनमें इतनी घोर स्पर्धा मेरे जीवन में प्रथम बार ही प्रारम्भ हुई थी। यह कसौटी का क्षण था। दृढ़ता का क्षण था। सहनशीलता का क्षण था। मन के सन्तुलन का क्षण था। जंघा की एक-एक नस को काटकर रक्त का जीवन-रस पीता हुआ अलर्क तिल-तिल करके आगे ही आगे सरक रहा था।

तीव्र यातनाओं से रक्त जैसे पानी हो गया और वह स्वेद के रूप में भाल पर संचित हो गया। उसको पोंछने के लिए भी हाथ हिलाये नहीं जा सकते थे। स्वेद और रक्त। इन दोनों के अतिरिक्त गुरुदक्षिणा के रूप में भगवान् परशुराम को और अधिक मूल्यवान् मैं क्या दे सकता था ? शायद यह पूछने के लिए ही रक्त की एक धारा बहती हुई सीधी परशु के फल की धार तक चली गयी। क्षण-भर में उसने परशु के फल को रंजित कर दिया। धार अदृश्य हो गयी। अलर्क ने मेरी जंघा पूर्ण रूप से कुतरकर मेरे भवितव्य में ही एक छिद्र कर दिया। छिद्र में से जंघा पर आकर वह भगवान् की दाढ़ी के बालों में हलचल करने लगा। अब उनकी निद्रा भंग हो जायेगी, यह सोचकर मेरे होंठ थरथराने लगे। वह अलर्क उनके शरीर पर भी धावा करनेवाला था क्या ? एक क्षुद्र कीटक क्या दो प्राणियों के प्राणों को ही खोखला कर देगा ? वह गुरुदेव के शरीर को स्पर्श न करे, इसलिए आकाश की ओर देखता हुआ मैं सर्वशक्तिमान् सूर्यदेव से प्रार्थना करने लगा। अकस्मात् मेरी जंघा से बहनेवाले उष्ण रक्त के स्पर्श से गुरुदेव हड़बड़ाकर जग गये।

अपनी दाढ़ी में चुलबुलाते हुए अलर्क को उन्होंने झटक दिया। मेरे मन में भावनाओं का इतना प्रचण्ड कोलाहल मच रहा था कि उसे प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं थे। शायद अब भगवान् कहेंगे कि, "भार्गव, संसार में अनेक शिष्य हैं, आगे भी होंगे। परन्तु तेरी गुरुदक्षिणा धन्य है।" परन्तु....परन्तु ऐसी कोई बात नहीं हुई।

गुरुदेव क्षण-भर में ही समस्त घटना को समझ गये होंगे। रक्त-रंजित अपना परशु उठाकर उन्होंने कपाल की त्वचा इतनी तानी कि भौंहों के केश जटा से मिल गये। उन्होंने पूछा, "इतनी सहनशीलता ? इतना आत्मसंयम ? भार्गव, बोल ! तू किस कुल का है ?"

"भृगु !" मैंने रक्त के कुण्ड से जंघा उठाते हुए उत्तर दिया। रक्तरंजित जंघा की अपेक्षा, उत्तर देते समय, मेरा मन अधिक रक्तरंजित था।

"असत्य ! तू ब्राह्मणकुमार नहीं है। हिमालय की सी इतनी सहनशीलता ब्रह्मकुमार में हो ही नहीं सकती। किस क्षत्रिय कुल का है तू ? बता, सच बोल।"

"मैं....मैं क्षत्रिय कुल का नहीं हूँ। मैं कर्ण हूँ। सूतपुत्र ।" जिस समय जंघा खोखली हो रही थी, उस समय भी इतनी दृढ़ता नहीं थी, जितनी दृढ़ता से मैंने यह उत्तर दिया। जो होना है सो होगा। परशु की धार मस्तक पर पड़ेगी। प्राणों का विहग शरीर-पंजर छोड़कर चला जायेगा। क्रुद्ध परशुराम परशु का प्रहार सिर पर करेंगे । सौभाग्य की मृत्यु परशु की धार से स्वर्ग का मार्ग दिखायेगी।

"कर्ण ! हस्तिनापुर का कवच-कुण्डलधारी कर्ण तू ही है क्या ? इन्द्र कों कवच-कुण्डलों का दान करनेवाला तू ही कर्ण है ?"

"हाँ ! अब न कवच है और न कुण्डल ही। दे दिये मैंने वे इन्द्र को, जिससे यह अलर्क मेरी जंघा में छिद्र कर सके।"

"दान-सम्राट् कहे जानेवाले कर्ण, इस परशुराम के आश्रम में आने साहस कैसे किया तूने ? असत्य क्यों बोला तू ? बता ! नहीं तो यहीं जलाकर तुझे भस्म कर दूंगा और फेंक दूंगा पूर्वसमुद्र की फेनिल तरंगों में।" उनके नेत्र आरक्त थे, क्रोधाग्नि की वर्षा कर रहे थे।

"भगवन्, मृत्यु के भय से कर्ण कभी व्याकुल नहीं होता। ब्रह्मास्त्र के लिए मैं गुरु द्रोण के द्वार पर गया, उन्होंने इनकार कर दिया क्योंकि मैं क्षत्रिय नहीं था। आपके द्वार पर आया, आप ब्रह्मकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ब्रह्मास्त्र देने को तैयार नहीं। फिर....फिर हम सूतपुत्र कहाँ जायें ? सत्य क्या और असत्य क्या ? यह क्या उच्च कुलोत्पन्न लोगों के कोष्ठ में बाँधकर रखा हुआ पशु है ? बताइए, मैं असत्य कैसे हूँ।

"कर्ण, तू और ही सामने है, इसीलिए मैं अपने सात्त्विक क्रोध को रोक रहा हूँ। ध्यान रख, असत्य तो असत्य ही है। जिस ब्रह्मास्त्र के लिए तुझे इतनी दुर्बुद्धि हुई कि तू मुझसे भी असत्य बोला, वह ब्रह्मास्त्र तुझको ऐन युद्ध के अवसर पर स्मरण नहीं होगा। जा, चला जा। महेन्द्र की सीमा छोड़कर परशुराम की क्रोधाग्नि की कक्षा से बाहर हो जा। चलता बन ।

उन्होंने उपत्यका की ओर उँगली उठाकर मुझे आज्ञा दी। अपने हाथ में लगे परशु पर रक्त के लांछन पोंछने का वे प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु वे पुंछ नहीं रहे थे।

रक्तरंजित जंघा और घुटा हुआ मन लेकर आहत व्याघ्र की तरह मैं महेन्द्र की ढलान पर उतरने लगा। क्या कल्पना लेकर हस्तिनापुर से आया था और क्या हस्तगत करके लौट रहा था ? जीवन एक विद्रोह है। कीटक के रूप में आज उसने कर्ण की दिग्विजय को, दानवीरता को, खोखला नहीं कर दिया था क्या ? जंघा से टपकनेवाले रक्त का भी मुझे भान नहीं था। देह पर मैले-कुचैले सने हुए भगवा वस्त्रों का भी भान नहीं था। महेन्द्र के नीले शिखर दूर से ही सुहावने थे। वे पीछे छूट रहे हैं इसलिए खेद नहीं हो रहा था। विचारों

के अश्व मन के प्रांगण पर दौड़ रहे थे। महेन्द्र की. ढलान से कब उतर आया, इसका पता भी नहीं चला। जिस कृषक को वायुजित् सौपा था, उसकी पर्णकुटी के सामने खड़ा होकर जब वायुजित् को पकड़ने लगा तब उसने मेरे कानों के निचले भागों को ध्यान से देखा, इसलिए जंघा के छिद्र को दिखाकर मैं बोला, "यदि चाहो तो इस एक चिह्न को भी ध्यान में रख लो, परन्तु मेरा घोड़ा मुझे जल्दी दे दो।"

"संन्यासी, ठहरो। तुम्हारे घाव पर ओषधि वनस्पति का रस डाल दूँ।" वह भोला कृषक हाथ उठाकर प्रार्थना कर रहा था, उसके शब्द मेरे कानों में घुस ही नहीं रहे थे। हस्तिनापुर की ओर दौड़ते हुए वायुजित् के खुरों से उड़नेवाली धूल जंघा पर संचित हो रही थी।

आठ

शापित विद्या और भग्न हृदय लेकर हस्तिनापुर में प्रवेश करते समय मैंने मन को सुदृढ़ किया। संकट और प्रतिकूलताएँ—ये ही तो प्रत्येक के पराक्रम की कसौटी होती हैं। इस अवस्था में भी मन में दृढ़ विश्वास था कि अर्जुन को निश्चय ही पराजित करूँगा। अपने संकटों का रोना लेकर बैठने से क्या लाभ ! वीर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी निष्प्रभ नहीं होते। वे संकटों के सिर पर पैर रखकर खड़े हो जाते हैं।

आगे बढ़कर वायुजित् की वल्गा हाथ में पकड़ते समय सत्यसेन आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर देख रहा था। नगर का कोई भी व्यक्ति, देह पर भगवा वस्त्र होने के कारण, मुझे पहचान नहीं सका था। दो वर्षों के बाद हस्तिनापुर में प्रवेश कर रहा था। जाते समय राजवस्त्र थे-परन्तु अब लौटा था काषाय वस्त्र लेकर।

"सत्यसेन, राजा दुर्योधन नगर में हैं क्या ? हों तो उनको मेरे आने की सूचना दो।" सीढ़ियों पर चढ़ते हुए ही मैंने आज्ञा दी। राजप्रासाद की सीढ़ियाँ पहली बार मेरे रक्त का स्पर्श कर रही थीं।

अब मुझे सब कुछ भूलना था। पीछे मुड़कर देखनेवालों के सामने जीवन सदैव खाइयों का निर्माण किया करता है। किसी भी घटना के चिह्न अब हृदयपटल पर मैं नहीं चाहता था। भूतकाल में मैं कौन था, क्या था—इसका विचार भी मैं नहीं करना चाहता था। मैं आज कैसा हूँ ? आगे कैसे रहूँगा ? यह निश्चित करने का समय आ पहुंचा था, सम्पूर्ण शक्ति से टकराने का।

भगवा वस्त्र उतारकर राजवस्त्र पहने। वृषाली ने कोई वनस्पति मँगवाकर उसका रस जंघा के घाव पर डाला। छूँछा ज्यों का त्यों जंघा पर थाप दिया। पहने हुए अंशुक के आँचल के छोर को तत्क्षण फाड़कर उसने उसकी पट्टी जंघा पर बाँध दी। सदैव की भाँति

'घाव किसका है ?' कहकर उसने पूछताछ नहीं की। वह विज्ञ पत्नी थी। अनुभव से अब यह सीख गयी थी कि यात्रा से थके हुए पति को आँख-भर देखकर ही सन्तोष करना चाहिए। कितनी प्रौढ़ दिखाई दे रही थी वह। उसका साथ मेरे जीवन के अनेक घावों पर ऐसे ही पट्टी बाँधता आया था। चार दशकों की यात्रा मैंने उसका हाथ अपने हाथों में थामे हुए ही की थी। आनेवाले प्रत्येक दुख की लौ मैंने उसके प्रेम के चषक में डुबोकर बुझायी थी।

"वृषाली ! माता-पिता, शोण, पुत्र-स्नुषा सभी कुशलपूर्वक हैं न ?" वह घाव के सम्बन्ध में मुझसे कुछ न पूछे इसलिए मैंने ही उससे पूछा।

"हाँ, सबको केवल आपकी ही कुशलता की चिन्ता थी। वृषसेन, सुषेण, सुशर्मा, इनको तो आप पहचान भी नहीं पायेंगे। इन दो वर्षों में वे इतने लम्बे हो गये हैं। और...और वृषकेतु तो आपकी तरह ही नित्य नियमपूर्वक गंगा-किनारे जाता है, अर्घ्यदान के लिए।" मेरे हाथ में दूध का चषक देती हुई वह बोली ।

"वृषाली, माता जैसी बनाती है पुत्र का जीवन वैसा ही होता है। इस दूध की तरह । शर्करा डाल दो, यह अमृत हो जायेगा। परन्तु यदि क्षार डाल दिया तो यह नष्ट हो जायेगा। अपने पुत्रों का लालन-पालन तुम-जैसी स्नेहमयी माता कर रही हो, फिर भी यदि वे वीर और विजयी न बनें तो यही आश्चर्य की बात होगी।" मैंने दूध का चषक रिक्त किया। इतने में ही सत्यसेन से सन्देश पाकर दुर्योधन हाथ पर से फिसलते हुए उत्तरीय को सँभालता हुआ जल्दी-जल्दी महल में आया ।

"प्रणाम भाभीजी !" उसने वृषाली को अभिवादन किया। उसको स्वीकार कर वृषाली चली गयी।

"अंगराज, ब्रह्मास्त्र ?" उसने पहला ही प्रश्न पूछा।

"राजा, ब्रह्मास्त्र प्राप्त किये बिना मैं कैसे लौट सकता था।" उसे यह बताते समय मेरे अन्तरंग के किसी कोने में टीस उठ रही थी।

"जय हो। अब पाण्डवों का मद चूर्ण करने में अधिक समय नहीं लगेगा। आज ही बारह वर्ष का वनवास समाप्त कर वे अब एक वर्ष के अज्ञातवास को चले गये हैं।"

"तो फिर....तो फिर अपने गुप्तचरों को आज से ही उनके पीछे लगा दो। इस वर्ष के अन्दर उन्हें ढूँढ लेने पर दोबारा उन्हें बारह वर्ष का वनवास स्वीकार करना पड़ेगा। मेरे सामने इन्द्र को आगे कर, अर्जुन को संरक्षण देनेवाली पाण्डवों की कुटिल राजनीति का अनुभव प्रत्यक्ष था। जीवन तत्त्वज्ञान पर नहीं चला करता, उसके लिए व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है।

"कर्ण, अपनी सेना के सभी कुशल गुप्तचर पहले ही चारों दिशाओं में जा चुके हैं। प्रत्येक राज्य में, अरण्य में, विजन में, नगर में, तीर्थक्षेत्र में इतना ही नहीं बल्कि गुहा में भी पाण्डवों

को ढूँढ निकालने के लिए वे प्राण-पण से प्रयत्न करेंगे। पाण्डवों का पता लगाने के लिए मैं तिलमिला रहा हूँ, परन्तु....परन्तु घरभेदियों ने उनको छिपा रखा है। पितामह, महामन्त्री विदुर, अमात्य और गुरु द्रोण-ये सबके सब जैसे दिखाई देते हैं, वैसे हैं नहीं। यहाँ के सब समाचार पाण्डवों को प्रतिदिन निश्चय ही मिलते होंगे।

"राजन्, अधिक से अधिक क्या होगा? पाण्डव प्रकट हो जायेंगे, युद्ध का आह्वान देंगे, उसको स्वीकार करने का सामर्थ्य इन भुजाओं में है। कोई भी तुम्हारा अब अनिष्ट नहीं कर पायेगा।"

"अंगराज, तुम्हारे सामर्थ्य पर ही तो मैं खड़ा हूँ। यदि वैसा कोई अवसर आया हो तो तुम्ही कुरुओं के प्रथम सेनापति होने के सर्वथा योग्य होंगे।"

"बस, इसी निश्चय से व्यवहार करो। तुमको जो वचन दिया है, उसे मैं भी पूर्ण करूँगा। अर्जुन का वध किये बिना मैं कभी अपने पैर नहीं धोऊँगा।"

"चलता हूँ मैं, तुम विश्राम करो। वह उठा और हाथी की मस्त चाल से भवन से बाहर हो गया। मुझे अंगराज बनाकर मेरे जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाला वह वीर योद्धा था।

अज्ञातवास का एक वर्ष। गवाक्ष से गंगा की ओर देखता हुआ मैं विचार करने लगा। छह कारण्डव पक्षियों का एक झुण्ड जल पर से ऊपर आकाश में उड़ चला। पूर्व दिशा की ओर तेजी से बढ़ने लगा। परन्तु उनमें से एक बीच में ही पीछे छूट गया। पंख फहराता हुआ चोंच मोड़कर वह सीधा राजभवन की ओर पश्चिम दिशा पकड़कर विपरीत गति से तेजी से आने लगा। झुण्ड के पाँचों से वह प्रतिक्षण दूर और अधिक दूर होता जा रहा था। मैंने गवाक्ष का द्वार बन्द कर दिया।

अज्ञातवास का एक वर्ष ! यों देखा जाये तो प्रत्येक का जीवन भी एक अज्ञातवास होता है। दुख से दूर जाने के लिए अंगीकार किया हुआ। परन्तु अधिक प्रभावशाली दुखों से परिवेष्टित। मेरा जीवन भी ऐसा ही था। पचहत्तर वर्षों की यह दीर्घ पट्टी घटनाओं के, भावनाओं के, उत्कर्ष और अपकर्षों के कितने कठिन मोड़ लेती आयी थी। किसी की किसी से संगति नहीं बैठ रही थी। आगे भी कभी वह बैठनेवाली थी या नहीं, भगवान् जानें।

नौ

एक के बाद एक महीना बीतते जा रहे थे, परन्तु किसी गुप्तचर को पाण्डवों का पता नहीं लग रहा था। भीम के सम्बन्ध में सोच-सोचकर दुर्योधन तो अस्वस्थ हो गया था। कम्बोज,

काश्मीर, गान्धार, पंचनद, सिन्ध, कुलिन्द, तंगण, विदेह, पांचाल, कोसल, किरात, कामरूप, बंग, मगध, चेदि, दशार्ण, कलिंग, विदर्भ, अवन्ती, द्वारका, सौराष्ट्र, आनर्त, मथुरा, विराट आदि सभी राज्यों में पूर्वनियुक्त गुप्तचरों की सहायतार्थ उसने नये दूतों के अनेक पथक भेजे । वेष बदलकर वे उन सभी राज्यों में डटकर पाण्डवों को ढूँढ़ रहे थे। असफलता का कटु समाचार प्रति सप्ताह राजभवन से आकर टकरा रहा था। दुर्योधन की अस्वस्थता बढ़ती ही जा रही थी। सन्देह के मेघ घनीभूत हो रहे थे।

द्वारका में तो कुछ दूतों ने श्रीकृष्ण के प्रासाद में सेवकों का स्थान भी प्राप्त कर लिया था। उनकी गुप्त सूचनाओं के आधार पर गान्धार तक स्वयं दुर्योधन घूम आया था। वह इतना भी नहीं समझ सका कि श्रीकृष्ण उसको दिग्भ्रान्त कर सकते थे।

एक बार तो द्वारका के दूत से समाचार मिला कि पाण्डव विराट राज्य में विराटनगर में ही कहीं छिपे हुए हैं। तदनुसार दुर्योधन उनको ढूँढ़ने के लिए उस ओर जाने को तैयार भी हो गया। विराटों का मत्स्यदेश तो हस्तिनापुर का सबसे अधिक निकटवर्ती देश था। वहाँ रहने की असावधानी पाण्डव नहीं कर सकते थे। यमुना पार करते ही विराटों का राज्य था-इतना साहस कैसे कर पायेंगे ? मेरा अनुमान था कि पाण्डव हिमालय में ही कहीं छिपे हुए होंगे। निर्जन, ठण्डी गुफा में। इसलिए हिमालय की खाड़ियाँ और घाटियाँ, गुहाएँ आदि ढूँढ़ी गयीं। धर्मारण्य, नैमिषारण्य, बारणावत-सभी अरण्यों का चप्पा-चप्पा छान डाला गया। सोम, पारियात्र, विन्ध्य, निषध, गोवर्धन, शुक्तिमत, मेकल, ऋक्ष, मल्ल, गन्धमादन-सभी पर्वतों पर भटक-भटकर दूत थक गये । गौतम, जलु, दुर्वासा, वाल्मीकि, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु, व्यवन, हरित और ऋष्यशृंग-इन सभी ऋषियों के आश्रमों में शिष्यगणों के बीच कहीं न कहीं पाण्डव छिपे होंगे, यह विचार कर उन आश्रमों को भी अच्छी तरह छान डाला गया। कहीं भी पाण्डवों का पता नहीं चल रहा था। अर्जुन के लिए कवच कुण्डलों का दान माँगनेवाले देवेन्द्र ने भय के कारण कहीं उनको स्वर्ग में तो नहीं छिपा रखा है-यह सन्देह बार-बार मन में झाँक जाता था।

हस्तिनापुर में प्रभञ्जन तो आर्य विदुर की पर्णकुटी पर दृष्टि रखता हुआ वहीं अड्डा जमाये बैठा था। अपनी राजमता से मिलने के लिए कभी तो पाण्डव आयेंगे, और कुछ नहीं तो कोई सन्देश ही भेजेंगे। परन्तु यह भी नहीं हो रहा था। यहाँ तक कि यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि कहीं वे नष्ट तो नहीं हो गये ? अज्ञातवास का वर्ष भी समाप्त होने को आया। एक-दो दिन रह गये थे कि सबको आघात देनेवाली सूचना विराटनगर के गुप्तदूत ने हस्तिनापुर की ओर भेजी। सूचना यह थी कि किसी ने मुष्टियुद्ध में केवल मुक्कों से ही विराटों के सेनापति कीचक का वध कर दिया था। अविश्वसनीय-सी प्रतीत होनेवाली इस सूचना को सुनते ही मत्स्यदेश में दिग्विजय के दिनों मुझसे लड़ता हुआ विशालकाय कीचक आँखों के

आगे आ खड़ा हुआ। उसको मारने का सामर्थ्य अकेले भीम में ही था। भीम विराटनगर में ही होना चाहिए और अर्जुन भी। विचारों के चक्र दौड़ने लगे।

दुर्योधन ने तत्काल अत्यावश्यक राजसभा आमन्त्रित की। अश्वत्थामा सहित सभी को कुरुओं के अन्न पर पलने की बात कही। फिर सर्वसम्मति से यह निर्णय किया गया कि विराटों की गोशाला की सैकड़ों गायों का हरण करने के निमित्त से विराटनगर पर आक्रमण किया जाये। गायों के लिए पाण्डव अज्ञातवास को भी भूलकर प्रकट हो जायेंगे और वचनभंग की कर्तरी में फँस जायेंगे। इस प्रकार उन्हें पुनः वनवास जाना पड़ेगा।

अचानक रणवाद्य बजने लगे। कुरुओं के लक्षावधि सैनिक राजभवन के सम्मुख भव्य प्रांगण में एकत्रित हो गये। मेरे साथ दिग्विजय के लिए जानेवाले सैनिक आज गोहरण के लिए सज्जित हो गये थे। पर मुझे कुछ खटक रहा था, मेरे मन के किसी गहन कोने में सम्भ्रम के बादल छाये हुए थे। जीवन-नौका कहीं डगमगा रही थी, भटक रही थी। हम कहाँ जा रहे हैं—यह दुर्योधन और मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को भी ज्ञात नहीं था।

"विराटनगर ।" सेनापति दुर्योधन ने अपने हाथ उठाकर सेना को आक्रमण की दिशा दिखायी। लाखों घोड़ों की वल्गाओं में झटके लगे। शंखों की ध्वनि गूँज उठी।

"महाराज दुर्योधन की SS"

"विजय हो !" गगनभेदी जय-जयकार गूँजने लगी। ये आवाजें कितनी ऊँची गयी हैं—यह अनुमान लगाने के लिए मैंने सिर ऊँचा उठाया। राजभवन के शुभ्र सौध पर एक शुभ्रकेशांकित वृद्ध चिन्तित खड़े हुए मुझको दिखाई दिये। पितामह भीष्म हनु पर हाथ रखे खड़े थे। आकाश के कभी द्रवित न होनेवाले खोखलेपन की ओर देखते हुए। कुरुओं की राजसभा में अपने शब्दों का स्थान दो कौड़ी के बराबर भी नहीं रह गया है, यह सोचते हुए।

अश्वत्थामा, मामा, दुःशासन, शोण एवं मैं-हम सभी एक-एक सेनापथक के अग्रभाग में जाकर विराटनगर की ओर द्रुतगति से चल पड़े। सबके आगे खड़ग उठाये हुए दुर्योधन था। पितामह का वृद्ध नेतृत्व अब किसी को भी स्वीकार नहीं था। शालवृक्ष जैसा दुर्योधन ही उसके उपयुक्त था।

विराट असावधान थे। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उनपर आक्रमण होगा। वे अपने दैनिक कृत्यों में लगे हुए थे। सुअवसर पाकर दुःशासन की अश्वसाद सेना बाण की तरह विराटों की गोशाला की ओर घुस गयी। सहस्रों गायों के कण्ठ के कण्ठबन्ध कचाकच तोड़ दिये गये। घोड़ों के खुरों की टापों से भयभीत सहस्रों गायें रँभाती हुई, सींग पर सींग टकराती हुई, गोशाला के घेरे को तोड़कर बाहर निकल पड़ीं। दुःशासन के सैनिकों ने जिस ओर हाँका उसी ओर भागीं। श्वेत, श्याम, मटमैली, लाल, अनेक वर्गों की पुष्टस्तनी उन

सहस्रों गायों को चारों ओर से घेरकर दुःशासन की सेना विराटों की सीमा से बाहर निकली। उनके खुरों के नीचे कछार के कछार उद्ध्वस्त होने लगे।

अपना गोधन हरण किया जा रहा है यह देखकर विराटों ने घबराकर अपनी सेना इकट्ठी कर ली थी। शंख, आनक, नगाड़ों की ध्वनियाँ गरजने लगीं। हमारा पीछा करते हुए विराट पीछे-पीछे दौड़ने लगे।

एक कछार में एक विशाल शमी वृक्ष पीछे छोड़कर हम विराट और हस्तिनापुर की सीमा प्रदर्शित करनेवाले यमुना के तीर पर आये। यमुना पार करते ही हस्तिनापुर था। केवल एक नदी ही बीच में थी।

जैसे एकाएक पुरवाई वर्षा से आकाश परिपूर्ण हो जाता है, वैसे ही सैकड़ों बाण हमारी सेना के पीछे से तेजी से आकर चित्ररथ पक्षियों की तरह यमुना के किनारे पर अचूक उतरने लगे। उन बाणों ने क्षण-भर में ही समस्त किनारे को घेरनेवाला सुदृढ़ घेरा तैयार कर दिया। उस घेरे को देखकर, दौड़ती हुई गायें ठिठक गयीं और मुँह मोड़कर पुनः विपरीत दिशा में विराटों के नगर की ओर ही दौड़ने लगीं। हमारे सभी सेनाप्रमुख उनको रोकने के लिए उनके पीछे-पीछे भागे। सामने विराटों की सेना खड़ी थी। अग्रभाग में नील वर्ण का एक सारथी खड़ा था। वह सारथी था या सेनापति—यही समझ में नहीं आता था। वह निरन्तर अविरत बाण फेंक रहा था। मैंने उसको ध्यान से देखा। वह अर्जुन ही था। तेरह वर्ष बाद मेरे सामने आकर खड़ा होनेवाला मेरा शत्रु।

अर्जुन ! मेरी जीवन-सरिता को स्थान-स्थान पर निरुद्ध करनेवाला। मेरे सुदामन की किशोर देह को चीरनेवाला। नील कमलों की माला अपने कण्ठ में डालकर गर्व से मत्त होनेवाला।

"अर्जुन, ठहर जा !"

धनुष उठाकर आवेश से मैं उसकी ओर दौड़ा। बायें हाथ की ओर से शोण और दायीं ओर से अश्वत्थामा मुझे संरक्षण देते हुए आगे बढ़े। बाण से बाण टकराये। दिन में चिनगारियों के तारे चमकने लगे। एक घड़ी बीत गयी। दोनों सेनाओं के बीच के कोलाहल से बिदकी हुई गायें इधर-उधर बिखरकर समीपस्थ अरण्य में आश्रय लेने चली गयी थीं। युद्ध का निर्णय नहीं हो पा रहा था। सूर्यदेव अब भी तप रहे थे।

एकाएक हमारे सभी सैनिकों की दिशा में मूर्छा लानेवाला मादक सुगन्धित पवन बहने लगा। जैसे ही वह सैनिकों की नाक में गया, वे खड़े-खड़े धड़ाधड़ नीचे गिरने लगे। वह अर्जुन द्वारा छोड़े गये सम्मोहास्त्र का परिणाम था। सम्मोहास्त्र—मूर्छित करनेवाली मादक वायु उत्पन्न करनेवाला अस्त्र। लकड़ी की नलिकाओं में महुए के फूलों का चूर्ण ठसाठस भरकर अर्जुन उनकी वर्षा कर रहा था। उसपर किस अस्त्र की योजना करनी चाहिए। मैं यह

स्मरण करने लगा। मेरे आसपास का दृश्य भी जैसे चक्कर खा रहा था। हाथ से धनुष छूटकर गिर पड़ा। स्थनीड़ पर मस्तक टकराता हुआ धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। चेतना नष्ट हो गयी।

जब जाग्रत हुआ तब सामने सर्वप्रथम अश्वत्थामा दिखाई दिया। वह मेरे मुख पर पानी का छिड़काव कर रहा था। तक्षण उठकर मैंने चारों ओर दृष्टि डाली। जैसे किसी बंजर स्थान पर इतस्ततः पाषाण पड़े हुए हों, वैसे ही सहस्रों कुरुसैनिक निश्चेष्ट पड़े हुए थे। सबके अंगों पर जो विविधवर्णी उत्तरीय थे, उनको कोई हर ले गया था। मेरी देह पर भी मेरा नीला उत्तरीय नहीं था। दलदल में फंसे हुए हाथी की तरह वीर दुर्योधन विराठो की सीमा में कछार पर औधा पड़ा हुआ था। अश्वत्थामा सबके मुखों पर शिरस्त्राण में भरे हुए पानी का छिड़काव कर उनको जाग्रत करने का प्रयत्न कर रहा था। अपमान को, अपयश की, मार्गच्युत जीवन की प्रतीति से मेरा हृदय तिल-तिल का टूटने लगा। अश्वत्थामा ने मुझे जाग्रत न किया होता तो ! मूर्च्छितावस्था की संज्ञाहीन नीरवता में मैं उसी तरह पड़ा रहता तो अच्छा होता। अपयश से मूर्छा अच्छी। वहां चेतना के कटु अंकुश नहीं होते।

अकस्मात् हाथ का जल से भरा शिरस्त्राण फेंककर अश्वत्थामा हृदयविदारक स्वर में चिल्लाया। पूँछ कटे हुए शार्दूल जैसी आर्त चीत्कार थी वह ।

"कर्ण \$\$\$, दौड़ो!"

क्या हो गया ? मुझे आभास हुआ जैसे किसी ने भय का खड्ग कण्ठ पर फेर दिया हो। समय-समय पर आत्मा के अमरत्व का तत्त्वज्ञान मुझे बतानेवाला वह प्रज्ञावन्त गुरुपुत्र अश्वत्थामा इस प्रकार क्यों चीखा? शरीर का नश्वरत्व बखान करनेवाला वह बुद्धिमान् व्याकुल क्यों हो उठा ?

मध्यस्थ सैनिकों की मूर्छित देहों पर झटपट छल्लों लगाता हुआ उसके पास पहुँचा। सामने का दृश्य देखकर मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मेरे शरीर के रक्त का कण-कण ठण्डा होता जा रहा हो। सम्मोहास्त्र के बिना ही मूर्छा आने लगी। धरती का विशाल पटल बाण के फल जैसा क्षुद्र लगने लगा। मेरे प्राण-प्रिय बन्धु का 'वसुभैया, वसुभैया' कहनेवाला मुख-कमल अर्जुन ने धड़ से अलग कर धूल में फेंक दिया था।

जीवन के सुख दुखों का वह मेरा एकमात्र साथी निर्जीव हो गया था। अपने भैया के अन्यायपूर्वक लिये गये कवच-कुण्डलों के धन को पुनः प्राप्त करने के लिए वह स्वर्ग का द्वार खटखटा रहा था।

अब वसुभैया का रथ कौन हाँकेगा ? 'मुझको छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?' कहकर रथ के पीछे हाथ उठाकर अब कौन दौड़ेगा ? 'भाभी-भाभी' कहकर वृषाली के पीछे-पीछे अबोध बालक की तरह अब नित्य कौन चक्कर काटेगा? गंगा पर भूले हुए मेरे उत्तरीय को

चिलचिलाती धूप में जाकर अब कौन लायेगा ? दान की वस्तुएँ विहँसते मुख से कौन मेरे हाथों से देगा ? 'कवच कुण्डलों का दान मत दो' यह कहकर कौन मेरे चरणों पर धड़ाधड़ सिर पटकेगा ? राधामाता की वामकुक्षि में अब कौन विलगेगा ? अपूपों का आग्रह कर कौन मेरे साथ भोजन करेगा ? मेघमाला और मीनाक्षी को वसुदादा के प्रेम की प्रतीति अब कौन करायेगा ? 'भैया, तुम्हारे कुण्डल निस्तेज हो गये हैं !' इस प्रकार आकुल होकर मुझे कौन सावधान करेगा ? क्षण भर पहले घोड़े पर आरूढ़ होकर खड़ग घुमानेवाला मेरा शोण खुरों के नीचे की धूल में पड़ा हुआ था। चमचमाता प्रकाश था, फिर भी मुझे अन्धकार-सा लगने लगा। आँखों पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। मुख शुष्क हो गया था। मस्तक बधिर हो गया था।

"अश्वत्थामन्, शोण चला गया।" गुरुपुत्र के कन्धे पर सिर रखकर मैं असहायभाव से सिसकने लगा। मेरे जीवन-रथ का एक चक्र ही उखड़ गया था। अब घिसटते रगड़ते जाना था। बस जीने के लिए ही जीना था।

"....भैया, , तुम जाओगे क्या गरुड़ पक्षी की तरह ऊँचे और ऊँचे ?" यह कहनेवाले शोण ! आज तुम ही कहाँ ऊँचे चले गये हो, कभी दिखाई न देने के लिए ?

"कर्ण, शान्त हो।" गुरुपुत्र अपनी आँखें पोंछता हुआ मुझे सान्त्वना देने का व्यर्थ प्रयत्न करने लगा।

इसी नगर में दिग्विजय के अवसर पर शोण का शिरस्त्राण नीचे गिरा था। एक हाथी के पैर के नीचे आकर कुचल गया था, इस स्मृति से मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए जा रहे हों। उसका गोल गौरवर्णी सिर पककर गिरे हुए कोकम के फल की तरह धूल में पड़ा हुआ था। निष्प्राण धड़ लकड़ी के कुन्दे की तरह धूल में सना था।

नीचे झुककर अचानक मैंने उसका मस्तक उठा लिया। मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी। आवेग से उसके विशाल कपाल का अवघ्राण कर मैं नितान्त आकुल होकर बोला, "शोण, एक बार....एक ही बार मुझे 'वसुभैया' कहकर पुकार ले। स्वर्ग का द्वार तोड़कर भी मैं तुझे वापस ले आऊँगा।" परन्तु वह बोल नहीं रहा था। बोलनेवाला नहीं था। यदि उसके शरीर में थोड़ी-सी भी धड़कन होती तो वह अवश्य कहता- "भैया, वायुजित् के खुरों पर नित्य औषध-रस डालते रहना। तुम्हारा वह दिव्यमुकुट भूषणागार में सुरक्षित है। राधामाता को सँभालना। वृषाली भाभी को मेरा अन्तिम प्रेमपूर्ण प्रणाम कहना। बचपन में गंगामाता के किनारे मैंने जो सीपियाँ इकट्ठी की थीं, वे मीनाक्षी के पुत्र को दे देना। और....और अन्य किसी को भी सारथी के रूप में अपने रथ पर नियुक्त मत करना । मैं तुम्हारी सेवा करने आऊँगा वऽ सु ऽ भै ऽ या ऽ प्रणा ऽ म।

परन्तु...परन्तु ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। होनेवाली भी नहीं थी। जीवन-भर सुख-दुख की बातें करनेवाले हम दोनों भाई उसके अन्तिम प्रयाण के अवसर पर एक-दूसरे से मिल

भी नहीं सके थे। अब वृषाली को कौन-सा देवर दूँगा मैं ? राधामाता के अश्रु सान्त्वना के किस वस्त्र से पोछूँगा मैं ? मेघमाला के भाल पर लगे हुए कुंकुम-तिलक को पोंछने के लिए धैर्य कहाँ से लाऊँगा ? कुरुओं का दिग्विजयी राजध्वज किसके हाथ में दूँगा ? जीवन के सुख-दुखों की बातें किससे करूँगा ? 'शोण, छोटे आज्ञा नहीं दिया करते हैं' यह कहकर किस पर क्रोध करूँगा ? "शोण SS शोण SS !" ग्रीष्मकाल में जैसे चातक पुकार करता है, वैसे ही मेरा मन बार-बार पुकार रहा था। आज वास्तव में मैं एकाकी रह गया था। जीवन नश्वरता का महासागर प्रतीत हो रहा था। अर्थ-हीन कलह का अनन्त अर्णव प्रतीत हो रहा था। उदर में आकाश-जैसे विशाल खोखलेपन का गड्ढा बन गया था। पंच प्राणों की महाबाढ़ अश्रुओं के रूप में आँखों के कगारे तोड़कर बह रही थी। कवच-कुण्डल दान करते समय या महेन्द्र पर जंघा खोखली होते समय-इतना रक्त भी मेरे शरीर से नहीं निकला था।

उसके आधे खुले हुए नेत्र मैंने तर्जनी से सदा के लिए बन्द कर दिये। मेरी यही इच्छा हुई कि मेरे अशुभ, अभद्र, असमर्थ शरीर को वह न देखे। ऊपर से सुन्दर दिखाई देनेवाला यह क्रूर जगत् पुनः उसके दृष्टिपथ में भी न आये, इसीलिए मैंने उसके नेत्र बन्द कर दिये।

"जाओ शोण, निःसंकोच जाओ। इस कर्ण की ओर से संसार ने तो मुँह फेर ही लिया, आज तुमने भी मुँह फेर लिया। फिर भी निःसंकोच जाओ।" मन ही मन यह कहते हुए उसके कटे हुए मस्तक को ज्यों का त्यों धड़ से जोड़कर रख दिया। उसका मुख आच्छादित करने के लिए मेरे पास वस्त्र नहीं था। मैं जग को अतलसी, बहुमूल्य वस्त्र प्रदान करता आया था किन्तु अपने बन्धु के मृत शरीर पर डालने के लिए मेरे पास वस्त्र भी नहीं था। मन क्रन्दन कर रहा था।

अश्वत्थामा अपना प्रण त्यागकर अपने मस्तक पर बँधा हुआ वस्त्र उसके मुख पर डालने के लिए वस्त्र की गाँठ खोलने लगा। मैंने उसके हाथ पकड़ लिये। मैंने फिर वायुजित् की पीठ पर से पर्याण का वस्त्र उतारा और फाड़कर शोण की मृत देह आच्छादित कर दी। उस अपूर्ण वस्त्र से मेरे प्रिय बन्धु का एक हाथ बाहर झाँक रहा था। उसने मरते समय भी जो खड्ग उस हाथ में कसकर पकड़ रखा था, वह अब भी ज्यों का त्यों था। नीचे झुककर बड़े प्रयास से उसकी मुट्ठी से मैंने जैसे-तैसे उसे छुड़ाया। उठकर खड़े होकर उसको हाथ में ऊँचा करके मैं बड़ी जोर से चिल्लाया, "शोण SS, जग में कर्ण या अर्जुन—एक ही जीवित रहेगा। एक ही!" अर्जुन के स्मरण मात्र से ही शरीर में विष का प्रवाह-सा दौड़ रहा था। सम्पूर्ण देह सन्ताप से थरथरा रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि शोक, क्रोध आदि इन विरोधी भावों से सारी नसें कहीं तड़क न जायें।

मैंने प्रतिज्ञा की, परन्तु उसका क्या उपयोग था ? अर्जुन को जान से मारने पर भी शोण अब लौटनेवाला थोड़े ही था। वह इस जगत् में नहीं था यह सत्य, कटु होते हुए भी सत्य ही था। हाथ से खड्ग फेंककर, शोण की मृत देह पर आच्छादित किये हुए वस्त्र पर गिरकर मैं

दहाड़ें मारकर रोने लगा। मैं अंगराज नहीं था, दिग्विजयी सेनापति नहीं था, दानवीर नहीं था, परशुराम का शिष्य नहीं था। इतना ही नहीं, मैं कर्ण भी नहीं था। अपने प्रिय बन्धु के क्रूर वध से विह्वल-हृदय, तड़पनेवाला, क्रन्दन करनेवाला व्यक्ति मात्र था मैं । केवल एक मनुष्य था- मनुष्य !

दस

शोण की पार्थिव देह का यमुना-तीर पर दहन-संस्कार कर लौटते समय मेरा मन सुन्न हो गया था। कुछ प्राणप्रिय साथी जीवन-यात्रा में बीच में ही इस प्रकार छोड़कर क्यों चले जाते हैं ? क्या है जीवन का अर्थ ? केवल दो घड़ी का खेल ? कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। कुछ भी सूझ नहीं रहा था। शोण की मृत्यु से निराशा का जाल बुनता हुआ मन लिये हुए ही मैं हस्तिनापुर लौटा। उसके भीतर गाँठ की तरह एक ही भाव दृढ़ था। अर्जुन से प्रतिशोध ! मेरे सगे बन्धु का वध करनेवाले प्रबल शत्रु अर्जुन से प्रतिशोध !

जो घटना घटित हुई थी, उसकी सूचना किसी ने पहले ही राजभवन पहुँचा दी थी। राधामाता, वृषाली और मेघमाला का विलाप असह्य हो गया। “मेरा शत्रुन्तप कहाँ है ?” पूछनेवाली राधामाता के लिए मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। “दादाजी, मेरा सर्वस्व कहाँ है ?” यह पूछनेवाली मेघमाला को सान्त्वना देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे। “देवर ! आह देवर !” कहकर छाती पीटनेवाली वृषाली की ओर देखा नहीं जाता था।

पन्द्रह दिन बीत गये थे। फिर भी किसी को यह सत्य ही नहीं लगता था कि शोण हमारे बीच नहीं है। कार्तिक की ठण्ड से राजभवन के पाषाण जम गये थे, शोण की मृत्यु से हम सबके मन जम गये थे। परन्तु कहीं न कहीं इसका अन्त होना आवश्यक था। पर मन हिम का थोड़े ही होता है जो उष्ण अश्रुओं से पिघल जाये। वह कठोर पाषाण का होता है। दुख का जितना चिन्तन किया जाये वह उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। केवल एक ही उपाय उसपर प्रभावशाली होता है और वह है विस्मृति । विस्मृति प्रकृति द्वारा प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार है। यदि वह न होती तो ? विविध स्मृतियों के कारण मनुष्य पागल हो जाये।

मन को संयत कर मैंने स्वयं को सँभाला। मुझे जीना था। शोण के कण्ठनाल को छिन्न करनेवाले अर्जुन के गले में धनुष अटकाना था। सम्पूर्ण जीवन भावनाओं की उथल-पुथल देखने में और अनुभव करने में ही बीत गया था। अब एक ही भाव शेष रह गया था— प्रतिशोध का। बदले का। उसके लिए चाहे जो मोल चुकाना पड़े। जहाँ कहीं मिले, वहीं से ढूँढ़-ढकोरकर मुझे अर्जुन को मारना था ।

इसी कारण 'सेना तैयार रखो' कहने के लिए मैं दुर्योधन के महल में पहुंचा। "राजन्, जिस समय मैं कहूँ उसी समय मुझे सेना चाहिए। किस लिए चाहिए, यह मत पूछना।"

"अंगराज, मेरी सेना क्या पराक्रम कर सकती है, यह मैं ही क्या सारा आर्यावर्त जानता है....। फिर भी मैं चिन्ताग्रस्त हूँ।" वह भौहें तानता हुआ बोला।

"क्यों ? चिन्ता कैसी ?"

"आज ही द्रुपद राजा के यहाँ से सचिव आया था। पाण्डवों को आधा राज्य देकर समझौता कर लो-वह यह प्रस्ताव लेकर आया था। मैं उसके विचार को स्वीकार करने की सोच रहा हूँ।

"नहीं, समझौता नहीं, सन्धि नहीं। यदि तुम न लड़ सको, तो मैं अकेला पाण्डवों से लड़ूंगा; परन्तु शरण नहीं जाना है।" उसकी चंचलता मेरी समझ में ही नहीं आ रही थी। विराटनगर में जो पराजय हुई थी, शायद उससे वह घबरा गया था।

"नहीं कर्ण, पाण्डवों की ओर से सन्धि का प्रस्ताव लेकर पुनः श्रीकृष्ण आनेवाला है। विराटनगर से बाहर आकर पाण्डव उपप्लाव्य नगर में रह रहे हैं। श्रीकृष्ण भी उपप्लाव्य नगर में आ गया है। पाण्डवों की शक्ति बढ़ रही है।

"राजन्, जीवन-भर मैं तुम्हारी बात मानता आया हूँ। अब आगे तुम मेरी मानो। पाण्डवों से प्रकट रूप से युद्ध करने के लिए मैं सदैव तैयार हूँ। उनको युद्ध का आह्वान दो।

"कर्ण, मेरी भी इच्छा नहीं है कि पाण्डवों को कुछ दिया जाये, परन्तु अकेले अर्जुन ने विराटनगर में हमारी जो दुर्दशा की थी, उसे देखकर उन पाँचों का कैसे सामना किया जायेगा, यह चिन्ता होने लगती है।"

"दिग्विजय में मैंने जिन राजाओं को पादाक्रान्त किया है, वे सभी हमारी सहायता करेंगे। आज ही उनको सन्देश भेज दो। पाँच क्या पचास पाण्डव भी हमारे सामने टिक नहीं सकेंगे, यदि वे नीतिपूर्वक लड़ें, तो।"

"ठीक है। इस प्रकार सहायता की यदि आशा हो तब तो पाण्डवों से लड़ने में कोई आपत्ति नहीं है। मैं सबको पत्र भेजूंगा....परन्तु वे तुम्हारे नाम से होंगे। यदि उन्होंने स्वीकृति दी, तभी मैं श्रीकृष्ण के सन्धि के प्रस्ताव को ठुकरा सकूँगा।"

"दूत भेजो।" मैंने उसको स्वीकृति दी कि वह मेरे ही नाम से देश-देश के राजाओं को पत्र भेज दे। केवल एक ही भावना मन को डरा रही थी....और वह थी श्रीकृष्ण के बारे में।

ग्यारह

दुर्योधन ने विभिन्न देशों में जो दूत भेजे थे, वे वापस आ गये। अवन्ति, चेदि, मगध, संशप्तक, सिन्ध आदि देशों के बलाढ्य राजा हमें सैनिक सहायता देने को तैयार थे।

उपप्लाव्य से श्रीकृष्ण प्रस्ताव लेकर आयेंगे, यह भनक सबको लग ही चुकी थी। इस प्रसंग में उनके पुरोहित ब्रह्मगार्ग्य ऋषि एक बार हस्तिनापुर में आकर विदुर और पितामह से मिल भी चुके थे। उनकी क्या-क्या बातें हुई, यह किसी को भी ज्ञात नहीं हुआ। हाँ, श्रीकृष्ण किस दिन आयेंगे, इसका अवश्य पता चल गया था। कार्तिक की पौर्णमासी के दिन वे आनेवाले थे। वे राज्य में पाण्डवों का आधा राज्य-भाग माँगनेवाले थे। कुरुयोद्धाओं ने स्पष्टतः नकार देने का दृढ़-निश्चय कर लिया था। शोण के वध की कसक अकेले मुझे नहीं, बल्कि सभी कुरुयोद्धाओं को विक्षुब्ध कर रही थी। मेरा मन-गरुड़ तो क्रोध के शिखर पर जा बैठा था, एक ही निश्चय सुस्थिर था, पाण्डवों से युद्ध। निर्णायक और अन्तिम युद्ध। अर्जुन को मौत के घाट उतारना। यह निश्चय यद्यपि सुस्थिर था, तथापि औरों की तरह ही प्रस्ताव लेकर आनेवाले श्रीकृष्ण के प्रति मेरे मन में भी आदर था।

कोहरे के पटल फाड़ता हुआ कार्तिक पौर्णिमा का दिन उदित हुआ। श्रीकृष्णप्रेमी नगरजनों ने अपने-अपने घरों के सामने अशोक और आम्र-वृक्षों के पत्तों और शाखाओं के बन्दनवार सजाये थे। सुगन्धित जल से आँगन सिंचित, सम्मार्जित कर, उनमें स्थान-स्थान पर सुदर्शनाकार अल्पनाएँ चित्रित की थीं। पुष्पमालाओं से सजाकर ध्वज और तोरण ऊँचे लगाये थे। एक श्रद्धालु श्रीकृष्णभक्त ने तो अपनी स्त्री द्वारा शिशुपाल-वध का प्रसंग आँगन में अल्पना में चित्रित करवाया था। प्रत्येक देहरी पर गंगाजल से परिपूर्ण सुवर्ण-कलश रखे हुए थे। सुस्नात सुहागिनें नीराजना प्रज्वलित करने। मैं मग्न थीं। महामन्त्री आर्य विदुर ने कुरुओं का विशेष राजध्वज भवन के शिखर पर चढ़ाया। आज पहली बार ही हस्तिनापुरवासियों को श्रीकृष्ण के दर्शन होने जा रहे थे। यद्यपि श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से सन्धि का प्रस्ताव लेकर आ रहे थे, तथापि उनके प्रति मेरे मन में अनादर बिलकुल नहीं था। मेरी शत्रुता पाण्डवों से थी। जिन्होंने मेरी घोर उपेक्षा की थी, उनसे थी। मेरे एक पुत्र और प्राणप्रिय बन्धु का वध करनेवाले अर्जुन से थी। एक सूतपुत्र की एक क्षत्रिय से थी। वह श्रीकृष्ण से नहीं थी। प्रत्येक वस्तु में मुझे शोण और सुदामन दिखाई दे रहे थे। इसीलिए अर्जुन का नाम सुनना भी सहन नहीं होता था।

उपप्लाव्य से निकलकर उन्होंने गंगा के किनारे स्थित वृकस्थल उपनगर में आकर डेरा डाला। नगरजनों ने वहाँ तक का मार्ग सजा दिया। सूर्योदय की सर्वस्पर्शी सुकुमार किरणें हस्तिनापुर से लिपट गयीं। सीमा पर होनेवाला असंख्य वाद्यों का कोलाहल राजभवन में भी स्पष्ट सुनाई देने लगा। वह इस बात का स्पष्ट संकेत था कि श्रीकृष्ण सीमा पर आ चुके हैं। अश्वत्थामा को साथ लेकर मैं उनका स्वागत करने के लिए सीमा तक गया। वृकस्थल छोड़कर वे अब हस्तिनापुर में प्रवेश कर रहे थे।

सात श्वेतशुभ्र घोड़ों के सुवर्ण-मण्डित रथ में चार व्यक्ति बैठे हुए थे। युयुधान, ब्रह्मगार्ग्य, श्रीकृष्ण और सारथी दारुक । श्रीकृष्ण का नीलवर्ण शरीर उसी तेज से दमक रहा था, जैसा कि मैंने वर्षों पहले इन्द्रप्रस्थ में देखा था। उनके देखते समय 'अपने शरीर पर सदैव की भाँति कवच नहीं है', यह जानकर मन विषण्ण हो गया। इस कमी की अनुभूति हृदय को कुतरने लगी। मेरी ओर देखकर यादवराज श्रीकृष्ण मुसकराये। उनके हस्तिदन्त-जैसे शुभ्र दाँत सुनहली सूर्य-किरणों में चमक उठे। मैंने उनके मस्तक पर रखे मुकुट की ओर ध्यान से देखा। उसकी बनावट भूषणागार में रखे हुए मेरे उस मुकुट-जैसी ही थी, यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ ।

"प्रणाम यादवराज !" उत्तरीय सँभालते हुए मैंने उनको वन्दन किया। अर्जुन ने मुझपर जो अन्याय किए थे, उनको ये अनुभव क्यों नहीं करते ? "जयतु कर्ण !" उन्होंने धीरे से कहा।

पितामह, विदुर, वृषवर्मा, द्रोण आदि से घिरा हुआ उनका रथ हस्तिनापुर में प्रवेश करने लगा। वाद्यों की मिश्रित ध्वनि राजमार्ग के दोनों ओर खड़े वृक्षों के पत्तों को थरथर कँपाने लगी।

नगरजन भक्तिभाव से सुगन्धित पुष्प और कुंकुम की वर्षा उनपर करने लगे। हाथ जोड़कर सहास वदन वे सबका प्रेम स्वीकार करने लगे। दारुक के वस्त्र अच्छी तरह सन गये। श्रीकृष्ण को ले जानेवाले रथ को वह अच्छी तरह हाँक नहीं पा रहा था, क्योंकि एक तो घोड़ों की आँखों में कुंकुम भर गया था और दूसरे सैकड़ों नगरजन उनके खुरों पर श्रीकृष्ण के सामने-धड़ाधड़ लोट लगा रहे थे। अर्ध घटिका की अवधि में उनका रथ कुछ हाथ ही आगे बढ़ सका था। घोड़ों के खुरों पर सुहागिनों ने जो जलकुम्भ उँडेले थे, उनसे उन्हीं के द्वारा बड़े परिश्रम से चित्रित की गयी अल्पनाएँ धुलने लगीं। सूर्यदेव माथे पर चढ़ने लगे।

"यादवराज भगवान् श्रीकृष्ण SS...."

शोण का हृदयविदारक अन्त भूलकर विक्षिप्त हुए-से नगरजन गरज रहे थे, "जयतु ! जयतु !"

किसी के भी जयजयकारों से पहले हस्तिनापुर इतना गूँजा न होगा जितना कि आज गूँज रहा था। श्वेतवर्ण के घोड़े कुंकुम के कारण रक्तवर्णी दिखाई देने लगे।

श्रीकृष्ण के पीताम्बर पर कुंकुम की इतनी पर्त चढ़ गयी कि वह पीताम्बर पीतवर्ण का है, यह स्वयं वे भी नहीं बता सकते थे। समस्त राजमार्ग पर पुष्पों के ढेर लगे हुए थे । शान्त चित्त से उस राजयात्रा में वायुजित् पर आरूढ़ होकर जाते समय मुझे क्षण-भर को आभास

हुआ कि मैं स्वर्ग के साम्राज्य में ही हूँ। परन्तु उस चैतन्य-भरे हर्षोन्माद में दुर्योधन कहीं दिखाई नहीं दे रहा था।

दोपहर की चिलचिलाती धूप में श्रीकृष्ण का पुष्पो से आच्छादित तथा कुंकुम से सना हुआ राजरथ हस्तिनापुर के पुरातन राजभवन के महाद्वार पर आ खड़ा हुआ। सम्पूर्ण शरीर पर से कुंकुम झटकते हुए, उत्तरीय सँबारते हुए वे शान्तिपूर्वक रथ से नीचे उतरे। अन्य स्त्रियों के साथ वृषाली ने भी उनकी पंचारती उतारी। कुंकुम का एक तिलक काँपते हाथ से उसने उनके विशाल भाल पर लगाया। उसके जीवन में श्रीकृष्ण को देखने का यह पहला ही अवसर था।

राजभवन के शिखर पर त्रिकोणी भगवे राजध्वज की ओर देखते हुए उन्होंने महाद्वार की देहरी लाँधी। किसी ने कहा, "राजभवन आज पवित्र हो गया।"

"राजन्, मैं इतरत्र कहीं भी जाना नहीं चाहता। सीधे सभागृह में चलो।" स्वागतार्थ खड़े हुए महाराज धृतराष्ट्र की निमीलित आर्द्र पलकों की ओर देखते हुए मूढ़ स्वर में उन्होंने कहा।

"चलिए यादवराज !" आवाज की दिशा में सिर हिलाते हुए महाराज ने अपनी अनुभूति प्रदर्शित की।

सभी कुरयोद्धाओं के साथ वे सभागृह की ओर चल दिये। राजभवन की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए, वे ठीक एक सौ पाँचवीं सीढ़ी पर ठहर गये। अब केवल एक ही सीढ़ी बची थी। मेरे कानों के कटे हुए निम्नभाग की ओर देखकर हँसते हुए उन्होंने एक सौ छठी तथा अन्तिम सीढ़ी पर पैर रखा। उन सीढ़ियों के सम्बन्ध में मेरे मन में अब कोई औत्सुक्य नहीं रहा था। यदि सम्भव होता तो उन सभी को ढाहकर उनसे मैं शोण की समाधि बना देता।

राजसभागृह में प्रवेश करते ही श्रीकृष्ण ने उस पुरातन राजसिंहासन को सिर झुकाकर प्रणाम किया। ढालकर बनायी गयी कुरुओं के मानचिह्न सूर्यदेव की सुवर्ण-प्रतिमा की ओर देखते हुए ही वे अमात्य वृषवर्मा द्वारा दिखाये गये आसन पर शान्तिपूर्वक विराजमान हो गये। सबने अपने-अपने आसन ग्रहण कर लिये। महाराज धृतराष्ट्र और महारानी गान्धारी देवी राजसिंहासन पर आसीन हो गये। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शायद अन्तिम राजसभा थी। श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए आतुर योद्धाओं सभागृह खचाखच भर गया था। अपने आसन पर बैठकर मैं अपने पैरों की ओर देखने लगा। वे संकुचित क्यों होते गये थे- इस रहस्य को जीवन की इस सुदीर्घ दौड़ से मैं कभी सुलझा नहीं पाया था।

अमात्य वृषवर्मा ने सभा का प्रयोजन बताकर कुरुओं की ओर से रसभरी वाणी में श्रीकृष्ण का स्वागत किया। नीचे बैठते हुए वे बोले, "...अब यादवराज भगवान् श्रीकृष्ण अपने आगमन का प्रयोजन स्वयं ही बतायेंगे। सभी गुरु शान्तिपूर्वक उसपर विचार करें। समय महत्त्वपूर्ण है। परिस्थिति विकट है।"

उत्तरीय सँबारते हुए श्रीकृष्ण आसन से उठे। उनके उत्तरीय की सलवटों में संचित कुंकुम उनके उठने से नीचे पाँवड़े पर गिर पड़ा। तीव्र भेदक स्वर में वे बोलने लगे। उनके दीर्घ होंठ फड़कने लगे, भेदक नेत्र सभागृह पर मण्डलाकृति घूमने लगे।

"कर्ण, भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, द्रोण, कृप, विदुर, अश्वत्थामा, शकुनि, जयद्रथ, दुःशासन और दुर्योधन ! यहाँ उपस्थित कुरु-योद्धाओ !! मैं यादवराज के रूप में नगर में नहीं आया हूँ। न पाण्डवों के ममेरे भाई के रूप में आया हूँ। श्रीकृष्ण के रूप में भी नहीं आया हूँ। एक न्याय-पक्ष के पक्षधर के रूप में इस पुरातन राजसिंहासन के पास आज न्याय माँगने आया हूँ। क्योंकि इस राजसिंहासन की ख्याति न्यायदान के लिए ही अखिल आर्यावर्त में प्रकाशमान रही है। सूर्य-प्रतिमा को मानचिह्न माननेवाले कुरुओ, क्या आप लोग पाण्डवों को न्याय दोगे ? मैं सन्धि का प्रस्ताव लेकर नहीं, वरन् सत्य का वज्रपट लेकर आया हूँ। पाण्डवों की सहनशीलता की सत्त्व-परीक्षा आपने आज तक मर्यादा की सीमा से भी आगे तक की है। राजमाता कुन्ती देवी सहित पाण्डवों को लाक्षागृह में दग्ध करने का युद्धशास्त्र आपको किसने सिखाया, यह बात युवराज दुर्योधन क्या मुझे बता सकेंगे ? पितृछत्र-रहित पाण्डवों को खाण्डव वन का, कँटीली लताओं एवं वृक्षों से भरा एवं वन्य पशुओं द्वारा अपनी गर्जनाओं से प्रकम्पित, लोकविलक्षण साम्राज्य देनेवाले शकुनि मामा क्या अपने राज्य गान्धार देश की राजनगरी छोड़कर दण्डकारण्य चले जायेंगे और वहाँ नयी नगरी बसा कर दिखा सकेंगे ? अपना द्वारका का राज्य दावँ पर लगाकर मैं आज द्यूत खेलने बैलूँ तो गान्धार देश दावँ पर लगाकर मेरे साथ क्या वे आज द्यूत खेलेंगे ? अपनी पत्नी को दाएँ पर लगाकर, यदि उसको हार जायें तो, उसे इस सभागृह में सबके सामने खींचकर लाने की सम्मति मुझे देंगे ? तेरह वर्ष के यातनामय वनवास पर्यन्त नंगे पैर रहेंगे क्या ? विराटनगर से गोहरण करने के लिए सभी कुर्योद्धा इस नगर से बाहर चल पड़े थे, उसी प्रकार मथुरा-द्वारका के सभी यादव योद्धा और पाण्डव बिना किसी पूर्वसूचना के यदि इस नगर में घुस आयें तो क्या आप सहन कर लेंगे ? आपमें से प्रत्येक के हृदय में एक शुद्ध शाश्वत भावना भी है, उसको साक्षी बनाकर बताइए कि आज तक पाण्डवों को आपने कौन-सा न्याय दिया ? न्याय कहते किसे हैं, यह बात आज आप जानते क्या?

फिर भी आपको और पाण्डवों को मैं एक ही मानता हूँ। इसीलिए आज भूतकाल कटु सत्यों को भस्मसात् कर मैं कहता हूँ कि हे राजा धृतराष्ट्र, पाण्डवों को उनका आधा राज्य देकर भावी विध्वंस के विराट् वडवानल को बुझा डालिए। बोलिए, इस न्यायदान के लिए क्या आप तैयार हैं ?"

कशाघात-जैसे उनके शब्दाघातों से सर्वत्र भीतिदायक शान्ति ही शान्ति फैल गयी। उत्तर देने के लिए महाराज उठ नहीं रहे थे। कोई भी हिल-डुल नहीं रहा था।

"कहो, कोई तो कहो, आपका अन्तिम निर्णय क्या है ?" उन्होंने पुनः सभागृह पर दृष्टि घुमाते हुए सबको लक्ष्य कर रहा। स्वर की तीव्रता और अधिक बढ़ गयी थी।

"मैं कहता हूँ। तेरे वक्तव्य से ठण्डे पड़े हुए कुरयोद्धाओं का अन्तिम निर्णय मैं तुझे आज स्पष्ट शब्दों में बताये देता हूँ। पाण्डवों को आधा राज्य नहीं मिलेगा।" दुर्योधन तपाक से उठकर भौंहे तानता हुआ, अपनी छोटी-छोटी परन्तु पुष्ट उँगलियों को हिलाता हुआ बोला।

"क्यों ?"

"उनका इस राज्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वे महाराज पाण्डु के पुत्र हों, तब भी नहीं। राज्य का विभाजन कल उसके शत और परसों सहस्र टुकड़े कर देगा। राज्य को पाण्डवों ने एक श्रीफल समझ लिया है क्या, जिसे दस आश्रमवासी मिलकर बाँट लें ?"

"आधा राज्य नहीं देते हो तो न सही-परन्तु खाण्डव वन में इन्द्रप्रस्थ का उनका राज्य—जिसे उन्होंने बसाया, समृद्ध किया, वह राज्य ही उनको लौटा दोगे क्या ? जो न्याय है, सत्य है, उसे दुराग्रह द्वारा अमान्य मत करो।"

"नहीं ! उस राज्य को वे द्यूत में गँवा चुके हैं। वह तो उनको कभी वापस नहीं मिलेगा।" दुर्योधन ऐसे बोल रहा था जैसे गदा के प्रहार कर रहा हो। स्फुरित आपस में टकरा रहे थे। बड़वाग्नि को आमन्त्रण दे रहे थे।

"आश्रयार्थ—सहारे के रूप में इस विशाल हस्तिनापुर राज्य के कम से कम पाँच ग्राम ही तुम उन पाँच बन्धुओं को देने को तैयार हो क्या ?" हाथ की पाँचों अँगुलियाँ एकत्रित कर श्रीकृष्ण ने पाँच का अंक प्रदर्शित किया। सभी सभासद-योद्धाओं के हृदय द्रवित हो उठे। कानाफूसी शुरू हो गयी। उसको बढ़ने न देकर, दुर्योधन तुरन्त ही पुनः बोला, "नहीं ! नहीं ! नहीं ! त्रिबार नहीं ! त्रिकाल नहीं ! पाँच ग्राम तो क्या, बिना युद्ध किये, इस राज्य का सुई के आग्रभाग पर थरथराते हुए धूल के कण बराबर भी कोई भाग पाण्डवों को नहीं मिलेगा। यही नहीं, बल्कि यह उत्तर लेकर लौटनेवाले तुम्हारे पैरों से चिपट जानेवाले धूलिकण भी पाण्डवों के हाथों में न पड़ें, इसलिए मैं उनको भी झड़वा लेता, परन्तु....परन्तु भगवान् कहे जानेवाले छली और ढोंगी श्रीकृष्ण, मैं नहीं चाहता कि इस निमित्त से भी मेरे सेवकों के हाथ तुम्हारे अमंगल पैरों का स्पर्श करें। जाओ, अपने सन्धि प्रस्ताव के चीथड़ों को पीताम्बर में लपेटकर तुम इस हस्तिनापुर की सीमा से बाहर चले जाओ। नहीं तो...."

"दुर्योधन ss !" श्रीकृष्ण के होंठ थरथराने लगे। नेत्र आरक्त हो गये। समस्त सभागृह क्षण-भर पहले हुए उनके स्वागत-समारोह को भूलकर हाहाकार कर उठा। बहुत से ऐसे उठकर खड़े हो गये मानो बिजली का झटका लग गया हो। मेरे कान सुन्न हो गये। आँखें बन्द हो गयीं। मेरे कानों के पास अपने होठ लाकर दुर्योधन उन्मत्तता से धीरे-धीरे बोला, "कर्ण, समस्त उथल-पुथल के मूल कारण इस ग्वाले ही को मैं आज बद्ध करूँगा। नगरजनों

के स्वागत समारोह को स्मरण करता हुआ, मथुरा के कारागृह में जन्म लेनेवाला यह ग्वाला कुरुओं के कारागृह के अन्धकार में ही नष्ट हो जाना चाहिए।" उसके शब्द मेरे कानों में तप्त लौहरस की तरह प्रविष्ट हुए। लहराते हुए विषैले भुजंग की तरह वे मेरे मस्तक में दंश मारने लगे। जीवन में पहली बार ऐसा विरोध प्रकट करता हुआ मैं उसपर चिल्लाया, "दुर्योधन, तुम होश में हो ? किसे बद्ध करने का स्वप्न देख रहे हो तुम ?"

"कर्ण, उससे कहो कि उसके राज्य में जितनी शृंखलाएँ हों, सब मँगवा ले और सामर्थ्य हो तो मुझे बद्ध कर ले।" श्रीकृष्ण ने अपने विशाल नेत्र बन्द कर लिये। क्षण-भर को मुझे भान ही नहीं रहा। मुझे ऐसा आभास होने लगा कि उफनते हुए दूध की तरह उनके शरीर का कण-कण फूलने लगा है। क्षण-भर में ही उनके मुकुट का सुपक्ष सभागृह की छत से जाकर लग गया। उनका विशाल रूप धारण करनेवाला शरीर पुनः एक बार दिव्य तेजकणों से ओत-प्रोत हो उठा। झंझावात को भी पीछे छोड़नेवाले वे तेजकर्ण चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त अत्यन्त प्रचण्ड गति से चक्कर काट रहे थे। मुझे यही लगने लगा कि उनके दिव्य शरीर से निकलनेवाले असह्य प्रकाश-वलियों से सभागृह के कठोर पाषाण स्तम्भ कहीं पिघल न जायें। सभी कुरुयोद्धा, ऋषि-मुनि, सेवक सेविकाएँ भयग्रस्त होकर उस विराट् देह के आगे लोटने लगे। देह पर कवच न होने के कारण उस तेजस्वी की आँच अब मुझ तक भी पहुँच रही थी। कुम्भसदृश गोलाकार उस तेजस्वी मुख से शब्द भी तेज का ही रूप धारण कर बाहर निकलने लगे। सभागृह को छत को छिन्न करने लगे....

जब मुझे भान हुआ उस समय श्रीकृष्ण के शब्द मेरे कानों में पड़े : "युद्ध ! युद्ध से किसी को भी समस्याएँ सुलझेंगी नहीं। युद्ध मानवीय क्रौर्य का उन्मूलन करने के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला एक कठोर उपाय है। युद्ध से मानव जाति का कभी कल्याण नहीं होता। क्योंकि वह जीवन का अन्तिम ध्येय नहीं है। जीवन का अन्तिम ध्येय है प्रकाश । ज्ञान का, विज्ञान का, आत्मा का प्रकाश! यदि वह प्रकाश तुम सबको युद्ध की मृत्यु में ही प्राप्त होनेवाला हो, तो मैं भी यथावश्यक भयंकर युद्ध प्रज्वलित करूँगा । जिस मिट्टी से तुम लोगों ने जन्म लिया है, जिसके अन्तरंग के रस से सिक्त धन-धान्य खाकर तुम्हारा पालन हुआ है, उस मिट्टी में ही तुम्हारे उत्तान शरीरों को चैतन्यहीन करके मिला दूँगा। यह युद्ध संसार को तुम्हारे अहंकार, पथभ्रष्टता, कपट, कौर्य, प्रतिशोध-सभी राक्षसी विकारों की ही कथा पीढ़ियों तक सुनाता रहेगा। इसीलिए ध्यान रखो, इस युद्ध में मैं स्वयं यद्यपि हाथ में शस्त्र धारण नहीं करूँगा, फिर भी धरती पर भारभूत तुम्हारे गर्वीले, उन्मत्त शरीरों को उसी की मिट्टी में एकरूप कर दूँगा।"

सब चुप थे, मानो वाणी मूक हो गयी हो। अकेले महाराज धृतराष्ट्र, दृष्टि न होने के कारण, शायद समझ ही न पाये थे कि राजसभा में क्या हो रहा है। सिंहासन से उठकर वे

भयग्रस्त स्वर में बोले, "यादवराज, आज भोजन राजभवन में कीजिएगा।" यह सुनकर उस राजा के अन्धेपन पर रोया जाये कि हँसा जाये, यही किसी की समझ में नहीं आया।

“राजन्, आज मैं हस्तिनापुर में ही भोजन करूँगा परन्तु तुम्हारे इस न्यायभ्रष्ट राजभवन में नहीं, बल्कि विदुर की पर्णकुटी में। राजमाता कुन्ती देवी के हाथ का।” वे अपना आसन छोड़कर, जिस शान्त चाल से सभागृह में आये थे उसी शान्त चाल से बाहर चल दिये। उनको विदा करने के लिए पितामह, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा सभी जन उनके पीछे-पीछे राजभवन के महाद्वार तक गये। वे भयभीत हो गये थे, व्याकुल हो गये थे।

श्रीकृष्ण कौन थे ? एक गोपाल ? एक योद्धा ? यादवराज ? पाण्डवों के ममेरे भाई ? या....या.... दुर्योधन के कथनानुसार ऐन्द्रजालिक तान्त्रिक ? मेरे मस्तक में प्रश्नों के घनाघात होने लगे।

ओह ! श्रीकृष्ण निश्चय ही असाधारण हैं। ईश्वरीय अंश से युक्त हैं। विचारों के अचूक बाण शंकाओं के मस्तक तोड़ रहे थे।

मैं भी उठकर सबके साथ उन्हें पहुँचाने के लिए महाद्वार तक आया। देहली पार करते समय वे क्षण-भर रुके। पीछे मुड़कर उन्होंने सबको प्रणाम किया। मैंने भी अपने हाथ जोड़े। अघटित घटित हुआ था और भी कुछ घटित होनेवाला था।

"कर्ण, आओ।" उन्होंने दायें हाथ की अँगुलियाँ मोड़कर मुझे पास बुलाया। पास जाते ही उन्होंने एकबारगी मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया। उनके उस दिव्य स्पर्श से अननुभूत संवेदना की एक लहर-सी मेरे सारे शरीर में दौड़ गयी। उन्होंने सबके बीच मुझे ही क्यों पास बुलाया ? राजसभा में भाषण के प्रारम्भ में सर्वप्रथम मेरा ही उल्लेख क्यों किया ? कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

एक हाथ में मेरा हाथ लेकर, दारुक को पीछे बैठने का संकेत कर, उन्होंने दूसरे हाथ से अपने चपल घोड़ों की वल्गाओं को झटका दिया। पीछे मुड़कर भी न देखते हुए वे अपने धवलवर्णी सप्तघोड़ों के रथ को दौड़ाने लगे। पीछे की बैठक में युयुधान, ब्रह्मगार्ग्य और दारुक बैठे हुए थे। मेरा मन मिश्रित भावनाओं से असमंजस में पड़ गया। उन्होंने सबको छोड़ केवल मुझे ही अपने साथ अपने हाथ से पकड़कर रथ में क्यों चढ़ाया था ? किसी का भी हाथ अपने हाथ में न लेनेवाले श्रीकृष्ण ने मेरा हाथ अपने हाथ में क्यों लिया था ? उनके रथचक्रों के साथ मेरे विचार-चक्र दौड़ रहे थे। एक ओर खड़े डौलदार आम्रवृक्ष की सघन पर्णराजि में से एक कोकिल पक्षी सप्तसुरों में तान लेता हुआ, हमारे रथ पर से उड़ता हुआ, पश्चिम की ओर चला गया। उसकी ओर देखते समय मुझे अस्त होते हुए सूर्यदेव के दर्शन हो गये । 'आज सन्ध्याकाल का अर्घ्यदान रह ही गया।' मैंने मन ही मन कहा। दोनों ओर कदम्ब, अशोक, आम्र, पिप्पल आदि अनेक प्रकार के वृक्ष तीर की तरह दौड़ते हुए पीछे छूट रहे थे। रथ नगर से बाहर जाने के लिए दौड़ता जा रहा था। मेरे जीवन का राजरथ भी उनके

साहचर्य में कीर्ति के राजमार्ग पर पूरे वेग से दौड़ रहा था, श्रीकृष्ण के रक्तवर्णी मृदुल हाथ में हाथ डाले । वायु के साथ फर-फर करनेवाला उनका पीताम्बर निरन्तर मेरी जंघा को स्पर्श कर रहा था। मोड़ लेते समय झुका हुआ उनका नीलवर्णी शरीर मेरे शरीर पर निःशंक भाव से पुनः पुनः अपना भार डाल रहा था।

विदुरजी की पर्णकुटी जव अच्छी तरह दिखाई देने लगी तो एक घने वटवृक्ष के पास आते ही उन्होंने बल्गाएँ खींचते हुए रथ की गति कम की। नगर की सीमा के पास हम बहुत पहले आ चुके थे। सामने सैकड़ों वर्षों से जलदान करते हुए बहनेवाला गंगा का जल दूर अस्त होती हुई प्रदीर्घ सुवर्ण किरणों में चमक रहा था। गरुड़ों का एक झुण्ड अत्यधिक ऊँचाई पर, मैनाक पर्वत पर स्थित अपने निवासस्थान की ओर, लौटता हुआ चला गया। उसको देखते ही मुझे शोण की याद आ गयी। एक बार उसने पूछा था, "भैया, तुम जाओगे क्या गरूड़ पक्षी की तरह, ऊँचे और ऊँचे !" आज शोण नहीं था। थीं उसकी हृदय आन्दोलित करनेवाली स्मृतियाँ । एकदम बल्गाएँ खींच ली गयीं। रथ रुक गया। मेरे विचार चक्र भी रुक गये। नगर बाहर की सीमा समाप्त हो गयी थी।

"चलो कर्ण !" उन्होंने मुझे एक वटवृक्ष की घनी छाया में चलने का संकेत किया । रथ को मार्ग पर ज्यों का त्यों छोड़कर वे मेरा हाथ अपने हाथ में लिये हुए उस विशाल वृक्ष की एक घनी शाखा के नीचे आये । जमी हुई धूल अपने उत्तरीय से झाड़कर वह यादवों का तेजस्वी नायक एक काले पाषाण पर बैठ गया। उनके पार्श्व में स्थान होते हुए भी मैं उनके चरणों के पास बैठ गया। कलिंग देश में महेन्द्र पर्वत पर ऐसे ही एक वटवृक्ष के नीचे भगवान् परशुराम का मस्तक मैंने अपनी जंघा पर रखा था—वह दिन मुझको याद आया। आज मेरा हाथ श्रीकृष्ण के हाथ में था। वैसा ही वटवृक्ष सिर पर था। अस्त होते हुए सूर्य की तिरछी सुनहली किरणों में श्रीकृष्ण का नीला शरीर चमक रहा था। कण्ठ में पुष्कराज, माणिक, मौक्तिक, हीरे व वैदूर्य के हार उनके श्वासोच्छ्वास के साथ लय में ऊपर-नीचे हो रहे थे। मस्तक पर रखा हुआ सुवर्ण मुकुट परावर्तित प्रकाशवलय फेंक रहा था। मैं जिस हरियाली पर बैठा था, उसमें से एक चपल धूलिधूसरित कीट उनके कुंकुममय पीताम्बर पर चढ़ता हुआ मुझको दिखाई दिया।

"कर्ण, भारी आघात देनेवाला एक सत्य बताने के लिए ही मैं आज सभी लोगों के बीच से केवल तुम्हें नगर से बाहर ले आया हूँ। उस अस्त होते हुए तेज को देखो और मैं क्या कह रहा हूँ, यह ध्यान से सुनो ।" दो पर्वतों के बीच सरकते हुए सूर्यदेव की ओर अंगुली से संकेत कर उन्होंने बड़े स्नेह से कहा। उनकी आवाज मुरली की तरह मधुर थी।

"कहो, यादवराज ! धरती इधर से उधर भले ही हो जाये, परन्तु मुझे अब कोई, आघात नहीं लग सकेगा।" मैंने उनकी सुतीक्ष्ण नासिका की ओर देखते हुए कहा।

"कर्ण....कर्ण, तुम सूतपूत्र नहीं हो। राधा और अधिरथ के पुत्र नहीं हो।" मेरी आँखों में गहराई तक जाकर उन्होंने मेरे मन के सरोवर को एकदम विक्षुब्ध कर दिया। तत्क्षण उठकर मैं बड़ी जोर से चीख उठा, "क्या कह रहे हो ? मैं सूतपुत्र नहीं हूँ ? राधामाता का पुत्र नहीं हूँ ? नहीं यादवराज, यह असत्य है। असत्य। भले ही एक बार अपना सुदर्शन चला दो, परन्तु जिह्वा का यह खड्ग मत चलाओ।"

"मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सत्य है। जो क्षत्रियों में भी शोभा दे, ऐसे एक दिव्यकुल के क्षत्रिय हो तुम। तुम....तुम राजमाता कुन्ती देवी के प्रथम पुत्र हो। तुम्हें तुम्हारा कुल बताने में मुझसे भूल नहीं हो रही है। पश्चिम क्षितिज पर ध्यान से देखो। उस साक्षात् सूर्यदेव के हिरण्यगर्भ के तेजःपुत्र हो तुम।" उन्होंने पश्चिम क्षितिज की ओर उँगली उठायी। मेरे सम्पूर्ण शरीर के रक्त के कण उनके शब्दों के साथ तेजी से घूमने लगे। हर्ष, अभिमान, महत्ता की प्रतीति—इनसे मन का कोष फूट गया और वह आँखों के पनारे से धाराप्रवाह झरने लगा।

ऐसी इच्छा होने लगी कि "मैं सूर्यपुत्र हूँ ! मैं सूर्यपुत्र हूँ !" यह कहकर आनन्द से चिल्लाता हुआ उन्मत्त होकर थयथय नाचूँ। इच्छा हो रही थी कि मेरे जीवन के राजवस्त्र को सामाजिक रूढ़ियों की, स्वार्थ की और अहंमन्यता की धूल में वर्षों तक निर्दय होकर कुचलनेवाले लोगों से गरजकर कह दूँ कि "मैं सूर्यपुत्र हूँ। मैं सूर्यपुत्र हूँ। तेज का पुत्र हूँ। हीन नहीं हूँ। क्षुद्र नहीं हूँ।"

"कर्ण, तुम राधेय नहीं हो, कौन्तेय हो। इसीलिए पाण्डवों के सगे भाई हो। बड़े।" पाषाण पर से उठकर श्रीकृष्ण ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। उनके शब्दों की अपेक्षा उनका स्पर्श शीतल था।

"श्रीकृष्ण, सत्य क्या है और असत्य क्या है, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है। यदि मैं कौन्तेय हूँ तो कुन्ती देवी से दूर क्यों हूँ ? यदि पाण्डव हूँ तो पाण्डवों से अलग क्यों हूँ ? सूर्यपुत्र हूँ तो अन्धकार के साम्राज्य में क्यों भटक रहा हूँ ?"

"यह एक लम्बी कथा है। जगत् के किसी भी पाषाणहृदयी मानव के अन्तःकरण को द्रवित कर दे-इतनी करुण है यह। सामाजिक रूढ़ियों की क्रूरता की, एक माता के मूक क्रन्दन की।

कुन्ती देवी को कौमार्यावस्था में दुर्वासा ऋषि के दिव्य मन्त्र से सूर्य से तुम प्राप्त हुए। उस समय वे भोजपुर राज्य में थीं। कौमार्यावस्था में पुत्र प्राप्ति समाज की दृष्टि में राजकन्या को कलंकित करनेवाली घटना थी। तुम्हें लेकर वे किसी भी स्थिति में जीवित नहीं रह सकती थीं। जग उनको जीने नहीं देता। और यदि वे जीवित न रही होतीं तो....तो तुम्हारा भी अस्तित्व न रहा होता। इसलिए हृदय पर हिमालय सदृश पाषाण रखकर उस महान् स्त्री ने अश्वनदी में तुम्हें बहा दिया। जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ उसी दिन। एक पेटिका में अश्वनदी से चर्णण्वती, यमुना और फिर गंगा- इस प्रकार यात्रा करते हुए एक काले प्रभात

में अधिरथ को गंगा से तुम प्राप्त हुए। तब से लेकर आज तक तुम सारथी के रूप में ही बड़े हुए हो। अपने दिव्य कुल का उत्तराधिकार ज्ञात न होने के कारण दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ गये। कर्ण....कर्ण, तुम सारथी नहीं हो। दुर्योधन के अन्यायी पक्ष में खड़े मत हो।

संसार में किसी को भी प्राप्त न हुए होंगे, ऐसे तीन पिता और तीन माताएँ तुम्हें प्राप्त हुए हैं। सूर्यदेव, महाराज पाण्डु और अधिरथ का पितृछत्र तुम्हारे ऊपर है। कुन्ती देवी, राधा और गंगा का मातृत्व तुम्हारे लिए तरस रहा है। कर्ण, आज का एक मात्र दिन तुम्हारे जीवन को आमूलाग्र मोड़ देने का है। तुम्हारा कुल श्रेष्ठ है। तुम्हारा उत्तराधिकार दिव्य है। पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं। तुम प्रथम पाण्डव हो। ज्येष्ठ कौन्तेय हो।"

उनके एक-एक शब्द के साथ भावना की एक-एक प्रचण्ड लहर मेरे मन के किनारे पर घोर गर्जना करती हुई टकराने लगी। क्षण भर में ही, जिस दिन चम्पानगरी से हस्तिनापुर में आया था, उस दिन से लेकर अब तक का मेरा जीवन आँखों के आगे जोरों से घूमने लगा, जैसे विराट रूप धारण किये हुए श्रीकृष्ण के दायें हाथ में सुदर्शन। घटनाओं के असंख्य तीक्ष्ण दाँते हृदय में कसकने लगे। साक्षात् तेज का पुत्र होते हुए भी इस दीर्घ जीवनक्रम में अपमान, वंचना, अवहेलना और उपेक्षा के अतिरिक्त मैंने और क्या अनुभव किया था ? मैं कहाँ से कहाँ आ गया था ? जीवन का क्या अर्थ है ? किसी के अपराध का हृदयविदारक इतना महान् दण्ड किसी और को मिले—यही जीवन है क्या ? साक्षात् सूर्यपुत्र होते हुए भी मेरा जीवन नियति के कितने क्रूर थपेड़े खाते हुए आया था। कहीं ऐसा तो नहीं था कि जिस अग्निगर्भ से मैंने जन्म लिया था, उस अग्नि का मुझे कभी विस्मरण न हो, इसलिए नियति ने जीवन की यह आग मुक्तहस्त से मेरे सुवर्ण मस्तक पर उँडेल दी गयी थी !

सूतपुत्र ? नहीं, सूर्यपुत्र ! राधेय ? नहीं, कौन्तेय ! एक सौ एकवाँ कुरु ? नहीं, प्रथम पाण्डव ! मैं स्वयं ही यह अच्छी तरह समझ नहीं पा रहा था कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा ! श्रीकृष्ण कह रहे थे इसीलिए इस बात को मैं सत्य मान सकता था। नहीं तो....

"कर्ण, अज्ञानवश तुम आज तक कौरवों के लिए सतत जर्जरित होते रहे हो। व्यर्थ जरित हुए हो। पाण्डवों का विरोध करते आये हो। सगे भाइयों से द्वेष करते आये हो। अब सत्य जानकर भी क्या तुम वैसे ही रहोगे ? ध्यान रखो, विकास और वृद्धि ही जीवन के लक्षण हैं। आज तक तुम बन्दी ही रहे, कीर्ति से यद्यपि असाधारण हो गये तथापि मन से कुण्ठित ही रहे हो। मैं....मैं तुम्हारा ममेरा भाई होने के नाते तुम्हारा आवाहन करता हूँ। चलो, अपने घरौंदे की ओर लौट चलो। अपने रक्त में चलो। पाण्डवों में अपने बन्धुओं में चलो।" वे उपप्लाव्य की ओर उँगली उठाकर कह रहे थे।

उनकी बातें सुनकर मैं यही नहीं समझ पा रहा था कि क्रूर काल ने मेरे जीवन के आम्रवृक्ष को कँटीली भूमि में क्यों लगाया था। मन एकदम बधिर हो गया। ऐन संकट की

घड़ी में विश्वासघात करके क्या कुरुओं को छोड़ दूँ ? सारथियों के दलदल में पड़े हुए मेरे जीवन-कमल को जिसने अपने हाथों से एक ही रात में राजसिंहासन पर चढ़ा दिया था, उस दुर्योधन की पीठ में खड़्ग भोंककर क्या पाण्डवों की ओर चला जाऊँ ? जिसने मेरे सुख-दुखों को अपने औरस पुत्र के सुख-दुख की अपेक्षा श्रेष्ठ माना था, उस राधामाता को ठुकराकर कुन्ती देवी से जाकर लिपट जाऊँ ? नहीं, नहीं, मैं कौन्तेय नहीं, मैं राधेय ही हूँ। नहीं, मैं सूर्यपुत्र नहीं, मैं सूतपुत्र ही हूँ। संस्कारों ने जो बनाया है, वही मेरा जीवन है। नियति ने जो दिखायी है वही मेरी दिशा है।

"कर्ण, अधिक सोच-विचार मत करो। चलो, मेरे साथ रथ पर चढ़ो और उपप्लाव्य चलो। धर्मशास्त्रानुसार तुम पाण्डुराजा के कानीन पुत्र हो। ज्येष्ठ पाण्डव हो। वेदवेत्ता ब्राह्मणों में रहकर तुमने अपना धर्मज्ञान बढ़ाया है। ब्रह्मचर्य और अर्घ्यदान, आत्मसंयम, दानसत्र आदि से तुम महत्पद पर पहुँच गये हो। प्रत्येक पाण्डव एक-एक गुण में श्रेष्ठ है, परन्तु तुम तो सभी गुणों से युक्त हो। प्रथम पाण्डव-यह सार्थ नामाभिधान ही तुम्हें शोभा देता है। चलो कर्ण, अब भी शाश्वत मार्ग की ओर चलो। अभी समय है। मेरा कहना मान लो।

"चलो, चिरवियोग सहनेवाली अपनी कुन्ती माता के पास चलो। बन्धुप्रेम के लिए आतुर बान्धवों के पास चलो। इस समस्त राज्य का अभिषेक-आज बन्धु के रूप में—पाण्डव तुम्हारा ही करेंगे। हाथ में श्वेतशुभ्र बँवर लेकर युधिष्ठिर विनतभाव से तुम्हारे सिर पर डुलाया करेगा। तुम्हारे रथ में चढ़ने के बाद ही परिचारक के रूप में तुम्हारे पीछे ही वह रथ पर चढ़ेगा। सामर्थ्यशाली भीमसेन तुम्हारे सिर पर विनम्रतापूर्वक छत्र धारण करेगा और जिसको तुम अज्ञानवश आज तक शत्रु मानते आये हो, वह तुम्हारा ही भाई धनुर्धर अर्जुन तुम्हारे रथ का सारथ्य करेगा। नकुल, सहदेव, द्रौपदी के पाँच पुत्र, धृष्टद्युम्न-सबके सब तुम्हारे निग्रहवान् अनिन्द्य नेतृत्व के अनुचर बनेंगे। वज्र-जैसे एकमार्गी वचन के विनयशील दास बनेंगे।

"इतना ही नहीं, अपितु-अपितु वृष्णि और अन्धक कुलों के सभी पराक्रमी योद्धाओं सहित प्रत्यक्ष स्वयं मैं भी तुम्हारा अनुचर बन जाऊँगा। उद्धव, बलराम, सात्यकि, उग्रसेन आदि सभी पाण्डव राजा के रूप में तुम्हें आदर से सिर नवायेंगे। प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चित्रगु, भानुसेन—मेरे ये पुत्र तुम्हारे आज्ञाधीन रहने में स्वयं को धन्य मानेंगे। वीर अभिमन्यु तुम्हारे चरणों को स्पर्श किये बिना कभी रथारूढ़ नहीं होगा। और सुगन्धित शरीर की श्यामल आर्या द्रौपदी पति के रूप में तुम्हारे तलवों पर चन्दन-मिश्रित उबटन मलेगी। चलो, विगत सत्तर वर्षों से अखण्डभाव से पुत्र-वियोग गरजती धारा में बहा दिया था ? नहीं माधव ! यह सम्भव नहीं। साक्षात् मृत्यु की मुक्त वर्षा मेरे मस्तक पर हो तो उसे मैं सहन कर लूँगा, परन्तु स्वत्व का ऐसा घोर मरण मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगा।

"आज इस अवसर पर, एक विचित्र योगायोग पर मुझे अवश्य आश्चर्य हो रहा है। तुमने एक क्षत्रिय कुल में जन्म लिया और दुर्भाग्य से गोकुल की गोशाला में बड़े हुए। यशोदा माता ने तुम्हारा पालन किया। मैंने भी एक दिव्य कुल में जन्म लिया और दुर्भाग्य से चम्पानगरी की अश्वशाला में बड़ा हुआ। राधामाता ने मेरा पालन किया। कर्तव्य के रूप में तुमको अपने मामा कंस पर मुष्टिप्रहार करना पड़ा था। मुझे भी कर्तव्य के रूप कल भाइयों पर प्रहार करना पड़ेगा। परन्तु परन्तु....'

"परन्तु.... ..क्या कर्ण ? कहो, स्पष्ट कहो।" वे मेरी आँखों में फिर गहराई तक झाँकते हुए बोले।

"हृषीकेश, तुमने यशोदा माता का त्याग किया है, पर मैं राधामाता का त्याग कभी नहीं करूँगा। तुम गोकुल के गोपालों को भूल गये हो, मैं चम्पानगरी के सारथियों को कभी नहीं भूलूँगा। आर्यावर्त को युद्ध की खाई धकेलनेवाला, स्वयं जलकर अन्यो को दग्ध करनेवाला, तेज का पुत्र होकर भी अन्धकार में समाप्त हो जानेवाला—इन कटु स्मृतियों से आर्यों के कोटि-कोटि मन लक्ष-लक्ष वर्षों तक मेरे लिए कभी नहीं कसकते रहेंगे। हाँ, वे कसकते रहेंगे तुम्हारे लिए। मेरे लिए किस न्यायपक्ष की सन्धि का प्रस्ताव लेकर आये हो तुम ? 'बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पाण्डवों ने भोगा' इस बात को व्याकुल होकर कहनेवाले श्रीकृष्ण, इसके लिए उन्होंने द्यूत खेला था, इससे तो तुम इनकार नहीं करते हो न ? परन्तु....परन्तु बिना किसी चूत के खेले ही मैंने जीवन-भर घोर, घृणामय अज्ञातवास सहन किया है, क्या उसके लिए भी तुम्हारे न्यायप्रिय मन में कहीं तीव्र वेदनाएँ कसकती हैं ? यदि वे हुई होती तो....तो तुमने मुझसे पाण्डवों की ओर आने का आग्रह कभी न किया होता। घनश्याम, एक राजनीतिज्ञ के रूप में आकर भी तुम मुझे आज भावनामय आह्वान कर रहे हो। केशव, कटु होते हुए भी यह सत्य है। स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ, इसलिए उदार हृदय से मुझे क्षमा कर दी। तुम महान हो। दिव्य हो। मेरे अन्तःकरण में तुम्हारे प्रति शब्दातीत नितान्त प्रेमादर है। इसीलिए जो महायज्ञ तुम प्रज्वलित करने जा रहे हो उसमें अपनी देह की यह सुवर्ण समिधा मैं निर्भय होकर सहर्ष अर्पण करूँगा। जगत् में कभी हुआ नहीं होगा, आगे कभी होगा भी नहीं-ऐसा ही दिव्य महायज्ञ वह होगा। पुरुषोत्तम, पाण्डवों के और कर्ण के मिलने का समय कब का बीत चुका !....

"जाओ कृष्ण ! मैं जानता हूँ कि इस महायज्ञ के अध्वर्यु तुम्ही हो। होता कपिध्वज अर्जुन है। सैनिक योद्धाओं का तेजस्वी विक्रम ही आज्य है। ब्रह्म, ऐन्द्र, वरुण, अग्नि, पाशुपत आदि अस्त्रों के निक्षेपण के समय योद्धाओं द्वारा उच्चारित महामन्त्र ही यज्ञमन्त्र है। अर्जुन का अक्षय वाणों से युक्त गाण्डीव ही स्नुवा और उसका पुत्र अभिमन्यु वीरों को सावधान करने के लिए जिस सिंहनाद का उच्चारण करेगा, वही इस यज्ञ का सामगायन होगा। गगन भेदी आवाजवाला भीम उद्गाता, धर्मपरायण युधिष्ठिर ब्रह्मा, नकुल सहदेव, शामित्र और

तुम्हारे यादव कुल के विक्रमी सात्यकि उसमें उप-अध्वर्यु होंगे। रणवाद्यों की ध्वनि, गगनमण्डल भेदनेवाली शंख ध्वनियाँ तथा वीरों की सिंह गर्जनाएँ-ये उस महायज्ञ की पवित्र ऋचाएँ होंगी। ध्वजदण्ड, रथनीड़ और हाथियों के ऊपर की अम्बारियाँ पशुबलि देने के महान् यूप होंगे। गदा, खड्ग, बाण, त्रिशूल, तोमर, भाले-ये अस्त्र दर्भ होंगे। राजा दुर्योधन ने अपनी कुरुसेना को पत्नी मानकर ही उसके साथ आज इस दिव्य महायज्ञ की दीक्षा ली है....

"और...और ऐसे इस महायज्ञ में मैं अपने इस सुवर्ण शरीर की हेमसमिधा हँसते हुए अर्पित करूँगा। न भूतो न भविष्यति-ऐसा ही यह महायज्ञ होगा। श्याम सुन्दर, नियति ने मुझे ऐसी परिस्थिति पर ला खड़ा कर दिया है कि मुझे आज तुमसे भी इनकार करना पड़ रहा है। इसीलिए मेरा-तुम्हारे इस फुफेरे भाई का हृदय अक्षरशः तिल-तिल कर टूट रहा है। जाओ यादवराज, यदि कर सको तो इस बात के लिए इस अभागे कर्ण को क्षमा कर देना। पाण्डवों की और मेरी जीवन-रेखाएँ पूर्ण रूप से भिन्न हैं। अब वे स्पष्ट रूप से एक दूसरी को ग्रस्त करेंगी। केन्द्र-बिन्दुरूपी कुन्ती माता भी अब उनको कभी जोड़ नहीं पायेंगी....

“मनमोहन, फलों में अमित रस भरा हुआ होता है, भीतर कुछ बीज होते हैं। रस होता है स्वयं नष्ट होकर बीजों को पुष्ट करने के लिए। मैं...मैं उस रस-जैसा ही हूँ। मेरे आत्मार्पण पर ही पाण्डवों के बीज अंकुरित हों, फूल-फलें यही शायद नियति का उद्देश्य है।

"जाओ श्रीकृष्ण, अश्वनदी के जल की तरह पाण्डवों से मिलने का समय कब का प्रवाहित हो चुका। अब कर्ण या पाण्डव-यह भवितव्य अटल है। मृत्यु की प्रकम्पित करनेवाली निर्दय यवनिका के पार मैं बहुत पहले जा चुका हूँ। सूतपुत्र, अंगराज, दानवीर, दिग्विजयी, धनुर्धर कर्ण- इनमें से किसी भी रूप में मैं नहीं लड़ूँगा, मैं लड़ूँगा अन्धकार के सघन साम्राज्य का उदरभेद करनेवाली प्रखर सूर्य-किरण बनकर। पिता सूर्य, माता कुन्ती देवी, ममेरे बन्धु श्रीकृष्ण, बन्धु पाण्डव-इन सबके नातों के अनुरूप। वीर कर्ण के रूप में।

“जनार्दन, इन्द्र को कवच-कुण्डल दान करनेवाला कर्ण युद्ध में योद्धाओं के हाथ, पैर और कवचों का भेद करेगा। सूर्यदेव को जीवन-भर अर्घ्यदान करनेवाला कर्ण रणांगण। मैं वीरों को मौत के घाट उतारेगा। जीवन-भर राधामाता के चरण धोनेवाला कर्ण वीरों के रक्त से अब इस पुण्यपावन आर्यभूमि के चरण धोयेगा। जीवन-भर अभिशप्त रहनेवाला कर्ण सबको स्वर्ग का वरदान देगा। जीवन-भर अवमानित होनेवाला कर्ण संग्राम में सबको गौरवान्वित करेगा। जाओ, पदुकुलावतंस, शान्त चित्त से महायज्ञ की तैयारी करो। एक प्रार्थना और है। पाण्डवों को यह कभी मत बताना कि मैं उनका ज्येष्ठ बन्धु हूँ। फिर वे मुझसे कभी नहीं लड़ेंगे। जाओ बन्धुवर, कर्ण का राजरत्न पाण्डवों के राजमुकुट में कभी नहीं लग सकता, यह उनको अपनी रसभरी वाणी से समझाकर कह दो। और इस सूतपुत्र

का यह अन्तिम भावप्रणाम उदार अन्तःकरण से स्वीकार कर लो। गुडाकेश, तुमको देने के लिए यह....यह भावप्रणाम ही-अब मेरे पास बचा है।"

मैं उनके चरणों को स्पर्श करने के लिए झुका। मेरी आँखों से निकले हुए दो अश्रुबिन्दु उनके स्वच्छ चरणों पर गिर पड़े। क्षण-भर थरथराये और नीचे मिट्टी में लीन हो गये। अदृश्य हो गये।

"जयतु राधेय कर्ण !" उन्होंने मेरे कन्धे पकड़कर मुझे उठाया और प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया। धन्यता की भावना से बहता हुआ, मेरी आँखों से आँसुओं का प्रवाह उनकी नीली पीठ की सुन्दर प्रणाली में होकर टपकने लगा। जैसे ही उनके अश्रुबिन्दु मेरे मस्तक पर पड़े, मुझे लगा जैसे जीवन की दिग्विजय पूर्ण हो गयी हो। इतने सौभाग्य का, इतने गौरव का, इतनी धन्यता का उच्चता का क्षण और कभी नहीं आयेगा।

अपने हाथ में से मेरा हाथ हौले से छुड़ाकर, पश्चिम क्षितिज पर एक दृष्टि डालकर, मन्द गति से चलते हुए वे रथारूढ़ हो गये। वल्गाएँ हाथ में लेकर स्थनीड़ पर खड़े हो गये। अपने शुभ्र घोड़ों पर प्रहार करने के लिए उन्होंने प्रतोद उठाया। उनकी और मेरी यह अन्तिम भेंट थी। मन के भण्डार में पड़ा हुआ एक हृदयद्रावक अन्तिम दुख भी मैं उनके अधीन कर देना चाहता था। सबसे मुक्त हो जाना चाहता था। वायु की तरह। सूर्य-किरणों की तरह।

माधव, ठहरो !" हाथ उठाकर मैंने उनको पुकारा। प्रतोद को ज्यों का त्यों ऊँचा उठाये हुए वे आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे। मैं दौड़कर गया और उनके रथनीड़ पर हाथ रखकर धीरे से उनसे बोला, "मैंने तुमसे कभी कुछ नहीं माँगा है। आज माँग रहा हूँ। क्या मेरा एक कार्य कर सकोगे ? तुम....केवल तुम्हीं इसके योग्य हो।"

"कहो, कैसा कार्य, राधेय ?" उनकी भौंहे ऊँची हो गयीं।

"अच्युत, उस विशालाक्षी, श्यामल भावगन्धित द्रौपदी से कहना कि...कि कर्ण के अन्तःकरण की वीणा का एक भग्न तार तुम्हारी अवहेलना की अनुभूति से सदैव कर्कश स्वर में झंकृत होता रहा है। परन्तु पाँच पति की पत्नी होकर भी पातिव्रत के पवित्र शिखर पर पहुँची हुई उस एकमात्र आर्या से-पांचाली से-कहना कि...कि 'यदि कर सको तो इस कर्ण को क्षमा कर देना'।"

वल्गाओं को उछालकर उन्होंने रथ को विदुरजी की पर्णकुटी की ओर मोड़ दिया। चक्रों के नीचे उड़नेवाली धूल मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही थी। थोड़ी देर बाद वह शान्त हो गयी, परन्तु मेरे मन में विचारों का वात्याचक्र शान्त नहीं हुआ था। जिस पर्णकुटी में राजमाता थी, उस ओर पीठ फेरकर मैं राजभवन की ओर लौटा। राजमाता थी, केवल मुझे जन्म देनेवाली। राजभवन में राधामाता थी-जो कुछ मैं था, वह बनानेवाली, मेरा निर्माण करनेवाली।

बारह

श्रीकृष्ण चले गये। मेरे जीवन का राज-चषक अपने चरणों से लुढ़काकर । उसमें भरे हुए मेरे भवितव्य के दुग्धरस को इधर-उधर बहने के लिए छोड़कर । समाधान एक यही था कि वह राज-चषक उनके पुण्यपावन चरणों से लुढ़काया गया था। अपना जन्मवृत्त मुझे उनसे ज्ञात हुआ था।

मेरे जीवन का रहस्य भेदकर वे उसी सहजभाव से रथ में चले गये, जिस सहजभाव से वे गोकुल में गोपालों के साथ गाय चराने के लिए गोवर्धन पर्वत की घाटी में चले जाते होंगे। परन्तु मैं पूर्ण रूप से अस्वस्थ हो गया था। एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में वे आये थे। उनके प्रलोभनों की बलि नहीं बनना है, यह सोचकर मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी-परन्तु...परन्तु मैं भी तो एक मनुष्य ही था। अपने जीवन की इतनी घोर प्रवंचना किसे शान्त रहने देगी ! क्या अपराध था मेरा कि गायों के झुण्ड में मार्गभ्रष्ट जंगली व्याघ्र की भाँति जीवन-भर पलता रहा। मैं सूर्यपुत्र था, फिर भी लक्ष-लक्ष नगरजनों के हृदय विदीर्ण कर देनेवाले धिक्कार मुझे जीवन-भर सिर झुकाकर सहन करने पड़े थे। जलती हुई मशाल जैसा मन लेकर जीवन-भर अँधाधुन्ध दौड़ते हुए जीना पड़ा था। हिमालय से जन्म लेनेवाली गंगा का मधुर जल जैसे सागर से मिलते ही क्षारमय हो जाता है, वैसा ही क्या मेरा जीवन नहीं था ? अब उद्गम स्थल धवल हिमालय का क्या उपयोग था ? मैं दिव्यकुल का हूँ, मेरी परम्परा श्रेष्ठ है, मेरे पूर्वज पराक्रमी थे, मान्यवर थे—इन विचारों या सत्यों से मुझे अब क्या प्राप्त होनेवाला था? हस्तिनापुर के राजचौक में खड़ा होकर गला फाड़-फाड़कर भी यदि आज मैं चिल्लाऊँ कि, “मैं भी क्षत्रिय ही हूँ, मैं हीन नहीं हूँ, तुच्छ नहीं हूँ, क्षुद्र नहीं हूँ” तो क्या कोई उस पर विश्वास करेगा? मेरे जीवन की इस कुढ़न के लिए उत्तदायी कौन है ? अन्तरंग में घनीभूत होनेवाली विफल जीवन की यह असह्य आग किसको दिखाऊँ ? मैं किसके लिए मैं उतर रहा था ? भवितव्य का तिरस्कार करता हुआ मिथ्या आदर्शों को हृदय से लगाकर कहाँ तक दौड़ूँ ? पुरातन सब कुछ बिखर चुका था, नष्ट हो गया था जो नया था वह मिल नहीं रहा था। बीहड़ मार्ग से दौड़ती हुई मेरे जीवन की अश्वनदी अब सम्भ्रम के निषध पर्वत से अवरुद्ध होकर क्या बीच में नहीं रुक गयी थी ? केवल मृत्युपर्यन्त जीने के अतिरिक्त जीवन का और कौन-सा अर्थ शेष रह गया था?

जो पर्वततुल्य समस्याएँ सामने आ धमकी थीं, उनका सामना करने के लिए जिस समय आत्मनिर्भर होकर सिंह के से धैर्य से, सावधान चित्त से मुझको खड़ा होना था, ठीक उसी समय यह विचार-वैविध्य मुझे जर्जरित करने लगा था। एक भी ऐसा कोई भाव दृष्टिगत नहीं हो रहा था, जिससे हृदय का संघर्ष शान्त हो जाता। चारों ओर केवल विचारों के संचित गड्ढे । वे ही पुरातन । वे ही-स्वयं मुझे ही घृणित लगनेवाले । स्वत्व का हरण करनेवाले।

सामर्थ्यहीन, शक्तिहीन, विक्रमशून्य, आत्मविस्मृत, आमघाती सिद्ध होनेवाले। द्रौपदी की घोर अवहेलना के। पाण्डवों के द्वेष के। अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा के। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ ?

पश्चिम क्षितिज पर दृष्टि डालकर, जगत् को कोटि-कोटि वर्षों से प्रकाश से भरनेवाले मेरे पिता ही कम से कम मुझे कुछ आत्मधैर्य कदाचित् दें, यह सोचकर मैंने पर्वत की ओर देखा। हस्तिनापुर का आलिंगन करनेवाली उनकी तप्तकिरण मुझसे स्पष्ट कह रही थी, “कर्ण, धैर्य मत छोड़ो। हीरा धूलि में पड़कर काले अन्धकार की किरणों थोड़े ही परावर्तित करेगा। तुम्हारे शरीर में मेरा जो सुप्त तेज है, वह एक दिन संसार को दीप्त कर देगा। सबका नेतृत्व करते हुए तुम अभिमान से घूमोगे। साक्षात् श्रीकृष्ण तुम्हारे सम्मुख नतमस्तक होंगे। इसके लिए बस एक काम करो। आत्मसम्भ्रम को दूर कर दो। द्विधाग्रस्त मनःस्थिति को फेंक दो। तुम्हारे एकाग्रचित होने का केवल एक ही मार्ग है-कुरु के रूप में लड़ना।”

द्रुत गति से पैर बढ़ाता हुआ जब मैं राजभवन की ओर लौट रहा था, उस समय मेरे मन के सभी भाव शान्त हो चुके थे। मैं सूर्यपुत्र हूँ—यह एक प्रतीति सम्पूर्ण शरीर को रोमांचित कर रही थी। सन्ध्या घिरती आ रही थी इसलिए दोनों ओर घने वृक्षों की पर्णराजि में झींगुर किरै-किरै कर रहे थे। परन्तु उनकी किरै-किरै से मन अस्वस्थता अनुभव नहीं कर रहा था। झींगुर ही क्या, यदि सारा जगत् भी प्रतिकूल हो जाता तो भी कोई भय नहीं था।

प्रत्येक पद-निक्षेप पर गत जीवन के स्थूल प्रसंगों का अर्थ समझ में आता जा रहा था। मेरा शरीर अनेक अवसरों पर तप्त क्यों हो गया था, अर्घ्यदान के प्रति मेरे मन में आकर्षण क्यों था, अंग पर कवच-कुण्डल क्यों थे, सम्पूर्ण शरीर का वर्ण हिरण्यमय कैसे था—इन सभी रहस्यों का भेद श्रीकृष्ण के मुख से जान चुका था। मेरे पैरों को युधिष्ठिर क्यों निरखा करता था, इन्द्रप्रस्थ के राजभवन की भित्ति पर अर्थपूर्ण चित्र किसका था, राजमाता कुन्तीदेवी ने मेरे विवाह में उपहार क्यों भेजे थे—इन सब घटनाओं की अर्थपूर्ण संगति अब बैठ रही थी। फिर भी, जीवन की उस घोर प्रवंचना से भी मन के कूल अब थरथरा नहीं रहे थे। विह्वल नहीं हो रहे थे। अपितु सूर्यपुत्र होने की प्रतीति से मृत्यु को भी पैरों तले रौंदकर उसके मस्तक पर खड़े रहने की दृढ़ता मन में आ गयी थी। अब सम्भ्रम नहीं था, किंकर्तव्यता नहीं थी, उलझन नहीं थी। एक ही मार्ग था। एक ही दिशा-महायुद्ध का सामना करना ।

राजभवन में आते ही पाँच सुवर्णकुम्भ आनन्दातिरेक से मैंने क्रोड़ में भर लिये । अभ्यासानुसार 'शोण' कहकर पुकारा । वह नहीं था। यदि वह होता तो मैंने उससे कहा होता, "कवच-कुण्डलों के लिए तुम्हारा जो परिवार था, वह मैं पहले ही बहुत दूर कर चुका

हूँ और अब तो नाते के बन्धन भी तोड़कर मैं वास्तविक सूतपुत्र बन गया हूँ। मैं सूतपुत्र हूँ, सूर्यपुत्र हूँ, कुरु हूँ, परन्तु....परन्तु पाण्डव नहीं। कर्ण हूँ परन्तु कौन्तेय नहीं।"

शोण को पुकारने की आवाज सुनकर सेवा के लिए तत्पर वृषाली भवन में आयी, "क्या चाहिए ?" उसने स्नेह से पूछा ।

"कुछ नहीं।" किसी से अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए था। मन तृप्ति से, कृतार्थता से, धन्यता से आकण्ठ भरा हुआ उफन-उफनकर आ रहा था। उस भाववर्षा में नहाकर मैं स्वच्छ हो रहा था। एक ही कठिनाई थी। घटित हुई घटना का एक अक्षर भी राधामाता, वृषाली, सुप्रिया, मेरे पुत्र—किसी को भी नहीं बताया जा सकता था। असीम आनन्द के कुछ क्षण ऐसे विचित्र होते हैं कि अपने लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले प्राणप्रियों को भी उनका एक कण तक हम दे नहीं पाते ।

"वृषाली, आज मैं जी भरकर अपूप खाना चाहता हूँ। तुम्हारे हाथ के नहीं, राधामाता के !" मैंने उसे अपनी इच्छा बतायी। वह आश्चर्य से मेरी ओर देखती हुई बोली, "क्यों ? किस बात का आज इतना आनन्द हो रहा है ?"

"तुम्हीं बताओ, तुम्हारा सुदामन यदि जीवित होकर अब पुनः तुम्हारे सामने आकर खड़ा हो जाये तो तुम्हें कितना आनन्द होगा ? बस, उतना ही आनन्द मुझे हुआ है। क्यों हुआ है—यह मत पूछो। युवराज्ञी दुःशलादेवी ने मेरे सम्बन्ध में तुमसे जो प्रश्न पूछा था, और तुम जैसे कभी नहीं बता सकी-वैसे ही इस आनन्द का कारण भी मैं नहीं बता पाऊँगा।" मैंने गवाक्ष से बाहर देखते हुए उससे कहा। पौर्णिमा का वही प्रकाशवान् चन्द्र आकाश में खड़ा था। उसके रजतप्रेम का दान लेकर गंगामाता का जल चमक रहा था। कितने अनन्तकाल से वह इस प्रकार चमकता आया था और भविष्य में चमकनेवाला था—इसका विचार करने पर मुझे उत्तर नहीं मिल रहा था। अपूपों की तैयारी करने के लिए वृषाली चली गयी। जाते समय इंगुदी का तेल डालकर भवन की सभी समझियों को वह स्वयं जला गयी थी। मेरे जीवन-महल में भी उसने इसी तरह आयुष्य-भर प्रेम की पवित्र समझियाँ क्या जलायी नहीं थीं ? उसको आलिंगन में बाँधकर यदि मैंने उससे यह कहा होता कि मैं सूर्यपुत्र हूँ, तो....तो पति के सम्मुख अपनी-हीनता की प्रतीति से इस भोलीभाली स्त्री का हृदय भग्न नहीं हो जाता ? उसने एक सारथी से प्रेम किया था—सूर्यपुत्र से नहीं। कभी-कभी मौन ही महत्कार्य सम्पन्न कर देता है।

अपूपों का आकण्ठ भोजन कर सुप्रिया द्वारा दिया हुआ ताम्बूल मुख में रखते समय मन, शरीर, सब कितने हलके हो गये थे। जीवन का रहस्य खुल गया था। अनेक रम्य स्मृतियों का साक्षी उत्तरीय वृषाली के पास था। वह उससे माँगकर, उसको देह पर लपेटता हुआ मैं चाँदनी में भ्रमण के लिए राजभवन से बाहर निकला। दूर युद्धशाला की दिशा में लौह-थाली पर काष्ठदण्ड सै आघात कर रात्रि के सेवक द्वारपाल ने प्रथम प्रहर की घटिकाओं के जो

घण्टे बजाये, वे स्पष्ट सुनाई पड़ रहे थे। ज्योत्स्ना में निखरा हुआ रजतमय हस्तिनापुर शान्त था। गजशाला में कोई हाथी अपने सुवादाँतों को भीतर के लकड़ी के खम्भे पर टकरा रहा था, उससे खटखट ध्वनि हो रही थी। कभी-कभार घोड़े फुरफुरा उठते थे और घास से कोई कीटक के गरदन पर चढ़ते ही रौंथ करती हुई गायें गरदन को झटका देती थीं, जिससे घण्टों की अस्पष्ट खनखन हो उठती थी—इनके अतिरिक्त और कोई ध्वनि सुनाई नहीं दे रही थी।

शोण ने दौड़ते हुए जाकर राजमाता कुन्ती देवी के रथ के नीचे आने से बचाने के लिए बिल्ली का एक बच्चा जहाँ उठाया था, वह स्थान आया। आज शोण नहीं था, वह बिल्ली का बच्चा नहीं था, राजरथ भी दुर्योधन ने ध्वस्त कर दिया था। थे हम दोनों। राजमाता और मैं। वे विदुरजी की पर्णकुटी में बैठी हुई श्रीकृष्ण से अपने सुख-दुखों की चर्चा कर रही होंगी। गोपालों में रहने के कारण श्रीकृष्ण को भात अच्छा लगता था, उन्होंने आज अपनी बुआ को वही पकाने के लिए कहा होगा। विदुरजी आग्रहपूर्वक परोस रहे होंगे। सभी चित्र मेरी आँखों के सामने स्पष्ट खड़े हो गये। पर आज जिसे यह सब सुनना चाहिए था, वह शोण नहीं था। उसकी कमी मुझे उत्कटता से अस्वस्थ करने लगी।

राजमार्ग पर मैं आगे बढ़ने लगा। अशोक, आम्र, शाल, पिप्पल आदि अनेक वृक्षों ने चन्द्रिका को रोककर धरती की उत्सुकता बढ़ा दी थी। कुछ झरोखों से निकली हुई गोल-गोल चन्द्रकिरणों ने राजमार्ग पर विलोभनीय अल्पना ही चित्रित कर दी थी। उसके देखते समय वह दिन स्मरण हो आया जब दिग्विजय से लौटने पर नगरजनों ने प्रेम की वर्षा की थी। परन्तु उससे मन में कोई उत्साह नहीं जगा। जगनेवाला भी नहीं था। कीर्ति, प्रतिष्ठा, गौरव-ये क्षणिक बुदबुदे अब मन नहीं मोह सकते थे। युद्धशाला आयी। उसके द्वार में खड़े होते ही भीतर वह चबूतरा दिखाई दिया, जिस पर चढ़कर हाथ उठाकर मैंने सूर्यदेव को गुरु माना था। जिस चबूतरे के पास अर्जुन के और मेरे बीच एक भुजंग की कुण्डली गिर पड़ी थी। जिस पर बैठकर एक रात्रि में भुस-भरे हुए पक्षी को वृक्ष से टाँगकर, शोण द्वारा पकड़े हुए उजाले में, उसकी आँखों की पुतलियाँ बाण से भेदी थीं।

अन्त में नगर से बाहर आया। जिस स्थान पर गुरु द्रोण ने स्पर्धा के लिए अखाड़ा बनवाया था, वह भव्य क्रीडांगण आया। क्षण-भर वहाँ रुकने पर उस स्पर्धा के दिन की स्मृतियों के विहग मन में झाँकने लगे। अनेक शस्त्रास्त्रों के वे अखाड़े। प्रवेशद्वार के बाहर तिलमिलाते हुए वह खड़ा रहना। प्रेक्षकगणों के वे हर्षोद्गार। अर्जुन का लक्ष्यवेध। तालियाँ। शोण का वह व्याकुल कथन। तमाल वृक्ष पर वह पत्ररथ पक्षिणी। पैरों तले रौंदी गयी नील कमलों की माला। सूतपुत्र को धिक्कारने से गुंजायमान भावशून्य खोखला आकाश-सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। परन्तु वह अब मन पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डालने में

समर्थ नहीं था। ऐसे भावचित्रों की अल्पनाएँ अंकित कराने के लिए मन का आँगन अब रिक्त नहीं था। वहाँ मचा हुआ था घनघोर महायुद्ध।

अर्धरात्रि के समय गंगा-किनारे आया। आकाश में चन्द्रमा ठीक सिर पर आ गया था। गंगा के जल में दूसरा चन्द्रमा देखकर आकाश के चन्द्रमा के मुख पर काला लांछन दिखाई पड़ने लगा। भूरे बादल यदा-कदा उसे घेर लेते थे।

एक प्रशस्त पाषाण पर बैठ गया। राधामाता द्वारा दी गयी, भुजदण्ड में बँधी हुई रजतपेटिका खोलकर हौले से उसे गंगा में विसर्जित कर दिया। वह छोटी-सी पेटिका जल-लहरों पर हिचकोले खाती हुई प्रतिक्षण दूर जाने लगी। दृष्टि के पार। वह गंगा से पूछना चाहती थी—“बताओ, तुम्हारी जल-लहरियों की संख्या अधिक है या मैंने अपने स्वामी के जीवन में जितने भावप्रसंग देखे हैं वे अधिक हैं?”

हाथ उठाकर उस पेटिका को विदा कर राजभवन की ओर लौटा। शान्त-चित्त से अपने सूर्यवंशियों के प्राचीन भवन में निद्राधीन हो गया।

तेरह

हाथियों की चिंघाड़ों से प्रातःकाल जाग्रत हुआ। उस समय गवाक्ष से जब बाहर देखा तो चारों दिशाओं में देश-देश की विराट् सेनाओं की पड़ी हुई छावनियाँ दिखाई दीं। दुर्योधन की तत्परता पर आश्चर्य हुआ। पाण्डवों की खोज के लिए भेजे गये दूतों को सीधे अत्यावश्यक सन्देश भेजकर उसने देश-देश के सैनिकों को कुशलतापूर्वक अपने पक्ष में कर लिया था।

मगध, मद्र, चेदि, अवन्ती, कुलिन्द, सिन्ध, कलिंग आदि बहुसंख्यक देशों के ध्वज हस्तिनापुर के चारों ओर मण्डलाकृति खड़े थे। उनमें द्वारका का ध्वज कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। दुर्योधन को यादवों का महत्त्व शायद अभी विदित नहीं था। उसका भ्रम दूर कर पहले उसे द्वारका भेजना चाहिए, यह सोचकर मैं उसी अवस्था में महल से बाहर आया।

अमात्य, पितामह, संजय काका, दुःशासन, मामा, जयद्रथ—सभी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त दिखाई दिये। दुर्योधन ने सबको कुरुओं के अन्न पर पलने का भावपूर्ण आह्वान किया था। राजनिष्ठा से प्रेरित हुए वे महान् योद्धा अपने-अपने सेनापथकों की देख-भाल कर रहे थे। कोई भी टालमटोल नहीं कर रहा था। कोई भी भयग्रस्त दिखाई नहीं दे रहा था।

"दुर्योधन, महायुद्ध की तैयारी पूर्ण करते समय तुमने यादवों को क्यों भुला दिया?" देश-देश से आये सैनिकों के लिए अन्न-सम्पूर्ति के सम्बन्ध में को दुःशासन आदेश देते हुए दुर्योधन से मैंने पूछा।

"नहीं कर्ण, मैं उस श्रीकृष्ण के पास कदापि नहीं जाऊँगा।" वह तनकर खड़ा होता हुआ बोला।

"अब तुम्हारी इच्छा का प्रश्न नहीं है। हस्तिनापुर के चारों ओर एकत्रित हुई विशाल सेना का प्रश्न है यह। तुमको द्वारका जाना ही पड़ेगा। दुर्योधन के रूप में नहीं-इस महायुद्ध के नियोजक के रूप में।" "कर्णयह..."

"यह....वह.... ..तुम्हारी मैं एक बात नहीं सुनूँगा। इस युद्ध के लिए यदि तुम्हें मेरी आवश्यकता है तो...तुम्हें द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में अवश्य मिलाना होगा। ध्यान रखो, श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में करना है, न कि उनकी सात अक्षौहिणी विशाल सेना को।"

"कर्ण, श्रीकृष्ण अपने पक्ष में आ जायेगा, इसकी अब भी तुम आशा कर रहे हो?" वह भौंहे तानता हुआ बोला।

"हाँ ! तुम यदि उनके सामने एकदम नतमस्तक हो जाओ, तो। यदि उनसे क्षमा माँग लो, तो।" मुझे श्रीकृष्ण की उदारता पर विश्वास था।

"असम्भव है। वह नहीं आयेगा—यह कहकर मैं तुम्हें भ्रम में नहीं डालना चाहता हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि यदि मैं उसके चरणों पर अपना मस्तक भी रख दूँ, फिर भी वह नहीं आयेगा। और मैं मस्तक कभी रखनेवाला भी नहीं हूँ।"

"तो फिर....तो फिर एक काम तो करो ही। उनसे कहो कि तटस्थ रहें। द्वारका में ही।" वहीं एक मार्ग शेष था।

"ठीक है। तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए मैं द्वारका जाऊँगा। श्रीकृष्ण को पक्ष में करने का प्रयत्न भी करूँगा। तुम, पितामह, अश्वत्थामा आदि युद्धभूमि तैयार करवा लो। पितामह से पूछकर युद्ध के नियम निश्चित कर लो। शस्त्रास्त्र, रथ, लौहत्राण, ध्वज, रणवाद्य-सभी तैयार रखो। आये हुए सभी सैनिकों को धन-धान्य और सोमरस की सम्पूर्ति नित्य-नियम से सावधानीपूर्वक करते रहो।"

अपने सारथी प्राप्तिकामन् को द्वारका जाने के लिए, उसने तत्काल रथ जोतने की आज्ञा दी। मैंने मुक्ति की साँस ली। यदि वह श्रीकृष्ण को तटस्थ ही कर सके, तब भी पर्याप्त था। केवल श्रीकृष्ण सहायता कर रहे थे इसीलिए पाण्डव वीर माने जा रहे थे। नहीं तो वे वास्तव में समर्थों के राज्य के भिक्षुक थे।

चौदह

हस्तिनापुर में महायुद्ध की तैयारी प्रारम्भ हो गयी। दुर्योधन द्वारका चला गया था, इसलिए शस्त्रास्त्र, युद्धभूमि, गजदल, अश्वसेना आदि की देख-भाल मुझे ही करनी पड़ रही थी। सहायता के लिए सदा तत्पर रहनेवाला शोण साथ नहीं था। दुर्योधन के आग्रह पर उसके स्थान की पूर्ति अश्वत्थामा ने कर दी थी। वह मेरे साथ घूम रहा था। एक आश्रमवासी के रूप में नहीं, तत्त्वज्ञानी के रूप में नहीं, एक योद्धा के रूप में। राजनिष्ठ योद्धा के रूप में।

मल्लपथक, आगत सेना की व्यवस्था, उनका संचालन आदि बातों को दुःशासन स्वयं देख रहा था। युद्ध में भाग लेनेवाले राजाओं को चातुर्यपूर्ण पत्र भेजकर शकुनि मामा उनको अपने पक्ष में करने में तल्लीन हो गये थे। महावाढ़ में सभी नदियों का जलप्रवाह वायु की गति से जैसे सागर की ओर ही दौड़ता है, वैसे ही हस्तिनापुर के आस-पास के राजा चतुरंगदल सेना के साथ हस्तिनापुर पहुंच रहे थे। गंगा के विशाल किनारे पर सैनिकों की असंख्य छावनियाँ बन रही थीं।

बाण, भाले, खड्ग, त्रिशूल आदि के लक्ष-लक्ष फलक तैयार करने में लगे हुए लौहकार घनाघातों से लौहशाला गुंजाने लगे। स्फुलिंग उड़ने लगे। घोड़ों की पीठ पर पर्याण चढ़ाकर उनके मुख में वल्गाएँ लगाते हुए अश्वपाल श्रान्त होने लगे। पाकशाला में हाँडियों में अन्न पकाते हुए पाकशाला के पालकों को निद्रा लेने के लिए भी समय नहीं मिल रहा था। क्षतिग्रस्त रथों को पुनः ठीक करानेवाले रथकार उपकरण पैना कर मधुमक्खियों की तरह अविरत परिश्रम कर रहे थे। अधिषण में कूटी गयी सोमवल्ली का ठूछा मद्यशाला के आस-पास इतना इकट्ठा हो गया था कि दूर से उसकी भीतें भी पहचान में नहीं आती थीं। शिविर बनाने के लिए आवश्यक पटल बुनते-बुनते बुनकरों की आँखों में जाले पड़ने लगे थे। सुरक्षित रखा हुआ कुरुओं का त्रिकोणी राजध्वज निकालकर उन्होंने उसके त्रिकोणी किनारे पर बहुमूल्य नीले रेशमी धागों की जाली बुनकर, मध्य भाग में सुनहले धागों से सूर्य-प्रतिमा बुनी। विशाल ढाल के समान आकारवाले उस मानध्वज को महामन्त्री विदुर ने अपने हाथों से पितामह भीष्म को सौंप दिया।

“युद्ध हमारी विचारधारा के अनुकूल कभी नहीं हो सकता।” यह कहनेवाले महामन्त्री विदुर, किसी की भी प्रार्थना पर ध्यान न देकर, युद्ध से पूर्व ही हिमालय पर चले जायेंगे, यह बात आरक्षित छावनी में निश्चयपूर्वक कही जा रही थी। जाने से पहले राजमाता कुन्ती देवी को वे उपप्लाव्य पहुँचायेंगे—यह बात भी प्रभंजन द्वारा मुझे ज्ञात हो गयी थी। आयुधों के सम्मार्जन के समय होनेवाली घस-घस और घोड़ों के खुरों की टपटप का संगीत छिड़ा हुआ था। सर्वत्र युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं।

आर्यावर्त के किसी भी तीर्थक्षेत्र पर भावुक यात्रियों की महायात्रा से बड़ी संग्रामयात्रा हस्तिनापुर को घेरे हुए थी। उसके प्रत्येक संग्राम-यात्री को स्वर्ग का कोई न कोई महाद्वार अपनी पुष्ट भुजाओं से खटखटाना था। शस्त्र पर शस्त्र रचित कर उस दिव्य सोपान से

स्वर्गलोक के साम्राज्य में मत्त होकर प्रवेश करना था। कल के भयंकर काल की वही न्यायनिठुर माँग थी। उसको पूर्ण करने के लिए एकत्रित होनेवाले

आत्मनिर्भर और बलवान् लक्ष-लक्ष सैनिक राजनगर के सभी राजमार्गों पर उन्नतवक्ष घूमते हुए मुझे राजभवन के सौध पर से प्रतिदिन स्पष्ट दिखाई देने लगे। आ मिलनेवाले नवीन सैनिकपथकों के असंख्य हाथी और घोड़ों के द्वारा मथित होने के कारण गंगा का साधारणतः हिम-जैसा दिखाई देनेवाला श्वेतशुभ्र जल प्रतिदिन अधिकाधिक गैदला हो रहा था। आयुधागार के लाखों आयुध बाहर निकालकर सम्मार्जित कर दिये गये थे। युद्धभूमि के चारों ओर समरांगण की कक्षा दिखानेवाले असंख्य छोटे-छोटे श्वेत चिह्न अंकित कर दिये गये। देश-देश के विविध वर्गों के, विविध आकारों के छोटे-बड़े शंख शंखागार में लकड़ी के आसनों पर सजा दिये गये थे। नगर के धाम-धाम में शयनगृहों में पत्थर की समझौं अर्धरात्रि तक जलने लगीं। पहले इतनी देर तक कभी नहीं जलती थीं। महाराज हस्ति के बसाये हुए राजनगर के जीवन-क्रम में घोर संकट का समय आ उपस्थित हुआ था। मार्गशीर्ष के कोहरे के घने बादल राजभवन के प्राचीर के चारों ओर घनीभूत होने लगे।

महायुद्ध ! मेरे जीवन में यह तीसरा महायुद्ध था। पहला वह जब पांचाली के स्वयंवर में अनेक राजाओं ने मिलकर काम्पिल्य नगर में किया था। दूसरा, जिस समय राजा दुर्योधन ने महारानी भानमति का हरण किया था, उस समय भी मुझे लड़ना पड़ा था। इन दोनों महायुद्धों में अनेक देशों के राजा थे। अब यह तीसरा महायुद्ध था। पहले दोनों महायुद्ध हमारे देश से बहुत दूर-दूसरे खण्ड थे। उसकी प्रत्यक्ष लपट हम कुरुओं तक नहीं पहुंची थी। परन्तु....परन्तु यह तीसरा महायुद्ध अब किसी अन्य क्षेत्र में नहीं, वह हमारे देश के समीप ही आ धमका था । 'बिलकुल हस्तिनापुर के पास। कुरुक्षेत्र में। इस समय समस्त अन्तःसंघर्षों को मिटाकर जिनसे जो कुछ सहायता प्राप्त हो सके, वह लेकर खड़ा होना ही क्या बुद्धिमत्ता नहीं थी ? मेरा मन इसी निश्चय के निर्णय पर आकर ठहर रहा था। किसी भी कारण वह अब विचलित होनेवाला नहीं था। परिस्थिति का आह्वान स्वीकार कर मैं सज्जित हुआ था। अन्यो को धैर्य बँधा रहा था। पहले कुरुओं के साम्राज्य का वृक्ष दृढ़ता से धरती में जड़ें जमाकर सीधा तना हुआ खड़ा रहना चाहिए। तभी उसपर कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, महाराज धृतराष्ट्र, पितामह-सबके नीड़ सुरक्षित रह सकते थे। पहले देश और राष्ट्र, तदुपरान्त व्यक्ति और उनकी चिन्ता। सहस्रों कुरु हाथों में हाथ डालकर एक मन से जब युद्ध करेंगे तो हिमालय ही क्या, उसके परे भी जो दुर्लघ्य होगा, अजेय होगा, उसे भी सहज ही हम पादाक्रान्त कर देंगे।

दूतों के द्वारा पाण्डवों से विचार-विनिमय कर पितामह ने युद्ध के नियम निश्चित कर दिये। अश्वत्थामा और दुःशासन-अपने परस्पर भिन्न स्वभाव भूलकर—उन नियमों को सहस्र-सहस्र योद्धाओं के सैनिक दलों को समझाकर बता रहे थे-

“एक बार प्रयुक्त कर धरती पर पड़े हुए शस्त्र को पुनः हाथ में लेकर प्रयुक्त मत करो। निःशस्त्र, शरणागत, विरथ, मृत-इनपर शस्त्र मत उठाओ। प्रेत दहन करनेवाले, सोमरस की पूर्ति करनेवाले, अन्न पकानेवाले-इन का वध मत करो। पदाति पदाति से, अश्वसाद अश्वसाद से, गजाति गजाति से, गदाधर गदाधर से, खड्गधारक खड्गधारक से, रथी रथी से इस प्रकार नियमबद्ध रूप में प्रत्येक संग्राम करे। सूर्यास्त होते ही शस्त्र छेड़ने की भूल मत करो।” ऐसी अनेक प्रकार की सूचनाएँ वे सैनिकों को दे रहे थे। वे भूल न कर दें इसलिए उनसे प्रत्यक्ष करवाकर देख रहे थे। ऐन मार्गशीर्ष में कड़ाके की ठण्ड होने पर भी राजनगर का वातावरण तप्त हो गया था।

पाण्डवों की ओर से पांचाली का भाई धृष्टद्युम्न युद्धभूमि का सीमांकन करने के लिए कुरुक्षेत्र पहुँचा। पितामह भी हस्तिनापुर से गये।

गज, अश्व, पदाति और रथदल के स्थान निश्चित करवाकर, हस्तिनापुर में पल-भर भी न रुककर, जाते-जाते विदुरजी की पर्णकुटी में राजमाता से मिलकर, धृष्टद्युम्न सीधा उपप्लाव्य चला गया। चिह्नांकित युद्ध-भूमि को देखकर आया हुआ सत्यसेन चिन्तित होकर कह रहा था कि दक्षिण दिशा की ओर वह उतरती चली गयी है। उसकी सत्यता की परीक्षा करने के लिए मैं स्वयं समरांगण देखने गया। उसका कथन सत्य था। कितना भी भराव किया जाता, फिर भी युद्धभूमि के दक्षिण की ओर के उतार को समतल करना सम्भव नहीं था। क्योंकि उसका क्षेत्र अतिविशाल था।

युद्धभूमि की बात अलग रही, परन्तु मेरे जीवन का उतार अब कैसे समतल हो सकता था।

मार्गशीर्ष की पंचमी पीछे छूट गयी। कड़ाके की ठण्ड थोड़ी कम हो गयी। द्वारका से लौटा हुआ दुर्योधन जब नगर में प्रवेश कर रहा था तब मैं सौध पर उत्सुक होकर उसके रथ में श्रीकृष्ण को देखने का प्रयत्न करने लगा। उसके पीछे-पीछे यादवों की विशाल सात अक्षौहिणी सेना नगर में घुसी। परन्तु श्रीकृष्ण कहीं दिखाई नहीं दिये। हो सकता है कि राजा ने उनको तटस्थ रखने में सफलता प्राप्त कर ली हो, इतना चतुर तो वह है ही, यह सोचकर आगे बढ़कर मैंने उसका स्वागत किया, परन्तु वह आधा सफल नहीं जी सफल कैसा, पूर्ण विफल होकर द्वारका से लौटा था। उसकी राजनीतिक धूर्तता को भी श्रीकृष्ण ने परास्त कर दिया था। “एक ओर निःशस्त्र मैं हूँ और दूसरी ओर सशस्त्र बलवान् सैनिक योद्धाओं की सात अक्षौहिणी यादव-सेना है—इनमें से कौन चाहिए तुम्हें ?” यह विचित्र भ्रामक प्रश्न उन्होंने दुर्योधन के सामने रखा था। मेरी समस्त सूचनाएँ भूलकर दुर्योधन ने यादव-सेना की ही माँग कर ली थी।

“मैं कैवल तुम्हें ही चाहता हूँ-भले ही तुम निःशस्त्र रहो, बद्धहस्त रहो या अबोल रहो—और यदि तुम न आना चाहते हो तो द्वारका में चुपचाप बैठे रहो, मुझे तुम्हारी यादव-सेना

नहीं चाहिए।" श्रीकृष्ण को बद्ध करनेवाली ऐसी कोई बात उसने नहीं कही थी। इसके विपरीत, पन्द्रह लक्ष यादव-सेना हस्तिनापुर की ओर उन्मुख करने में राजनीतिक दृष्टि से हम कितने सफल हो गये हैं, यह बताने के लिए वह दौड़ता हुआ-सा आकर बोला, "कर्ण, निःशस्त्र श्रीकृष्ण और अर्जुन के रथ पर लगा हुआ ध्वजदण्ड—इनमें अन्तर ही क्या है ? वह अर्जुन का सारथ्य करेगा। शस्त्र के स्थान पर हाथ में वल्गाएँ और प्रतोद लेगा। अपने यहाँ सारथी क्या कम हैं। उसको लाने की अपेक्षा उसकी पन्द्रह लक्ष सेना लाकर मैंने कुरुओं के सैन्य सामर्थ्य को सशक्त बनाया है। क्या ऐसा नहीं लगता तुम्हें ?"

"राजन्, युद्ध में बुद्धि नामक अस्त्र सबसे अधिक प्रभावशाली होता है, क्या तुम यह नहीं जानते ? अर्जुन के रथ का सारथ्य करनेवाले श्रीकृष्ण घोड़ों की वल्गाएँ खींचेंगे परन्तु जिह्वा को ढीली छोड़ देंगे, यह बात तुम्हारी समझ में कैसे नहीं आयी ? कम से कम उनको चुप रहकर सारथ्य करने की शर्त ही तुम लगा आते तो अच्छा था।" यह बात उस राजनीतिकुशल कहे जानेवाले नरेश से मैं कहना चाहता था, परन्तु फिर मैं चुप रहा। भूल स्वीकार करना, उनको सुधारने का प्रयत्न करना, सबको विश्वस्त बनाना—ये गुण हस्तिनापुर-जैसे बलाढ्य देश का नेतृत्व करनेवाले इस राजा के जीवन में अब कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते थे। स्वयं आमन्त्रित किया हुआ युद्ध, आस-पास घिरी हुई ज्वलन्त समस्याएँ, पितामह और गुरु द्रोण-जैसे वृद्धत्व से निष्प्रभ हुए कुरुओं के हाथ में दीर्घकालीन राज्यसूत्रों का होना, संकट के समय जो ऐक्य-भावना आवश्यक होती है उसका अभाव-इन समस्त अवरोधों से दूर दृष्टि का मार्ग कहीं प्राप्त नहीं हो रहा था। धीवर के जाल में फंसे हुए कीट की तरह वह जितना प्रयत्न कर रहा था, उतना ही अधिक उलझता जा रहा था। मुझे यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था। वह और उसका चुना हुआ राजनीति का मार्ग-सब कुछ एक बड़ी वंचना-सी लगती थी। आशा की एक किरण के लिए मैं छटपटा रहा था।

इतने पर भी, "मैं अकेला ही सामर्थ्यशाली हूँ, कोई भी मेरे सामने टिक नहीं पायेगा, हस्तिनापुर के प्राचीन राज्य को चलाने का बुद्धिकौशल एकमात्र मुझमें ही है"-इस विचित्र अहंभावना से दुर्योधन इतना अभिभूत था कि किसी पर भी विश्वास करने को तैयार नहीं था। मेरे सुझाव, मेरे परामर्श—'मुझसे अत्यन्त स्नेह करनेवाले प्राणप्रिय मित्र के परामर्श हैं,' यह भी उसे पूर्णरूपेण स्वीकार्य नहीं था।

श्रीकृष्ण को छोड़कर वह यादव-सेना ले आया था।

कुल सैन्यसंख्या ग्यारह अक्षौहिणी के ऊपर चली गयी थी। सेनापति का चुनाव कर उसके नेतृत्व में सेनापथकों की योजना करने का समय आ गया था। एक-एक पथक हस्तिनापुर छोड़कर युद्धभूमि की ओर मार्गस्थ हो गया था। कुरुक्षेत्र की दक्षिण दिशा में सैनिकों के शिविर बने हुए थे। राजनगर सुनसान लग रहा था। सैनिकों को प्रयाण की अनुज्ञा देती हुई स्त्रियाँ देहरी पर छिड़काव कर गृह-गृह में अपने कुलदेवता की आरती

उतारती हुई अक्षयदीप जला रही थीं। पथकों की व्यवस्था देखने के लिए मैंने भी हस्तिनापुर छोड़ दिया।

राजनगर का समस्त यातायात कुरुक्षेत्र के आस-पास व्याप्त हो गया था। जैसे मधुमक्खियाँ अपने छत्ते से सटकर एक-दूसरी से पंख भिड़ाकर चिपटी रहती हैं, वैसे ही लक्ष-लक्ष सैनिक कुरुक्षेत्र के समरांगण की पश्चिम दिशा में छाये हुए थे।

अंग, अंगारक, अलब्ध, अम्बष्ठक, अलायुध, अलम्बुस, आश्वकंगी-ये राक्षसरान अपने विशाल सज्जित शरीर लिये हुए गजदल के सहस्रों गजों को अंकित भूमि में खड़े करने में मग्न हो गये थे।

अनश्वस, अनुशाल्व, अपराजित, अचल, अरिष्टसेन, विन्द, अनुविन्द, अंगद, अच्युतायु, अशोक, अश्वकेतु, आषाढ़, आर्जव, इन्द्रवर्मन, ईश्वर, उग्रतीर्थ, उग्रमन्यु, उलूक आदि निष्णात अश्वतत्त्वज्ञ अश्वसादों को सूचना देकर अश्वदलों को एक-एक पंक्ति में खड़े करने में स्वयं को भूल गये थे।

क्षेमधूर्ति, क्षेमशर्मन्, भगदत्त, कृतवर्मा, बृहद्वल, बाह्लीक, नीलध्वज, चिरवासस, दीर्घप्रज्ञ, नियुतायु, पौण्ड्रक, दीर्घायु—ये विख्यात रथसम्राट् अपने-अपने रथियों को उनके नियुक्त स्थान दिखा रहे थे।

गुरु द्रोण, कृप, शल्य, शकुनि मामा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, दुर्योधन, दुःशासन-ये सभी जन महाबाद-भरी गंगा-जैसी चौबीस लाख सेना का अनुशासन देख रहे थे।

मगध, मद्र, बाह्लीक, गान्धार, अवन्ती, निषध, सिन्ध, कलिंग, चेदि आदि सभी देशों के विविध आकारों के विविध वर्गों के राजध्वज फहरा रहे थे। कुरुक्षेत्र का चक्कर लगाकर बहनेवाली सरस्वती का तथा मन्द दृषद्वती का जल दिन में भी थरथरा रहा था।

सेना के शिविर व्यवस्थित ढंग से लग चुके थे—यह पता चलते ही मैं राजनगर की ओर लौटा।

उपप्लाव्य से मार्गशीर्ष माह की कृष्णा द्वितीया का दिन नियुक्त किया गया ।

पन्द्रह

श्रीकृष्ण की ओर से युद्ध का दिन निश्चित होकर आते ही सेना में सेनापति के चयन की चर्चा प्रारम्भ हो गयी। दुर्योधन सबको मेरा ही नाम बता रहा था। अश्वत्थामा, दुःशासन, मामा, जयद्रथ आदि उसका समर्थन कर रहे थे। परन्तु मेरी इच्छा थी कि ज्येष्ठ होने के कारण पितामह भीष्म सेनापति पद स्वीकार करें। परन्तु यदि सब मुझी से आग्रह करेंगे तो

अस्वीकार करना भी सम्भव नहीं था। इसलिए अपने पिता को अंजलि भर-भरकर अर्घ्यदान अर्पण करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करना मेरा कर्तव्य था। ये युद्ध से पूर्व के अर्घ्यदान थे। पिता, पुत्र, संगी-साथी—ऐसे किसी प्रेमपाश में मन का कोई भी धागा इस समय उलझना नहीं चाहिए था। आस्था, एकाग्रता, आत्मसमर्पण—इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव मन से व्यक्त नहीं होने देना था।

ऐसे ही एक सुप्रभात में मैं अपनी भावसाधना में तल्लीन था। चारों ओर नीरव शान्ति थी। किनारे पर स्थित विष्णु-मन्दिर में कोई भक्त घण्टा बजा रहा था, उसकी ध्वनितरंगें जब-तब कानों में टकरा रही थीं। मेरी अंजलि के जल की प्रत्येक बूँद टप्-टप् आवाज करती हुई गंगा से पूछ रही थी, "इस कर्ण ने अपने जीवन में आज तक कितनी अंजलियों का दान किया है, क्या तुम्हें स्मरण है ?"

गंगा ऊपर मुख करके अपने असंख्य लहरोंरूपी नेत्रों से मेरे पिता से ही उसका उत्तर पूछ रही थी। उनके उस मौन संवाद को मैं समझ रहा था। दोनों ही एक-दूसरे को उत्तर नहीं दे सकते, इसलिए मैं ही उनसे कह रहा था, "गंगा माता, तुम्हारी जल-लहरियों के समान और सूर्यदेव, तुम्हारी प्रकाशलहरियों के समान असंख्य अर्घ्यदान की अंजलियाँ मैंने आपको अर्पण की होंगी। उनमें ही आज यह थोड़ी-सी वृद्धि और कर रहा हूँ। इनको भी सम्मिलित कर लो। उद्यान को फुलबारी, आकाश को तारक, आम्रवृक्ष को कम-अधिक विकसित बौर और माता को पुत्र क्या कभी भारस्वरूप लगते हैं ? तो फिर श्रद्धा से, प्रेम से और भक्तिभाव से आकण्ठ भरी हुई मेरी ये अंजलियाँ आपको ही कैसे भारस्वरूप लग सकती हैं। आप ही हैं मेरे माता-पिता। गंगे, तुमने मुझे तारा है; सूर्यदेव, आपने मुझे संकट की सूचना देकर, चेतावनी देकर उपकृत किया है। मैं तुम्हारा ही पुत्र हूँ। दुर्योधन, मामा, अश्वत्थामा, पितामह, विदुर, महाराज धृतराष्ट्र—अब किसी से एक शब्द भी बोलने की इच्छा नहीं होती। जीवन की यात्रा में क्षण-भर को मेरे आस-पास इकट्ठे हुए असंख्य यात्री हैं ये। परन्तु आप साक्षात् वे परमेश्वर हैं जिनके लिए मैंने यह विकट यात्रा की है। बोलिए, कुछ तो मुझसे बोलिए। बताइए, इस यात्रा में क्या मेरे हाथ से कोई प्रमाद हुआ है ? कर्ण द्वारा कर्तृत्व को कहीं कालिमा लगी है ? मैंने जो कौरवपक्ष को चुना, क्या इसमें मेरा कुछ स्वार्थ है ? कौरव न होते हुए भी मैंने कुरुओं के लिए जो कुछ किया, वह आपने माता-पिता होते हुए भी कभी मेरे लिए किया है क्या ? सारा हस्तिनापुर कह रहा है कि कवच-कुण्डल रहित, शापदग्ध कर्ण निष्प्रभ है। उनको मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ कि घटा घिर आने का अर्थ यह नहीं होता कि संसार पर अन्धकार का साम्राज्य छा गया है। कहिए, कर्ण अभागा है, सामर्थ्यहीन है—यह कहने का अधिकार किसी को है क्या ! आखिर भाग्य, सामर्थ्य, यश—इनको मापने की कसौटी क्या है ? सम्पत्ति ? राज्य ? कीर्ति ? केवल जीने के लिए जी हुई शतवर्ष की दीर्घायु ? नहीं, इनमें से कोई विकल्प मैंने कभी नहीं चुना। गंगे, तुम्हारी

लपलपाती हुई असंख्य जल-लहरियों-जैसा ही है मेरा जीवन । सूर्यदेव, चेतना का वरदान लेकर आनेवाली तुम्हारी सहस्रों किरणों-जैसा ही मेरा जीवन रहा है। कभी-कभी वर्षा की धार बरस जाती है और तुम्हारी किरण-शलाका से श्वेत, हरित, नीला, बैजनी आदि सप्तवर्ण फेंकनेवाला इन्द्रधनुष तैयार हो जाता है। अखाड़े का दिन, पांचाली का स्वयंवर, वृषाली से विवाह, कवच-कुण्डलों का दान, श्रीकृष्ण की बातों की अस्वीकृति—यह मेरे जीवन के अनेक भावों को प्रकट करनेवाला वैसा ही इन्द्रधनुष नहीं है क्या ?

मुझे शक्ति दो कि मैं इस निकटतर आते हुए महायुद्ध में आपके नाम और आपके कुल के अनुरूप लड़ सकूँ। मेरी भावश्रद्धा की ये अंजलियाँ स्वीकार कर लो।"

एक, दो, पाँच, दस, पचास, सौ-मेरे हाथों से जल की अंजलियाँ गंगा के पात्र में एकरूप हो रही थीं। आस-पास के जगत् का मुझे भान भी नहीं था। क्षण-प्रतिक्षण मन अविचल भाव से हिमालय की तरह सुस्थिर होने लगा।

ठीक मध्याह्नकाल हो गया। सूर्यदेव माथे पर आ गये। गंगा तट की बालू शायद अत्यधिक तप्त हो गयी थी, क्योंकि उष्णवायु की अत्युष्ण लपटों का अनुभव मेरी खुली हुई भुजाएँ स्पष्ट रूप से कर रही थीं। आधे शरीर को गंगा के जल का शीतल स्पर्श, तो आधे को तप्त वायु का दाहक स्पर्श । जीवन में सुख-दुख क्या इसी प्रकार एक-दूसरे के पार्श्व में लेटे हुए नहीं रहते, जैसे गंगा का शीतल पात्र और तट पर तप्त मरुभूमि पड़ी हुई है। बहुत समय हो गया था इसलिए पात्र से बाहर निकलने के लिए मुड़ा, क्योंकि सेनापति के चयन की बैठक मेरे बिना प्रारम्भ नहीं होनेवाली थी।

जिस ओर उत्तरीय रखा हुआ था, उस परिचित कदम्ब वृक्ष की ओर चलने लगा। भन स्थिर एवं अविचल था। पानी से बाहर निकलते ही तप्त बालू से पैरों के तलवे जलने लगे। दुर्योधन ने यदि सेनापति-पद का आग्रह मेरे ही लिए किया, तब ? सभी योद्धाओं को पितामह का महत्त्व कैसे समझाया जाये ? दुर्योधन के मन को ठेस न पहुँचाते हुए उससे यह कैसे कहा जाये कि पितामह द्वारा ही सेनापति का पद स्वीकार करना उचित है। कुछ भी हो, पितामह ज्येष्ठ तो हैं ही। उन्होंने वर्षों तक कुरुओं का नेतृत्व किया है। वे ही सेनापति होने के योग्य हैं। मैं उनके नेतृत्व में लड़ूँगा। विचारों की तन्द्रा में ही कदम्ब के पास आया। उसकी शाखा पर उत्तरीय ज्यों का त्यों टँगा हुआ है या हवा से उड़ गया है, यह देखने के लिए सिर उठाकर उसपर दृष्टि डाली।

सामने जो कुछ देखा वह सत्य है या स्वप्न-इस सन्देह से मन की मरुभूमि पर स्मृतियों के असंख्य बालूकण सहसा स्वच्छन्द उड़ने लगे। मैं जल में हूँ, किनारे पर बालू में हूँ, कर्ण हूँ या अन्य कोई हूँ-कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। मेरे जीवन में मुझे प्रचण्ड आघात देनेवाले अनेक समरप्रसंग आये । सद्भाव को साक्षी बनाकर, यथाशक्ति धीरोदात्त भाव से मैंने

उनका सामना किया था। परन्तु मैं सामने जो कुछ देख रहा था, वह पूर्ण रूप से मुझे गहरी खाई में डालने के लिए पर्याप्त था।

मेरे उत्तरीय की छाया में, सूर्यदेव से अपना मुँह छिपाने के लिए, कदम्बवृक्ष के नीचे तप्त बालू में, शुभ्रकेशांकित राजमाता कुन्ती देवी सम्पूर्ण शरीर को वस्त्रों में छिपाये खड़ी थीं।

उनके दर्शन मात्र से ही मेरे जीवन का रथचक्र मेरे सामने घरघरै घूमने लगा। कितनी घटनाएँ। कितने आरे। अश्वनदी का पात्र। हिचकोले खाती हुई लकड़ी की पेटिका। सारथियों की पर्णकुटी की जीर्ण झोंपड़ी का आश्रय लेकर पला हुआ मेरा अनाथ बचपन। 'सूतपुत्र ! सूतपुत्र !' कहकर ठुकराया गया मेरा एकाकी, कुण्ठित और अपमानित यौवन। क्षत-विक्षत भग्न नौका की तरह परिस्थितियों की निर्दय-क्रूर लहरों के अनगिनत थपेड़े खाता हुआ अब तक का मेरा सम्पूर्ण जीवन ! मान का ज्ञान भी जिस समय मन को नहीं था, उसी समय से सामने आ खड़ा होनेवाला अपमान....

यह स्त्री वही थी, जिसने एक सुदृढ़ पाषाण से सुडौल मूर्ति न बनाकर उसको एक ऐसी मैली सीढ़ी बना दी थी, जिसको सब अपने पैरोंतले रौंदें। यही वह स्त्री थी जिसने मेरे जीवनरूपी राजवस्त्र को चिथड़े-चिथड़े कर समाज के कँटीले बाड़ पर विना झिझके टाँग दिया था। यह वही स्त्री थी जिसने मेरी आयुष्य के राजकमल को अश्वनदी के गन्दे जल में फेंककर उसको पंक बनाने का क्रूर प्रयत्न किया था। यह वही स्त्री थी जिसने राजमुकुट में लगाने योग्य राजरत्न को एक सारथी के कण्ठ में पड़े हुए फूटे वैदूर्यों के साथ गूँथ डाला था। किस लिए वह आज मेरे सामने खड़ी थी ? स्त्री-माता, मांगल्य का महन्मन्दिर, मातृत्व का मृदुल माहात्म्य, महाकवियों और महामुनियों द्वारा वर्णित पवित्र पूजास्थान; सिद्ध, साधक, गन्धर्व, चारण, देव आदि जहाँ सिर झुकाते हैं, वह मुक्ति-स्थान ! वह मेरे सामने किस रूप में खड़ी थी ? सद्योजात शिशु को खा लेनेवाली बाघिन और मेरे सामने खड़ी स्त्री में क्या अन्तर था ?

पैरों के नीचे तप्त बालू से मेरे पैरों के तलवे जल रहे थे, उससे अधिक मेरा मन उनके दर्शन से जलने लगा। समस्त ब्रह्माण्ड ही चक्राकार घूमता हुआ मुझसे चिल्लाकर कह रहा था कि “कर्ण, तू सूतपुत्र है ! तू सूतपुत्र है !” मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे वह स्त्री भी उसी में अपना स्वर मिलाकर वैसे ही चिल्ला रही हो। दोनों हथेलियों से कसकर मस्तक पकड़ मैंने तत्क्षण आँखें मींच लीं। मेरी इच्छा हुई कि आकाश में स्थित सूर्यदेव का तप्त तेजोगोल मेरे सिर पर गिरकर, क्षण-भर में मुझे पिघला दे तो अच्छा हो। फिर भी यह निर्दय स्त्री मेरे पिघले हुए शरीर के प्रवाह पर पैर रखकर लौटने में आगा-पीछा नहीं देखेगी—इस विचार से मैं कहीं विक्षिप्त तो नहीं हो जाऊँगा ? यह आशंका मुझे व्याकुल करने लगी। “जाओ यहाँ से !” यह चिल्लाने के लिए मैंने आँखें खोलीं। वह उसी तरह मेरे उत्तरीय की छाया में सिकुड़ी हुई खड़ी थी। हम दोनों पहली ही बार मिल रहे थे। यही एक अवसर था जबकि मैं

उसे 'सूतपुत्र' शब्द की हृदय को टूक-टूक कर देनेवाली असह्य यातना के सम्बन्ध में कुछ सुना सकता था। सौभाग्य से जीवन में यही एक पासा मेरे द्वारा डाला जा रहा था।

“यह राधेय सूतपुत्र आपको वन्दन करता है वन्दनीय राजमाता !” आगे बढ़कर तप्त बालू में घुटने टेककर मैंने उसको वन्दन किया। आत्मा को आत्मा ही से सचेत करना पड़ता है।

“कर्ण ss ! उठ....उठिए !” उसने भुजा पकड़कर मुझे उठाया।

“मेरे लिए आदर-सूचक सम्बोधन मत कीजिए राजमाता । महाराज धृतराष्ट्र के रथ के घोड़े हाँकनेवाले, उनकी देखभाल करनेवाले सारथी अधिरथ का पुत्र हूँ मैं । सौभाग्यशाली नहीं हूँ, नहीं तो आपके भी राजरथ की वल्गाएँ हाथ में लेकर मैं आपकी सेवा करता।”

“कर्ण, मुझसे 'आप' कहकर मत बोलो। श्रीकृष्ण ने तुम्हें सब कुछ बता दिया है, अब तो हृदय को टूक-टूक कर देनेवाली कोई बात मत कहो । पुत्र, तुम जानते ही हो कि मैं कौन हूँ। तुम अच्छी तरह जान गये हो कि तुम कौन हो । बोलो, मेरी आँखों के आँसू कम से कम तुम्हें परिचित लगते हैं या नहीं ?” वह अपना श्रान्त मुख हथेलियों में छिपाकर सिसकने लगी।

“आँसू ! धधकते हुए हृदय की ज्वालाएँ आँसुओं से कभी बुझा नहीं करतीं। आँसू क्या, यदि तुम अपना मस्तक पटककर रक्तरंजित कपाल भी यहाँ मेरे सामने लाओगी, तो उस रक्त को भी अब मैं नहीं पहचान पाऊँगा । इस तप्त मरुभूमि-जैसा मेरा जीवन तुम्हारे राजजीवन के शीतल गंगापात्र को कभी स्पर्श नहीं कर सकेगा, मैं भला कौन और क्या हूँ ! तुम राजमाता हो। पाण्डवों की भाग्यशाली जननी ।

“कर्ण, अपनी माता को राजमाता कहकर उसके वृद्धमन पर धधकता हुआ अंगार मत रखो। पुत्र, आओ, मुझे आलिंगन दो।” उसने अपने काँपते हुए हाथ फैला दिये। डबडबायी हुई आँखों के पलक हलचल कर उठे ।

“माता ! माता कहलवानेवाली निर्दयी स्त्री, तेरा हृदय इतना कठोर पाषाण है कि यदि सचमुच ही कोई धधकता हुआ अंगार उस पर रख दिया जाये, तो वह भी बुझकर राख हो जायेगा। माता कहलवाने का कौन-सा अधिकार जताने के लिए तू बिना किसी संकोच मेरे सामने आयी है ? आज ही तेरे मातृत्व में यह ज्वार क्यों आया ? नाते की दिखावटी ढाल लेकर आनेवाली निर्दये, मेरी माता है अश्वनदी , चर्मण्वती, गंगा ! मुझे अपनी पर्णकुटी के जीर्ण छप्पर में आश्रय देनेवाली राधामाता। और अन्त में अपनी गोद में चिर-विश्राम देनेवाली यह मेरी पुण्यवन्ती आर्यभूमि। अपनी कलंकित जिह्वा से 'माता' शब्द का उच्चारण कर उसकी पवित्रता भ्रष्ट करने का महापातक फिर से इस कर्ण के सामने मत करना । जा, पाण्डवों की पराक्रमी पंचकड़ी में रमण कर। पुण्य प्राप्त करने के लिए विदुरजी की

पर्णकुटी में व्रत-पूजा कर । श्रीकृष्ण को भात परोसकर उनकी मित्रता करती हुई कह कि अधिरथ का पुत्र उन्मत्त हो गया है, भीम की गदा से उसका सिर कुचलना ही होगा। जा, अश्वनदी में छोड़ी हुई मेरी जीवन-नौका को अब विश्व के महासागर में रोकने में तुम्हारे झुर्रियों से भरे हाथ की पतवार बिलकुल समर्थ नहीं रही। बिना नार काटे ही जिस बालक को त्याग दिया था, वह आज तेरे बालकों का काल बन रहा है, यह देखकर चुपचाप आँसू बहाती रह । मैंने जीवन-भर जो किया, उसे तू कुछ क्षणों के लिए ही करके देख। जा, कर्ण तेरा पुत्र नहीं तू उसकी माता नहीं है। शत्रु भी न दे, ऐसा अक्षम्य दण्ड तूने एक अजान, अबोध नवजात बालक को दिया है।"

"कर्ण, कौरवों के साहचर्य में रहकर दुर्योधन और दुःशासन की तरह बातें करते हुए तुम यह भूल जाते हो कि अपने महान् दुख को सहन करने के लिए दैव ने तुम्हें सुदृढ़ पुरुष-हृदय तो दिया है, परन्तु मैं ?-अरे, मैं जिन यातनाओं को सहन कर रही हूँ वे मरण से भी अधिक भयानक हैं। बचपन थपेड़े लगाता हुआ इच्छानुसार बहाता रहा है। मैंने तुम्हारा जो त्याग किया, वह एक ही दैव मेरी जीवन-नौका को क्रूर माता द्वारा किया गया अपने पुत्र का त्याग नहीं। पुत्र-प्राप्ति के लिए असंख्य स्त्रियों के मन व्यथित होते रहते हैं, यह देखकर भी कौन ऐसी माता है जो अकारण ही अपने पुत्र का त्याग कर देगी ? परन्तु...परन्तु तुम्हारा जन्म ही ऐसी परिस्थिति में हुआ था कि तुम्हारे और मेरे- —हम दोनों के ही जीवन में सम्मानपूर्वक जीने का और कोई मार्ग ही नहीं था। पुत्र, तुम्हारे वियोग में विगत सत्तर वर्षों से क्रन्दन करते हुए मेरे मातृ-हृदय को मेरे पाँच पुत्र कभी नहीं देख पाये । श्रीकृष्ण, देवर विदुरजी तथा पितामह तक नहीं जान सके, और आज तुम उसको समझने के लिए तैयार नहीं। तुम्हारा वियोग, वैधव्य, पुत्रों का वनवास, तुम्हारा घोर अपमान, द्रौपदी की विडम्बना और आज तुमने-भाई-भाइयों ने एक-दूसरे के विरुद्ध जो ताल ठोकी है, यह देखकर क्या कोई स्त्री पागल हुए बिना रह सकेगी ?

"संसार को प्रकाशित करनेवाले, अन्धकार में मार्ग दिखानेवाले तुम्हारे उस विख्यात पिता ने मुझे भी कभी मार्ग दिखाया क्या ? क्या तुम्हारे जीवन को ही प्रकाशित किया ? नहीं, कर्ण ! साधारण लोगों के दुख साधारण होते हैं, वैसे ही असाधारण जनों के दुख भी असाधारण ही होते हैं। तुम्हें आँखें बन्द कर चुपचाप सहन करने चाहिए थे वे तुमने सहन किये ही हैं। अब उनका अन्त करो। चलो, मेरे पुत्रों में चलो। सब तुम्हारा राज्याभिषेक करें —यह मैं एक बार जी भरकर देख लूँ। चलो, मैंने अपने नेत्रों की नीराजन को अश्रुओं की इंगुदी डालकर केवल इसीलिए विगत सत्तर वर्षों से सतत प्रज्वलित रखी है। पुत्र, दुष्ट दुर्योधन ने तुम्हारे मन में मेरे पुत्रों के प्रति—तुम्हारे अपने बन्धुओं के प्रतिद्वेष का अंगार, तुम्हारी समय-समय पर स्तुति करके, सदैव यज्ञकुण्ड की तरह धधकता हुआ रखा है। चलो, अपने बन्धुओं के आनन्दाश्रुओं से उसे शान्त कर दो। मेरी आज्ञा मानकर एक पत्नी का

अपने बीच विभाजन कर लेनेवाले मेरे पुत्र, मेरी बात मानकर तुम्हारे चरणों पर अपने मस्तक रखकर सिसक-सिसककर रोते हुए तुमसे क्षमा माँगेंगे। जो प्रतोद भीम ने तुम्हारे ऊपर उठाया था, उसे अपने हाथ से तुम्हारे हाथ में देकर उसके आघात सहने के लिए वह अपनी विशाल पीठ तुम्हारे आगे झुका देगा। प्राण जाने पर भी वह लूँ तक नहीं करेगा। तुम्हारे राज्याभिषेक के उत्सव के समय, तुम्हारे प्रति अपना प्रेम व्यक्त करने के लिए, अर्जुन अपना अक्षय बाणों का तरकश और अजेय गाण्डीव धनुष धधकते हुए यज्ञकुण्ड में अपने ही हाथों से डाल देगा। सदैव मेरे सम्मुख तुम्हारे संकुचित होते गये चरणों का वर्णन करनेवाला तुम्हारा बन्धु युधिष्ठिर सभी नदियों का पवित्र जल लेकर उससे तुम्हारे चरण धोयेगा। सभी के साहचर्य में जिसने अपना जीवन बिताया है, वह मेरी विनयी स्नुषा द्रौपदी शेष जीवन तुम्हारी ही सेवा में बितायेगी। और... और तुम्हारे लिए...केवल तुम्हारे लिए...मन की अँधेरी गुहा में छटपटानेवाली मेरी अन्तरात्मा देह का अंशुक फेंककर सन्तोष से स्वर्गलोक के द्वार खटखटा सकेगी। चलो कर्ण, अपने वन्धुओं में चलो !" उसने मेरी भुजाएँ पकड़कर मुझे ज़ोर से झकझोरा ।

"इन्द्र को आगे कर मेरे कवच-कुण्डल लूटनेवाले तेरे वीर पुत्र, सुदामन और शोण की बलि लेनेवाला अर्जुन, 'सूतपुत्र' कहकर ठुकरानेवाली तेरी स्नुषा, 'सारथी' कहकर मेरा अपमान करनेवाला भीम और भूख लगने पर जिसे रोने के अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं—ऐसे अबोध, निष्पाप, निरागस और कोमल शिशु को अश्वनदी की महावाढ़ में धकेलनेवाली तू...तुम सभी लोग यदि आज मुझे फिर से बन्धु, पति और पुत्र के रूप में स्वीकार करने को तैयार हो तो सचमुच ही तुम लोग बहुत बड़े ढोंगी हो। ढोंग चिरन्तन है—यह सिद्ध करने के लिए ही क्या मैं आपके साथ चलूँ ? असम्भव ! कपटी, दुष्ट, कुटिल और हृदयशून्य मनुष्य भी ढोंगी मनुष्य से सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। जा, सम्पत्ति, राज्य, प्रेम-पाश-इनसे विचार बदले जा सकते हैं, यह बात तुझे सम्भव लगती हो तो दिग्विजय में प्राप्त सम्पूर्ण सम्पत्ति मैं तेरे चरणों पर डालता हूँ...झूठे पुत्रप्रेम की ढाल इस कर्ण के सम्मुख व्यर्थ ही मत रख। जिन हाथों ने प्रतोद और राजदण्ड समान भाव से पकड़े हैं, मेरे उन हाथों ने तुझे वन्दन किया है, इसी को भाग्य समझ और यहाँ से चली जा !"

"झूठा पुत्रप्रेम ! बताओं, मेरे रथ में छह घोड़ों के स्थान पर पाँच ही जुते हुए तुम्हें कभी दिखाई नहीं दिये क्या ? तुम्हारे विवाह में जो रेशमी साड़ी और अंगुलित्राण दिये थे, तुम्हें उनका स्मरण क्या नहीं है ? जब तुम दिग्विजय से लौटे, उस समय ऋषिकन्या ने तुम्हारे भाल पर कुंकुम-तिलक लगाया, इस बात को तुम क्या इतनी जल्दी भूल गये ? राजसूय यज्ञ के लिए जब तुम आये थे, उस समय सौध पर से मेरे हाथ से तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ हस्ताभूषण क्या तुम्हारे पुत्र वृषसेन के लिए नहीं था ? इन्द्रप्रस्थ के राजभवन की भित्ति पर क्रन्दन करती हुई जो राज-स्त्री चित्रित है, वह मैं ही हूँ, यह बात वे भित्तियाँ तुम्हें आज भी

बता देंगी, उनपर ही क्या तुम विश्वास कर सकोगे ? अखाड़े में तुम्हारा पराक्रम देखकर तुम्हारे वियोग से मेरा आँचल तरी उठा था, उससे मेरी कंचुकी भीग गयी थी, यह बात सुनकर भी क्या तुम अनजाने बनना चाहते हो ? कहो, यदि मैं चिल्ला-चिल्लाकर हस्तिनापुर के प्रत्येक चौराहे पर यह कहूँ कि तुम मेरे पुत्र हो, तभी क्या तुम्हें मेरे मातृत्व पर विश्वास होगा ? बोलो, यदि यही तुम्हारी इच्छा हो तो मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।"

"तेरे तैयार होने से क्या होता है। उसको मानने के लिए संसार तो आज तैयार नहीं ? और मुझे तो आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जन्म होते ही मेरा त्याग करके तूने मुझे आधा मार डाला और...और आज ठीक इस अवसर पर कहनी-अनकही कहकर तूने मुझे पूरा ही मार दिया। इन सत्तर वर्षों में मेरे सामने आने के लिए तुझे क्या केवल आज का ही शुभ मुहूर्त उपयुक्त लगा ? बता, इस समय मेरे स्थान पर तेरा भीम होता तो...किसी भी प्रकार का विचार किये बिना अपने हाथ की गदा का प्रहार तेरे मस्तक पर कर तेरे रक्त से पैरों के नीचे की मरुभूमि रंजित करना क्या वह भूल जाता ? मेरे स्थान पर युधिष्ठिर होता तो.... राजवस्त्र फेंककर भगवा वस्त्र परिधान कर संन्यासी के रूप में तुम सबको छोड़कर क्या वह हिमालय को न चला गया होता ? तेरा प्राणप्रिय अर्जुन होता, तो...अपना गाण्डीव तेरे कण्ठ में अटकाकर वह आज क्या तुझे झकझोर न देता ? परन्तु...परन्तु मैंने तुझे वन्दन किया है। व्यर्थ ही विनम्रता दिखाकर मिथ्या मान प्राप्त करने के लिए नहीं, अपितु श्रीकृष्ण ने जो नाता बताया था, उसकी स्मृति जाग्रत है, इसलिए, लेकिन तूने मुझे क्या दिया ? शत्रु भी नहीं देगा ऐसा भीषण दुःख ! आँखें फाड़ने पर भी जिसमें कुछ भी दिखाई न दे ऐसा सघन विभ्रम ! जाओ राजमाता, केवल पुत्र को जन्म देने से ही कोई स्त्री माता नहीं बन जाती। इसके विपरीत, बिना जन्म दिये ही, संस्कारों से एक मिट्टी के गोले की मूर्ति बनायी जा सकती है। इस महान कार्य को, जिसको एक राजस्त्री न कर सकी, एक शूद्र स्त्री राधामाता ने कर दिखाया है। जा, हे राजस्त्री ! राजभवन में, पर्णकुटी में, कहीं जा। तू एक भ्रान्तचित्त माता थी और रहेगी। राम के लिए तड़प-तड़पकर मर जानेवाली कौशल्या माता को तू न जान सकी। स्त्री के रूप में मातृत्व का जो सर्वश्रेष्ठ वर तुझे मिला था, उसे तूने जीवन-भर शाप समझकर अपनाया। यदि याचक बनकर न आयी हो तो शीघ्र ही यहाँ से दूर चली जा। इस गंगा के पवित्र किनारे पर खड़े रहने का तुझे कोई अधिकार नहीं है।"

"नहीं ! मैं जाने के लिए नहीं आयी हूँ। तुम्हें ले जाने के लिए ही आयी हूँ। राम के लिए प्राण त्यागनेवाली कौशल्या राजभवन में थी—उसका कोई भी पुत्र रावण से जाकर नहीं मिला था। मैं पर्णकुटी में रहती हूँ। किस लिए ? राजमाता के रूप में घूमने के लिए ? नहीं पुत्र । तुम्हारे धवल जीवन पर लगा हुआ कलंक धो डालने का अवसर कभी तो मिलेगा—यह सोचकर ही मैं जीवित रही हूँ। और यदि प्राणदण्ड से ही मेरे मातृप्रेम की प्रतीति तुम्हें होनेवाली हो तो वह भी मैं इस समय करके दिखा दूंगी-इसी क्षण गंगा को साक्षी बनाकर,

परन्तु तुम दुर्योधन की ओर से मत लड़ो। अपने दाहक पराक्रम में अपने ही बन्धुओं को दग्ध मत करो।" वह तत्क्षण सीधी गंगा के पात्र की ओर चल दी.-अपनी देह गंगा को समर्पित करने का निश्चय कर ।

मेरा देहरूपी ध्वजदण्ड थरथराने लगा। अर्घ्यदान से सुदृढ़ बनाया हुआ मन भी विचलित हो उठा।

"ठहरो !" मैंने उसे लक्ष्य कर कहा । वल्गाएँ खींचते ही जैसे राजरथ रुक जाता है, वैसे ही वह रुक गयी। पास जाकर सौम्यभाव से मैं बोला, "बताओ, तुम क्या चाहती हो ? दुर्योधन का पक्ष न छोड़ते हुए मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ?"

"मेरे पाँच पुत्रों को अभय दो। उनका-अपने बन्धुओं का वध मत करो। जननी होकर भी मैं तुम्हारे सामने आँचल पसारकर भिक्षा माँगती हूँ। इन्द्र को कवच-कुण्डल दिये, दीन-दुखियों को धनधान्य और वस्त्र दिये हैं। मुझको....मुझको इतना तो दान दे दो। पाँच जीवन का । " अपने श्रान्त मुख को हथेलियों में छिपाकर वह राजस्त्री सिसकने लगी। राजभवन में सबकी माता रूप में जिसे सम्मान प्राप्त था, वह राजस्त्री। मेरा हृदय तिल-तिल कर टूटने लगा। मेरे भाग्य में जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उनको साक्षात् अपने जीवन में देखने की परिस्थिति क्या स्वयं उस दैव के सामने भी कभी आयी होगी? मेरी जन्मदात्री मेरे सामने स्वयं को याचक समझ रही थी।

"दिया। यह अभय कर्ण तुम्हें देता है। युद्ध में एक अर्जुन के सिवाय मैं किसी का भी वध नहीं करूँगा। जाओ, यदि अर्जुन मारा गया तो मुझ समेत तुम्हारे पाँच पुत्रों जीवित रहेंगे और यदि मैं मारा गया तो तुम्हारे पाँच पुत्र ज्यों के त्यों सुरक्षित रहेंगे। ही। ध्यान रखना, यह दान है—यह बात किसी से कहने का प्रयत्न मत करना। यह अभय है, वचन है। विश्व के इस विराट् प्रसार में कौन किसको क्या दान कर सकता

"जाओ, तुम्हारे पुत्रों को राज्य, सम्पत्ति, सिंहासन और कीर्ति चाहिए। और तुम यही समझती हो कि वे अनन्त काल तक इनका उपभोग करते रहेंगे, मानो वे अमरत्व प्राप्त कर आये हैं। परन्तु स्मरण रखना, कर्ण क्या चाहता है, यह तुम नहीं जान सकी हो, हस्तिनापुर का कोई भी व्यक्ति कभी नहीं जान सका है। सुनो, वह चाहता है आर्यों की भावी पीढ़ियों के कोटि-कोटि मनो का अखण्ड, अतुल राज्य । पाण्डवों के अग्रज के रूप में उनको अभय देना मेरा कर्तव्य था। समझ लो, वह मैंने दे दिया। इस अन्तिम कर्तव्य की पूर्ति में मुझे कोई दुख नहीं हो रहा है। यदि मेरी मृत्यु की नींव पर ही पाण्डवों का जीवन टिक सकता हो, तो नींव का वह पत्थर बनना भी मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ। जाओ, तुम्हारे चार पुत्रों पर मेरा 'विजय' धनुष मर्मभेदी बाणों की वर्षा कदापि नहीं करेगा। तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ पुत्र कौन है, इसका निर्णय समय ही करेगा।"

"पुत्र, तुम धन्य हो। मेरी यातनाओं से भी अधिक सघन यातनाएँ जीवनभर चुपचाप सहन करनेवाले तम्हीं मेरे सर्वश्रेष्ठ पुत्र हो। आओ, अपनी यातनाएँ मुझे दें दो। मेरी बाँहों में आ जाओ। एक बार मुझे माता कहकर पुकार लो। मेरे वृद्ध कानों के रन्ध्र और पटल उस पुकार के लिए तरस रहे हैं। कर्ण, एक बार ही मुझे माता कह दो। आलिंगन दे दो।"

प्रकम्पित लता की तरह वह भावनावेग से थरथराने लगी। परन्तु मुझे अब संसार का कोई दृश्य द्रवित नहीं कर सकता था। मैं कल कुरुओं का सेनापति बननेवाला था, आज पाण्डवों की माता के अंक में कैसे जा सकता था ?

"नहीं, वह अधिकार केवल राधामाता का है। जाओ तुम। कदम्ब पर से उत्तरीय खींचकर देह पर डालते हुए तर्जनी से मैंने उसको विदुरजी की पर्णकुटी की ओर संकेत किया। किनारे की तप्त बालू की उष्ण लपटों से उसके शुभ्र केश चंचल हो उठे। विचित्र ढंग से।

बहते हुए आँसुओं को न रोकती हुई वह बालू रौंदती हुई चलने लगी। उसके पद-चिह्नों की पंक्ति बालू पर बनने लगी। उसको देखते ही मुझे एकदम शोण की याद आ गयी। उसके पैरों की ऐसी पंक्ति मैंने अनेक बार इस गंगा के किनारे देखी थी। शोण नहीं था, परन्तु उसकी स्मृतियाँ मेरे हृदय में जीवित थीं। 'वसुभैया, वसुभैया' कहनेवाले उस सारथि-पुत्र से देखा जाये तो मेरा रक्त-मांस का सम्बन्ध ही क्या था ? फिर भी निश्चल प्रेम के बकुल-पुष्प जीवन-भर क्या उसने मुझे नहीं दिये थे ? सूखे हुए बकुल-पुष्पों की गन्ध जैसे वातावरण में महकती रहती हैं वैसे ही उसके चले जाने पर भी उसकी स्मृतियों की सुगन्ध मेरे अन्तरंग में महक रही थी। एक सारथी होकर भी उसने एक क्षत्रिय पर निःस्वार्थ प्रेम की वर्षा की थी, और....मैं ! आज नौ महीने तक उदर में भार वहन करनेवाली अपनी साक्षात् जन्मदात्री को ठुकरा रहा था। सत्तर वर्षों का पुत्र-वियोग सहन करनेवाली अपनी माता का तिरस्कार कर रहा था। अच्छा हो या बुरा, जो जीवन मुझे प्राप्त हुआ था वह क्या उसी के कारण अस्तित्व में नहीं आया था ? योद्धाओं के इस जगत् में सबने एक सेनापति के रूप में मेरा जो सम्मान किया है, उस बड़प्पन का मद लेकर ही भावी जीवन बिताना है क्या ? उसने अपने लिए मुझसे ऐसी कौन-सी वस्तु माँगी थी ? मैं एक बार 'माता' कहकर पुकार लूँ, यही तो। जीवन-भर समस्त कर्तव्यों का सूक्ष्मता से पालन करनेवाला मैं आज पुत्रकर्तव्य से वंचित होता हुआ न जाने कहाँ जा रहा था। भविष्य में वह फिर कभी मुझसे मिल सकेगी, यह कैसे कहा जा सकता था ? सबके द्वारा वन्दित वह राजमाता एक पक्षिणी की तरह मेरे उत्तरीय की छाया में कितनी देर तक खड़ी रही थी, यह बात भी मेरी समझ में क्यों नहीं आ सकी ? कीर्ति का और महत्ता का मद सुरा के मद से अधिक होता है, यह क्या सत्य नहीं ? कौन किसका सेनापति ? कैसा योद्धा ? कैसा महारथी ? जो अपनी माता को ठुकराता है, उसको कहीं किसी स्वर्ग की प्राप्ति की आशा करने का क्या अधिकार है ? मातृश्रद्धा ही स्वर्ग है। वही है मुक्तिस्थान ।

"मात, ठहरो !" दोनों हाथ उठाकर मैंने उसको पुकारा । अरण्य में मार्ग भूले बछड़े का रँभाना सुनकर जैसे कोई गाय पूँछ उठाकर तथा कान खड़े कर अन्धाधुन्ध दौड़ने लगती है, वैसे ही वह अपनी वय, स्थान, समय, अवसर सब कुछ भूलकर मेरा 'मात' शब्द सुनते ही दौड़ पड़ी। मरुस्थल की लपलपाती ज्वालाएँ भी उसकी विरहाग्नि के सम्मुख मुझे फीकी लगीं। पास आते ही उसके चरणों पर लोटता हुआ मैं बोला "मात, अपने इस कर्ण को क्षमा कर दो ! तुम्हारे पाँच पुत्रों को तुम्हारे कारण परमोच्च बिन्दुओं के क्षण प्राप्त हुए....आनन्द के, लोकप्रियता के, वैभव के, गौरव के। इसके लिए उन्होंने शत-शत बार तुम्हारा वन्दन भी किया होगा। मात, आज तुम्हारा प्रथम पुत्र तुम्हें पुत्ररूप में पहली बार वन्दन करता है। कदाचित् यह अन्तिम भी हो। किस लिए कर रहा हूँ मैं यह ? इसलिए कि तुम्हारे कारण ही....केवल तुम्हारे ही कारण मुझे भी परमोच्च बिन्दु का एक क्षण प्राप्त हुआ....यातनाओं का ।" मेरे नेत्रों की अश्रुओं की धार उसके चरणों पर लगे हुए बालु-कणों को धोने लगी। उसके नेत्रों से बहता हुआ उसकी पवित्र आत्मा का जल मेरे मस्तक पर टप-टप् गिरने लगा। अब यदि देह की मुट्ठी-भर बालू बन जाती और वह बालू इस मरुस्थल में विलीन हो जाती तो भी क्या बिगड़नेवाला था ?

"उठ !" मेरे मस्तक पर हाथ फेरकर काँपते हाथों से उसने मुझे उठाया। भर्राये स्वर में भरे हुए नेत्रों से वह बोली, "कितना...कितना लम्बा हो गया है रे तू ! मुझसे भी अधिक !" आवेग से पास खींचकर उसने मुझे अपने प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया। उसकी ठिंगनी देह में हिमालय के उच्च शिखरों को भी लज्जित कर देनेवाला मातृहृदय देखकर मेरा जीवन कृतार्थ हो गया। नेत्रों से कृतार्थता के, धन्यता के तुषार-कण उसके मस्तक के शुभ्र-केशों पर गिरकर कहने लगे, "मात, तुम्हारे धवल केशों की तरह ही तुम्हारा जीवन धवल है, पवित्र है, शुचिभूत है। मेरा त्याग कर देने पर भी, चाहे जगत् कुछ भी कहे।

क्षण-भर को उसने अपना मस्तक मेरे वक्ष पर टेक दिया। कहीं वह मेरे हृदय की धड़कनों से 'माता, माता' की पुकार तो नहीं सुनना चाहती थी ?

उसके और मेरे मिश्रित अश्रुओं से पैरोंतल की तप्त बालू भी क्षण-भर को शान्त हो गयी। आस-पास के मरुस्थल को कौन-सा आनन्द मिल गया था ! तेज के पुत्र का अपनी तेजस्वी माता से पुनः मिलना—यह सूर्यदेव को बताने के लिए वहाँ तप्त मरुस्थल के अतिरिक्त और कौन था ? उससे लहराती हुई निकलने वाली तप्त लपट ऊँची, बहुत ऊँची जाकर गगनमण्डल में मेरे पिता से कहने वाली थी, "तुम्हारे चिरविरही पुत्र को उसकी चिरविरहणी माता मिली है !"

"यह रही तुम्हारी स्मृति, जो मैंने सँभाल रखी थी।" उसने अंशुक के छोर में बँधी हुई, दिग्विजय से लौटने पर आश्रमकन्या की टोकरी में डाली गयी मेरी अंगूठी को मेरी कनिष्ठिका में पहना दिया। उसमें लगा हुआ पुष्कराज चमकने लगा।

"चलता हूँ मैं । पुनः एक बार उसके चरणों को स्पर्श कर मैं बालू रौंदता हुआ चल पड़ा । वह भी पर्णकुटी की ओर मार्गस्थ हो गयी।

सोलह

“दानवीर, दिग्विजयी अंगराज महाराज ss कर्ण !” घोषकार ने जैसे ही घोषणा की, शिविर में बैठे हुए नीलध्वज, जलसंघ, भगदत्त, सहदेव, समितिजय, महौजस्, हेमकम्पन, सायमनी, विपाट, रुचिपर्वा, वीरधन्वा, वसुमित्र, जयवर्मन्, जयद्रथ, प्रताप, सुतंजय, दरद, सुनामन आदि सेना-प्रमुखों ने खड़े होकर मेरा प्रेमपूर्वक स्वागत किया। सेनापति का चयन करने का प्रस्ताव अश्वत्थामा ने रखा। चर्चा प्रारम्भ हुई।

दुर्योधन ने तपाक से उठकर सेनापति पद के लिए मेरा नाम सुझाया । अनेक ने अपने हाथ उछालकर उत्साह से उसका समर्थन किया। वे यह भूल रहे थे कि साक्षात् परशुधारी परशुराम को पराजित करनेवाले पितामह उनके बीच थे। इसलिए मैं ही उठकर खड़ा हुआ । सब समझे कि मैं सेनापति-पद स्वीकार करने के लिए खड़ा हुआ

“मेरी इच्छा है कि हमारी कुरुसेना का सेनापतित्व पितामह स्वीकार करें। उनमें भगवान् परशुराम को भी पराजित करने का सामर्थ्य है !” मैंने सबका भ्रम दूर किया । एक स्वर से सबने सेनापति के रूप में पितामह का जयजयकार किया। उसमें केवल दुर्योधन ने ही अपना स्वर नहीं मिलाया। क्योंकि वह मुझे सेनानायक बनाना चाहता था और उसके विचार को मैंने आघात पहुँचाया था। परन्तु सभी योद्धाओं के सामने वह कुछ भी कह नहीं सकता था।

पितामह ने आसन से उठकर सेनापति-पद स्वीकार करने की घोषणा की। राजपुरोहित ने उनकी कलाई में धवलपुष्पों की माला बाँधकर उनको अभिषेक से अलंकृत किया। कुरुओं के सेनापति युद्ध की योजना सेना प्रमुखों को सुनाने लगे :

“स्मरण रहे, जब कोई युद्धनियम भंग कर देता है, तब युद्ध अनुचित दिशा की ओर मुड़ जाता है। आप लोग योद्धा हैं, हत्यारे नहीं। तुम्हारी धैर्यपूर्ण सहायता के बल पर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि श्रीकृष्ण से शस्त्र उठवाकर ही रहूँगा। इसलिए मैं जिन-जिन पथक-प्रमुखों के नाम सेनानायक के रूप में बता रहा हूँ, उनको अपने स्थान बिना किसी सूचना के नहीं छोड़ने हैं। आज्ञा का पालन ही विजय की आत्मा है।

“सारथिदल का प्रमुख प्रातिकामन् रहेगा। वह मद्रराज शल्य के नेतृत्व में सारथियों का विभाजन करेगा। उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारी रथ संख्या दो लाख चालीस हजार है। कहीं भी सारथी कम न रहें—यह सावधानी शल्य और प्रातिकामन रखेंगे।

“गजदल का नेतृत्व दुःशासन करेगा। अलम्बुस, अलायुध और अंगारक—ये राक्षसराज उसकी सहायता करेंगे। गजदल की संख्या रथदल के बराबर ही है। ये लोग आज ही

गजदल के प्रत्येक हाथी पर अम्बारी चढ़वा लेने की तैयारी प्रारम्भ कर देंगे।

"अश्वदल का नेतृत्व शकुनि करेंगे। संजय, क्षेमधूर्ति, चिरवासस और अश्वत्थामा उनकी सहायता करेंगे। अश्वदल की संख्या सात लक्ष इक्कीस सहस्र है। यह अश्वदल उनकी आज्ञा के बिना बिलकुल नहीं हिलेगा।

"पदातिदल का नेतृत्व दुर्योधन करेगा। जयद्रथ, समुद्रसेन और इन्द्रवर्मा उसकी सहायता करेंगे। पदातिदल की संख्या बारह लक्ष तीन सहस्र है। यह पदातिदल कभी अपने ही गजदल के सामने नहीं आयेगा—ये लोग इसका ध्यान रखेंगे।

"हमारे सैन्य की कुल संख्या- 'चौबीस लक्ष, पाँच सहस्र सात सौ' है। यह सैन्य चार प्रमुख विभागों में विभक्त होगा। रथ, हाथी, अश्व और पैदल। कितनी ही भयंकर परिस्थिति क्यों न आये, कोई भी दल एक-दूसरे में मिलकर अव्यवस्था उत्पन्न नहीं करेगा--यह सावधानी दलनायकों को बड़ी गम्भीरता से रखनी है।

"पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनाकिनी—इनकी अनुशासनबद्ध हलचल करती हुई प्रत्येक अक्षौहिणी विजय की ओर प्रयाण करेगी। इस महायुद्ध में सबसे अधिक पराक्रम रथदल पर अवलम्बित है। इसीलिए अब मैं रथदल के महारथी, अतिरथी, अर्धरथी और रथियों की नियुक्ति कर रहा हूँ। द्रोण और कृप ये दोनों महारथी समस्त सैन्य की देखरेख करेंगे।

"अश्वत्थामा, जयद्रथ, शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण, शल्य, चित्रसेन, विविशन्ति, दुःसह, जय, सत्यव्रत और पुरुमित्र महारथी हैं। ये चाहे जिस समय रथदल का नेतृत्व कर सकेंगे।

"क्षेमधूर्ति, लक्ष्मण, विन्द, अनुविन्द, अपराजित, उलूक, सहदेव, भगदत्त—ये अतिरथी उनके पीछे-पीछे आगे बढ़ते हुए उनको शक्तिशाली बनायेंगे।

"कुहर, करकाक्ष, अम्बष्ठक, आर्जव, क्रथ, गवाक्ष और कर्ण अर्धरथी हैं। कर्ण को मैं अर्धरथी बता रहा हूँ। यह सुनकर सबको आश्चर्य होगा। परन्तु कवच-कुण्डलरहित और शापदग्ध आज के कर्ण की योग्यता अर्धरथी से अधिक नहीं है।"

वह सबसे ज्येष्ठ, निष्पक्ष, न्यायनिष्ठुर और सत्यप्रिय माना जानेवाला कुरुओं का वृद्ध योद्धा, सेनापति-पद के सूत्र हाथ में आते ही, मुझे अर्धरथी के रूप में निर्देश करने लगा, मानो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी हो। हस्तिनापुर की सीमा के बाहर क्या है, यह जिसे कभी ज्ञात ही नहीं था, वह पितामह मद्यपी की तरह दिग्विजयी सेनापति को अर्धरथी कह रहा था। किसी समय जिन योद्धाओं ने मेरे सामने धड़ाधड़ शरण ग्रहण की थी, उन्हीं शत-शत योद्धाओं के सम्मुख अपना इस प्रकार उल्लेख होता हुआ सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया कि उनके सिर के केश अवस्था के अनुभव से श्वेत हुए या सूर्य की किरणों से ? काँपते हुए शरीर

के साथ उनकी बुद्धि भी वृद्ध हो गयी है क्या ? अखाड़े में मुझे अजेय धनुर्धर कहकर मेरा गौरव करनेवाला वह न्यायप्रिय योद्धा क्या यही है ? क्षण-भर पहले सेनापति के रूप में जिसकी नियुक्ति करने के लिए सबने सोत्साह समर्थन किया था, उसी को अर्धरथी कहते हुए क्या उसका सिर फिर गया है ? या, मेरे मस्तक पर बहुत-से लोगों ने अवहेलना के जो अंगारे रखे थे, उनमें कुछ कमी होने के कारण युद्ध से पूर्व वह इस पवित्र कर्म को स्वयं कर रहा है ? मैंने यह माना था कि संसार में सत्य उसके रूप में आज भी जीवित है, क्या वह मुझे यह विश्वास कराना चाहता है कि मेरी मान्यता असत्य है ? मुझे ठुकरानेवालों में कोई भी वृद्ध अब तक नहीं रहा था, इस कमी को वह आज सभी योद्धाओं के सामने पूर्ण कर रहा है क्या ? भीष्म ! गंगापुत्र, परशुराम शिष्य, श्रीकृष्ण भक्त भीष्म ! सेनापति-पद के योग्य एक दिग्विजयी वीर का एक क्षुद्र अर्धरथी के रूप में निर्देश कर रहा है...आह ! मुझे ऐसा लगने लगा जैसे इस संसार में सत्य का अस्तित्व बिलकुल नहीं रहा ।

कानों के रन्ध्र सरसराते हुए तप्त होने लगे। कण्ठ की नसें फूल गयीं। आँखों के चन्द्र-सूर्य सन्तप्त हो गये। तो आज इस कपटी वृद्ध का दान भी इसकी झोली में डालना पड़ेगा। वह गंगा में खड़ा होकर तप करनेवाला सूर्यभक्त था, फिर भी साक्षात् सूर्यपुत्र को नहीं पहचान पा रहा था। आज उसको इसकी पहचान करानी ही पड़ेगी। ठीक है। कर्तव्य करते हुए यदि श्रद्धा और स्नेह को इतनी कठोरता से दूर ही करना पड़े तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। खोंडर में बैठी हुई चमगादड़ और अधिकार के आसन से चिपके हुए दम्भी वृद्ध—इनमें कोई अन्तर नहीं होता। दोनों ही अन्धे हो जाते हैं। अज्ञान से अथवा अहंकार से उन्हें यह कभी दिखाई ही नहीं पड़ता है कि संसार में क्या हो रहा है। उनकी आँखें खोलने का समय आ गया था। मैं तपाक् से उठ खड़ा हुआ ।

"पितामह, मैं अर्धरथी ही क्या सादा अंशरथी भी नहीं हूँ। मैं हूँ केवल एक सारथी का पुत्र । परन्तु स्मरण रखिए, आपके अहंकारी नेतृत्व में यह साधारण स्वाभिमानी सारथिपुत्र लड़ने को इच्छुक नहीं है—यह बात आज मैं सभी विक्रमी योद्धाओं को बता देना चाहता हूँ। जबतक अर्जुन के अमोघ बाणों से महारथी कहलानेवाले आप आहत होकर धरती पर नहीं गिरेंगे, तब तक यह कर्ण हाथ में शस्त्र धारण नहीं करेगा। जाइए, अपने नेतृत्व की सम्पूर्ण शक्ति दावँ पर लगाकर किसी एक ही पाण्डव को मौत के घाट उतारने का विक्रम दिखाइए और फिर उसके बाद ही इस कर्ण को अपने महारथीपद का गौरव-गान सुनाइए ! पाण्डवों की हाँ में हाँ मिलाने में बीता हुआ आपका आयुष्य यह विक्रम करने में असमर्थ है।

"कुरुओं के सेना प्रमुखो, मुझको क्षमा कीजिए। मैं आप लोगों को एकाकी छोड़कर जा रहा हूँ। आज सभी कुछ उलटा हो गया है। हिमालय के शिखर से भी ज्वालामुखी का उद्रेक हो रहा है। कण्ठ में पड़ी हुई पुष्पमाला भुजंग बनकर आज कुरुओं के कण्ठनाल को ही डस रही है। इसीलिए सावधान रहने का संकेत-भर कर रहा हूँ। सँभल जाइए ! इस दम्भी और

कपटी वृद्ध का पतन होते ही मुझे आवाज दीजिएगा ! मैं सेवा के लिए तत्पर हूँ। वचन के प्रति जागरूक हूँ। शब्द के प्रति निष्ठावान् हूँ। लेकिन आज मुझे क्षमा कर दीजिए। पृथ्वी का सर्वनाश भले ही हो जाये, लेकिन इस सेनापति के नेतृत्व में लड़ने में मैं असमर्थ हूँ। मैं रणांगण के भय से मुँह मोड़कर पलायन कर रहा हूँ—यह आरोप लगाने का साहस कोई न करे, क्योंकि मैं रणांगण नहीं छोड़ूंगा। युद्ध भूमि में बने अपने शिविर को छोड़ मैं राजनगर नहीं जाऊँगा।"

किस पर क्या प्रतिक्रिया होगी-यह देखे बिना ही मैं तत्क्षण वहाँ से बाहर निकल आया। विक्षुब्ध महासागर में लहरों के साथ जूझता, असंख्य थपेड़े खाता हुआ, शुष्क लकड़ी का कुन्दा अन्त में सागर के किनारे आकर निश्चेष्ट पड़ जाता है वैसे ही मेरा मन भावशून्य और संज्ञाहीन होकर शरीर में कहीं निश्चेष्ट हो गया था।

युद्धभूमि के किनारे पर खड़े-खड़े इतर योद्धाओं के पराक्रमों का वर्णन सुनने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

अब यदि भीष्म पितामह आहत होकर न गिरे तो ? केवल इस विचार मात्र से मन और अधिक सुन्न हो गया।

सत्रह

मेरे शिविर से युद्धभूमि का विशाल समरांगण सामने स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। सत्यसेन के अतिरिक्त शिविर में कोई भी नहीं था। दुर्योधन और अश्वत्थामा के अतिरिक्त अन्य किसी को भी भीतर मत आने दो-यह कठोर आज्ञा उसे मैंने दे रखी थी। वह सैन्य की महत्त्वपूर्ण सभी सूचनाएँ मुझे सुना रहा था। विदर्भ से आये हुए धैर्यशाली रुक्मी राजा को दुर्योधन ने अपनी सेना में सम्मिलित नहीं किया था। उसको यह आशंका थी कि रुक्मी ठीक समय पर पाण्डवों की सहायता करेगा। हाँ, नकुल-सहदेव के सगे मामा मद्राज शल्य को उसने स्वीकार कर लिया था। इतना ही नहीं, अपितु सारथियों का दल उसके अधीन करके अपनी सेना की पतवार पितामह ने पाण्डवों के सम्बन्धियों के हाथ में ही दे दी थी।

रुक्मी, भूरितेजस् और भूमिपाल-ये राजा दोनों ओर से तटस्थ समझे गये। दोनों सैन्यों में उनके ध्वज कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। पूर्व की ओर पाण्डवों के शिविर कुरुक्षेत्र के आस-पास लगने लगे। मत्स्य, पांचाल, राक्षस आदि के ध्वज सामने फहराते हुए दिखाई देने लगे। उनकी सैन्य-संख्या बहुत ही कम दिखाई दे रही थी। उनकी सैन्य-संख्या पन्द्रह लक्ष के आस-पास थी। सत्यसेन का अनुमान था कि उनकी यह सेना कुरुओं की टक्कर के सामने

टिक न सकेगी। पाण्डवों ने अर्जुन को सेनापति नियुक्त किया है—यह समाचार कुरुसेना में फैल गया था।

मेरे सामने अर्जुन का नन्दीघोष रथ सिर पर कपिध्वज धारण किये भव्यता से खड़ा था। परन्तु मेरा जैत्ररथ मस्तक पर हाथी की शृंखला और दण्डांकित ध्वज लिये रथदल में यों ही पड़ा हुआ था। पितामह ने उसके चक्र उखाड़ डाले थे। क्यों ? जीवन के अन्तिम समय में इतना बड़ा पातक उस वृद्ध क्यों किया ? क्या केवल अर्जुन के प्रेमवश ? आसन पर बैठकर शिविर की श्वेत छत से मैं असंख्य प्रश्न पूछ रहा था। एक का भी उत्तर नहीं मिल रहा था। रात में जलनेवाली मशाल की तरह मन जल-जलकर रात्रियों को जगा रहा था। राधा माता, अधिरथ, वृषाली, सुप्रिया, सत्यसेन, मेघमाला, मेरे सात पुत्र और मीनाक्षी-ये ही वास्तव क्या मेरे अपने नहीं थे ? किन्तु प्रतिज्ञा के कारण राजनगर में जाकर उनसे मिलना सम्भव नहीं था।

वृषसेन, चित्रसेन, सुदामा, प्रसेन, सुशर्मा और भानुसेन-मेरे ये छह पुत्र योद्धाओं के वेष में मेरे सामने उपस्थित हुए। वे कुछ भी नहीं कह रहे थे। जब मैंने प्रश्न किया तो सबसे ज्येष्ठ वृषसेन धैर्यपूर्वक बोला, “महाराज, यदि आप रणांगण में नहीं उतरेंगे तो हम भी वेष उतारकर चुपचाप बैठे रहेंगे।” उनके विचारों से मुझे बड़ा धक्का लगा। पिता से एकनिष्ठ रहते हुए वे राजनिष्ठा को पैरोंतले रौंद रहे थे।

“मेरे पुत्रो ! ध्यान रखो, तुम मेरे पुत्र हो फिर भी कुरुयोद्धा हो। तुम्हारा सेनापति तुम्हें जो आज्ञा दे, उसे सिर झुकाकर तुमको माननी चाहिए। अपनी माता के, महामाता के और पिताजी के आशीर्वाद लेकर सेनापति के पीछे-पीछे समरांगण में उतरो। जाओ, यह तुम्हारे पिता की आज्ञा है तुम्हें।” मैंने शिविर के जालीदार गवाक्ष से बाहर दृषद्वती के जल की ओर देखते हुए उनको आज्ञा दी।

“जो आज्ञा, तात !” वे मुझे वन्दन करके चले गये। उनमें वृषकेतु कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था।

“वृषू क्यों नहीं आया मुझसे मिलने ?” मैंने अपने आपसे ही प्रश्न किया।

“वह आपसे रूठ गया है। आप राजनगर जाने को तैयार नहीं, इसलिए।” सत्यसेन ने समझा कि मैंने उससे ही कुछ पूछा है, इसलिए उसने तत्परता से आगे बढ़कर उत्तर दिया।

“सत्यसेन, जाओ, उस नटखट को किसी बहाने शिविर तक ले आओ। उसको समझाना आवश्यक है।

अठारह

कुरुक्षेत्र के आस-पास की छावनियों में ज्योत्स्ना में नहाते हुए शिविर शान्त खड़े थे। मेरे जीवन-शिविर पर प्रेम-ज्योत्स्ना की वर्षा करनेवाले मेरे स्वजन राजनगर के राजभवन में थे। मैं कुरुक्षेत्र के किनारे शिविर में शय्या पर पड़ा हुआ न आनेवाली निद्रा को प्रसन्न करने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था।

साठ वर्ष पहले शोण के साथ जब हस्तिनापुर आया था, तब यदि किसी ने कहा होता कि तेरे जीवन में ये-ये घटनाएँ होनेवाली हैं, तो उस समय मैंने उसपर कभी विश्वास न किया होता। आज वह सब घटित हो रहा था। अनपेक्षित विस्मयजन्य, जिह्म बाण की तरह टेढ़ा-मेढ़ा। अब उसके अनेक मोड़ों का स्मरण भी नहीं था। जिन घटनाओं को भूलना चाहता था, उनको भूल नहीं पा रहा था। मेरे शिविर के चारों ओर छावनियों में लेटे हुए असंख्य शिविरों की तरह मेरी स्मृतियाँ भी थीं। आकाश में चन्द्रमा के साथ चमचमाती हुई तारिकाओं की तरह वे अगणित थीं। दृषद्वती की लहरों की तरह, जिन्हें गिना नहीं जा सकता। निद्रा मुझपर प्रसन्न नहीं हो रही थी, इसलिए शय्या से उठकर चन्द्रिका सिर पर धारण करता हुआ युद्धभूमि में पहुँचा। श्वेतशुभ्र राख की पट्टियाँ देह पर लगाये हुए उस समरांगण को देखकर एकदम मामाजी के द्यूत का पट याद आ गया। इस धरती के पट पर कल से असंख्य जीवनों का द्यूत खेला जायेगा। जो पासा मृत्यु डालेगी वही प्रत्येक को स्वीकार करना होगा। चुपचाप। हर स्थान को नियति कितना पुण्य-पावन कर देती है। इसी भूमि पर महाराज कुरु ने असंख्य महायज्ञ किये थे। कल से यहाँ जीवनयज्ञ प्रारम्भ होगा। झुककर एके मुट्ठी मिट्टी हाथ में लेकर मैंने मस्तक से लगायी। मिट्टी ! दुर्योधन की राजनीति, अश्वत्थामा का आत्मिक गम्भीर ज्ञान, मामा का कपट, दुःशासन का अविचार, पितामह की विवशता-भरी तटस्थता, गुरु द्रोण की सामाजिक आदर्श की भ्रान्त कल्पना, महाराज धृतराष्ट्र के अन्धे नेत्रों के पीछे छिपा हुआ सनेत्र स्वार्थ, विदुर जी का अयशस्वी संन्यास, मेरा जीवन-भर का विभ्रम, पाण्डवों का मेरे सम्बन्ध में अज्ञान, कुन्तीमाता का हृदय द्रवित कर देनेवाला दुःख, गान्धारी देवी के जान बूझकर मूँदे गये नेत्र, राधामाता की पाषाण को भी द्रवित कर देनेवाली अवाक्-मूक ममता, शोण का निरलस प्रेमभाव, वृषाली और सुप्रिया के शालीन स्त्री-हृदय, मेरे पुत्रों का आज्ञापरक मनोभाव, कुरुओं की और पाण्डवों की सेनाओं में शस्त्र हाथ में लेकर खड़े होनेवाले प्रत्येक सैनिक की असीम राजनिष्ठा, मित्रनिष्ठा या तत्त्वनिष्ठा, श्रीकृष्ण से प्रकट होनेवाला अद्वितीय क्षात्र तेज—यह सब इस मिट्टी से ही उत्पन्न होकर प्रवृद्ध नहीं हुआ था क्या ?

मैंने वह मुट्ठी-भर मिट्टी अपने उत्तरीय के छोर में श्रद्धापूर्वक बाँध ली। चन्द्रिका में निखर उठनेवाली राख की पट्टियाँ कल अस्तित्वहीन हो जायेंगी। वर्षा के जल के अतिरिक्त किसी से भी न भीगनेवाला यह कुरुक्षेत्र कल रक्त, स्वेद और अश्रुओं से भीग जायेगा। द्रव द्रव से मिलेगा, मूल तत्त्व पंचमहाभूतों से मिलेगा, आत्माओं की अमर ज्योतियाँ परमात्मा की

तेजोनिधि से मिलेंगी। इस युद्धभूमि के निनाद भविष्य में युगों-युगों तक आर्यभूमि में गूंजते रहेंगे। चालीस लक्ष योद्धाओं की अस्सी लक्ष भुजाओं के पराक्रम का वर्णन करने में भावी पीढ़ियों के कोटि-कोटि हाथ भी समर्थ नहीं होंगे। उनका गुणगान कोटि-कोटि मुख भी नहीं कर पायेंगे। सरस्वती का धवल पात्र ऐसे ही बहता रहेगा। इस युद्धभूमि के अवाक्, नीरव, निःशब्द धूलिकण सूर्यप्रकाश में अनन्तकाल तक ऐसे ही चमकते रहेंगे।

"हे पुण्यपावन आर्यभूमि, प्रणाम ।"

दोनों हाथ जोड़कर मैंने उस संग्रामभूमि को सिर झुकाकर प्रणाम किया। शिविर में आकर शय्या पर लेटते ही मुझे गाढ़ निद्रा आ गयी।

उन्नीस

श्रीकृष्ण द्वारा नियत किया हुआ कृष्णा द्वितीया का दिन सुवर्ण किरणों के आभूषण लेकर उदित हुआ।

शिविर से बाहर आकर मैंने चारों ओर दृष्टि डाली । जैसे वल्मीक से दीमक बाहर निकलती हैं वैसे ही लौहत्राण पहने हुए सैनिक योद्धा एक के बाद एक झटपट अपने-अपने शस्त्र उठाते हुए शिविरों से निरन्तर बाहर निकलने लगे। नन्दक, निकुम्भ, द्रुमसेन, प्रभंकर, रुचिपर्वा, ललित्थ, वसुचन्द्र, सेनाजित्, सुधनु, भूरिश्रवा, जयरात, रुक्मरथ, सिद्धार्थ, भानुदत्त, गोवासन, शाल्व, जयत्सेन, दमन, शतचन्द्र, शक्रदेव, धृतायुध, विभु, वज्रहस्त, सोमदत्त, संयमन आदि सभी अपने-अपने पथकों की रचना करने लगे।

'दो लक्ष-चालीस सहस्र' रथदल के महासागर में चुने हुए रथी, अतिरथी और महारथी समाविष्ट हो गये। शिविर सूने हो गये। सात लक्ष धूमिल, श्वेत, श्याम और ताम्रवर्णी सशक्त घोड़े कन्धे से कन्धे मिलाकर पर्याण धारण किये पंक्तियों में खड़े हो गये। वल्गाएँ उछलने लगीं। पूँछों की रोमराजि फूल उठी। कानों के अग्रभाग खड़े हो गये। 'ढाई लक्ष' हाथियों का काला महासमुद्र पीठ पर अम्बारियों के गोल-पटल लिये हलचल करने लगा। फड़फड़ानेवाले काले कानों की लहरें उसपर उभरने लगीं। बीच में ही, जैसे देवमत्स्यों के झुण्ड के असंख्य मत्स्य जलपृष्ठ पर तैरने लगते हैं वैसे ही, पुष्ट काली ढूँढ़े राजहंस की तिरछी ग्रीवा की तरह सुन्दर मोड़ लेकर प्रकट होने लगीं। 'बारह लक्ष' पदातिदल के आधे से अधिक पदाति उनको कुम्भ भर-भरकर मद्य पिलाने लगे। पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनाकिनी और अक्षौहिणी आकार ग्रहण करती हुई राजदण्डाकृति सैन्य रचना करने लगीं। उनकी हलचलों से थरथराते हुए बाण, भाले, त्रिशूल, खड्ग, तोमर आदि के फलों पर से परावर्तित होनेवाली किरणें आकाश के अनन्त खोखलेपन में छिपे हुए

स्वर्ग के साम्राज्य को खोजने लगीं। पितामह, गुरु द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, जयद्रथ, मामा, दुर्योधन, दुःशासन, भगदत्त, विकर्ण, कृतवर्मा, सोमदत्त, सहदेव, केतुमत्, विन्द, अनुविन्द शिरस्त्राण धारण कर चतुरंग दल में घूमते हुए सैन्यरचना करने लगे।

वह दिन उदित हो रहा था जिसकी जीवन-भर प्रतीक्षा करने में मैंने एक-एक क्षण बिताया था, परन्तु शिविर के द्वार पर खड़े होकर, जीवन का ताण्डव-नृत्य देखनेवाले एक तटस्थ प्रेक्षक के अतिरिक्त मैं इस समय कुछ भी नहीं कर सकता था।

"कर्ण, चलते हैं हम !" दुर्योधन और अश्वत्थामा मेरा आलिंगन कर भारी पदक्षेप करते हुए अपने शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरे हुए सुसज्जित महारथ पर आरूढ़ हो हो गये। मेरे छह पुत्रों ने मेरी चरणधूलि मस्तक से लगायी।

"अपनी माताओं का, राधामाता का, पिताजी का, सत्यसेन-मेघमाला का आशीर्वाद ले लिया है न ? शोण चाचा की समाधि पर सुगन्धी पुष्प चढ़ाकर आये हो न ? अपनी पत्नियों के मस्तक अँगूठे के उष्ण रक्त से सौभाग्यान्वित कर दिये हैं न ?" इस प्रकार मैंने उनसे अनेक प्रश्न किये ।

"सबके आशीर्वाद प्राप्त कर लिये हैं। आपके चाहिए ।' कमर में लटका हुआ खड्ग असिकोश से खींचकर उसको तिरछा पकड़कर घुटने टेकता हुआ वृषसेन सिर झुकाकर बोला।

"जाओ, मेरे वीर पुत्रो, एकनिष्ठा से लड़ो।" मैंने उन छहों को दोनों भुजाएँ फैलाकर अंक में भर लिया। मेरे पिता ने मुझे यद्यपि मनमाने ढंग से घुमाया-फिराया था, किन्तु मैं अपने पुत्रों को क्षण-भर भी पितृत्व से वंचित नहीं करना चाहता था। उनके कन्धे थपथपाकर; उँगली से संकेत करते हुए मैंने कहा, "जाओ, कर्ण युद्ध में नहीं है, इस कमी को कोई भी सैनिक अनुभव न करने पाये। और....और रणांगण पर पैर रखने से पहले दृषद्वती के स्वच्छ जल से पाँच-पाँच अंजलियों का अर्घ्यदान सूर्यदेव को देना मत भूलना। जाओ।"

वे शान्त चित्त से सेना में समाविष्ट हो गये। रणभेरी, आनक, गोमुख, दुन्दुभी, मृदंग, नगाड़े, डिण्डिम आदि रणवाद्यों का गगनभेदी सम्मिश्र कोलाहल उठते ही अर्धनिद्रित विहग नीड़ छोड़कर सन्त्रस्त कलकल ध्वनि करते हुए मैनाक पर्वत की ओर उड़ गये। हाथियों की मर्मभेदी चिंघाड़, घोड़ों की प्रेरक हिनहिनाहट, महाराज धृतराष्ट्र का नाम ले-लेकर कुरुयोद्धाओं द्वारा की गयी कर्कश गर्जनाएँ-इनसे दृषद्वती की चंचल जल-लहरियाँ भी घबराकर और अधिक थरथराने लगीं। सैनिक इस प्रकार इकट्ठे हो गये थे जैसे पारिजात-पुष्पों की बौछार पड़ गयी हो ।

काषाय वर्ण का, लम्बे ध्वजदण्ड के सिर पर फरफराता हुआ कुरुओं का त्रिकोणी राजध्वज पितामह ने अपने राजरथ पर धारण किया। उसकी फरफराहट नीले आकाश पर

थपेड़े लगाने लगी। दोनों हाथों के बीच रिक्त स्थान में घुमावदार शंख लेकर सेनापति भीष्म ने कण्ठ की त्वचा फुलाकर, दाढ़ी के केश तानते हुए, जोर से फूँका। उसका निनाद आस-पास के वातावरण में फैल गया। वीरों की बलवान भुजाएं स्फुरित हो उठीं।

“आऽऽऽऽरूऽऽऽढ !” दोनों हाथ उठाकर उन्होंने धनुष को उठाते हुए आज्ञा दी। कुरुओं की पचीस लाख सेना राजदण्ड का आकार आगे सरकाती हुई राख की पट्टियों का उल्लंघन कर कुरुक्षेत्र के समरांगण की ओर ऐसे बढ़ने लगी, जैसे वर्षाऋतु से पूर्व के गरजनेवाले मेघ आकाशमण्डल में आगे बढ़ते हैं। मैंने असह्य भाव से क्षण-भर आँखें बन्द कर लीं। जिनके लिए मैंने अपने बन्धुओं का, माता का, नाता तोड़ दिया था और कर्तव्य समझकर कुरुओं से संलग्न रहा था, मुझपर प्राणाधिक प्रेम करनेवाले वे वीर योद्धा बिना मेरे अब लड़ने निकल पड़े थे। जिनका मैं संचालन करता, अब उनके पराक्रम को दूर बैठकर केवल सुनना भर था। जीवन-भर पीछा करनेवाला क्रूर दैव यहीं मुझसे हाथ कैसे मिला लेता ?

मैंने प्राणों को दार्चे पर लगाकर जिनके राजदण्ड को आर्यावर्त में ऐश्वर्यशाली बनाकर घुमाया था, उनका आज इस संकट की घड़ी में मेरे बिना कोई काम नहीं रुक रहा था। व्यक्ति कितना ही श्रेष्ठ, कितना ही त्यागी और कितना ही योजना-कुशल क्यों न हो, उसके लिए समाज कभी नहीं रुकता। समाज की अखण्ड गंगा बहती ही रहेगी। अन्दर के जल-बिन्दु बदल जायेंगे, जो आज हैं वे चले जायेंगे, कल नये आयेंगे, गंगा ऐसे ही बहती रहेगी। मैं ही अपने जीवन को इतना मूल्यवान् क्यों समझू ? किसी व्यक्ति को यह समझना भी नहीं चाहिए—यही बात कुरुओं की वह विशाल सेना मुझसे कह रही थी। स्थिर भाव से उन संग्रामोत्सुक शूर-वीरों की ओर देखते हुए मैं स्वयं को, अपने सुख-दुखों को, जीवन की कल्पनाओं को, कुटुम्बिजनों को सभी को भूल गया। जीवन-मृत्यु की स्पीरखाँ कितने सहज भाव से कुरुक्षेत्र के आस-पास एकत्रित हो गयी थीं। उन सूर-वीरों को एकत्रित देखकर कोई भी यही समझता कि आकाश के असंख्य सितारे ही किसी ने यहाँ लाकर बिखेर दिये हैं। पर्वतों की सटी हुई पंक्तियों जैसे विशालकाय महारथियों को इतनी प्रचण्ड संख्या में रथारूढ़ होते हुए हस्तिनापुर के राजभवन ने कब देखे थे ? बाह्लीक, सिन्ध, कुलिन्द, मद्र, काम्बोज, गान्धार, मत्स्य, अवन्ती, दरद, आनर्त, दशार्ण, चेदि, द्वारका, काशी, पांचाल, मगध, विदेह, कोसल, अंग, कलिंग, बंग—ऐसा कौन-सा देश था, जिसका राजध्वज कुरुक्षेत्र की परिक्रमा कर उसे मान-वन्दना देने नहीं आया था ? कितना भाग्यशाली, संस्मरणीय दिन कुरुओं की सजनगरी आज देख रही थी !

श्रीकृष्ण के पांचजन्य शंख की आकाश के वितान को भेदनेवाली ध्वनि सुनते ही मेरी तन्द्रा भंग हो गयी। अर्जुन का कपिध्वज धारण किये हुए नन्दीघोष रथ पन्द्रह लक्षों की सेना लेकर सामने से आगे बढ़ा। धूलि के बादल उड़ने लगे। परन्तु उसके रथ के नीलवर्ण सारथी श्रीकृष्ण हँस रहे थे। पन्द्रह लक्ष सेना पाण्डु महाराज का जयघोष कर रही थी। उसमें

अमितौजस, विक्रान्त, द्रुपद, कुन्तिभोज, बार्धक्षेमी, दण्डधर, बृहत्क्षत्र, धृष्टद्युम्न, सात्यकि, अभिमन्यु, काशिराज, क्षत्रंजय, चेकितान, विराट्, युधामन्यु, श्येनजित् और युयुधान—ये महारथी थे। बभ्रु, अदीन, प्रतिविन्ध्य, पुरुजित्, श्रेणीमान, इरावान, शतानीक—ये अतिरथी थे। सिंहचन्द्र, सुक्षत्र, शैव्य, रोचमान, रथसेन, युगन्धर, मणिमान्, महौजस्, मित्रवर्मन्, ब्रह्मदेव, तपन, सुपार्श्व, जनमेजय, सुदामा, सुतेजस्, चित्रकेतु, उग्रसेन आदि अनेक राजा-गण उनके पीछे-पीछे आगे बढ़ रहे थे। अर्जुन, पुधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, सात्यकि, युयुधान, धृष्टद्युम्न—ये अग्रभाग में थे। सुदर्शन चक्र के आकार की रची हुई उनकी सेना चक्कर लगाती हुई सामने से आगे बढ़ने लगी। राजदण्ड के आकार की रचना कर खड़े हुए पितामह ने हाथ उठाकर शंख फूंकते हुए चढ़ाई करने की आज्ञा दी। पाण्डवों ने भी अपने-अपने शंख फूँके। रणवाद्यों के सम्मिश्र निनाद से भयभीत अश्व हिनहिनाने लगे, हाथी चिंघाड़ने लगे। खड्ग, बाण, भाले, शूल-इनके अगणित फल चमकने लगे। रथों के चक्र घरघराने लगे। देश-देश के राजध्वज फरफराने लगे। स्वर्ग के जंग लगे हुए महाद्वार चरमराने लगे। धूल की घटाओं से आकाश का नीला वितान काला पड़ने लगा। आस-पास खड़े वृक्षों के पत्ते तथा तृणपात अंग झटकाकर थरथरा उठे। वर्षानुवर्ष मन के भाते में सँजोये हुए भावना के बाण एक-दूसरे को मुक्त हस्त से दान करने के लिए उद्यत् दोनों सेनाओं के चालीस लक्ष योद्धा आमने-सामने आ डटे। योद्धाओं की लहरें उछालते दो महासागर गरजने लगे।

शिविर के द्वार पर खड़ा रहना मुझे असह्य लगने लगा। मैंने जीवन-भर कुरुओं का नेतृत्व किया था, अब पाषाणमूर्तिवत् दूर खड़ा रहकर उस संग्राम को कैसे देखूँ ? सूतपुत्र के रूप में मेरी जीवन-भर की घुटन मुझे इतनी असह्य कभी नहीं लगी थी, जितनी कि सामने के महासंग्राम का देखना असह्य हो गया था। शरीररूपी लोहे की हाल तप्त हो-होकर प्रखर हो उठी थी। रक्तकणों की गति तीव्र हो गयी थी। खड़ा रहना असम्भव था, इसलिए भीतर आकर आसन पर बैठ गया। दोनों हाथों से मस्तक कसकर दबाने पर भी रक्त का वेग रुक नहीं रहा था। विचारों की चिनगारियाँ बन्द नहीं हो रही थीं। सुदामन ! शोण का उद्ध्वस्त शिरस्त्राण ! प्रतिज्ञा का पालन ! अर्जुन के प्राण ! परन्तु यदि पितामह ने उसका बीच में ही वध कर दिया तो ? मैं वचनभ्रष्ट हो जाऊँगा ! खिन्न होकर पैरों की ओर देखा। बहुत दिनों से उन्हें न धोने के कारण जो धूलि संचित हो गयी थी, वह स्पष्ट दिखाई देने लगी। हृदय में, आँखों में, मस्तक में चुभने लगी। बाहर वाद्यों का कोलाहल शिविर के पटल पर टकरा ही रहा था। कानों के रन्ध्र सुन्न हो गये। चेतना से तो उन्मत्तता अच्छी। ऐसे असहाय जीवन से तो बन्दी बना लेनेवाली मूर्छा अच्छी।

“सत्यसेन !” मैं पूरी शक्ति से चिल्लाया।

"महाराज, आज्ञा !" बाण की तरह भीतर घुसकर वह क्षण-भर में मेरे सामने खड़ा हो गया।

"जाओ, सोमरस का कुम्भ भर लाओ !"

"महाराज, सोमरस के सभी घट रिक्त हो चुके हैं। दो बूंद भी सोमरस अब शेष नहीं है।" वह पूर्ववत् शान्त खड़ा था।

उससे कुछ कहने के लिए मैंने मुँह खोला ही था कि इतने में अकस्मात् सभी रणवाद्यों का निनाद रुक गया। चारों ओर निःस्तब्धता छा गयी। नीरवता, निःशब्दता फैल गयी। भयानक शान्ति ।

"क्यों—क्या हुआ सत्यसेन कह जाओ, क्या पाण्डवों ने शरण स्वीकार कर ली, देखो तो !" सोमरस भूलकर मैंने युद्धभूमि की ओर अँगुलि उठाकर उसे आज्ञा दी।

घोड़ा दौड़ाता हुआ सत्यसेन चला गया। अनेक शंकाओं ने मेरे मन में वात्याचक्र-सा उठा दिया। रणवाद्य एकाएक बन्द क्यों हो गये ? युद्ध को कौन-सी दिशा मिली होगी? क्या हुआ ?

दो घटिकाएँ बीत गयीं फिर भी सत्यसेन वापस नहीं आया। मेरा मन विचारों की गदा घुमा-घुमाकर अन्त में श्रान्त हो गया। तुरन्त समरांगण पर जाकर, क्या हुआ है, यह देख आने का एक विद्रोही विचार भी मन में तैर गया। परन्तु पितामह के पतन के बिना युद्ध में अवतरित नहीं होना है, मेरी यह प्रतिज्ञा चक्कर काटती हुई आँखों के आगे नृत्य करने लगी। असह्य व्याकुलता कष्ट देने लगी।

टप् टप् टप् टप् । अन्त में सत्यसेन का भूरा घोड़ा शिविर की ओर आता हुआ जालीदार गवाक्ष से दिखाई दिया। झटपट उठकर बाहर जाकर मैंने उसकी वल्गा थाम ली।

"क्या हुआ सत्यसेन ? रणवाध कैसे रुक गये ? युद्ध का क्या हुआ ? कौन शरण आया ?" मैंने प्रश्नों के अनेक बाण उस पर फेंके ।

"कोई विशेष बात नहीं हुई महाराज ! अर्जुन ने अपने गुरु, चाचा, मामा, बन्धु, पितामह, सुहृदय को सामने देखकर प्रेमाभिभूत होकर हाथ से 'गाण्डीव' का त्यागकर रथ छोड़ दिया। "आप्त जनों से युद्ध करने के बजाय तीर्थ-क्षेत्र पर जाकर भिक्षा माँगकर जीवन बिताना क्या बुरा है ?" यह प्रश्न उसने श्रीकृष्ण से किया। श्रीकृष्ण ने उसको निश्चित ही कुछ अद्वितीय बोध दिया है, तभी तो वह अब पुनः रथारूढ़ हो गया है। पितामह को और द्रोणाचार्य को वन्दन कर उसने धनुष सँभाल लिया है।" उसने जो स्वेद पोंछा था उसकी धार धरती पर गिरी।

पुनः रणवाद्यों का कोलाहल मचा। शंखों की ध्वनियाँ गूँजने लगीं। क्षण-भर में ही कुरु-क्षेत्र का भव्य समरांगण बाणवर्षा से आच्छादित हो गया। आकाश का नीलापन सत्य है या

असत्य, यह देखने के लिए धूलि के बादल स्वच्छन्द होकर उड़ चले । घोषणा, गर्जना, चीत्कार, वाद्यों के निनाद, रथों की घर-घर-इनका रौद्रसंगीत विश्वकर्ता को जाग्रत करने लगा।

"जाओ, सत्यसेन, तुम भी युद्ध-भूमि में जाओ।" शिविर में प्रवेश करते हुए मैंने उसको आज्ञा दी। पर, मैं एकाकी रह जाऊँगा-यह विचार कर वह टाल-मटोल करता रहा। मेरे प्रति प्रेम के कारण उसका मन बड़ा मृदुल हो गया था।

"यह आज्ञा है सत्यसेन !" मैंने तर्जनी उठाकर उसे युद्ध-भूमि दिखायी। शतघ्नी के दण्ड की तरह वह झापटकर अपने अश्व पर आरूढ़ हो गया। वल्गा उछालता, टप् टप् आवाज करता हुआ चला गया । मैं वहाँ अकेला ही रह गया। आस-पास निर्विकार शिविर, सामने जैत्ररथ—जिसका जुआ धरती पर रखा हुआ था, सुवर्ण-मण्डित विजय धनुष, दिग्विजय में साथ देनेवाला ऊँचा वायुजित्—इनके अतिरिक्त और कौन मेरा साथ दे सकता था ?

शिविर में बैठे रहना असह्य था, असम्भव था। गंगा बहुत दूर रह गयी थी। पितामह का पतन होने तक दृषद्वती का साहचर्य। साधना-स्थल । मस्तक पर से लौहशिरस्त्राण उतारकर सादे वेष में प्रकाश का अन्तिम गहन ध्यान । अर्घ्य की अन्तिम अंजलियाँ ! दृषद्वती में से।

मेरे पैर उसके पुण्यपावन पात्र की ओर अपनेआप मुड़ गये। वाद्यों का कोलाहल अस्पष्ट होता जा रहा था। प्रकाश के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए आकृष्ट मन शान्त होने लगा। "ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।" गायत्री के मन्त्रब्रह्म का अमृत लेकर अंजलि में से दृषद्वती का हिमवत् शुभ्रजल पुनः उसी के पात्र गिरने लगा। आस-पास शुभ्र, धवल प्रकाश ही प्रकाश घनीभूत होने लगा। पीठ तप्त होने लगी। जमते हुए दूध की तरह मन क्षण प्रतिक्षण निग्रही, गम्भीर और सुदृढ़ होने लगा।

बीस

नौ दिन हो गये। इस दीर्घकाल में समरांगण में क्या हुआ और क्या नहीं, इसका समस्त वृत्तान्त प्रतिदिन सन्ध्या-समय सत्यसेन से ज्ञात हो रहा था। अपने भूरे घोड़े को चतुरंग दल में स्वच्छन्दता से दौड़ाया करता और आँखों में खिंचे हुए क्षण-चित्रों को वह प्रतिदिन सन्ध्या-समय शिविर में मुझे सुनाया करता। जैसे ही वे क्षण-चित्र मेरी आँखों के आगे खड़े होते, मेरा सम्पूर्ण अंग अत्यन्त सन्तप्त हो उठता ।

गुरु द्रोण, कृपाचार्य, जयद्रथ, अश्वत्थामा, शल्य, शकुनि मामा, जरासन्ध का वीर पुत्र सहदेव, कृतवर्मा, बृहद्बल, बाह्लीक, भगदत्त, भूरिश्रवा, क्षेमधूर्ति, दुर्योधन, दुःशासन, पितामह के सभी महारथी समरांगण में थे, परन्तु मत्स्य और विराट् की लक्षावधि सेना को

मारने के अतिरिक्त वे किसी पाण्डव-योद्धा का इन नौ दिनों में कुछ नहीं कर पाये थे। पराक्रम की सीमा-रेखा को पार करना उनके लिए कठिन था।

जिन्होंने अपने गुरु साक्षात् जामदग्न्य परशुराम को भी पराजय का काला कलंक स्वीकार करा दिया था, वे पितामह भीष्म सेनापति के रूप में पाण्डवों के आगे कैसे निस्तेज हो गये ? क्या उसका कारण केवल वृद्धत्व था या श्रीकृष्ण का रण-कुशल दावें-पेंच ? नहीं, शायद प्रेम के कोमल पाश उनसे टूट नहीं रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति को आबद्ध कर लेनेवाले प्रेम की आसक्ति के लचीले बन्धनों को वे क्षत्रिय होकर रणभूमि में भी नहीं तोड़ पा रहे थे। श्रीकृष्ण ने उसे तोड़ दिया था; परन्तु उनके भक्त कहलानेवाले पितामह के रथ के साथ वह प्रेम समरांगण में भी उनकी छाया की तरह पीछा कर रहा था। प्रेम ! प्रेम—जो समय पर एक महान् प्रेरक शक्ति सिद्ध होता है, आज ठीक संकट के समय पितामह-जैसे शूर योद्धा को भी दुर्बल बना रहा था। पितामह के सम्बन्ध में यह प्रतिदिन सुनने को मिल रहा था। मन पाण्डवों की ओर और शरीर कुरु-सेवा में—इस द्विधा मनःस्थिति में ही वे लड़ रहे थे। अपने मामा को मारनेवाले श्रीकृष्ण का आदर्श वे भूल गये थे। पिता की आज्ञा-पूर्ति के लिए अपनी माता रेणुका का मस्तक धड़ से अलग करनेवाले अपने साक्षात् गुरु परशुराम का आदर्श वे भूल गये थे। वे जीवन-भर कौरवों के विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहे थे। और इस समय भी वे लक्ष-लक्ष कुरु-सैनिकों को भीम की गदा तथा अर्जुन के बाणों के दावें पर लगाकर उसी षड्यन्त्र की सम्पूर्ति कर रहे थे। यदि उनको यही करना था तो महामन्त्री विदुर जी के साथ उन्होंने भी हिमालय का मार्ग क्यों नहीं पकड़ लिया ? पितामह अपना धवल चरित्र केवल प्रेम के कारण कलंकित कर रहे थे—यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। कुरु के रूप में पितामह श्रेष्ठ माने गये, जीवन-भर के निष्कलंक ब्रह्मचर्य से महान् पद पर आसीन हुए। परन्तु सेनापति के रूप में ? पाण्डवों से सौम्य-युद्ध करके कुरुओं को दिग्भ्रान्त करने के बजाय यदि वे स्पष्ट रूप से पाण्डवों की ओर से ही लड़े होते, तब भी एक योद्धा के रूप में उनका स्वागत कर मैं उनके चरण पूजता । जब-जब युद्ध के महान् विष-बीज अंकुरित होते, तब-तब निष्पक्ष और हतप्रभ तटस्थ की भूमिका लेकर लिखे गये शोकान्त नाटक का यह अन्तिम अंक भी वे मानो तटस्थता से ही निभा रहे थे।

अखाड़े-जैसे कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उनकी न्याय-प्रियता मुझे स्पष्ट दिखाई दी थी, इसलिए मेरे मन में उनके प्रति नितान्त आदर था। इसीलिए मेरा मन पूछ रहा था, “पितामह इस प्रकार का आचरण क्यों कर रहे हैं ?” सत्यसेन ने जिन क्षण-चित्रों का वर्णन किया था, वे मुझे स्वस्थ नहीं बैठने देते थे। रात के घनीभूत अँधेरे में भी निद्रा से अपरिचित बने हुए मेरे नेत्रों के पक्षी शिविर की छत में प्रतिदिन चोंच मार रहे थे। समरांगण के प्रत्येक दिन के चित्र उसपर अंकित कर रहे थे।

पहले दिन के अत्यधिक उत्साहपूर्ण युद्ध में सात्यकि के विरुद्ध लड़नेवाला कीर्तिवर्मन, विराट्पुत्र उत्तर को मौत के घाट उतारनेवाला शल्य, इरावान और श्रुतायु का घनघोर युद्ध, कुन्तिभोज को घेरनेवाले विन्दानुविन्द, द्रुपद पर चढ़ाई करनेवाला जयद्रथ, बृहद्वल को घायल करनेवाला अभिमन्यु, अश्वत्थामा द्वारा खदेड़ा गया शिखण्डी-आदि सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। परन्तु उस रात मन केवल एक ही वीर के आस-पास भटकता रहा था। पांचालराज श्वेत के आसपास। पाण्डवों की ओर से लड़ते हुए उस वीर ने पहले दिन के निर्विरोध नायकत्व का मान प्राप्त कर लिया था। पितामह को सन्त्रस्त कर उसने सहस्रों सैन्धव, गान्धार, कलिंग और कुलिन्द काट डाले। भयग्रस्त सेना पितामह का नाम लेकर 'त्राहि-त्राहि' करती हुई उनके महारथ का आश्रय लेने लगी। तुरन्त पितामह श्वेत के सामने आये और उसके श्वेतनाम के अनुरूप कण्ठभेद कर उसकी धवलकीर्ति का मार्ग सुलभ कर दिया। सन्ध्या समय जब युद्ध बन्द हुआ तब सभी सैनिक योद्धाओं के झुण्ड श्वेत के चेतना-हीन शरीर को देखने के लिए एकत्रित हो गये। पहले महान् दिवस का अन्त श्वेत ने श्वेतपूर्ण किया।

मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया के दिन पितामह ने सारंग पक्षी-जैसी सैन्यरचना की, उसको प्रभावहीन करने के लिए पाण्डवों के तात्कालिक सेनापति धृष्टद्युम्न ने अपनी सेना क्रौंच पक्षी के आकार में खड़ी की। वह स्वयं अग्रभाग में खड़ा होकर अपने पिता द्रुपद को पराजित करनेवाले गुरु द्रोण को अपने रक्तवर्णी अग्निसम नेत्र फाड़-फाड़कर ढूँढ़ रहा था। सूर्योदय होते ही हाथ उठाकर सिंह की तरह गरजता हुआ वह अश्वत्थामा पर टूट पड़ा। शल्य शंख से भिड़ गया। पितामह ने पांचालों की सेना को बाणों से ढक दिया। अभिमन्यु ने लक्ष्मण पर आक्रमण किया। धूलि की घटा छा गयी। अपने-पराये का भी किसी को पता नहीं चला। सात्यकि के झंझावाती गर्जनायुक्त भ्रमण से दूसरा दिन गुंजित हो गया। पितामह के सारथी को धराशायी कर उसने अपने वृष्णिकुल का वास्तविक परिचय दिया। शवों के ढेर हिमालय की ऊँचाई मापने लगे। नाराच, बस्तिक, पद्म, सूची, गोमुख, गवास्थि आदि असंख्य बाणों के पर्वत खड़े हो गये।

कृष्णा चतुर्थी का तीसरा दिन उदित होते ही पितामह ने सुरक्षित सेना की गरुड़ाकार सैन्यरचना की। उसको ग्रस्त करने के लिए सेनापति बने हुए अर्जुन ने अर्धचन्द्राकार सैन्य खड़ा करके दायीं ओर चक्ररक्षक के रूप में भीम को खड़ा किया। पक्षियों की किलबिलाहट में खड्गों की खड़खड़ाहट मिश्रित करते हुए वे मध्याह्न काल तक कौरवों का क्रूर संहार करते रहे। कोसल, केकय, गान्धार, संशप्तक, त्रिगर्त-इनके सेनापथकों के सैकड़ों अश्वसाद, रथी और पदाति काम आये। उनको रोकने का सामर्थ्य किसी में नहीं था। भयग्रस्त होकर कुरुसेना 'त्राहि-त्राहि' करती हुई दुर्योधन के आश्रय में दौड़ी। सेनापति बने हुए पितामह पर सौम्य युद्ध करने के कारण दुर्योधन बरस पड़ा। उसके मर्मभेदी वाक्-ताडन

से सन्तप्त होकर भीष्म ने पाण्डवसेना को इस प्रकार खदेड़ा कि ऐसा लगने लगा मानो वह अब रणक्षेत्र से बाहर चली जायेगी। यह देखते ही हाथ में 'शस्त्र धारण न करने की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रीकृष्ण अर्जुन का नन्दीघोष रथ छोड़कर 'धरती पर कूद पड़े। किसी रथ के उखड़े हुए चक्र को हाथ में उठाकर वे झटपट पितामह की ओर दौड़े। वे दस पग भी आगे न गये होंगे कि तभी अर्जुन ने रथ से कूदकर उनको रोका। तीसरा दिन धरती पर अन्धकार के काले दाने बोता हुआ श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा भंग करके चला गया। मेरी बार-बार इच्छा होती थी कि पितामह से मिलूँ और उनसे प्रार्थना करूँ कि वे ऐसे ही घोर संग्राम करते रहें। परन्तु यह सम्भव नहीं था। एक अर्धरथी एक महारथी के एक सेनापति के शिविर में कैसे जा सकता था ?

चौथे दिन से अन्धकार बढ़ना प्रारम्भ हो गया। उसी दिन से एक-एक कला से क्षीण होते हुए चन्द्र की तरह हमारी सेना निष्प्रभ होने लगी। वह दिन भीम और घटोत्कच ने अपने हाथों में रखा था। बौखलाये हुए भीम ने महासागर जैसी अपनी विशाल काया को फुलाकर जब सिंहनाद किया तो हाथियों की देह के रोम भी खड़े हो गये। वृषपर्वा से मिली हुई अपनी गदा उठाकर वह गजदल में प्रलय मचाता हुआ कुरुओं के हाथियों को कुरुओं पर ही उलटा डाल रहा था। वर्षा ऋतु के जलप्रवाह की तरह आस-पास सैन्य के तटों को ढहा रहा था। 'यह भीम नहीं यम है !' कहते हुए कुरुसैनिक इधर-उधर दौड़ने लगे। उस छिन्न-भिन्न सेना को और अधिक घबराहट में डालने के लिए घटोत्कच ने बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़कर उनका मार्ग रोकना चाहा। भीम के सामने खड़े होने की शक्ति एक ही गदावीर में है, यह सोचकर सबने दुर्योधन को उससे भिड़ा दिया। बौखलाये हुए दो हाथियों की तरह वे एक-दूसरे से भिड़ गये। प्रहार पर प्रहार करके स्फुलिंगों की वर्षा करने लगे। युद्ध छोड़कर सैनिक उनका वेध-तत्पर युद्ध देखने लगे। जैसे ही दुर्योधन ने मस्तक के पास एक मर्मभेदी प्रहार किया, भीम धड़ाम से नीचे गिर पड़ा, जैसे हिमालय की चट्टान टूट पड़ी हो। धरा हिल गयी। कुरुसेना ने दुर्योधन का गगनभेदी जयजयकार किया। परन्तु....परन्तु घड़ी-भर में ही पुनः उठकर भीम ने शुक्रदेव, केतुमान, सत्य, सत्यदेव, सेनापति भानुमान, जलसन्ध, उग्र, वीरबाहु, सुलोचन—इन सभी दुर्योधन-बन्धुओं को विदीर्ण कर दिया। क्षुधित व्याघ्र की तरह, मशाल की तरह जलते हुए रक्तवर्णी नेत्रों को चारों ओर घुमाता हुआ वह झंझावात की तरह चतुरंग दल में निर्विरोध भ्रमण करने लगा और जो मिला उसी से, आह्वान देकर, जा टकराया। अपनी भारी गदा से अनेक बलवानों को छिन्न-विच्छिन्न कर सोमरस के कुम्भ के कुम्भ रिक्त करता हुआ 'दुःशासन कहाँ गया ? दुःशासन कहाँ गया ?' कहकर थयथय नाचने लगा।

कृष्णा षष्ठी के पाँचवें दिन के युद्ध में हमारी सेना ने मकराकृति बनायी। उसपर अर्जुन की श्येनपक्ष्याकृति पाण्डवसेना ने आक्रमण कर दिया। सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र के आस-पास

अंकुश, दण्ड, पर्याण, खण्डित फलक, भग्न रथचक्र के ढेर लगे हुए थे। हाथ, पैर, मस्तक, धड़-इनके पर्वत खड़े थे। मैनाक पर्वत के गृध्र, कुकर, कुररी आदि मांसभक्षी पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड युद्धभूमि के आस-पास उतरने लग गये थे। पाँचवें दिन का नायक था भूरिश्रवा। वह सात्यकि के दस पुत्रों को यमसदन भेजकर अब सात्यकि को घेरने में लगा था। अभिमन्यु और लक्ष्मण में श्रेष्ठ कौन है, इसका निर्णय नहीं हो पा रहा था।

सारंग पक्षी के आकार की कुरुसेना छठे दिन जब रणांगण पर उतरी तब सामने पाण्डवसेना का विशाल मकर देखकर पितामह भी थर्रा गये होंगे। क्योंकि उनके सामने रथ से नीचे उतरकर, हाथ में गदा लिये हुए भीम ने क्रोध से द्रोण, अश्वत्थामा और शल्य के रथों को एक-एक कर उलट दिया और उन्हें उठाकर दूर फेंकने लगा। उसका साहस कहीं धोखा न दे दे, यह सोचकर धृष्टद्युम्न ने उसे रोककर पुनः रथारूढ़ किया। उसने दुर्योधन को मूर्च्छित कर दिया था। धृष्टद्युम्न, भीम और अर्जुन के भयंकर आक्रमणों से घबराकर कुरुसैनिक इस प्रकार इधर-उधर दौड़ रहे थे कि मूर्च्छित दुर्योधन को समरांगण से बाहर निकालने के लिए अश्वत्थामा को मार्ग नहीं मिल रहा था।

युद्ध का निर्णय तो अलग रहा, किन्तु सेना को एकत्रित करने की साधारण कुशलता भी पितामह में नहीं थी, यह कौन कह सकता था ? परन्तु कुछ भी घटित नहीं हो रहा था। होनेवाला भी नहीं था। सातवाँ दिन भी चला गया। पराजय की घनी छाया मेरे ही नहीं, अपितु सभी योद्धाओं के मन पर छाने लगी। पच्चीस लक्ष की विशाल सेना और एक सौ अस्सी वर्ष का अनुभवी सेनापति होते हुए भी युद्ध कुरुओं की दृष्टि से एक पग भी आगे नहीं सरक रहा था। क्यों नहीं सरक रहा था ? आठवें दिन रात को संन्नस्त और चिन्ता में डूबे हुए शकुनि मामा तथा दुर्योधन मेरे शिविर में आये।

"कर्ण, हाथ में शस्त्र लो। अब तो श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा भी भंग हो गयी है। चलो, मैं तुम्हारे नेतृत्व में पितामह को अर्धरथी के रूप में लड़ने को बाध्य करूँगा।" दुर्योधन का एक-एक शब्द उसके हृदय की विवश व्याकुलता को स्पष्ट व्यक्त कर रहा था। मृत्यु के द्वार पर मनुष्य की दो ही प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं। एक तो पराकोटि की क्रूरता की, दूसरी पराकोटि की मृदुलता की। वह मृदुल हो गया था। कर्ण को मानो वह एक ऐसा घोड़ा समझ रहा था जिसको चाहे जिस समय युद्ध के रथ में जोत दिया जाये।

"राजन् ! सबकी प्रतिज्ञाएँ भंग हो जायेंगी। धरती का उदर फट जायेगा; परन्तु कर्ण की प्रतिज्ञा कभी भंग नहीं होगी। सेनापति के रूप में तुम्हें सचमुच ही यदि मेरी आवश्यकता प्रतीत हो रही हो तो पितामह से कहो कि शस्त्र फेंककर अलग हो जायें।" मैंने दुर्योधन को चलता किया।

कुरुओं की दस लक्ष सेना काम आ चुकी थी। पितामह का क्रूर द्यूत रुक नहीं रहा था। वे मोह के और प्रेम के पाशों को तोड़ नहीं पाये थे।

मुझे यह ज्ञात हुआ कि मेरे शिविर से बाहर निकला हुआ दुर्योधन सीधा पितामह के शिविर में प्रविष्ट हुआ था। उनमें क्या बातें हुई, यह मैं नहीं जान सका; परन्तु शायद दुर्योधन ने उनसे स्पष्ट रूप में सेनापति-पद का त्याग करने के लिए कहा होगा; क्योंकि नौवें दिन सर्वतोभद्र आकार में सैन्य-रचना कर पितामह ने पाण्डवों को सन्त्रस्त कर दिया। शतानीक-जैसे महारथी को मारकर आशा के अक्षयदीप प्रज्वलित कर दिये। यह आशा होने लगी कि अब कुछ अवश्य होगा। दशमी की चन्द्रकला सिर पर धारण किये हुए ही उस रात कुरुओं के शिविरों ने विश्राम किया था। दृषद्वती का जल कलकल करता हुआ अब भी दौड़ रहा था। उसका धवल वर्ण युद्धभूमि की रक्तगंगा मिलने से लाल हो गया था। नियति चक्कर काट रही थी। अच्छे-भले नौ दिन।

कृष्णा एकादशी का दिन आया। युद्ध प्रारम्भ हुए नौ दिन हो गये थे, यह दसवाँ दिन उदित हो रहा था। और दिनों की अपेक्षा ठण्ड कुछ अधिक प्रतीत होने लगी। युद्धभूमि नीहार पटल छोड़ने को तैयार नहीं थी। आकाश भी आच्छादित था। सूर्योदय के साथ ही प्रलयध्वनि सुनने का अभ्यास हो जाने के कारण दृषद्वती को अपने किनारे पर शान्ति देखकर एक विचित्र कमी-सी प्रतीत हो रही थी। मुझे भी कुछ कमी-सी अनुभव होने लगी। क्योंकि सामने खड़ा हुआ दुर्योधन जो कुछ कह रहा था उसपर विश्वास कैसे किया जाये, यही समझ में नहीं आ रहा था।

"कल रात पितामह के शिविर में युधिष्ठिर आया था। उनके बार्तालाप में बारम्बार शिखण्डी का उल्लेख हो रहा था।" दुर्योधन के शब्द मेरे मस्तिष्क को सुन्न बना रहे थे। सेनापति होकर पितामह युधिष्ठिर से एकान्त में मिले ही क्यों ? उससे घड़ी-भर बार्तालाप किया ही क्यों ? और इतना करके भी सबको अँधेरे में क्यों रखा ? क्या-क्या योजनाएँ बनायी गयीं ? शिखण्डी का उनसे क्या सम्बन्ध ? कुछ भी अर्थसंगति नहीं बैठ रही थी।

"राजन्, आज मेरी सहनशीलता का सचमुच ही अन्त हो रहा है। आज यदि पितामह पाण्डव योद्धाओं में से किसी विख्यात महायोद्धा को न गिरा सके तो अपना पतन स्वीकार कर लें। मैं हाथ में शस्त्र ग्रहण कर लूँगा। यदि आज इनमें से कुछ न हुआ तो....तो तुमने मेरे सिर पर जो राजमुकुट रखा है उसको तुम्हारे चरणों पर रखकर मैं चम्पानगरी का मार्ग स्वीकार कर लूँगा। दस दिन तक रणवाद्यों और शस्त्रास्त्रों की ध्वनि दूर से सुनते-सुनते अब मुझे कुछ भी सुनाई नहीं देता। मेरा रणांगणप्रिय वायुजित् दिनानुदिन थकता जा रहा है। जैत्ररथ के साथ ही मेरी कीर्ति पर धूल संचित हो रही है। जाओ, पितामह से कहो कि या तो युद्ध का बाँध तोड़ें या फिर कर्ण का कण्ठनाल ही तोड़ दें।" दुर्योधन को रणांगण पर भेजते समय अन्तिम सन्देश देते हुए विवशता के खोखलेपन को छिपाना मेरे लिए सम्भव नहीं था। जैसे ही दुर्योधन तुनककर वाहर गया, मैंने वायुजित् के साथ और चार शुभ्र घोड़े जैत्ररथ में जोते। मेरी तीव्र इच्छा थी कि जिसने जीवन-भर मेरे सुख-दुखों में सहर्ष हाथ बँटाया था,

उस शोण की समाधि पर पुष्पमाला अर्पित करने का कर्तव्य पीछे नहीं रहना चाहिए। कुरुक्षेत्र छोड़कर, राजनगर को एक ओर छोड़ता हुआ, विराटों की सीमा पर स्थित शोण की समाधि की ओर मेरा रथ दौड़ने लगा। रणवाद्यों का कोलाहल पीछे रह गया। सन्ध्याकाल तक प्रत्येक दशा में लौट आना था। दोनों ओर दो-दो साथी लेकर, मुझे सदैव शोण की तरह लगनेवाला वायुजित् पूँछ के गुच्छे को फुलाता हुआ दौड़ने लगा। उसकी पूँछ के गुच्छे के अगणित सघन शुभ्र केशों की तरह ही शोण की स्मृतियाँ असंख्य थीं, शुभ्र थीं।

यमुना के तीर पर खड़ी हुई शोण की निस्तब्ध समाधि के पाषाण दृष्टिपथ में आते ही मुझे हाथ उठा-उठाकर बुलाने लगे, “वसु भैया, आओ। यह क्रूर और अन्यायी जगत् तुम्हारे मन को कभी नहीं समझ पाया। समझ पायेगा भी नहीं। कहो, तुमको जो कुछ कहना हो, मेरे कान में कहो। यह सारथी अपने सुख-दुखों को हृदय में सँभालकर नहीं रख सकेगा, क्या यह समझते हो तुम ? यदि मैं जीवित होता तो, हे सूर्यपुत्र ! तुम्हारे रथ के घोड़ों की वल्गाएँ मैं सँभाल लेता। तुम्हारा लौहत्राण तुम्हारी देह पर चढ़ा देता। परन्तु....परन्तु उलटे आज तुम्हीं मुझपर फूल चढ़ाओगे। किस लिए लाये हो वह पुष्पमाला ? छोटों को कोई कभी पुष्प अर्पित नहीं किया करता ।

यमुना का शान्त गम्भीर प्रवाह और उसकी समाधि-सब कुछ मेरी ही तरह मौन था। परन्तु उस मौनभाव के सवाक् अपनत्व को मैं अनुभव कर रहा था।

यमुना के स्वच्छ जल में हस्तमुख प्रक्षालन कर हाथ में ली हुई पुष्पमाला समाधि पर अर्पित करते ही मन शान्त हो गया। जल की ओर देखते समय अश्वत्थामा की यों ही कभी कही हुई एक बात मनश्चक्षु के सामने खड़ी हो गयी, “जीवन जन्म-मृत्यु के पात्र में बहनेवाली नदी है।” “चलता हूँ, शोण !” घुटने टेककर मैंने समाधि को वन्दन किया । अस्त होती हुई रवि-रश्मियों को पीठ पर लेता हुआ वायुजित् पुनः कुरुक्षेत्र की ओर दौड़ने लगा। अब कोई चिन्ता नहीं थी। पैरों में उलझनेवाला कुछ नहीं था। पीछे मुड़ने का कारण नहीं था। वह पूरा दिन दौड़ने में ही बीता। जिस समय युद्ध रोक देने का संकेत करनेवाले रणसिंगे बज रहे थे, उसी समय मेरा रथ शिविर के सामने आया। सब कुछ कैसा शान्त लग रहा था। सदैव एक-दूसरे के पराक्रम का जी खोलकर वर्णन एक-दूसरे को सुनाते हुए और शिविर की ओर लौटनेवाले सैनिक मुझे कहीं दिखाई ही नहीं दिये। इतनी नीरव, भयानक शान्ति क्यों ? युद्ध बन्द हो गया था, फिर भी सैनिक लौट क्यों नहीं रहे थे ? क्या हो गया ? आशंका की तीव्र लहर उतरते ही मैंने वायुजित् को रथ से मुक्त किया।

एक टिटहरी दृषद्वती के किनारे कर्कश स्वर में टिटियाती हुई भागी। उसकी चीख मुझे विचित्र-सी लगी। सन्ध्या-छाया का धूमिल प्रकाश भी अस्पष्ट होता जा रहा था। कृष्णा एकादशी की सघन कालिमा दोनों सेनाओं के शिविरों के आस-पास घिरती आ रही थी। मशाल जलाकर भी उसको दूर नहीं किया जा सकता था।

सूर्यास्त के बाद एक घड़ी बीत चुकी थी; किन्तु सत्यसेन शिविर की ओर क्यों नहीं लौटा ? या, किसी ने उसी को आज के युद्ध में अचूक लक्ष्य बना लिया ?

शिविर के द्वार का पटल कलाई के चारों ओर लपेटते-लपेटते इतना जीर्ण हो गया था कि फटने ही वाला था। अन्धकार को भेदकर कुरुक्षेत्र पर लगे हुए मेरे नेत्र थक गये। क्या हो गया था ? आज क्या घटना हो गयी थी ? अन्त में टप ऽ टप ऽ टप ऽ की टापें कान में पड़ीं। सत्यसेन का घोड़ा नित्य की भव्य लय में नहीं आ रहा था। उसकी चाल असन्तुलित थी।

"महाराज, पितामह का पतन हो गया !" वह मेरे सामने आते ही घोड़े पर से जैसे-तैसे नीचे आता हुआ बोला । मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे हिमालय ही टूट पड़ा हो।

"किसने किया यह दिव्य पराक्रम ?" मैंने उसके कन्धे झकझोरते हुए चीखकर उससे पूछा।

"अर्जुन ने । षण्ठ शिखण्डी को आगे कर । पितामह व्याकुल हैं, सब उनसे मिलकर जा चुके हैं, फिर भी उनकी आँखें अभी किसी की प्रतीक्षा कर रही हैं। और....और...." बीच में ही लड़खड़ाता हुआ वह बोला ।

"और क्या सत्यसेन ?"

"अपना भानुसेन चला गया....आपके हाथों से उसका अग्नि-संस्कार कराने के लिए उसका शव सबने रोक रखा है।" उसने मुख मोड़कर अपनी आँखों से अधरीय का छोर लगाया।

"भानुसेन गया ? सत्यसेन, जाओ उसका अग्नि-संस्कार करो। तुम लोग करो, मेरी प्रतीक्षा मत करो।

वायुजित् पर आरूढ़ होकर मैं उसी समय युद्धभूमि की ओर चल दिया। मन में विचारों का वात्याचक्र चल रहा था। चारों ओर अन्धकार था। पितामह का पतन हो गया। कुरुओं के राजदण्ड का पतन हो गया। मेरे उनसे मतभेद थे। वे एक सारथी से अधिक मुझको नहीं मानते रहे। उनकी दृष्टि में मेरा मूल्य एक अर्धरथी से अधिक नहीं। फिर भी मन उनकी ओर क्यों आकृष्ट हो रहा था ? क्या यह आत्मवंचना है ? नहीं, नहीं, जो योद्धा आहत होकर मृत्यु के द्वार पर पड़ा हुआ है, उससे मिलते समय वैयक्तिक स्पर्धा कैसी ? मानापमान कैसा ? मतभेद क्या ? उस महापुरुष का साथ अब कुछ क्षणों का ही है, क्या अब उसके प्रमादों की मन ही मन रट लगाते रहें ? और कोई यह भले ही कर सकता हो, कर्ण नहीं कर सकता। उनसे मिलना ही चाहिए। पुत्र की अन्त्येष्टि एक ओर।

मेरे मन के भाव जानकर घनी भीड़ के पास वायुजित् अपने-आप एक शिविर के सामने रुक गया। मशालों का प्रकाश अन्धकार को दूर करने के बजाय उसको और अधिक बीभत्स बना रहा था । उदास मुख सैनिकों का घेरा मरणोन्मुख सेनापति के दर्शन करने के

लिए सघन हो गया था। राजभवन में सुख-शय्या पर निद्रा लेनेवाला यह वीर, शरों के तृणों की शय्या पर पड़ा हुआ था। दाढ़ी के शुभ्र केशों में दो-तीन शुष्क तिनके अटक गये थे। मस्तक पर गौरवशाली मुकुट भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। स्थान-स्थान पर शरीर में घुसे हुए वस्तिक बाण ज्यों के त्यों थे। आँखों के चारों ओर काली सिकुड़नों के वलय बन गये थे। उनके शरीर के नीचे तृण धन्य हो गये थे। पावन हो गये थे। शम्पाक ब्राह्मण उनके मस्तक को सँभाले हुए था। इस ब्राह्मण पर उनकी असीम श्रद्धा थी।

"महाबाहो भीष्म !" भावावेग में पितामह के बजाय भीष्म शब्द होठों से निकलने का भान जब मुझे हुआ तबतक वे उनके कानों तक पहुँच चुके थे। वे लौटाये नहीं जा सकते थे।

पलकों की सिकुड़नों के पीछे छिपे हुए तेजस्वी नेत्र आधे खुल गये। दीर्घ ओष्ठ अस्पष्ट हलचल कर उठे। वही, पाषाण पर बाण टकराने-जैसी तीव्र आवाज उस वृद्ध, श्रान्त और मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए जर्जर शरीर से पुनः उमड़कर आयी। भावनाओं के और अपनत्व के वलय लेकर।

"कौन ? कर्ण ! आ....., इधर पास आ !" दोनों हाथ हिलाकर आस-पास खड़े सेवक और सैनिकों को दूर खड़े हो जाने का संकेत किया गया। धू-धू जलती हुई मशाल के अतिरिक्त आस-पास कोई भी खड़ा नहीं रहा। मस्तक छोड़कर शम्पाक भी चला गया।

"हाँ, मैं कर्ण ही हूँ। सूतपुत्र कर्ण। पास कैसे आऊँ ? क्यों आऊँ ?" मेरे स्वाभिमान का घोड़ा कहीं निश्चित ही ठिठक रहा था।

"कर्ण, कौन सूत ? कौन क्षत्रिय ? सब असत्य विचार है। आ, मेरे पास-बिलकुल पास आ। अरे, एक योद्धा के रूप में ही अस्तंगत सेनापति की आज्ञा का पालन कर ले।"

मैं पास गया। हिमालय के खड़े शिखर के छोर पर जैसे तिरछा विन्ध्याचल आ गया था, इतनी सुकोमल ध्वनि। इतना अपनत्व मैंने कभी अनुभव नहीं किया था। जिस ढंग से उन्होंने जीवन-भर सत्य को हृदय से लगा रखा था, वैसे अपनत्व से एक हाथ फैलाते हुए एकदम पास खींचकर उन्होंने मुझे बाँहों में भर लिया। सम्पूर्ण शरीर में रोमांच की लहर-सी दौड़ गयी। यह तीसरा दिव्य और अविस्मरणीय स्पर्श था।

"कर्ण, तुम सूतपुत्र नहीं हो। तुम राजमाता कुन्ती के सबसे पहले पुत्र हो।" क्षण-भर की शान्ति में मशाल की फरफर स्पष्ट सुनाई देने लगी। वे यह समझ रहे थे कि जो सत्य उन्होंने कहा था, वह मैं उन्हीं के मुख से पहली बार सुन रहा था। उस सम्बन्ध में मुझे अब उत्सुकता नहीं थी। मैं सूतपुत्र नहीं हूँ—कुन्तीपुत्र नहीं हूँ—सूर्यपुत्र भी नहीं हूँ—मैं एक जीवित व्यक्ति हूँ—जो भी आये उसी का दृढ़ता से सामना करने के लिए खड़ा हुआ। बस, यही मेरी मान्यता थी।

"क्यों ? यह सुनकर तुम्हें कुछ भी अनुभव नहीं हुआ ?" उनकी छाती में गड़े हुए बाण बातें करते समय मन्द-मन्द स्पन्दित हो रहे थे।

"नहीं, यह सत्य मैं पहले ही सुन चुका हूँ।"

"तो फिर....फिर मैंने स्थान-स्थान पर तुम्हारा जो अनादर किया, अपमान किया, उसके लिए तुम्हारा मन मेरे प्रति तिरस्कार और क्रोध से भर गया होगा, परन्तु पुत्र, यह बात नहीं है। अरे, तुम्हारी अवहेलना करना मेरा उद्देश्य कभी नहीं था। तुमको अर्धरथी कहकर युद्ध से दूर हटाने में मेरा यही उद्देश्य हृदय में छिपा था कि तुम सम्बन्ध न जानने के कारण अपने सगे बन्धुओं से न लड़ सको। वृद्ध लोगों के मन निहाई-जैसे होते हैं। तप्त लोहा मस्तक पर रखना पड़ता है, ऊपर से घन के आघात भी। इतना करने पर भी संसार को जो सुनने को मिलता है वे हैं लोहे के तथा ऊपर से घन के टणत्कार । निहाई निस्तब्ध होती है। उसका जन्म इसीलिए होता है। तुम मिलने चले आये, यह अच्छा ही हुआ। मेरे सम्बन्ध में जो भी सन्देह तुम्हारे मन में हो, उन सबको दूर कर दो। तुम अर्धरथी नहीं हो, तुम तो महारथियों के महारथी हो ।" मरणतुल्य यातनाओं से विह्वल होकर वे -भर रुके।

एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर उन्होंने आँखें खोली।

"पितामह !" कण्ठ अवरुद्ध होने से मैं कुछ कह नहीं सका।

"कर्ण, काशी राज्य में भानुमती का हरण करनेवाले दुर्योधन पर टूट पड़नेवाले देश-देश के राजाओं को अकेले तुमने रोका था, यह कौन भूल सकता है ? जरासन्ध को तुमने जो धूल चटायी थी, वह मगधों को ही नहीं, अपितु मुझे भी स्तम्भित कर देनेवाली थी। तुम्हारी दिग्विजय का डिण्डिम अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है। शस्त्रास्त्रों में, बाहुबल में तुम अर्जुन से श्रेष्ठ हो। और कौन्तेय, विगत सत्तर वर्षों से तुमने जिस तत्त्वज्ञान पर आचरण कर दिखाया है, वह निश्चय ही युधिष्ठिर का सिर झुका देनेवाला है। तुम्हारा बाहुकण्टक इतना प्रभावशाली है कि वह भीम के प्राण ही ले लेगा। पुत्र, तुम....तुम साक्षात् श्रीकृष्ण के समान देदीप्यमान हो । जाओ, अपने बन्धुओं में जाओ। जिसने दुख के अतिरिक्त और कुछ देखा ही नहीं है, राजमाता होकर एक योगिनी का कठोर जीवन जिसको बिताना पड़ा है, तुम्हें देखने के लिए जिसके नेत्रों के आतुर पक्षी जीवन-भर फड़फड़ाते रहे हैं, मूक-हृदय क्रन्दन करता है, अपनी उस कुन्ती माता के चरणों में जाओ। मेरी मृत्यु साथ ही शत्रुता की इस विनाशी वडवाग्नि को बुझ जाने दो। तुम्हारे चले जाने पर दुर्योधन प्रत्यंचा टूटे हुए धनुष की तरह निष्प्रभ हो जायेगा। लक्ष-लक्ष योद्धाओं के प्राण अकारण लेनेवाला यह महायुद्ध यहीं रुक जायेगा। जाओ, पाण्डवों की ओर जाओ।" उनकी आँखों के छोरों के पास की सलवटें जल से पूर्ण हो गयी थीं। मेरी पीठ पर रखा हुआ हाथ स्पन्दित हो रहा था। वक्ष में लगे हुए बाण थरथरा रहे थे। कर्तव्यच्युत करनेवाले मोह के वही घेरे पुनः मेरे चारों ओर चक्कर काट रहे थे। दृढ़ता से पुनः कुछ सुनाना आवश्यक था।

"पितामह, यही विचार श्रीकृष्ण ने मेरे सामने ऐसे ही भावपूर्ण शब्दों रखा था, एक कुशल राजनीतिक दावों के रूप में। राजमाता ने भी यही मोह मेरे सम्मुख खड़ा किया था जिससे कि उनके पुत्रों को मुझसे अभय प्राप्त हो सके। परन्तु उसी योजना को आप कितने यथार्थ ढंग से रख रहे हैं। मृत्युशय्या पर पड़े हुए आप मुझसे यह कह रहे हैं, इससे आपका मुझपर विशेष स्नेह ही प्रकट होता है। परन्तु....परन्तु मैं मार्गभ्रष्ट हो गया हूँ। अब सिवाय इसके कि मैं उसी पर चलता जाऊँ, मेरे हाथ में और कुछ नहीं है। जैसे पाण्डवों के लिए वासुदेव हैं, वैसे ही मैं कौरवों का सहायक बनूंगा। अपना धन, शरीर, आप्तजन, साथ ही कीर्ति- —सब कुछ मैंने दुर्योधन के लिए रख छोड़ा . है। अर्जुन सहित मैं सभी पाण्डवों को सन्तप्त करूँगा जैसे वायु अग्नि को करता है। क्षमा कीजिए, और मोह के महा-संग्राम में अब पुनः मुझे मत डालिए। यदि मुझे आप कुछ दे सकें तो आशीर्वाद दें।

“कर्ण, तुम धन्य हो ! कुन्ती के प्रथम पुत्र कहलाने योग्य तुम्ही हो। जाओ, वैर-भाव छोड़कर कुरुओं के सेनापति के रूप में हाथ में धनुष लो। एक क्षत्रिय के रूप में अन्धकाररहित होकर सेना का नेतृत्व करो । देवादिकों का वैभवशाली लोक तुम्हारी उच्च अन्तरात्मा को प्राप्त होगा। जाओ, मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं। सदैव हैं।” उनके नेत्रों का हिमालय, शरों की शय्या सींचने के लिए, द्रवित होने लगा। उनके बाण मेरे हृदय में कसकने लगे।

उठकर उनको अभिवादन कर प्रदक्षिणा करते समय सँभाला हुआ मन का कुम्भ तड़क गया। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले, सत्यभाषी पितामह को भी यदि मृत्यु घेर सकती है, तो फिर जगत् में शाश्वत है ही क्या ? किस लिए अर्जुन ने उस पितृतुल्य मानव को, जिसने उसको अपनी गोद में खिलाया था, इस प्रकार लकड़ी का कुन्दा बनाकर शरों के तृणों पर फेंक दिया !

मेरे नेत्रों से गिरे हुए अश्रुओं के मौक्तिक उनके पुण्यपावन चरणों पर जा पड़े। हाथ उठाकर उन्होंने आशीर्वाद दिया-“जयतु कर्ण !” जीवन-भर सूर्यदेव को अर्घ्य देनेवाला, वृद्ध शरीर में सुदृढ़ मन रखनेवाला सेनापति सूर्यदेव के उत्तरायण में आने तक मृत्यु को भी रोक सकता था। उनकी अन्तिम साधना में व्याघात नहीं पड़ना चाहिए, यह सोचकर मैं शिविर की ओर लौटा। आस-पास मशालें भक-भक कर रही थीं। घनीभूत अन्धकार के साथ झींगुर तालबद्ध कर्कश स्वर में चीख रहे थे।

मन की वीणा का एक तार देह के गहन गम्भीर कोने में दूर कहीं अब भी झंकृत हो रहा था। राधामाता का आशीर्वाद नहीं ले पाया था। पिताजी के चरण सिर से लगाने का अवसर नहीं मिला था। वृषाली से मिल नहीं पाया था। सुप्रिया का समाचार प्राप्त नहीं हो सका था। राजभवन में अकेला वृषकेतु रह गया था, वह क्या-क्या कल्पनाएँ करता होगा, यह कहा नहीं जा सकता। सेनापति के चयन के अवसर पर जो आकस्मिक घटना हो गयी थी, उसके

कारण राजनगर में पैर तक नहीं रखा था। सबसे कैसे मिल सकूँगा ? कल तो समरांगण में उतरना है।

इक्कीस

भानुसेन का अन्त्य-संस्कार करने के लिए गया हुआ सत्यसेन अभी लौटा नहीं था। मेरे मृतपुत्र की आत्मा, क्योंकि मैं उसके लिए गया नहीं था इसलिए, मुझपर क्रुद्ध नहीं होगी, इसका मुझे विश्वास था। संग्राम में वीरोचित मरण स्वीकार करनेवाले उस वीर को यह ज्ञात भी नहीं था कि जिस भीम ने उसका वध किया, वह उसका चाचा ही है। अज्ञान के कारण ही सही, परन्तु भीम ने मेरे एक पुत्र की बलि ले ली थी। मेरे श्रद्धा के, माया के, सम्बन्ध के बचे-खुचे अंकुर भी उससे जलकर राख हो गये थे। मन बधिर था। शरीर सुन्न था। बीच-बीच में पितामह की विकलांग मूर्ति शिविर के पटल-पटल पर दिखाई दे जाती थी। "वैर-भाव न रखते हुए युद्ध करो- अहंकार-रहित होकर नेतृत्व करो।" उनके अन्तिम शब्द आँखों के आगे नाच रहे थे। आँखें बन्द किये मैं आसन पर बैठा था पर मृदुल आसन मुझे कँटीला लग रहा था।

"महाराज, बाहर आपसे मिलने के लिए कौन आया है, देखिए तो !" जैसे वायु का झोंका अनजाने में भीतर आ जाता है, वैसे ही सत्यसेन कब शिविर में घुस आया, इसका पता भी न चला।

"सत्यसेन, जाओ। अब कर्ण से मिलने के लिए मृत्यु के अतिरिक्त और कोई भी नहीं आ सकता। मैं किसी से भी मिलना नहीं चाहता। समरांगण में अर्जुन को छोड़कर ।" असह्य वेदना से मैंने शिविर के द्वार की ओर अंगुलि उठाकर उसको बाहर जाने को कहा।

"नहीं महाराज, बाहर जो व्यक्ति खड़ा है उसको देखते ही आप घड़ी-भर के लिए मृत्यु को भी रोक देंगे। बाहर वृषाली खड़ी है।"

सत्यसेन बन्धु के रूप में अपना कर्तव्य कर रहा था या एक कुटुम्बवत्सल के रूप में पत्नी को लाकर पति से मिला रहा था, या कल सेनापति बननेवाले अपने नायक की मनःस्थिति जाननेवाले सैनिक का कर्तव्य पूरा कर रहा था ? मेरे आस-पास के ये सब लोग बिना लोभ के मुझपर अकारण ही इतनी प्रेम-वर्षा क्यों कर रहे थे ? सचमुच मैं उसके योग्य हूँ क्या ?

"वृषाली ? तो फिर वह बाहर ही क्यों खड़ी है सत्यसेन ?" मैंने उसको शिविर से बाहर देखते हुए पूछा।

"उसका कहना है कि युद्ध से पूर्व एक सेना प्रमुख के शिविर में उसकी स्त्री को देखकर कल सैनिक कहेंगे कि, हम सबकी स्त्रियाँ यदि इसी तरह शिविर में आयें, तो क्या उचित होगा ? महाराज उनको क्या उत्तर देंगे ? इसीलिए वह बाहर खड़ी है। आपके दर्शनों के लिए वह बहुत ही आतुर है, महाराज ! मैं भी चाहता हूँ। तभी तो अन्धकार की चिन्ता न करते हुए मैं हस्तिनापुर से उसको लाया हूँ। उसका बन्धु हूँ न!" वह भानरहित हो रहा था। उसका प्रत्येक शब्द प्रार्थना-जैसा था।

"चलो।" मैं उसके पीछे-पीछे शिविर से बाहर आया। मशाल के धूमिल प्रकाश में मेरी पत्नी खड़ी थी। भानुसेन की मृत्यु की बार्ता सत्यसेन ने शायद उससे कही नहीं थी। तभी वह शान्त गान्त थी। मेरे जीवन की सहचरी युद्धभूमि में भी मेरा साथ निभानेवाली क्या ?

"वृषाली, अन्दर आओ।

"महाराज...." वह संकोच कर रही थी।

"आओ वृषाली, तुम्हारे आगमन से कोई भी कुरु सैनिक माथे पर बल नहीं डालेगा। आदर्श-आदर्श कहकर जो विचार मैंने हृदय से लगा रखे थे, समाज की दृष्टि में उनका मूल्य कानी कौड़ी के बराबर भी नहीं है—अब तुम कैसा आदर्श निभा रही हो ? संकोच मत करो।" मस्तक पर लपेटा हुआ अंशुक सँबारती हुई वह शिविर में आयी। मेरे कहने पर तो वह धधकती हुई अग्नि में भी जा सकती थी।

"वृषाली, तुम ही आयी हो ?" मैं और अधिक कुछ भी कह नहीं पा रहा था।

"माताजी और पिताजी अब बहुत शिथिल हो गये हैं। वे यहाँ तक आ नहीं सकते। वृषकेतु भानुसेन के लिए शोक कर रहा है, उसको सँभालने के लिए सुप्रिया वहीं रह गयी है—मैंने ही उसको वहाँ छोड़ा है।"

"तो उसके मरने की बात तुम जानती हो। किसने कहा ?"

भानुसेन के मर जाने पर भी वह इतनी शान्त कैसे रह सकी थी ? वह कर्ण की पत्नी थी- इस आन को वह कितनी दृढ़ता से निभा रही थी।

"सत्यसेन भैया ने। और....और आप उसके अन्त्य-संस्कार में नहीं गये, यह बात भी सब जान गये हैं।" शोकावेग से उसने सिर झुका लिया। अंशुक का छोर आँखों से लगाया।

"वृषाली...." क्या कहा जाये, यह मुझे सूझ नहीं रहा था ।

"मैं जानती हूँ, महाराज । मुझ-जैसी एक शूद्र सारथि-कन्या से विवाह करके आपका जीवन व्यर्थ ही बीता। परन्तु आप अपने माता-पिता को कैसे भूल गये ? उनके दर्शन करने की भी इच्छा आपको क्यों नहीं हुई ? क्यों नहीं आये राजनगर ?"

"किसने....किसने तुमसे कहा है कि मैं सारथी नहीं हूँ ?"

"राजमाता कुन्ती देवी ने । गंगा के किनारे आपने उनको जो वचन दिया है, उसको लेकर और कोई निश्चिन्त होकर वापस जा सकता था, परन्तु वे मुझसे भी मिलीं। केवल इसीलिए कि...."

"किस लिए ?"

"अब भी उनका मन आपके लिए व्याकुल है, इसलिए । पत्नी होने के कारण मैं भी आपसे कुछ कहूँ, इसलिए। महाराज, आपके प्रति उनके प्रेम की सीमा नहीं है। हमारे लिए न सही....परन्तु उनके लिए ही आप इस युद्ध को रोक दें।"

"वृषाली, क्या तुम भी यही समझती हो कि तुम्हारे साथ विवाह करके मेरा जीवन व्यर्थ हो गया ? नहीं ! नहीं ! नहीं ! तुम्हारे लिए ही मैंने श्रीकृष्ण से इनकार किया है, राजमाता को वापस भेजा है, पितामह की अन्तिम इच्छा पूरी नहीं की। मैं सारथी था और आज भी वही हूँ। विवश होकर नहीं, अपितु अभिमान से मैं सबसे कहूँगा कि मैं राधामाता और तात अधिरथ का पुत्र हूँ। और यदि तुम प्रातःकाल तक रुक जाओगी तो कल उदित होते हुए सूर्य भगवान् से भी तुम्हारे सामने कह दूँगा कि...."

"क्या ?"

"वृषाली-जैसी पत्नी यदि मिल सके तो एक ही क्या, सौ जन्मों में भी मैं सूतपुत्र ही रहना चाहूँगा। परन्तु....परन्तु युद्ध के सम्बन्ध में कुछ मत कहो। वह अब रुक नहीं सकता।"

"महाराज, इसी आशा को हृदय में सँजोकर मैं विगत पन्द्रह दिनों से, जब से राजमाता मिलकर गयी हैं तभी से, अपने फूटे घड़े के टुकड़े की अश्रु-पुष्पों से अर्चना कर रही हूँ। आप हमारे ही हैं—हमें मत छोड़ना ।" उसका गोल गौरवर्णी मुखरूपी श्वेत कमल अश्रु के तुषार कणों से डबडबा गया। आगे बढ़कर उसने झुककर मेरे चरणों को स्पर्श किया। मेरा मन अभिमान, प्रेम और अपनत्व की भाव-लहरियों से आकण्ठ भर गया।

"वृषाली, उठो। शान्तनु महाराज ने मत्स्यगन्धा को कभी छोड़ा था—यह बात तुमने आज तक नगर में किसी से कभी सुनी है क्या ? ययाति महाराज ने शर्मिष्ठा को ठुकराया था—यह बात कभी किसी ने कही है तुमसे ? मैं उसी नगर में, उसी राजभवन में बड़ा हुआ हूँ। पति-पत्नी पूर्वजन्म से एकत्र संयुक्त की हुई दो देहों की एक ही आत्मा-जैसे होते हैं। समाज, धर्म, नीति-कोई भी उनको अलग नहीं कर सकता । झूठी प्रतिष्ठा उस पवित्र बन्धन को तोड़ नहीं सकती। उठो, शान्तिपूर्वक नगर में जाओ और....यदि दे सको तो उस घड़े के टुकड़े का आधा भाग सुप्रिया को भी दे देना । तुम सुज्ञ हो। ज्येष्ठ हो। उठो।" उसकी भुजाएँ पकड़कर थरथराते हाथों से मैंने उसे उठाया। जैसे लता वृक्ष से लिपट जाती है वैसे ही वह एकदम कसकर मुझसे लिपट गयी। उसकी घनी कुंचित केशराशि पर फिरता हुआ मेरा हाथ

उससे कह रहा था, "वृषाली, यदि जीवित रहा तो फिर गंगा का किनारा है, यमुना की जल-तरंगें हैं, नहीं तो स्वर्गगा के तट पर फिर मिलेंगे।"

"चलती हूँ मैं।" हमारे विवाह में राजमाता कुन्ती देवी ने जो अंगुलित्राण दिया था, वह अपने अंशुक के छोर से निकालकर उसने मेरे दायें हाथ के अंगूठे पर चढ़ा दिया। उसके शरीर पर वही सुनहले बिन्दुवाली नीली अतलसी साड़ी थी। दोनों वस्तुएँ उसने राजमाता की ही चुनी थीं।

"जाओ, और राधामाता से कहना कि कल सूर्योदय से पहले दर्शन करने और आशीर्वाद लेने भवन आऊँगा।" मैंने कहा। अंशुक मुख के चारों ओर लपेटकर शिविर के बुने हुए पटल को दूर हटाती हुई वह बाहर चली गयी। बाहर खड़े सत्यसेन की आँखें आनन्द से चमक उठीं- —यह मुझको मशाल के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई दे गया। एक हाथ में मशाल लेकर अत्यधिक तत्परता से वह रथनीड़ पर चढ़ गया। वृषाली के रथ में बैठते ही उसने वल्गाओं को झटका दिया। प्रतीति का एक सूक्ष्म तार मेरे मन में कहीं झंकृत हो उठा। मैं पति होकर भी एक महत्त्वपूर्ण संस्कार-विधि भूल गया था।

"सत्यसेन, ठहरो।" शिविर के द्वार से हाथ उठाकर मैंने उसको रोका। जो वृषाली को देना चाहिए था, उसे तो मैं बिलकुल ही भूल गया था। एक हाथ में तीक्ष्ण फल का सर्पबाण लेकर मैं लगभग दौड़ता हुआ ही रथ के पास पहुँचा। वे दोनों ही चकित होकर देख रहे थे।

"वृषाली, तुम्हारा सौभाग्यालंकार रह ही गया।" हाथ में लगा बाण बायें अँगूठे में चुभोकर उसपर तरंगित होनेवाले बड़े-से रक्त-बिन्दु को मैंने दायें अँगूठे से उसके विशाल भाल पर लगा दिया। वह उस कुंकुम-तिलक से बहुत ही सुन्दर दिखाई दे रही थी। शुचिभूत दिखाई दे रही थी। जो यह कहते हैं कि इन्द्र को कवच-कुण्डल दान करके कर्ण ने भूल की, वे कैसे जान सकेंगे कि इस समय यदि, देह पर अभेद्य कवच होता तो....तो मैं वृषाली के भाल पर वैसा मंगल-तिलक लगाने के सौभाग्य से वंचित रह जाता।

सत्यसेन ने वल्गाओं को झटका दिया, घोड़ों के दौड़ते ही उसके हाथ की ज्योति फरफर करती हुई राजनगर की ओर दौड़ने लगी। दूरस्थ मोड़ की आड़ में जबतक वह अदृश्य न हो गयी तबतक मैं एकटक उसी की ओर देखता रहा।

बाईस

कल प्रज्वलित होनेवाले युद्ध में मेरे सामने एक ही मार्ग था-लड़ना। जो अपनी परम्परा के अनुरूप हो। जो कीर्तिदायक हो। कुरुओं के लिए लड़ना। कुरुओं की भूमि के लिए।

किसने मेरी प्रवंचना की थी, यह नहीं कहा जा सकता था। दुर्योधन ने इतने वर्षों के दीर्घ समय में क्या किया था, यह मैं यदि किसी को बताता भी, तो वह विश्वास न करता। शकुनि मामा, दुःशासन, महाराज धृतराष्ट्र-किसी भी राजकीय व्यक्ति के लिए कल का महायुद्ध नहीं था। वह मुझे और केवल मुझे ही लड़ना था। जो उपलब्ध हों, उन्हीं शस्त्रास्त्रों से। जो मिले उसी आयुध से। इसी में मेरा 'कर्णपन' था। इसी में मेरी परम्परा का सम्मान था। कुरुओं का था। कुरुओं की भूमि का था।

यह भूमि ! इस भूमि के लिए न जाने कितनों ने कितने महान् बलिदान किये हैं। हस्तिनापुर के राजसिंहासन का रक्षण करने के लिए कितने नरवीरों ने, बालक-बालिकाओं ने, स्त्री-पुरुषों ने अपने जीवन-कमल उस महान् यज्ञ में सहास्य अर्पण किये हैं। आस-पास के वातावरण में भ्रमण करनेवाली उनकी आत्माओं के प्रति एकनिष्ठ रहने के लिए मुझे कल लड़ना था। हृदय में भावनाओं की जो आँधी चल रही थी, उसको मैंने समय पर ही रोक दिया। नहीं तो....नहीं तो क्या होता, यह मैं भी नहीं बता पाता।

अरण्य में मार्गभ्रष्ट यात्री की तरह जो सम्भ्रम जीवन-भर रहा था, उसका कहीं न कहीं रुकना अत्यन्त आवश्यक था।

शान्तभाव से मन को एक सूत्र में बाँधकर मैं निद्राधीन हो गया ।

श्रीकृष्ण

□

मैं जानता था कि युद्ध कभी अन्तिम सत्य नहीं होता। युद्ध से समस्याएँ कभी सुलझती नहीं, प्रश्न हल नहीं होते। बल्कि युद्ध के विशाल नर-संहार से यह गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है कि मनुष्य-जाति कहीं श्रद्धा ही न खो बैठे। समाज के पतनोन्मुख होने का भय रहता है। राष्ट्र की सांस्कृतिक नींव के हिल जाने की सम्भावना रहती है। जिन रम्य स्वप्नों को मानव-जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने हृदय से लगाये रही है, उनके भंग होने का डर रहता है। जीवन का मूल उद्देश्य खोजते समय सम्भ्रम के काले काले वलय बुद्धि को घेर सकते हैं। फिर भी मैंने कुरुओं और पाण्डवों का महायुद्ध प्रज्वलित कर दिया था। लक्ष-लक्ष योद्धाओं की बलि लेनेवाला मृत्यु का महायज्ञ आरम्भ किया था। प्रत्येक मन में संचित सुप्त क्रूरता का मुक्त विस्फोट करनेवाला रोमांचक खेल प्रारम्भ किया था। कण-कण में विद्यमान जिस चेतना से विश्व संचालित होता है, उन तेजस्वी कणों का रोमांचक संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। क्यों ? किसलिए ? क्या इसलिए कि मैं एक पाषाण-हृदयी वधिक था ? क्या मैं यह चाहता था कि संसार में कोई जीवित ही न बचे ? आर्यावर्त में क्रूरता का, अश्रद्धा का, अराजकता का, स्वेच्छाचार का साम्राज्य छा जाये, इसलिए ? कदापि नहीं।

मैंने युद्धाग्नि प्रज्वलित की थी, हाथ से गाण्डीव को फेंककर नातों के प्रेम में भ्रान्त हुए शुष्क कण्ठवाले अर्जुन को पुनः धनुष उठाने को प्रवृत्त किया था। स्वयं उसके घोड़ों का संचालन करने के लिए उसके नन्दीघोष रथ की वल्गाएँ अपने हाथ में ली थीं। युद्ध के तीसरे दिन ही हाथ में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा भंग हो गयी, फिर भी मैंने उसकी कोई चिन्ता नहीं की। क्यों किया था मैंने यह सब ? किस लिए ? द्रौपदी के निष्कलंक चरित्र की घोर विडम्बना करनेवाले दुर्योधन-दुःशासन को केवल दण्ड देने के लिए ? शकुनि मामा की कपटपूर्ण राजनीति का सदा के लिए उन्मूलन करने के लिए ? भीष्म-द्रोण की मुग्ध और असमर्थ तटस्थता का मुँह खोलने के लिए ? धृतराष्ट्र की अन्धी आँखों में सत्य का चमचमाता अंजन लगाने के लिए ? कर्ण के मार्ग भ्रष्ट, पथच्युत और अखण्ड सम्भ्रमित जीवन को स्वर्ग का सुयोग्य मार्ग दिखलाने के लिए ? नहीं। यदि केवल ऐसा ही कोई उद्देश्य मेरा होता, तो मेरा कार्य सरल था। विशेष उद्देश्य के लिए विशेष उपाय-योजना कर मैं उसको पूर्ण कर लेता। केवल दो राजसिंहासनों का भी प्रश्न मेरे सामने नहीं था।

मेरे सामने प्रश्न था- —सम्पूर्ण मानव-जाति का। प्रश्न था, चिरन्तन अन्तिम सत्य का। प्रश्न था विविध प्रकार के अनगिनत कुम्भ धारण कर रहनेवाले अमर आत्मतत्त्व का।

संसार का अन्तिम और कभी न बदलनेवाला सत्य है प्रकामय अमर चैतन्य । उसका अनुभव कोई भी अपने विलास-सज्जित रंगभवन में रहकर कभी नहीं कर पाता । विशुद्ध आसक्ति पर जीवित रहकर, पानी में जैसे हाथी से मगर चिपट जाता है वैसे ही आसक्ति से चिपटकर, इसका साक्षात्कार कोई कभी नहीं कर पाता। इसके लिए तो शरीर के एक-एक स्नायु को इस बात का घनिष्ठ और निर्धान्त परिचय प्राप्त करना होता है कि जैसे दिन के बाद रात होती है वैसे ही जीवन के बाद मृत्यु अनिवार्य है। मन, शरीर, बुद्धि-सबको आत्मनिर्भर होना पड़ता है। तदनन्तर आवश्यकता नहीं रहती कि कोई अन्य व्यक्ति सत्य को बताये, उसको सिद्ध करे। वह स्वयं ही प्रत्येक शरीर से प्रकट होने लगता है। मुक्ति अथवा सर्वश्रेष्ठ आत्मानुभव कभी भीख माँगने से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं। दूसरे के अन्न खाने से अपनी क्षुधा कभी शान्त नहीं होती है, दूसरे के जल पीने से अपनी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार किसी के उपदेश मात्र से किसी का उद्धार नहीं होता। जहाँ-जहाँ जीवन होता है, वहाँ-वहाँ प्रकट होने की लालसा होती है, मुक्ति के लिए छटपटाहट होती है। बाहर से यह भले ही दिखाई न देता हो, परन्तु भीतर अविराम गति से यही कार्य चलता रहता है। जीवन का अर्थ है-प्रकटन।

कभी-कभी इस प्रकटन का प्रलयकारी दृश्य मानव-जाति के सम्मुख आया करता है। क्योंकि ग्रन्थ, उपदेश, नीतितत्त्व-इनका उल्लंघन कर वह आसक्त बन जाती है। जग में दृश्य वस्तुओं के परे और एक सूक्ष्म जगत् है, यह देखने के लिए भी उसके पास समय नहीं होता। उस समय मानव-जाति को घड़ी भर कहीं रुकना पड़ता है। और उसके लिए युद्ध-जैसा प्रभावशाली अन्य कोई मार्ग नहीं होता। मैंने युद्धाग्नि प्रचलित की थी, मात्र इसीलिए।

दो

दस दिन हो गये थे। युद्ध की भयंकरता बढ़ती ही गयी थी। उसकी गर्जना अति भयंकर हो उठी थी। आपने प्राणप्रिय भक्त अर्जुन के नन्दीघोष रथ के रथनीड़ पर बैठकर उसके गातिमान रथ के श्वेतशुभ्र बोड़ों का संचालन करते हुए, स्वच्छन्द रूप से चतुरंग दल में भ्रमण करते हुए, मैंने वह देखा था। उसको देखते समय जिस पाण्डवपक्ष की सहायता करने के लिए मैं सारथी के रूप में ही सही, कुरुक्षेत्र में उतरा, उन पाण्डवों की विजय का निश्चय मुझे पहले दिन से ही दृढ़ता से हो गया था। क्योंकि....क्योंकि अर्जुन-समेत पाँचों पाण्डवों को कृतान्त काल-जैसा लगनेवाला, असीम विक्रमी, सूर्यपुत्र कर्ण भीष्म का पतन होने तक समरांगण में उतरनेवाला ही नहीं था। उसके समान अखण्ड साधना से शुचिभूत, योजनाकुशल, ज्वलन्त पराक्रमी सेनानायक कुरुओं के पक्ष में दूसरा कोई नहीं था। इसलिए

शिष्टाचारवश जब मैं हस्तिनापुर गया था, तब उसके दिव्य कुल का स्पष्ट परिचय देकर मैंने उसको पाण्डवों के पक्ष में लौटाने का भरसक प्रयत्न किया था। परन्तु महासागर-जैसे उसके निश्चय को बदलने में सुदर्शन धारण करनेवाले मेरे हाथ भी विफल सिद्ध हुए थे। मेरे सत्य कथन से उसका कुछ तेजोभंग हो सकेगा क्या, इस बात पर हस्तिनापुर से लौटते हुए मैंने विचार किया था। परन्तु ऐसा होना बिल्कुल ही असम्भव था। उसने यही सिद्ध कर दिया था कि जो भंग हो जाता है, वह तेज नहीं होता। बल्कि वह सूर्यपुत्र है, यह समझते ही उसपर जो प्रतिक्रिया वह सबको चकित कर देनेवाली थी। विदुर ने मुझे यह बताया था कि मुझसे मिलकर लौटने पर 'मैं सूर्यपुत्र हूँ ! मैं सूर्यपुत्र हूँ !' की गर्जना करते हुए उसने पाँच सुवर्ण जलकुम्भ अंक में भरकर लुढ़का दिये थे। वही कर्ण भीष्म के पतन होने तक समरांगण में पैर ही नहीं रखनेवाला था। इन्द्र पहले ही अपने पुत्र अर्जुन के लिए बड़ी कुशलता से उससे उसके कवच-कुण्डल हस्तगत कर चुका था। परशुराम ने 'तुझको टीक युद्ध के अवसर पर ब्रह्मास्त्र स्फुरित नहीं होगा' का मर्मभेदी शाप दिया था। महेन्द्र पर्वत पर ब्राह्मण के 'तेरे रथ के चक्र को भूमि भी युद्ध में इसी तरह गाड़ रखेगी।' उद्गारों को कोई भी नहीं भूल सकता था। कुन्तीदेवी को तो उसने चार पुत्रों का अभय दिया था। सूर्यपुत्र होकर भी प्रथम पाण्डव कर्ण की पात्रता मेरी-जैसी अर्थात् एक सारथी-जैसी ही रह गयी थी।

परन्तु सचमुच यही बात थी क्या ?

युद्ध का ग्यारहवाँ दिन उदित हुआ। कुरुओं का त्रिकोणी भगवा राजध्वज हाथ में लिये गुरुदेव द्रोण कौरवों का नेतृत्व करने के लिए दृढ़तापूर्वक हमारे सामने आ खड़े हुए। द्रोण ! द्रोण सभी शस्त्रास्त्रों के साक्षात् चलते-फिरते वेद थे। दसवें दिन भीष्म के पतन के कारण रात-भर बिकल रहनेवाली कुरुसेना द्रोण को सेनापति के वेश में देखकर फिर रणोत्सुक होकर आवेश से गर्जना करने लगी। कुरुक्षेत्र का मुक्त वातावरण उनके गगनभेदी अखण्ड जयजयकार से निनादित होने लगा।

आज पहली बार ही द्रोण के नेतृत्व में प्रचण्ड रथदल के प्रमुख के रूप में कर्ण समरांगण में उतरा था। लता-बेलों से सुशोभित, दमकते विशुद्ध सुवर्ण से मण्डित अपने जैत्ररथ में सबसे लम्बा होने के कारण वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे हिमालय पर कैलास पर्वत का उत्तुंग शिखर शोभित होता है। उसके रथ पर हाथी को बाँधनेवाली शृंखलाओं के सुचिह्न से युक्त काषाय वर्ण का अतलसी राजध्वज इतना फड़फड़ा रहा था कि उसके फड़फड़ाने के कारण उसको धारण करनेवाला अनीदार सुवर्णी ईषादण्ड निरन्तर डगमग-डगमग हिल रहा था। सर्वांग पर लौहत्राण पहने हुए कर्ण राख से ढके हुए तप्त, धधकते अंगारे-जैसा ही था। उसके पास कवच-कुण्डल नहीं थे, उसका जीवन शापदग्ध था, फिर भी वह अंगारे-जैसा ही दाहक था। कितना ही छोटा क्यों न हो, फिर भी अग्नि का स्फुलिंग तो सदैव स्फुलिंग ही रहता है। मैं अच्छी तरह जानता था, कि ताजे उत्साहवाले कर्ण के आगे अर्जुन

को लाने में कोई भी बुद्धिमानी नहीं थी। इसीलिए रात को शिविर में जो बैठक हुई थी, उसमें कर्ण के भय से चिन्ताक्रान्त होकर बार-बार "उस सूतपुत्र राधेय का क्या होगा ?" यह कहनेवाले युधिष्ठिर को मैंने समझा दिया था कि जीवन-भर दग्ध करनेवाली अवहेलना से तथा स्थान स्थान पर होनेवाले मान-भंजन से बौखलाये हुए कर्णरूपी झंझावात के सम्मुख अर्जुन जीर्ण पर्णकुटी की तरह क्षण भर में धराशायी हो जायेगा। उसको रोकने की शक्ति एक ही व्यक्ति में थी-पर्वतकाय भीम में। इसलिए हमने सर्वसम्मति से पहले भीम को कर्ण से भिड़ाने का निर्णय किया। वचनप्रिय अमर्षी कर्ण कुन्ती देवी को दिये गये वचन को कभी भूल नहीं सकता था। भीम को वह मारनेवाला नहीं था। अर्जुन के अतिरिक्त अन्य किसी पर भी वह प्राणान्तक आक्रमण करनेवाला नहीं था। अब उसका पराक्रम दाँत उखाड़े हुए भुजंग और नखाग्र काटे हुए सिंह-जैसा ही था।

भीष्म के नेतृत्व में द्वैरथ, द्वन्द्व, संकुल और पाषाण-क्षेपण का जो घनघोर युद्ध हुआ था, उसमें पाण्डवों के पाँच लाख योद्धा काम आ गये थे। भीम, श्वेत, सात्यकि, अर्जुन, धृष्टद्युम्न, युयुधान—इन लोगों ने कौरवों के दस लाख योद्धाओं को यमसदन पहुँचा दिया था। फिर भी कौरवों की सैन्य-संख्या अधिक थी। कर्ण और द्रोण को सम्मुख रखकर पन्द्रह लाख का महासागर निरन्तर खौल रहा था। हमारे नन्दीघोष के पीछे दस लाख सेना खड़ी थी।

सूर्योदय होने पर अपने कन्धों के बराबर ऊँचे और विविध आभूषणों से सुशोभित, सुवर्णमण्डित, नामानुरूप ही जो 'विजय' था, उस अपने भारी धनुष को रथदल के प्रमुख के रूप में कर्ण ने बहुत ऊँचा उठाकर इधर-उधर घुमाया। अपना 'हिरण्यगर्भ' नामक शुभ्र-धवल विशाल शंख उसने अपने सतेज कण्ठ की, घोड़ों की वल्गाओं जैसी दिखाई देनेवाली मोटी-मोटी रक्तमय नसें फुलाते हुए, बड़ी जोर से फूँका। जितना गगनभेदी नाद उसके शंख का था, उतना अन्य किसी का नहीं था। नाक के सामने दौड़ते हुए अपने सहस्ररश्मि पिता को वह शंखनाद सुनाकर मानो कह रहा था, "अन्धकार भस्म करनेवाली तुम्हारी किरण-शलाकाओं की तरह ही मेरे अमोघ नाराच, सर्पमुख, सुवर्णपुख, सूची, जिह्म, बस्तिक, गजास्थि, गोमुख, चन्द्रपत्ती, गृध्रपत्र आदि विविध बाण आज अर्जुन को दग्ध कर देंगे। अपने राजध्वज पर अंकित हाथी की शृंखलाओं में मैं उसके ध्वज पर अंकित कपि-वानर को कसकर जकड़ दूंगा।" योद्धाओं के रोंगटे खड़े कर देनेवाला हिरण्यगर्भ का भेदक शंखनाद कर उसने विराट् रथदल को आगे बढ़ने के लिए भेदक चेतनामय संकेत किया। उसकी हलकी नीली आँखें क्रोध से गहरी नीली दिखाई दे रही थीं। सेनापति द्रोण हैं, यह भूलकर उसका अनुसरण करनेवाले महारथी 'अंगराज कर्ण, जयतु ! जयतु ! जयतु' कहते हुए उसी के नाम का अविरत जयजयकार करने लगे। बड़वानल से घिरे हुए निषध पर्वत-जैसे दिखाई देनेवाले उस प्रथम पाण्डव को देखकर, प्रत्येक पाण्डव योद्धा को ही नहीं बल्कि मुझे भी ऐसा आभास हुआ कि कहीं सूर्य ही दूसरा रूप धारण कर श्वेत घोड़ों के

वेगवान रथ पर आरूढ़ हो गया है क्या ? पौर्णमासी के दिन जैसे महासागर गरजता है, वैसे ही अपना विजय धनुष ऊँचा कर वह गरज रहा था। वह क्षण भर में ही पाण्डव सेना में ऐसे घुस गया जैसे नदी की दह में प्रवेश करनेवाला मगर सरसर पानी काटता हुआ आगे दौड़ता है। उसकी क्रुद्ध आँखें निरन्तर अर्जुन के रथ पर लगे ध्वज को ही ढूँढ़ रही थीं। परन्तु....परन्तु अर्जुन को घेरे हुए भीम ही पुनः-पुनः उसके सम्मुख जाने लगा। मैंने कुशलता से अर्जुन का नन्दीघोष कर्ण के सामने न जाने देकर द्रोण के सामने उपस्थित कर दिया ।

केवल एक रथ में बैठकर, भ्रमण करते हुए दिग्विजय में समस्त आर्यावर्त को पादाक्रान्त करनेवाला, दान, साधना, धैर्य और शुचिता से तप्त लौह-जैसा दिखाई देनेवाला यह पहला कौन्तेय और बकासुर, हिडिम्ब, जरासन्ध-जैसे विशालकाय व्यक्तियों का वध करनेवाला बलाढ्य भीम दोनों एक-दूसरे के सामने खड़े हो गये। दो उन्मत्त वन्य गजों की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़ने से पहले क्षण-भर रुककर वे एक-दूसरे पर लक्ष्य साधने लगे। क्षण-भर में उनका हृदय कँपा देनेवाला रोमहर्षक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। बाण से बाण टकराने लगे। क्रुद्ध भुजंग की तरह उष्ण निःश्वास छोड़ते हुए बाणों से उन्होंने पल-भर में ही सारा आकाश आच्छादित कर दिया। मृग-नक्षत्र की अनिरुद्ध वर्षा की तरह बाणों की निरन्तर अखण्ड धाराएँ कर्ण के धनुष से छूटकर भीम के पथक में लड़नेवाले विराट, मत्स्य और पांचालों को सन्त्रस्त करने लगीं। जैसे मध्याह्न का सूर्य मरुस्थल की बालू का कण-कण सन्तप्त कर देता है, वैसे ही उसके दाहक अग्निबाण पाण्डवों की सेना को दग्ध करने लगे। उसके बाणों से घिरा हुआ भीम इतना व्याकुल हो गया कि उसने हाथ से धनुष फेंककर, मैरेयक मद्य के कुम्भ के कुम्भ पेट में उँडेलकर, अपने रक्त की एक-एक बूंद को पहले उत्तेजित कर लिया। गुंजा जैसे लाल नेत्र चारों ओर घुमाता हुआ वह आवेग में कर्ण पर इस प्रकार टूटा कि उसने सतत आठ बार उसके विजय-धनुष की दृढ़ प्रत्यंचा को तडातड़ तोड़ दिया। पाँच बार कर्ण के रथ को उद्ध्वस्त कर उसे विरथ किया। सारथी सत्यसेन को आहत कर दिया। जैसे ही सत्यसेन रथनीड़ से गिरा, कर्ण ने हाथ से धनुष फेंक दिया। सत्यसेन का कम्पित सिर जाँघ पर में रखकर वह उसको सँभालने लगा तथा 'सत्यसेन SSs ! सत्यसेन !' कहकर उसकी मूर्छा दूर करने लगा। इतने में क्रुद्ध भीम ने एकदम अपने रथ से उसके रथ पर कूदकर उसके सुदृढ़ रथ को चूर-चूर कर दिया। सत्यसेन गिर पड़ा था, फिर भी कर्ण अतिशय सौम्य भाव से लड़ रहा था। माता को दिये गये वचन का पालन कर रहा था। भीम के आक्रमणों को वह केवल रोक रहा था। परन्तु मैरेयक मद्य का नशा चढ़ने से जब भीम समुद्री पवन की तरह उच्छृंखल हो गया, तब कर्ण से न रहा गया। उसकी नीली आँखें क्रोध से लाल हो गयीं। वैशाख की तपती हुई धधकती धूप की तरह, वह जो सामने आता उसी को जलाता हुआ, भीम पर टूट पड़ा और जैसे क्षण-भर में ही गंगा का विशाल पात्र बने कुहरे से आच्छादित हो जाता है वैसे ही उसने अपने अमोघ बाणों की निरन्तर वर्षा कर विशालकाय भीम को क्षण-भर में ही पूर्ण आच्छादित कर दिया। जिसके शरीर में स्थान-स्थान पर मर्मभेदी बाण

घुसे हुए हैं ऐसा भीम रथ से धड़ाम से ऐसे नीचे गिरा जैसे तूफान में डौलदार शालवृक्ष उखड़कर गिर पड़ता है। धरती हिल उठी। वायुपुत्र भीम मूर्छित हो गया। सोते समय भी धरती को कभी पीठ न दिखाने वाला अजेय भीम धराशायी हो गया था।

आँखों से विजय के आनन्द की चिनगारियाँ बरसाता हुआ कर्ण अपने रथ से एकदम नीचे कूदकर वायुगति से उसकी मूर्च्छित देह की ओर दौड़ा। उसको रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं थी।

कुछ क्षणों में ही सचेत होकर रक्तवर्णी आँखों को खोलता-बन्द करता हुआ भीम उठने का प्रयत्न करने लगा। उसके कण्ठ में अपने विख्यात धनुष की प्रत्यंचा को फन्दे की तरह डालकर कर्ण ने उसको जोर से झकझोरा और भीम ने अखाड़े में सर्वप्रथम "सूतपुत्र" कहकर जिसकी अवहेलना की थी, वह सूर्यपुत्र उपहास करता हुआ गरजकर बोला, "अरे, अनाप-शनाप बोलनेवाले ! हाथ में प्रतोद लेकर आज तेरी उन्मत्त पीठ पर खाल खिंचने तक उसका प्रयोग करूँ क्या ? जा, मेरी आँखों के आगे से चलता बन। जहाँ पंच-पक्वान्नों के ढेर लगे हुए हों, उस पाकगृह में जाकर अपनी लपलपाती जिह्वा को शान्त कर। फिर कभी इस कर्ण के सम्मुख आने का साहस मत करना। जा, चला जा !"

लज्जित भीम सिर झुकाकर उस विख्यात दानवीर से प्राणदान लेकर पीछे लौटा। आज पहली बार भीम का गर्वहरण हो रहा था।

भीम द्वारा वधित दुर्मुख, दुर्जय, विकर्ण-इन दुर्योधन-बन्धुओं के शव कुरुओं ने बड़ी कठिनाई से रणक्षेत्र से बाहर निकाले। विकर्ण को मारते समय भीम की आँखों के आगे धूल के बाद वस्त्रहरण की घटना घूम गयी। रथ से नीचे उतरकर उसने मुकुट उतारकर विकर्ण की मृतदेह को वन्दन किया। कर्ण के विराट् पराक्रम से त्रस्त युधिष्ठिर स्पष्ट रूप से युद्ध-समाप्ति की भाषा बोल रहा था। भीम के अहंभाव का हरण कर ग्यारहवाँ दिन प्रस्थान कर रहा था। लेकिन शिविर में युधिष्ठिर की आँखों में नींद नहीं थी। बारहवें दिन सैन्य संरचना में निपुण राजनिष्ठ द्रोण ने शंख के आकार की सैन्य-रचना कर पहले ही प्रहर तक चेकितान, दृढ़सेन, पुरुजित्, युगन्धर, ध्वजकेतु, वीरकेतु, वृक, शंख, मणिमान्, सुचित्र, अंशुमत् और विख्यात द्रुपदराज को यमसदन पहुँचा दिया। परन्तु शिष्य-प्रेम के कारण अर्जुन से वे सौम्य युद्ध कर रहे थे। निष्ठा डगमगा रही थी। आखिर प्रेम दुर्बल ही होता है।

अचल, उग्रमन्यु, दीर्घायु, वष्ट, सौश्रुति आदि प्रसिद्ध रथियों को अर्जुन ने धराशायी कर दिया। सात्यकि ने अश्वत्थामा, दुःशासन और शकुनि को सत्रस्त कर दिया। जब दो प्रचण्ड पाषाण एक-दूसरे से टकराते हैं, तब उनपर रेंगनेवाली असंख्य चींटियों की पंक्तियाँ कुचलकर ही नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही प्रत्येक पथक के कितने सैनिक काम आ चुके थे, इसकी गणना करना असम्भव हो गया था। युद्ध के कोलाहल में हाथी, घोड़े और रथों के

नीचे आकर प्राणान्तक आर्तनाद करते हुए बहुतों ने देह छोड़ दी। युद्धभूमि कटी हुई सूझों, हाथों, पैरों और मुकुटमण्डित मस्तकों से खचाखच भर गयी थी।

क्रुद्ध सिंह की तरह बौखलाया हुआ कर्ण चतुरंग दल में अर्जुन को ढूँढ़ने के लिए स्वच्छन्द होकर घूम रहा था। परन्तु अर्जुन के रथ की वल्गाएँ मेरे हाथ में थीं। कर्ण के रथ पर शृंखलांकित ध्वज को ध्यान से एकटक देखते हुए मैं यथाशक्ति अर्जुन को उसकी विरुद्ध दिशा में ले जा रहा था। उसका अवरुद्ध पराक्रम कितना दाहक था, भीम को उसने जो जीवनदान दिया था, उससे कोई भी यह जान सकता था। अर्जुन कहीं दिखाई नहीं दे रहा है, यह देखकर और अधिक सन्तप्त कर्ण, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव को बार-बार घेरकर, रथविहीन कर, उनके कण्ठ में अपना धनुष अटकाकर, क्रुद्ध नेत्रों से अग्नि की वर्षा करता हुआ विक्षुब्ध होकर उनसे पूछ रहा था, “बताओ, मेरे सुदामन और शोण को डसनेवाला वह नीला सर्प कहाँ है ?” बिना कुछ कहे, वे विरथ पाण्डव अपने पराजय की पीड़ा सहन करते हुए क्षण-भर भी उसके सामने न ठहरकर लज्जित होकर सीधे दौड़ रहे थे। राजमाता के वचनों से बँधा हुआ वह सूर्यपुत्र विवश होकर उष्ण साँसें छोड़ता हुआ पांचाल, विराट्, मत्स्य, राक्षस इनके पथकों को इस प्रकार काट रहा था जैसे कटाई के अवसर पर कोई कृषक खड़ी फसल काटता है। इच्छानुसार पथकों को काटता हुआ वह चारों ओर बिजली की तरह चमक रहा था। एक बार तो उसने युधिष्ठिर को मूर्छित कर उसका रथ एकदम उठाकर दूर फेंक दिया। सैनिक-योद्धाओं ने उसको समरांगण से बाहर ले जाकर सचेत किया। कर्ण साठ वर्ष तक सुलगते रहनेवाले ज्वालामुखी का प्रलयकारी विस्फोट था। गरजता हुआ प्रभंजन था। कोई भी उसके सम्मुख टिक नहीं सकता था। चक्कर काटता हुआ बारहवाँ दिन भी व्यतीत हुआ। प्रत्येक दिन युद्धभूमि शवों से इस प्रकार खचाखच भर जाती थी कि प्रतिदिन समरांगण बदलना पड़ता था।

अभी तक युद्ध में एक भी पाण्डव का पतन नहीं हुआ है, यह देखकर उस दिन रात को, नाते के सभी बन्धन ताक में रखकर, दुर्योधन सेनापति द्रोण पर बुरी तरह बरस पड़ा, “बारह दिनों में बारह लाख कुरु सेना काम आ चुकी है, लेकिन एक भी पाण्डव अभी तक गतप्राण नहीं हुआ। मेरे चौबीस भाइयों को भीम ने मार डाला है, और उधर एक भी पाण्डव नष्ट नहीं हुआ ! यह युद्ध है या दिग्विजयी सेना द्वारा मनोरंजन के लिए परोसा गया भोजन ? गुरुदेव द्रोण, यदि आपका धनुष पाण्डवों को यमसदन पहुँचाने में असमर्थ है तो अपने राजरथ का ध्वज कल कर्ण के हाथ में दे दीजिए।” उसका एक-एक शब्द द्रोण का हृदय टूक-टूक कर रहा था। जिसने अहर्निश कष्ट करके कौरव और पाण्डवों को निष्ठा के साथ शस्त्रविद्या सिखायी, उनके उन शिष्यों में से कोई भी आज उनकी भावनाओं की चिन्ता नहीं कर रहा था। उनको अपना अंगूठा काटकर देनेवाले, कटिप्रदेश में वन्य वल्कल बाँधनेवाले, निषध पर्वत की घनी श्रेणियों में भटकनेवाले, काला शरीर परन्तु धवल अन्तःकरण के एकलव्य

को ही क्रूर काल ने गुरु द्रोण का एकमेव निष्ठावान् शिष्य प्रमाणित किया था। सामाजिक रूढ़ियों की अपेक्षा त्याग और निष्ठा सदैव श्रेष्ठ होती है।

सबके प्रेम को अपने विशाल तरकश की रिक्तता में ठूसकर गुरु द्रोण दृढ़ता से खड़े हो गये। शुभ्र दाढ़ी क्षण-भर थरथरायी।

"मेरे पराक्रम पर सन्देह करनेवाले दुर्योधन को कल ही मैं दिखा दूँगा कि किसी न किसी श्रेष्ठ पाण्डव की चक्रव्यूह में पड़ी हुई काया देखे बिना कल का सूर्य अस्त नहीं होगा।" यह कहकर वे तत्क्षण बैठक से चले गये।

तीन

हमारे गुप्त दूत ने बैठक का सम्पूर्ण वृत्तान्त जैसा सुना था वैसा ही आकर हमारे सामने निवेदन कर दिया। अर्जुन-समेत सभी चिन्ताक्रान्त हो गये। चक्रव्यूह ! सबसे कठिन सैन्य रचना ! कल का सेनापति पद किसे दिया जाये ? कौन भेदेगा चक्रव्यूह ? चिन्तित पाण्डव क्या-क्या सोच सकते हैं, यह मैं चुपचाप केवल आधी घड़ी तक सुनता रहा। सभी लोग भीम को आगे लाने की ही योजना बना रहे थे। भीम कितना ही पराक्रमी क्यों न हो किन्तु वह चक्रव्यूह का भेदन कभी नहीं कर सकता था। मैंने एक सेवक को भेजकर अभिमन्यु को बुलवाया। बैठकवाले शिविर में आते ही मैंने उससे कहा, "अभि....!" सदा की तरह अभिमन्यु न कहकर 'अभि' कहते ही कथन की मार्मिकता उस अर्जुनपुत्र ने तत्काल जान ली। उसकी तीक्ष्ण नासिका के नीचे दीर्घ होठ के पीछे उल्का-जैसे धवल दाँत क्षण-भर को चमके। तत्क्षण आगे बढ़कर विनयपूर्वक मुझको वन्दन करता हुआ वह संयत स्वर में बोला, "आज्ञा मामा !"

उसकी विनय और बुद्धिमत्ता देखकर, यादवों और पाण्डवों के रक्त की एकमात्र चुलबुली निशानी, एक वर्ष पहले ही विवाहित हुए उस सोलह-सत्रह वर्ष के युवक को कल दाँव पर लगाना पड़ेगा, यह सोचकर क्षण-भर मैं भी सम्भ्रमित हो गया। कुछ भी । कहा न गया।

सबको चुप देखकर वही बोला, "आप सभी इस प्रकार स्तब्ध क्यों हैं ? चिन्ताक्रान्त क्यों हैं ?"

"कल गुरु द्रोण चक्रव्यूह की दुष्कर सैन्य-रचना करनेवाले हैं। उसको भेदने का कार्य...."

मैं उससे स्पष्ट कुछ भी नहीं कह पा रहा था। उसकी गर्भवती पत्नी उत्तरा का विमल मुख आँखों से ओझल नहीं हो पा रहा था।

"वह कर्तव्य यदि मुझे सौंपा जा रहा हो तो यह मेरा सौभाग्य है। आप सबका आशीर्वाद पाकर मैं उसको सहर्ष स्वीकार करूँगा !" श्रद्धा-पूर्वक सबको अभिवादन कर, बड़े-बूढ़े और गुरुजनों के बीच बैठने की असभ्यता से अपरिचित वह सुभद्रा-पुत्र, यमुना से लौटते हुए घोड़ों की-सी शान्त चाल से शिविर के बाहर चला गया। सबके मन भर आये। युद्ध-भूमि

में उतनी किशोर अवस्था का कोई भी योद्धा नहीं था। कृष्णा चतुर्दशी का दिन उदित हुआ। युद्ध का तेरहवाँ दिन था वह। गुरु द्रोण ने चक्र-व्यूह की रचना प्रातःकाल के प्रथम प्रहर से ही सैनिकों को शिविर से बाहर निकाल कर शुक्र के धुंधले प्रकाश में तैयार कर दी थी। मुख पर वे स्वयं खड़े थे। जैसे गुफा के द्वार पर सिंह।

दूसरा अर्जुन ही प्रतीत होनेवाले अभिमन्यु ने पाण्डव सेना का नेतृत्व करते हुए शंख फुंका। भीम, नकुल, सहदेव और युयुधान उसकी रक्षा करते हुए आगे बढ़े।

जैसे कन्दर्प के छिलके उतार रहा हो, वैसे ही एक के बाद एक सेना की पंक्तियाँ भेदता हुआ अभिमन्यु कौरव सेना में घुसा। द्रोण, शकुनि, दुःशासन, जयद्रथ, कृतवर्मा, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि सबको घायल करता हुआ वह सेना के मण्डल पर मण्डल तोड़ता गया। जैसे बामी में भुजंग घुसता है, वैसे ही वह कौरव सेना में जा घुसा। भीम क्षण-प्रतिक्षण पीछे साथ-साथ जा रहा था। पर अभिमन्यु से उसकी दूरी बढ़ती जा रही थी। स्फुरित बाँहोंवाला, आवेशयुक्त, स्वयं को भूला हुआ अभिमन्यु पीछे मुड़कर भी न देखता हुआ चक्रव्यूह के केन्द्रबिन्दु की ओर तीर की तरह चला। हजारों रथी, गजाति, अश्वसाद आदि को यमसदन पहुँचाता हुआ वह अकेला ही सात मण्डल भेदकर आठवें मण्डल के केन्द्रस्थान में प्रविष्ट हुआ। उसके चारों ओर लक्ष-लक्ष केवल कुरु-सैनिक थे। फिर भी एकाकी लड़ते हुए उसने शत्रुजय, तक्षक, सत्यश्रवस्, चन्द्रकेतु, जयत्सेन और मेघवेग-जैसे अतिरथियों को धड़ाधड़ धराशायी कर दिया। सन्ध्याकाल का प्रहर आ गया था, फिर भी अभिमन्यु हटने का नाम नहीं ले रहा था, यह देखकर युद्ध और अधिक भयंकर हो उठा। बारह दिनों में इतना भयंकर युद्ध कभी नहीं हुआ था। केन्द्र-स्थान पर एकाकी मिले हुए उस सुभद्रापुत्र पर द्रोण, कृप, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कर्ण-ये छहों महारथी एक साथ ही टूट पड़े। हाँ, उनमें कर्ण भी था। जीवन-भर की भ्रान्ति उसे खींचकर कहीं भी ले जा सकती थी। लेकिन अभिमन्यु उन सबकी शरण में भी नहीं गया। अन्त में दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण और अभिमन्यु में घनघोर गदायुद्ध हुआ। एक-दूसरे पर एक ही समय मर्मभेदी प्रहार कर दोनों ही मूर्छित हो गये। पहले लक्ष्मण सचेत हुआ। उसने कुछ भी विचार न कर अपनी गदा का मर्मभेदी क्रूर प्रहार निश्चेष्ट अभिमन्यु के मस्तक पर किया। रक्तवर्णी कमलपुष्प-जैसा दिखाई देनेवाला उसका मुख छिन्न-भिन्न हो गया। मृत्यु से पूर्व चेतना का एक अस्फुट तार उसके मुख ने छेड़ दिया, “का ss का भीsm का ss का.... I” उसको सुनकर सबके कठोर मन भी क्षण-भर को द्रवित हो गये। परन्तु अकेला जयद्रथ दैत्य की तरह आगे आया और वह वास्तव में मरा है या नहीं इसका निश्चय करने के लिए, धरती की ओर मुख कर पड़े हुए अभिमन्यु की निश्चेष्ट काया को उलटा करने के लिए उसने उन्मत्त होकर लात मारी। लक्ष्मण की गदा के भारी प्रहार से आधे से अधिक धरती में धंसा हुआ उसका छिन्न-भिन्न मस्तक ज्यों का त्यों धरती में ही रहा। केवल धड़ ही उलट गया। वह

पराक्रमी अर्जुनपुत्र अपने तेजस्वी मुख कमल को किसी भी कौरव योद्धा की दृष्टि में नहीं आने देना चाहता था, इसीलिए उसने उसे परमोदार धरती में छिपा लिया था। चक्रव्यूह के ठीक केन्द्र-बिन्दु पर उसकी विच्छिन्न काया जैसी की तैसी पड़ी हुई थी।

जयद्रथ की क्रूरता का वृत्तान्त जैसे ही अर्जुन को ज्ञात हुआ, उसने अपने विशाल नेत्र फाड़कर, गाण्डीव धनुष ऊँचा कर घोर प्रतिज्ञा की, “मेरे प्रियपुत्र के शरीर पर लात का प्रहार करनेवाले असभ्य जयद्रथ को कल सूर्यास्त से पहले ही यमसदन पहुँचाऊँगा, नहीं तो मैं स्वयं अग्नि में प्रवेश कर स्वर्ग में अपना पितृछत्र अभिमन्यु के ऊपर लगाऊँगा।”

अभिमन्यु के शव के चारों ओर सिसकते हुए प्रदक्षिणा करनेवाले पार्थ को देखता हुआ ही तेरहवाँ दिन घोड़ों की वल्गाएँ थामे हुए पश्चिम के रंग महल को चला गया। इन तेरह दिनों में कुरुक्षेत्र के तेरह विशाल प्रांगणों की समरभूमि बन चुकी थी। शव खचाखच भरे पड़े थे।

रात को शिविर में मैंने और किसी को न आने दिया और एक राजज्योतिषी को बुलवाया। भूर्जपत्र पर अंक लिखकर, उँगलियों पर गिनता हुआ वह गणित करने लगा। आधी रात होने पर उसने अपना सिर ऊपर उठाया। कानों पर सरकती हुई कनटोपी को सँवारता हुआ वह बोला, “यादवराज, है ! कल अमावस्या को खग्रास सूर्यग्रहण है। तीसरे प्रहर के बाद ।” मैंने अपने गले से मौक्तिकों की माला उसके ऊपर फेंकते हुए उसको हस्तिनापुर लौट जाने का आदेश दिया। घने अन्धकार में वह अदृश्य हो गया।

युद्ध का चौदहवाँ दिन उदित हुआ। तीसरे प्रहर तक मैं अर्जुन के नन्दीघोष को कुरुओं के पथक-पथक में घुमाता रहा; परन्तु जयद्रथ कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। कुरुओं ने उसको समरांगण में आने ही नहीं दिया। सहस्र योद्धाओं से रक्षित एक सुदृढ़ शिविर में वह छिपा बैठा था। जयद्रथ नहीं मिल रहा है, यह देखकर भड़का हुआ अर्जुन नियतायु, मित्रदेव, दण्डधर आदि को धराशायी करता हुआ, एक के बाद एक पथक नष्ट करता हुआ, “जयद्रथ कहाँ है ! जयद्रथ कहाँ है !” कहकर बिजली की तरह थिरकने लगा। युद्धमन सैनिक यह जान भी नहीं पाये कि तीसरे प्रहर के बाद ही आकाश आच्छादित कैसे हो गया ?

कुछ पलों में ही सूर्य सम्पूर्ण ग्रस्त गया। चारों ओर अन्धकार छा गया। चहचहाते हुए पक्षियों के झुण्ड नीड़ों की ओर लौटने लगे। मंजीरे कर्कश स्वर में किर्-किर् करने लगे। कुरुक्षेत्र के आस-पास सैकड़ों मशालें जल उठीं। सबने समझा कि दिन ढल गया।

अर्जुन की प्रतिज्ञा भंग हो गयी। इसके लिए चिता रची गयी। वह सबको अच्छी तरह दिखाई दे सके इसलिए कुरुओं और पाण्डवों के शिविरों के मध्य रिक्त प्रशस्त स्थान पर वह बनायी गयी। भ्रान्तचित्त, लज्जित अर्जुन ने मुझे, युधिष्ठिर को, भीम को और अपनी वृद्धमाता को अश्रुपूर्ण नेत्रों से वन्दन किया। और आज उसके साथ ही उसके गाण्डीव का

पराक्रम भी समाप्त हो गया, यह सोचकर उसको तरकस के साथ शरीर पर ही धारण किये हुए वह आठ हाथ ऊँची उस भव्य चिता पर अपमानित नतमस्तक होकर, अग्निप्रवेश के लिए चढ़ा। हाथ जोड़कर उसने नेत्र बन्द कर लिये : "ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धियो नो ज्योतिर्गतम् ।" गायत्री का धैर्यपूर्ण मन्त्र धीरे-धीरे बोलता हुआ वह मृत्यु के लिए सन्नद्ध हो गया। एक सेवक ने काँपते हाथों से मशाल की लौ चिता में लगायी। आस-पास कहीं जयद्रथ दिखाई दे रहा है क्या, यह मैं देख ही रहा था। उत्तरीय का छोर स्त्रियों की तरह मुख के चारों ओर लपेटे हुए वह दुर्योधन के पीछे खड़ा था। अर्जुन का अग्नि-प्रवेश देखकर वह अपनी क्रूर आँखों को शान्त करने आया था।

एकदम सूर्य ग्रहण-मुक्त हुआ। फूटे हुए घड़े से जैसे जल की धाराएँ बाहर गिरने लगती हैं, वैसे ही कई किरणें एक साथ बाहर निकलीं। मशालों पर हँसते हुए सूर्यदेव पश्चिम क्षितिज पर खड़े हो गये। पक्षी कोलाहल करते हुए फिर नीड़ छोड़कर चल दिये। मजीरे की कर्कश ध्वनि शान्त हो गयी।

"पार्थ, वह देखो सूर्य और वह रहा जयद्रथ ।" मैंने अँगुली सूर्य की ओर की और फिर जयद्रथ की ओर। जिस स्थान पर वह छिपा था, वह स्थान उसे दिखाया। मेरी, अँगुली का अग्र अचूक पकड़कर, शब्दभेद करने में पारंगत अर्जुन ने, क्षण-भर में ही हाथ में पकड़े हुए गाण्डीव से जिह्मबाण मारा। बाण सर्पगति से चलता हुआ, मध्यस्थ सबको बचाता हुआ ठीक जयद्रथ कण्ठ को भेद गया। क्या हो गया और कैसे हो गया-यह स्वयं अर्जुन भी नहीं जान सका।

अर्जुन के लिए रची गयी उस भव्य चिता पर जयद्रथ के शव को जलता हुआ देखते ही चौदहवाँ दिन, सूर्यग्रहण का चकमा देकर, अस्त हो रहा था। अब युद्ध में क्या होगा, यह कोई नहीं बता सकता था।

सन्तप्त दुर्योधन ने तत्काल अपने शिविर में सभी पथक प्रमुखों को बुलवाया। क्षण-भर पहले ही जो हृदयविदारक नाट्यमय घटना घटित हुई थी, उससे सभी अभिभूत हो उठे थे। उनकी बैठक में पहली ही बार इतनी अभूतपूर्व असहमति एवं व्याकुलता उत्पन्न हो रही थी। पाण्डवों की दृष्टि से मैं जो चाहता था वही घटित हो रहा था।

अर्जुन द्वारा वधित अपनी भगिनी के सौभाग्य के लिए छटपटाते हुए दुर्योधन को धैर्य बँधाने के लिए कर्ण बोला, "राजन्, जो विजय कार्तिकेय ने इन्द्र को दिलायी थी, वही विजय मैं तुम्हें दिलाऊँगा। इन्द्र द्वारा प्रदत्त अमोघ वैजयन्ती शक्ति अर्जुन पर। छोड़कर पाण्डवों के सामर्थ्य का मूल ही मैं नष्ट कर दूँगा।"

कृपाचार्य को कर्ण का वह विचार हास्यास्पद लगा। तत्क्षण उठकर वे बोले, "सूतपुत्र, तेरा सम्पूर्ण जीवन केवल गगनभेदी प्रतिज्ञाएँ करने में ही बीता है। क्या उनमें से एक भी कभी तू पूर्ण कर सका है ? चित्रसेन गन्धर्व के साथ हुए युद्ध में, विराटनगर में गोहरण के

समय हुए युद्ध में, भीम के साथ द्वैरथ युद्ध में—तूने सदैव पलायन ही किया है। पलायन ही तेरा जन्म-भर का धर्म है। किरात रूपधारी शंकर को जीतनेवाले अमित सामर्थ्यवान तथा श्रीकृष्ण-जैसे सहायक प्राप्त अर्जुन को जीतने की शक्ति किसी में नहीं है।"

कृपाचार्य का वह मर्मभेदी प्रहार सुनते ही भरी बैठक में कर्ण खड्ग निकालकर उनकी ओर दौड़ा। "पग-पग पर मेरा घोर अपमान करनेवाले ब्राह्मण, मैं आज तेरी उच्छृंखल जीभ ही काटे देता हूँ।" यह कहते हुए उसने अपना खड्ग एकाएक उनके कण्ठ पर रख दिया। दुर्योधन बीच में पड़ गया और उसने कर्ण को शान्त किया। लेकिन इस घटना ने एक अवांछित कटु सत्य को साकार कर दिया। अपने मामा का-कृपाचार्य का-भरी बैठक में यह अपमान भला अश्वत्थामा कैसे सहन करता ? उसने भी अपना खड्ग निकाल लिया। कर्ण पर। अपने प्राणप्रिय मित्र पर। "मेरे मातुल का घोर अपमान करनेवाले, डींग मारनेवाले कर्ण, अर्जुन के पहले तेरा ही कण्ठनाल भेद देना चाहिए" कहता हुआ वह कर्ण पर झपटा। जीवन-भर मन, बुद्धि, आत्मा--जीवन के इन गहन अंगों पर विचार करनेवाले वे दोनों एक-दूसरे के प्राणप्रिय सखा थे, यह बात उस बैठक में किसी को भी अब सत्य नहीं लग सकती थी। कोई भी सत्य नहीं मान सकता था। इसीलिए तो सत्य कभी-कभी कल्पना से भी अधिक भयानक होता है। दुर्योधन ने कुशलता से अश्वत्थामा को भी शान्त किया। परन्तु सदैव शान्त रहनेवाला व्यक्ति जब कभी एक बार बौखला उठता है, फिर उसका क्रोध उसी की मर्यादा से बाहर हो जाता है।

"इस सूतपुत्र का अब मुँह भी नहीं देखूँगा।" निश्चय स्वर में बैठक में सभी लोगों से दृढ़ स्वरों में कहकर वह गुरुपुत्र अश्वत्थामा एकदम शिविर के बाहर चला गया। महानद के तट पर स्थित मन्दिर उद्ध्वस्त हो गया। प्राणाधिक स्नेह करनेवाले अश्वत्थामा ने आज अज्ञानवश 'सूतपुत्र' कहकर ही सम्बोधित किया—यह सोचकर कर्ण ने गरदन नीची कर ली। असह्य दुःख से।

जयद्रथ के आकस्मिक वध से द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा-सभी बौखला उठे थे। अभूतपूर्व रात्रियुद्ध प्रारम्भ हो गया। सैकड़ों जलती हुई मशालों के जगमग प्रकाश में गुरु द्रोण ने शिबि राजा पर आक्रमण कर दिया। सोमदत्त सात्यकि पर टूट पड़ा। फिर घोर संग्राम होने लगा। रात के समय ऊँचे पर्वत पर वेणु-समूह में आग लगने पर जैसे वेणु तातड़ फटने लगते हैं, वैसे ही गरजते हुए शस्त्रों की खनखनाहट दृषद्वती के पात्र को भयभीत करने लगी। शिबि और बाह्लीक को मौत के घाट उतारकर गुरु द्रोण पाण्डव सैन्य का संहार करने लगे। पाँचों पाण्डवों द्वारा एक ही समय चारों ओर से घिरा हुआ कर्ण सबको अपने बाणों की वर्षा से आच्छादित करने लगा। उसने युधिष्ठिर को खदेड़ दिया। पराभूत युधिष्ठिर द्रोण के सामने जा खड़ा हुआ। नकुल शकुनि के सामने गया। पहली ही बार अर्जुन और कर्ण की मुठभेड़ हुई। रात्रियुद्ध का अभ्यस्त कर्ण अर्जुन को पुनः-पुनः बिद्ध करने लगा।

प्रखर तप्त लाल लोहे के रस का एक महानद जैसे कर्ण के रूप में पाण्डव-सैन्य में इच्छानुसार स्वच्छन्द विचरण करने लगा। मन को पीछे खींचनेवाला अब कोई बन्धन शेष नहीं रहा था। इसलिए केकय, पांचाल, महारथ—इनके पथकों को एक के बाद एक रौंदता हुआ उसका वायुजित् अपने नाम के अनुरूप ही स्वच्छन्द भ्रमण करने लगा। जैसे क्रुद्ध सिंह जर्जना करता हुआ मृगों के झुण्ड के झुण्ड को खदेड़ देता है, वैसे ही अमित सामर्थ्यवान् कर्ण पाण्डव-सेना के सहस्र-सहस्र योद्धाओं को रणांगण से पलायन करने को विवश करने लगा। जैसे झंझावाती प्रभंजन महासागर को मथित कर देता है, वैसे ही उसने सामने आये सभी सेना-विभागों को मथित कर दिया। अपना पिता—सूर्य आकाश में अब नहीं है, यह जानकर कुरुक्षेत्र को जलाने का उनका कार्य पुत्र के रूप में वही निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर रहा था। सात्यकि, धृष्टद्युम्न, युयुधान, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, अर्जुन-कोई भी तेज के उस महानद की महाबाढ़ में टिक नहीं पा रहा था। "प्रातःकाल तक यह राधेय हमारी थोड़ी भी सेना शेष छोड़ेगा या उसे दृष्टद्वती की तरह केवल एक निःशब्द रक्तमय नदी में रूपान्तर कर देगा ?" भयभीत युधिष्ठिर प्रत्येक वीर योद्धा को पकड़-पकड़कर यह पूछने लगा। कर्ण को रोका न गया तो कल का दिन पाण्डव सेना को दिखाई ही नहीं देगा-इतना विकट समय आ गया। क्या किया जाये ?—यह प्रश्न पाण्डवों के सम्मुख आ खड़ा हुआ।

इसके लिए एक ही योद्धा था। मायावी युद्ध-क्रीडा करनेवाला घटोत्कच ! भीम और हिडिम्बा का पुत्र । भीम के द्वारा मैंने उसको बुलवा लिया। जिसके पराक्रम को कहीं अवसर नहीं मिला था, ऐसा विशालकाय वह भीमपुत्र सभी पाण्डवों का आशीर्वाद लेकर, कर्कश सीटी बजानेवाले अरण्य-पवन की तरह कौरव-सेना पर अपने राक्षस-पथक के साथ टूट पड़ा। प्रचण्ड शिलाएँ, विशाल वृक्ष और चक्र, परिघ-जैसे भारी शस्त्र कुलिन्द, सैन्धव, गान्धार, मद्र, अवन्त्य आदि के पथकों पर गर्जना करता हुआ वह फेंकने लगा । बकासुर के बन्धु अलायुध से उसका एक घटिका तक घोर राक्षसी क्रौर्य का युद्ध हुआ। अनवधानतावश अनेक बार उन्होंने अपने ही सैनिक रौंदकर मार डाले। अन्त में अर्धरात्रि में घटोत्कच ने अलायुध का रोमांचक तथा मन कैँपा देनेवाला वध किया। भयभीत कुरुसैन्य 'कर्ण, बचाओ ! कर्ण, बचाओ !' पुकारता हुआ, जिधर मार्ग दिखाई दिया उधर ही भागने लगा। प्रत्येक मार्ग पर उसे रोककर कर्ण घटोत्कच का सामना करने का निश्चय कर आगे आया। ज्वार से विक्षुब्ध सागर की तरह वे दोनों एक दूसरे पर टूट पड़े। सभी सैनिक अवाक् होकर स्वयं युद्ध भूलकर उस सूर्यपुत्र और भीमपुत्र का मृत्यु को कैँपा देनेवाला महासंग्राम, प्रेक्षकों की तरह देखने लगे। क्षण-भर में आकाश में तो क्षण-भर में धरती पर, इस प्रकार कर्ण को मायावी भुलावे में डालकर घटोत्कच मेघ की तरह गरजता हुआ प्रचण्ड पाषाण, भारी गदाएँ, रथ के विशाल चक्र और मृत हाथियों के शव, दो घड़ी तक अविरत उसके ऊपर बरसाता रहा--परन्तु जैसे गैरिक पर्वत से धातु-साव हो रहा हो, वैसे ही बहते हुए असंख्य घावों को हँसते-खेलते सहन करता हुआ, पलाश वृक्ष की तरह, तिल-भर भी विचलित न

होता हुआ कर्ण उसपर अनेक दिव्यास्त्र फेंक रहा था। पुनः-पुनः सूर्यस्तोत्र कहता हुआ, वह गोलाकार घूमते हुए बाणों के प्रपात बरसा रहा था। हजारों कुरु सैनिक घटोत्कच के दिङ्मूढ़ करनेवाले मायावी आक्रमण से गतप्राण हो रहे थे। चीख रहे थे। बौखलाये हुए कर्ण ने घटोत्कच के रथ के सारथी विरूपाक्ष को एक मर्मभेदी बाण से धराशायी कर दिया। चिन्ताक्रान्त दुर्योधन ने बीच में ही कर्ण के रथ के पास जाकर हाथ उठाकर उसको सूचित किया-“कर्ण, इन्द्र द्वारा प्रदत्त वैजयन्ती शक्ति इस घटोत्कच राक्षस पर छोड़ो! नहीं तो कुरुसेना कल का दिन देख ही नहीं पायेगी। अंगराज, वैजयन्ती छोड़ो।”

“नहीं दुर्योधन, वैजयन्ती अर्जुन के लिए ही सुरक्षित रखी है। जीवन-भर के द्यूत में से वही एक पासा मेरी लाज रखने के लिए अब मेरे हाथ में रह गया है।” दुर्योधन के कान के परदे फट जायें, इतनी जोर से चिल्लाकर कर्ण ने अस्वीकार किया।

घटोत्कच द्वारा भयभीत किये गये कुरुसैनिक घुटने टेककर लक्ष-लक्ष मुखों से दीन स्वर में चिल्लाये, “दानवीर कर्ण, वैजयन्ती छोड़िए ! हमारे प्राण बचाइए। घटोत्कच का वध कीजिए, हमें प्राणदान दीजिए।”

दान ! दो अक्षरों का यह शब्द उसको जीवन-भर सदैव मुग्ध करता आया था। उस शब्द से पूर्ण रूप से जकड़ा हुआ उसका उच्चात्मा क्षण-भर में द्रवित हो गया । आँखें बन्द कर उसने क्षण-भर चिन्तन किया और अपने तरकश से, इन्द्र द्वारा प्रदान की गयी वैजयन्ती शक्ति घटोत्कच पर फेंकी। अब उसका जीवन अक्षरशः रिक्त तरकश-जैसा ही हो गया था।

मायावी घटोत्कच भयंकर चीत्कार करता हुआ इतनी विशाल देह धारण कर नीचे गिरा कि ऐसा आभास हुआ मानो आकाश की छत ही टूटकर ऊपर गिर पड़ी हो । अशोक वृक्ष गिरते ही उसके नीचे असंख्य दीमक-कीट जैसे कुचलकर मर जाते हैं, वैसे ही उसकी देह के नीचे कुचलकर ही बहुत-से कुरुसैनिक गतप्राण हो गये ।

रात्रियुद्ध समाप्त हुआ।

कर्ण को रिक्त करने का घटोत्कच का जीवनकार्य भी समाप्त हुआ। दूर कहीं एक मुर्गे ने सूर्योदय की बाँग दी। पन्द्रहवाँ रोमांचक दिन उदित हुआ। शुक्ल प्रतिपदा वन्य का अविस्मरणीय दिन।

चार

पद्माकार सैन्य रचना कर गुरु द्रोण अग्रभाग में खड़े हो गये। रात्रि के अविराम युद्ध के उपरान्त भी, थके हुए दोनों सेनाओं के योद्धागण पुनः आमने सामने खड़े हो गये। स्थान-

स्थान पर, इंगुदी का तेल जिनमें समाप्त हो गया है ऐसे, मशालों से केवल कटुधूम बाहर निकल रहा था। अर्जुन के नायकत्व में पाण्डव सेना कुरुओं से भिड़ गयी। कुरुक्षेत्र पर सेनाएँ जैसे-जैसे क्षीण होती जा रही थीं, वैसे ही वैसे सरस्वती और दृषद्वती वीरों के उष्ण रक्त का पान कर फूलती जा रही थी। समस्त युद्धभूमि पर रक्त, मांस और धूल का ढेर लग गया था। दक्षिण की ओर ढाल होने के कारण प्रतिदिन वह धीरे-धीरे सरकता हुआ दक्षिण की ओर संचित होता जा रहा था। धधकती हुई चिताओं के प्रतिबिम्ब दृषद्वती के रक्तमय पात्र में बीभत्स दिखाई दे रहे थे। युद्धभूमि पर न पाण्डवों का राज्य था, न कुरुओं का। निर्दय, विकराल मृत्यु वहाँ का अनभिषिक्त सम्राट हो गया था। जिसको चाहता, उसे मुक्त मन से आलिंगन में भरकर अपने दिग्विजय के घोड़े दौड़ा रहा था।

दो प्रहर तक गुरु द्रोण पूरी शक्ति से लड़े। परन्तु अचानक कोई चिल्ला पड़ा, "अश्वत्थामा मारा गया, अश्वत्थामा मारा गया !" वास्तविकता यह थी कि मालव देश के राजा इन्द्रवर्मा का अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था।

सत्यासत्य की परीक्षा करने के लिए द्रोण समस्त समरांगण में घुमाते हुए अपने रथ को अन्त में सत्यप्रिय युधिष्ठिर के रथ के पास लाये। "युवराज युधिष्ठिर, सभी लोग आक्रोश कर रहे हैं कि, 'अश्वत्थामा मारा गया।' सचमुच ही मेरा प्रिय अशू गतप्राण हो गया है क्या ? कहो, गुरु द्रोण की गुरुदक्षिणा के रूप में ही कम से कम यह बताओ कि सत्य क्या है ? तुम्हारी सत्य-प्रियता पर मुझे विश्वास है।"

"गुरुदेव, अश्वत्थामा मारा गया है, यह सत्य है। परन्तु वह मनुष्य था या हाथी था, यह मुझे ज्ञात नहीं।" युधिष्ठिर जीवन में पहली बार असत्य बोला। दूसरा वाक्य अस्पष्ट, मुख ही मुख में वह, बोला था।

हाथ में लगा धनुष फेंककर, पुत्र-वियोग के दुःख से व्याकुल द्रोण रथ में ही पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गये। नब्बे वर्ष की अवस्थावाले दृढ़ मन के वृद्ध की जीवन पर से श्रद्धा ही उठ गयी। आँखें बन्द कर देह की अँधेरी गुफा में आत्मा की ज्योति कैसे प्रकाशित होती है, यह देखने के लिए उन्होंने मन के नेत्र खोले। तभी आरक्त नेत्रों वाला धृष्टद्युम्न अपने रथ से नीचे उतरा, जैसे वृक्ष पर बिजली गिर पड़ी हो। कमर से खड्ग खींचकर दौड़ा। पाण्डव, 'रुको, रुको' कहकर चिल्लाते हुए पीछे दौड़ ही रहे थे कि वह एक ही छलाँग में द्रोण के रथ पर चढ़ गया। कोई कुछ समझ पाये उससे पहले ही, उसने द्रोण के मस्तक पर के अश्व की श्वेत धनी पूँछ-जैसे विपुल केश को मुट्ठी में कसकर पकड़ लिया और एक प्रहार में ही उनका धड़ मस्तक से अलग कर दिया। फिर हस्तस्थ मस्तक को दोनों सेनाओं के बीच में सीधा धूल में फेंक दिया। सभी ने इस हृदयविदारक यातना से आँखें बन्द कर लीं। "ॐ ईशावास्यमिदं सर्वम्" का दिव्य सन्देश सतत साठ वर्षों तक हस्तिनापुर के सैकड़ों युवकों को सिखानेवाला शुभ्र। कमल-जैसा तेजस्वी मुखकमल रक्त में सनी हुई धूल में सन गया।

प्रत्येक मन पर प्रेम का राज्य करनेवाला गुरुश्रेष्ठ धूल में पड़ा हुआ था। अन्त में वह दिन उदित हो गया था जब कि पग-पग पर कर्ण का तिरस्कार करनेवाले द्रोण भी अदय मृत्यु ने तिरस्कार कर दिया।

अपार सेना में गरजता हुआ युद्ध 'द्रोण मारे गये !' सुनते ही अपने आप बन्द हो गया। दोनों सेनाओं के बहुत-से योद्धा अवरुद्ध कण्ठों से उनके रथ के चारों ओर एकत्रित हो गये। अश्वत्थामा ने अश्रुओं का सिंचन करते हुए अपने पिता का मस्तक धड़ के साथ रखा। साक्षात् धनुर्वेद शान्त हो गया था।

जीवन-भर द्रोण द्वारा ठुकराया गया कर्ण भी द्रवित हो गया। आगे बढ़कर उनके अचेतन चरणों को हाथ से स्पर्श करते समय उसकी आँखों से छलकते हुए अश्रुओं में द्रोण की अमर आत्मा से कहा होगा, "गुरुदेव, जीवन-भर आप मुझे कभी पहचान नहीं पाये।"

कुछ भी न कहकर उसने अत्यन्त स्नेह से अश्वत्थामा के कन्धे पर अपना हाथ रख दिया। सब कुछ भूलकर। हार्दिक प्रेम से।

पिता के दयनीय अन्त से बौखलाये हुए अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र का प्रयोग किया। अश्वत्थामा के नारायणास्त्र से सहस्रों पाण्डव सैनिक जल-भुन गये। अन्त में मैंने स्वयं ही आगे बढ़कर उस दिव्य अस्त्र को शान्त किया।

सन्ध्या समय की भीषण छाया कुरुक्षेत्र पर प्रत्येक शिविर के आस-पास घनीभूत हो रही थी। गुरु द्रोण की जलती हुई चिता को देखकर दुर्योधन का हृदय जल रहा था। शोक-विह्वल अश्वत्थामा का दुःख कितना गहन गम्भीर होगा, इसका विचार करने का और गुरुपुत्र को धैर्य बाँधाने का भी ध्यान उसे नहीं रहा। पैर बढ़ाता हुआ, कलाई पर से सरकते हुए उत्तरीय को बार-बार झटके देता हुआ, जैसे आहत हाथी नदी के पात्र में घुसता है, वैसे ही, वह द्वार पर टँगे जालीदार पटल को दूर हटाता हुआ, अश्वत्थामा के शिविर में घुसा। क्या कहा जाये, कैसे कहा जाये, यही उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसकी दशा ऐसी हो गयी थी, जैसे बिना विचार किये किसी घने अरण्य में आग लगानेवाला मनुष्य उस धधकते दावानल में स्वयं ही फंस जाये। वह कुछ भी नहीं कह रहा है, यह देखकर पिता के धवल वस्त्र में छिपाया हुआ अपना मुख जरा भी ऊपर न उठाते हुए अश्वत्थामा ही उससे कातर स्वर में बोला, "राजन्, अपने पिता के क्रूर वध का इतना ही क्रूर प्रतिशोध मैं लूँगा। कल के युद्ध के लिए....कल के युद्ध के लिए प्रखर विक्रमवान्, दिग्विजयी सूर्यभक्त कर्ण को ही सेनापति पद दो।"

उसके मन में कर्ण के मित्र-प्रेम का जो निर्झर था वह कैसे सूख सकता था !

दुर्योधन उसके शिविर से बाहर निकला और सीधा कर्ण के शिविर में गया। मध्यरात्रि तक वह कर्ण के शिविर में ही रहा। नख कटे हुए व्याघ्र की तरह वह इधर-उधर चक्कर

काटता हुआ पुनः-पुनः कर्ण से कह रहा था, “अंगराज, पितामह और गुरु द्रोण, दोनों कुरुओं की अपार सेना का सेनापति-पद विभूषित करें, यह मैंने सच्चे मन से कभी चाहा ही नहीं था। मुझे विश्वास है कि जिस कुरुसेना ने तुम्हारे सेनापतित्व के अधीन एक बार दिग्विजय का डिण्डिम बजा दिया था वह कल पुनः कुरुक्षेत्र को भी पादाक्रान्त कर देगी। कर्ण, अर्घ्यदान के लिए तुम्हारी अंजलि से सत्यनिष्ठा से गंगा के पवित्र जल की लक्ष-लक्ष बूंदों का अर्घ्यदान सूर्यकिरणों में चमकता हुआ पड़ा होगा, कल तो लक्ष-लक्ष पाण्डव सैनिक भी मृत होकर स्वर्गप्राप्ति के लिए तुम्हारे चरणों में आ पड़ेंगे। अर्जुन का नीला शरीर तुम्हारे जैत्ररथ के सामने खड़े होते ही काला पड़ जायेगा । जिसका नाम सुनते ही मेरी सम्पूर्ण देह तप्त लौहरस बन जाती है और जिसने निर्दयता । मेरे बन्धुओं का वध किया है, उस क्रूर भीम का शरीर तुम्हारे अमोघ बाणों से उसके आरक्त नेत्रों-जैसा ही रक्तवर्णी हो जायेगा। तुम्हारे संकुचित होते गये चरणों की ओर देखने के लिए बारम्बार नीचे झुकनेवाली युधिष्ठिर की गरदन, सेनापति के रूप में कल तुम्हारा पराक्रम देखकर हमेशा के लिए झुकी रह जायेगी। तुम्हारे वायुजित् के खड़े हुए दोनों कानों को देखते समय नकुल-सहदेव, दोनों भाइयों को ऐसा भान होगा जैसे प्रभंजन आ गया हो और....और कलह के समस्त सूत्र किनारे पर खड़ा होकर संचालित करनेवाला वह मथुरा का ऐन्द्रजालिक....वह काला ग्वाला प्राणदान की याचना करने अर्जुन का रथ छोड़कर याचक के रूप में तुम्हारे रथ की ओर दीन होकर दौड़ेगा ! कर्ण, कल के सेनापति तुम्हीं रहोगे। मित्र, तुम्हीं रहोगे।” वह कह रहा था। जैसे धुरे से निकला हुआ रथचक्र लड़खड़ाता हुआ इधर-उधर दौड़ता है, वैसे ही।

परन्तु कर्ण शिविर के जालीदार गवाक्ष से सामने दृषद्वती के तट पर दिखाई देनेवाली धधकती हुई गुरु द्रोण की चिता की ओर देखता हुआ एकदम चुप बैठा था। दुर्योधन का कोई शब्द अब उसके कानों में नहीं घुस रहा था। घुस भी रहा था तो क्षण-भर को भी वहाँ स्थिर नहीं हो रहा था। अन्त में उसने इतना ही कहा, “राजन्, तुम्हें विजय दिलाने के लिए मैं अपने प्राण भी दावँ पर लगा दूँगा। मुझे सारथी से सम्राट् बनानेवाले सन्मित्र ! सम्पूर्ण स्नेह भाव से तुम्हारे साहचर्य में बिताया हुआ यह जीवन समरांगण में भी तुम्हारे सहकार्य के लिए ही सार्थक होगा। जाओ, निद्रा और वचन कभी अपूर्ण नहीं रहने चाहिए।” निद्रा का आवरण ओढ़कर रात ढलने लगी। मशालों के शरीर अपने ही तिरस्कार से जलने लगे।

पाँच

सोलहवें दिन का प्रातःकाल सुवर्णकिरणरूपी पारिजात पुष्पों की सुगन्धि कुरुक्षेत्र पर छिड़कता हुआ उदित हो रहा था। शुक्ला द्वितीया का दिन था वह ।

सभी देवताओं ने असुरों के विनाश के लिए जैसे स्कन्द का अभिषेक किया था, वैसे ही समस्त कुरुसैन्य को एकत्र कर दुर्योधन ने कर्ण का सेनापति पद के लिए अभिषेक किया। जिस मूलस्थान पर युद्ध प्रारम्भ हुआ था, वह स्थान अब तीन कोस उत्तर में रह गया था। समरांगण प्रतिदिन बदले जा रहे थे। दक्षिण की ओर सरकते जा रहे थे।

क्षौमवेष्टित औदुम्बर के आसन पर बैठे हुए कर्ण की दायीं कलाई पर दुर्योधन ने निशिगन्धा के धवल-पुष्पों की सुगन्धी माला कसकर बाँध दी तथा अपनी कमर से सुतीक्ष्ण खड्ग निकालकर उसको अन्तरिक्ष में घुमाते हुए उसने चिल्लाकर घोषणा की, "कौरव सेनानायक दिग्विजयी अंगराज कर्ण SS"

"जयतु ! जयतु ! जयतु !!" विविध रंगों के सुगन्धी पुष्प अपने सेना-नायक पर बरसाते हुए कौरव सैनिक क्षण-भर को भीष्म और द्रोण का पतन भी भूल गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी सेनापति के दमकते मुख की एक झलक पाने के लिए भीड़ लगाने लगे। पुरोहित तथा बन्दीजनों ने उसके सुनहले धुंधराले बालों में सुगन्धी तेल डाले। मुहूर्त की घटिका प्रदर्शित करनेवाला छिद्रमय पात्र जल से भरी हुई नाद में 'डुब्ब' ध्वनि करता हुआ जैसे ही डूबा, दुर्योधन ने तबक में रखा हुआ सेनापति का विख्यात किरीट उसके मस्तक पर रखने के लिए उठाया। हाथ से उसको बरजते हुए, कौन्तेय होकर भी राधेय के रूप में स्वयं को धन्य माननेवाले उस महारथी ने, पार्श्व में खड़े अपने पुत्र वृषसेन की ओर साभिप्राय देखा। वृषसेन ने तुरन्त ही एक तबक सविनय पिता के सम्मुख रख दिया। उसपर पड़ा हुआ रेशमी वस्त्र हलके हाथ से दूर कर, सूर्यपुत्र ने उस तबक में रखे हुए एक दूसरे स्वर्णिम किरीट को, दुर्योधन उसे हाथ लगाये उससे पहले ही, स्वयं ही उठाकर अपने मस्तक पर धारण कर लिया।

वह किरीट ठीक मेरे किरीट की बनावट-जैसा ही था।

पूर्व क्षितिज पर आकाश का सम्राट् सविता अपनी किरणों के सहस्र घोड़े दौड़ाता हुआ आकर खड़ा हो गया। तित्तिर, चक्रवाक, सारंग, धनछड़ी, वन्यशुक और चकोर पक्षियों ने उसका स्वागत करने के लिए घोंसले छोड़कर आकाश में उड़ानें भरीं। ओस की बूंदों के मौक्तिक तृणपर्णों पर चमकने लगे। वायु के झोंकों के साथ क्षण-भर में ही वे कुरुक्षेत्र की विशालहृदया भूमि में लीन होने लगे। समस्त चराचर नव चैतन्य से नृत्य करने लगा। सेनापति बने हुए कर्ण ने एक ऊँचे टीले पर चढ़कर अपनी सैन्य-रचना के लिए सुविधाजनक स्थान चुना। कौरव सेना एक विशाल मगर का आकार धारण कर खड़ी हुई।

उस मगर के नेत्रभाग के स्थान शकुनि और उलूक ने ग्रहण कर लिये थे। मस्तक का स्थान सन्तप्त अश्वत्थामा ने स्वीकार किया था। बायें पैर के स्थान पर कृतवर्मा और दायें पैर के स्थान पर गौतम खड़ा हो गया था। पिछले पैर के स्थान पर मद्रराज शल्य खड़ा था तथा इस मगर के ठीक मध्य में लाखों कुरुओं के घेरे में दुर्योधन को छिपाकर स्वयं कर्ण मुखार

पर खड़ा था। उसका सुवर्णमण्डित विजय धनुष सूर्य की किरणों में दमकता हुआ पाण्डव सेना से मानो कह रहा था, “मैं आज बाण फेंकूंगा ही नहीं। फेंकूंगा केवल धधकती हुई तप्त किरणों।” उसके रथ के शुभ्र घोड़े कान खड़े कर, कुछ क्षणों में ही लगनेवाले वल्गाओं के झटके को स्वीकार करने के लिए जबड़े तैयार रखकर उतावली से पैरों के खुरों से कुरुक्षेत्र को कुरेद रहे थे। उसके सबसे ऊँचे रथ जैत्र पर लगी हुई उल्का-जैसी श्वेत पताकाएँ, शृंखला-दण्ड का चिह्न मस्तक पर शान से धारण कर फहरानेवाले काषाय वर्ण के अतलसी ध्वज को चारों ओर से घेरकर हवा के झोंकों में झूम रही थीं। छोटी-छोटी सुवर्ण-घण्टियाँ ईषादण्ड के साथ हिलती-डुलती हुई मधुर क्वणित ध्वनि कर रही थीं। पट्टिश, शूल, तोमर, चक्र, वख्य, गदा, शतघ्नी, खड्ग, त्रिशूल, भाले तथा परशु—इनसे रथ का पृष्ठभाग ठसाठस भरा हुआ था। असंख्य प्रकार के बाणों को उदरस्थ करने के लिए शताधिक तूणीर अपर्याप्त सिद्ध हो रहे थे। सम्पूर्ण रथ चकत्तेवाले व्याघ्र-चर्म से आच्छादित था।

मगर के मध्यस्थान से दुर्योधन ने एक विशिष्ट शंख फूंककर जैसे ही चढ़ाई का संकेत किया, कर्ण ने अपना पुष्पमालाओं से सुशोभित विजय धनुष ऊँचा कर घुमाया फिराया। घोड़े की वल्गा की तरह पुष्ट दिखाई पड़नेवाली रक्तमय धमनियों को तानकर फुलाते हुए अपना हिरण्यगर्भ शंख, उसने इतनी जोर से पूँका कि समरांगण के आस-पास लालच से इकट्ठे हुए तित्तिर, गृध्र, वाग्गुद-जैसे क्रूर मांसभक्षी भी भयभीत होकर आकाश में उड़ गये। हाथियों की देह के रोम खड़े हो गये। निश्चय ही वह शंखनाद नहीं था—मानो अपने अवमानित राजमन के युगों-युगों से संचित उष्ण निःश्वास को ही वह प्रथम कौन्तेय भुजंग की तरह फेंक रहा था।

"आ ऽऽ रो ऽऽ ह !" लौहत्राण के भीतर अपनी बलशाली भुजा को बहुत ऊँचा उठाकर उसने कुरुसैन्य को गगनभेदी स्वर में आज्ञा दी। कुरुसेना का विशाल मगर कर्णरूपी जबड़ा फैलाकर पाण्डवों को निगलने के लिए आगे रेंगने लगा। कलकल करता हुआ। गरजनेवाला। विक्षिप्त बना हुआ।

अर्जुन के सेनापतित्व में पाण्डव सेना अर्धचन्द्र का आकार धारण कर आगे बढ़ने लगी। जिसकी वल्गाएँ मेरे हाथ में थीं, अर्जुन के उस नन्दीघोष रथ के दायें हाथ पर धृष्टद्युम्न खड़ा था। बायें हाथ पर, एक हाथी पर आरूढ़ होकर गजपथ का नेतृत्व करने के लिए लाल नेत्रोंवाला भीम आवेश से आगे बढ़ रहा था। पार्श्व में युधिष्ठिर खड़ा था। कर्ण को सामने देखकर उसका मन भय से थर-थर काँप रहा था। हाथ उठाकर अर्जुन ने क्षण-भर अपनी सेना की चन्द्रकला को थोड़ा पीछे किया और देवदत्त शंख फूंककर एकदम जोर-शोर से आगे बढ़ा। रथ के घोड़े दौड़ाते समय मेरे मन में विचार आया कि अर्जुन को यह ज्ञात नहीं कि वह किससे लड़ रहा है और कर्ण को यह ज्ञात है। इसलिए उनके युद्ध का स्वरूप कितना छलनामय—विचित्र हो गया था।

सामने से शुभ्र घोड़ों के उछलते हुए रथ में सिंहनाद करते हुए आनेवाले कर्ण को देखकर पाण्डव सेना की समझ में नहीं आया कि पर्वत शिखर पर तपनेवाला सूर्य आकाश में है या सामने स्थित सोने से सम्पूर्ण मढ़े हुए चमकते ऊँचे रथ में। उसका मुख किरणों में चमचमानेवाले सुवर्ण-कुम्भ की तरह दमक रहा था। इतना पहले कभी नहीं दमका था। पुष्ट कन्धों पर झूलते हुए धुंधराले बालों की सघन लटें रथ के चक्र का धक्का लगते ही क्षण-भर को कन्धे से अलग हो रही थीं; पुनः कन्धे पर झूल रही थीं। वह वृषस्कन्ध आ रहा था, अरण्य-पवन का विकराल रूप धारण कर। ज्वार के समय विक्षुब्ध महासागर की तरह। जो सामने दिखाई दे, उसे जलाकर भस्म करने के लिए उतावले ज्वालामुखी की तरह। उसकी नीली आँखें घूम-घूमकर कपिध्वज को ढूँढ़ रही थीं। आज मैंने एक बुद्धिमानी की थी। सदैव सामने की सेना को स्पष्ट दिखाई दे—इस ढंग से लगा हुआ फहरानेवाला अपने रथ का ध्वज उलटकर ऐसा लगा दिया कि उसपर अंकित चिह्न पाण्डव सेना को दिखाई देता रहे। दोनों सेनाएँ गरजती हुई एक-दूसरी से भिड़ गयीं।

कपिध्वज कहीं दिखाई नहीं दे रहा है, यह देखकर क्षण-भर उलझन में पड़े हुए राधेय ने अपना रथ एकदम हमारे गजदल की ओर मोड़ दिया। वह विष से बुझे हुए असंख्य बाण मृगनक्षत्र की वर्षा की तरह इस प्रकार अनवरत फेंक रहा था कि पहले एक प्रहर में ही उसने गजदल के पैर उखाड़ दिये। शरीर में विष का असर होते ही हाथी अत्यधिक उन्मत्त होकर लौटे और हजारों पाण्डव सैनिकों को ही पैरोंतले रौंदते हुए जिधर रास्ता मिला उधर ही भागने लगे। गतप्राण होकर धराशायी होते हुए किसी तरह टिककर जीवित रहने के लिए छटपटानेवाले योद्धाओं को कुचलने लगे।

कर्ण द्वारा किये जानेवाले हाथियों के क्रूर संहार को रोकने के लिए क्रुद्ध होकर दौड़नेवाले भीम को अश्वत्थामा ने बीच में ही रोक लिया। उनका संग्राम मानो दो क्रुद्ध व्याघ्रों का पंजाफाड़ युद्ध था। सात्यकि विन्द-अनुविन्द से भिड़ गया था। धृष्टद्युम्न कृपाचार्य को घेर रहा था। श्रुतकीर्ति मद्राज पर टूट पड़ा। सहदेव और दुःशासन एक-दूसरे पर बाण-वर्षा कर रहे थे। दुर्योधन मगर का केन्द्र-स्थान छोड़कर अपना रथ जैसे ही एकदम युधिष्ठिर के पास लाया, युधिष्ठिर की सुरक्षा के लिए मैंने अर्जुन का रथ उसके पास ले जाकर भिड़ा दिया। जैसे-जैसे सूर्य ऊपर चढ़ने लगा, वैसे ही वैसे धूल के बादल आकाश-मण्डल में घिरकर छाने लगे। हाथियों की निरन्तर चीत्कार से शस्त्रों की खनखनाहट भी सुनाई नहीं पड़ती थी। अर्जुन कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा है, यह देखकर बौखलाये हुए कर्ण ने पांचाल और मत्स्य के पथक अपने जैत्ररथ के नीचे एकदम रौंद डाले। जैसे-जैसे सूर्य क्षितिज से ऊपर की ओर सरक रहा था वैसे ही वैसे उसका रथ और अधिक गतिमान होता जा रहा था। कभी शूल, कभी तोमर, कभी गदा—इनके हाथ बदलते समय वह कानों के निचले भाग में संचित स्वेद-बिन्दुओं को पोंछ डालने के लिए ही क्षण-भर रुकता।

सूर्य सिर पर आया। उसी समय भीम ने समर्थ योद्धा क्षेमधूर्ति को रथ से नीचे गिरा दिया। संशप्तकों से भिड़े हुए अर्जुन ने दण्ड और दण्डधर-इन राजाओं को कण्ठ-स्नान करा दिया, इसलिए अश्वत्थामा झल्लाकर उसके ऊपर टूट पड़ा। जिस पांचाल-पथक में कर्ण घुसा था वहाँ अब स्पष्ट रूप से संकुल युद्ध प्रारम्भ हो गया था। जो कोई सामने दिखाई देता, उससे पक्ष पूछकर लड़ने को ललकारता हुआ प्रत्येक योद्धा ऐसा भानरहित हो गया था जैसे युद्ध की मदिरा पीकर उन्मत्त हो गया हो।

मत्स्य और पांचालों के वीर पथक प्रमुख कर्ण के सामने धड़ाधड़ गिर रहे हैं, यह देखकर उसे अवरुद्ध करने के लिए मैं अपने पांचजन्य शंख से विशिष्ट स्वरों में सांकेतिक बोल निकालकर नकुल से बार-बार कह रहा था, "नकुल ऽऽ ! नकुल ऽ ! कर्ण की ओर रथ मोड़ो !" उस घनघोर कोलाहल में मेरा संकेत नकुल को आधी घड़ी बाद सुनाई दिया। दो प्रहर व्यतीत हो जाने के बाद उसने अपना सैन्यदल अपने पीछे लिये हुए मत्स्यों के पथक में प्रवेश किया और आगे बढ़कर सीधे कर्ण से टक्कर ली।

परन्तु वह जिस सेनानायक से टकराया था वह कोई शीतल सलिल का प्रपात नहीं था। वह था विद्युत् का आघात। वह नकुल के बाण सहज प्रत्यावर्तित करता हुआ। उसको पुनः-पुनः रथहीन करके हँसता हुआ उसकी दुर्गति देखने लगा। अन्त में अपना ऊँचा रथ उसके रथ से भिड़ाते हुए निःशस्त्र किये हुए नकुल से वह बोला, "जाओ, अपने बड़े भाई-उस अर्जुन को मेरे सम्मुख भेज दो। इसलिए तुम्हें यह प्राणदान दे रहा हूँ।"

लज्जित नकुल सिर झुकाकर उसके सामने से जब लौटा तब वह स्वयं भी यह नहीं जानता था कि उसकी माद्री माता ने पति के साथ सती होते समय कुन्ती देवी के हाथों उसका जो जीवन-पुष्प दिया था उसको वह प्रथम कौन्तेय अग्रज होने के नाते सुरक्षित रख रहा है। सम्पूर्ण देह के रक्तकण युद्ध की सर्वग्राही वडवाग्नि में जलकर क्षार होने का समय आने पर भी वह राधेय राजमाता कुन्ती देवी के दिये हुए वचन का निष्ठा के साथ पालन कर रहा था। सन्ध्या के समय युधिष्ठिर-पुत्र प्रतिविन्ध्य ने चित्रराज को कण्ठस्नान करा दिया।

जिस समय सन्ध्याकाल की तिरछी सौम्य किरणें कुरुक्षेत्र के चारों ओर ऊँचे वृक्षों की लम्बी परछाइयाँ डाल रही थीं, उसी समय मैंने अर्जुन का नन्दीघोष रथ पहली ही बार कर्ण के ऊँचे जैत्ररथ के सम्मुख खड़ा किया। एक-दूसरे को सामने देखते ही वे भड़क उठे। उन दोनों की मुखाकृतियाँ इस तरह सन्तप्त हो गयीं जैसे हवा को पाकर अग्नि भड़क उठती है। वे दोनों ही जोर से एक-दूसरे पर चिल्लाये। उनकी चिल्लाहटों से घबराये हुए आस-पास के हाथी भी भाग खड़े हुए। एक-दूसरे का लक्ष्यभेद करते हुए उन्होंने अपने-अपने भारी धनुषों से अनवरत ऐसे बाण फेंके कि क्षण भर में ही आकाश इस प्रकार आच्छादित हो गया जैसे मृग नक्षत्र में मेघों से आच्छादित हो जाता है। घड़ी-भर तक उनके अमोघ, वेगवान्, नादमय बाण बड़ी भयंकरता से एक-दूसरे से टकराते रहे। उनके लौह-अग्रभागों से चिनगारियाँ ही

चिनगारियाँ बरस रही थीं। रात होने से पूर्व ही, सन्ध्यासमय होते हुए भी उन चिनगारियों से आकाश का भव्य गुम्बद तारक-खचित-सा लग रहा था। उन चिनगारियों में कर्ण का सारथी सत्यसेन दग्ध हो गया। अर्जुन के बाणों से वह मृत हो गया। कर्णार्जुन की बाणवर्षा से आच्छादित हुआ उस दिन का आकाश, कुरुक्षेत्र पर छत्र-चामर डुलानेवाला आकाश, फिर निरभ्र हुआ ही नहीं। क्योंकि रात्रिरूपी मायावी योद्धा ने अन्धकार की काली किरणों के बाण फेंककर उनके बाणों को भी क्षण-भर में आच्छादित कर दिया। शुक्ल द्वितीया का वह विकट सोलहवाँ दिन भी जैसे-तैसे समाप्त हुआ।

छह

रात धने अन्धकार के असीम आवरणों को कुरुक्षेत्र के चारों ओर लपेटने लगी। दिशाओं में स्याह काला अन्धकार छाया हुआ था। हाँ, घड़ी-भर के लिए दृषद्विती के शान्त और नीरव तट पर तड़तड़ करती हुई धधकती सत्यसेन की चिता ने उस अन्धकार को अवश्य प्रकाशित कर दिया था।

सत्यसेन उसके रथ की वल्गाएँ सँभालनेवाला केवल सारथी नहीं था, केवल पत्नी का भाई नहीं था, कुरुओं का केवल एकनिष्ठ सेवक नहीं था, बल्कि कर्ण के राजकीय जीवन में अनिवार्य परिस्थितियों के कारण भ्रम में डालने वाले अनेक समर-प्रसंगों के अवसर पर उसको सावधानी का संकेत करनेवाला छोटा नगाड़ा था। सचेत हितैषी था। इसीलिए देह का भान भूलकर वह सत्यसेन की चिता की ओर देखता हुआ एकाकी ही। दृषद्विती के तट पर बैठा हुआ था।

अन्धकार के किट्टकाले हाथी को अविरत चाटनेवाली सत्यसेन की चिता की पीली अग्नि-ज्वालाओं को देखते समय उसे प्रत्येक लपट में सत्यसेन ही दिखाई दे रहा था। रात्रि में असमय कन्धे पर घड़ा लेकर गंगा के नीरव तीर पर मिलनेवाला सत्यसेन।

कवच-कुण्डल दान कर, अनेक मर्मभेदी अभिशापों की मरणतुल्य भारी गठरी पीठ पर लादकर, वचनों का मुक्तदान करता हुआ, साक्षात् तेज की खान होने पर भी केवल अतिसाधारण जीवन बिताता हुआ वह यहाँ तक आ पहुँचा था। अपने पास सुरक्षित रखी हुई अन्तिम विशेष वैजयन्ती शक्ति भी घटोत्कच पर फेंककर वह अब पूर्णरूप से रिक्त हो चुका था। एकाकी हो गया था परन्तु इस एकाकीपन में भी उसके उत्साही कुलीन वीर मन की साधना और सूर्याराधना से प्रज्वलित दिव्य आत्मिक तेज की एक अपराजित और अशरण ऊर्मि उसे सदैव धैर्य बँधाती आयी थी। यह ऊर्मि ही उसका सम्पूर्ण जीवन था। इसी एक आत्मिक ऊर्मि के बल पर वह चाप से छूटे हुए बाण की तरह झपटता हुआ सदैव

आगे बढ़ता गया था । मैं किसी महान् तेज से सम्बन्धित हूँ, मेरे अन्तर्तम में कोई चुपचाप दिव्य प्रेरणा दे रहा है—इस दुर्लभ प्रतीति का एक तार उसका जीवन संगीत रचता आया था । यह प्रतीति अन्य किसी को नहीं मिली थी सचमुच ही उसको समझ पाना अत्यन्त दुष्कर था। उसके जीवन के दो स्पष्ट भाग थे। सूर्यकेन्द्र से गूढ़ प्रतीति के सूक्ष्म धागों से बँधा हुआ उसका उच्चात्मा । आस-पास के सामाजिक जगत् से दिन-प्रतिदिन बँधा हुआ उसका शरीर और मन । कभी-कभी इन दो भागों का अतर्वर्त्स और अकल्पित मिश्रण हो जाता, उसी से उसका जीवन इतना संघर्षमय, इतना भ्रान्तिपूर्ण और इतना गूढ़ तथा रहस्यमय लगने लगता ।

उसका सारथी सत्यसेन भी अब कभी समाप्त न होने वाली अनन्त यात्रा पर चला गया था । वह अच्छी तरह जानता था कि महारथी का आधे से अधिक यश उसके कुशल सारथी पर अवलम्बित होता है। वह जिस ओर ले जाये, वही उसकी दिशा होती है, वही गति होती है । उसका सदैव के सारथी के चले जाने के कारण अब तक पाण्डवों के चतुरंग दल में मुक्त रूप से भ्रमण करनेवाला व्याघ्रचर्मांकित अजेय जैत्ररथ अब कुरुक्षेत्र पर जमी हुई रक्तमांस की दलदल में किसी भी समय फँस सकता था।

शून्यमन से, पलक तक न मारता हुआ, सत्यसेन की धधकती चिता की ओर एकटक देखता हुआ वह दृषद्विती के निस्तब्ध तट पर अकेला ही खड़ा था । ग्लानि से भरा हुआ । बधिर । आत्मविस्मृत या...या इन्द्रियातीत, स्वयं ही क्षितिज के भारी धूसरित कगारों को भेदकर पार गया हुआ ।

मुझे पूर्ण रूप से ज्ञात था कि उसका पराक्रम महान् था, त्याग महान् था, लोकप्रियता महान् थी और इन सबसे अधिक उसकी सूर्याराधना महान् थी, साधना से उसने जो शुचिता प्राप्त की थी, वह महान् थी । परन्तु परन्तु पांचाली की धवल पवित्रता पर उसने भरी सभा में जो कीचड़ उछाली थी, उसमें वह सबका सब बुरी तरह सन गया था । सभी जन कह रहे थे कि दुर्योधन ने ही कर्ण का जीवन इस प्रकार अनुकम्पनीय कर दिया है, पर किसी को भी विदित नहीं था कि पांचाली के कारण ही उसका जीवन वास्तव में अनुकम्पनीय हो गया था । मानवता का अपमान एक बार क्षमा किया जा सकता है, परन्तु जिस स्त्री की कोख से मानवता जन्म लेती है, उस स्त्रीत्व का इतना निघृण अपमान कभी क्षम्य नहीं होता । जिस समाज में जिस राष्ट्र में स्त्रीत्व लज्जित होता हो, वह समाज और वह राष्ट्र विनाश के गहरे गड्ढे के कगार पर अपने-आप ही पहुँच जाता है ।

फिर भी पाण्डव सेना उसके विक्रम से भयभीत है, यह भी मैं जानता था। क्योंकि पांचाली के स्त्रीत्व का उसने जो अपमान किया था उसे राजमाता कुन्तीदेवी के स्त्रीत्व का गौरव करके कुछ अंशों में उसने धो डाला था । कुन्ती से उसका जो सम्बन्ध था, वह यदि उसने संसार के सामने खोलकर रख दिया होता, तो पाण्डव कौरवों के विरुद्ध खड़े ही न हुए

होते । पांचाली की विडम्बना का प्रतिशोध लेने के लिए भी कौरवों के विरुद्ध खड़े न हुए होते ।

अपने पुत्र का, जन्म के समय ही, अश्वनदी में त्याग करनेवाली उस माता की कीर्ति को वास्तव में यदि किसी ने सँभाला था, तो कर्ण ने ही ।

पांचाली के पातिव्रत का अक्षम्य अपमान उसके हाथों से हो गया है, यह प्रतीति कर्ण ने अपनी दिव्य आत्मा से जीवन-भर कभी पृथक् नहीं होने दी थी। मुझे ही उसने पांचाली के लिए विनम्र सन्देश दिया था, “सम्भव हो सके तो मुझे क्षमा कर देना ।”

हिरण्यमयी द्वारा कथित पांचाली की कर्ण के प्रति मोह-कामना तथा छह जनों के बीच दो-दो महीनों के विभाजन की बात, उसने वृषाली के मुख से सुनी नहीं थी क्या ? फिर भी वह कौरवों के पक्ष की ओर से समझ-बूझकर समरांगण में उतरा था, प्राणों का मूल्य चुकानेवाला था, एक प्रकार से यह भी पांचाली के प्रति विशेष प्रकार का आदर नहीं था क्या ?

और इसीलिए मैं जानता था कि ऐसे इस कर्ण का शौर्य पाण्डवों के लिए भीतिदायक था।

कुछ निश्चय कर कर्ण पाषाण पर से उठा । उसने सहज ही अन्धकार से दिखाई न देनेवाले पूर्व क्षितिज की ओर क्षण-भर एकटक देखा । एक दीर्घ निश्वास छोड़कर वह अपने शिविर की ओर शान्तिपूर्वक निद्राधीन होने के लिए मुड़ा । इतने में ही एक हृदयविदारक आर्त चीख दृषद्वती के पात्रसहित आस-पास के सघन अन्धकार को चीर गयी—“भैया ?” उसे सुनकर सत्यसेन की चिता की ज्वालाएँ भी क्षण-भर को काँप उठीं। वह वृषाली थी । सत्यसेन की बहन । कर्ण की पत्नी ।

सत्यसेन के पतन की सूचना अश्वत्थामा ने अश्वसाद भेजकर उसके पास हस्तिनापुर में पहुँचायी थी । सुनते ही किसी की भी राह न देखकर, सारथ्यकर्म में निपुण वह सारथी-स्त्री अपने भाई के अन्तिम दर्शनों के लिए , जिसका बाँध टूट गया है ऐसी नदी की तरह, स्वयं ही रथ लेकर वायुगति से हस्तिनापुर से चल दी थी ।

वह सत्यसेन की चिता की ओर तेजी से ऐसे दौड़ रही थी जैसे देह पर पहने हुए वस्त्रों में आग लगी हुई हो । उसको बिना देखे ही, केवल उसकी चीख सुनकर ही, सहज ही उसको पहचान लेनेवाले कर्ण की स्मृतियों का सरोवर कदाचित् एकदम विक्षुब्ध हो गया । एक ही विचार का आवर्त उसके मस्तक में चक्कर काटता हुआ शायद भ्रमण कर रहा था ।
....“सूतपुत्र ! सूतपुत्र !”

कर्ण की अवाक् निश्चलता, निशब्द निःस्तब्धता, सब कुछ वृषाली को देखते ही क्षण-भर में न जाने कहाँ चली गयी !

आवेग से आगे बढ़ते हुए, तेजी से दौड़ आनेवाली भानरहित अपनी प्रिय पत्नी को, उसने अपनी सशक्त भुजाओं के दृढ़ बन्धन में ले लिया । न जाने कितनी विविध भावनाओं का कम्पन उस आलिंगन में समाया था ।

"महाराज, महाराज !" कहती हुई वह अपना कुम्भ-जैसा गोल मुख उसके विशाल वक्षस्थल पर धड़ाधड़ पटकने लगी । वास्तविक अर्थ में वह कर्ण-पत्नी थी, कुटुम्ब-वत्सल थी, स्नेहमयी थी....औरों के लिए व्याकुलहृदया थी, त्यागी थी ।

श्रमशान्त मस्तक को उसने कर्ण के विशाल वक्षस्थल पर टेक दिया ।

विचित्र मानसिक स्थिति में उनके उस प्रगाढ़ आलिंगन को देखने के गए आस-पास छाये हुए स्याह काले अन्धकार ने भी आँखें खोल ली थीं । दृषद्वती की मन्द लहरें भी उमड़ रही थीं । कुरुक्षेत्र का समरांगण सजग हो रहा था ।

परन्तु फिर भी वह कुछ भी नहीं कह रहा था । वृषाली की बड़ी-बड़ी आँखों से निरन्तर झरती हुई अश्रुधारा उसके शीतल, शान्त, क्षितिज के उस पार गये हुए मन को पुनः-पुनः प्रज्वलित कर रही थी। चिता की लपटों में क्षण-भर चमककर पुनः अदृश्य होनेवाले उन दोनों के शिरोभाग जैसे एक हो गये थे। एक दूसरे में समा गये थे—लीन हो गये थे । एकरूप हो गये थे ।

कर्ण की स्फुरित होती हुई रक्तमय धमनियों का स्पन्दन शायद वृषाली को अबोध सान्त्वना दे रहा था । "कल या तो अर्जुन इस सर्वोदार कुरुक्षेत्र का सदैव के लिए आलिंगन करेगा, या फिर.... या फिर तुम्हारा पति सूर्यबिम्ब के सुयोग्य सन्मार्ग को स्वीकार करेगा ।"

जीवन-भर निःस्पृह साथ निभानेवाली अपनी प्रिय पत्नी को अपने जैत्ररथ में बैठाकर उसने स्वयं हस्तिनापुर में कुरुओं के राजभवन में पहुँचाया ।

सात

भवन से बाहर जाते-जाते वह चौक में ऊँघते हुए राजहंस की ओर दृष्टि डालना नहीं भूला । उसकी इच्छा हुई कि मशालों के धूमिल प्रकाश में उस सरोवर में पड़े हुए उस गर्वीले राजपक्षी के लम्बे प्रतिबिम्ब को, पानी में हलचल उत्पन्न करके नष्ट कर दे । झट से हाथ से पुष्कराजमणि धारण करनेवाली बड़ी अँगूठी निकालकर उसने सरोवर में फेंक दी । बिम्ब थरथराये । परछाइयाँ हिलीं-डुलीं। ऊँघते हुए वे पक्षी दूसरे ही क्षण घबराकर जग गये । इधर-उधर पैरों की बल्ली मारने लगे। सरोवर में लहरें उत्पन्न करने लगे । उनकी दौड़-धूप की ओर देखता हुआ वह मन ही मन हँस पड़ा ।

जल्दी जल्दी पैर बढ़ाता हुआ वह शिविर की ओर जाने के लिए कुरुओं के उस भव्य राजप्रासाद की प्राचीर के प्राचीन महाद्वार को पार करने लगा। महाद्वार में क्षण भर ठहरकर उसने वृषाली के भवन पर दृष्टि डाली। एक गवाक्ष में उसके सबसे छोटे पुत्र वृषकेतु को लिये वृषाली खड़ी थी। वही अकेला कर्णपुत्र युद्ध के वडवानल से हस्तिनापुर में था। अपना हाथ उठाने के लिए उसने क्षण भर हलचल की और निरन्तर सटी ऊपर चढ़ती गयी सीढ़ियों पर एक बार दृष्टि स्थिर कर उसने हाथ न उठाते हुए ही महाद्वार पार किया। निग्रह से तथा अबोध निश्चय से। सरोवर से बाहर निकलनेवाले हाथी की तरह वह राजप्रासाद से बाहर आया-मन में निग्रह बाँधकर, देहरी पर सारे नाते छोड़कर।

अर्धरात्रि के बीत जाने पर वह अपना रथ लेकर अपने शिविर के सामने कुरुक्षेत्र में आया। उसके शिविर के द्वार में उत्सुकता से राह देखता हुआ दुर्योधन खड़ा था ही।

आगामी कल का अपना सेनापति कहीं चम्पानगरी तो नहीं चला गया, इस सन्देह से दुर्योधन त्रस्त हो गया था। परन्तु कर्ण को सामने देखते ही उसका मुख पुनः उज्ज्वल हो गया। शिविर के द्वार से बाण की तरह आगे बढ़ते हुए उसने स्वयं ही कर्ण के रथ के घोड़ों को रोकने के लिए वायुजित् की पीठ पर के पर्याण के बन्धन को अपनी दृढ़ मुट्ठी में पकड़ लिया। दौड़ते हुए घोड़े रुक गये। फेन झरने लगा। उष्ण निःश्वास विलीन होने लगे।

कर्ण को रथ से नीचे उतरने का भी अवसर न देते हुए दुर्योधन ने आगे बढ़कर उससे पूछा, "अंगराज, तुम्हारा सत्यसेन धराशायी हो गया। कल तुम्हारे रथ के सारथ्य का क्या होगा?" दुर्योधन की तीक्ष्ण नासिका मशाल के धूमिल प्रकाश में भी स्पष्टतः फूली हुई दिखाई दे रही थी।

"राजन्, मुझे एक कुशल और प्रामाणिक सारथी दो, फिर तुम देखोगे कि कल मेरा रथ पवन को भी लज्जित करनेवाली गति से समरांगण में निर्बाध दौड़ेगा।"

"कुशल सारथी ?.... प्रामाणिक सारथी ?".... अपने संकुचित, उभरे हुए कपाल पर सिकुड़नों की अल्पना चित्रित करता हुआ, बायीं मांसल हथेली पर दायें हाथ की बन्द दृढ़ मुट्ठी दो-तीन बार धड़ाधड़ मारता हुआ दुर्योधन विचारमग्न हो गया। उसकी सिकुड़नों के मोटे पनारे में स्वेद का प्रवाह-सा संचित हो गया था। वक्र और मोटी भौहें और अधिक वक्र हो गयीं थीं। मशालों के लाल-पीले प्रकाश में उसका रक्तवर्णी मुख और अधिक उग्र दिखाई दे रहा था, बीभत्स दिखाई दे रहा था, बड़ी-बड़ी कंजी आँखें भविष्य का भेद लेने के लिए संकुचित होकर मस्तिष्क के कोने-कोने को ढूँढ़ रही थीं। उसकी निग्रही मुखमुद्रा पर भी सूक्ष्मता से निरीक्षण करनेवाले को चिन्ता की कनी घटा स्पष्ट प्रतीत हो सकती थी।

कर्ण के रथ का सारथ्य किस समर्थ योद्धा के हाथ में दिया जाये-इसी एक विचार में वह असंख्य मोड़ लेकर आती हुई अपनी जीवन नौका को भी एकदम भूल गया था। उसकी पुष्ट भुजा पर से सदैव सरकता रहनेवाला महीन बुना हुआ, बहुमूल्य राजवस्त्र, कुरुओं का

मूल्यवान् उत्तरीय सरककर कब का नीचे गिर चुका था। सदैव की भाँति जोरदार झटका देकर उसको सँभालने का भान भी उसे नहीं रहा था।

वे दोनों ही क्षण-भर एकदम शान्त खड़े रहे। कुरुओं के राजभवन की पाषाण-प्रतिमाओं की तरह।

"अंगराज, यदि बुरा न मानो तो ऐसा एक ही योद्धा है, जिसे मैं सुझाना चाहता हूँ। तुम्हारे रथ का सारथ्य करने के लिए सब प्रकार से आज वही योग्य है।" दुर्योधन की पाषाणमूर्ति ने कहा।

"कौन ?" कर्ण ने सिर पर रखा हुआ मुकुट और भारी लौहत्राण उतारकर थाल रख दिये। उसके धुंधराले घने केश शरद् के पक्षियों की भाँति विमुक्त होकर बिखर गये। सुपुष्ट ग्रीवा में, लौहत्राण रखते समय, वही मोहक बल पड़ गया।

"मद्राज शल्य !" दुर्योधन ने अपना सशक्त दायाँ हाथ उसके विशाल कन्धे पर रखा।

"शल्य ? राजन्, तुम भूल रहे हो कि शल्य पाण्डवों का मामा है। राजमाता माद्री देवी का सगा भाई। यह युद्ध भले ही द्यूत से उत्पन्न हुआ हो, किन्तु इस कठिन अवसर पर तो तुम द्यूत का युद्ध अब फिर मत खेलो।" उसने कानों की ओर संकुचित होते गये अपने नीले नेत्रों को ताना। स्वर्णिम कपाल पर सिकुड़नों की रज्जुएँ खिंच गयीं।

"कर्ण, इस युद्ध से पहले ही मैंने शल्य के साथ सभी राजाओं से भिन्न सम्मानपूर्ण व्यवहार किया है। वह मद्रदेश से कुरुक्षेत्र की ओर जो चला था तो वास्तव में पाण्डवों से मिलने के लिए ही। परन्तु उसके मार्ग में स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार बनाकर, राजदूत नियुक्त कर, उसे बहुमूल्य भेंटें अर्पित कर मैंने उसे अपने पक्ष में कर लिया है। युद्ध में कुरुओं के प्रति एकनिष्ठ रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा वह कर चुका है। विगत सोलह दिनों से, वह निष्ठा से प्राणपण से, हमारे लिए लड़ा है। बार-बार भीम के सम्मुख जाकर उसने अनेक को अपना समर्थ संरक्षण दिया है। विश्वास रखो, शल्य अब कभी पीछे पैर नहीं रखेगा। क्षत्रिय पश्चात्ताप नहीं किया करते हैं, पीछे नहीं फिरा करते-अवसर आने पर पावन होने के लिए मृत्यु का भी आलिंगन करते हैं। तुम जानते ही हो, नाते साधारण जनों के लिए होते हैं, राजाओं के लिए नाते भिन्न होते हैं। वे होते हैं-वचन, एकनिष्ठा, रणांगण !" उसने कर्ण के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही जोर से ताली बजायी। दूसरे ही क्षण प्रभंजन शिविर में प्रविष्ट हुआ।

"प्रभंजन, जा, मद्राज महाराज शल्य को सादर लिवा ला।" उसने शल्य के शिविर की ओर अँगुली से संकेत किया।

जल्दी ही शल्य उन दोनों के सामने आकर खड़ा हो गया। उसकी अपेक्षा थी कि एकाकी दुर्योधन ही शिविर में होगा, अधिक से अधिक अश्वत्थामा होगा, शकुनि होगा। परन्तु सामने

कर्ण को देखते ही उसके भाल पर सिकुड़नें पड़ गयीं। उसको इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि कर्ण वास्तव में उसका कौन था। इसके अतिरिक्त, दिग्विजय के दौरान कर्ण ने उसका जो प्राणलेवा अपमान किया था, उसे भी वह भूला नहीं था। उपहास से उसकी ओर देखकर शल्य ने अपने उत्तरीय के छोर को यों ही झटका दिया। उस सूर्यपुत्र को शल्य के उस दाम्भिक क्षत्रियत्व पर क्रोध नहीं आया, उससे घृणा नहीं हुई, खिन्नता नहीं हुई। वह अचल था, स्तब्ध था।

"मद्राज, एक महत्त्वपूर्ण निर्णय के लिए मैंने आपको इस समय कष्ट दिया है।" दुर्योधन ने घोर नीरवता भंग की।

"कैसा निर्णय, कौरवराज ?" शल्य ने कर्ण की ओर पीठ करते हुए अपनी आँखें दुर्योधन पर केन्द्रित कर दी।

"कल का सम्पूर्ण यश अब केवल आपके हाथ में है !" कंजी आँखों से दुर्योधन ने शल्य को घूरा।

"मेरे हाथ में ? वह कैसे ?" शल्य ने, वार्तालाप का रुख समझ में न आने के कारण, भाल की सिकुड़नें बढ़ाते हुए पूछा ।

"मद्राज, कल....कल कुरुओं के सेनापति के महारथ का सारथ्य....केवल आप ही कर सकते हैं।" दुर्योधन ने अपना सशक्त हाथ शल्य के कन्धों पर रख दिया और उसके मन की थाह लेने के लिए आँखें उसपर स्थिर कर दी।

"राजन् SS....!" उच्च स्वर से यही एक शब्द कहकर शल्य क्षण-भर चुप रहा। दूसरे ही क्षण कर्ण की ओर उन्मुख होकर, जैसे सारथी घोड़े की पूँछ के विरूप दिखाई देनेवाले बालों को तड़ातड़ उखाड़ता है, वैसे ही वह शब्द उँडेलने लगा-"इस सूतपुत्र ने मुझसे बदला लेने के लिए यह इतना घोर और नीच मार्ग अन्त में क्या आपको सुझाया है ? जो प्रतिशोध वह पाण्डवों से नहीं ले सका, वह आपके द्वारा मुझसे लेना चाहता है अब ? राजन्, एक सारथी के रथ का सारथ्य करने के लिए आप एक उच्च कुलस्थ क्षत्रिय से कह रहे हैं ! जिसको हमारे रथ के घोड़े हाँकने चाहिए, उसके घोड़ों की वल्गाएँ मैं हाथ में लूँ ? हमारे होते हुए आपने इसे सेनापति बनाया, यही बहुत बड़ी भूल है, नितान्त अनुचित है।" शल्य गरजा ।

फिर भी राधेय शान्त था। अविचल था। जालीदार गवाक्ष से एकटक बाहर अन्धकार की ओर देख रहा था।

"मद्राज, जिन कुरुओं की ओर से लड़ने के लिए आप आज आये हैं, उन कुरुओं ने अंगराज कर्ण को क्षत्रियत्व का सम्मान समस्त नगरजनों के सम्मुख सर्वसम्मति से अर्पित किया है राज्याभिषेक कर उनको सेनापति-पद दिया है। इसके अतिरिक्त कुरुओं की ओर से

लड़ने के लिए जो भी राजा आये हैं वे सभी दिग्विजयी अंगराज के माण्डलिक हैं, यह मत भूलिए। यदि मुझे अवसर मिलता और यदि मेरा वश चलता तो पहले ही दिन आपको अंगराज कर्ण कुरुओं के सेनापति के पद पर आरूढ़ दिखाई देते। यदि मैं स्वयं सारथ्यकर्म कुशलता से करना जानता होता, तो मैं ही प्रसन्नता से उनके रथ के घोड़ों को हाँकता। निर्णय आपके हाथ में है। लक्ष-लक्ष योद्धाओं के प्राणों से सम्बद्ध आपकी सारथ्यकला को कुरुओं के ज्येष्ठ युवराज के रूप में इस कठिन अवसर पर मेरा यह आवाहन है।" कहते हुए दुर्योधन ने गदा पर हाथ फिराया।

बौखलाया हुआ शल्य क्षण-भर में विचारमग्न हो गया। कर्ण के संकुचित होते गये पैरों की ओर एकटक देखने लगा। आँखें मिचमिचाने लगा। भाल पर सिकुड़नों का जाल बुनने लगा। कुछ देर बाद विचार करके बोला, "कौरवराज, मैं तैयार हूँ।" शिविर से बाहर निकलते समय शल्य ने अपने उत्तरीय के छोर को उपहास से उड़ाया नहीं।

उसके बाहर जाते ही दुर्योधन ने आवेग से आगे बढ़कर कर्ण की पुष्ट भुजाओं को अपने हाथों से पकड़ लिया।

"अंगराज, जो पितामह नहीं कर सके, गुरु द्रोण नहीं कर सके, उसे कल तुम्ही सम्भव कर सकोगे। अखाड़े में नीलकमलों की माला के नीचे चूर्ण-विचूर्ण हुआ धनुर्धर कर्ण तुम्हें याद है ? स्मरण है तुम्हें काम्पिल्य नगर में स्वयंवर मण्डप के कुण्ड में अपने स्याह मुख के प्रतिबिम्ब को देखनेवाला वीर कर्ण ? गंगा के तट पर सुदामन की चिता की लपटें याद हैं तुम्हें ? स्मरण है—शोण के शिरस्त्राण का चूडालंकार ? स्मरण है न तुम्हें ? पितामह, गुरु द्रोण, शोण और सत्यसेन के तड़पते पराक्रम का अन्त ? अंगराज, कल अर्जुन के धनुष की प्रत्यंचा इस प्रकार टूटनी चाहिए कि उस टूटी हुई प्रत्यंचा की लपेटन ही फन्दे की तरह अर्जुन के नीले कण्ठ में अच्छी तरह कस जाये। उसके रथ पर बैठे नीले सारथी को पता भी नहीं चले कि अर्जुन इस प्रकार काला-नीला होकर एकाएक कैसे गिर पड़ा ? बोलो, अंगराज बोलो !" उसने जोर से कर्ण के भुजदण्ड को हिलाया। उसकी कंजी आँखें कर्ण के विशाल कपाल पर अपना भविष्य पढ़ने के लिए घूम रही थीं।

"राजन्, तुम्हें विजय प्राप्त कराने के लिए मैं प्राण-पण से प्रयत्न करूँगा। जाओ, परन्तु डौड़ी पिटवा दो कि आस-पास के नगर के याचकों को कल मुक्तदान मिलेगा।" उसने दुर्योधन को धैर्य बँधाया।

सरके हुए उत्तरीय को आनन्द से पुनः सँवारकर, कर्ण की भुजाओं को थपथपाकर दुर्योधन उसके शिविर से बाहर निकला। आस-पास की मशालों में से एक मशाल हाथ में लेकर प्रभंजन उसको मार्ग दिखाने लगा। दोनों की आकृतियाँ दुर्योधन के शिविर में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो गयीं। सोलहवें दिन की-शुक्ला द्वितीया की रात। कल के गर्भ में क्या है, इसकी आहट लेती हुई अंक में पड़े कुरुक्षेत्र को सुलाने के लिए दृषद्वती के तट की शीत

वायुरूपी हाथों से थपथपा रही थी। फिर भी कुरुक्षेत्र को नींद नहीं आ रही थी। आनेवाली भी नहीं थी।

दूत ने समस्त इतिवृत्त दौड़ते हुए आकर हमसे निवेदित किया। उसे सुनकर किसी ने एक हास्यास्पद विचार रखा - "मद्राज शल्य को सम्बन्ध के रेशमी धागों का स्मरण कराकर अपनी ओर तोड़ने के लिए नकुल-सहदेव को उसके शिविर में भेजा जाये। यदि यह सम्भव न हो तो—शल्य को यह निदान सुझाया जाये कि कल के में सारथ्य करते समय वह मर्मभेदी वचन कहकर बारम्बार कर्ण को उसके हीन कुल की याद दिलाये और उसका तेजोभंग करे।" कैसी विचित्र कल्पना थी !

यह विचार रखनेवाले को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि शल्य-जैसा मानी राजा अपने धवल क्षत्रियत्व को कलंकित करनेवाले ऐसे किसी भी कृत्य को करने के लिए कभी तैयार नहीं हो सकता था । नाते के मोह में पड़कर भी नहीं। यदि उसने ऐसा ही अनुभव किया होता तो सोलह दिनों से निरन्तर गरजते-तरजते युद्ध में वह बहुत पहले कौरवों से विश्वासघात कर बैठता। कौरवों की ओर से लड़ना उसे यदि स्वीकार न हुआ होता, तो अपनी विशाल सेना लेकर वह पुनः सीधा मद्रदेश चला गया होता।

आज तक युद्ध में, वीरों को जो एक बार क्षम्य था, वह क्रौर्य तो दिखाई दिया था-किन्तु विश्वासघात नहीं।

और शल्य भले यथेच्छ प्रयत्न कर लेता, किन्तु कर्ण का तेजोभंग होना अब सम्भव नहीं था। अपनी जन्मदात्री माता द्वारा पाण्डवों से अपना क्या नाता है, यह सुनकर भी जिसका तेजोभंग नहीं हुआ, स्वयं मेरे मुख से पाण्डवपक्ष स्वीकार करने का आग्रह सुनकर भी कौरवों की ओर से ही लड़ने के लिए जो समरांगण में उतरा-वह कर्ण अब प्रत्येक दशा में अधिक संहारक सिद्ध होनेवाला था। मरण के द्वार पर पड़े हुए पितामह भीष्म की सलाह को जिसने-जैसे वचनपूर्ति के लिए कवच-कुण्डलों को दूर कर दिया था वैसे ही दूर कर दिया था वह कर्ण, 'मैं सूर्यपुत्र हूँ' यह जान लेने पर शल्य-जैसे व्यक्ति द्वारा अब कैसे तेजोहीन हो सकता था ?

ऐसी कोई बात सम्भव ही नहीं थी। न शल्य द्वारा और न कर्ण के ही द्वारा ।

मैंने सबसे शान्तिपूर्वक सोने को कहा। मैं जानता था कि अमावस्या भले ही समाप्त हो गयी थी, किन्तु अब आनेवाली रातें अधिक अँधेरी थीं।

युद्ध का सत्रहवाँ दिन उदित हुआ। वह शुक्ला तृतीया का दिन था। दोनों पक्षों की सैन्यसंख्या अब आधी से अधिक कम हो गयी थी। भीतर योद्धा न होने के कारण अनेक शिविर सूने हो गये थे—घोड़े निकाल लिये गये अश्वशालों-जैसे ।

प्रातःकाल के सन्धिप्रकाश में कौरवों का सेनापति बना हुआ वह प्रथम पाण्डव टीले-जैसे एक किले पर खड़ा हो गया। विगत सोलह दिनों से वह उस स्थान से सेनाओं की हलचलों की खोज-बीन करता रहा था। इसलिए वह स्थान 'कर्णकिला' नाम से सबमें परिचित हो गया था। चूँकि डौड़ी पिटवा दी गयी थी इसलिए वह पूरा टीला कुरुक्षेत्र के आस-पास के नगरों के याचकों ने घेर लिया था। भिन्न-भिन्न आकारों के सुवर्णथाल हीरे, माणिक्य, वैदूर्य, मोती, प्रवाल आदि से किनारे तक भरे हुए उसके चारों ओर रखे थे। दिग्विजय में मिली हुई अतुल सम्पत्ति के बचे-खुचे धनभाग को भी वह आज मुक्त हस्त से सबको दान करनेवाला था। उसके मस्तक पर मेरे मुकुट के ही आकार का मुकुट था। कलाइयों पर रजनीगन्धा की मलाएँ थीं।

राजपुरोहित द्वारा बताया गया प्रातःकाल का शुभ मुहूर्त आते ही उसने अपनी गुलाबी हथेलियाँ हीरे-माणिक्यों से खचाखच भरे हुए थालों में गाड़ दीं। मुट्ठी भर-भरकर वह सामने आनेवाले प्रत्येक याचक को दान करके, दोनों हाथ जोड़कर सविनय वन्दन कर रहा था। उसका जो मस्तक जरासन्ध के सामने नहीं झुका था; शल्य, शिघ्र, रुक्मरथ-इन मानी राजाओं के आगे नहीं झुका था, पराक्रमी पाण्डवों के आगे नहीं झुक था, एकाध अवसर छोड़कर कभी मेरे सम्मुख भी नहीं झुका था, परीक्षाकाल आते ही जमदग्निपुत्र परशुराम के सामने भी नहीं झुका था, वही पुष्ट, गोल, हिरण्यवर्णी सूर्यपुष्प-जैसा मस्तक कनटोपा पहने हुए, कृश याचकों के सम्मुख हर बार आदरपूर्वक झुका रहा था। क्यों ? किस लिए ? यह बात मैं जान सकता था। क्योंकि....साधारण जनों की निर्लिप्त शुभेच्छाएँ किसी भी आशीर्वाद की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होती हैं। वह अब सामान्य जनों के आशीर्वाद ग्रहण कर रहा था। एक योद्धा के रूप में।

उसका दानसत्र पूर्ण होने जा रहा था, फिर भी नित्य की भाँति सूर्यकिरणों के सुनहले पारिजात पुष्पों की वर्षा कुरुक्षेत्र पर नहीं हुई। आकाश की नीली छत श्वेत-मटमैले मेघों से आच्छादित थी। सदैव सूर्योदय के साथ चित्र-विचित्र आवाजों की कलकल ध्वनि करनेवाले, कुरुक्षेत्र के आस-पास खड़े हुए कदम्ब, कीकर, मधूक, किंशुक आदि डौलदार वृक्षों पर रहनेवाले पक्षिगण व्यर्थ ही चोंच ही चोंच में आवाजें कर रहे थे। सूर्योदय के साथ ही प्रफुल्लित होनेवाली कुरुक्षेत्र की स्थूल वनस्पतियाँ गरदन लटकाकर अर्धनिद्रित-सी कुम्हलायी हुई थीं। उनपर शारदीय ओस की बूंदें चमक नहीं रही थीं। चमकनेवाली भी नहीं थीं। क्योंकि वातावरण कुण्ठित हो रहा था।

आठ

आज का रणक्षेत्र 'अमीन' नामक एक अत्यन्त ऊँचे टीले के नीचे चुना गया था। पूर्व की ओर से कुरुओं की तथा पश्चिम की ओर से पाण्डवों की सेना रणभूमि के पास एकत्रित हो रही थी।

मद्र, मगध, मत्स्य, मथुरा, मालव, वत्स, बंग, विदेह, विदर्भ, कुलिन्द, किरात, काशी, कोशल, कम्बोज, कामरूप, निषध, आभीर, गान्धार-आयावर्त के सभी देशों के युद्धोत्सुक योद्धा 'युद्ध का अन्त क्या होगा' इस आशंका से कुरुक्षेत्र के चारों ओर एकत्रित हुए थे। एकनिष्ठा से लड़ने के लिए तैयार हो गये थे। शाकल, गिरिव्रज, विराटनगर, अवन्ती, प्रयाग, ताम्रनगर, कुसुमपुर, कुण्डिनपुर, चन्दनावती, काष्ठमण्डप, वाराणसी, अयोध्या, चम्पावती, महिष्मती, पुष्करावती-समस्त राजनगरों के विविध रंगों के भिन्न-भिन्न आकारों के सभी राजध्वज रणक्षेत्र को मान-वन्दना देते हुए फहराने लगे।

आज कुरुसैन्य ने सूर्यबिम्ब की तरह गोलाकार आकार धारण किया था। अनेक योजनों के घेरे का यह गोल, सेनापति कर्ण के जैत्ररथ के पीछे फैला हुआ था। राधेय ने अपने जैत्ररथ को वन्दन कर प्रदक्षिणा की। आँखें बन्द कर वह सूर्यस्तोत्र पढ़ रहा था।

मृत्युदेव के वाहन महिष जैसा आकार लेकर पाण्डवों की सेना अर्जुन के नन्दीघोष रथ पीछे खड़ी थी। उसका अन्तिम पथक एकदम अमीन टीले की जड़ से जाकर भिड़ गया था।

जैत्ररथ का पार्श्वभाग शूल, तोमर, पट्ट, गदा, दिव्यास्त्र, खड्ग, चक्र, भिन्दिपाल, शलघ्नी तथा असंख्य प्रकार के बाणों के भातों से ठसाठसा भरा हुआ था। शृंखला-दण्डांकित ध्वज उसके माथे पर फहरा रहा था। जिसकी कलाई में रजनीगन्धा की बड़ी-बड़ी कलियों की माला कसकर बँधी हुई थी वह कर्ण अपने जैत्ररथ में अपना दायाँ पैर पायदान पर रखकर चढ़ा। उसके भार से हिले हुए रथ पर घण्टियाँ हिलती-डुलती हुई किणकिण ध्वनि कर उठीं, पुष्पमालाएँ डोल उठी, माथे पर हाथी की शृंखला और दण्ड से सुचिह्नांकित ध्वज क्षण-भर हिलकर पुनः सीधा हो गया। उस वीर सेनापति के रथारूढ़ होते ही उसका सारथी शल्य रथनीड़ की ओर बढ़ा। उसने उसके हस्तिदन्त-जैसे दिखाई देनेवाले ऊँचे घोड़ों की वल्गाएँ हाथ में लीं। उनमें एक घोड़ा अधिक ऊँचा था। व्याघ्रचर्म से मढ़े हुए गोलपटल में खोंसे हुए प्रतोद को खींचकर शल्य ने हाथ में ले लिया।

शल्य और सारथी ! मैं मन ही मन हँसा। काल ने शल्य से बहुत बड़ा प्रतिशोध लिया था।

पाण्डव सेना के अग्रभाग में खड़े हुए अर्जुन को मैंने रथारूढ़ होने को कहा, परन्तु वह चुपचाप खड़ा रहा। मैं रथारूढ़ होकर जबतक हाथ में वल्गाएँ और प्रतोद न ले लूँगा, तबतक वह आज नन्दीघोष पर चढ़नेवाला ही नहीं था। क्षण-भर हँसकर मैंने भी नन्दीघोष पर पैर रखा। जान-बूझकर बायें हाथ में प्रतोद लेकर जोर से फटकारा।

रथारूढ़ होकर मैंने अपने शुभ्र पांचजन्य शंख से जैसे ही युद्धप्रेरक बोल निकाले, अर्जुन भी रथारूढ़ हो गया। अपने देवदत्त शंख से वह मेरे बोलों का स्वर से स्वर मिलाकर अचूक अनुकरण करने लगा।

आज पहली ही बार हमारी सेना ने हम दोनों के नाम का जयघोष कर कोलाहल किया। उस जयघोष की ध्वनि अमीन टीले की दृढ़ भित्ति से टकराकर पुनः पाण्डव सेना में गूंजने लगी। कुरुक्षेत्र का परिसर गुंजायमान हो गया।

आकाश अब भी घिरा हुआ ही था। कुरुक्षेत्र के ऊपर नीली छत को भेदकर जानेवाली नैतिक जयघोषों की तुमुल ध्वनि से ही यदि वह कभी स्वच्छ हो जाये तो भले ही हो।

पाण्डव सेना के जयनाद को सुनते ही कुरुओं का वह सेनापति सरसराकर प्रफुल्लित होनेवाले सूर्यपुष्प की तरह एकदम फूल उठा—अब वह केवल कर्ण नहीं था, राधेय नहीं था, कौन्तेय नहीं था, नाते तो वह कवच-कुण्डलों की तरह बहुत पहले दूर कर चुका था। वह था केवल सेनापति—केवल प्रज्वलित सूर्यपुत्र। उसने क्षण-भर पूर्व की ओर आच्छादित क्षितिज को देखा।

अपना विशाल, शुभ्र 'हिरण्यगर्भ' शंख दोनों हाथों की विशाल पकड़ में दृढ़ता से पकड़कर उसने पीछे फैले हुए कुरुसैन्य की गोलाकृति पर एक बार दृष्टि डाली। दूसरे ही क्षण पुष्ट हाथी के पैर की तरह दिखाई देनेवाला उसका कण्ठभाग फूल उठा। रक्तमय धमनियाँ तन गयीं। अपने विशाल वक्षस्थल में आस-पास की हवा भरकर वह अपने हिरण्यगर्भ शंख से अनजाने दिव्य बोल निरन्तर बाहर निकालने लगा। योद्धाओं के अंगों को रोमांचित करनेवाले वे बोल स्वयं मेरे लिए भी अपरिचित थे। दुन्दुभी, नगाड़े, मृदंग, डिण्डिम आदि रणवाद्यों के स्वरों को भी भेदकर उसके शंख के बोल मुझे पाण्डव सेना में स्पष्ट सुनाई दे रहे थे। वे ध्वनियाँ नहीं थीं—मानो सनसनाती हुई प्रकाश-तरंगें ही थीं।

अपने दायें हाथ के विजय धनुष को पुनः-पुनः ऊँचा उठाते हुए, “आ SS रो SS ह, आ SS गम” आदि घोषणाएँ करता हुआ वह पर्वकालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह गरजता बढ़ता हुआ आने लगा। आने लगा विक्षिप्त अरण्यानिल का मृत्युगीत साथ लेकर। आने लगा विद्युग्रहार बनकर आस-पास के भूखण्ड को जलाने के लिए ज्वालामुखी बनकर। आने लगा पुत्र का कर्तव्य समझकर आच्छादित सूर्य का कुरुक्षेत्र को सन्तप्त करने का कार्य स्वयं पूरा करने के लिए प्रतिसूर्य बनकर।

उस असीम कौरव-पाण्डव सैन्य में मेरे अतिरिक्त किसी को भी वह विदित नहीं था कि वह सूर्यपुत्र है। कुरुओं के सैनिक ‘अंगराज’ कहकर उसका जयघोष कर रहे थे। पाण्डवों के सैनिक ‘राधेय’ कहकर अपने पागल मन को समझा रहे थे कि उसके पराक्रम का उन्हें राई-रत्ती भर भय नहीं है। कोई....कोई भी उसको ‘सूर्यपुत्र’ नहीं कह रहा था। फिर भी अब स्वयं से पूर्ण रूप से परिचित वह सूर्यपुत्र अडिग, अमित वीर्यवान्, अमर्षी, अशरण, दानवीर

चढ़ता आ रहा था। उसको संरक्षण देते हुए उसके पुत्र वृषसेन और चित्रसेन, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, कृप, दुर्योधन, कृतवर्मा आदि सभी कौरव योद्धा क्रुद्ध होकर पाण्डव सेना पर चढ़ते आ रहे थे।

मैं नन्दीघोष से पुनः नीचे उतरा। शिविर में जाकर रथ के आरों में लगाने के लिए औंगने का पात्र ले आया। हमारे नन्दीघोष को संरक्षण देते हुए भी, सात्यकि, उत्तमौजा, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, युयुधान आदि के रथ दौड़ने लगे। धूल के प्रचण्ड बादल आकाश में छाने लगे। रणवाद्य, जयघोष हाथियों की चीत्कार, घोड़ों का हिनहिनाना, रथचक्रों की घर-घर, खिंची हुई प्रत्यंचाओं की टंकार-इन सबके मिलने से उत्पन्न एक विचित्र मिश्रित ध्वनि अमीन टीले की प्राचीर से टकराकर गूंजती हुई प्रतिध्वनित होने लगी। प्रतोद फटकारने की आवाजें घोड़ों की हिनहिनाहटों में विलीन होने लगीं। गरुड़ पक्षियों के परस्पर विरुद्ध दिशा से आनेवाले दो झुण्ड एक-दूसरे पर पंखों की कँपानेवाली फड़फड़ करते हुए भयानक रूप में जैसे टकरायें, वैसे ही दोनों सेनाओं के योद्धा बाण फेंकते हुए एक-दूसरे से भयंकर रूप में टकराने लगे। सैन्य से सैन्य भिड़ गया। युद्ध प्रारम्भ हो गया।

रथों से फेंके गये मैरेयक मद्य के रिक्त कुम्भ कुरुक्षेत्र पर लुढ़कते हुए दौड़ने लगे। उनपर होकर निकलते समय बहुत-से रथों का सन्तुलन बिगड़ गया और उसपर फिर पीछे से अश्वसाद ऊपर आ जाने के कारण वे रथ चकनाचूर हो गये।

कर्ण का रथ धरती को भयानक धक्के देते हुए उसके हंसवर्णी पाँच शुभ्र घोड़े ऐसे खींच लाये कि क्षण-भर पहले युद्धभूमि के एक छोर पर सामने खड़ा हुआ वह अरिन्दम महावीर, पाण्डव सेना में पांचालों के हाथी, घोड़े और पैदल-इन तीनों विभागों खचाखच भरी हुई अग्रिम पंक्ति में कब घुस गया, इसका पता भी न चला। वह निर्भय सेनापति कण्ठरव से इस प्रकार आह्वान कर रहा था कि रथ और घोड़ों से गिरे हुए कुरु सैनिक पुनः सावधान होकर उठने लगे। जो हाथ आता उसी वाहन पर आरूढ़ होकर पांचालों पर टूट रहे थे। समुद्र से मिलनेवाला महानद अपने साथ असंख्य लहरों का ताण्डव नृत्य लेकर जैसे गरजता हुआ आता है, वैसे ही वह मद्य तथा रणमस्ती से उन्मत्त बने हुए कुरुओं के हाथी, घोड़े और पदाति के भानरहित, विक्षुब्ध सैकड़ों पथकों को लेकर आया था। उसकी दायीं तथा बायीं ओर चित्रसेन और प्रसेन थे एवं उसके पीछे वृषसेन, इस प्रकार उसके तीन पराक्रमी पुत्र उसको संरक्षण देते हुए दौड़ते आये थे।

किरणों के साथ सूर्यबिम्ब मानों ऊपर टूट पड़ा - ऐसा आभास हो रहा था।

उसको सामने से आता हुआ देखकर हमारे पीछे दौड़ते हुए इन्द्रप्रस्थ के पथकों को कुछ देर रोकने के विचार से अर्जुन का रथ मैंने बीच में ही रोक दिया। क्योंकि मैं जानता था कि मेरे रंग को अपने नीले नेत्रों से अचूक पहचानकर वह अर्जुन पर ही चढ़ता चला आ रहा था है। उसकी चपल हलचलें ही यह स्पष्ट बता रही थीं।

जैसे ही वह निकट से निकटतर आया वैसे ही हमसे आगे बायीं ओर थोड़ा बढ़ा हुआ धृष्टद्युम्न, पांचाल का सैन्य लिये, एकदम तिरछा घुसकर हमारी सेना के सामने आकर खड़ा हो गया। पहले प्रहार की यह चाल मैंने रात ही धृष्टद्युम्न को अच्छी तरह समझा दी थी। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार उसने हमारे सामने अपनी पांचाल सेना को लाकर उस ज्वालामुखी को अपने ऊपर ले लिया। अकस्मात् ही पांचालों के पथकों को सामने आया देखकर, जैसे आहत क्रुद्ध हाथी सरोवर में घुसता है वैसे ही वह सीधा पांचालों के पथक में घुस गया। हाथ के विजय धनुष को ऊँचा उठाकर, कर्ण विषैले बाणों की निरन्तर मृगनक्षत्र की वर्षा की तरह बौछार पर बौछार, पांचालों के असंख्य गज-पथकों पर बरसाने लगा। विष का प्रभाव होते ही हाथी विक्षुब्ध होकर इतस्ततः दौड़ने लगे। उनके कर्कश चीत्कारों से यही किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि पांचालों के पथकों में क्या-क्या हो रहा है। धूल के बादल अवगुण्ठित आकाश को और अधिक आच्छादित करने लगे।

द्रौपदी के स्वयंवर के समय भरे मण्डप में कर्ण की अवहेलना को जिन पांचाल योद्धाओं ने हँसी के ठहाके लगाते हुए देखा था, उनसे अब वह सूर्यपुत्र, मृत्यु का रूप धारण कर, प्राणों के भय से चीत्कार करवा रहा था। धधकता हुआ यज्ञकुण्ड जैसे समिधाओं की गठरियाँ जलाकर राख कर देता है, वैसे ही उसके अग्निबाण पांचाल वीरों को जलाकर राख कर रहे थे। जिसकी डाल-डाल पर रक्त-पुष्प लदे हुए हैं ऐसा पलाश, लाल सारंग पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड उतरते हैं, तब जितना रक्तवर्णी और भड़कीला दिखाई देता है, उतना ही भयावह वह सन्तप्त राधेय दिखाई दे रहा था। पर्वत की पादभूमि के समीप घने कछार में भड़की हुई दावाग्नि सरसराती हुई जैसे अरण्य की ओर दौड़ती है, वैसे ही वह निर्भय होकर पांचालों की संरक्षण की पंक्तियों को एक के बाद एक तोड़ता हुआ, अपने पीछे आनेवाले वीरों को सावधान करता हुआ, आगे ही आगे दौड़ रहा था।

जीवन-भर मन में समाये रहनेवाले सम्भ्रम को अब उसने दूर कर दिया था। अब उसकी देह में केवल युद्ध की, सरलता से न उतरनेवाली एकमात्र मदिरा चढ़ी हुई थी। वह दौड़ता आता था। कछार में चरनेवाले वन्य अश्वों के झुण्ड में जैसे कोई क्रुद्ध क्षुधित सिंह गरजता हुआ आ घुसता है, वैसे ही वह पांचालों के पथक में घुस गया।

केवल आधी घड़ी में ही उसने पांचालों के अग्रिम पंक्ति के सभी पथकों को मिटा डाला। उसके बाण ठीक टिड्डीदल-जैसे थे। मृगनक्षत्र की सतत मूसलाधार वर्षा की बूंदों की तरह वे एक-दूसरे के पुच्छभाग को पकड़े हुए अखण्ड रूप में गिर रहे थे। हाथ की चारों उँगलियों की पकड़ में पाँच-छह, जितने आ सके उतने बाण एक साथ लेकर सबको एक बार में ही फेंकता जा रहा था। पलक झपकने नहीं पाते थे कि उसके भारी धनुष से इस प्रकार फेंके हुए असंख्य बाण चारों दिशाओं में दौड़ जाते। कब भाते से बाण निकला, कब प्रत्यंचा पर चढ़ाकर उनसे उसने लक्ष्य साधा, इसी का पता नहीं चलता था। नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ

नागरमोथा पानी की धार के साथ जैसे निरन्तर डगमग हिलता रहता है, वैसे ही उसके हाथ और नेत्र बाण फेंकते समय सतत हिल रहे थे। क्षण-प्रतिक्षण पांचाल पटापट धराशायी होते हुए एक-एक पग पीछे की ओर सरकने लगे। पंक्ति टूट रही थी। पांचालों का नायक धृष्टद्युम्न पीछे हटने लगा।

पांचालों को पीछे हटने से रोकने के लिए चेदि, सात्यकि तथा इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव-पथक उनकी सहायता के लिए दौड़े। परन्तु जैसे ज्वार के समय समुद्र बाहर के निर्झर-जल को अपने में मिलाने को तैयार नहीं होता वैसे ही वह दीर्घबाहु प्रथम पाण्डव उन्हें वापस लौटाने लगा। चेदियों के गजदल में घुसकर उसने कुछ ऐसा कोलाहल मचाया कि चेदियों की समझ में यही नहीं आया कि अपना कौन है और शत्रु कौन ? पहली घटिका में ही कर्ण ने भानुदेव, चित्रसेन, सेनाबिन्दु, तपन और शूरसेन—इन प्रसिद्ध पांचाल वीरों को कण्ठस्नान करा दिया। सैकड़ों, हजारों चेदिवीर और सात्यकि उसके ऊँचे रथ के नीचे कुचल गये, जैसे गगन-मण्डल में चंचला स्वच्छन्द विहार करती है वैसे ही वह चतुरंग दल में 'मारो, मारो' चिल्लाता हुआ घूमने लगा।

मैंने पांचालों के पीछे से अर्जुन के पथक को धीरे से निकालकर संशप्तकों की सेना, से भिड़ा दिया। अर्जुन के अमोघ बाण मेरे सिर पर से सतत सूँ ऽऽ सूँ ऽऽ की आवाज करते हुए दौड़ रहे थे, संशप्तक जिधर रास्ता मिलता, उधर ही भाग रहे थे। अर्जुन की सेना उनका पीछा कर उन तक पहुँचने लगी। उनको बाणों का लक्ष्य बनाने लगी।

नौ

मोर्चे की अग्रिम पंक्ति तोड़कर भीतर घुसे हुए कर्ण की युधिष्ठिर से मुठभेड़ हो गयी। धर्मप्रिय युधिष्ठिर का रथ सामने दिखाई देते ही उसने पहले ही बाण से उसके रथ पर लगी श्वेत पताका को एकदम नीचे गिरा दिया। कलगी-कटे मोर की तरह उसका रथ कर्ण से बचाव करने के लिए चपलता से हलचल कर रहा था। परन्तु प्रत्येक द्वार पर कर्ण ही उसके सामने आ जाता। प्रत्यक्ष देह पर बाण न फेंककर रथ के दण्डों में और लकड़ी के भाथों के मुख पर कर्ण इस प्रकार बाण गड़ा रहा था कि हाथ में धनुष होने पर भी उन गड़े हुए बाणों के कारण युधिष्ठिर हिल तक नहीं पा रहा था। बहुत देर तक युधिष्ठिर की दुर्दशा करके उसने युधिष्ठिर के सारथी इन्द्रसेन को रथ से गिरा दिया। इन्द्रसेन दूसरे ही क्षण गतप्राण हो गया।

एकाकी युधिष्ठिर की सहायता करने के लिए धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदी के पांचों पुत्र, शिखण्डी, भीम तथा नकुल-सहदेव दौड़े। उसके चारों ओर बने हुए घेरे को वह राधेय इस

प्रकार भेद रहा था कि उनको एकत्रित होकर आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिल रहा था।

जैसे-तैसे पहला प्रहर समाप्त होने लगा, आकाश निरभ्र होने लगा। कुरुक्षेत्र की भूमि प्रकाश से भर गयी। अपनी किरणों से समस्त चराचर में चेतना भरनेवाले आकाश के सम्राट् सविता पूर्व में आ खड़े हुए। उनकी उष्ण किरण का भुजा को स्पर्श होते ही उसने क्षण-भर को अपना विजय धनुष रोक लिया। आँखों को मुख बनाकर वह उस चमकते सूर्यबिम्ब के तेजोरस को गटागट पीने लगा। उसकी वही मदिरा थी। उसका धनुष रुका हुआ देखकर उसका सारथी शल्य 'सूतपुत्र, सूतपुत्र' कहकर उसको सावधान करने लगा। शल्य को सत्य विदित नहीं था- -और होता तो भी वह विश्वसनीय निश्चय ही नहीं था।

सूर्यदर्शन होते ही शरीर के साथ उस महावीर का मन प्रफुल्ल हो गया। सामने की युद्धभूमि उस स्वर्णिम आकाशवीर को तृण के समान तुच्छ लगने लगी। क्रौंच पक्षी के पंख-जैसे रंगीन बाण फेंकता हुआ वह प्रभद्रक, चेदि तथा पांचाल के पथकों में शार्दूल की तरह गरजता हुआ घुस गया।

वह युद्ध में उलझा हुआ है, यह अवसर पाकर महापराक्रमी भीम कौरव सेना के मद्र, गान्धार, सैन्धव आदि पथकों के हजारों सैनिकों को ऐसे रौंदता हुआ चला जैसे ज्वार आने पर समुद्र उन्मत्त होकर किनारे को रौंद देता है। उसके शक्तिशाली पुत्र घटोत्कच का अन्त कर्ण ने किया है, यह कसक मन में लिये हुए वायुपुत्र भीम समरांगण में अपनी आँखों को घुमाता हुआ कर्ण के पुत्र को अपनी शक्तिशाली भुजाओं में दबोचने का अवसर ढूँढ़ रहा था और वह अवसर उसे प्राप्त भी हो गया।

संकुल युद्ध के कोलाहल में क्षण-प्रतिक्षण कर्ण से दूर होता हुआ प्रसेन अपने दुर्भाग्य से ठीक भीम के सामने ही आ गया। वह भीम के सम्मुख ऐसा दिखाई दे रहा था जैसे हिमालय के लम्बे-चौड़े और ऊँचे शिखर के सम्मुख निषध पर्वत का कोई टीला खड़ा हो। परन्तु निषध पर्वत की दृढ़तासहित ही वह भी भीम के सम्मुख खड़ा हुआ। वह विक्रमी कर्णपुत्र भीम से आधी घड़ी तक लड़ा। परन्तु....परन्तु अन्त में भीम द्वारा फेंके गये एक चन्द्रमुख बाण से घायल होकर धरती पर गिर पड़ा। छटपटाकर गतप्राण हो गया।

"प्रसेन गिर पड़ा ! प्रसेन गिर पड़ा ! भीम ने गिरा दिया ।" यह बात कानोंकान प्रसरती हुई अन्त में कर्ण के कानों में पड़ी।

चेदि, पांचालों के पथकों को दूर हटाता हुआ वह भीम के ध्वज पर दृष्टि रखता हुआ अपने गतप्राण पुत्र के पास आया। उसकी निश्चल काया को देखकर उसके हाथ में विजय धनुष काँप उठा और दूसरे ही क्षण हाथ से छूटकर नीचे गिर पड़ा।

"प्रसेन ! प्रसेन !" कहता हुआ वह रथ से धरती पर झपटा। अपने उलटे पड़े हुए प्रिय पुत्र की मृत देह को सीधा कर उसने उसके धूल में सने हुए मुख को हथेलियों में ले लिया। उसकी आँखों से बहनेवाले आँसुओं की धार ने उस मुख पर जमी कुछ धूल बहा दी। कुछ प्रज्वलित तप्त अश्रु कुरुक्षेत्र की भूमि में विलीन हो गये ।

ऊपर उठकर उसने क्षण-भर आकाश की ओर देखा। उसकी लम्बी, विशाल देह की छाया में पड़े हुए प्रसेन की महानिद्रा में लीन देह को कौरवों के प्रेत उठानेवाले पथक-प्रमुखों ने उठा लिया। उसने दृढ़ता से पीठ फेर ली—जीवन में सत्य प्रतीत होनेवाले आभास की ओर। योद्धा को स्थान-स्थान पर महापाश में बद्ध करनेवाले मायावी जग की ओर। जल्दी-जल्दी चलता हुआ वह पुनः उछलकर अपने रथ पर चढ़ गया जैसे हाथी के गण्डस्थल पर सिंह उछलकर चढ़ जाता है। आरों की घर-घर चालू हो गयी। स्थान-स्थान पर जो छोटे-बड़े गड्ढे थे, उनको पार करते समय रथ को लगनेवाले धक्कों से उसके रथ के बायीं ओर के चक्र पर लोहे की रज्जु अब जीर्ण होती जा रही थी। परन्तु उस ओर ध्यान देने का समय भी अब उसके पास नहीं था। क्रोधाग्नि उगलनेवाले उसके नेत्र भीम को ढूँढ़ रहे थे। शल्य का प्रतोद कड़कड़ाता हुआ धूप में चमकनेवाली श्वेत घोड़ों की पीठ पर पड़ने लगा।

समरांगण की बायीं दिशा में उसके ज्येष्ठ पुत्र वृषसेन और नकुल के बीच रोमांचक टक्कर हो रही थी। नकुल-जैसे कुशल पाण्डव योद्धा से भी वह ज्येष्ठ कर्णपुत्र पराजित नहीं हो रहा था। प्रत्युत अपने पराक्रम को प्रदर्शित करनेवाले इस अवसर को एकनिष्ठा से उपयोग में ला रहा था। नकुल को सन्त्रस्त कर रहा था। "मैं कर्णपुत्र वृषसेन !" यह कहकर नकुल को चिढ़ाकर अपने ऊपर लेते हुए उसने एक प्रहर तक उसको बाणवर्षा से पूर्ण सन्त्रस्त कर रखा । जैसे कर्ण के सामने से हट गया था, वैसे ही वृषसेन के सामने से पलायन करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही विरथ नकुल के सामने नहीं था। वह उत्सुक होकर अपनी सहायता के लिए इधर-उधर देख रहा था। परन्तु अर्जुनसहित तीनों पाण्डव संकुल युद्ध में कहाँ-कहाँ लड़ रहे थे, इसका स्वयं उसी को पता नहीं चल रहा था। उसने शंख फूंककर सहायता की आर्त पुकार सूचित करनेवाले करुण बोल निकाले । उनको सुनते ही महापराक्रमी सात्यकि नकुल की सहायता के लिए दौड़ा। पाण्डवों के बाद सेना में सात्यकि का ही अग्रस्थान था ।

सात्यकि और वृषसेन का घनघोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। परन्तु लगभग आधी घड़ी में ही सात्यकि ने एक विषैला लिप्त बाण मारकर वृषसेन को मूर्छित कर दिया। लड़ते-लड़ते थका हुआ वह ज्येष्ठ कर्णपुत्र धड़ाम से रथ में गिर पड़ा, जैसे पर्वतशिखर से पाषाण गिरता है । चपलता से आगे बढ़कर दुःशासन उस मूर्छित वीर को समरांगण से बाहर ले आया। विशेष प्रेम के कारण नहीं, बल्कि दुःशासन को भीम से दूर जाना था, इसलिए।

चेदियों के जैसे-तैसे सँभले हुए गजदल पर कर्ण फिर टूट पड़ा। बचे-खुचे हाथी भी सूँढ़ें हिलाते हुए चीं-चीं चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। धृष्टद्युम्न, उत्तमौजा, सात्यकि, युयुधान-कोई भी पाण्डव वीर अग्नि के महानद के उस महाप्रवाह के सामने टिक नहीं पा रहा था। आज का कर्ण सबके लिए अनिरुद्ध हो गया था।

वासात्य, निषाद और सैन्धवों की चतुरंग दल सेना को अपनी गदा से चूर्ण करता हुआ थयथय नाचता भीम, “दुःशासन कहाँ है ? दुःशासन कहाँ है ?” कहकर कर्ण-कर्कश स्वर में ललकार रहा था।

सुशर्मा के नेतृत्व में लड़नेवाली संशप्तकों की सेना को रगड़ता हुआ हमारा नन्दीघोष कौरव सेना के सूर्यगोल को आधे से अधिक पार कर आगे आ गया था।

अमीन टीले की पादभूमि में सम्मिश्रित ध्वनियों के आघात से निनादित कुरुक्षेत्र पर केवल तीन ही वीर पूरी सेना में अनिर्बन्ध फिर रहे थे—कर्ण, अर्जुन और भीम । उनसे लड़नेवाली सेनाएँ पीछे हटती हुई पलायन करने लगीं।

स्थान-स्थान पर संकुलयुद्धरूपी मधु का छत्ता फूट चुका था। वसन्त ऋतु में फलों से लदे हुए पिप्पल वृक्ष पर पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड जैसे झपटते हैं वैसे ही दोनों सेनाओं के योद्धा भिन्न-भिन्न पथकों में एक-दूसरे पर आवेग से टूट रहे थे। कौन कहाँ लड़ रहा है इसका पता ऊँचे रथों पर स्थित पाण्डव तथा कर्णादि योद्धाओं को छोड़कर अब किसी को भी नहीं लगता था ।

दस

अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने को व्याकुल युधिष्ठिर द्राविड़ और निषादों के सुरक्षित पथकों को लेकर पुनः समरांगण में कर्ण के सामने जा खड़ा हुआ। परन्तु अपने पुत्र के वध के कारण क्रोध से भड़के हुए उस महारथी ने पहले ही आघात से युधिष्ठिर के दण्डधर और चन्द्रदेव दो चक्ररक्षकों को धड़ाम से धरती पर गिरा दिया। अपने पराक्रम पर स्वयं ही चिढ़ा हुआ युधिष्ठिर भी आवेग से उसके रथ से भिड़ गया। इन सत्रह दिनों में युधिष्ठिर इतना विक्षुब्ध कभी दिखाई नहीं दिया था।

“सूतपुत्र, सूतपुत्र !” कहते हुए उसने बाणवर्षा से कर्ण का रथ आच्छादित कर दिया।

“निष्क्रिय, नाममात्र क्षत्रिय !” कहते हुए कर्ण ने उसके बाणों के आवरण को क्षण-भर में नष्ट कर दिया।

नाराच, सर्पमुख, कंकपुंख, जिह्म, सन्नतपर्व, निशित, बस्तिक—जो हाथ में आ जाते उन बाणों को केवल उनके पुच्छभाग के चिकने स्पर्श से अचूक पहचानकर, आवश्यकतानुसार ही बल देकर वह युधिष्ठिर पर इस प्रकार फेंकने लगा कि युधिष्ठिर इस तरह घिर गया जैसे तुषार के मोटे परतों से हिमालय का शिखर वेष्टित हो जाता है। उसकी सहायता के लिए सात्यकि और युयुत्सु दौड़े, परन्तु कोई भी कौरवों के उस अजेय सेनापति का सामना नहीं कर सकता था।

कर्ण की बाणवर्षा असह्य होते ही युधिष्ठिर, सात्यकि और युयुत्सु एक ही रथ में चढ़ गये तथा पुनः समरांगण से बाहर भागने लगे। जाते-जाते युधिष्ठिर ने एक सूचीबाण ऐसा फेंका कि वह राधेय के सीधे कान के समीप मर्मस्थल पर अचूक जा लगा। वह मूर्छित होकर नीचे गिर रहा है, यह मुड़कर देखने तक के लिए, उन तीनों में से एक भी पीछे नहीं रुका। कर्ण मूर्छित होकर गिर पड़ा।

शल्य ने रथ में गिरे हुए कर्ण के मस्तक से बाण निकाला। रथ में रखी हुई चमड़े की थैली से शीतल जल का छिड़काव उसके मुख पर करते ही थोड़ी देर बाद वह पुनः सचेत हो गया। उसके मन पर युद्ध की जो मदिरा छायी थी, वह तनिक भी नहीं उतरी थी। न उतरनेवाली थी।

कर्ण के सामने से भागा हुआ युधिष्ठिर रणांगण के बाहर जाकर शिविर में चुपचाप बैठ गया। उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ, इस भय से अर्जुन आशंकित हो गया तथा उसके वेध चूकने लगे। जबतक उसको यह विश्वास न हो जाता कि युधिष्ठिर सुरक्षित है, तबतक वह स्थिरचित्त हो ही नहीं सकता था। नन्दीघोष की गति मन्द-मन्द करते हुए मैंने अर्जुन को सेना से बाहर निकाला। उसका रथ युधिष्ठिर के शिविर के सामने लाया। रथचक्रों की ध्वनि सुनकर युधिष्ठिर दौड़ता हुआ बाहर आया। उसने समझा कि बार-बार अपना पराभव करनेवाले सूतपुत्र को जान से मारकर ही उसका प्रिय पार्थ अब समाचार देने के लिए आया है।

अर्जुन ने सिर झुकाकर जब उसे यह बताया कि कर्ण उसको समरांगण में अभी मिला ही नहीं, बस उसी क्षण सबमें संयमी और शान्त कहा जानेवाला वह भूमिपुत्र भी बौखला गया।

"हाथ से गाण्डीव धनुष कुरुक्षेत्र के सूर्यकुण्ड में क्यों नहीं फेंक देते ?" युधिष्ठिर ने भाररहित क्रोध से जैसे अर्जुन से यह कहा, वैसे ही अर्जुन अपना गाण्डीव धनुष उठाकर जीवन-भर पितृवत् माने हुए अपने प्राणप्रिय ज्येष्ठ बन्धु पर ही एकदम आक्रमण कर बैठा। जितने क्रोध से अश्वत्थामा ने भी कर्ण पर आक्रमण नहीं किया था, उतने आवेग से अर्जुन भरा हुआ था।

कुछ प्रसंग नियति द्वारा मनुष्य के संयम के बाँध तोड़ने के लिए आयोजित किये हुए होते हैं। आज वह नियति युधिष्ठिर-अर्जुन के मध्य खड़ी थी।

मैंने बीच में पड़कर उन दोनों कौन्तेयों को शान्त किया। “कर्ण का वध किये बिना शिविर की ओर लौटूंगा ही नहीं।” यह घोर प्रतिज्ञा कर अर्जुन पुनः रथारूढ़ हो गया। मैं मन ही मन हँसा। सदैव की भाँति ।

उधर रण में कर्ण और सात्यकि के बीच युद्ध हो रहा था। अनुभव से समृद्ध सात्यकि और पराक्रम से अशरण बना हुआ कर्ण दोनों पुरवैया हवा के साथ आनेवाले काले मेघों की तरह एक-दूसरे से टकरा रहे थे। विगत सोलह दिनों में आज तक सात्यकि ने किसी के सामने हार नहीं मानी थी। सात्यकि पाण्डवों की सुरक्षा का सुदृढ़ कवच था। जिस सात्यकि को भीष्म-द्रोण पराजित नहीं कर सके थे, वही आज कर्ण के आगे निष्प्रभ हो गया था।

नकुल, सहदेव और धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन को घेर लिया। युद्ध का प्रत्येक पासा प्रतिकूल पड़ता जा रहा था, फिर भी वनकेवड़ा के उच्च दण्ड-जैसा अहंमन्य दुर्योधन अपनी कंजी आँखें विस्फारित करता हुआ उन तीनों से दृढ़ता से लड़ रहा था। पांचाली की विडम्बना की कसक मन में लिये हुए धृष्टद्युम्न अपनी भगिनी के अपमान का उत्तर पूछने के लिए नैमिषारण्य के वन्य सौजा के सुवादौत-जैसे दो खड्ग दोनों हाथों में लेकर उसकी ओर दौड़ा। उछलकर सारथी प्रातिकामन का क्षण-भर में कण्ठ भेदकर वह दुर्योधन को ही लक्ष्य बनाने का अवसर देखता हुआ उसके रथ के चारों ओर चक्र काटने लगा। उसी क्षण सर्वनाश के मूल कारण उस अहंकार के महान् वटवृक्ष ने कर्ण को सहायता की पुकार देनेवाला शंख फूंकना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि वही अकेला उसका आधार था । अन्तिम श्वास तक जिसने दुर्योधन की रक्षा करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, वह वचन-प्रिय दानवीर सात्यकि को ज्यों का त्यों छोड़कर दुर्योधन की सहायता के लिए तत्परता से दौड़ा।

रण में उसका और दुर्योधन का मिलाप न होने पाये, यह सोचकर उसका अवरोध करने को आये हुए व्याघ्रकेतु, सुशर्मा, चित्र, उग्रायुध, जय, शुक्ल, रोचमान, सिंहसेन-इन आठ विख्यात रथियों को उस सूर्यपुत्र ने जीवनमुक्ति का सहज दान दिया।

उसके घोड़े इतनी तीव्र गति से दौड़ रहे थे कि उसके रथ के श्वेत घोड़ों की श्वेत वस्त्र-जैसी एक अखण्ड पट्टी दिखाई देती थी। क्षण भर में पूर्व से पश्चिम की ओर तो दूसरे ही क्षण दक्षिण से उत्तर की ओर वह आकाश में स्वच्छन्द उड़ानें भरनेवाले पक्षिराज गरुड़ की तरह छल्लाँ लगा रहा था।

दुर्योधन के आस-पास मचे हुए संकुल युद्ध के प्रलयकारी संघर्ष में उसने जिष्णु, जिष्णुकर्मा, देवापी तथा दण्ड-इन वीरों को रथों से नीचे गिरा दिया। अब पाण्डव सेना को इस बात का बिलकुल भरोसा नहीं था कि कर्ण कहाँ से आकर कब उनपर टूट पड़ेगा। शरद् में आनेवाले समुद्रपक्षियों जैसे उसके बाण अनपेक्षित रूप से आकर गिर रहे थे। गति, शक्ति, आकार, प्रभाव और दिशा-ये सबके सब उसके दास बन गये थे। रथचक्रों की घरघर साथ लेकर वह रेगिस्तान के अन्धड़ की तरह आ रहा था। वर्षा ऋतु में गेरू के शिलाखण्ड

से बहनेवाले रक्त-जैसे लाल पानी के प्रवाह को देह पर झेलनेवाले गैरिक पर्वत की तरह वह शरीर पर रक्त बहनेवाले असंख्य आघातों को झेलता हुआ आ रहा था। उसके कानों के कटे हुए निम्न भाग से बहनेवाले स्वेद के प्रवाह शरीर के घावों से बहनेवाले रक्त में मिल रहे थे। रथ पर से बहते हुए कुरुक्षेत्र में टप-टप विलीन हो रहे थे। बाणवर्षा करते समय भाल पर संचित स्वेदबिन्दुओं को पोंछते समय भी शल्य को विश्वास नहीं हो रहा था कि वह सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय है। वह उससे 'सूतपुत्र, सूतपुत्र !' कहता हुआ चढ़ाई की दिशा पूछ रहा था। सूर्य आकाश में जैसे-जैसे अधिकाधिक ऊपर चढ़ रहा था वैसे ही वैसे कर्ण की पुष्ट भुजाएँ तीव्र गति से हिल रही थीं।

अब सूर्य ठीक माथे पर आ गया था। भुलावा देनेवाले योद्धाओं की परछाइयाँ अब उन्हीं के तलवों के नीचे आ गयीं। आहत होकर गिरे हुए घायल सैनिक धूप की तीव्रता सहन न होने के कारण अधटूटे रथों के नीचे आश्रय लेने घिसटते-घिसटते जाने लगे। रक्त-मांस की खदबदाती कीचड़ में पड़ी हुई घोड़ों की पूँछें, हाथियों की कटी हुई सँड़ें, योद्धाओं के हाथ-पैर छटपटाते हुए यह प्रकट करने लगे कि जीवन की आसक्ति कितनी सहनशील होती है। अब तक कर्ण पाण्डव सेना की भारी क्षति कर चुका था।

सचेत हुए वृषसेन को लेकर दुःशासन फिर कौरव सेना के विक्षुब्ध महासागर में जल के तीव्र बहाव की तरह घुसा। और जहाँ नहीं जाना था ठीक वहीं-दुर्योधन, कर्ण और शकुनि के साथ भीम, नकुल, सहदेव तथा धृष्टद्युम्न का संकुल युद्ध जहाँ हो रहा था- वहीं पहुंच गया। बाघ के सामने पनघट पर जानेवाले कृष्णमृग की तरह ।

जैसे विषैले सर्प को देखकर नेवला क्रोध से देह के बाल फुलाकर चीत्कार करता हुआ ऊंची छलांग लगाता है वैसे ही दुःशासन को सामने देखते ही भीम काँख फुलाकर रथ में ही ऊंचा उछलता हुआ गगनभेदी स्वर में चिल्लाया। उसकी चीख इतनी भेदक, इतनी कर्णकर्कश थी कि क्षण-मर को 'क्या हो गया है यह सोचकर सभी योद्धाओं ने हाथों में शखों को ज्यों का त्यों रोक लिया। स्वयं भीम के ही रथ के सशक्त तथा स्वेद से तर लाल बोर्ड उस भयानक आवाज से घबराकर पैर मोड़कर क्षण भर को झट से नीचे ही बैठ गये। इसका सारथी विशोक नीचे उतरा। उसने उनको पुचकारकर जैसे तैसे फिर खड़ा किया। भीम के पहले से ही लाल नेत्र अन्धाधुन्ध मैरेयक पीने के कारण और अधिक लाल दिखाई दे रहे थे। और फिर दुःशासन को सामने देखते ही द्रुत गति से शिराओं में घूमते रक्त के कारण तो वे भयंकर रूप से लाल दिखाई देने लगे। उसकी भरी हुई मूँछों के बाल एकदम स्फुरित हो उठे। विशाल नासिका के गोल नासापुट विस्फारित हो गये । कुम्भ-जैसे गोलमोल मुख पर स्वेद-बिन्दु घनीभूत हो झलकने लगे। अपना विशाल जबड़ा तानकर वह चीत्कार कर रहा था, "नीच, ठहर जा !"

क्रुद्ध भीम को इसका भान भी न रहा कि कर्ण, शकुनि, कृप तथा अश्वत्थामा के रथों से आये हुए चित्र विचित्र शस्त्र कहीं मर्मस्थान पर लग सकते हैं। उसने विशोक को अलग हटाकर अपने रथ की वल्गाएँ स्वयं अपने हाथ में ले ली।

बीच-बीच में आनेवाले अपने और कौरवों के सैनिकों को निर्द्वन्द्व होकर अपने रथ के नीचे रौंदते हुए वह क्षण भर में दुःशासन के पास पहुँचा। मन में प्रतिशोध की भावना दुर्निवार हो जाने के कारण वह वायुपुत्र आकाशपवन की तरह ठहाका लगाकर विकट रूप में हँसा। उसके उस विकट हास्य से ही दुःशासन के हाथ-पैर फूल गये। देह पर गिरते हुए पर्वतखण्ड से यदि बचा जा सके तो अवश्य बचना चाहिए, यह सोचकर अपने ही घोंसले में अंगों को सिकोड़नेवाले श्येन पक्षी की तरह वह रथ में शरीर सिकोड़ने लगा। झंझावात के सम्मुख जैसे-तैसे, टिके हुए पतनोन्मुख दुर्ज की तरह वह दिखाई दे रहा था। द्यूत के बाद वस्त्रहरण के समय वन्य अश्व की तरह हिनहिनानेवाला दुःशासन अब वनविलाव की तरह छिप रहा था। खेत में घुसनेवाले वृषभ की तरह दौड़कर उसपर चढ़ाई करनेवाले भीम को रोकने का सामर्थ्य आस पास किसी भी कौरव योद्धा में नहीं था। भीम का सम्पूर्ण शरीर इस समय झंझावात बन गया था। मृत्यु को भी थर्रा देनेवाला "दुःशासन, नीच !" का कर्कश चीत्कार करता हुआ वह सीधा दुःशासन के रथ से भिड़ गया।

दुःशासन ने रथ के सुदृढ़ दण्ड को पकड़ लिया। वह नीचे उतरने को तैयार नहीं था। भीम ने उसके रथ चढ़कर उसको बलपूर्वक नीचे खींचा।

जैसे घास के ढेर से पूरी खींचते हैं वैसे ही दुःशासन ने समस्त राजस्त्रियों के समक्ष द्रौपदी को खींचा था। अब समस्त कौरव योद्धाओं के समक्ष महासामर्थ्यशाली भीम ने उसको रथ से नीचे ऐसे खींचा जैसे लहलहाती फसल में मुँह मारनेवाले वृषभ को कुशल कृषक कण्ठबन्ध पकड़कर बाहर खींच लाता है। रथ से लुढ़की हुई उसकी गदा को उन्मत्त भीम ने लात से उछालकर उसके ऊपर फेंक दिया। हड़बड़ाते हुए दुःशासन ने किसी तरह उसको झेला।

सभी के शरीरों को रोमांचित कर देनेवाला उनका गदायुद्ध आरम्भ हो गया। एक दूसरे पर टकरानेवाली उनकी गदाओं से अग्नि के स्फुलिंग निकल रहे थे। एक-दूसरे का प्राणघातक वेध लेनेवाले उनके नेत्रों से क्रोधाग्नि के स्फुलिंग निकल रहे थे। मर्मस्थल का वेध लेने के लिए वे एक-दूसरे पर दृष्टि केन्द्रित कर, क्षण-भर रुककर, यथाशक्ति सावधानी से एक-एक पग उठाते हुए अवसर मिलते ही "खण ऽऽख ऽऽण" करती हुई भारी प्रहारों की बिजलियाँ एक दूसरे पर गिराने लगे। पहले दुःशासन आक्रामक लगा। चीते की तरह पैर जमाकर वह अचूक छलौंग लगाने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु वह यह नहीं जानता था कि भारी-भरकम दिखाई देनेवाला भीम गदायुद्ध में गदा की आवाज से वायुलहरों से भी अधिक चपल हो जाता है।

आधी घड़ी तक उन्हें एक-दूसरे के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र के अन्य लाखों योद्धाओं का भान भी नहीं था।

अन्त में भीम ने एक भारी प्रहार से उसको नीचे गिरा दिया। जैसे तूफान में सेमल का कँटीला पेड़ जड़ से उखड़कर गिर पड़ता है, वैसे ही वह अविचारी विशालकाय दुःशासन नीचे गिर पड़ा। भीम ने हाथ से गदा फेंक दी। उस वायुपुत्र ने चपलता से आगे दौड़कर, चिल्लाते हुए, जिस हाथ में दुःशासन ने गदा पकड़ रखी थी उसका वह सीधा हाथ अपने दोनों हाथों की सुदृढ़ पकड़ में जकड़ लिया। हाथी के पैर-जैसा अपना भारी दायों पैर उसने दुःशासन की दायीं काँख पर रखा। उस समय भीम तीसरे 'लोक' पर पैर रखकर उसको आच्छादित कर देनेवाले वामन की तरह भयावह दिखाई दे रहा था। दुःशासन के हाथ से गदा छूटकर गिर पड़ी।

दुःशासन की भुजा को भिन्न करने के लिए भीम ने एक दो बार उसे कन्धे से हिलाकर देखा। दूसरे ही क्षण 'पांचाली' के पवित्र आवरण को स्पर्श करनेवाली यह पापी भुजा में आकाश में फेंक देता हूँ ' आँखें बन्द कर जोर से चिल्लाते हुए, अपार शक्तियाले उस गदावीर ने दुःशासन की भुजा एक ही तेज झटके में कन्धे के सन्धिस्थल तक से समूल ऐसे उखाड़ ली जैसे किरात वनकन्दर्प की गड्ढी को धरती से उखाड़ लेता है। उन्मत्त होकर आकाश की ओर देखते हुए उसने विविध आभूषणों से भूषित उस निर्दय भुजा को चक्राकार घुमाकर दिशाहीन दूर कहीं इस तरह फेंक दिया जैसे योद्धा पर गदा फेंकी जाती है। सभी योद्धाओं के अंग रोमांचित हो उठे।

परन्तु इतने ही से उस भानरहित भीम का समाधान नहीं हुआ। हाथ से छूटी हुई दुःशासन की ही गदा उसने उठा ली। अपने सिर के ऊपर बहुत ऊँची ले जाकर उसने उसका एक भारी आघात तड़पते हुए दुःशासन की छाती पर किया। उसकी छाती ऐसी छिन्न-विच्छिन्न हो गयी जैसे मदमत्त हाथी के पैरोतले दीमक की वल्मीक रौंदी जाये। रक्त की फुहारें छूट पड़ीं। अश्रुओं के बाँध टूट गये। रोमांचक चीत्कार गूँज उठे।

हाथ से गदा फेंककर भीम घुटने टेककर नीचे बैठ गया। “आओ ! किसी में सामर्थ्य हो तो इस वन्यपशु का रक्तपान करनेवाले इस वनराज को रोको।” आस-पास दूर खड़े हुए दुर्योधन, शकुनि, कृप, अश्वत्थामा और कर्ण-इन सभी कौरव-योद्धाओं को लक्ष्य कर वह चिल्लाया। उसकी लाल आँखें उनसे भी अधिक लाल क्रोधाग्नि की वर्षा कर रही थीं।

प्यासा बाघ जैसे घाट पर झरने में मुँह घुसा देता है वैसे ही दुःशासन की छाती से बहनेवाले रक्त के प्रवाह में अपना बाघ-जैसा ही गोल मुँह घुसाकर दुःशासन का उष्ण-उष्ण रक्त वह कण्ठ के विशाल हाड़ को आगे-पीछे हिलाते हुए गटगट पीने लगा, मानो मैरेयक मद्य के कुम्भ पी रहा हो। सभी के अंग सिहर उठे।

सबने आँखों पर हाथ रख लिये। बहुत-से मूर्छित हो गये। मेरे हाथ में नन्दीघोष की वल्गाएँ तनिक भी नहीं डमगमगायीं।

दुःशासन के रक्त का नशा भीम पर मैरेयक से भी अधिक चढ़ा। अपने रक्तमय हाथों को ऊँचा नचाता हुआ वह समरांगण से शिविर की ओर 'पांचाली, पांचाली' कहकर चिल्लाता हुआ भागने लगा। आज प्रातः ही उसने अपने शिविर में पांचाली को ला बैठा रखा था। अपनी घोर प्रतिज्ञा पूर्ण कर वह पांचाली के काले केश-सम्भार को दुःशासन के रक्त से सँवारनेवाला था। वस्त्रहरण के समय से ही मुक्त छूटे हुए उसके विपुल सघन केश सँवारकर वह आज स्वयं कंधी अपने हाथ में लेकर, इतने वर्षों बाद, उसकी केशभूषा करनेवाला था। उन्मत्त होकर भीम के समरांगण से चले जाने पर आस-पास खड़े योद्धाओं ने मुक्ति की साँस ली।

ग्यारह

अब युद्धभूमि में क्या-कुछ हो जायेगा-यह कहा नहीं जा सकता था। भय, क्रौर्य, शौर्य-सभी स्वच्छन्द भावनाओं का विस्फोट कब हो जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता था। अब युद्ध का यज्ञकुण्ड सर्वग्राही दावानल में रूपान्तरित हो गया था।

भीम, कर्ण, अर्जुन-इन तीनों ने ही लाखों योद्धाओं को यमसदन भेज दिया था। जहाँ-जहाँ वे तीनों सामने दिखाई दे जाते वहीं सैनिक इतस्ततः दौड़ने लगते।

रणभूमि पर रक्तमांस की कीचड़ योद्धाओं के तथा हाथी-घोड़ों के पैरों के नीचे से और रथचक्रों की हालों के नीचे से सरकती बहती हुई क्षण-प्रतिक्षण दक्षिण की ढलान की ओर संचित होती जा रही थी। उस भाग पर दलदल की एक पट्टी ही तैयार हो गयी थी। कोई भी दक्ष और कुशल सारथी अपने रथ को उस भाग की ओर ले जाने को तैयार नहीं था।

दायीं ओर नकुल और कर्णपुत्र वृषसेन का जो युद्ध हो रहा था, वह अब चरम। सीमा पर पहुँच गया था। कोई किसी से हार नहीं मान रहा था।

पांचाली की वेणी सँवारकर लौटे हुए क्रुद्ध भीम और कर्ण का सामना हो गया।

एक-दूसरे को देखते ही वे ऐसे जूझने लगे जैसे शतशृंग पर दो मदमस्त हाथी हथिनी की प्राप्ति के लिए लड़ रहे हों। दोनों ही अमित सामर्थ्यवान्, निडर, युद्धकुशल और भयंकर थे। कर्ण का सुनहला शरीर सूर्य-किरणों की तरह चमक रहा था, भीम का रक्तवर्णी शरीर लाल फूलों से लदे हुए पलाश वृक्ष की तरह दहक रहा था। वे एक-दूसरे पर ऐसे टूट पड़े जैसे दो

प्रचण्ड महानद एक-दूसरे के विपरीत आकर आपस में टकराते हों। भीम के मन में कसक थी घटोत्कच की। कर्ण के मन में अखाड़े के प्रतोट की, भीम द्वारा वधित पुत्र की।

आकाश के महातारे टूटकर गिरते समय अवकाश में ही जैसे एक-दूसरे पर टकराते हैं, वैसे ही वे एक-दूसरे पर भयानक आक्रमण करने के लिए टकराने लगे। शूल, तोमर, चक्र, गदा, खड्ग—जो हाथ पड़ जाये वही शस्त्र लेकर मर्मस्थल का वेध लेकर, अविरत फेंकने लगे। अनेक बार कर्ण को भीम पर प्राणान्तक बाण फेंकने का अवसर मिल रहा था। फिर भी वह जान-बूझकर अपने अचूक बाणों का समूह उसके केवल भुजदण्डों और जंघाओं के मांसल भाग पर ही छोड़ रहा था। बीच-बीच में वे दोनों ही मर्मभेदी आघात होते ही मूर्छित हो रहे थे। सचेत करने के लिए औषधि वनस्पतियुक्त, लकड़ी की नलिका को सारथी जैसे ही नाक पर रखते, वैसे ही निद्रा से उठे हुए वनराज की तरह क्षण-भर में तनकर वे खड़े हो जाते और शस्त्र फेंकते। उनकी युद्धकक्षा में जाने का साहस कोई नहीं कर पा रहा था। महाग्रह-जैसे दिखाई देनेवाले वे दोनों महारथी एक घड़ी तक अथक लड़े। कोई किसी से हार नहीं मान रहा था। टकरानेवाले लौह शस्त्रों के स्फुरित रुकते नहीं थे। काँटे का संग्राम समाप्त नहीं हो रहा था।

इतने में ही रथ दौड़ाता हुआ अश्वत्थामा आकर कर्ण के रथ से भिड़कर खड़ा हो गया। “अंगराज, तुम्हारा वृषसेन अर्जुन के बाणों के जाल में दरियाई घोड़े की तरह छटपटा रहा है। दौड़ो। उसको संरक्षण दो।” पीछे मुड़कर भी न देखता हुआ, मस्तक पर फरफरानेवाले वस्त्र को सँवारता हुआ वह वृषसेन को संरक्षण देने के लिए दौड़ पड़ा। बचे-खुचे दस-पन्द्रह दुर्योधन-बन्धुओं ने आगे बढ़कर भीम को सीधे अपने ऊपर लेते हुए कर्ण को मुक्त किया।

रणांगण के दक्षिण भाग की कीचड़ की पट्टी के किनारे से जैसे-तैसे शल्य उसके जैत्ररथ को वृषसेन के चारों ओर बने हुए पाण्डवों के घेरे के पास ले आया। एकदम दक्षिण की ओर।

अब समरांगण के स्पष्ट रूप से दो भाग किये जा सकते थे। उत्तर की ओर भीम, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, सहदेव, युधिष्ठिर—इनसे लड़नेवाले दुर्योधन-बन्धु, कृप, सैन्धव-इनका एक भाग। और दक्षिण की ओर वृषसेन, अश्वत्थामा, शकुनि, दुर्योधन इनके घेरे में से अचूक वृषसेन को लक्ष्य बनाने के लिए घात लगाये अर्जुन, नकुल, उत्तमौजा आदि का दूसरा भाग। इस दूसरे भाग में अमीन टीले की पादभूमि से लेकर वृषसेन के चारों ओर बने हुए घेरे तक वह दलदल की पट्टी फैली हुई थी, उस ओर कोई भी नहीं सरक रहा था।

अपने पुत्र को अर्जुन के बाणों के जाल से बचाने के लिए आया हुआ कर्ण बड़ी कठिनाई से वृषसेन के चारों ओर छाये घेरे तक पहुंच पाया। इतने में ही शकुनि, अश्वत्थामा तथा दुर्योधन को चुनौती देनेवाले अर्जुन ने उसी समय सामने आकर खड़े हुए कर्ण से कहा, “सूतपुत्र ! तुम्हारे पुत्र इस वृषसेन को आज तुम सबके सामने मारता हूँ। जैसे तुमने मेरे प्रिय

‘अभि’ को मारा था।” फिर उसने एक चन्द्रमुख बाण ऐसा मारा कि पहले से ही बाणों के घेरे में रथ में छिपा हुआ, परन्तु साँभर की तरह गर्वीला दिखाई देनेवाला वृषसेन का मस्तक क्षण-भर में धड़ाम से धरती पर जा गिरा।

असंख्य जिह्वाएँ दाँतों के नीचे आ गयीं। ज्येष्ठ कर्णपुत्र वृषसेन गिर गया।

पाण्डवसेना ने हमारे रथ के पीछे रणवाद्यों का कोलाहल किया। अर्जुन के सम्मुख रुकना ठीक न समझकर प्राण लेकर भागनेवाले कुरु सैनिक दिग्भ्रान्त हो गये।

वृषसेन गिर गया, यह देखकर कर्ण ने अपने जीवन में पहली बार सिर झुका लिया। वृषसेन की मृत देह के पास लाकर शल्य ने उसका रथ रोका। धनुष फेंककर वह रथ से नीचे उतरा। अयाल कटे हुए सिंह की तरह। अपने नीले नेत्रों से झरनेवाली उष्ण अश्रुधाराओं को वह महावीर भी नहीं रोक सका। दूर पड़ा हुआ वृषसेन का मस्तक उसने उठाया। सूर्य को अर्घ्यदान करनेवाली, याचकों को धनधान्य दान करनेवाली, विजय धनुष उठानेवाली उसकी अंजलि में आज उसके प्रिय पुत्र का जीवन की सभी आशा-आकांक्षाओं के केन्द्र अपने ज्येष्ठ पुत्र का-सिर-कमल था।

वृषसेन का सिर उसके धड़ पर पुनः रखते समय उस सूर्यपुत्र का धरती की क्षुद्र आशा-आकांक्षाओं की दलदल में पनपनेवाले प्रेम का विश्वास ही नष्ट हो गया। धरती की पीठ पर संचित भिन्न भिन्न कुलों की उच्चता-नीचता का, अहंकारी सामर्थ्य का, छलनामय मैत्री का वह दृढ़ मन से पूर्णरूपेण त्याग करके खड़ा हो गया।

मृत-पुत्र की देह की उसने सिसकते हुए एक प्रदक्षिणा की। अब उसका सम्पूर्ण शरीर धूमकेतु बन गया था। किसी भी नाते के पैरों में उलझनेवाले पाश अब उसको मोह नहीं सकते थे। कीर्ति के अथवा प्रीति के धागे अब उसे रोक नहीं सकते थे। अब उसका नाता एक से ही था-असीम, मर्यादारहित अनन्त नीले आकाश से। सिर पर स्थित तप्त सूर्यकेन्द्र से।

नीचे झुककर वृषसेन के मस्तक का एक बार दीर्घ अवघ्राण कर उठते हुए उसने कण्ठभाग फुलाकर गगनभेदी गर्जना की-"आ ऽऽ क्रम...

बारह

अर्जुन के पराक्रम से भयभीत होकर भागनेवाले कुरु सैनिक कील की तरह जहाँ के तहाँ रुक गये। रुक गये पाण्डव-सेना पर पुनः प्राणपण से आक्रमण करने के लिए।

कुरुओं की बची-खुची समस्त सेना एकत्रित कर वह अब हमारे नन्दीघोष की और समुद्री पवन की तरह आ रहा था। अब तीसरा प्रहर प्रारम्भ हो गया था। दक्षिण की ओर कीचड़ की दलदल में उसका रथ उतारे बिना शल्य उसके रथ को हमारे रथ के सामने खड़ा ही न कर सके, ऐसे उपयुक्त स्थान पर मैंने नन्दीघोष को खड़ा कर दिया। कुशल शल्य ने, दलदल की उस पट्टी में यह देखने के लिए कि कम से कम चार हाथ ही सूखा स्थान कहीं मिल सकता है या नहीं, रथ को पट्टी के आस-पास घुमाया। अन्त में विवश होकर रुककर वह कर्ण से बोला, “राधेय, आज का दिन अर्जुन से युद्ध करने योग्य नहीं है। इस दलदल में रथ घुसाने में खतरा है।”

वह हँस पड़ा। केवल हँसा। कुछ न कहकर उसने दलदल की पट्टी के बीच रथ ले जाने के लिए उँगली उठाकर आज्ञा दी।

हमारा और उसका दोनों के रथ आमने-सामने आकर खड़े हो गये।

तत्क्षण नीचे उतरकर मैंने अँगने के तेल का गाढ़ा लेप अपने रथ के दोनों ओर के चक्रों पर सब ओर से कर दिया। क्या पता, उसके रथ का पीछा करते हुए कहीं हमें अपना भी रथ उस दलदल में न डालना पड़े। ऐसे समय में आँगन के चिकने लेप के कारण हाड़-मांस की कीचड़ में उसके फंसने की सम्भावना नहीं थी। आँगन की लकड़ी का पात्र लेकर मैं पुनः नन्दीघोष पर चढ़ गया। सन की रस्सी की बुनी हुई जाली में उस पात्र को पुनः ज्यों का त्यों रखकर मैंने प्रतोद हाथ में ले लिया।

दोनों सेनाओं के उन्मत्त सैनिक योद्धाओं ने अपने रथों पर की युद्ध के कारण आधी टूटी हुई पुष्प-मालाएँ पूरी तोड़कर जयघोष करते हुए अपने-अपने सेनानायकों पर वर्षा की। किसी ने लक्ष्य साधकर सूर्यपुष्प की एक माला ऐसी फेंकी कि वह सामने के रथ में राधेय के कण्ठ में अचूक पड़ गयी। मैंने अपने कण्ठ की नील कमलों की विशाल माला रथनीड़ पर से ही अर्जुन के नीले कण्ठ में डाल दी। आज मेरी भी कसौटी थी। हाँ, कसौटी ही !

आदर्शवाद की प्राणों से अधिक चिन्ता करनेवाला पहला कौन्तेय जीवित रखा जाये या व्यवहारवाद का स्पष्ट पक्ष लेकर पाँच कौन्तेयों को बचाया जाये-ऐसी अत्यन्त विकट कसौटी थी वह। मेरा मन अधिकाधिक व्यवहार की ओर ही झुक रहा था, क्योंकि अकेले अर्जुन के गिर जाने पर अन्य पाण्डव भी अपने आप ही गिर जानेवाले थे।

साक्षात् मामा का वध करते समय मेरी भुजाएँ मुट्ठी का प्रहार करती हुई नहीं काँपी थीं। दन्तवक्र, विदूरथ, शृगाल, शाल्व, पौण्ड्रक-इनको दण्ड देते समय मेरे हृदय की धड़कन कभी नहीं बढ़ी थी। शिशुपाल-जैसे फुफेरे भाई पर सुदर्शन छोड़ते समय मेरे पलक कभी भीगे नहीं थे। परन्तु आज....आज हाथ में नन्दीघोष की वल्गाएँ मन्द-मन्द स्पन्दित हो रही हैं, यह मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा था। क्योंकि....क्योंकि मैं जानता था कि अपनी अकरुण अवहेलना के कारण उस दानवीर ने समय-समय पर यद्यपि भीष्म, अर्जुन, भीम—इन

सबको तथा स्वयं द्रौपदी को भी उतने ही प्रबल विरोध से छेड़ा था, तथापि मेरे प्रति उसकी जो अवाक् मूक भक्ति थी, वह हम दोनों की भेंट के समय उसके असह्य नेत्रों से मेरी पीठ की नाली पर टपके हुए आँसुओं से अच्छी तरह ज्ञात हो चुकी थी। मातृतुल्य राजमाता कुन्ती देवी और उसका अबोल, मूक सम्बन्ध मैं पूर्ण रूप से जान चुका था। मेरी जीवन-यात्रा में जिन लोगों की मूक भक्ति की, त्याग की और प्रेम की कोई उपमा नहीं थी, वे वास्तव में चार ही व्यक्ति थे—माता देवकी, राजमाता कुन्ती देवी, कर्ण और गोकुल की राधा ।

विचारों के आवर्गों को रोकने के लिए मैंने पांचजन्य फूँका। बड़ी जोर से।

चन्दन का लेप किये हुए अपने सुदृढ़ मांसल भुजदण्डों को सँवारकर कर्ण और अर्जुन ने नसें तानकर अपने-अपने शंख फूँके। दोनों सेनाओं के रणवाद्यों से समीपस्थ टीला प्रकम्पित हो उठा। हिमालय के दो धवल और उन्नत शिखरों—जैसे वे एक-दूसरे के सम्मुख खड़े हो गये। उनकी आँखों की तेजस्वी पुतलियाँ अचूक पहचानकर सामने खड़ा योद्धा अब कौन-सा बाण फेंकेगा, इसका अनुमान वे लगाने लगे। आनक, गोमुख, मृदंग, रणभेरी, डिण्डिम-इन रौद्र रणवाद्यों की तुमुल सम्मिश्र ध्वनि क्षण-प्रतिक्षण बढ़ने लगी। क्षण-भर आँखें बन्द कर कर्ण ने सूर्य-स्तोत्र पढ़ा। अर्जुन ने भी मेरी प्रार्थना करनेवाले श्लोक, आँखें बन्द कर बुदबुदाना आरम्भ किया। हाथों के शंख उन्होंने लकड़ी के खाँचे में जैसे के तैसे रख दिये। शस्त्र छोड़ने के लिए वे तत्पर होने लगे ।

एक क्षण को ही शान्ति छायी, उसके बाद उन्होंने एकदम ही कान के परदे फाड़ देनेवाली गर्जना करते हुए एक-दूसरे पर बाणों की भयानक वर्षा आरम्भ कर दी। उनके बाण आकाश में ऐसे जा रहे थे कि दोनों सेनाओं को ऐसा आभास हुआ मानो तारक-मण्डल सहित आकाश ही टूटकर देह पर गिर रहा हो। विगत सोलह दिनों में हृदय को थर्रा देनेवाली ऐसी बाण-वर्षा स्वयं मैंने भी नहीं देखी थी। भीष्म, द्रोण, अभिमन्यु इन्होंने जो संग्राम किया था उससे इन दोनों का संग्राम सर्वसंहारक था। सबको रोमांचित कर देनेवाला था।

टिट्डीदल की तरह उनके बाण असंख्य थे । बन्द गोष्ठ में से विविध रंग के घोड़े द्वार खुलते ही जैसे स्वच्छन्द दौड़ने लगते हैं, वैसे ही वे क्षण-भर में प्रत्यंचा पर आरूढ़ होकर दौड़ रहे थे । उनकी तीक्ष्ण टापों के नीचे असंख्य योद्धा जीवन के अन्तिम श्वास अर्पित करने लगे । ग्रीष्म में पिघलनेवाले हिमालय की तरह दोनों सेनाएँ क्षीण होने लगीं।

मानसरोवर के पास का टूटा हुआ हिमखण्ड टूटकर सरोवर में गिरते ही श्वेतशुभ्र लाखों राजहंसों के झुण्ड के झुण्ड प्राण लेकर जैसे ऊपर भागने लगते हैं, वैसे ही उनके श्वेत जिह्व बाण उनके विशाल धनुषों से स्वच्छन्द छूटने लगे । तूँ करते हुए टेढ़े-मेढ़े मोड़ लेते हुए एक-दूसरे पर टकराने लगे । उनकी गति से क्षण भर को आच्छादित आकाश उनकी टक्कर होते ही चमकनेवाले तारों—जैसे स्फुलिंगों से एकदम भास्वान होकर प्रकाशित होने लगा।

सैकड़ों-हजारों कपिशबाण आकाश में फेंककर वे उनसे मृगनक्षत्र जैसी वर्षा शत्रु पर करने लगे । उन्हीं के बीच से श्वेत जिह्म बाणों की विद्युत्-जैसी असंख्य सर्पाकृति टेढ़ी रेखाएँ बनाकर उन जिह्म बाणों से एक-एक प्रमुख को अचूक लक्ष्य बनाकर एक दूसरे की सेना क्षीण करने लगे । सामर्थ्य कम करने लगे । सैनिकों को यही पता नहीं चल रहा था कि बाण कहाँ से आ रहे हैं । जैसे वल्मीक से दीमक बाहर निकल पड़ती है, वैसे ही उनके बाण थे । शतशृंग पर्वत के नुकीले किनारे को अपने सशक्त नखानों से पकड़कर खड़ी हुई मटमैले गरुड़ पक्षियों की पंक्ति सिर पर मेघ संकुल आकाश में बिजली की भयंकर गड़गड़ाहट होते ही जैसे एकदम भागने लगता है, वैसे ही उनके मटमैले रंग के असंख्य कपिशबाण छूट रहे थे । क्षण-भर में गगन-मण्डल को आच्छादित कर रहे थे । कुरुक्षेत्र को प्रकम्पित कर रहे थे ।

उसके रथ के सारथी को निर्बल करने के लिए अर्जुन मेरे सिर पर से उसके घोड़ों की दिशा में बाणों के समूह फेंकने लगा । परन्तु....परन्तु शल्य सचमुच ही कुशल सारथी था । अपने हाथ में लगी वल्गाओं को झटके देकर क्षण में वह पाँचों घोड़ों को घुटने से पैर मुड़वाकर नीचे बैठा रहा था, क्षण में वह पिछले पैरों के सुदृढ़ खुरों पर पाँचों घोड़ों को ध्वजदण्ड की पादभूमि के बराबर ऊँचे उछाल रहा था । कभी-कभी वह ऊँचे विशालकाय घोड़ों के साथ ही उसके शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरे हुए भारी रथ को एकदम गर् से इस प्रकार घुमाता कि इसके लौह-मय पार्श्वभाग पर धड़ाधड़ टकरानेवाले अर्जुन के बाण लक्ष्यभ्रष्ट होने के क्रोध से चिनगारियाँ फेंकते हुए नीचे कीचड़ में टपाटप गिर रहे थे ।

रथ के आस-पास कीचड़ और अधिक खदबदाने लगी । अपने-अपने सेना-नायकों को प्रोत्साहन देने और सचेत करने के लिए आस-पास खड़े योद्धा उनके नामों का अखण्ड जयघोष करने लगे । अब वह आवाज अन्य सभी आवाजों की अपेक्षा अधिकाधिक गगनभेदी होती जा रही थी । घड़ी-भर तक विक्षिप्तों की तरह उन्होंने केवल बाण-वर्षा ही की । उनकी देहों पर सुदृढ़ लौह-कवच असंख्य बाणों की तीक्ष्ण नोकों को प्रभावहीन बना रहे थे । लेकिन दोनों की ही अनावृत भुजाओं के घावों से उष्ण रक्त प्रवाह बह रहे थे । उनकी ओर ध्यान देने का समय भी उनके पास नहीं था । उस रक्त का परस्पर मूदुल सम्बन्ध है, यह बात अब उत्फुल्ल कर्ण के ध्यान में भी नहीं रही थी ।

मत्स्य, पांचाल सैन्धव, गान्धार-इनके दलों के सैकड़ों सैनिक देखते-ही-देखते पके हुए औदुम्बर फल की भाँति टपाटप नीचे गिर रहे हैं , यह देखकर दोनों सेनाओं के भयभीत योद्धाओं ने हाथों के शस्त्रों को रोक लिया । उन दोनों के लिए सम्पूर्ण समरांगण को खुला छोड़कर वे विस्फारित नेत्रों से केवल प्रेक्षक बन गये । आँखें फाड़-फाड़कर उन दोनों का प्रलयकारी संग्राम देखने लगे ।

अब वे दोनों ही प्राणों के मोल, अत्यन्त कष्ट सहकर प्राप्त किये हुए दिव्यास्त्र एक-दूसरे पर फेंकने के लिए सज्जित हो गये। इस समय उनको जन्म देनेवाली राजमाता-स्वयं कुन्ती देवी भी यदि समरांगण में आ जाती तो वह भी यह स्वीकार न करतीं कि ये एक दूसरे के भाई हैं। जीवन के दो परस्पर विरोधी ध्रुवों के एकदम कगार पर जाकर इस समय वे खड़े हो गये थे। उनके सामने केवल एक ही दृश्य दिखाई दे रहा था-सम्मुख खड़े योद्धा की निष्प्राण काया। उसी के वे प्यासे हो रहे थे। स्वयं को पूर्ण रूप से भूले हुए थे।

सुनहले भाथे में रखा हुआ एक सर्पमुख दिव्य अजस्र बाण, जिसका अग्रभाग सतत चन्दन के चूर्ण में दबाकर रखा गया था, कर्ण ने अर्जुन पर छोड़ने के लिए बाहर निकाला। उसके अनजाने ही उस बाण पर एक नागशक्ति ने संचार कर लिया था। अर्जुन के कण्ठ का लक्ष्य साधकर उसने मन्त्र बुदबुदाते हुए वह भयानक बाण छोड़ा। बाण कण्ठ को लक्ष्य बनाकर वायुवेग से चला आ रहा है, इसका अर्जुन को जरा-सा भी भान नहीं था।

मैंने हाथ में लगी वल्गाओं को चपलता से खींचकर घोड़ों की पीठ पर एक ऐसा झटका दिया कि पाँचों घोड़े एकदम पैर मोड़कर गप्प से नीचे बैठ गये। अर्जुन के कण्ठ का प्राणघाती लक्ष्य चूक गया। रथ नीचे झुक जाने के कारण उसके सिर पर रखे किरीट पर खन्न से टकराते हुए उस भयानक गतिमान् बाण ने उसके स्वर्णमुकुट को गिरा दिया। खनखनाता हुआ वह कुरुक्षेत्र की भूमि पर गिर पड़ा। उसके नीचे जो गोलाकार शिरस्त्राण था, वह भी लुढ़ककर रथ में जा गिरा। अर्जुन ने मुक्ति की साँस ली। उसके मेचक कुंचित केश बिखर गये। उसकी ओर देखकर मैं हँस पड़ा।

कटि से लपेटा हुआ घेत शुभ्र अतलसी दुकूल खोलकर अर्जुन ने अपने केशों के चारों ओर लपेट लिया। नियति का आह्वान अब तो अधिकाधिक उग्र होने लगा।

हिमालय से गिरनेवाले गंगोत्री के प्रपात जैसा एक श्वेत बाणों का प्रवाह बरसाकर अर्जुन ने उसके सारथी शल्य को-पिंजड़े में श्येन की तरह—एक स्थान पर बन्दी बना दिया। अब वह कुशल सारथी इधर-उधर हिल भी नहीं पा रहा था। सामने स्थित जैत्ररथ एक स्थान पर स्थिर हो गया।

कर्ण के चुने हुए बाण मेरे किरीट पर होते हुए धनछड़ी पक्षियों के झुण्ड की तरह सूँऽऽ सूँऽऽ आवाज करते हुए दौड़ रहे थे। घड़ी-भर के इस घनघोर युद्ध में उसने कभी भूलकर भी एक भी बाण मेरी ओर नहीं फेंका।

सन्तप्त अर्जुन ने दृढ़मन से मस्तक पर खिसकते हुए वस्त्र को सँवारकर आग्नेयास्त्र से पहले के सूचक मन्त्र पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। अंजनी के प्रफुल्लित वृक्षदण्ड की तरह वह अब उत्फुल्ल हो उठा था। एक प्रकार का अत्यन्त दिव्य तेज उसकी मुखमुद्रा से निःसृत होने लगा। लाल पंखों की बहुत सी कलगियाँ मस्तक पर धारण करनेवाले सहस्रों कारण्डव पक्षी दृषद्वती के पात्र पर जैसे एकदम झपटते हैं, वैसे ही अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे

हुए अगणित अग्निबाण मेरे सिर पर से आग उगलते हुए सामने की ओर फरफराते हुए जाने लगे। समस्त आकाश-मण्डल यज्ञकुण्ड ही बन गया है क्या-इस भय से कौरव सैनिक भयभीत होकर भागने लगे। सूर्यबिम्ब का तप्त रस ही देह पर गिर रहा है—इस विचित्र भय से अनेक मूर्छित हो गये। अर्जुन के बाण अग्नि की वर्षा करने लगे।

अर्जुन के अग्निबाणों को निष्प्रभ करने के लिए कर्ण ने घुटने टेककर वरुणास्त्र के दिव्य मन्त्रों का आँखें बन्द कर आह्वान किया। अर्घ्यदान करते समय उसकी अंजलि से गिरा हुआ जल ही आज्ञाकारी सेवक की भाँति उसकी सहायता के लिए काले मेघों के साथ बिजली का अनिर्बन्ध ताण्डवनृत्य लेकर दौड़ आया। उसने, जिनके पुच्छभाग में हाथी के कान-जैसे चमड़े के पंख लगे हुए थे ऐसे अमोघ बाण, इतनी भारी संख्या में फेंके कि उन्होंने कुरुक्षेत्र पर व्याप्त हवा की रिक्तता को क्षण-भर में नष्ट कर दिया। आस-पास छाये काले घन क्षण-भर में रणभूमि पर घिर आये। गड़गड़ाते हुए मूसलाधार वर्षा करके उन्होंने अर्जुन के अग्निबाणों के पीछे छिपी हुई उसके मन की आग भी बुझा दी। उस पानी के दान से उस दानवीर ने अधमरे आहत वीरों को भी पुनःजीवन का दान किया। परन्तु...परन्तु उसको पता नहीं था कि उसी के वरुणास्त्र से उसके रथ के चारों ओर कीचड़ और अधिक संचित होती जा रही थी।

कर्ण के वरुणास्त्र के बरसते हुए मेघों को हटाने के लिए अर्जुन ने निवारक वायव्यास्त्र की कुशल योजना की। तीव्र गति से आवाज करते हुए पवन ने आकाश में घिरे हुए मेघों के पटल को विच्छिन्न कर दिया। कुरुक्षेत्र पुनः सूर्य-किरणों से चमकने लगा। अर्जुन का वायव्यास्त्र बहुत से रथों की ध्वजा-पताकाओं को खिलौना बनाकर उड़ा ले गया। आनन्दित होकर अर्जुन ने जयनाद करते हुए वज्रास्त्र का अभिमन्त्रण कर, असंख्य तीक्ष्ण शस्त्रों को लेकर दौड़नेवाला वज्रास्त्र कर्ण पर फेंका। चित्र-विचित्र आकारों के शस्त्र तीव्र गति से चले आ रहे हैं, यह देखकर तिल भर भी विचलित न होते हुए उस कर्ण ने प्रत्युत्तर में महेन्द्र पर्वत पर प्राप्त किये हुए भार्गवास्त्र की योजना की। दोनों अस्त्रों के दिव्य और संहारक शस्त्र भयानक खन खन करते हुए एक दूसरे से टकराये। फिर स्फुलिंग बरसाते हुए धरती पर गिर पड़े।

अर्जुन ने दिव्य सर्वनाशी ब्रह्मास्त्र फेंका। बड़ी दृढ़ता से उसने उसका भी निवारण किया। इतना ही नहीं, बल्कि उसके अचूक बाणों से हमारे नन्दीघोष पर फरफराती हुई ध्वजपताका भी स्थान-स्थान पर फट गयी। वह रथ की हाल को लक्ष्य बनाकर बाण छोड़ रहा था। मुड़कर वे बाण हमारे रथ में घुस रहे थे। पिनाक, पाश तोमर भिन्दिपाल, चक्र, त्रिशूल-सभी प्रकार के शस्त्र उन्होंने एक-दूसरे पर फेंके। कोई थक नहीं रहा था। युद्धका निर्णय नहीं हो पा रहा था। तीसरा प्रहर समाप्त कर सूर्य पश्चिम की ओर झुकने लगा।

इन्द्र और बलि, नहुष और इन्द्र, जरासन्ध और भीम-इन सबके संग्रामों से उनका संग्राम अति ही भयानक था। हृदय थर्रा देनेवाला। क्षण-प्रतिक्षण उग्र होनेवाला।

निशित, नाराच, जिह्म, सन्नतपर्व, कंकपुंख, बस्तिक, रूक्मपुंख, क्षुर—इन असंख्य बाणों का जाल-सा सम्पूर्ण समरागण पर बिछा हुआ था। उनकी इच्छा न होने पर भी उनके फेंके हुए दिव्य अस्त्रों से असंख्य योद्धा धराशायी हो गये। दोनों सेनाओं के वीरों की गिनती अब केवल हजारों में की जा सकती थी, इतना भयानक संहार उन दोनों ने किया था। दोनों ही हट नहीं रहे थे। क्षण-भर भी थक नहीं रहे थे। सोलह दिनों में जो युद्ध हुआ था, उसकी अपेक्षा उनका एक दिन का युद्ध अब कुरुक्षेत्र से भी देखा नहीं जाता था।

अन्त में कर्ण ने अत्यन्त कष्ट सहकर महेन्द्र पर्वत पर प्राप्त किया परशुराम का आथर्वण अस्त्र अर्जुन पर फेंका। उसके लक्ष्य को चूक जाने के लिए मैंने सारे घोड़े गर् से गोल घुमाये। नन्दीघोष को इस प्रकार पन्द्रह-बीस हाथ पीछे लिया कि वह अब कीचड़ की पट्टी में उतर गया। रथ चक्रों को औंगन का लेप मैंने इसीलिए तो दिया था। आथर्वण अस्त्र का आघात चूक गया।

उसके रथ की दिशा में हमारे रथ का पृष्ठभाग होता जा रहा था, यह देखकर शल्य होठ चबाता हुआ हिलने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु बाणों के पिंजड़े में जकड़ दिये जाने के कारण उससे हिला नहीं जाता था। फिर भी घोड़ों को सचेत करने के लिए नसें तानकर ललकारते हुए उसने हाथ की वल्गाओं को फटाफट श्वेत घोड़ों की पीठ पर पटका। घोड़ों ने खुर गड़ाकर पूरी शक्ति से रथ को मोड़ने के लिए प्राण-प्रण से प्रयत्न किया परन्तु...परन्तु वह रथ एक सूत-भर भी न हिला। अब वह हिलनेवाला नहीं था।

लगभग आधी घड़ी तक एक ही स्थान पर दलदल में फँसा हुआ वह रथ खड़ा था। उससे रथचक्रों के चारों ओर की दलदल को सूर्यकिरणों ने तपाकर गाढ़ी कर दी थी। रथ को धरती ने जकड़ लिया था। अब अपने पुत्र की और अधिक किसी भी प्रकार की मानहानि देखना सूर्य नहीं चाहता था। शायद वह उसे अपने चिरन्तन धाम की ओर ले जाना चाहता था।

थकित शल्य ने रथ में रखे बाण-भाथे छोड़कर शेष सभी शस्त्र नीचे फेंकने की बात कर्ण से कही। वह जल्दी-जल्दी सभी शस्त्र बाहर फेंकने लगा। चिकनी रणभूमि पर पुनः पुनः पैरों के खुर परिश्रम से गड़ा-गड़ाकर घोड़े मुँह से झाग गिराने लगे। फिर भी रथ तिल-भर भी आगे नहीं सरका। उसके रथ का बायाँ चक्र रणभूमि में फँस गया था। जैसे महेन्द्र पर्वत की कीचड़ में पथभ्रष्ट वृषभ फँस जाता है, वैसे ही।

मैं अर्जुन के नन्दीघोष को रथ के चारों ओर मण्डलाकृति में घुमाने-फिराने लगा। उस समय भी वह बाण फेंक रहा था।

"अंगराज, रथ टस से मस नहीं हो रहा है। बायाँ चक्र धरती ने निगल लिया है।" शल्य भयाकुल स्वर में चिल्लाया।

"माद्रेय, घबराओ मत। रथचक्र बाहर खींचता हूँ।" पीठ पर भाथे को तथा हाथ में अखण्ड बाण छोड़नेवाले विजय धनुष को सँभालता हुआ वह रथ से नीचे उतरा। नीचे। पश्चिम क्षितिज के सोपन पर उतरनेवाले सूर्य की तरह।

मेरे मन में विचारों का वात्याचक्र चलने लगा। वह ... रथ से नीचे। सूतपुत्र, अंगराज, सेनापति, दिग्विजयी, दानवीर, अजेय धनुर्धर कर्ण या कौन्तेय...प्रथम पाण्डव!

उसने दायाँ हाथ बायें रथचक्र के सुदृढ़ आरे में डाला। रथ का उद्धार करने के लिए पूरी शक्ति एकत्रित की। भुजदण्डों के सुदृढ़, चीमड़ वायु फूल उठे। भाल पर स्वेद-बिन्दु संचित हो गये। जोरदार झटका लगाया। रथचक्र हिला नहीं। वह भारी आरा ही सर से उसके हाथ में आ गया।

उसके हाथ में धनुष देखकर अर्जुन अब भी बाण फेंक रहा था। वे बाण उसकी खुली भुजा में गड़ने लगे। वह नीचे बैठ गया। जितना गड़ सके उतना धनुष धरती में नीचे गड़ाकर उसने उसे स्थिर किया। बाण छोड़ने का बैठकी पैतरा ग्रहण किया।

बायें हाथ से अपनी पीठ पर से बाण निकालकर वह उन्हें एक ही हाथ से विजय धनुष पर चढ़ाने लगा। दाँतों की सुदृढ़ पकड़ में प्रत्यंचा पकड़कर, उसको शक्ति से खींचकर दाँतों से अचूक बाण फेंकने लगा। दायें हाथ से रथचक्र का उद्धार करने के लिए प्राणपण से जूझने लगा। और एक दो भारी आरे निकल आये, परन्तु रथचक्र हिला नहीं। हिलनेवाला नहीं था। उसने एक हाथ से एक मर्मभेदी बाण छोड़ा जिससे अर्जुन मूर्छित होकर गिर पड़ा। यह देखकर निश्चयपूर्वक उसने हाथ से विक्रमी विजय धनुष भी नीचे रख दिया—कीचड़ में दोनों हाथ घुसाकर सम्पूर्ण सामर्थ्य से रथचक्र को बाहर निकालने के लिए।

प्रातःकाल से यही एक क्षण ऐसा आ रहा था जबकि उसके हाथ से धनुष दूर हो रहा था। एक-क्षण। नितान्त महत्त्वपूर्ण एक ही क्षण। यदि यह निकल गया तो तो?

मैंने लकड़ी की नलिका में ओषधि वनस्पति अर्जुन की नाक के सामने रखी। वह क्षण-भर में सचेत होकर पुनः खड़ा हो गया।

उसको निःशस्त्र देखकर अर्जुन ने भी अपना गाण्डीव धनु नीचे रख लिया, निःशस्त्र पर शस्त्र नहीं फेंकना है यह सोचकर।

गोकुल के चरागाह में देह से देह रगड़ते हुए घुसनेवाले गायों के झुण्ड की तरह मेरे मन के प्रांगण में विचार दौड़ने लगे। नन्दीघोष के पाँच घोड़ों की वल्गाएँ मैं धड़ाधड़ा निरन्तर उनकी पीठ पर पटकने लगा। कुछ सूझ नहीं रहा था। महत्त्वपूर्ण एक ही क्षण, नहीं तो....नहीं तो रथचक्र का उद्धार कर वह आकाशवीर पुनः टूट पड़नेवाला था।

मेरे हाथ में वल्गाएँ पाँच थीं । परन्तु प्रतोद एक ही । एक या पाँच ? वल्गाएँ या प्रतोद ? प्रतोद या वल्गाएँ ? पाँच या एक ? आह ! कुछ भी समझ में नहीं आता था । इतने में ही विचार की एक प्रकाश-किरण चमक गयी । अतिशय व्यावहारिक । अतिशय निर्विवाद !

वल्गा से घोड़े रोके जाते हैं। प्रतोद से घोड़े भगाये जाते हैं। दूसरे ही क्षण मैंने दायें हाथ का प्रतोद रथ पर लगी व्याघ्रचर्म की थैली में खोंसकर रख दिया। वल्गाएँ ऊपर उछालीं। दायें हाथ की तर्जनी को रथचक्र का उद्धार करने के लिए जूझते हुए उस ज्वालामुखी कर्ण की ओर कर अर्जुन से मैं बोला, “अर्जुन ! अर्धचन्द्राकृति आंजलिक बाण...!”

“परन्तु....वह निःशस्त्र है। पदस्थ है। मैं रथारूढ़ हूँ।” अर्जुन झिझका ।

“अर्जुन, यह आदेश है।” मेरा स्वर कठोर हो गया, तीक्ष्ण हो गया। भृकुटियाँ तन गयीं।

आज्ञाकारी अर्जुन ने आंजलिक बाण सर्र से तूणीर में से खींचा, प्रत्यंचा ठीक है या नहीं यह देखने के लिए उसको अपनी चुटकी में पकड़कर उसका एक बार टंकार किया। उतनी, बस उतनी सी सूक्ष्म ध्वनि सुनकर ही कर्ण ने रथचक्र पर केन्द्रित अपनी आँखें तत्क्षण हमारी ओर फेरी। अर्जुन को सन्धान के लिए सज्जितधनु देखकर वह बायें हाथ का पंजा फैलाकर उसे तेजी से हिलाता हुआ चिल्लाया- “अर्जुन, ठहरो ! मैं निःशस्त्र हूँ। पदस्थ हूँ। निःशस्त्र-पदस्थ पर अस्त्र चलाना युद्धधर्म नहीं। तुम वीर हो । क्षत्रिय हो ।” इतने में ही उसने महेन्द्र पर्वत पर प्राप्त किये हुए ब्रह्मास्त्र को स्मरण करने का प्रयत्न किया होगा। वह उसे याद ही नहीं आया।

मैं जानता था-वह मरने से कभी नहीं डरेगा। केवल, जिस शस्त्र पर उसने आजीवन प्राणों से अधिक प्रेम किया था, उस शस्त्र की प्राप्ति के बाद अब वह मृत्यु ही चाहता था। परन्तु अब वह भी उसके भाग्य में नहीं थी। यह उचित नहीं था....और अब तो वह सम्भव भी नहीं था।

उसका मर्मभेदी कथन सुनकर अर्जुन भी असमंजस में पड़ गया। विचलित हो गया। उसके हाथों में सज्जित धनुष धीरे-धीरे नीचे झुकने लगा। निश्चय ही डगमगाने लगा। होठ फिर सूख गये।

अब उस राधेय को जीवन का एक क्षण भी देना व्यर्थ था,...क्योंकि...क्योंकि उसके जीवन की यथार्थता अब कोई नहीं जान सकता था। तदर्थ अर्जुन के मन को दृढ़ आधार देने के लिए व्यवहार का विलोभनीय तत्त्वज्ञान मुझे फिर सुनाना था। जिस धर्म की दुहाई कर्ण दे रहा था, उसी धर्म को उसके ऊपर पलटकर अब मुझे विगत स्मृतियों का स्मरण अर्जुन को कराकर उसके मन को दृढ़ बनाना था। डगमगाते हुए भ्रान्त अर्जुन को मुझे फिर सुमेरु की तरह खड़ा करना था। मेरे मुख से शब्दों की यमुना बहने लगी, फेनिल, भयंकर बाढ़ की तरह ।

"धर्म ! राधेय, धर्म का अर्थ भी क्या तुझे विदित है ? सूतपुत्र, कुरुओं के प्राचीन सभागृह में पांचाली को वारांगना कहते समय तेरा यह दिव्य धर्म कहाँ चला गया था? पाँच पुत्रों के साथ कुन्ती देवी को नंगे पाँव वन जाते देखते समय तेरा धर्म कहाँ छिप गया था ? लाक्षागृह में पाण्डव जलकर राख हो गये, यह वार्ता सुनते समय तेरे धर्म ने क्यों चीत्कार नहीं की ? जब सोलह वर्ष के किशोर अभिमन्यु को तुम छह जनों ने मिलकर घेरा था, हे सूतपुत्र, जिसका स्मरण तुझे इस समय हो रहा है, यह धर्म तुझे तब क्यों नहीं याद आया ? अर्जुन, सन्धान करो !" मैंने तर्जनी से ठीक कर्ण के कण्ठ की ओर ही संकेत किया।

उस समय भी वह हँस पड़ा। उसने दोनों हाथ जोड़ दिये किसी से प्रार्थना करने के लिए नहीं। मुझे केवल मुझे वन्दन के लिए। मैं....केवल मैं ही यह समझ सकता था। युद्धभूमि पर उसका अन्तिम अभिवादन । अवाक् नेत्रों से बहता हुआ।

अर्जुन के धनुष से झंकार करता निकला हुआ तीव्रगति आंजलिक बाण उसकी पुष्ट ग्रीवा पर पहने हुए लौह कवच भी भेदकर उसके कण्ठनाल को आधा छेदकर कच्च से जा धंसा। वह महारथी रथचक्र के पास कीचड़ में गिर पड़ा। विजय धनुष दूर जा गिरा। उसका अधरोय रथचक्र निकालते समय कीचड़ से लथपथ हो गया था। बायें रथचक्र की जीण हुई रस्सी, जैसे ही उसने यातना का एक मर्मभेदी झटक दिया, तड़ाक से टूट गयी। रथचक्र धुरी से उखड़ गया। "कर्ण घायल होकर गिर पड़ा।" यह वार्ता सुनते ही दोनों सैन्यों के सैनिकों ने शस्त्र डाल दिये। वह बात किसी को भी सत्य नहीं प्रतीत हुई। प्रत्येक योद्धा आस-पास के योद्धा से पूछने लगा, 'क्या हुआ ? क्या हुआ ?'

कठोर निर्णय पूर्ण करने के लिए अन्त समय में उसको सूतपुत्र कहते हुए मुझे जो असंख्य यातनाएँ हुईं उन्हें मैं ही जानता हूँ। हाथ से वल्गाएँ मैंने नीचे डाल दीं। समाज-रचना के लिए खड़ी की हुई मन की, तत्त्वनिष्ठा की दीवार भी ढह गयी।

मैं रथ से नीचे उतरकर उसकी घायल देह की ओर 'राधेय !' कहता हुआ हाथ उठाकर अन्धाधुन्ध दौड़ने लगा। उससे प्राणाधिक प्रेम करनेवाला अश्वत्थामा तो बहुत पहले ही उसके रथ के पास जा पहुंचा था। उसके गिरने की बात सुनकर दुर्योधन गर्छित हो गया। युद्ध रोककर रथ में ही गिर पड़ा। टूटकर गिरनेवाले तट के कगार की तरह।

अश्वत्थामा के साथ पाँच विशातकाय योद्धा अपने सेनापति के आहत शरीर को शिविर के समीप सूखी भूमि पर लाये। रक्त की फुहार उसके कण्ठ से निकलकर लौहत्राण पर पड़ने लगी।

उसकी अधमुँदी नीली आँखें एकटक नीले आकाश की ओर देख रही थीं। जैसे ही अश्वत्थामा अपना मुख उसके नेत्रों के सम्मुख ले गया, उसने प्रयत्नपूर्वक आँखें खोली । "गुरुपुत्र....ऽ !" अश्वत्थामा के मस्तक पर बँधे वस्त्र की ओर देखता हुआ वह धीरे-धीरे बोला। उसके होंठ फड़क रहे थे।

सब कुछ भूलकर अश्वत्थामा दौड़ पड़ा, इससे कर्ण को इतना आनन्द हुआ था कि वह कुछ भी कह नहीं पा रहा था। अश्वत्थामा उसका भाव जान गया। झटपट सिर पर बंधे हुए वस्त्र की हनु के नीचे लगी हुई गाँठ खोलकर उसने वह वस्त्र नीचे धूल में फेंक दिया। उसके मस्तक पर कर्ण के मांसल कुण्डल की तरह ही एक जन्मजात लालवर्णी मांसल मणि थी। उन दोनों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ऐसे दिव्य उपहार प्राप्त नहीं हुए थे।

अन्तिम साँसों गिननेवाले उस महारथी का दायाँ हाथ अचानक उठाकर अश्वत्थामा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने सिर पर स्थित मांसल मणि पर रखा। उस मणि का दिव्य स्पर्श होते ही उसको अपने दूर गये हुए कुण्डलों का स्मरण हो आया। उसकी नीली आँखें एकदम पूरी खुल गयीं। उन दोनों के ही मुखों से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था। अश्वत्थामा के आँसू उसके आँसुओं में मिल रहे थे। उसके छोड़े हुए वरुणास्त्र ने जो वर्षा की थी, उसकी कुछ बूँदें दूर दृषद्वती के किनारे ओस की बूँदों की तरह चमचमाती हुई मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। चमचमाती हुई ओस की बूँदें ! अब क्षण-भर में ही वायु का एक झोंका आयेगा और वे बूँदें भूमि में विलीन हो जायेंगी।

युधिष्ठिर-अर्जुन सहित पाँचों पाण्डव तथा सभी योद्धाओं ने उसके चारों ओर इतना सघन घेरा बना लिया था कि चींटी भी नहीं घुस सकती थी।

उसका पुत्र चित्रसेन उसके पास अश्रुपूर्ण नेत्रों से बैठा हुआ था। सभी स्तब्ध थे। उसके क्षण में बन्द हो जानेवाले क्षण में आधे खुल जानेवाले नेत्र सबके ऊपर फिरने लगे। शायद वह दुर्योधन को देखना चाहता था। वह उसको आस-पास कहीं दिखाई नहीं दे रहा था।

मेरी ओर देखते ही उस स्थिति में भी उसके मुख पर हास्य की एक सूक्ष्म रेखा स्पष्ट खिंच गयी। प्रयत्नपूर्वक उसने फिर अपनी आँखें पूरी खोली। भारी प्रतीत होनेवाले दोनों हाथों को धीरे धीरे ऊपर ले जाते हुए उसने अपने मस्तक पर से मुकुट उतारकर उसे अचक-पचक हाथों से मेरे चरणों पर रख दिया।

राजसूय यज्ञ के दिन उसे अनावृत मस्तक से यज्ञमण्डप पर रखवाया था। अब वह मुकुट उसी अवाक् भाव से वह मेरे चरणों पर रख रहा था। प्रगाढ़ भक्ति से।

उसके द्वारा चरणों पर रखे गये उस मुकुट को मैंने नीचे झुककर उठाया। पहली बार मेरी आँखें भी सजल हो गयीं। अब उसका उस मुकुट पर कुछ भी अधिकार नहीं था। मैंने पीताम्बर से उसपर जमी हुई धूल पोंछी। यह देखकर पाण्डवों सहित सभी योद्धा विस्मित हो गये। वे भला क्या जानते !... कैसे जान सकते थे !

चारों ओर शान्ति ही शान्ति छा गयी। अपने नेत्रों के जल को रोकता हुआ चित्रसेन उसके मुख में पवित्र नदियों का जल डालने लगा। साँस रोककर, अपने आधे कटे हुए कण्ठ से उस जल का चूँट भरते समय उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। प्रत्येक जन आँखों में प्राण

समाकर उसकी ओर देखने लगा। गंगा में अर्घ्यदान करनेवाला वह भक्त गंगा का पवित्र जल पी रहा था।

तेरह

"अरे S कोई दानवीर इस धरती पर आज बचा है क्या ?" काँपता हुआ वृद्ध स्वर कहीं से आया। आस-पास के शान्त वातावरण को चीरता हुआ। सबने एकदम मुख मोड़े। असीम आश्चर्य से।

एक वृद्ध ब्राह्मण ने युद्ध में काम आये हुए अपने पुत्र का शव ढूँढ निकाला था। परन्तु....परन्तु अन्त्य संस्कार करने के लिए उपयुक्त धन भी उस निर्धन एकाकी वृद्ध के पास नहीं था। वह आर्त स्वर में चीखता हुआ, जो मिला उसी जीवित, आहत योद्धा के पास जाकर, अपना झुर्रियों भरा हाथ सामने फैलाकर, सारे समरांगण में घूम चुका था। युद्ध के दावानल में मनुष्यता ही जलकर भस्म हो गयी थी, इसलिए कोई भी योद्धा उसकी पुकार पर ध्यान देने को तैयार नहीं था। भीड़ देखकर आशान्वित होकर वह वहाँ आया था जहाँ हम सब खड़े थे। योद्धाओं के घेरे में कौन सा महावीर अन्तिम साँसें गिन रहा है, इस बात का उसे कुछ भी पता न के कारण वह बाहर से ही चिल्ला रहा था।

"अरे S कोई दानवीर इस धरती पर आज बचा है क्या ?" उसकी ग्रीवा डगमगगा रही थी, हाथ की सहारे की लाठी काँप रही थी।

उसके कांपते हुए कातर बोल जैसे ही घायल कर्ण के चेतना शून्य होते हुए कानों में पहुंचे, इन शब्दों से निगडित उसकी दिव्य आत्मा क्षण-भर में द्रवित हो गयी। उसका सम्पूर्ण शरीर एकदम विचित्र ढंग से काँप उठा। साथ न देनेवाले कण्ठ के धागों को भी उसने क्षण-भर में ठीक कर लिया। चित्रसेन की ओर देखता हुआ वह बोला, नितान्त स्पष्ट-"चि S त्र S से S न...या S च S क..."

चित्रसेन तत्काल उठा। झटपट घेरे के बाहर जाकर वह उस वृद्ध ब्राह्मण का हाथ पकड़कर उसे भीतर ले आया और लाकर अपने पिता के सामने खड़ा कर दिया। उस वृद्ध के भूरे सफेद केश बिखर गये थे। झुर्रियों के जाल में आँखें फंसी हुई थी। ग्रीवा डगमगगा रही थी।

"बोलो S, ब्रह्म ...वर, आज्ञा । " सामने हाथ फैलाये हुए उस वृद्ध को देखते ही उस घायल सेनापति के होठ काँप उठे।

उस महावीर के कण्ठ से निकले हुए गाढ़े रक्त के प्रवाह को देखकर वह वृद्ध अपने पुत्र के निधन का भयानक दुख भी भूल गया। विनम्रतापूर्वक बोला, "कुछ नहीं ! अंगराज, कुछ नहीं !" उस वृद्ध ने अनेक बार कर्ण से दान लिगा था। वह इस घायल स्थिति में, एकाकी, मरणोन्मुख दशा में पड़े हुए कर्ण से अब क्या माँग सकता था !

यही-ठीक यही समय था जब कि मैं आस-पास खड़े हुए पाण्डवों को वास्तव में प्रथम कौन्तेय को दिखा सकता था। इसी समय पाण्डवों को लौकिक और कर्ण को पारलौकिक श्रेष्ठत्व दिया जा सकता था।

मैंने आगे बढ़कर उसके कान के पास जाकर कहा, "इस वृद्ध के पास युद्ध में काम आये हुए अपने पुत्र का अन्त्य-संस्कार करने के लिए भी पर्याप्त धन नहीं है। वह इसलिए किसी दानवीर को ढूँढ़ रहा है।"

"दा ऽऽ न वी ऽऽ" उसने अस्पष्ट शब्दों में कहा। उसने अपनी आँखें एकदम झट से बन्द कर ली। इधर-उधर हाथ-पैर हिलाकर वह छटपटाने लगा। विवशता से मुट्टियाँ बन्द करने लगा। उस याचक को क्या दान दिया जाये—यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। समस्या सुलझ नहीं रही थी। छाती का लौहत्राण जल्दी-जल्दी ऊपर-नीचे होने लगा।

क्या करेगा अब वह ? उसकी दानवीरता इस अन्तिम समय में कलंकित होने जा रही थी। लौहशस्त्र तथा लौहत्राण के अतिरिक्त आस-पास के खड़े किसी योद्धा के शरीर पर टूटा फूटा मणि तक नहीं था। स्वर्णकिरीट शेष थे, परन्तु वे पाण्डवों के मस्तक पर थे।

उसके छटपटाते हुए हाथ-पैर अकस्मात् एकदम रुक गये। कोई निश्चय कर उसने पुनः अपनी निमीलित आँखें खोली। उनसे एक अद्वितीय तेज उफन-उफनकर बाहर आ रहा था।

"चि ऽऽत्र सेन, पा ऽऽषा ऽ ण" उसने चित्रसेन को आज्ञा दी। अपने पिता की आज्ञा का पालन करनेवाला चित्रसेन उठा। वह जाकर दूर से एक पाषाण उठा लाया। चित्रसेन को सामने देखते ही उसके नीले नयन एक विलक्षण, अज्ञात तेज से चमकने लगे।

वह सारी शक्ति एकत्रित कर धड़ाधड़ कहने लगा- -"चित्रसेन....उस....पाषाण से....मेरे मुख के ..सुनहले दाँत....दाँत को तोड़कर....वह....वह याचक को ऽऽ !" तनाव पड़ने के कारण वह क्षण-भर रुका। कण्ठ में लगे हुए बाण के कारण होनेवाली तीव्र यातनाओं को रोकने के लिए उसने आँखें कसकर मीच लीं।

चित्रसेन खड़ा-खड़ा ही थर-थर काँपने लगा। अपने पिता पर उसका अत्यन्त प्रेम था। इस अन्तिम समय में उसके चरणों पर पुष्प चढ़ाने के बजाय, प्रत्यक्ष उसके दाँत तोड़ने का कठिन....महाकठिन कर्म वह कैसे कर सकता था। पचीस वर्षीय उत्साही तरुण का शरीर थर-थर काँपने लगा। माथे पर स्वेद-बिन्दु संचित हो गये।

"चित्रसेन !" उसका स्वर कठोर हो गया। लौहत्राण पर टकरानेवाले बाण फल-जैसी उसकी आवाज थी।

"तुमको....तुमको कुरुओं के सेनापति की....यह....यह आज्ञा है। चि ऽत्र सेऽन!" उसकी आवाज में अधिकार की अद्भुत तीव्रता थी। उसकी आज्ञा का उल्लंघन आस-पास खड़ा कोई योद्धा नहीं कर सकता था। आस-पास खड़े योद्धाओं को अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हो रहा था।

सबकी डबडबायी हुई आँखें चित्रसेन पर स्थिर हो गयीं। वह अब भी थर-थर काँप रहा था। दिन-भर रणांगण में सिंह की तरह लड़नेवाला वह वीर इस समय शशक की तरह काँप रहा था। एक ही स्थान पर ऐसा स्तम्भित हो गया था जैसे संज्ञाशून्य हो गया हो। उसके माथे पर से स्वेदबिन्दु हाथ में लगे पाषाण पर टपक पड़े।

"चित्रसेन ऽऽ !" उसके होंठ अब थरथराने लगे। आँखें आग बरसाने लगी। वह क्रुद्ध होकर अपने पुत्र की ओर देखने लगा। अवज्ञा करनेवाले सैनिक की ओर जैसे सेनापति को देखना चाहिए, वैसे ।

चित्रसेन झटपट आगे बढ़ा, जैसे देह पर बिजली गिर पड़ी हो। कुछ भी हो, आखिर वह था तो उसी का अंकुर । चित्रसेन को आगे बढ़ते देखकर उसकी आँखें आनन्द से चमकने लगीं। दूसरे ही क्षण उसने उनको कसकर मींच लिया और कण्ठ में होनेवाली वेदना की अपेक्षा अब दाँतों की जड़ से उठनेवाली असह्य वेदना को सहन करने के लिए उसने अपने हाथों की दृढ़ मुट्टियों को कस लिया। निमीलित नेत्रों के चारों ओर सुनहली त्वचा सिकुड़ गयी। सदैव सूर्यस्तोत्र के पावन मन्त्रों का उच्चारण करनेवाला अपना निर्मल मुख उसने विस्फारित किया। पूर्ण विकसित डहडहे सूर्यपुष्प-जैसा । सूर्यपुष्प के परागदण्ड-जैसे सघन सटे हुए शुभ्र दाँत चमक उठे। उनमें दो दाँत सुवादौत की तरह सम्पूर्ण सोने से मढ़े हुए थे। वे पीली तेजस्वी किरणें फैकने लगे।

हृदय से उफनकर आनेवाले आवेग को प्रयत्नपूर्वक कण्ठ में ही रोककर चित्रसेन ने पाषाण ऊँचा किया। बहुतों ने आँखें बन्द कर लीं। किसी भी युद्ध भूमि पर साकार न हुआ होगा, ऐसा सत्य कुरुक्षेत्र पर साकार हो रहा था ।

"खा ऽ ड् ! खा ऽ ड् !" दो ध्वनियाँ कुरुक्षेत्र की भूमि में विलीन हो गयीं। हाथ से पत्थर फेंककर—'न रुकनेवाली सिसकी मेरे पिता सुन न सकेंगे, वह उनको अच्छी नहीं लगेगी'—यह सोचकर चित्रसेन तीर की तरह चारों ओर बने घेरे को तोड़कर सिसकता हुआ बाहर की ओर दौड़ा। जैसे शक्तिपात हो गया हो।

उस दानवीर के सुन्दर सुनहले दाँत टूटकर उसी के मुख में गिर पड़े। उन दाँतों की जड़ से निकला हुआ रक्त गोलों पर से बहता हुआ उसके कण्ठ के घाव के रक्त में मिलने लगा। टप-

टप टपकने लगा। आस-पास योद्धाओं के अश्रु भी द्रवित होने लगे। उसने बड़े कष्ट से मुँह में से दाँत हाथ में लिये। उसकी आँखें विलक्षण तेज से दीप्त हो रही थीं। यदा-कदा बननेवाला गड्ढा गाल पर बन रहा था।

वह थरथराता हुआ टूटे-फूटे स्वर में कहने लगा—“याचक, यह दान....रक्तरंजित यह अपवित्र दान....कैसे....कैसे तुम्हारे पवित्र हाथ पर रखूँ ?” पुनः सबके अंग रोमांचित हो गये। जीवन के सम्बन्ध में उसकी अपनी विचारधारा क्या थी, यह मेरे अतिरिक्त आस-पास खड़ा कोई योद्धा नहीं समझ सकता था। यदि समझ भी जाता तो उसपर उसको कभी विश्वास न होता।

हाथ में लगे दाँतों पर से रक्त के चिह्न कैसे मिटाये जायें, यह समझ में न आने के कारण वह फिर असहाय हो गया। उसके चमकते हुए नील नेत्रों से अश्रुओं की अविरत धार बढ़ने लगी। डबडबायी आँखों से उसने अमीन टीले की ओर झुकते हुए आकाश में विद्यमान अपने पिता की ओर क्षण-भर देखा। एकटक। अविचल।

दूसरे ही क्षण चेतना की एक अद्भुत, गूढ़, सूक्ष्म तार उसको सचेत करती हुई चली गयी। जीवन-भर जो-जो अतल था, उस-उसको वह ऐसे ही करता आया था।

आँखों से बहनेवाले अश्रुओं की धारा में उसने हाथ में लगे दाँत पकड़ लिये। आँखों से अश्रु अखण्ड रूप से अविरत बहते रहें, इसलिए वह अविचल भाव से एकटक सूर्यबिम्ब की ओर देखता ही रहा। उसके गहन मन में भावनाओं का कैसा भयानक कोलाहल मचा हुआ था, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। स्वयं मैं भी नहीं कर सकता था।

उसके सुनहले दाँतों पर लगा हुआ रक्त उसके विशुद्ध आँसुओं में बह गया। दाँत स्वच्छ हो गये। सूर्यकिरणों में चमचम चमकने लगे। परावर्तित किरणें विकीर्ण करने लगे। यह देखकर उसके नेत्र आनन्द और सन्तोष से चमकने लगे।

कलाई की आधी टूटी हुई रजनीगन्धा की माला से एक फूल निकालकर उसने दाँतों पर रख दिया। वह दान अपने भव्य कपाल से लगाकर उसने हँसते हुए हाथ ऊँचा किया। याचक को दान देने के लिए अब वह दान सर्व-विधिपूर्ण दान हो गया था।

जगत् में बहुतों ने दान किया होगा। परन्तु....परन्तु मृत्यु के द्वार पर इतना हृदय थर्रा देनेवाला, एकनिष्ठ, अद्वितीय दान करना केवल वही जानता था-प्रथम पाण्डव ज्येष्ठ कौन्तेय ! सूर्यपुत्र !

आस-पास के असंख्य मुखों से सहजोद्गार बाहर निकले—“धन्य ! धन्य !”

थरथर काँपता हुआ वृद्ध ब्राह्मण आगे बढ़ा। अब वह दान स्वीकार करना ही था। काँपते हुए हाथों से उसने वह दान ग्रहण किया। उसके वृद्ध नेत्रों से निकले हुए कृतज्ञ अश्रु उन दो सुनहले दाँतों पर तथा टूटी हुई माला के रजनीगन्धा के फूलों पर गिर पड़े। उस वृद्ध याचक

को वन्दन करने के लिए वह गरदन झुकाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु कण्ठ में लगे हुए बाण के कारण वह झुका नहीं पा रहा था। वृद्ध से न रहा गया, वह बोला, “दानवीर कर्ण ! जिसने तुम्हें जन्म दिया है, वह माता धन्य है। जिस भूमि ने तुम्हारी विशालहृदया देह पाली है, वह यह धरा धन्य है। दानवीर कर्ण, आर्यावर्त में तुम जैसा एकनिष्ठ दानवीर न हुआ है, न भविष्य में होगा !” कथन में कसक भरी हुई थी।

डगमगाती हुई ग्रीवा और बहते हुए आँसुओं को रोकता हुआ वह वृद्ध उस अनुपम दान को लेकर अपने पुत्र की मृतदेह की ओर जाने को मुड़ा।

उसको सन्तुष्ट होकर लौटते देखकर अब क्षण-भर के ही साथी उस दानवीर के मुख पर एक अस्पष्ट हँसी की रेखा खिंच गयी। कान-सा समाधान था उस हँसी में ? सभी उसको समझ नहीं सकते थे।

अर्जुन के हाथ में धनुष और भीम के कन्धे पर रखी हुई गदा अब काँप रही थी। इतनी असीम सहनशक्ति देखकर भी वे यह नहीं जान पा रहे थे कि वह सूतपुत्र नहीं था।

वह सूर्यपुत्र था। कौन्तेय था। उनका—उनके अनुरूप शोभित होनेवाला ज्येष्ठ बन्धु था। परन्तु यह उनको अद्यापि विदित नहीं था।

उसकी सन्तुष्ट आँखें अब भी घूमती हुई किसी को ढूँढ़ रही थीं। दुर्योधन को।

दुर्योधन जैसे ही सचेत हुआ वैसे ही दौड़ पड़ा। मगर जैसे पानी को काटता है, वैसे ही चारों ओर के घेरे को तोड़कर वह भीतर घुसा। "अंगरा ss ज !" वह कर्ण को देखते ही बड़े मर्मभेदी स्वर में चीत्कार कर उठा। आयुष्य में प्रथम बार उसकी कंजी आँखों में भी आँसू तैरने लगे। उसके सगे अस्सी बन्धु गतप्राण हो चुके थे। परन्तु....परन्तु उनके लिए भी वह कभी इतना द्रवित नहीं हुआ था। इतना व्यथाकुल नहीं हुआ था।

उसने आँखों के संकेत से ही दुर्योधन को अपने पास बुलाया। अब वह नितान्त अन्तिम दान करना चाहता था। अन्तिम और महत्त्वपूर्ण दान। विचारों का दान।

"राजन्, मेरी....मेरी मृत्यु के साथ ही यह....यह विनाशी युद्ध....युद्ध रोक दो !" उसके थरथराते होठों को देखकर सभी व्याकुल हो उठे। सचमुच ही उसका अन्तरंग अथाह था।

"नहीं ss ! अंगराज, मित्र ! तुम जैसा महापराक्रमी वीर मेरे लिए बलिदान स्वीकार करे और.... और मैं मृत्यु के भय से समझौता कर लूँ, यह मेरे लिए लज्जा की बात है। यदि मृत्यु पितामह को, गुरु द्रोण को और आज तुमको....तुमको भी घेर सकती है तो....तो क्या मैं और क्या कोई अन्य..... कोई भी अमर नहीं है। युद्ध नहीं रुकेगा। तुम्हारे लिए....तुम्हारे लिए ही वह चलता रहे ।।" दुर्योधन ने एक जलता हुआ कटाक्ष मेरे और अर्जुन पर डाला। दूसरे ही क्षण घुटने टेककर उसकी विशाल भुजा को हाथ में लेकर इतना निग्रही कौरव नेता सिसकने लगा। चित्रसेन से भी अधिक भयानक स्वर में। कर्ण ने दूसरे हाथ से थपथपाकर

दुर्योधन को शान्त किया। अब वह पृथ्वी के कण-कण का त्याग करना चाहता था। दाँत और कण्ठ से होनेवाले अविरत रक्तस्राव से उसको अब बार-बार ग्लानि होने लगी। अश्वत्थामा ने आगे बढ़कर उसका मस्तक अपनी जंघा पर रख लिया। रक्तस्राव से अब उसकी आँखों पर सतत निद्रा-सी छाने लगी थी।

मैं सोच रहा था कि दुर्योधन अब उससे इस अन्त समय में उसकी अन्तिम इच्छा पूछेगा। परन्तु.... परन्तु दुख के आवेग से उसे इसका भान भी नहीं रहा। दुर्योधन का जीवन अब धुरी से छूटे हुए रथचक्र-जैसा हो गया था। दिशाहीन।

उस दानवीर की साँस अब लड़खड़ाने लगी। अधमुँदे नेत्र सूर्यबिम्ब से एकरूप होने लगे। विलीन होने लगे। उसका सुन्दर शरीर अचल होता जा रहा था। उसकी जोरदार श्वासोच्छवास के साथ लय से ऊपर-नीचे होनेवाला विशाल वक्षस्थल पर पहना हुआ लौहत्राण अब धीरे-धीरे स्पन्दित होने लगा।

उसकी अन्तिम इच्छा पूछने का सब प्रकार का नैतिक उत्तरदायित्व अब मेरे ऊपर आ रहा था। केवल मुझपर ।।

तत्क्षण मैं आगे बढ़ा। उसके कटे हुए कानों के पास मुँह ले जाकर धीरे से बोला, "कौन्तेय, अन्तिम इच्छा ?"

उसने मुँदते हुए निमीलित नेत्र सप्रयास पुनः खोले। दो अश्रुबिन्दु उसकी आँखों में तैरते हुए मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। किसके थे वे ? दुख के ? पश्चात्ताप के ? आह, धन्यता के ! कृतार्थता के ! मैंने, स्वयं मैंने, उसको 'कौन्तेय' कहा—जिसे सुनकर धन्य होने के साथ, वह भी धीरे-धीरे कहने लगा, "द्वारकाधीश....मेरी अन्तिम इच्छा....इच्छा है कि....तुम....तुम्हीं मेरा अन्त्य-संस्कार....एक.... एक.... कुमारी....भूमि पर करना ! कुमारी...भूमि !" उसके शब्द अत्यन्त क्षीण हो गये थे।

"कुमारी-भूमि ? अर्थात् ?" वह ठीक-ठीक क्या चाह रहा था, यह अच्छी तरह मेरी समझ में नहीं आया, इसलिए मैंने धीरे से कहा।

"हाँ, कुमारी। जिस भूमि पर....कभी....कभी भी....तृणांकुर तक....न उगे हो....उगनेवाले न हों !..... मेरे दुख वे.... वे.... पुनः पुनः....इस मर्त्य भूमि पर.... कभी....किसी भी स्वरूप में न उगें। इसलिए.... इसलिए ये....ये पंच महाभूत....कुमारी भूमि में.... विलीन....विलीन....!"

उसके स्वर अब अत्यन्त अस्पष्ट होते जा रहे थे। आश्चर्य का धक्का देनेवाली उसकी अद्भुत अन्तिम इच्छा सुनकर मैं भी विस्मित हो गया। सुन्न हो गया। वह अस्पष्ट शब्द बोल रहा था। वह कुछ और तो नहीं कहना चाहता, यह सोचकर मैं अपने कान उसके होठों के एकदम निकट ले गया। ध्यान से सुनने लगा। एकाग्रचित्त से।

वह अस्पष्ट अधूरे शब्दों का उच्चारण कर रहा था—“ली....ली.... माता.... माता....ण.....न !”

वह क्या कहना चाहता था यह कोई भी स्पष्ट नहीं बता सकता था। वह वृषाली कह रहा था या पांचाली ? वह कुन्तीमाता कह रहा था या राधामाता ? शोण कह रहा था या अर्जुन ? कुछ भी बोध नहीं हो रहा था ।

अब उसके मुख से अस्पष्ट शब्द भी निकलने बन्द हो गये। सूर्यबिम्ब पर केन्द्रित नीली पुतलियाँ तिल-भर भी नहीं हिल रही थीं। उसके होठों के हिलने से वह क्या कह रहा था, यह मैं जान सकता था। अर्घ्यदान करनेवाले एक निष्ठावान् सूर्यपुत्र के वे अन्तिम शब्द थे। होठों की गति से वे निश्चय ही गायत्री मन्त्र के दिव्य बोल होने चाहिए।

"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं ऽऽऽ !" अकस्मात् उसके होठों की वह हलचल भी क्षण-भर में बन्द हो गयी। सबने साँस रोक ली। उसकी साँस पूर्ण रूप से रुक गयी। छाती पर स्पन्दित होनेवाला लौहत्राण शान्त हो गया।

महान् तेजस्वी, आँखें चकाचौंध से भर देनेवाली, खर तेज की एक प्रचण्ड ज्योति तत्क्षण उसके हृत्कमल से निकलकर आकाश-मण्डल में पश्चिम क्षितिज पर अमीन टीले के ऊपर सरकते हुए लाल-लाल विशाल सूर्यबिम्ब की ओर तीव्र गति से झपटी। दूसरे ही क्षण उसकी प्रखर तप्त वह ज्योति हिरण्यगर्भ में लीन हो गयी। उस महान् तेज ने आस-पास खड़े सभी के नेत्र चकाचौंध से भर दिये। अँधेरा छा गया।

उस मृत्युंजय महावीर का महानिर्वाण हो गया ।

चौदह

कर्ण के गिरने पर टीले के मस्तक पर अस्त होते हुए सूर्य भगवान् क्षण-भर अचानक सतेज होकर, दूसरे क्षण की भी प्रतीक्षा न कर, तत्क्षण क्षितिज के पार चले गये। सारी पश्चिम दिशा धुंधली दिखाई देने लगी। चमचमाती हुई ओस की बूंदें वायु के झोंकों से गिरकर विलीन हो गयीं। चारों दिशाएँ प्रकाशहीन हो गयीं। धरती दीन हो गयी।

अश्वत्थामा ने आवेग से आगे बढ़कर कर्ण के भव्य कपाल का दीर्घ आघ्राण किया । दुर्योधन ने उसका हाथ लेकर अपने मस्तक से लगाया। चित्रसेन उसके उन संकुचित होते गये स्वच्छ चरणों पर गिर पड़ा।

कर्ण की दिव्यात्मा जिस देदीप्यमान चिरन्तन प्रकाशकेन्द्र से आयी थी, उसी तेजोनिधि में पुनः विलीन हो गयी। फिर भी उसकी देह इतनी तेजस्वी दिखाई दे रही थी मानो सप्राण हो।

कुछ समय पहले कर्ण ने मेरे चरणों पर जो मुकुट अर्पण किया था, वह मैंने उठाया और पुनः उसके घने सुनहले बालों पर हौले से रख दिया।

कुरुओं का तीसरा सेनापति चिरनिद्रा से सो रहा था।

उसके कण्ठ में फँसा हुआ आंजलिक बाण अश्वत्थामा ने बाहर निकाला और अपने सिर पर सदैव बँधे रहनेवाले धवल वस्त्र से उसका सूर्यबिम्ब-जैसा गोल मुख ढक दिया।

पाण्डवों को लेकर मैं शिविर की ओर चला। सारा वातावरण भयानक और बीभत्स लग रहा था। सभी चुप थे। दूर कहीं टिटहरी अशुभ-सूचक कर्कश ध्वनि कर रही थी। दूर एक ऊँचा-सा श्वेत अश्व थककर कीचड़ में बैठा हुआ दिखाई दे रहा था। जीवित घोड़ा और बैठा हुआ। मुझको आश्चर्य हुआ। पाण्डवों के साथ मैं अर्जुन के शिविर में आया। मैं चुप था। द्वार में खड़ी राजमाता को देखते ही मेरा मुख और अधिक शुष्क हो गया। अर्जुन ने समझा कि आज समरांगण में कर्ण को धराशायी करने के कारण प्रसन्न होकर वे शिविर तक दौड़ी आयी हैं।

“मात, आशीर्वाद दो !” तत्क्षण आगे बढ़कर उसने अपनी माता के चरणों में वन्दन किया और अभिमान से आशीर्वाद माँगा।

माता के मुख में लगा हुआ अंशुक का छोर उसको दिखाई पड़ जाता, इतना प्रकाश आस-पास नहीं था; इतना भान भी अर्जुन को नहीं था और अब दिखाई पड़ भी जाये तो उसका क्या उपयोग ?

मैंने राजमाता की थरथराती पीठ पर हाथ रखकर उनको शिविर के भीतरी कक्ष में ले जाने के बहाने उस अवसर को सँभाला। क्षण-भर के लिए ही मैं, वे और पाण्डव-हम तीनों इकट्ठे हुए, परन्तु युद्धवस्त्र बदलने के लिए पाण्डव बाहर चले गये। शिविर में केवल मैं और कुन्ती देवी ही रह गये और तब उस महान् स्त्री के मन के संयम का बाँध टूट गया। वह सिसकने लगी।

“केशव....अरे उसका अन्तिम दर्शन तो....!” कण्ठ अवरुद्ध होने के कारण वे अधिक न कह सकीं। दोनों हथेलियों में छिपा हुआ मुख ऊपर भी न उठा सकीं।

“वीर जननी राजमाता, शोक रोको ! एक तो अब चला ही गया है, हाथ में जो पाँच हैं, उन्हें तो मत गँवाओ ! आज आधी रात को मैं तुम्हें उसके दर्शन कराऊँगा। कम से कम इस समय तो रहस्य को रहस्य ही बना रहने दो।”

उन्होंने आँखें पोंछीं।

अनेक विडम्बनाओं और अनेक घटनाओं को देखनेवाली निग्रही वीर माता जब निशीथ में कर्ण की देह के पास पहुंची तब वह ऐसे काँपने लगी जैसे झंझावात में लाल इन्द्रायण की कोई बेल थर-थर काँप रही हो। धरती में गड़े हुए उसके पैर आगे ही नहीं बढ़ रहे थे। मैं

उनका हाथ पकड़कर उनको बलपूर्वक उनके सूर्यपुत्र के पास लाया। उनमें साहस ही नहीं था कि हथेलियों से ढके हुए अपने मुँह को ऊपर करतीं।

कर्ण के सिर पर से अश्वत्थामा का आच्छादन मैंने अलग किया। कर्ण ऐसा शान्त लग रहा था मानो सोया हुआ हो। उसकी सुनहली मृत देह मशाल के धूमिल प्रकाश में भी चमक रही थी।

बड़े साहस से मुख पर से हाथ हटाकर उन्होंने सिर ऊपर उठाया और दूसरे ही क्षण- "मेरे लाल !" चीखकर वे अचेत होकर नीचे गिरने लगीं। मैंने उन्हें सँभाला ।

अब मैं अकेला ही तो उनको सँभालनेवाला था।

पन्द्रह

युद्ध का अठारहवाँ दिन भी समाप्त हो गया। भीम ने दुर्योधन की जंघा चूर-चूर कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। पाण्डवों की निर्विवाद विजय प्रस्थापित हो गयी। उन्नीसवें दिन की सन्धाकाल की लम्बी-लम्बी छायाएँ रणक्षेत्र में अस्त-व्यस्त फैली हुई थीं। समरांगण प्रेतों से खचाखच भरा हुआ था। अमीन टीले पर ऊपर से नीचे तक कहीं चार अंगुल भी ऐसी जगह नहीं थी जहाँ शव पड़े हुए न हों। दूर एक शुभ्र अश्व दिखाई दे रहा था। लेकिन था बैठा हुआ ही।

मेरा कौतूहल जाग्रत हो गया और मैं घोड़े की ओर चलने लगा। बहुत देर से मैं कर्ण की देह ढूँढ़ रहा था। घोड़े के पास आते ही मुझे आश्चर्य का आघात लगा। मेरा सन्देह सच निकला। वह कर्ण का वायुजित् ही था। वह अपने स्वामी के शव के पास बैठा था। अपनी पूँछ का चँवर स्वामी के मुख पर डुला रहा था। मेरा हृदय भर आया । डबडबायी आँखों से मैंने उस मूक पशु को देखा । पाण्डवों की विजय का बचा-खुचा सन्तोष भी नष्ट गया था। रह-रहकर बस प्रकृति पर आश्चर्य हो रहा था।

प्रतोद दायें हाथ से बायें हाथ में लेकर मैं आगे बढ़ा। जैसे ही स्नेह से उस पशु को मैंने थपथपाया, उसकी सम्पूर्ण शुभ्र त्वचा काँप उठी। सारथी के रूप में मेरा जो कुछ अनुभव था, वह सफल हो गया। 'चकचक' करके जैसे ही मैंने संकेत किया, वह जातिवन्त पशु समझ गया और बलपूर्वक खुर धरती में गड़ाकर तत्क्षण उठ खड़ा हुआ।

उसके स्वामी की सुनहली मृत देह को मैंने उठाकर उसकी विशाल पीठ पर लाकर रखा। स्वामी की अन्तिम देह अच्छी तरह सँभालकर ले जानी चाहिए, वह सावधानी रखता हुआ वह वायुजित् अश्व धीरे-धीरे चलने लगा। हमको अमीन टीले पर चढ़कर जाना था।

रास्ते में मैंने कृपाचार्य के शिविर से जलती हुई मशाल साथ ले ली।

मैं और वायुजित् चढ़कर टीले पर आये। उसी समय अन्तर्धान होते हुए सूर्यनारायण की अस्पष्ट कोर क्षितिज के पार डूब गयी। टीले के इस शिखर पर विस्तृत काली पथरीली भूमि थी। अग्नि-संस्कार की सामग्री वहाँ तैयार रखने की व्यवस्था मैंने पहले ही कर दी थी। उस कुमारी-भूमि पर चन्दन की लकड़ियों की चिता रची हुई थी।

वायुजित् की पुष्ट पीठ पर से मैंने अपने हाथों से कर्ण को उठाया और उसे चिता पर रख दिया। मशाल हाथ में लेकर मैंने क्षण-भर उसका मुख देखने का प्रयत्न किया। काँपते हाथों से लौ मैंने लकड़ियों के ढेर से लगायी। थोड़ी ही देर में लपटों के लाल-पीले अग्नि-विहग आकाश में झपट्टा मारने लगे। अग्नि केन्द्र से जन्म लेनेवाला वह आकाश-पुत्र जीवन-भर की आग पचाकर अब अन्त में अग्निमय हो रहा था। उसी समय वायुजित् हिनहिनाता हुआ उछल-कूद करने लगा। मैंने मशाल चिता में फेंक दी और उस पशु के पास आया। उसको भी सँभालना आवश्यक था। मैं उसको पुचकारता हुआ उसके अयाल को सहलाने लगा। उसका साथ मुझे भी स्पृहणीय लगने लगा। मेरा मन सुन्न होता जा रहा था। संज्ञाहीन मन से मैं चिता की ओर देख रहा था तथा वायुजित् का अयाल पुनः-पुनः सहला रहा था।

अचानक वह श्वेत अश्व फुरफुरा उठा और कान उठाकर जिस रास्ते से हम आये थे, उस रास्ते की ओर ग्रीवा मोड़कर देखने लगा। शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए एक स्त्री धीरे-धीरे आगे आ रही थी। मैं सिहर उठा; वह—वह वृषाली थी।

एकटक, निश्चल आँखें, देह पर भीगे वस्त्र । धीरे-धीरे एक-एक पैर रखती हुई वह चली आ रही थी। आकाशकन्या-जैसी। उसके दोनों हाथ जुड़े हुए थे। इधर-उधर बिलकुल भी न देखती हुई वह सीधी चिता के पास जा रही थी। शुभ्र पाषाण की चलमूर्ति की तरह । कन्धे पर रखा अंशुक नीचे गिर पड़ा था, इसका उसको भान नहीं था। मेरे सामने होती हुई वह आगे बढ़ी और एकदम सामने चिता में प्रविष्ट हो गयी। मैं स्तब्ध रह गया।

भान होने पर मैंने वृषाली को मन ही मन आशीर्वाद दिया। प्रतोद के दण्ड से उसका अंशुक चिता में डालने के लिए उठाया। आँचल में गाँठ लगी हुई देखकर मैंने उसको चिता में न फेंककर आश्चर्य से पीछे कर लिया।

अग्नि में प्रवेश कर पति को चिर आलिंगन देने जानेवाली सती को यह मोह किसका था ? सन्देह से मैंने गाँठ खोली। खपरे का टुकड़ा । फूटे हुए घड़े का एक टुकड़ा । में सम्मिलित हो गया।

उस टुकड़े को चिता में फेंकने के लिए मैंने हाथ ऊपर किया, किन्तु कर्ण के अन्त्य-संस्कार और वृषाली के आत्मसमर्पण की स्मृति के रूप में पास रखने की इच्छा से फिर मैंने हाथ नीचा कर लिया और उस टुकड़े को पीताम्बर के छोर में बाँध लिया।

प्रतोद कन्धे पर रखकर वायुजित् का कण्ठबन्ध पकड़कर मैं लौटने लगा। टीले की ढलान उतरने लगा। मुझको ढूँढ़ते हुए पाण्डव चिता की लपटें देखकर टीले पर दौड़कर चढ़ने लगे थे। मैं स्पष्ट देख रहा था। फरफर करती मशालों की संख्या पाँच थी। वे पाण्डव ही थे।

परन्तु अब देर हो चुकी थी; बहुत देर हो चुकी थी।

□□□